image
not
available

Boston Medical Library

THE PROPERTY OF

MANUEL SHAPLEIGH

[illegible]

[illegible]

Digitized by Google

# Schweizersagen

# aus dem Aargau.

---

Gesammelt und erläutert

von

Ernst Ludwig Rochholz.

Erster Band.

---

Aarau.
Druck und Verlag von H. R. Sauerländer.

1856.

Digitized by Google

~~26D467.44~~
26256.4

1861, Nov. 15.

2 vol. in one. $3.83

Shapl. Fund.

27.90
44

Digitized by Google

Sr. Majestät

dem

König von Bayern

# Maximilian II.

dem großmüthigen Freunde deutscher Vaterlandskunde

ehrfurchtsvoll und dankbar zugeeignet.

Digitized by Google

Digitized by Google

# Inhaltsverzeichniß

## des ersten Bandes.


| | | pag. |
|---|---|---|
| Vorrede | | XI |

## I. Geheiligte Gewässer.

| No. | | pag. |
|---|---|---|
| 1. | Die Quellen der Schafmatt | 1 |
| 2. | Der leuchtende Pfad im Flusse | 1 |
| 3. | Bertha von Baldegg | 2 |
| 4. | Die drei Schwestern im Eithale | 2 |
| 5. | Ring am Egliswiler Berge, oder Homisen | 4 |
| 6. | Ring am Aarburgerschlosse | 6 |
| 7. | Gondelisee im Kulmerthal | 6 |
| 8. | Egelsee am Heitersberg | 7 |
| 9. | Heilige Verena in Zurzach | 11 |
| 10. | Verenabad in Baden | 14 |
| 11. | Entdeckung der Heilquellen in Baden | 17 |
| 12. | Genesene Helvetierin | 18 |
| 13. | Aarauer Stadtbach | 19 |
| 14. | Schongauerbad am Lindenberge | 22 |
| 15. | Das Guggibaderlied | 24 |
| 16. | Brunnen in Olsberg | 29 |
| 17. | Burkhardsbrunnen in Beinwil | 29 |
| 18. | Der gestörte Ritt | 30 |
| 19. | Heiterechsee bei Muri | 31 |
| 20. | Schwimmer Willi zu Meisterschwanden | 32 |
| 21. | Volkslied vom Anneli | 33 |
| 22. | Die beiden Lebenslichter | 37 |
| 23. | Brautfahrt am Hallwilersee | 37 |
| 24. | Wassergeist bei Seckingen | 38 |
| 25. | Nothhaus für Ertrunkene | 39 |
| 26. | Hungerbrunnen in Degermoos | 39 |
| 27. | Hornußer Hungerbrunnen und Sälibrunnen | 40 |
| 28. | Brunnen zu Waldhäusern | 42 |
| 29. | Wässerrecht zu Ursprung | 43 |
| 30. | Verschütteter Brunnen | 44 |
| 31. | Wässermann zu Staffelbach | 44 |
| 32. | Feuermann an der Ezgerfähre | 45 |
| 33. | Brennender Räuber in der Reuß | 46 |
| 34. | Feuermann in der Machnau | 46 |


Digitized by Google

| No. | | pag. |
|---|---|---|
| 35. | Ueberfahrende Geripp | 47 |
| 36. | Der Brünnlig durch Gebet verscheucht | 48 |
| 37. | Laufenburger Feuermann | 49 |
| 38. | Räuberschiff am Rhein im Tüfthal | 49 |
| 39. | Schwarzer in der Au, Klingnau | 53 |
| 40. | Der Mörder am Sandbrunnen | 54 |
| 41. | Reußbrücke zu Sins | 55 |
| 42. | Wässermann in Seengen | 55 |
| 43. | Wassergeist im Trottenbach | 55 |
| 44. | Der Frauensteg | 56 |
| 45. | Silberbrünnlein bei Seengen | 56 |
| 46. | Tribächli am Lindenberg | 56 |
| 47. | Steg für die Verstorbene | 56 |
| 48. | Reußfähre bei Mühlau | 57 |


## II. Geheiligte Bäume.


| | | |
|---|---|---|
| 49. | Etelmutter zu Schneisingen | 59 |
| 50. | Barakenfrau bei Frick | 59 |
| 51. | Dornstrauch am Birrfelde | 60 |
| 52. | Dornstrauch zu Oberkulm | 61 |
| 53. | Linde von Linn | 62 |
| 54. | Strebelstaude zu Königsfelden | 66 |
| 55. | Die Ringlisaumatte | 68 |
| 56. | Holzbirnbaum bei Lupfig und Jäger Hoperli | 69 |
| 57. | Wildhans am Kestenberg bei Birr | 73 |
| 58. | St. Burkhard im Balken | 73 |
| 59. | Hausgeist im Brandbalken | 75 |
| 60. | Opferstock in Stüßlingen | 75 |
| 61. | Die Ramsteiner Verwünschten | 76 |
| 62. | Der Schwarze im Pfahl | 77 |
| 63. | Unverletzliches Reinacherhaus | 77 |
| 64. | Der Bann und seine Lösung | 78 |
| 65. | Der Heine am Steinebühl bei Baden | 79 |
| 66. | Langstielerbaum in Hausen | 80 |
| 67. | Schwarzer Eichmann in Wohlen | 80 |
| 68. | Der Suchelis am Kirschbaum | 80 |
| 69. | Apfelbaum der Sarmenstorfer Einsiedelei | 81 |
| 70. | Rothe Augenlieder | 82 |
| 71. | Die Fehrenlinde bei Aarau | 83 |
| 72. | Der Kirschbaum in Schildwald | 83 |
| 73. | Entstehung des Brugger Jugendfestes | 84 |
| 74. | Die Heiligföhre bei Wegenstetten | 85 |
| 75. | Das Kind und die Blutstropfen | 86 |
| 76. | Kleinkinderbaum | 87 |
| 77. | Kleinkindersteine, a — e | 87 |
| 78. | Geburtstanne | 88 |
| 79. | Schloßtanne in Wirlingen | 90 |


Digitized by Google

## III. Wildes Heer.


| No. | | pag. |
|---|---|---|
| 80. | Guetigsg'heer am Aarauer Homberg | 91 |
| 81. | Das Gundisheer um Muri | 92 |
| 82. | Streggelenjagen in Merenschwanden | 94 |
| 83. | Guetisee in Rüti | 95 |
| 84. | Guenis-Heerwagen bei Mellingen | 95 |
| 85. | Moor Moritz bei Tegerfelden | 97 |
| 86. | Dorfthier von Lütwil | 99 |
| 87. | Die Merenschwander Dorfloos | 99 |
| 88. | Ueberfahrende Sau bei Koblenz | 100 |
| 89. | Rindelenmoor bei Schupfart | 100 |
| 90. | Der Schweinreiter auf Thierstein | 100 |
| 91. | Silberne Sau im Chillholz | 101 |
| 92. | Ebermann in Köllikon | 101 |
| 93. | Pfaffenhöhle in Suhr | 102 |
| 94. | Der Lochluegenjäger | 103 |
| 95. | Erlisbacher Dorfthier | 105 |
| 96. | Die Fischbank bei Othmarsingen | 107 |
| 97. | Postkutsche zu Endingen | 109 |
| 98. | Der Jäger auf der Trostburg | 109 |
| 99. | Sodbrunnen der Römerstadt Lorenz | 110 |
| 100. | Nächtlicher Leichenzug bei Seon | 113 |
| 101. | Der Quäcki zu Asp | 115 |
| 102. | Der Gigelispanner auf der Risi | 116 |
| 103. | Der Viehtreiber bei Mörikon | 117 |
| 104. | Der nächtliche Ruf in der Mühlimatte | 118 |
| 105. | Das alte Schloß bei Gontenschwil | 118 |
| 106. | Burggeist der Ruine Botenstein | 119 |
| 107. | Bornjungfrau und Kutsche zu Aarburg | 119 |
| 108. | Das Hodenschüerli bei Leerau | 120 |
| 109. | Wetterhut am Aarauer-Hungerberg | 122 |
| 110. | Der Gut-Wetter in Freienwil | 122 |
| 111. | Stierengarten zu Moosleerau | 126 |
| 112. | Wilder Jäger Mutti am Chnubel | 128 |
| 113. | Kegelspiel im Walde bei Uezwil | 129 |
| 114. | Die Schloßmusik der Homburger | 131 |
| 115. | Schloßmusik und Geisterwäsche | 135 |
| 116. | Güggernül-Anneli und Gaußerwibli | 135 |
| 117. | Die Taufpathin auf der Wartburg | 136 |
| 118. | Jungfernacker bei Olten | 138 |
| 119. | Das Hügelimaidli zu Holziken | 139 |
| 120. | Ruine Königstein bei Aarau | 141 |
| 121. | Rothes Tüchlein bei Kastelen | 146 |
| 122. | Das Bachmaidli zu Seon | 147 |
| 123. | Die Rosenkranztochter am Löhli | 147 |
| 124. | Die Kränzleinjungfer bei Oberhof | 148 |
| 125. | Bödelmergeist in Wölfliswil | 148 |
| 126. | Goldenes Boddemaitschi in Oberlengnau | 149 |


Digitized by Google

| No. | | pag. |
|---|---|---|
| 127. | Das Breitſeemaidli bei Möhlin | 149 |
| 128. | Waſchende Geiſter, 1 — 10 | 150 |
| 129. | Matthiſethier in Reinach | 154 |
| 130. | Mattiſee und das Schwedenhaus bei Hettenſchwil | 160 |
| 131. | Metteli | 163 |
| 132. | Die ſieben Herren im Kelleramt | 165 |
| 133. | Die Geiſterküche | 166 |
| 134. | Wandelnde Rathsherren von Muri | 168 |
| 135. | Unverſchließbare Thüre in Veltheim | 168 |
| 136. | Schwärmende Geiſterſchaaren, a — e | 170 |
| 137. | Geiſtermauer auf der Eck | 173 |
| 138. | Geiſtermauer in Endingen | 173 |
| 139. | Wilde Jagd um Zofingen und Brittnau | 174 |
| 140. | Der Töſt am Childberg bei Brittnau | 175 |
| 141. | Der Jägersknecht von Troſtburg | 178 |
| 142. | Der Neuliger im Ruederthal | 178 |
| 143. | Der Ziegler im Grindel | 178 |
| 144. | Weidbahnen der W. Jagd um Aarau | 179 |
| 145. | Der Wildjäger ſtraft Roßquäler | 180 |
| 146. | Wildes Heer bei Egliswil | 181 |
| 147. | Jagd am Lirihanſi bei Birmenſtorf | 182 |
| 148. | Mandlenejäger um Villnachern | 182 |
| 149. | Der Härdlifuhrmann | 183 |
| 150. | Kinzhaldenjoggeli als Jäger und Roß | 183 |
| 151. | Der Burgvogt von Brunnegg | 187 |
| 152. | Der Erlacher auf den Bilgerhöfen | 189 |
| 153. | Das Reiterſpiel auf dem Geisſpitz | 191 |
| 154. | Moospferd am Erlenmoos | 192 |
| 155. | Das Roß bei Wallbach | 193 |
| 156. | Roß als Glutofen | 195 |
| 157. | Der Reiter zu Leuggern | 196 |
| 158. | Caſtelerreiter am Hasliacker | 196 |
| 159. | Burgfluh im Frickthal | 197 |
| 160. | Hoppedihop bei Ober-Endingen | 197 |
| 161. | Der Schimmelritär am Salibrunnä | 197 |
| 162. | Der Amsupper bei Mettau | 201 |
| 163. | Geiſtmüller auf der Wittnauermühle | 202 |
| 164. | Der Lälle von Rheinfelden | 204 |
| 165. | Jäger am Bruchmattbrunnen, Frickthal | 210 |
| 166. | Der Dreihundertjährige am Strichen | 210 |
| 166a. | Farbe und Tracht der Geiſter | 212 |
| 166b. | Wagen des W. Heeres | 215 |
| 166c. | Radſpuren auf den Hochgebirgen | 217 |
| 166d. | Der W. Jäger im Wiggernthale | 219 |


## IV. Schatzhöhlen.


| | | |
|---|---|---|
| 167. | Die Schlüſſeljungfrau von Tegerfelden | 221 |
| 168. | Die Spinne auf der Heidenburg | 248 |


Digitized by Google

| No. | | pag |
|---|---|---|
| 169. | Schatzhöhle bei Bellikon | 249 |
| 170. | Die Römerjungfrau zu Augst, a—d | 250 |
| 171. | Der Mauerhubel bei Zetzwil | 253 |
| 172. | Die Schatzthüren im Born | 254 |
| 173. | Die Schatztruhe bei Reinach | 255 |
| 174. | Das Loch in die Unterwelt | 256 |
| 175. | Das Schloß Urgiß | 256 |
| 176. | Heidenweib auf dem Lägernberge | 257 |
| 177. | Drei Jungfrauen auf dem Hertenstein | 258 |
| 178. | Mörderthier im Ruederthal | 259 |
| 179. | Erlösung durch einen Liedvers | 259 |
| 180. | Die Schatzgräber am Burghaldenberg | 260 |
| 181. | Verwünschte Jungfrauen und Horte, a—i | 261 |


## V. Zwergensagen.

### A. Aargauer Zwergensagen.


| | | |
|---|---|---|
| 182. | 1) Das Bettelweib in Wil | 264 |
| 183. | 2) Vo de Härdmändlene ûf der Ramsflue | 267 |
| 184. | 3 a) Die Erdleute bei Oberhof | 268 |
| 184. | 3 b) d'Härdwibli am Strihä | 270 |
| 184. | 3 c) Das Innere des Strichenberges | 271 |
| 185. | 4) Die Erdweibchen in Effingen | 272 |
| 186 a. | 5 a) Das schwere Kind am Seckenberge | 273 |
| 186 b. | 5 b) Die Erdbibberli zu Frick | 274 |
| 187. | 6) Das Erdweibchen in der Hufenfluh | 275 |
| 188. | 7) Weise Frauen um Kienberg | 275 |
| 189. | 8) Frauenhügel bei Brugg | 275 |
| 190. | 9) Erdmännchen in der Stiftshalde | 276 |
| 191. | 10) Bergmännchen auf der Hagleftä | 277 |
| 192. | 11) Der Eiszapfen zu Böbikon | 278 |
| 193. | 12) Die Erdmännlein zu Leuggern | 279 |
| 194. | 13) Erdmännchen bei Gippingen | 280 |
| 195. | 14) Die Herrmännlein an der Fullhalde | 282 |
| 196. | 15) Die Wachletä-Jumpfere bei Magden | 283 |
| 197. | 16) Bergmännlein auf Schloß Trostburg | 284 |
| 198. | 17) Betendes Erdmännchen bei Klingnau | 285 |
| 199. | 18) Der Stalljoggeli in Wettingen | 285 |
| 200. | 19) Kobold Beckli in Kirchleerau | 285 |
| 201. | 20) Der Sennenzwerg in Muri | 286 |
| 202. | 21) Die Erdmännlein auf der Stolten bei Leerau | 287 |
| 203. | 22) Trottengeist zu Gebisdorf | 287 |
| 204. | 23) Das Chudermandli in Veltheim | 288 |
| 205. | 24) Der Heerdmännlistein bei Wohlen I. — II. | 288 |
| 206. | 25) Die Tanzplätze | 291 |
| 207. | 26) Kinzhaldenjoggeli bei Eiken | 291 |
| 208. | 27) Rainhaldenjoggeli am goldnen Geisweg | 292 |
| 209. | 28) Das Herdmännli von Mellikon | 293 |

| No. | | pag. |
|---|---|---|
| 210. | 29) Rueder Schloß-Niggel | 294 |
| 211. | 30) Hauskobold im Roßkummet | 295 |
| 212 I. | 31) Mumelimann bei Fahrwangen | 296 |
| 212 II. | 31) Schellenpeter am Hallwilersee | 297 |
| 213. | 32) Schwarzwälder-Bläseli | 298 |
| 214. | 33) Stiefelireiter im Maiengrün | 301 |
| 215. | 34) Kirchmaier zu Reitnau | 302 |
| 216. | 35) Der Verwalter im Schlattholze | 303 |
| 217. | 36) Marienmilch in der Weintrotte zu Döttingen | 303 |
| 218. | 37) Güggelkopf im Ringgraben | 303 |
| 219. | 38) Männlein in der Gülle zu Tegerfelden | 304 |
| 220. | 39) Lindegiger am Ruckfelde | 306 |
| 221. | 40) Geiger Lur von Buttwil | 311 |
| 222. | 41) Tod der sieben Zwerge | 312 |
| 223. | 42) Heidenzwerge zu Klein-Döttingen | 313 |
| 224. | 43) Die Heidenmännchen in Ryken | 315 |
| 225. | 44) Das Lämmlisloch bei Wegenstetten | 317 |

B. Zwergensagen aus andern Schweizerkantonen.

| | | |
|---|---|---|
| 226. | 45) Der Sattlerfranz auf der Grimsel | 317 |
| 227. | 46) Die Dialen im Bündner-Münsterthal | 318 |
| 228. | 47) Der Geißler von Klosters | 319 |
| 229. | 48) Die hinkende Kostkuh | 321 |
| 230. | 49) Das Rücken der Kühe | 323 |
| 231 I. | 50) Die Herdmanndli am Pilatusberge | 325 |
| 231 II. | 50) Der Zwerg auf Kastelenalp | 327 |
| 232. | 51) Wildenmannlisloch im Toggenburg | 328 |
| 233. | 52) Das Erdmännlein auf Seeburg | 329 |
| | Anmerkungen zu den Zwergensagen | 330 |
| | Sachregister | 390 |


## Abkürzungen.

Abgl. Aberglaube. — agf. angelsächsisch. — ahd. althochdeutsch. — altn. altnordisch. — Anz. Anzeiger für Kunde deutscher Vorzeit v. Mone und Aufseß. — Aarg. Beitr. Aargau. Beiträge von Kurz und Weißenbach. 1846. — Beov. Beovulf, ed. Leo, Ettmüller. — chron. Tigur. Heinrich Bullingers Zürcher-Chronik, handschriftl. 4 Bände. — Diut. Diutisca von Graff. — DS. Deutsche Sagen von Grimm. — DSagb. Deutsches Sagenbuch von Bechstein. — GDS. Geschichte der deutschen Sprache, von Grimm. — Heidenth. Geschichte des Heidenthums von Mone. — Journ. v. u. f. Deutschl. Bibras Journal von u. für Deutschland. — Ir. ElfM. Irische Elfenmärchen v. Grimm. — isl. isländisch. — goth. gothisch. — KM. Kindermärchen Grimms, Wolfs u. A. — Lat. Ged. Latein-Gedichte des 10. u. 11. Jahrh. von Grimm und Schmeller. — Lesb. altd. Lesebuch von W. Wackernagel, altnord. von Dietrich. — L. Sal. Lex salica, ed. Merkel. 1850. — Magiol. Philonis Magiologia 1675. — mhd. mittelhochdeutsch. — MS. Minnesinger, ed. vdHagen. — Myth. Grimms Mythologie, 2. Ausgabe. — ndd. niederdeutsch. — ndl. niederländisch. — ndf. niedersächsisch. — nhd. neuhochdeutsch. — Nib. Nibelungen, ed. Lachmann. — RA. Grimms deutsche Rechtsalterthümer. — Reinh. F. Reinhart Fuchs, von Grimm. — skr. sanskrit. — vdHag. von der Hagens Sammelwerke. — Wb. Wörterbuch. — Ztschr. germanistische Zeitschriften von Haupt, Pfeiffer und Wolf. — Zürch. Neuj.Bl. Züricher Neujahrs-Blätter v. J. 1645 an.

Digitized by Google

# Vorrede.

Vorliegende Sagensammlung gehört ausschließlich dem Aargau an und hat mithin kein größeres Gebiet, als die nicht ganz sechs und zwanzig geographischen Geviertmeilen, die dieser Schweizerkanton hält. Dazu beschränkt sie sich als eine Originalsammlung blos auf das aus der mündlichen Volksüberlieferung Selbstgewonnene und Eigne, sie bleibt also auch nach dieser Hinsicht in ihrem ohnedies schon schmalen Spielraum allein auf sich angewiesen. Es sollte nun scheinen, als ob die Enge eines so geringen Schauplatzes einem Sammelwerke nur ungünstig werden müßte. Jedoch auch hier wieder einmal ist es der Schein, welcher trügt; denn das halbe Tausend von Sagen, zu welchem diese Sammlung in zwei Bänden angewachsen ist, zeigt das gerade Gegentheil. Der Grund, wie dieses so kommen muß, ist zwar den Sammlern begreiflich, nicht aber so leicht den noch unbetheiligten Lesern. Unsere kleine Hauswiese, nahgelegen und sonnig, wirft uns mehr Nutzung ab, als die Allen gehörende und von Keinem gepflegte Gemeindehutung. Hier findet unser Kind die ersten und die letzten Blumen, während gleichzeitig draußen auf der Almende alles noch unwegsam daliegt, oder schon wieder kahl und ausgestorben ist. Die Aecker, die der Landwirth nicht mit eignen Arbeitskräften bebauen kann, sucht er zu verkaufen, denn sie werden ihm keine zinstragende; aber das Grundstück, das den Hahn krähen hört, hat doppelten Werth und giebt doppelten Ertrag. Der Oekonom veranschlagt so den Werth eines Grundstückes, je nachdem es in größerer oder geringerer Entfernung von den Wohnungen liegt; der Sagensammler und seine Leser sollen gleichfalls nicht unrationeller verfahren. Unser Altvater auf dem Aehrenfelde der deutschen Mythe, Jakob Grimm, spricht diese Wirthschaftsregel als eine seiner Erfahrungen aus. Ergiebigste Ausbeute, sagt er, scheinen die Sammlungen zu gewähren, die mitten in einer sagenreichen Landschaft sich erhebend aus ihr nach allen Seiten sorgfältig schöpfen, ohne weit die Grenze zu überschreiten. Myth. XIII. Wer die Sage anders gewinnt, sie gleichsam wie eine Waare bezieht aus großen Reichen her, die er nicht einmal alle durchwandern, geschweige selber bewohnen kann, der wird uns einen sogenannten „Sagenschatz" anzubieten haben, aber er wird ihn nicht

Digitized by Google

heben können, und wir werden nicht wissen, wo der Schatz liegen soll. Der Nutzen, den ein solcher Sammler etwa stiftet, ist jener indirekte, den ein Kornhändler in Jahren der Mißärnte bringt. Ist einmal die Zeit der Theuerung vorbei, so wird sich Niemand um das amerikanische Kunstmehl reißen, das mit Bohnen gemischt ist und sich schimmlig backt. Während alles wieder nach gutem einheimischem Weizen verlangt, weiß man nicht mehr, für wen jenes bestimmt sein soll, da es dem Reichen zu schlecht und dem Armen zu theuer ist. Ist es denn nun jemals anders gewesen mit jenen aus weitestem Umkreise zusammengerafften Sagensammlungen? Es schob das Volk, welches alles was seinem Verständnisse trotzt, gelehrt zu nennen pflegt, das Buch dem Gelehrten zu; dieser, dem sich dasselbe für die Zwecke wissenschaftlicher Untersuchung unbrauchbar, d. h. unzuverlässig erwies, verweigerte ihm hartnäckig die Aufnahme in seinen Bibliotheken. Der mythologische Forscher ärgerte sich, daß ihm die etlichen wichtigen Punkte eines solchen Werkes in der tauben Masse des übrigen Materials gerade zur Quelle der störendsten Zweifel werden sollten; der Bürger fand nichts von dem speziellen Nutzen daran, dessentwegen er etwa Bücher kauft, noch viel weniger wurde ihm und Anderen darin der besondere Nachweis fühlbar, daß hier die Nation die Vorgeschichte ihres Denkens und Glaubens zu lesen bekommen könnte. So blieb die Sage nichts als eine Curiosität, ein Buch, das man Kindern und Ammen zum Blättern überließ, nachdem man über dessen Einfalt vornehm gelächelt hatte. Dies brachte den ganzen Gegenstand einige Zeit in Verruf. Daher kam es denn, daß sogar unsere einheimische ächte Tradition noch am hell lichten Tage der Neuzeit Gefahr lief, das von Allen verstoßene Aschenbrödel Deutschlands werden zu sollen, das höchstens in der Dienstrolle der Almanachsromanze und des Operntertes sich vors Publikum herauswagen durfte. Wir haben diese üblen Erfahrungen nun hinter uns, weil wir den Irrthum erkennen und ihm die Quellen verstopfen.

Die Selbstbeschränkung ist der wesentliche Charakter einer Sagensammlung, aus dem örtlichen Heimatsboden saugt sie ihre Körperkraft, ihre Gedächtnißschärfe, Anschaulichkeit und Geisteswahrheit. Die Naturtreue, auf die sie sich stützt, ist ihrem eignen Begriffe nach ohnedies niemals etwas blos locales und beschränktes. Die Sage hat dies mit dem Volksliede gemein, dessen Aechtheit auch nur in der örtlichen Abkunft liegt, und dessen Verständniß doch der ganzen Nation angehört. Damit allein dokumentiert sie sich, wenn sie den Ursprungsschein aller ihrer Güter bei den Grenzwächtern vorweisen soll, welche die Marken unseres wissenschaftlichen Zollvereins hüten. Die ganz

Digitized by Google

unberechenbare Ausgemachtheit der Sätze des alten Volksglaubens und das ans Wunderbare reichende Erinnerungsvermögen, mit welchem derselbe an Ort und Stelle ausgedauert hat, diese unveränderliche Ueberlieferung und tausendfache Uebereinstimmung giebt der Sage eine Würde, mit der sie nicht nur jeden Versuch, sie poetisch auszuschmücken, weit übergipfelt, sondern mit der sie zugleich auch jeder rationalistischen und historisierenden Verwendung siegreich Trotz bietet.

Wenn wir nun den Schauplatz beschreiben, welchen die nachfolgenden Volksüberlieferungen einnehmen, so dienen wir damit dem fremden und dem einheimischen Leser. Beide erfahren dabei, wie ein solches Ländchen nach seiner Bodenbeschaffenheit, nach seiner Bevölkerung, nach seinen geschichtlichen und bürgerlichen Verhältnissen aussehen muß, wenn in ihm die Sage sich nach jenen Richtungen entwickeln und fort erhalten soll, welche in unserm Buche zu ebensoviel besondern Sagenabschnitten geworden sind. Damit bezwecken wir weder statistische Angaben, noch landschaftliche Beschreibungen zu machen, obschon beides, das Land und sein Schicksal, die Eigenthümlichkeit und Reichhaltigkeit der daraus entspringenden Sage allein bestimmt. Dies läßt sich in Kürze veranschaulichen.

Das Aargau ist zum größeren Theil Flußgebiet. Drei große Ströme der inneren Schweiz durchziehen es und münden in ihm. Aus dem Thuner See kommt die Aare, giebt dem Gau ihren Namen und durchläuft ihn seiner Breite nach; seiner Länge nach durchläuft ihn ferner die Reuß aus dem Vierwaldstättersee. Aus dem Zürichersee kommt die Limmat, und nachdem sie sich müde gedreht hat an allen ihr hingestellten Maschinenrädern der gewerbsthätigen Bevölkerung und an einer ganzen Million von Fabrikspindeln, ergießt sie sich vereinigt mit Aare und Reuß in den brüderlichen Rhein. Dieser bildet die breite Nordgrenze des Landes, und dadurch ist dasselbe also auch dem Einflusse der deutschen Nachbarschaft ausgesetzt. Gleich dem Lachse dieser Ströme ist hier deutsche Einwanderung stromauf ins Land hineingezogen und wechselweise die Frische der Alpennatur stromab ins Land geronnen. Auch eigne Seen fehlen dem Gau nicht. Auf den Höhen des Heitersberges liegt der einsame Egelsee; in wein- und kornreicher Ebene dagegen breitet sich zwei Stunden lang der Hallwilersee aus, zubenannt nach der Stammburg jenes Rittergeschlechtes, von dem einst die burgundische Kriegsmacht bei Murten aufs Haupt geschlagen worden ist. Dieser See überfriert im Winter leicht, dann wirft er haushohe Eisschrunden und stößt die eingeschloßne Luft mit solchem erschreckenden Getöse hervor, daß man es meilenweit im Umkreise vernimmt. Das Volk nennt es das Brüllen des Sees. Groß

Digitized by Google

ist die Zahl der Gewässer, welche den Hauptströmen zufließen; in die Aare allein gehen rechter Seits eilf Flüßchen, linker Seits achte. Eigentlich zahllos aber sind die Bergquellen, welche immerdar das Gelände befruchten, und jene Wildwasser, welche bei Gewittern in den Bergen plötzlich losbrechen, mit der Macht eines Stromes zu Thal fahren und ebenso schnell spurlos wieder verschwunden sind. Neben den berühmten Thermen zu Schinznach und Baden laufen längs der ganzen Südwand des Jura schwefel- und eisenhaltige Quellen, die das Landvolk seit alter Zeit als Heilbäder besucht. Goldwäschen gab es noch vor etlichen Jahren an Reuß, Aare und Rhein. Welch ein Reichthum belebender Wasser! Daraus erklärt sich, warum unser Buch seinen Beginn mit den Geheiligten Gewässern macht, warum es im zweiten Bande eine Heerschaar von „Bachthieren" und Wassergeistern herzunennen weiß, und in den Geschichten vom Rheinfall zu Laufenburg eine ganze Schnur voll von Schiffer-Abenteuern auf einmal hat.

In gleicher Ergiebigkeit für unsern Sammelzweck erscheint hier auch Wald und Gebirg. Der Jura bedeckt der Breite nach den ganzen nördlichen Theil des Kantons, ist aber überall so offen, daß er auch in seinen steilen Höhen noch beweidet werden kann. Auf dem Scheitel trägt er würzige Alpenkräuter, an seinem Fuß die Fülle von Korn, Obst und Wein. Seine Aecker wimmeln von den versteinerten Leichen einer untergegangenen Thierwelt. Abertausend Weinstöcke wurzeln auf dem Kalke verwitternder Terebratulen und Belemniten. Aus Ammoniten thürmt der Winzer die Weinbergmauern zusammen, Gryphiten finden sich in der Größe runder Tischplatten. Seltsame Knochenreste gigantischer Wiederkauer liegen in den Mergelgruben, Bruchstücke von Schildkröten in den Steinbrüchen. Auch Hochwälder hat der Kanton voll Tannen-Nacht und Buchengrün mit klopfenden Baumspechten, vielstimmigen Amseln und mannshohen Schuttkegeln der bauenden Waldameise. Da schauen trotzige Raubschlösser von den Flühen und Kalkwänden herab in den zahmen Frieden immergrüner Matten.

Die Waldungen des Landes zusammen nehmen mehr als sechszehn schweizerische Quadratstunden ein. Aus ihnen erbauten sich die Venetianer nach dem Brande von 1534 ihr neues Arsenal, aus den Tannen des Zofinger Boowaldes, jede zu 120 Fuß Länge, ihre Schiffsmasten. Dieser Holzreichthum hatte bereits die Römer veranlaßt gehabt, hier ihre Flottenpräfekturen zu gründen. Sie verehrten eine eigne Dea Naria als Schutzgottheit der regio Arurensis (aufgefunden im Berndorfe Muri an der Aare, i. J. 1832); sie hatten bereits eine eigne

Digitized by Google

Schifferzunft der Aarflößer, die nautæ Aruranci (laut einer in Aventicum gefundenen Inſchrift. Jahn, Kant. Bern 392). Heute wie damals führt der Aarflößer die Schiffstannen hinab bis in die Seehäfen Hollands und Frankreichs; noch immer bildet er die geſchloſſene Geſellſchaft der Stüdlerzunft, und der hilfreiche Genius, den er in Gefahren anfleht, iſt nun der Zunftpatron St. Nikolaus.

Daß in ſolchen Landſchaften die Bäume ihren mehrhundertjährigen Geburtstag erleben, daß ſolcherlei Waldſtrecken ihren W. Jäger, ſolcherlei zerklüftete Gebirge ihre Schatzhöhlen, Drachen und goldſchmiedende Zwerge reichlich haben, dies lehren ſämmtliche Abſchnitte unſeres erſten Bandes miteinander.

Nicht minder augenfällig wird aus der Beſchaffenheit des Landes der Grund, warum die Aargauer Sage im Munde des Volkes ſelbſt, ohne Zuthun der Gelehrten und der Zeitungen, ſo häufig in die hiſtoriſche Sage umgeſchlagen hat. Das Land iſt von der Zeit der Römerkriege her bis auf die der Napoleoniſchen ein Kampf- und Tummelplatz geweſen. Der Zug ſeiner Gebirge und Ströme macht es zum militäriſchen Schachbrett. Könnte man dieſem Boden ſeine Raſendecke abziehen, er würde von Städteſchutt und zerbrochenen Waffen der Hunnen, Burgunden und Alemannen ſtarren. Drei große Römerſtädte liegen hier zerſtört. Aus den Ruinen Vindoniſſas iſt das Städtchen Brugg ſammt den vier Dörfern Windiſch, Oberburg, Altenburg und Hauſen geworden. Noch fließt dem dortigen Stifte Königsfelden ſein Trinkwaſſer unterirdiſch in jenen maſſiven Steinrinnen zu, in denen es die Legion XXI. hier einſt in ihr Standquartier geleitet hatte. Hier ragten die Trümmer ihres Amphitheaters noch in den Siebenziger Jahren des vorigen Jahrhunderts kenntlich hervor aus den Brugger Kornfeldern. Maurer brannten damals ihren Kalk aus den Säulen und Bildwerken des einen öſtlichen Thores. Ein paar Stunden von Windiſch entfernt liegt eine zweite Römerſtadt im Boden verſunken wie ein vorzeitlicher Baumſtrunk. Das ganze Städtchen Baden von heute iſt nur ein Stockausſchlag jener luſtigen Municipialſtadt Aquä, von welcher Tacitus handelt; ihre Mauerwurzeln ſtreifen dörferweit von Birmenſtorf bis Wettingen im Felde fort. Die dritte Römerſtadt Auguſta Rauracorum iſt nur noch vorhanden als Baſelaugſt und Kaiſeraugſt, Namen zweier geringer Dörfer, aber die Ruinen nehmen den Umkreis einer Stunde ein. Der Kanton weiß neunerlei Sommerlager und Stationen zu zeigen, welche hier die Cohorten zu beziehen pflegten, und mehr als ein Duzend Militär- und Vicinalſtraßen, die ſie über Gebirg und Thal hinbauten. Zum Schutze dieſer Straßen ſtanden auf der Spitze der Berge rings-

Digitized by Google

um gemauerte Caſtelle und Hochwachten. Aus ihnen ſind die zahlreichen Ritterſchlöſſer im Lande geworden, und deren eines iſt die vielbeſungene Habsburg, die Wiege deutſcher Kaiſer. Nunmehr ſind dieſe Burgen abermals Trümmer und die Römerſtraße zu ihrem Fuße iſt verwilderter Waldweg. Reſte von römiſchen Wohnhäuſern, Bädern und Poſtremiſen werden noch immer friſch aufgefunden, an römiſchen Münzen ſcheint der Boden ganz unerſchöpflich. Selbſt auf dem ſchneidend ſchmalen Gebirgsgrat des Lägerenberges finden ſich Veſpaſiane und Victorine, ſo daß gewöhnliche Landleute ſchon ſeit langer Zeit hier den Münzenhandel begonnen und ihn bis nach Straßburg ausgedehnt haben. An der innern Seite der Stadtmauer, welche beim Dorfe Kaiſeraugſt noch ſteht, ſind i. J. 1837 bei viertauſend kupferne Conſtanse und Conſtantiuse zuſammen gefunden worden. Zürch. Antiquar. Mittheil. 1854, 12.

Noch tiefer unter der römiſchen Bodenſchichte findet aber der nachgrabende Bauer in Ellentiefe erſtaunt die Wohnungen und Kochſtätten eines noch älteren unbekannten Volkes. Er iſt überraſcht wie wir; er ſieht, daß ſchon der Römer hier ſeine Grundſteine auf Schäfte antiker Säulen gebaut hat, und daß unter deren Grundlage abermals ein Gemiſch von früherem Bautenſchutt liegt (pag. 253). Er weiß nicht was ſchwerer zu faſſen iſt: der Glaube an die „Unterirdiſchen und Zwerge", oder die Vorſtellung von der undenklichen Länge der Zeit, ſeit welcher die ganze Bodenoberfläche langſam in ſolcher Erhöhung zugenommen hat, daß ſie dieſe altkeltiſchen Wohnungen wirklich zuzudecken vermochte. Wir ſelbſt haben darüber erſt ein Wort aus Tacitus Germ. c. 45. bedenken lernen: illuc usque, et fama vera, tantum natura. Denn an ſolchen wunderſamen Fundſtücken lernt ſich's einſehen, ſo weit reichte der Sage nach die Natur, und die Sage hat recht! Aber nicht blos der Römer hat in dieſen Boden ſeine Geſchichte gemünzt ausgeſäet und der Kelte ſie unterirdiſch tief hineingebaut; das ritterliche Mittelalter that hier ebenfalls das Seinige und ließ ſchier keinen Hügel ohne Wall, keine Felſenſpitze ungekrönt und zinnenlos. Volle vier und achtzig Burgen und Burgſtälle kennt heute noch das Land, ja der Dekan Stamm zu Birmenſtorf wußte in ſeiner handſchriftl. Chronik, die er im vorigen Jahrhundert verfaßte, in der kleinen Landſchaft Baden allein über einhundert Herrenſchlöſſer herzuzählen. So wird es erſt bedeutſam, die eignen Abſchnitte zu betrachten, welche unſere Sagenſammlung den Heiden- und Römerbauten, den Kaiſer-, Ritter- und Schwedenſagen eingeräumt hat.

Wir muſtern nun die Bevölkerung, welche dieſe Landſtriche bewohnt. Nach der i. J. 1850 veranſtalteten eidgenöſſiſchen Volkszählung

Digitized by Google

lebten auf den 25,$^{39}$ geographiſchen □Meilen des Aargaus 199,852 Einwohner; folglich leben hier auf einer □Meile 7,809 Menſchen. Dieſer dichten Bevölkerung entſpricht die große Zahl der Gemeinden; Städte hat das Ländchen zwölf, Flecken drei, Pfarreien 120. Dieſe Städtchen hatten ehedem ihre Schultheißen und Räthe, mit Zünften, Gilden und Patriciern; die Ortſchaften hatten ihre eignen Verwaltungsformen und Sonderrechte; die einen beſaßen eignes Recht und Gericht mit Einſchluß des Blutbanns, die andern ſtanden unter ihren Landvögten, Untervögten und Kloſtervögten. Eine wahre Muſterkarte von kirchlichen, weltlichen, ariſtokratiſchen und monarchiſchen Regierungsformen boten ſonſt die viererlei Provinzen dar, aus denen der jetzige Kanton componiert worden iſt. Sie waren niemals unter einerlei Herrſchaft vereinigt geweſen, und ſo ſind ſie bis heute verſchieden an Confeſſion, Landrecht, Sprache, Tracht und Körperbau.

Die erſte Provinz, heute das Altaargau genannt, gehörte bis zum Jahre 1415 zu den öſterreichiſchen Vorlanden, und ſeine Städte hatten im Aufgebote des Herzogs Leopold gegen die Schweizer bei Morgarten und Sempach gefochten. Auf Antrieb des Kaiſers Sigmund und des Conciliums von Konſtanz eroberten es die Berner zu des Reiches Handen, verleibten es aber ihrer Herrſchaft ein; ſeitdem theilte es alle Schickſale Berns, ſchloß ſich mit ihm der Reformation an und beſtand aus ſechserlei Landvogteien mit einer Schaar von Untervögten und Schaffnern. Durch die Emiſſäre des republikaniſchen Frankreichs verlockt fiel das Land 1798 von Bern ab. Die hugenottiſchen Flüchtlinge aus Südfrankreich, denen Berns confeſſioneller Eifer Aufnahme ins Landrecht gewährt hatte, verbreiteten mittlerweile die Seiden- und Wollenmanufaktur im Lande. Die zweite Provinz des Aargaus, die Freienämter, hatte aus zweierlei Landvogteien beſtanden. Die oberen Freienämter gehorchten der Oberherrſchaft der VIII alten Kantone; die unteren Freienämter wurden von Zürich, Bern und Glarus wechſelweiſe beherrſcht. Hier galt der vorwiegende Einfluß der mächtigen und gefürſteten Abtei Muri, alſo blieb das Land trotz einer Reihe reformiſtiſcher Anwandlungen katholiſch und hat in drei Jahrhunderten dreimal das Schlachtfeld zu den ſchweizeriſchen Religionskriegen geliefert. Die dritte Provinz iſt die Grafſchaft Baden. Auch ſie iſt als eine Landvogtei von Zürich, Bern und Glarus verwaltet worden, und obſchon dieſe Stände eifrig proteſtantiſch verfuhren, dennoch katholiſch geblieben; der Einfluß des Fürſtbiſchofs von Konſtanz, welchem drei Aemter dieſer Provinz zugehörten, ſodann die theilweiſe Abhängigkeit einzelner Bezirke von den

*

gefürsteten Schwarzwälder Abteien Seckingen und St. Blasien erhielten das Land beim alten Glauben. Die vierte Provinz ist das Frickthal. Dies war seit dem 11. Jahrhundert eine eigne Landgrafschaft gewesen. Als Eigenthum Oesterreichs stand es unter Pflegern, deren Oberbehörde zu Freiburg im Breisgau war. Seine beiden Städte Laufenburg und Rheinfelden waren Festungen und gehörten als sogenannte Waldstätte mit in die Vereinigung des Niederen Bundes, ähnlich dem Oberen Bunde mit seinen Vierwaldstätten am Luzernersee. Diese Provinz wurde erst 1801 durch den Lüneviller Frieden zur Schweiz geschlagen. Auch seine Confession ist die katholische. Das Frickthal hat Viehzucht, Wein und Kornbau, aber keine Fabrikation und Gewerbsthätigkeit. Die Grafschaft Baden hat dies alles mit einander. Das Altaargau ist die Kornkammer, das Freienamt das Obstland; hier ist Most, dorten Wein das allgemeine Getränke. Der Altaargauer hat einen Zug philologischer Prädicanten-Gelahrtheit an sich, in diesem Sinne nennt der Volkswitz das Städtchen Brugg Prophetenstädtchen. Wie alle Reformirten ist er arm an Musik und Lied; bei der katholischen Bevölkerung herrscht dagegen Gesang, bei ihr finden sich noch die letzten Reste guter alter Volkslieder. Der Freienämter ist geistig begabt, erregbar, hat nicht selten einen künstlerischen Anflug, kennt aber keine andere als die Kloster-Erudition. Der Bewohner der Grafschaft Baden ist munter, launig, neuerungssüchtig, in seinem Ausdrucke bombastisch, in seiner Tracht bunt. Der Frickthaler ist wortkarg, langsam, beharrlich und autoritätstreu. Der Altaargauer geht in weißen Zwilch gekleidet und wohnt in hölzernem Hause; des Frickthalers Tracht ist grün, sein Haus steinern; der Freienämter ist von Haar und Auge wie von Tracht schwarz. Das Suhren- und Winenthal geht in selbstgewobener Halbleinwand, in elber Farbe. Nach ihren Hauptnahrungsmitteln und nach ihrer verschiedenen Tracht unterscheiden sich die Bezirke gegenseitig selbst durch allerlei Spitznamen. Krautstirzel, Kabisköpfe, Mehlsuppe, Schnitze, nennt man den Freienämterbauern nach seinen aus Kraut und Obst u. s. w. bestehenden Mahlzeiten; er selbst bleibt den Gegenwitz nicht schuldig und unterscheidet das Stadt- und Dorfmagnatenthum als den Halbseiden-, den Halbleinen-, und Baumwollenadel. Er urtheilt damit wie der patriarchalisch erzogene Sohn in Göthe's Hermann und Dorothea, der gleichfalls nicht gut zu sprechen ist auf jene „Handelsbübchen, um die halbseiden das Läppchen herumhängt." Er denkt wie Pestalozzi, (Ueber Aufwandgesetze, Basel 1781), der im engen unanmaßlichen Berufskreise häusliches Glück und in diesem beruhigten

Digitized by Google

Hausglück den Vaterlandsgeist keimen sah. Zu dieser schon genugsam gemischten Bevölkerung des Kantons nun kommen bereits seit älterer Zeit noch andere fremdartige Bestandtheile: eintausend Landsaßen, die erst jetzt zu vollgiltigen Bürgern gemacht worden sind; an drei Tausend im Kanton niedergelassener Ausländer; zwei Judengemeinden mit 222 Haushaltungen; endlich noch ein seit Jahrhunderten nicht ganz verwischter Ueberrest von Zigeunern (pag. 227). Ein Land, das unter so verschiedenen Herren weltlicher und kirchlicher Seits gestanden hat, so lange von patricischen Landvögten, Kastenvögten, Untervögten und klösterlichen Herrenschaffnern verwaltet worden ist, muß jetzt noch eine Fundgrube von Rechtsalterthümern, verschiedenartigen Satzungen und Bräuchen sein. Die Rechtssage quillt daher in unserer Sammlung mit einer, wie es scheint, bisher noch unbekannt gewesenen reichhaltigsten Ader. Ebenso hat der Hader der Confessionen auf demselben kleinen Schauplatze nicht blos eine Reihe Sobriquets, Ortsanekdoten, Lallenburgerstreiche und Witzgeschichten hervorgerufen, sondern auch die ehrwürdige Legende zugleich mit erhalten und ins Licht gestellt. Die weiteren Abtheilungen unseres zweiten Bandes geben hievon Zeugniß.

Dieser Betrachtung des landschaftlichen Aargaus fügt sich nun diejenige des altgeschichtlichen Gaues an, der unter dem gleichen Namen einst bestanden hat. Da betreffen wir größere Verhältnisse, belangreich für die Nationalität des Volksschlages, dessen Sitte, Sprache und Ueberlieferung uns beschäftiget. Die Burgunden, die im Süden der Schweiz auf eine überlegene Cultur stießen, romanisierten sich dort allmählich; die Alamannen trafen in der nordöstlichen Schweiz wenig mehr von dem römischen Einfluß, seitdem hier die römischen Cantonnements und die große Militärstraße von da wegverlegt worden waren. Die Alamannen behielten hier deutsche Sprache und Weise bei, denn ihnen begegnete nur eine schon im Verkümmern begriffene keltische Nationalität und eine Sprache, die nicht höher entwickelt war, als ihre eigne heimische Mundart. (Th. Mommsen, die Schweiz in röm. Zeit, 17). Der alamannische Aargau (pagus Aragaugensis, urk. 833. in Zurlaubens Stemmatograph. Helvet. 1, 550 Hdsch.) umfaßte alles Land zwischen Aare und Reuß, begann an den Urner- und Thuner-Alpen und reichte auf der rechten Seite der Aare niederwärts bis zum heutigen Schwarzwälder-Städtchen Hauenstein am rechten badischen Rheinufer. Im Gau richtete der Gaugraf. Die ältesten mir bisher urkundlich vorgekommenen Aargauer Gaugrafen sind Chadaloh, und Perehtoldus filius Chadaloh. Beide erscheinen verzeichnet in den Zurlaubenschen Sammlungen (handschriftlich auf der Bibliothek zu

Digitized by Google

Aarau) und in den St. Galler Handschriften des IX. Jahrh. (Hattemer, Denkm. 3, 601 a.) Der Gau enthielt mehrere Landgrafschaften, in denen der Cent- oder Landgraf richtete; die eine und bekannteste ist die Grafschaft Rore, deren Sitz man in der Stadt Aarau sucht, die andere ist die Grafschaft Willisau gewesen. Als das Haus Habsburg ältere Linie 1239 in den Besitz der Landgrafschaft kommt, heißt es (Herrgott No. 311): grave Albrecht het mit den vrien liuten ze Ergowe nit ze tuone, noch niene, da sie in der grafscheste sint ze Ergowe, wan daz si sine lanttage leisten sun. Unsicher bis jetzt noch ist die alte Gaugrenze an der Reuß, sicher dagegen die an der Aare. Ueber diese letztere folgen hier ein paar Nachweise. Sie geht am rechten Stromufer aufwärts über Bern, schließt das Emmengelände bei Burgdorf ein und reicht genau bis Unterseen zwischen dem Thuner- und Brienzersee. Aargauisch waren die Stadt Burgdorf im Emmenthale, und Thun auf der rechten Aarseite gelegen, die Stadt Bern dagegen auf der linken Seite liegend, ist burgundisch; „in Burgunden ein Haupt" nennt Bern sich selbst im Siegesliede gegen die Gugler 1376, in Justingers Chronik. Als daher diese Stadt eine Brücke schlagen will an ihr rechtes alemannisches Aarufer, bestreitet es ihr Rudolf von Habsburg, und es hat von ihm und Albrecht deshalb eine Belagerung zu bestehen. In der Vergabungsurkunde des Straßburger-Bischofs Hetto, 13. März 763, giebt Hetto alle seine Zehnten und Kirchen im Aargau dem Kloster Ettenheim im Schwarzwald; unter den vergabten Orten sind genannt Spiez und Scherzlingen am Thunersee, und Biberist (an der rechten Seite der Solothurner-Aare). Grandidier, hist. de l'église de Strasbourg 2, XCIV. Im Jahre 891 vergabt König Arnolf der Straßburger Kirche eine Hube im Orte Bach, bei Thun „im oberen Aargau gelegen." Im Jahre 995 ist das Dorf Kirchberg an der Emme bei Burgdorf im Argawe belegen. (Jahn, Kant. Bern). Wir sehen also das Aargau bestimmt über Thun hinauf reichen, und in Verwunderung setzt es, daß noch in spätester Zeit trotz allen inzwischen eingetretenen Herrschaftsänderungen diese Grenzbestimmung wenigstens bürgerliche Geltung behielt. Der Thuner Pfarrer Rebmann reimt darüber in seinem Lustig Gespräch von Bergen, Nießen und Stockhorn (Bern, 1620, 469), daß die Stadt Thun auf dem linken Aarufer ins Uechtland gehöre, mit ihrem größeren Theile aber auf dem rechten Ufer liegend, ins Aergöw. Absichtslos schreibt der Zürcher Naturforscher Scheuchzer i. J. 1705 noch eben dasselbe in seiner vierten Bergreise, pag. 195: Thun, die Stadt, theilt sich in zwei, der einter jenseits der Brücke dem Aergäu zugehöret, der andere

Digitized by Go

diesſeits in dem Uechtland lieget." Aber der Endpunkt der Aargauer Südgrenze reichte in jener Gegend noch höher aufwärts, beſtimmt bis zum heutigen Unterſeen. Ein urkundlicher Beweis hiefür ſteht zwar nicht zu Gebote, ſtatt deſſen aber diesmal ein ebenſo giltiger und alterthümlicher: das Stäudlein von Oeſterreich. Der eben erwähnte Pfarrer Rebmann bringt daſſelbe in ſeinem Gedichte, pag. 473 als die alte Landesmarche vor:

Im Birg hinauff ſieht man noch fein
Von Oeſterreich das Wydlein klein.

Wyß, Bern. Oberl. 1, 321 erzählt uns darüber: „das Stäudelein von Oeſterreich zeigen einem die Schiffer fleißig, wenn man am Thunerſee die ſogenannte Naſe umfährt. Es wächst nicht und welkt nicht, und man lächelt über ein Weidenſchoß, das Jahrhunderte lang, ſeit die Herrſchaft Unterſeen öſterreichiſch war, vom Jahre 1298 bis 1393 unabläßig gegrünt hat und wieder grünt." Aus dieſer unſichern Aeußerung ergiebt ſich, daß eine in den Urkunden oft genannte „wagende stûd" hier am rechten Seeufer die Marke bezeichnete, bis zu der das Aargau reichte in derſelben Zeit, in welcher die Habsburger Linie in den Beſitz der Aargauer Landgrafſchaft gekommen war. Die Sprache der Schweizer-Chroniken pflegt alles Habsburgiſche kurzweg öſterreichiſch zu nennen, und daher nannte ſich auch Unterſeen öſterreichiſch, das mit in der Habsburger Landgrafſchaft gelegen war. Durch eine ähnliche Verwechslung zweier anderer Begriffe hat ſich die Grenzbeſtimmung des alten Aargaus noch weiter erſchwert, durch die Verwechslung der Namen Alemannien und Burgund, welche gleichfalls wechſelweiſe auf das Aargau angewendet worden ſind, zu der Zeit, da das Land alemanniſch geweſen und geblieben iſt. Dieſe vielbeſprochene Frage iſt neuerlich erſchöpfend durchgeführt worden von den Aargau. Beiträgen pag. 156, und den Zürich. Antiquar. Mittheilungen 1852, 17 — 20; und hier iſt nicht der Ort, dieſelbe wieder aufzunehmen. Geſchichtlich erwieſen bleibt, daß in den drei das Aargau betreffenden Urkunden aus des Königs Arnolf Zeit der Burgundiſche König Rudolf II. mit keiner Silbe erwähnt und der Aargau nirgend als zu Burgund gehörend bezeichnet wird; wohl aber beweist das Diplom von König Heinrich v. J. 920, daß bis dahin der Aargau zum Reiche gehört und daß ſein damaliger Graf Eberhard unter dem deutſchen König geſtanden hat. Getheilt in ein burgundiſches und in ein alamanniſches Beſitzthum erſcheint ſpäter der Gau, in ſo ferne auch ſeine alamanniſche Bevölkerung unter Rudolf von Rheinfelden, als dem zeitweiligen Herzog von Burgund, geſtanden hat und dann unter ſeinen Nachfolgern und Erben, den Zähringern. Wie der Volksmund

Digitized by Google

heute noch einen nur idealen Oberaargau und einen gleichfalls nur vorgestellten Unteraargau unterscheidet, so unterschied man auch seit jener Zeit schon zwei landschaftliche Hälften des Gaues und nannte eine die Landgrafschaft in Burgundien, die andere die in Alemannien. Aber gerade um nachdrücklich zu verdeutlichen, daß hier die Bevölkerung nirgend burgundischen Stammes gewesen, und um die deutsche Sprach- und Volksgrenze wohl zu unterscheiden, wurde diese ganze Gegend zwischen Aare und Reuß öfters Alamannisch Burgund, auch Kleinburgund genannt, und so hieß noch bis ins 15. Jahrh. der Landestheil des Oberaargaus die Landgrafschaft in Burgundien. Kopp, Eidgenöss. Bünde 4, 51. Die Grenze beider Theile ist in der Gegend zu suchen zwischen Hutwil und Aarwangen, wo der Kanton Aargau an die Kantone Bern und Luzern grenzt. Nach Stammes- und Gaugrenzen bildeten sich bekanntlich auch die Diöcesansprengel. Das Aargau machte ursprünglich einen eigenen Sprengel aus, dessen Bischof seinen Sitz zu Windisch hatte. Der erste darunter, den man namentlich kennt, ist Bubulcus, in Christi nomine episcopus Vindunissæ. So findet er sich mit unterschrieben auf der burgundischen Synode zu Epaon (Yenne) unweit St. Maurice an der Rhone, 16. Septbr. 517, wo er erschienen war zur Einweihung der vom Burgunder-König Sigismund errichteten Kapelle zu Ehren der Thebaischen Legion (vgl. Bd. 2, No. 474 unserer Samml.) Als die Stadt Vindonissa in den Stürmen der Völkerwanderung mehrfach zerstört worden war und zum Dorfe herabsank, wurde der Aargauer Bischofssitz, einer zwar nicht bewiesenen, aber allgemein geltenden Annahme gemäß, nach Konstanz verlegt. Die Konstanzer Bisthumsgrenzen aber waren wirklich die des Aargaus und giengen wie dieses östlich an die Reuß, westlich ans Uechtland und reichten im Süden bis gegen Wallis. So bestimmt dieselben noch der bischöfliche Amtmann Landsee im Enchirid. helvet. 1778. Erst i. J. 1815 gelang es der römischen Nuntiatur das Aargau vom Konstanzer Bisthum loszureißen.

Dies also sind die Grenzen, die der alte Aargau hatte nach Volksstamm, Sprache, Rechtssatzung und Glauben. Es liegen hierin noch die sichtbaren Spuren, an welchen Punkten einst das Alamannenvolk über den Rhein her ins Land eingebrochen war; und so weit es an Aare und Reuß vorrückte, so weit wanderte mit ihm deutsche Sprache und Sage. Als es anfangs vor der Alpenmauer sich besinnend stehen blieb, stieg mittlerweile die Sage voraus ins Gebirg hinein. Sie hat auf diesem Wege die Alpen erklettert, sie ist nicht von den rhätischen und keltischen Gebirgshöhen erst in die Ebene zu uns herab-

Digitized by Google

gequollen. Die Sage des Landes ist keine fremde. Dies ist entscheidend für den ganzen Inhalt unseres Buches. Dasselbe hat nämlich hierin sein wohlbegründetes Recht, seinen Gesichtskreis gerade so weit auszudehnen, als hier die politische und die kirchliche Wirkung der Alamannenherrschaft einst gereicht hat; und aus diesem Rechte erwächst dem Werke weiter die wissenschaftliche Verpflichtung, das in diesem Lande mit gutem Auge Erblickte auch nach deutschem Maße zu messen. Hierin liegen nun die Gründe, warum das Buch etliche solcher Sagen, welche außerhalb der Grenzen des heutigen Kantons spielen, mit plangemäßer Wahl an sich gezogen und zu den übrigen gleichnamigen Nummern gestellt hat; und warum es ferner bei der Erklärung seines Materials sich aller Hypothesen aus keltischen und gallischen Suppositionen enthält, warum es mit Gläubigkeit und Ehrlichkeit allein bei deutscher Mythen- und Sprachforschung sich Rathes erholt.

Und hiemit ist der Punkt erreicht, wo Land und Leute des Aargaues geschildert sind und die andere Frage des Lesers zu beantworten bleibt, wer der Verfasser selbst ist, der sich mit ihrer Schilderung beschäftigt.

Er ist weder Aargauer, noch Schweizer. Seine Mitbürger waren Platen, Schmeller und Panzer, Namen, die seinem Freundesherzen vollauf genügen. Aber er bewohnt schon seit zwanzig Jahren das Aargau und hat diese lange Zeit ausschließlich darauf verwendet, die Sitte, Sage und Sprache der alemannischen Schweiz kennen und wissenschaftlich fassen zu lernen. Es ist leicht einzusehen, was ihn dazu veranlaßte. Der patriotische Eifer wächst in der Fremde. Nie erscheint die Heimat begehrter, als wenn man sie entbehrt. Wen da innerer Sinn und Eifer treibt, der wird unter dem benachbarten, blutsverwandten Volke sich immer wieder auf ein Gebiet geführt sehen, auf dem es kein Ausland, keine provincielle Scheidewand giebt, wo alle Arbeiter gleichberechtigt und nach ihren Kräften auch gleich belohnt sind. Dieses neutrale Gebiet ist eben das der Sprache und Mythe. Am fremden Sprachgebrauch entdeckt sich schärfer der Grund unserer eignen Denk- und Ausdrucksweise, und begründeter läßt anderer Glaube und Brauch den unsrer eignen Landschaft vors Auge treten. Aus gleichen Gewohnheiten zweier sich sonst entfremdeten Länder schließen wir mit Recht auf ursprünglich gleiche Natur- und Lebensverhältnisse beider, also werden beide Länder sich auch einen übereinstimmenden Märchen- und Sagenkreis beiderseits erzeugt haben. Durch die lange Reihe der Aberglaubenssätze hindurch, bis in den unscheinbaren Kinderreim hinab, bis auf die ähnliche Form hinunter, die man dem Festbrode an altüblichen Feiertagen giebt, läßt sich dieses

Digitized by Google

Gleichniß weiter verfolgen. Und so finden wir mit freudiger Ueberraschung in der elternlosen Fremde oft die süßesten Bilder unserer Jugendzeit unvermuthet alle am Leben. So viel übereinstimmende Sinnesart, so viele uns selbst miteinschließende Traulichkeit in Ländern zu betreffen, wo wir sie nicht suchten, macht uns die geplagten Menschen im Ganzen liebewerther und die beschränkte Welt reicher und größer. Wir gehorchen einem gemüthlichen und einem wissenschaftlichen Drange zugleich, wenn wir solchen Erfahrungen ein Andenken stiften. Aus Betrachtern und Zuhörern werden wir unabsichtliche Nacherzähler, und in der Freude über die Gewinnste, die uns auf fremdem Boden geglückt sind, halten wir sie für wichtig genug, sie mit unserer Nation theilen zu dürfen. Es fühlt sich wie ein besonderes Glück, so mit dem Volke von Angesicht zu Angesicht über seine altreligiösen Symbole verkehren zu können; so vielerlei gehört und erfahren zu haben aus dem aufrichtigsten Vertrauen guter Menschen, so oftmals ihnen ins junge oder alte Herz geblickt und eine große Welt darinnen gesehen zu haben, die um so viel Glauben, Trost und Demuth reicher ist, je weniger dessen ihr von außen her zu Theil wird. So wird aus dem durchs Land ziehenden Forscher oft ein reicher, gemüthserquickter Sammler. Er übermeistert seinen Stoff nicht, sondern dient ihm, seine Feder notiert nicht mehr, als seinem Ohre wirklich zugekommen ist, es ist ihm ein Stolz, nicht der Herr seines Werkes, sondern dessen Werkzeug zu sein; wo er sich dessen berühmt, da thut er es als ein getreuer und umsichtiger Verwalter, der von der Größe des in seine Hand gelegten Vermögens gerne spricht, weil er es auch während der Ungunst der Zeiten zinstragend gemacht hat. So hat sein Werk, sogar sein Glaube zugenommen, weil er mehr fassen gelernt hat, weil ihm mehr begegnet ist. Und selber der Glaube an Gott wird erzeugt durch eine Begegnung, Gott findet sich am Ende von Allem wieder. Und so hat den Sammler auf seinen Gängen gar oft das Wohlgefühl begleitet, das aus dem Götheschen Spruche redet:

Ich wandle auf weiter bunter Flur
Ursprünglicher Natur,
Ein holder Born, in welchem ich bade,
Ist Ueberlieferung, ist Gnade.

Dies ist die ursprüngliche Entstehungsgeschichte dieses Buches.

Als im Jahre 1818 die Brüder Grimm die Deutschen Sagen erscheinen hatten lassen, war darin das Aargau mit zwei Nummern vertreten: Radbot auf Habsburg, und Kreuzliberg bei Baden. Hier bietet dasselbe Ländchen einige Hundert dagegen, den zwei edeln Brüdern zum Danke, denen es die Lust zur ganzen Sache und den Glau-

Digitized by Google

ben an deren Dauer und Wahrheit zugleich zu danken hat. Noch ist nichts verloren! schrieb einst J. Grimm beim ersten Erscheinen seiner Grammatik. Hier ist abermals eine Erfüllung dieses wahren Wortes. Wir geben nicht mehr achtungslos an den Dingen vorüber, die uns sonst nur als die gleichgiltigste Alltags-Existenz erschienen und so verfügen wir bereits über einen Schatz einheimischen Wissens, wie er an zuverlässigem Besitz, an sicherer Gewißheit, unerborgt und tagtäglich sich mehrend keinem einzigen Volke der Welt bisher zu Gebote steht; die Wissenschaft vom Volke nennt es Riehl mit Recht. Alle Theile unseres Vaterlandes umspannt es, alle Klassen und Stände, sogar alle Alter zehren bereits davon. Bedarf es eines einzigen Beweises hiefür, so liegt er in dem Kindermärchen, dessen Sammlung die Grimme angeregt haben, und das jetzt die Traulichkeit der Familienunterhaltung, den Lehr- und Lesestoff der Kinderschulen und zugleich den Ernst der untersuchenden Wissenschaft ausmacht. So ist unserer Litteratur das bleibend Populäre entdeckt, das Menschliche wieder erweckt worden, recht zur Beschämung jener Ungläubigen und Zunftgelehrten, die uns in die heimatlose Weltlitteratur vorwärts, oder in die heidnische Klassik rückwärts, oder mitten hinein unter den Götzenwagen der jetzigen Spinnräder- und Locomotivenwelt stürzen wollten.

Wer das Buch um seine Gewährsmänner befragt, dem antwortet es, vor Allen diejenigen sind's, denen es nicht verborgen, sondern denen es gegeben ist: die Armen, die Alten und die Kinder. Wie weit deren Beistand gereicht hat und von welchem Erfolge er gewesen ist, dies werden namentlich die beiden Bändchen beweisen, Alemannisches Kinderlied und Kinderspiel, welche der Verfasser um Jacobi dieses Jahres bei J. J. Weber in Leipzig erscheinen läßt. Eine zweite besondere Quelle war dem Buche die Schuljugend; und hier freut es den Verfasser innig, auf einem Boden gestanden zu haben, so gesund und ursprünglich, wie ihn die älteste Vorzeit für den gleichen Zweck jemals abgegeben hat. Als in den ersten christlichen Schulen Islands das Schreiben eingeführt worden war, giengen Schüler und Lehrer alsbald an die Aufzeichnung der Landessage. So schrieb damals der berühmte Saemund, nachdem er von seinen Studien in Paris und Köln heimgekehrt war, die Eddalieder auf; er starb 1133 und hinterließ uns die unschätzbaren heiligen Schriften unseres nordischen Götterglaubens. Auf seinem Landgute Oddi zu Island hatte er eine Schule errichtet, und da wurde auch Snorri Sturluson, der Verfasser der Jüngeren Edda und des norwegischen Königsbuches erzogen und für das Vaterländische begeistert. Dietrich,

Digitized by Google

Altnord. Lesebuch XXXV. In einer nicht unähnlichen Lage befand sich der Verfasser als Lehrer einer obersten Landesschule. Rechnet man, daß nun zwanzig Jahre hindurch je ein halbes Hundert sechszehn bis zwanzigjähriger Jünglinge seine Schüler gewesen sind, vorzugsweise Aargauer, sonst aber, mit Ausnahme der Kantone Wallis, Genf und Tessin, auch Leute aus allen übrigen Schweizerkantonen, und daß diese Jünglinge in den für die Redeübungen bestimmten Lehrstunden dasjenige am liebsten vortrugen, was ihnen zugleich das verwandteste war, ihre heimatlichen Jugend-Erinnerungen und Localsagen, so hat man einen weitern Schlüssel über das Zustandekommen dieses Buches. An Verläßigkeit aber gebrach es solcherlei Erzählungen aus dem Munde von Knaben und Jünglingen deswegen nicht, weil sich dieselbe Geschichte nothwendiger Weise eben so oft wieder erzählen lassen mußte, als aus denselben Landesbezirken alljährlich die Schuljugend sich frisch nachschob. So hatte der Verfasser einen Vortheil vor vielen andern Sammlern voraus, denn er vernahm die meisten der von ihm hier vorgelegten Sagen wohl zehn- bis zwölfmal in allen möglichen Spielarten und von Leuten verschiedener Bildungs- und Altersstufen. Nicht blos Sagensammler, wie Müllenhoff in den Schlesw. Holst. Sagen pag. XLI., erkennen bereits das Förderliche eines solchen Verfahrens an und verdanken demselben ein besonderes Gedeihen ihrer Zwecke; auch Schulmänner und Pädagogen wie Schleiermacher (System der Sittenlehre 391) und Vorstände von Landesministerien, wie Vilmar (Schulreden No. 8: Von der geschichtlichen Erziehung) empfehlen es unserer Erziehung an, weil es die Fähigkeit zu erleben, zu erfahren, aufzunehmen und zu lernen ausbildet und sie bis ins Mannesalter erweitert und erhält. Ich darf mich hier der Betrachtung dieses Umstandes nicht weiter überlassen, will aber jeden Sagenfreund und Lehrgenossen auf diejenigen Grundsätze verwiesen haben, welche hierüber in meinen Deutschen Arbeitsentwürfen, Bd. 2, 1 ff. zu Gunsten des öffentlichen Unterrichtes bereits entwickelt sind.

Eine dritte Quelle, welche meinen Sammlungen Zufluß bot, waren einige treue Freunde und Rathgeber. Mit fortdauerndem Danke nenne ich hier zuerst einen geistigen Schultermann unseres Aargaus, den Seminardirektor Augustin Keller in Wettingen. Die hochachtungsvolle Freundschaft, die mich diesem Gelehrten verpflichtet, erlaubt mir nur zu sagen, daß er, Vielen ohnedies ein Trost und eine Stütze, mir seit Jahrzehnten mit ausdauerndem Rathe beigestanden und auch manche seiner reichen Sammlungen uneigennützig mir anvertraut hat. Um der mißdeutbaren Sache willen muß es aber hier zugleich gesagt

Digitized by Go

sein, daß keine seiner Aufzeichnungen in mein Buch übergegangen ist, während darinn alles andere, was auf der gütigen Mittheilung von Bekannten beruht, jedesmal mit gewissenhafter Beifügung des Namens des Zusenders verzeichnet steht. Ein nicht minder aufrichtiger Dank gebührt dem energischen Dr. Wolfgang Menzel in Stuttgart; aufmunternd, rathend, durch eigenes Beispiel fördernd und durch treue Sorgfalt helfend hat er nicht selten den Ermüdenden wieder gehoben, den Vereinsamten zu den rechten Leuten gewiesen. Ihm besonders bin ich den schönen Vorzug schuldig, dem unvergeßlichen J. W. Wolf befreundet gewesen zu sein, dem wir nun alle nachtrauern. Herzlichen Dank diesen braven Männern! Sie sind die wenigen Gelehrten, deren Hilfe und Mittheilungslust niemals gegen mich ins Stocken gerieth, die meine Anfrage nicht unbeantwortet ließen, trotz ihres eignen Geschäftsdranges. So üben sie selber musterhaft die gute Sitte unseres Volkes, das gleichfalls den emsigen Karst sinken läßt und freundlich Bescheid giebt, wo wir draußen auf den verirrlichen Feldwegen allein stehen. Wie grobköpfig erschiene der Bauer, der da Auskunft verweigert. Allein wie oft muß unsre Wißbegier an eine Thüre aus polirtem Holze klopfen, die sich vornehm und vorsichtig verschließt; denn erst beim „Gebildeten" beginnt der kahle verstummende Neid.

Noch haben wir dem einheimischen Leser und dem fremden, jedem eine besondere Eröffnung zu machen.

Der eingeborene Leser kann in etlichen Fällen seine einzelne Ortssage in dieser Sammlung noch vermissen; er wird aber das hier Vermißte vielleicht einmal dorten betreffen, wo es die richtigere Stelle einzunehmen hat, in den weiteren Bänden nämlich unseres Sammelwerkes. Sie sind betitelt: Kinderspruch und Kinderspiel, Gemeindefest und Gebildbrod, Aberglauben und Brauch, Schweizerischer Sagenkreis. Dem vorliegenden Buche dienen diese Schriften bereits als Ergänzungsmittel und stehen deshalb öfters nach Abschnitt und Nummer darinnen in voraus angeführt. Allein mancherlei Stoffe und Erzählungen, die in unserer Bevölkerung noch fortdauern, hat der Sammler überhaupt nicht mehr zum Abdruck bringen mögen aus mehrfachen Gründen. Er übergieng alle die Kindermärchen, die sich ihm noch nicht in wünschbarer Abrundung dargeboten haben; darunter sind zu nennen: der bue mit dem isige spazierstecke. die schwarze cherzä. der kaiser Joseph. Oder er übergieng solche Thiermärchen, die allbekannt sind und von denen er nur eine Spielart besitzt; so z. B. Wettlauf des Fuchses und der Schnecke (Vgl. Weber, Ind. Stud. III. 2, 3). vom müsle und glüetli (Wanderer in der Schweiz 1835, 132. Daraus dann in Haupts Zeitschrift f. D. Alterthum).

Digitized by Google

die brosmene ûf'm tisch (Grimms KindM. Stöbers Elsaß. Volksbüchlein). Er übergieng ferner solcherlei Schwänke, welche zu nahe Aehnlichkeit mit Hebels Geschichten im Rhein. Hausfreund und Schatzkästlein haben; z. B. en histori vom-ene wî-mischer. Ebenso ließ er alle Haus- und Stadtgeschichten unveröffentlicht, die der ordinären Gespenster- und Hexenfurcht angehören, ohne daß sie sonst einen bedeutsameren Sagenzug an sich haben. Deren Zahl ist Legion. Aber auch das schon von Andern Mitgetheilte ließ er weg, wenn er nichts Neues, mythologisch Wichtiges dem Alten beizufügen hatte. So hat er zwar aus Grimms Mythologie die Zwergensage No. 183 in sein Werk versetzt, und durch die Umgebung, in der sich hier nun diese Erzählung befindet, findet sie erst ihren Charakter wieder. So hat er aber die Sage vom Kreuzliberg bei Baden in Grimms deutschen Sagen 1, 439 unbenützt stehen gelassen, weil er nicht mehr als das dorten Stehende darüber wußte. Ausgelassen sind ferner solche Legenden, welche das bloße Mirakel erzählen (der bischof ohne namen in Cham). Die Sage vom Spielmann Steucheler, der auf einem Teufelsrosse von St. Gallen nach Baden auf die Tagsatzung durch die Luft geritten, steht bereits in Wolfs deutsch. Märch. und Sagen No. 135, und zum Ueberflusse neuerlich wieder im Schweiz. Sagenbuch von Kohlrusch. Deswegen steht sie nicht in dem unsrigen. Das gleiche gilt von folgenden, überall wiederkehrenden Anekdoten: der balkentragende Haushahn des Zauberers auf der Zurzacher-Messe wird von einem Weibe als ein blos Strohhalme tragender erkannt, weil in ihrem Graskorbe eben vierblätteriger Klee liegt. Das Toggeli reitet als Strohhalm oder Aehre allnächtlich den Schmiedegesellen, wird von ihm Nachts in den Schraubstock gespannt oder auf dem Ambos zerhämmert, und am Morgen ergiebt es sich, daß es die Schmiedfrau selber ist. U. s. w.

Dem fremden Leser kann sodann einigemale der ungleiche Ton der Erzählung auffallen, der in den Abtheilungen des Buches eingehalten ist. Und dies veranlaßt mich noch zu einer Bemerkung über die Art, wie ich die Sage vorzutragen suche.

Jene gemüthliche, oder jene ganz realistische Wahrheit, die in jeder selbstgewachsenen Volksrede liegt, bedarf von Seite des Wiedererzählers, um auch Andern zur richtigen Empfindung werden zu können, nichts als des befreundet gewählten, einfach meldenden Wortes. Statt in strotzendem feierlichem Schmucke erscheint daher die Erzählung in keuscher Nacktheit; auch die Sage pflegt plötzlich zu schweigen, weil sie nicht mehr sagen will, als sie weiß. Redlich bricht sie ab, trotzdem daß eben das Pikante zu erwarten steht und nun der Effekt los-

Digitized by Google

brechen könnte. Sie hat so allerdings ihre Schranken und ihre Mängel und gesteht es ja selber ein. Sie ist in nichts anders als ihre Götter, bei aller Macht und Schönheit doch körperlich verletzbar und schadhaft. Sie geht einher wie die Königin Bertha, überall um vieles schöner anzuschauen denn ein anderes Menschenkind und doch mit einem verkümmerten Fuße wandelnd, pag. 240. Es ist dies ihr noch irdischer, noch nicht vergötterter Theil, der gerade am meisten ihre Leiblichkeit und Wahrheit zu kosten giebt. So stockt sie auch plötzlich im Erzählen über sich selbst, neben dem genauesten Einzelwissen bleibt sie selber unbeendigt: ein Zeichen ihres grauen Alterthums, ihres absichtslosen Kindersammelns, ihrer noch von Cultur unbelecken, ächten Herzenseinfalt. Und eine wahre Herzensangelegenheit ist es dem Sammler gewesen, die Sage auch immer so selbst sprechen zu lassen. Sogar diejenigen größeren Erzählungen dieses Buches, welche ursprünglich für eine Zeitschrift aufgesetzt worden waren, in der sie sich dem unvorbereiteten Publikum erst des Breiteren auseinandersetzen mußten, (No. 167, Schlüsseljungfrau von Tegerfelden. No. 496, Geschichten vom Rheinfall in Laufenburg) werden dem nach Schönmalerei begierigen Modeleser lange nicht genugsam gefallen, weil auch sie unsere ländlichen Zustände realistisch und nicht idealistisch, rauh und herbe, aber nicht abgeglättet und vornehm verflacht darstellen. Auch das kann dem Leser anstößig erscheinen, wenn mitten im laufenden Vortrage der Begebenheiten, eine mundartliche Liedstrophe hemmend dazwischen rinnt und ihm den unerwünschten Eindruck des Bauernhaften macht. Was ihn stört, gerade das erfreut den Kenner; solcherlei kleine Reimsprüche und Liedstrophen sind die letzten Töne der einst singend durch die Welt gegangenen Sage. Echte Sage muß ursprünglich immer ein Volkslied gewesen sein. Der schweizerischen Tellensage steht daher immer noch ein Tellenlied zur Seite; dieses ist freilich längst nicht mehr das ursprüngliche, aber eben deshalb erzählt sich auch die Tellensage selber schon lange zweifach, anders im Munde der Hirten und anders aus der Feder der Chronisten. Solche belehrende Vorgänge giebt unser Buch mehrfach zu erkennen. Wie die Sage ein Liebeslied gewesen ist, zeigt No. 21; wie sie eine Ballade gewesen, die sich erst neuerlich in eine poetische und in eine prosaische Erzählungshälfte getheilt hat, zeigt No. 14. 15. Wie umfangsreich solche Lieder gewesen seien, läßt der kleine Strophenrest in No. 167 erkennen; wie weit verbreitet sie waren, erhellt aus der pag. 140 gegebenen Formel einer echtepischen Zeitrechnung, die sich in der ganzen deutschen Sage wiederholt; da bemißt der nach Erlösung strebende Geist die Länge der Zeit, die er schon zugewartet

hat und noch zuwarten wird, in folgendem Schmerzensruf: Wenn meine Krähe keine Nuß fallen läßt, so wächst mein Baum nicht, wenn mein Baum nicht umgehauen wird, so hat mein Kind keine Wiege, und wenn mein Kind nicht schlafen kann, so wächst mein Erlöser nicht! Wer sieht hier nicht den Parallelismus des Gedankens und der Verszeile aus dem alten Volksliede. Wer bedauert nicht die Masse von Liedern, die uns zu Grunde gegangen sind und nun in der Prosasage begraben liegen; und wer muß nicht bitter lächeln über unsern Salon-Geschmack, welcher zuletzt noch sein poetisches Waschwasser so reichlich auf diese Sagenreste goß, daß sie damit beinahe aus der Erinnerung des Volkes weggeschwemmt worden wären.

Fehler und Verstöße sind mir während des Druckes keine aufgefallen. Beim Umschreiben des Manuscriptes durch fremde Hände ist Königin Agnes, des ermordeten Albrechts Tochter und Leopolds Schwester, zu Albrechts Schwester gemacht worden, und dieser Schreibfehler ist pag. 67 beim Abdruck ungetilgt geblieben. — Auf Seite 182 muß statt des irrthümlichen Mandlebenjägers ein Mandlene-Jäger verstanden werden; dieser ist Gott Odhinn, der als Wilder und Böser Dietrich Jagd macht auf die Moosmännlein, welche mundartlich die Mandlene heißen.

Schließlich komme ich auf die das Buch begleitenden Anmerkungen zu sprechen. Die meisten Leser werden sie wegwünschen, ich will sie ihnen jedoch rechtfertigen. Sagenanmerkungen sind da, um den Stammbaum des Mythus zu zeigen, um die Ahnenreihe einer einzelnen Sage bis ins entfernteste Glied nachzuweisen; sie verrichten die Dienste des Wappenherolds. Natürlich kommen sie, wie er, mit einer gewissen Schwerfälligkeit stoffstrotzend einher und brauchen Zeit, bis sie ihre Belege und Urkunden alle abgelesen haben. So vielerlei Buchstäblichkeiten auf einmal fallen dem unvorbereiteten Leser unbequem, er will nicht die Zahlen, sondern die runde Summe, nicht die Anmerkungen, sondern die Erklärung des Ganzen auf einmal. Er möge sich einen Augenblick gedulden, um sich sagen zu lassen, wie die Anmerkungen dieses Buches verfahren. Sie sollen nicht Erklärungen, sie sollen vielmehr die Weisthümer und Beurkundungen des Erzählten sein. Sie müßen also nothwendig aus der speciellen Geschichte desjenigen Landstriches geschöpft sein, dessen Sage sie behandeln. Sie halten sich zuvörderst an solcherlei ältere Geschichtsquellen, Chroniken und Drucke der Schweiz, welche selbst noch unter dem Einflusse der lebendig gewesenen Sage niedergeschrieben worden sind. Ebenso wird ferner das Zustimmende aus Brauch, Glauben und mundartlicher Formel des Volkes mit zu den Quellenstellen ausgehoben, und erst wie zum Abschlusse dann tritt eine Vergleichung mit der allgemeinen deutschen Sage ein. Hiebei mögen die reichlichen Citate manchem so vorkommen, als ob sie ohne Noth gehäuft ständen; allein bei besserem Nachdenken erscheint diese ihre Häufung aus allen deutschen Landstrichen her als ein sehr praktischer Fingerzeig, wie groß und weitreichend der geographische Schauplatz eines einzelnen Sagenzuges vormals gewesen sei, wie anerkannt, wie allgemein geglaubt also auch dasjenige vormals gewesen sei, das der unvorbereiteten Jetzt-

Digitized by Google

welt oft unglaublich und blos phantastisch, öfter sogar zwecklos und albern heißen könnte. Dieses weisen dem Leser die Anmerkungen durch sich selbst, ohne daß sie erst erklären und beweisen müßen, und zu diesem Zwecke eben häufen sie das Citat. Außerdem aber soll ein solches jeden Leser in die Lage setzen, des Autors Behauptungen Wort für Wort zu beaufsichtigen, es ist eine Quittung über Gewissenhaftigkeit seiner Buchhaltung, ein kaufmännischer Gutschein, der die Waare nach Abkunft, Güte und Werth in den Vertrieb bringt. Der gelehrten Prunksucht wegen sind also derlei Anführungen aus so vielerlei Büchern und Schriften nicht gegeben worden; welcher Spediteur würde nicht über die gelehrte Ostentation eines Frachtbriefes lächeln. Das Buch hält sich hierin an Lessings Wort 8, 10: „Ich verlange nicht für einen reichen Mann gehalten zu werden, aber ich verlange, daß man die Tratten, die ich gebe, für aufrichtig und sicher halte." So habe ich mir den Zweck dieser Anmerkungen gedacht. Wenn nun sie schon nicht erklären wollen, so wird auch dieses Vorwort keine sogenannte Schlußerklärung über die Gesammtbedeutung der hier dargebotenen Sagen abzugeben haben, obschon dies gewöhnlich ein Wunsch der Leser zu sein pflegt. Endresultate können wir nicht geben, so lange wir alle noch im Lernen begriffen sind, die Sage ist zudem, wie alles Religiöse, in ihrer Wurzel Geheimniß. Nur kindische Neugier und lernscheue Trägheit will das Unerforschliche an den Fingern hergezählt sehen. Das Erforschliche wird sich finden, wenn wir erst des ganzen noch erreichbaren Sagenstoffes einmal Herr geworden sind, erst alsdann kann die Mythendeutung ihr Geschäft beginnen. Ueber jene natursymbolischen Erklärungsversuche aber, in denen man neuerlich die modernsten Schulabstractionen zu antiken Göttern potenziirt hat, bin ich ganz der Meinung, die Menzel in seinem Odin 215 äußert: Organisch kalendarische Erklärungen eines gewöhnlichen Naturcultus (in welchem die Götter symbolisirte Jahreszeiten, Sonnenwenden und Elemente sind, deren Gegensatz sich bekämpft und verfolgt) reichen für die sittliche und poetische Tiefe der deutschen Sage nicht aus; das darf man ein für allemal als Gesetz annehmen.

Dennoch wird der bunte, zufällig gefundene Stoff des Buches dem Leser den Eindruck eines inneren Sachzusammenhanges machen. Wer dies bestreiten wollte, wäre einfach aus dem Sachregister zu widerlegen, das den Band abschließt. Die dort stehenden Artikel Roth, Schwarz, Stein, Wasser u. s. w. zeigen in der reichen Ausstattung, welche sie im Texte besitzen, eine so ungesuchte und zugleich so deutliche Systematik, daß dies wahrhaft unbegreiflich bliebe, wenn die Sage nicht Religion gewesen wäre, nicht ein feststehendes Dogma besessen hätte. Und das Sachregister also ist der Inder eines Theiles dieser Dogmatik. Es hat aber zugleich noch einen Nebenzweck. Es muß die Befähigung und zugleich die Gewissenhaftigkeit des Verfassers documentieren und ihn außer Gefahr setzen vor übler Nachrede. Er las die Früchte eines Bodens auf, der nicht zugleich auch seine Wiege getragen hat. Er wußte, wie oft schon ein solches Verhältniß für die litterarische Bosheit den Anlaß gab, Beschuldigungen zu erheben, die grundlos waren und doch eine Weile Glauben fanden. Schon

Digitized by Google

auf der andern Seite seines Sagenbuches hat uns Müllenhoff zu klagen über die feindseligen Stimmen, die seinem Werke vorwarfen, es enthalte Gotteslästerung, es mache vor den Augen der gebildeten Welt dem Lande und seiner Geistlichkeit nur Schande. Wenn dorten die Kibitze mit der halben Eierschale auf dem Kopfe aus dem Nest laufen, warum denn nicht auch anderwärts? Was dorten dem Landeskinde galt, kann hier noch leichter dem Landesfremden begegnen. Hier besitzt die Eifersucht des Einzelnen gegen das Fremde nicht blos ein wohl erworbenes Recht, sondern sie geräth zuweilen auch in Versuchung, es zu mißbrauchen, in der freien Presse des Landes Politik und Wissenschaft miteinander in eine öffentliche Verwechslung zu bringen und so einem neuen Buche den ersten und unbefangenen Eindruck theilweise zu rauben. Dieser Gefahr kann freilich kein Thätiger ganz ausweichen; wer an die Straße baut, muß sich tadeln lassen; doch wer die Vögel fürchtet, wird nicht lang Hirse säen. Aber kritisch ist etwaigen Angriffen solcher Art einstweilen ein Damm gesetzt, der sich nicht durchbrechen läßt. Wer nämlich dem Verfasser die scharfe und getreue Beobachtungsgabe bestreitet, der muß sie zuerst aus dem Sachregister wegläugnen können, in welchem sie wie mit unterirdischer Stimme aus hunderterlei Begriffen und Seitenzahlen den Verstand anredet. In dieser und jeder ähnlichen Hinsicht bleib ich guten Muthes und schicke nun mein Buch mit wahrer Liebe, ohne Ueberwürdigung, mit dem ruhigen Blicke eines über der langen Anschauung schon gealterten Freundes den Freunden der vaterländischen Sage zu. Da helfe es, das Ueberlieferte vor dem fühlbar nahen Untergang noch rechtzeitig retten, da stelle es das noch lebenskräftige Material gereinigt dem Volksangedenken zurück, oder reihe es mit ein in unsere einheimische wissenschaftliche Erfahrung. Es erfrische und bestärke dem Volke selbst die Empfindung von dem Werthe seines alten Spargutes, seines National-Erbtheiles. Allen andern aber, die entweder uns abhold oder der Sache unfreundlich sind, sei gesagt, was Cyriacus Spangenberg i. J. 1578 im Ehespiegel pag. 259 sagte, als man ihn wegen der in seinen Brautpredigten behandelten Sittenzüge tadelte: Wiewol ich auch vorhin das weiß, das mir vil dinges von vilen wirt verarget werden, die mirs auch zum allerärgsten deuten vnd außlegen werden, was ich trewer meynunge jetzt will handlen vnd mit großem fleiß vnd arbeit zusammen gelesen habe, so frage ich doch nichts nach denselbigen, sondern befehle es dem lieben Gott!

Aarau, Ostertag 1856.

**E. L. Rochholz.**

Digitized by Google

# I. Geheiligte Gewässer.

## 1. Die Quellen der Schafmatt.

Auf der nördlichen Seite der Schafmatt, jenes abgelegenen Jurapasses, der das Aargau vom Baslergebiete trennt, liegt die Winterhalde des Dorfes Oltingen. Dort sowohl am Fuße des Berges, wie weiter gegen das Dorf Zeglingen hin entspringen zwei Quellen, deren Wasser zu allen Jahreszeiten an Kälte und Fülle sich gleich bleibt. Es behaupten daher die Leute, daß unter jenen Halden ein großes Gewässer von drohender Gewalt sich bewege; und so oft die zahlreichen Wallfahrer aus dem Elsaß ihren Weg zum wunderthätigen Marienbilde von Einsiedeln über diese Höhen nehmen, fallen sie hier auf die Kniee und beten zu Gott, er möge die in dieses Gebirg versenkte Fluth nicht abermals hervorbrechen und die Welt verwüsten lassen.

## 2. Der leuchtende Pfad im Flusse.

Ein altes Schloß, bis auf seine vier Grundmauern zusammengebrochen, liegt im Aargauer Dorfe Gauenstein am Rand der vorbeiströmenden Aare. Hier wohnte in ältester Zeit die freie Königin des Landes. Der Bruder und sein hochmüthiges Gesinde haßten sie; sie merkte einen Anschlag gegen ihr Leben und flüchtete sich noch Nachts aus dem Schlosse an den Strom herab. Allein der Ferge und sein Schiff war nirgend zu finden. Verfolgt und gedrängt wollte sie lieber freiwillig den Tod nehmen, als dem bösen Bruder in die Hände fallen; sie lief stromauf den gefährlichen Bergpfad zum Nachbarschlosse Biberstein und stürzte, noch ehe sie es erreichte, von den steilen Klippen in den reißenden Strom. Doch dieser verschlang die Königin nicht, sondern gewährte ihr einen sichern Weg, und so gieng sie jene Nacht mitten in der Aare fort bis in die Pfalz von Basel. Noch sieht der Fromme in stillen Nächten die Fußstapfen der Königin auf den Wellen der Aare in mildem Glanze strahlen.

Gertrudis, Kaiser Karls und seiner ersten (namenlosen) Gemahlin Tochter, gieng über den brückenlosen Main, und bis heute sieht dorten der Schiffer in den gekräuselten Wellen der Fürstin Fußstapfen. Herrlein, Spessharts Sagen pag. 131.



Digitized by Google

## 3. Bertha von Baldegg.

Im Hitzkircherthale, zwischen dem Aargauischen Hallwiler-See und dem Luzernischen Baldegger-See gelegen, erblickte man früher eine ganze Reihe von Burgen, die Schlösser Ober-Rheinach, Baldegg, Reichensee, Lieli und Heidegg. Aber diese hübschen Rittersitze wurden zusammen in den Kriegsunruhen verwüstet und gebrochen, welche zwischen den Luzernern und dem Hemmann von Grünenberg im J. 1386 über verschiedene Zoll- und Grenzstreitigkeiten ausgebrochen waren. Als Reichensee und Baldegg von den Flammen schon verzehrt waren, wollte der Feind der noch übrigen letzten Burg, der Heidegg, das gleiche Loos bereiten. Auf ihr wohnte damals eine besonders fromme und mildthätige Edelfrau, Namens Bertha. Sie war schon Wittwe und hatte nur ein einziges Kind. Zitternd für dessen Leben, gelobte sie beim Herannahen des Feindes, der Mutter Gottes eine Kapelle zu stiften. Als nun die Krieger die Burg Lieli zerstört hatten, kamen sie durch den dichten Wald unter dem Klotisberg herangezogen und stürmten gegen den Hügel, auf welchem Heidegg steht. Alsobald aber verhüllte sich die ganze Gegend in einen so undurchdringlichen Nebel, und der Dünkelbach, welcher am Schlosse herabfließt, begann dergestalt anzuschwellen und zu rauschen, daß der Feind in Finsterniß und Wasserlärm vom Pfade abkam, in den reißenden Bach stürzte und in dessen Fluthen dem Baldegger-See zugeschwemmt wurde. Diejenigen, welche entrannen, haben erst auf dem Rücken des Lindenberges, auf der obern Illnau, sich wieder zurecht finden können. So ist das Schloß verschont geblieben; aus schuldiger Dankbarkeit wurde alsdann von der Burgfrau die Kapelle erbaut, welche jetzt noch neben dem Schlosse steht und die Aufschrift trägt:

**Procul estote profani!**

(In Versen erzählt davon: Reithard, Sagen der Schweiz, S. 205.)

---

## 4. Die drei Schwestern im Eithale.

Von Tecknau aus, einem Weiler im obern Baselland, bis Aarau führt ein doppelter Fußweg über den Aargauer-Jura. Der kürzere geht eine enge und tiefe Schlucht bergauf, voll sonderbarer Felsenformen zu beiden Seiten. Sacht steigt aber der andere Weg zwischen großen Buchenwäldern durch zusammenhängende Wiesengründe empor; dies ist das Eithal. Die Luft ist thaufrisch und der Rasen bleibt grün das ganze Jahr hindurch; ein Bach mit kieselloser Welle kommt herabgeflossen, und hundertfacher Amselschlag schallt aus dem Laubdickicht. Hie und da liegen im Verstecke des Waldsaumes winzige Heuhäuschen,

Digitized by Google

die einzige Spur, daß man den Menschen nicht allzuferne ist. Doch so lange das Gras nicht ausreift, tönt hier keine Sense, keine Heerdenglocke. Der Weih im Blauen, die Forelle im Bach, oder ein wackelnder Erdsalamander im Dampfe einer feuchten Lehmlage sind die einzigen Zeugen dieser reizenden Abgeschiedenheit. Die Wände des Gebirges rücken nun enger zusammen, der Wald wird steiler, einzelne Felsenzacken zielen aus ihm hervor frischgeschnitten, sonniggelb, da weht ein plötzliches Brausen um die Bergecke herum. Die Ergolz geht hier von einer querüber liegenden Felswand der obern Hochebene in unser ruhiges Thal nieder. In einem zierlichen Bogenstrahl springt der Bach mit einem Satze aus seiner Baumgruppe auf die Wiese herab und hat sich unten ein Becken so zirkelrund ausgewaschen, als ob es vom Steinmetzen zurecht gehauen wäre. Man nennt diesen Platz den Gießen. Was man in das Becken wirft, wird augenblicklich wieder ausgestoßen.

Eine arme Frau suchte hier umsonst das Ende ihres Kummers. Kaum hatte sie sich mit dem Wasserstrahle hinabgestürzt, so fand sie sich drunten unverletzt ins weiche Gras hinausgehoben. Solche Wunder schreibt man der Milde dreier Schwestern zu, die hier gewohnt haben. Auf beiden Thalseiten erheben sich nackte Wände, der alte Sturz und Schutt ihrer eingesunkenen Felsenhäupter gleicht den Trümmern vielfacher Burgen. Eine Gruppe nennt man die Oedenburg, die andere heißt beim Volke Scheideck. Der Schloßherr dieser letztern soll noch jetzt mit seinem Rappen heulend durch die Nacht reiten. Auch der Scheidecker Schloßhund hat noch vor kurzen Jahren regelmäßig den Witterungswechsel durch sein Bellen angezeigt. Auf die gegenüber liegende Oedenburg versetzt der Glaube drei schöne Schwestern, und man weiß noch, daß die Jüngste Gräfin Bertha geheißen habe, Andere sagen Helena. Diese entführte der Scheidecker. Da man hierauf sein Schloß stürmte, rissen sich alle Felsen der Gegend los und begruben den Raubritter und die Stürmenden zugleich. Hierauf ließ der Kaiser beide Burgen schleifen. Noch immer baden jene drei Schwestern hier im Gießen; und die Mähder sind froh, davon zu hören, weil dann ihr Heu bis auf den letzten Wagen jedesmal sicher und ungenäßt unter Schirm und Dach kommen wird. Kinder, die hier Schafe hüteten, sahen zwei glänzend gerüstete Reiter auf Schimmeln aus dem Walde herunter kommen, ihnen voraus ritt der Jägerknecht mit der Koppel Hunde. Unbefangen sprangen ihnen die Kinder entgegen und verlangten ein Almosen. Die Männer warfen eine Hand voll silberner Rappen (Heller) unter sie aus. Lange staunten die Kinder den schimmernden Reitern nach, dann suchten sie ihre Geldstücke im Grase; aber nicht eines war mehr aufzufinden.

---

Digitized by Google

## 5. Der Ring auf dem Egliswiler Berge, oder Hom-Isen.

Auf dem Berge hinter der Heidenburg (vgl. No. 168) liegt um die Wurzeln einer Eiche unterirdisch gespannt ein Ring aus purem Golde. Er wiegt mehr als das größte Haus in Egliswil, liegt aber unerreichbar tief; zum Glücke der Gegend. Denn wird ihn je eine menschliche Hand berühren, so verschwindet er sammt der Eiche in den Boden hinein und aus dieser Höhlung hervor drängt sich ein ungeheurer Strom, der das ganze Thal unter Wasser setzen und so den alten See wieder herstellen würde, der früher den Aargau bedeckt gehalten hat. Er hat Hom-Isen geheißen, und von ihm stammen die vielen Homberge unsers Kantons her; so wenigstens leitete der Bannwart den Namen ab, als er Vorstehendes berichtete. Eine Stelle dieses Berges heißt man das Rothe Hüsli, eine andere im Walde die Metzg'. Hier geschah ein dunkler Gräuel, in Folge dessen es heute noch spukt.

Lobisei, eine Jura-Thalschlucht, war der Sage nach ein großer Gebirgs-See, und der Druck seiner Wasser soll unterhalb der Felsen, auf denen die Ruine Neu-Falkenstein steht, durchgebrochen und die Balsthalergegend begraben haben. Seitdem erst ist das Mümliswiler-, Ramiswiler- und Guldenthal entstanden. Strohmeyer, Kant. Solothurn, pag. 35. Ueber den auffallenden Namen Lob-isei und Hom-Isen vergl. Abthl. XI, No. 484, „Tempel auf dem Isenberge". Der Name Hom-Isen, der sich hier nach den vielerlei Hombergen des Aargau ableitet, steht zum Namen der No. 99 vermutheten Stadt Hulm. Beides erklärt sich aus hohen-berc, contrahirt in Homberg, wie Hannover (alta ripa). Extolletur super Lybanum, übersetzt Notker, Psalm 71: wirt irburit uber hömberc.

Der Glaube an Ringe, die unterirdisch magisch gespannt lägen, hängt zusammen mit dem alten Gerichtsbrauche, Ringe als Grenzzeichen dienen zu lassen. Solcherlei folgen hier aufgezählt. Der Paß beim Dorfe St. Sulpice im Neuenburger Jura heißt la chaine. Die ungeheuer starkgliedrige Eisenkette, die ihm diesen Namen gab, hängt an der linken Bergwand in den Fels eingelassen. Meyer-Knonau, Erdkunde 2, 363. Beim Tessiner-Dörfchen Campora (Distrikt Mendrisio) liegt die Höhle Togna; „es ist daselbst noch ein großer Ring eingesteckt und man sagt, es sei ein Zeichen günstiger Witterung, wenn nach langem Regen hier Wasser herausfließt. Franscini, Kant. Tessin, pag. 365. Von jenem Bundesschwur her, den die Bündner i. J. 1421 an dem Ahorn zu Truns gegen die Uebergewalt der Mächtigen sich leisteten, zeigte man lange noch an einem Felsen beim benachbarten Dörflein Tavanasa die Nägel eingeschlagen, an welchen die Gemeindeammänner ihre Brodsäcke aufhiengen, als sie um die Quelle auf der Wiese sich niederließen, um den mitgebrachten Mundvorrath zu verzehren. Neujahrs-Bl. der Zürch. Stadtbiblioth. 1823, 3. Die Marken der Freiburger-Landschaft von Corvers und Saanen treffen an einer unerreichbaren Felsspitze des Gros-Mont zusammen, in deren Wand ein eiserner Ring eingelassen ist. Schweiz. Merkur 1835, 116. Die Gemarkungsscheide zwischen den Städtchen Olten und Wangen war ein Eisenwecken, zu Rupoldingen in einen Fels geschlagen. Jld. v. Arx, Gesch.

Digitized by Google

der Stadt Olten, S. 12, nach einer Urkunde vom J. 1442. — Aehnliches zeigt man beim Simmenthaler Dorfe Gsteig gegen die Grenze von Jaun (Jahn, Kant. Bern, und Alpenrosen Jahrg. 13, 191), und beim Guguksbad im Breisgau. Schnezler, Bad. Sagenb. 1, 342 und 11. In einer Fluh von Berner Walperswil wurden beim Steinsprengen zwei Erzringe gefunden, jeder 3—4″ im Durchmesser. Aus dem Grunde des Bieler-Sees zog man bei Möringen 1834 vier wohlerhaltene voluminose massive Ringe von gebrannter Erde. Jahn, Kant. Bern, S. 33. Renwart Cysat der Aeltere, Stadtschreiber von Luzern, sieht 1586, da man im Kloster Rheinau ein Fundament grub, eine ganz steinerne Schlange als einen Zirkelring im Grunde liegen. Joh. Leop. Cysat, Beschreib. des Vierwaldstätter-Sees, 1661, S. 250. Den ganzen Urschelberg bei Pfullingen soll eine goldene Kette umschließen und die unterirdischen Schätze zusammenhalten. Meier, Schwäb. Sag. 1, pag. 5. Auf dem Oelberge bei Schrießheim ist noch der Eisenring, an den Noah seine Arche band. B. Baader, Bad. Sag. No. 348. Die Quelle zu Weihenlinden wird gefunden, nachdem man den Silberring aus der Tiefe gegraben. Schöppner, Bayr. Sagen 1, 69. Dagegen schleudert, ibid. 1, 286, die Gräfin von Wettenburg ihren Ring in den Main, und das Schloß versinkt im Strome. Noch ist ein Eisenring oben in den Felsen. — Die an der Wand des Mänelsteins hängenden Schiffsringe kann man mit einem Stabe erreichen und zum Klingen bringen. Stöber, Elsäß. Sag. No. 145. An solche die alten Landesmarken bestimmenden Ringe reiht die Sage den Glauben an, daß sie ein altes Gewässer, oder die Pest, oder eine drachenhafte Schlange in der Tiefe magisch verschlossen halten. Der Teufel beredet einen Hirtenknaben, den eisernen Ring aus dem Felsen des Kandelberges im Breisgauer Elzthale herauszureißen, und der Hirte spannte seine vier Kühe daran. Hätte er sie nicht in „Gottes Namen" angetrieben, es wäre ein See herabgebrochen; so entsprang nur der wohlthätige Sinbach. Schnezler, Bad. Sagenb. 1, 342. Wie Venedigs Doge alljährlich einen Ring ins adriatische Meer, so warf man auch einen goldenen in den bayrischen Wallensee. Panzer, Beiträge 1, No. 28. Damit zusammen treffen die vielen Eisenringe an Bergen und Felsen, welche der alten Bevölkerung zum Anbinden ihrer Nachen gedient haben sollen. Vgl. unsere No. 6. 7. Solche Kahnringe will man an der Seefluh im Lenkthale des Berner Simmenthales sogar gefunden haben. Alpenros. Jahrg. 13, S. 191. Sie sind alle verkörpert in jenem Weltwurm oder Midgardswurm der Edda, der die ganze Erde umspannt und zusammenhält, einst aber emporsteigen und Alles in Wasser versenken wird; und in jenem Schwane, der, auf dem See des Hochgebirges einsam schwimmend, das Ende der Dinge bringt, wenn er den Ring aus seinem Schnabel fallen läßt. Gottschalk, Sagen, Halle 1814, S. 227. Gregorius von Tours, Fränkische Geschichte lib. 8 cap. 33 erzählt, wie Paris von Alters her geweiht gewesen und dorten keine Schlange und Ratte sich zeigen durfte. Als man aber beim Reinigen einer Kloake eine eherne Schlange und Ratte im Schmutze fand und daraus hervorzog, seien solcher Thiere unzählige erschienen und die Stadt fieng an, durch gefährliche Feuersbrünste zu leiden. Die eddaische Schlange Nidhöggr liegt unter den Wurzeln der Esche Yggdrasill, drunter entspringt der Brunnen Hvergelmir und am Stamme ist der Götter Gerichtsstätte. Eine geflügelte Schlange, ein Drache mit einem Auge von Karfunkel liegt im Sundgauer-Jura. Stöber, Elsäß. Sag. No. 1. —

Digitized by Google

Dagegen wird in No. 1 unserer Abtheil. „Heilige Gewässer", für die verborgenen Wasser der Schafmatt gebetet, wie in Bechsteins D. Sagenb. No. 514 für den Singerberg und die Schneekoppe, in No. 732 für den Frickenhauser See; in Bechsteins Thür. Sag. 2, 76 für den Sperhügel. Gleiches in Panzers Beiträgen 1, No. 10, 21, 28, 208. Auch jener Ring, welcher am Ufer des Vierwaldstätter-Sees am Selisberge in der Kapelle „Maria im Walde" an einer Kette aufgehängt ist (Henne, Schweiz. Bl., Jahrg. 32), mag Aehnliches bedeuten. Gegen den Ausbruch des Titi-Sees wird täglich im Freiburger Münster eine Messe gelesen. B. Baader, Bad. Sag. No. 48. Im Bergheimer Dorfe, Reg.-Bezirk Köln, wird alljährlich zum Marcusbrünnchen gezogen und gebetet, damit es nicht austrete. Dabei ist der Brunnen mit Laub und Blumen geschmückt. Hocker, Deutsch. Volksglaube, S. 226. Als ein Brauch der Art in bayrisch Urspringen, da hier die Reformation Platz griff, unterblieb, erbrauste das unterirdische Gewässer des schwarzen Moors, und so lassen die Reformirten bis heute noch ein Amt dagegen lesen. Panzer, bayr. Sagen 1, 206. — So weisen die von der Sage vermutheten unterirdischen Gewässer im Straßburger und Freiburger Münster auf die Heiligkeit der Quellen und Ströme, denen die ursprüngliche Ehrfurcht ihren alten Tempel ließ und sie in christliche Taufbrunnen umänderte. Deshalb hängen die Kirchenbau-Legenden vielfach mit einer Brückenbau-Sage zusammen; so in Köln (Grimm, Deutsch. Sag. 1, 280), in Regensburg (Schöppner, Bayr. Sagenb. No. 114). Ueber diesen in den Mysterien schon berufen gewesenen Ring bemüht sich Lucretius 6, 1007, eine rationelle Erklärung zu geben; er schwankt aber fühlbar zwischen der Symbolik desselben (parte quod ex una spatium vacat, et capit in se), und zwischen der physikalischen Wirkung seines Metalls: Nec res ulla magis primoribus ex elementis indupedita suis arcte connexa cohaeret, quam validi Ferri naturae frigidus horror.

## 6. Ring am Aarburger-Schlosse.

An einer Felswand der Festung hängt ein großer Eisenring; er soll in der Zeit, da das ganze Wiggerthal noch ein See gewesen, dazu gedient haben, hier die Schiffe anzubinden. Auch eine Lokalität der Nachbarstadt Zofingen, die jetzt ohne alle Stromschiffahrt ist, heißt noch Schiffländе; es soll daselbst einst ein großer Fluß, Namens Hägler, gewesen sein, dessen unterirdisches Brausen man dorten noch zu hören meint und den der Glaube bei Aarburg in die Aare münden läßt.

## 7. Gondelisee im Kulmerthal.

Das große Gewässer, welches ehemals von Gontenschwil weit herab durchs Kulmerthal zur Aargegend gereicht haben soll, wird Gondelisee geheißen. Ein Burgvogt soll Quecksilber hineingegossen und es so trocken gelegt haben. Nach andern Berichten führte ein Graf dieses

Digitized by Go

Landstriches mit der angeblichen Stadt Hegnau (vergl. No. 52) Krieg, die man ebenfalls in das Thal versetzt. Da er sie nicht erobern konnte, so mußten seine sieben starken Söhne dem See einen Durchbruch graben und dadurch die Stadt ersäufen. Von ihr blieb nichts übrig, als das hier noch zahlreiche Geschlecht der Hegnauer, mit denen jedoch die gleichfalls vorkommenden Hagnauer nicht zu verwechseln sind, die von einem elsäßischen Schlosse ihren Namen ableiten. An dem hier gelegenen Seeberge fand man vor Jahren einen eisernen Ring in die Felsen eingetrieben; an ihm sollen die Sennen ihr Vieh, wenn sie es im See tränkten, und die Schiffer ihre Kähne angebunden haben. Die Berghöhe heißt Seblihügel; von da habe der Leuchtthurm über den See hingeschaut.

Gleichen Ursprung giebt sich der Weiler Seeberg, der gegen Wyl hin liegt und zum Dorfe Leimbach gehört. Letzteres nennt auch eine seiner Häuserreihen die Seegasse, wie das noch höher gelegene Dorf Menzikon eine Wassergasse hat und einen Dorftheil, der die Arche heißt.

Vergleiche die Arch, Uferbefestigung gegen reißende Bäche. Schmeller, Wörterb. 1, 103. — und Flußstellen, zur Fischerei dienlich, „locis piscacionum que diutisce Arichsteti vocantur.“ Anton, Gesch. der Landwirthsch. 1, 481.

---

## 8. Der Egelsee auf dem Heitersberg.

Auf der Höhe des Heitersberges, wo sich jetzt alter Wald in dem gemiedenen Gewässer des kleinen Egelsees abschattet, stand früher einmal ein Schloß, oder wie Andere meinen, ein Herrenkloster; man hieß es die Veste Bauernweh und sein letzter Besitzer war Niko. Er soll die Bewohner des benachbarten Limmat- und Reußthales unbarmherzig gedrückt und ausgesogen haben. Er schickte einen grausamen Vogt mit einer Schaar von Knechten durchs Land, und wer ihm Zins und Zehnten versaß, den ließ er in die Gewölbe seiner Burg werfen. Als diese Gewaltthätigen einst aus dem Reußthale heimkehrten und am Dorfe Remetschwil vorbeikamen, begegnete ihnen oben am Sennhof die dortige Wittwe mit ihren sieben Kindern. Auch sie war nicht im Stande gewesen, dem Vogt rechtzeitig die Pacht zu bezahlen; sogleich packte man Hab und Gut zusammen und trieb das Weib sammt den ihrigen aus. Nur eine Hand voll Mehl wollte sie noch mitnehmen zum Brei für ihr Jüngstes; man riß es ihr vom Arme und warf es in das angezündete Haus. Nun braucht es keinen Brei mehr, höhnte der Vogt und ritt hinweg. Die verlassene Mutter schrie den Himmel um Rache an; stammelnd vor Schmerz rief sie: „Wenn nur de donner di und din burg i bodde ie verschlueg!“ Der Himmel hatte ihren

Digitized by Google

Fluch gehört. Noch in derselben Nacht erhob sich ein furchtbares Ungewitter; es regnete Blitzschläge auf das Schloß herab, und unter langem Krachen versank es mit Mann und Maus hundert Klafter tief in den Abgrund hinein. Ein See trat an die Stelle, vom Volke der Egelsee geheißen, weil die vielen Blutegel in ihm zum Beweise dienen sollen, wie viel unschuldiges Blut hier einst vergossen worden; oder auch wegen der zahlreichen Egelfische (perca fluviatilis) dieses Gewässers, welche die benachbarten Mönche von Wettingen nachher für ihren Fastentisch besonders schmackhaft gefunden haben. Auch vom Nägelisee hört man noch reden, weil er die Stadt Nägeli verschlungen, die hier gestanden haben soll. Der See ist heute noch gemieden und gefürchtet. Zwar ist droben auf der Höhe ein ärmliches Bauernhaus, und tiefer unten am Waldabhange, wo ehedem ein Fischerhäuschen auf der abschüssigen Matte stand, liegt noch ein Kahn am Ufer. Allein man wagt sich in ihm nicht aufs Wasser hinaus, weil man zu versinken fürchtet, sobald man in die Mitte fährt oder dorten stille hält. Nie bewegt sich die Welle, nie überfriert sie, kein Bach ergießt sich darein. Der See ist schon auf neunzig Fuß Tiefe gemessen, aber man hält seine Mitte für unergründlich. Zwei Männer am Sennhof, die sich hierüber Gewißheit verschaffen wollten, knüpften zehn Schnurknäuel, jedes zu hundert Ellen Länge, aneinander, hiengen einen Senkstein daran und fuhren damit gegen die Mitte hinaus. Doch die Schnur reichte nicht aus und der Kahn fieng bereits an zu sinken. Da mahnte sie eine Stimme von drüben her aus den senkrechten Felswänden des westlichen Ufers, augenblicklich dem Lande zuzurudern, sonst sei es um sie geschehen. Auch keinen natürlichen Ausfluß hat das Gewässer, mit Ausnahme des kleinen Durchganges, den man ihm schrittbreit durch den Waldgraben machte. Ueber dieses Rinnsal ist heute noch der Müller im Dorfe Spreitenbach gesetzt und hat dafür einen Theil des Fischrechtes am See. Einst war ihm ein Hecht von ganz außergewöhnlicher Größe ins Netz gegangen. Da der Mann auf dem alten Glauben war, das Gewässer hänge unterirdisch mit dem Reußstrom zusammen, so band er dem Fisch einen rothen Faden um den Hals und ließ ihn wieder schwimmen. Nicht lange nachher ward derselbe in der Reuß bei der Stadt Bremgarten gefangen.

Nebenan am versumpften Ufer, wo im Sommer bei trockener Witterung jeder Schritt hohl nachdröhnt, finden sich noch etliche Mauerspuren; bröckelt man davon Gestein ab und wirft es in den See, so soll er aufsteigen und das ganze Land überschwemmen. Unter seinem Spiegel will man bei klarem Himmel die Thurmspitze des Schlosses gesehen haben. In der Nachbarschaft oberhalb der sogenannten See-

Digitized by Google

matten ist eine wilde Rise, wo die Bergwand ihren Schutt abstürzen läßt. Der Fußweg dahin heißt der Reitweg. Da zeigt man das sog. Teufelsloch, die Stelle des alten Schatzhauses, das die Schloßherren mit eisernem Fallgitter verwahrt hielten. Hieher begab sich ein Färber aus dem Städtchen Mellingen zu wiederholten Malen, um den versenkten Reichthümern nachzuspüren. Er traf in der Höhle eine Jungfrau, die auf einer Eisenkiste stand und hütete. Der vorsichtige Mann machte sie mit den geweihten Wachskerzen unschädlich, die er mitgenommen und vorher angezündet hatte, und konnte nun eine nicht geringe Geldsumme mit fortnehmen. Da er aber beim Weggehen noch unter dem Eisengitter sich umwendete, fuhr dieses im gleichen Augenblicke herab und schlug ihm die Nase weg. Der Mann ist noch nicht lange todt, und der Vorfall ist in Mellingen eine wohlbekannte Sache.

Ueber diesen See schreibt Bertrand, Mémoires histor. et phys. sur tremblements de terre. Haye 1757: es sei hier schon 1728 ein beträchtliches Stück Land unweit Kindhausen in den Abgrund versunken, dessen Tiefe man damals nicht zu ergründen gewußt habe. Auch der Hinkende Bote, ein Bernerkalender vom J. 1756, berichtet, das Lissaboner Erdbeben habe sich im Banne von Kindhausen besonders stark verspüren lassen. Wirklich gehört das den Egelsee umgebende Land jetzt noch zum Bann von Kindhausen; jedoch niemand erinnert sich dorten eines solchen Vorfalls, und der See hatte schon in den ältesten Zeiten bis auf die neuesten den Mönchen im benachbarten Stifte Wettingen ihre Fastenfische zu liefern. Bertrand erzählt also eine Sage an der Stelle eines naturhistorischen Ereignisses, und schon der Zug beweist es, daß der See Jeden verschlinge, der einen Stein in ihn werfe. Dasselbe sagt bekanntlich Plinius, Hist. nat. 2, 45 über jene Dalmatinerhöhle, die er mit dem unserer Sennensprache angehörenden Namen Senta benennt. — Hier folgen die Spielarten, welche diese Sage in nächster Nachbarschaft hat. Der Ritter am Thurgauer Schloß Bichelsee trotzt einer Wittwe ihren schönen Eichwald ab und wird darüber sammt Allem von dem plötzlich dort entstehenden See verschlungen. An den im Wasser heraufstarrenden Eichenästen zerreißen da heute noch die ausgeworfenen Fischernetze, aber des Wassers Tiefe ist gleichwohl unergründlich. Steinau, Sagenschatz, pag. 72. Neben dem Türlersee auf dem Albis bei Zürich liegen die Schloßruinen der Schnabelburg. Als dorten ein gewissenloser Vater sein eigenes Kind den Lüsten des Burgherrn zuführte, versank das Gut in den See, das Mädchen aber gieng ins Kloster Frauenthal. Den noch vorhandenen Burggraben, der Chriembildengraben genannt, läßt der Teufel nicht ausbauen. Reithard, Sagen der Schweiz, 140. Unermeßbar bleibt des Sees Tiefe, gleich dem Schwarzwälder Mummelsee, den ein Würtemberger Herzog durch neunerlei Zwirnnetz vergeblich ergründet; dort wie hier beginnt der Floß zu versinken, auf dem man ihn befahren will. Simplicissimus, ed. Keller 1, 732. Wie das Volk über den Namen Egelsee Deutungen macht, so die Gelehrten. Mone, Gall. Sprache 186 denkt unnützer Weise an wälsh egel, Tiefe, gälisch aige al, Pfuhl. Der Name dieses und manches ähnlichen Gewässers rührt von dem Egelfisch her, der hier sehr

Digitized by Google

häufig ist. Ein Egalsêo urk. 779 in der Würzburger Grenzbeschreibung. Naumann, Serapeum 1852, pag. 98. Egilsee, urk. 1284. Egelsee, urk. 1280. Mon. Boic. 28, 418. 456. Letzteres ist ein jetzt verschwindender See im bayr. Gebirge. Eben dasselbe gilt von dem gleichnamigen im Thurgau bei Littenhaid, jetzt nur ein Sumpf. Meyer-Knonau, Schweiz. Erdkunde 2, 202. Der Katzensee im Kant. Zürich hieß ehemals gleichfalls Egelsee. Zürch. Neujahrsblatt der Feuerwerker 1811, 2. „Der Egglin oder Versich, ein fressender oder verzehrender Fisch, schonet keiner Fischen, sondern frisset alles auf, sein Stich von dem Borst ist unheilsam", schreibt Joh. Leop. Cysat, Beschreib. des Waldstätter-Sees, Luzern 1661, pag. 22. Dies entspricht der Grausamkeit der hier in „Blutegel" verwünschten Ritter, die einst eben so viel unschuldig Blut hier vergossen haben; und drückt sich aus im Namen des hier spukenden Wassergeistes Niko. Dies ist der Nir, welcher seine Opfer in die Tiefe reißt und dann einen Blutstrahl im Wasser aufquellen läßt, agf. nicor, nicorhûs: daemon, mare. Er erscheint als großer Fisch mit rothem Halsbande, so wie die hl. Verena zu Zurzach ihn als Salm im Rheine fängt (vergl. No. 9 in gegenwärtiger Abtheilung). In Salmsgestalt verbirgt sich Loki im Wasserfalle Franaugursfors, als er die Unthat an Baldr begangen hat und flüchtig ist. Die Asen ziehen ihn mit Noth am Schwanze heraus. So fängt auch in der ndd. Sage der hl. Petrus den Schelfisch, zeichnet ihn mit einem Male am Rücken und nennt ihn nach diesem den Schelmfisch. Wolf, Beitr. 1, 139. Im Frickenhauser See, gegen dessen Ausbruch im Würzburger Dom die Leute beten, erblickt man einen Fisch in Schweinsgröße und mit Schuppen wie Zinnteller. Bechstein, D. Sagb. No. 732. Dieser Niko gab dem würtembergischen Nekar seinen Namen, ebenso dem Neker, der im Toggenburgischen Nekerthale entspringt und in die Thur bei Lütisberg mündet. Othin selbst als Beherrscher der Winde und Wogen führt den Beinamen Hnikar. In unserer Sage vom Egelsee ist der Gott auch im Namen des Börschlingsfisches mit erkennbar, den man hier zu Lande Hag oder Hägling nennt. Es ist am Namen Hoggema und Häggele (Abth. IX, No. 419) nachgewiesen, daß man unter diesem Namen des Teufels zugleich auch den männlichen Lachs bei uns versteht, dessen gekrümmte Unterschnauze durch die Benennung Hakenlachs, sagt man, bezeichnet werden soll, während sein Weibchen Luder heißt. Der Hackelmerz ist ein kinderraubender Wassergeist, der Hackelbernd ein Wilder Jäger, der den rothen Wunschmantel hakol trägt. In diesem Zusammenhang scheint auch die Rothforelle des Genfer Sees ihren bedeutsamen Namen Ritter zu führen: „l'ombre chevallier". Ist der Hagenfisch hier der Gott und Burgherr, so fehlen auch die ihm eigenen Schatzgewölbe nicht. Sein Weib hütet sie hinter sich öffnenden und schließenden Thüren, die dem Färber von Mellingen die Nase abschlagen. Damit ist das Thor der Glücksgöttin gemeint, von welcher Walther v. d. Vglw. singt: Mir ist verspart der Sælden tor. Das Gegentheil verlautet als Verwünschungsformel in der Raben-Schlacht 57 a: Unsælde si mir ûfgetân! Da die Götter ihre Tempelgebäude hatten, so blieben mindestens noch die Thore davon in der Sage von der Glücksgöttin über. Sie sind zugleich die Himmelsthore zur Unsterblichkeit, „diese goldhellen Thüren Walhalls", von denen Brynhild (Sigurdharquidha 3, 60) fürchtet, sie möchten ihrem ins Grab gesunkenen Gemahl „zu hart an den Fersen zufallen." Vergl. Abtheil. IV, No. 172,

Digitized by Google

Schatzthüren im Bornberge. — In Beziehung auf den Niko unſerer Sage ſcheint es mir bedeutſam, daß man das Getränk des heißen Rothweines, gewöhnlich Klaret geheißen, auch Nicus nennt, wie das Kochbuch, „das Hausweſen, von Kübler, Stuttgart 1850, pag. 238" ausweist; und auch der in der Schweiz noch vorkommende Brauch mag mit dem Waſſergott in Verbindung ſtehen, große Hechtköpfe mit aufgeſpreiztem Zahnrachen an die Wohnhäuſer anzunageln. Man trifft ſolches nicht bloß am Gelände des Brienzer- und Thunerſees noch häufig, ſondern auch in Waldthälern. So ſind an den „Heidenhäuſern" im Berner Lindenthale bei Thorberg, Felswohnungen, welche jetzt noch bewohnt werden, Hechtköpfe unter den Giebel genagelt, in deren Rachen man eine Fauſt ſtecken kann. Wyß, Reiſe ins Bern. Oberl, 1, 254.

## 9. Die heilige Verena in Zurzach.

So lange die heil. Verena noch zu Solothurn wohnte, konnte ſie dorten beim heidniſchen Stadtvolke wenig Gutes ausrichten; man ließ ſie in ihrer Einſiedelei draußen im Jura hinter Fels und Wald an ihrer kalten Quelle ſitzen, und hörte nicht auf ſie. Als ſie aber einmal bei einer Hungersnoth vierzig Säcke Mehl um ihre Klauſe ſtellen ließ und Krapfen buck, war den Stadtkindern der Weg bald nicht mehr zu weit, ſie kamen zahlreich gelaufen und wollten Wecken eſſen. Jedem ſchenkte ſie einen und ſagte ihm dabei den Glauben vor; das Mehl ging ihr nicht aus, und das Brod wuchs den Kindern unter den Zähnen, bald war die erſte Kleinkinderſchule fertig. Aber der neidiſche Teufel will überall ſeinen Stein darin haben. Ihm war's nicht recht, daß die Jungen anders werden ſollten als ihre Alten; er riß alſo an der Jurawand ein Felſenſtück los und ſchleuderte es gegen die Zelle hinunter. Es blieb jedoch noch gerade oberhalb dem Dache liegen; da iſt der ſchwarze Steinblock heute noch zu ſehen mit eben ſo viel Löchern als der eiferſüchtige Teufel damals Krallen hineindrückte. Nun hatte die Heilige hier ihres Bleibens nicht mehr. Sie nahm ſich einen Mühlſtein, der an der Solothurner Aare zum Verladen lag, und ſchwamm auf dieſem den Fluß ins Aargau hinunter. Als ſie am Städtchen Klingnau vorüber kam, fiengen drinnen alle Glocken an von ſelber zu läuten. Die Klingnauer aber hatten dazumal noch ihre Häuſer ſo gebaut, daß deren Fenſter alle ins Städtchen hinein, keine aber auf den Fluß herausſchauten; man konnte alſo die Heilige nicht vorbei fahren ſehen und noch weniger ſich das Geläute erklären, zu dem nicht die beſondere Erlaubniß eingeholt worden war. Sie ſprangen zum Stadt-Sigriſt und laſen ihm ſogleich tüchtig den Kavelantes *),

*) Keifen und kafeln, cavillari. Kavelantis, ein derber Verweis.

sie brachen die Thurmthüren auf, um die bösen Buben abzustrafen, die hier muthmaßlich eingestiegen waren; aber sie erstaunten nicht wenig, als sie die Glockenstränge von unsichtbarer Hand gezogen hinauf und herab schwingen sahen. Jetzt merkte man ein Wunder, bald entdeckte man auch oben vom Thurme aus die Heilige, die draußen im Strome eben an der weiten Landzunge der Insel Au herunter fuhr. Während man nun eine breite rathsherrliche Berathung eröffnete und eine Reihe von Vorschlägen brachte, unter welcherlei ausgesuchten Ehrenbezeugungen die Verena durch Deputationen begrüßt und ins Städtchen herein geleitet werden sollte, war sie bereits weit entfernt in dem öden Giritz ausgestiegen, einer Aarniederung, die damals nur von giftigen Sumpfthieren eingenommen war. Hier hob Verena drei Finger zum Himmel empor und steckte sie in den Sand des Uferlandes. Sogleich entsprang hier das Verenabrünnlein, dessen stets klares Wasser auch jetzt noch für heilkräftig gilt. Nachdem sie selber davon getrunken, ließ sie den Kleinstädtern Klingnau's das Nachsehen, und fuhr hinab bis zur Mündung der Aare in den Rhein. Hier liegt am linken Flußufer das arme Schifferdorf Koblenz. Die Bevölkerung, die ihre Blicke stets auf dem Strome hat, aus welchem sie ihre Nahrung zieht, war der Heiligen sogleich ansichtig geworden, fuhr ihr auf allen Weidlingen entgegen und bemühte sich, sie sammt ihrem Mühlsteine ans Land zu rudern. Dann gestanden sie ihr die üble Lage, in der man sich hier gerade befand. Hier hatten nämlich die Juden von ganz Deutschland auf der letzten Grenzscheide des Reiches ihren Begräbnißplatz angewiesen erhalten. Er lag auf einer Stromödung, welche die Judeninsel heißt und die heute noch immer alljährlich von der Judenschaft zu Lengnau und Endingen feierlich besucht werden muß. Allein die Leichen waren so übel bestattet und nur so leicht im Flußsande verscharrt, daß die Luft davon verpestet worden war und eine Seuche ringsum in der Gegend wüthete. Diese Krankheit wich alsbald beim Erscheinen Verena's. Nun beeiferte sich auch das benachbarte Chorherrenstift im Markte Zurzach, hier zu erscheinen, und führte die fromme Frau mit Kreuz und Fahnen in allen Ehren heim in eine ihr mehr gebürende Wohnung. Auch den Mühlstein, auf welchem sie hergeschwommen, wollte man nicht zurücklassen. Man lud ihn auf einen Wagen und hatte ihn bis zum sogenannten Koblenzer-Kreuz gebracht. Hier aber blieben alle Rosse, so viel man deren vorspannen mochte, unbeweglich stehen, und man war nicht im Stande, Wagen oder Stein vorwärts zu schaffen. Aber zurück nach Koblenz ließ er sich mühelos bringen, und hier ist er noch. Neben der Kirchthüre sieht man da in der Mauer eine Einsenkung, hinter deren Vergitterung der Stein nebst

Digitized by Google

der Heiligen Bildniß verwahrt ist. Man traut ihm übernatürliche Kraft zu. Auch ist das Gewölbe, das ihn verwahrt, ganz allein unversehrt geblieben, als eine Feuersbrunst Dorf und Kirche einäscherte; es hängt voll wächserner Füßchen und Aermchen, welche die Leute opfern, wenn einem ihrer Kinder ein Schaden heilen soll. Ueber dem Stein sind die Worte zu lesen:

Auf diesem Stein hier auf der Aaren
Die heilig Verena ist gefahren,
Ohne Ruder, Schiff und Schalten,
Wie solches geglaubt die frommen Alten.

In der Krypta des Zurzacher Kirchenchors liegt die Heilige bestattet. Auf ihrem steinernen Grabmal ist sie abgebildet mit fliegenden Haaren; mit der Rechten hält sie einen Wasserkessel am eisernen Tragringe, mit der Linken einen zweireihigen Kamm: Kannten und Strähl, wie man beides nennt. Ihre heilkräftige rechte Hand, in einer Silberkapsel verwahrt, wird jährlich am Osterdienstag in Prozession nach der Kapelle auf der sogenannten Burg getragen; denn hier, wo die Ueberreste und Mauern eines römischen Vorwerkes lagen, das einst den Rheinübergang zu decken hatte, und wo zugleich die älteste Jochbrücke dieser Gegend durch den Strom gieng, soll die Jungfrau ihre Wohnung gehabt haben; hier ist auch dem hl. Mauritius, dem Obersten der Thebaischen Legion, ein Kirchlein errichtet. Ein Stück vom Verenenkrüglein hat der Fürstabt von St. Blasien im Schwarzwalde angekauft und den Zehnten im ganzen Amte Waldshut dafür an das Zurzacher-Stift abgetreten. Darum erhebt dasselbe jetzt noch in den acht badischen Nachbargemeinden den Zehnten: in Kadelburg, Aettwil, Gortwil, Thiengen, Rheinheim, Küssennacht, Dangstetten und Bechtisbohl. Der Gürtel der Heiligen wird im schwäbischen Kloster Roth verwahrt; er bringt Gebärenden Hilfe; er soll den Burgunderkönig Konrad und den Schwabenherzog Burkhard mit Nachkommen gesegnet haben, die sich beide vorher über ihre kinderlose Ehe betrübten. Das steinerne Verenenkrüglein war lange verloren gewesen, bis es Hirten am Rheinufer wieder auffanden; seitdem ist es heilkräftig und segensreich gewesen. Für den Frommen ist es voll süßen Heiltrankes, für den Bösen schwimmen nur Kohlen darin. Als eine Wittwe in Kummerthränen erblindet war, die sie ihrem verstorbenen Gatten nachweinte, gaben ihr die Waschungen aus diesem Gefäße das verlorne Augenlicht wieder. Als ein Roßhirt von seinem unbarmherzigen Dienstherrn geblendet worden war, gewährte es ihm die gleiche Hilfe. Alljährlich am Tage der Heiligen versammelt jede Hausmutter im Badener-Gebiete (Grafschaft) ihre Kinder, und wäscht ihnen der Reihe nach

Digitized by Google

die Köpfe. Dies schützt sie gegen alle spätern Krankheiten des Hauptes. Warzen vertreibt man, indem man darüber haucht und dazu spricht: **Frene, Frene, dorra weg!** An der linken Mauer der Zurzacher Kirche ist ebenfalls ein eigener Verenenbrunnen, und sein Wasser ist beim Volke so geschätzt wie Weihwasser. Eine Bergquelle gleichen Namens sprudelt auf dem benachbarten Achenberge; hierher gieng der Lieblingsweg der Heiligen. Sie ist eine Patronin aller Fischer, Schiffer und Müller. Als in dem Hause, wo sie als Magd diente, ein edler Ring verloren gieng, ließ sie bei Zurzach einen großen Rheinsalmen fangen und zur Küche bringen, der jenen Goldring im Leibe hatte. Noch tragen die alten Mühlen und Banngemarkungen im Surbenthale die Wahrzeichen der Heiligen, Krüglein und Kamm. Wenn daher habsüchtige Müller das Wasser, das Andern dienen soll, ihren eigenen Rädern zuleiten, so zerreißt es ihnen mit großem Schaden die Wuhren und geht dann seinem vorigen Laufe nach. Und wenn eine Schnittermagd vom Garbenbinden her über den Rhein heimkehrt und einmal bei der Ueberfahrt mit dem Weidling umschlägt, so hält ihr die Jungfrau mit der einen Hand den Mund zu, daß sie nicht ertrinke, und führt sie mit der andern ans Gestade. Auch als Wetterheilige gilt sie; daher heißt die Kalenderregel für den ersten des Herbstmonats: Wenns Vreneli brünnlet, gits en schlächte Herbst. Regnet's an Verena, so gibt's trockne Saatzeit. Wäscht Verena am Vormittag ihren Rock und trocknet ihn Nachmittags wieder, so gibt's guten Herbst. St. Verena sott z'Morndes 's Chrüegli lösen, z'Mittag 's Chitteli tröchne. Wenn's den ganzen Verenatag regnet, darf der Ackerer zum z'Obig (Abendbrod) nicht mehr absitzen (sitzend verzehren).

---

## 10. Das Verenabad in der Stadt Baden.

Das Verenenbad, welches man das heilige heißt, ist ein so geräumiges Bassin mit Umwandung und Eindachung, daß gegen hundert geduldige Menschen mit einander darin Platz finden; es ist für die Armen bestimmt, die hier unentgeltlich die Wohlthat des Heilbades benutzen können und deshalb aus allen Kantonen der Schweiz regelmäßig her geschickt werden. In langen Reihen sitzen sie dann in ihren Badhemden zusammen, die einen bis an den Hals, die andern bis zur Herzgrube ins Wasser getaucht. Steinbänke gehen ins Gevierte an den Wänden hin, außen an den Gängen spazieren die Fremden und die Besucher, ein Badmeister hält Aufsicht über seine Patienten von so verschiedenartigen Sitten; ehemals war er sogar mit einer Ruthe

Digitized by Google

versehen, die er an langer Stange gegen die Ungebürlichen im Wasser schwang. Im Mittelpunkt des Beckens steigt eine Säule empor, auf welcher das holzgeschnitzte Bild der heil. Verena in einer Nische steht und auf die Hilfsbedürftigen niederblickt. Das heiße Wasser tritt unmittelbar aus dem Boden des Beckens selbst in das Bassin ein, und diese Oeffnung, aus welcher die Quelle hier hervorwallt, heißt Verenaloch. Aber nicht bloß die Armen nehmen ihre Zuflucht zu diesem einzelnen Sprudel unter den vielen gleichen in der Stadt zu Baden; auch junge Ehefrauen, die sich nach einem Erben sehnen, suchen heimlich sich hier Zutritt zu verschaffen. Wenn in nächtlichen Stunden die Badwäscher das verbrauchte Wasser abfließen lassen, den Boden und die Steinsitze reingespült haben, da, wenn alle Neugierigen schlafen, kommt die junge Frau mit ihrem Dienstmädchen gegangen und drückt dem Badwäscher ein Geldstück in die Hand. Der versteht den Wink, und nachdem sie in ihre Badehre gekleidet ist, einem langen Hemde von feiner Wolle, so führt er sie hin zum Verenaloch, wo der heiße Sprudel aus dem Boden tritt. Sie senkt ein Bein in die Röhre hinab und läßt es recht durchwärmen; alsdann hofft sie sicher, diese Verrichtung helfe zur baldigen Erfüllung ihrer mütterlichen Wünsche. Die Gläubige läßt dann brennende Wachskerzen in dem steinernen Gehäuse vors Verenenbild aufstecken; und das Bild mit seinem stets frischen Blumenkranz im Haar, über das eine hohe Flitterkrone von Golddraht gestellt ist, sieht gar schimmernd und Gutes verheißend in das einsame Wasserbecken herunter.

Bronner, Kant. Aargau, 2, 280. — D. Heß, Badenfahrt, S. 36 ff.

Aelteste Legendenquelle ist: **Ex miraculis St. Verenae**, geschrieben in den Jahren 1005—1023, Pertz Monum. 6, 457. Diesem Manuscripte folgen **Murer**, **Helvetia Sacra**. Richter, Siegprangender Triumphwagen der glorreichen Thebäischen Amazonin Verena. Augsburg 1736. Landsee, **Enchiridion helvet.** Constanz 1778. — Ursprünglich trägt Verena die Züge des Riesenhaften an sich. Sie bohrt an dreierlei Orten Heilquellen aus dem Boden, wohnt in den Jurawäldern (**ad solitos veniunt silvestria numina fontes. Ovid. Fast. 3, 303**); durchschwimmt mehrmals den Rhein; rettet das Land vom Untergang aus Wasserfluthen; leitet Waldwasser ab; entreißt den diebischen Müllern die ihr geweihten Bäche wieder; läßt im Rheinbette einen Steinkrug „**vas lapideum**" zur Heilung Kranker auffinden, und schwimmt, wie der Wüstenheilige Antonius auf der Wolga mit einem Mühlsteine nach Nowgorod, gleichfalls auf einem solchen von der Aare in den Rhein, nachdem der Teufel sie mit solcherlei geschleuderten Felsstücken verjagt hat, so daß in ihnen seine Klauengriffe sichtbar stecken. Wie man, wenn sie als Beförderin ehelicher Fruchtbarkeit angerufen werden soll, dabei den badenden Fuß in das „Verenaloch" stellen muß, eben so ist bei der Quelle Groosbeck zu Spaa ein Fußtritt ausgehauen, in den sich unfruchtbare Frauen stellen und den heil. Remaclus

Digitized by Google

anrufen. Wolf, ndl. Sag. S. 227. Nicht zufällig, vielmehr höchst wichtig ist es, daß in dem Liede vom Tannhäuser, das Mone, Anz. 1, 240 giebt, statt der Frau Venus die Frau Frene auftritt, die dem Ritter ihre jüngste Tochter zur Ehe verspricht. Im hessischen Venusberge regiert Frau Holt. Wolf, Ztschr. 1, 273. Eine der Verena ähnliche, jedoch schon verschollene Heilige von nur landschaftlicher Geltung, war die heil. Wiborade gewesen, eine Aargauerin aus Klingnau. Dieselbe hat ebenfalls einen Kamm hinterlassen, welcher silbergefaßt in der St. Galler Stiftskirche verwahrt wird und gegen Kopfweh gebraucht worden ist; auch eine „Badstande Wiborade's" gab es, worin die Kranken genasen, und welche niemals frisch gebunden zu werden brauchte. Murer, Helvet. Sacra. Diese Heilige ist bei der Bevölkerung längst vergessen, Verena aber hat sich dadurch behauptet, daß man sie künstlich in die Reihen der Thebaischen Legion hinüberstellte und sie durch den größern Glanz fristete, der dieser Ritterlegende später in der Schweiz zu Theil geworden ist; dafür hatte schon Notker mit seinem Martyrologium gewirkt (bei Canisius lect. antiq. II, 3. 170. Verena war nur eine Gaubeilige im Aargau gewesen, wie Regula eine solche war im Glarner- und Zürichgau. Beide heilige Frauen besitzen daher gleiche Symbole, den Heiligenbrunnen und den Mühlstein. Der Brunnen Regula's ist der sog. Heilige, über welchem die neue Wasserkirche der Stadt Zürich gebaut worden ist. Der Mühlstein Regula's liegt im Zürchersee versenkt, am Herrliberger Rain, wo es „Im Steinin Rad" heißt. Auf dem Kirchenhügel in Glarus zeigt man den Fels, in welchen Regula, als sie daselbst wohnte, gegriffen hat; in der Solothurner Verenen-Einsiedelei liegt der vorerwähnte Felsstein mit des Teufels Krallenspuren daran. Vreneli's Gärtli soll ein glänzendes Eisfeld heißen auf dem Rücken des Glärnisch, das sich wegen der Unthat des Sennen aus blühenden Matten in ewige Gletscher verwandelte. Helvet. Calend. 1783, 138. Also hat die heil. Verena ihre Besitzthümer, ebenso wie die heil. Regula, in den Glarner Gebirgen. Von diesen beiden Frauen ist das Gehen durch Seen und Flüsse wohl erst auf die Thebäer Legionäre übertragen worden, die ihre abgeschlagenen Häupter durch Rhone, Aare und Rhein getragen haben. „Man kann in diesen Frauen nur Lokalheilige erblicken, die erst später mit dem Ruhme der Thebäer in Verbindung gebracht wurden." Rettberg, Kirchengeschichte 1, 111. — Wo ein absichtlich ins Wasser geworfener Ring wieder gefunden wird im Bauche des gefangenen Fisches, da erinnert dies freilich zunächst an die Polykratessage, aber es stammt nicht aus dieser, sondern aus der deutschen. Der Zwerg Andvari hält sich in Fisch- und Fischottergestalt an Wasserfällen auf, um da jenen Hortring zu hüten, dessen Besitz nachher zum Untergange der Nibelungen ausschlägt. Dieser ächtdeutsche Sagenzug verbreitet sich daher frühzeitig in der deutschen Legende. Arnulf, im 7. Jahrh. Bischof zu Metz, wirft, wie Paul Diaconus erzählt, seinen Fingerring in die Mosel, um das Wiederfinden desselben als Zeichen erlangter Sündenvergebung zu betrachten; aus dem Bauche eines Fisches wird ihm derselbe wieder gebracht und seitdem in seiner Familie verwahrt. Rettberg, Kirchengesch. 1, 490. Sagen von dem ins Wasser geschleuderten und im Bauche eines Fisches wieder aufgefundenen Ringes verzeichnet Müllenhoff, Schlesw. Holst. Sag. pag. 596, Anmerk. No. 178. Verena's Standbild im Bassin zu Baden ist nach der ehemals verbreitet gewesenen Meinung Stellvertreter eines frü-

Digitized by Google

bern heidnischen. „Das St. Verenabad zu Baden im Ergäu ist von den Heiden erfunden worden, die da bei der Hauptquelle Heidnische Wassergötzli dahingesetzet, welche im Christenthum hinweggethan worden." So schreibt der Berner H. R. Grimm von Burgdorf, Schweizer Chronica, Neue Ausgabe 1786, pag. 249.

Der Aarauer Stadtbach, der Brunnen in Olsberg, Tribächli am Lindenberg, sind Erzählungen dieser Abthl. I, in denen von Kinderbrunnen und Göttinnen die Rede ist, welche die Kinder aus dem Brunnen geboren werden lassen, gleichwie das sog. Verenaloch die Fruchtbarkeit der Frauen bedingt. Dies sind also Sagen von unserer Frau Holle und Berchta. Von ihr ist Abtbl. IV, No. 167, Schlüsseljungfrau von Tegerfelden, besonders gehandelt; doch mögen hier etliche verwandte Brunnen aus Norddeutschland aufgezählt werden. In Köln werden die Kinder aus dem Brunnen der St. Kunibertkirche geholt und sitzen da bei der Jungfrau Maria, die ihnen Brei giebt. Die in Halle Gebornen stammen vom Gütchenteich und von der Gütchengrube, in Braunschweig aus den zwei Gödebrunnen, im Hannoverschen aus dem Paulssumpf und der Kuhle, in Oldenburg und Friesland aus dem Moor und Meer, in Flensburg aus dem steinernen Brunnen, gleichwie in Nürnberg und Zürich. Colshorn, Myth. fürs Volk, 282.

---

## 11. Entdeckung der Heilquellen von Baden.

Freilich, wenn man euch Kalendermachern und Zeitungsschreibern glauben müßte — so ließ sich ein gesprächiger Mann an der Limmat eine Wegstrecke weit vernehmen — da wäre mein Land hier freilich alles römisch. Brugg, Windisch und Königsfelden wären mit allen Besetzsteinen über die Alpen herüber transportirt und das Städtchen Baden ohnedies bis zum letzten Dachziegel. Aber wer hat denn unsere Badquellen entdeckt und ihre Heilkraft zuerst gewußt? Die Römer einmal gewiß nicht, sondern unser Schweinhirte.

Da wo jetzt in Baden Gasthöfe, Wirthshäuser und Kaufbuden der Reihe nach die Limmat hinunter stehen, daß sie nächstens eine Neustadt für sich ausmachen, da war ehemals zur Römerzeit nichts als alter Tannenwald. Stille grasige Weideplätze begannen gleich vor dem Stadtthore, die noch kein einzelner Besitzer für sich genommen hatte. Hieher hatte ein Bube des Ortes seine Schweine getrieben. In der Müssigkeit eines langen Sommertages schälte er sich Ruthen und flocht Körbchen daraus; darüber bemerkte er zu spät, daß sich sein Eber von der Heerde weggeschlichen hatte. Er machte sich gleich auf, ihn im Walde zu suchen. Schon überlegte er alles Kreuz und Elend, das daheim über seine Achtlosigkeit herein brechen werde, da war sein Thier schon wieder aus dem Dickicht, sprang mit ganz vergnüglichen Sätzen unter die Heerde hinein und ließ sich mit ihr heimtreiben. Aber des



Digitized by Google

andern Tages gab unser Bube besser acht und that daher gar nicht dergleichen, als ob er merke, wie der Eber auch jetzt sich wegstahl, dem Waldsaume zu weidete und dann rasch darin wie verschwunden war. Augenblicklich war der Hirte hinter ihm her. Er hatte keine hundert Schritte gebraucht, da sieht er, wie sich sein Thier in eine Vertiefung des Waldbodens hinabläßt, drunten sich wälzt und sület und dann wunderbarlicher Weise zu rauchen und zu dampfen anfängt, daß man den Dunst bis in die heiße Mittagssonne herein aufzittern sah. Der Hirte tritt hinzu und der Eber macht sich nun heraus. Ungeduldig schleudert ihm der Junge den Stachelstock entgegen; statt das Thier zu treffen, fährt die Spitze tief in den zähen Waldboden, und es kostet einige Mühe, den Stock herauszuziehen. Aber alsobald springt eine Quelle drunter auf und des Hirten Hand ist wie mit kochendem Wasser übergossen. Auch ein so herbe branstender Schwefelgeruch verbreitet sich, daß unser Bube gewiß bald an den Teufel gedacht hätte. So erzählte er seinen Fund eilig daheim, die Nachbarn erkannten bald des Wassers Heilkraft und richteten sich da ein Bad ein. Und so bleibt es schon wegen unsers Schweinhirten ausgemacht, daß die Badener kalt und warm auch ohne die Römer von einander unterscheiden haben können.

Wollt Ihr aber noch wissen, woher ich meinen Glauben habe, ei, so lasset Euch nur einmal die Handschriften und Chroniken aufschlagen, die der alte Stamm, ein Zürcher-Dekan zu Birmenstorf hinterlassen hat; da drinnen steht's. Und somit Gott befohlen!

Valerius Probus erzählt vom Aetolischen Hirten Staphylus und des König Oeneus Ziegen eben dasselbe, allein um die Namen Wein und Weintraube griechisch auszudeuten.

Ueber die Heiligkeit der Gewässer und über ihr Auffinden durch Thiere: Stöber, Elsäß. Sag. No. 72. Quellenentdeckende Eber kennt die Sage oft. Sommer, Thüring. Sagen No. 61: die Auffindung der Salzquellen von Halle. Meier, Schwäb. Sag. No. 386: das Wildbad im Schwarzwalde. Des Thieres mythologische Wichtigkeit erhellt in Anmerk. No. 81. Abthl. III: Ferkel der W. Jagd.

---

## 12. Die genesene Helvetierin.

Während Cäcina römischer Oberbefehlshaber in der Schweiz war, empörten sich die helvetischen Soldaten der Stadt Baden gegen ihn. Als er zu ihrer Züchtigung gegen den Ort anrückte, entflohen sie auf den Bötzberg des Jura. Viele Einwohner, denen das römische Joch verhaßt war, schlossen sich ihnen an; darunter war ein Jüngling, der seine Braut krank und bettlägerig hier zurücklassen mußte. Zum Ab-

Digitized by Google

schiede wollte er ihr die ersten Blumen des vaterländischen Frühlings pflücken. Doch weil die Primeln rasch welkten, schöpfte er Wasser an einem unbeachteten Sprudel und stellte sie darein; zu seiner Verwunderung wurden sie plötzlich wieder frisch und duftig. In dankbarer Ehrfurcht warf er sie nun zum Opfer in die Quelle voll Lebenskräftigung und gab seiner Braut den Rath, sich in demselben Sprudel zu baden. Sie that's und war bald genesen. Man sagt, daß seitdem die Heilquellen des Ortes berühmt worden seien.

Noch heute wiederholen sich die Gäste zu Baden die Wahrheit vorstehender Tradition. Ein halb verwelkter Blumenstrauß, den man dort in das warme Mineralwasser stellt, erholt sich in kurzer Zeit; die geschlossenen Blüthenkelche entfalten sich allmählich und ihre Farbe wird, wie durch Zauber, in ursprünglicher Frische wieder hergestellt. (Heß, Badenfahrt, Zürich 1818, S. 88.) Dies ist eine Eigenschaft aller heißen Sprudel. In den Bädern zu Leuk im Wallis, wo alle Gäste in einem gemeinsamen Baderaum zusammen sitzen müssen, ist es eine eigene Spekulation des Badewärters, den Patienten auf die schwimmenden Tischchen, die er vermiethet, Alpenrosen hinzulegen; sie bekommen, wenn auch schon halb verwelkt, im Badewasser wieder neues Leben. Zürch. Neujahrsbl. Zum schwarzen Garten, 1816, 8.

---

## 13. Der Aarauer Stadtbach.

Die Stadt Aarau liegt hart am Ufer der Aare, von welcher es seinen Namen führt, und hat also so oft dieser Gebirgsstrom höher steigt, mehr Wasser in Gärten und Wiesen, als den Besitzern lieb ist; zum Ueberflusse aber wird es der Länge nach auch noch von einem eigenen Stadtbach durchzogen und gerade dessen Unentbehrlichkeit wird sich trotz des vorhandenen Uebermaßes an Wasserkraft ein guter Ortsbürger niemals bestreiten lassen. Nachdrucksam hat sich früherhin die Stadt nach diesem geringen Bache zubenannt als „Aarau am Susbache gelegen". Ob man ihn Susbach hieß nach dem städtischen Kaufhaus, an welchem er vorbeigeht, und das schon eine Freiheitsurkunde Herzog Leopolds III. von Oesterreich i. J. 1381 Sustenhaus (Lagerhaus) benennt; oder ob die freigebige Susanna Schännis ihren Taufnamen dazu geliehen hat, als sie diesen Stadtbach dem Orte zum Geschenke machte, dies kommt hier nicht in Frage. Die besondere Werthhaltung des Bächleins ist eine ausgemachte Sache und dauert jetzt noch fort. Man hat darüber folgende Tradition.

Im Jahre 1270 nahm Schultheiß und Rath von Aarau die Versammlung der geweihten und gottverlobten Schwestern Christi, genannt von Schännis, in Bürgerrecht zu Schutz und Schirm auf und schenkte ihnen eine zwischen den Mauern und dem Aarflusse gelegene Hofstatt

Digitized by Google

(Aargau. Beiträge v. Kurz u. Weißenbach, 1847, S. 547). Sie waren durch eine Feuersbrunst um ihr Frauenstift Schännis im Gasterlande gekommen (heute ein St. Galler-Pfarrdorf) und obdachlos geworden. Da man sie zugleich auch aller städtischen Umlagen und Tellen enthob, so war ihr Dank ein doppelter. Ein Stiftsfräulein von Schännis erbot sich daher der Stadt zum Gegendienste; sie ließ den Bürgern die Wahl frei, ihnen entweder eine goldene Kette machen lassen zu wollen, die rings um ihre Mauern gienge, oder ihnen eine Quelle von der Mächtigkeit eines Baches auffinden und durch den ganzen Ort leiten zu lassen. Der Bürger Sorgfalt für den allgemeinen Nutzen und das Wohl der Nachkommen entschied sich zum Letztern und schlug den gleißenden Goldreichthum dagegen aus.

So müssen sich denn jetzt in einer viertelstündigen Entfernung von der Stadt reichliche Bergquellen beim Dorfe Sur sammeln und nach wenigen Minuten schon als ein ruhiger und bis zum Rande gefüllter Bach der Stadt zugehen. Zwar bezweifelt man die geschichtliche Giltigkeit jener Erzählung und behauptet, derselbe Bach, dessen eine Urkunde vom J. 1292 gedenkt (Aargau. Beiträge, 553) müsse schon in den frühesten Zeiten durch den Ort geflossen sein, da er die Burggräben des uralten Thurmes Rohre mit Wasser versah, der nachweislich lange vor dem Schännisklοster als Freiung hier gestanden hatte. Gleichwohl hat dieses Bächlein nach und nach neue Nahrungsquellen für die Bürger eröffnet, die zahlreichen Fabriken der Stadt hervorgerufen und sich dadurch in jene Goldkette verwandelt, welche von der Klosterfrau anerboten war und von der Genügsamkeit früherer Zeiten noch ausgeschlagen werden durfte. Auch eine eigene Verehrung widmet man ihm noch, und dieselbe ist schon alt. In der handschriftlichen Stadtchronik von U. Fisch heißt es unter dem Jahre 1688: den 4. Herbstmonat sind die Burger von Aarau nach altem Brauch und Freiheit mit Trommen und Pfeiffen ausgezogen, den Bach zu fischen. — Diese Verehrung mag auf eine altreligiöse Beziehung der Einwohner zu einem Gewässer hindeuten, das zahm und wohlthätig ist und nicht, wie der wilde Aarfluß ein Menschenleben zum Opfer nimmt. Wenn alljährlich im Hochsommer der Bach zur Reinigung abgestellt worden und dann wieder losgelassen ist, so beginnt ein allgemeiner Feiertag. Die Schulen sind geschlossen, Fabriken und Werkstätten ruhen. Jung und Alt zieht sonntäglich geputzt, mit Maien und Ruthen geschmückt, unter Trommelschlag dem Bach bis zu seinem Ursprunge entgegen und marschiert Abends dann mit den wiederkehrenden Wellen in militärischer Ordnung zum Thore herein. Nach dem Trommeltakte rufen sich dann die Abtheilungen des Zuges folgenden Reim wechselweise zu:

Der Bach chunnt, der Bach chunnt!
Sin mine Buebe-n-alli g'sund?
Jo — jo — jo!
Der Bach isch cho, der Bach isch cho,
Sin mîne Buebe-n-alli do?
Jo — jo — jo!

Die Knaben, vor denen ein halbes Duzend ihrer eigenen Schultamboure hertrommelt, tragen lange grüne Zweige, auf welche ausgehöhlte beleuchtete Kürbiſſe geſteckt ſind, auch brennende Wergbüſchel ließ man mit dem Waſſer herabſchwimmen; und eine Anſpielung auf dieſe außergewöhnliche Beleuchtung ſowie zugleich ein Spott auf die zwei nächſtgelegenen Dörfer ſoll es ſein, wenn man dazu ſingt:

Füerjo, der Bach brünnt,
D'Surer händ-e-n âzündt,
D'Aarauer händ-ne g'lösche,
D'Chüttiger rîte-n-ûf de Frösche.

Eggen, in ſeiner hdſ. Sammlung zu Ulr. Fiſch, hdſ. Stadtchronik von Aarau, meldet, daß im J. 1831 dieſer Ruf auf polizeilichen Befehl unterſagt worden iſt. Ohne Folge.

Die gefürſtete Frauenabtei Schännis im Gaſterlande, heute ein anſehnlicher St. Galliſcher Flecken, giebt Graf Ulrich v. Lenzburg 1045 an König Heinrich III. in Schirm. Tſchudi, 1, 17. Gallia comata, 307. Das gleichnamige Filialkloſter an der Aare erſcheint urk. 1270: Schultheiß und Rath von Aarau ſchenkt „den Schweſtern" eine Hofſtatt zwiſchen den Mauern und dem Aarfluſſe. Aargau. Beitr. 547. Die Sage von dem durch dieſe Schweſtern in die Stadt geleiteten und dieſer zum Geſchenke gegebenen Susbache iſt geſchichtlich unſtichhaltig. Der Bach iſt im J. 1398 noch kein Stadteigenthum, ſondern Mannslehen (Eggen, hiſtor. Sammlung zu Fiſch's Stadtchronik, pag. 34) der Edeln von Hertenſtein, und noch 1401 ſchreibt die Stadt eine Steuer aus, durch welche der Ankauf deſſelben beſtritten werden ſoll. Der Bürger Trüllerei weigert ſich dieſer Umlage und appelliert darüber an Herzog Leopold von Oeſterreich; ein Schiedsgericht entſcheidet dann für die Stadt. Somit liegt der Inhalt dieſer Erzählung nicht in der Geſchichte, ſondern in einem mythiſchen Verhältniß; der Bach muß ein urſprünglich religiös verehrter geweſen ſein, und wie er ſonſt gegen keine Goldkette ausgetauſcht worden iſt, ſo hat er jetzt noch ſeinen alljährlichen Feſttag. Sagengleichniße hiefür ſind bei Bechſtein, D. Sagb. No. 445 aufgezählt: Brunnen, durch Klöſterlinge um oder durch Städte hindurch geleitet; das jährliche Feſt zu Gotha zu Ehren des Gewäſſers der Leine. Die mit dem Susbache zugleich anerboten geweſene Goldkette erklärt ſich aus dem Rechtsbrauche, Laiengüter mittelſt des Looſsſtrickes (funiculus hereditatis), Kirchengüter mit dem Glockenſeil zu übergeben. Beweisſtellen finden ſich Diut. 2, 279. Haupt, Ztſchr. 2, 545. Dasjenige Grüne Seil, mit welchem Hildegarde, Ludwig des Deutſchen Tochter, Grund und Boden zum Bau des Frauenmünſters in Zürich übergab, ward daſelbſt während der Reformation als Glockenzug an des Bürgermeiſters Diethelm Roüſt Haus

Digitized by Google

gethan. Bullinger, Chron. lib. 4, c. 13: „welches seil ich, der das schreib, in Händen gehept."

## 14. Entstehung des Schongauerbades am Lindenberge.

Das Bad, welches auf der Höhe des Lindenberges im Schlattholze liegt, führt eine ganze Reihe von Namen auf einmal. Bettwiler- und Schongauerbad nennt man es von der nahen Ortschaft und weil seine Stifter von Schongau gewesen sein sollen; Weißenbacherbad, nach dem Wohnort des Bösewichts, von dem hier erzählt wird; Guggibad, entweder wegen der Weite der Aussicht, die man hier auf einer Seite durch die Lücken des Tannenwaldes hat, oder nach dem Gugger, dem Satan, oder weil der Blaubart hier hauste, der ein von Zorn und Aussatz brandrothes Gesicht hatte, und welcher deshalb auch Rüefengügges genannt wird. Heidenbad und der Elftausend-Mägdebrunnen war sein Name vor Alters, so nennen es auch die ersten gedruckten Berichte, die seine Heilkraft anempfehlen.

Hier zu Weißenbach wohnte, in geringer Entfernung vom jetzigen Bade Schongau, ein reicher Mann, der in Folge seiner Ausschweifungen aussätzig geworden war. Er hatte alle Aerzte und ihre Mittel vergeblich versucht. Nun schlich er menschenfeindlich und selber gemieden hier in dem großen Walde umher, der einst diese ganze Umgegend bedeckt hielt, während jetzt nur noch wenige gewaltige Eichen davon übrig sind. Da gab ihm der böse Geist ein, er könne sich reinigen und von dem Uebel befreien, wenn er sich im Blute von sieben oder zwölf tugendhaften Jungfrauen bade, und all sein Trachten gieng jetzt nach solchem Blute. Am obersten Bergrücken, wo ein hoher Eichbaum weit über den Wald emporragte, gelang es ihm, eine Schaar von elf Mädchen zu überfallen, die auf ihrem Kirchgange von Boswil nach Hitzkirch hier den Schattenweg eingeschlagen hatten. Er fieng sie und hieng sie allzusammen an die tief herabgehenden Zweige der Eiche auf. Was half es ihm; noch fehlte die Zwölfte und er war noch immer nicht rein. Da ritt er gleich am Montag hinunter nach der Mühle und sang so süße und schmeichelnde Lieder zum Fenster der Müllerstochter hinauf, daß sich das unerfahrne Kind verlocken ließ, sich zu ihm aufs Roß zu setzen. Augenblicklich sprengte er mit seinem Raube der fürchterlichen Stelle im Walde zu. Als das Mädchen ihr Loos erkannte, flehte sie: nur noch drei Rufe laß mich thun, eh' ich sterben muß. Er gewährte es ihr und sagte:

Wir sind hier zwischen Wald und Feld,
Es g'hört dich weder Gott noch Welt,
Schrei, was du schreien kannst.

Digitized by Google

Nun rief sie des Vaters, der Mutter und ihres Bruders Namen. Der Mörder lachte schadenfroh, denn er wußte wohl, daß der Vater im Wirthshaus zum Sternen bei einem Hochzeitschmauß saß und daß der Bruder weit entfernt auf der Jagd war; die alte Mutter aber hatte er nicht zu fürchten. Jedoch als diese der Tochter Ruf vernahm und sich zu schwach fühlte, ließ sie die Stimme in die Boswiler-Wälder hinüber wehen, und da sprach der dorten jagende Bruder und horchte auf:

Still! G'höre-n-ich mini Jagdhündeli,
Oder d'Stimm' vo-n-euserem Chindeli?

Sogleich ritt er der Stimme nach, brach auf dem Platze hervor, wo der Böse eben im Begriffe war, die Schwester mit einem Weidenband an die Eiche zu hängen, befreite das Mädchen, band den Mörder mit derselben Fessel seinem Rappen an den Schwanz und schleifte ihn durch den Tannenwald zu todt. So war der Blutmensch hingerichtet. An dem Mordbaume entsprang damals die Heilquelle; auch sagt man, die beiden Geretteten hätten hier ein Bad zu errichten gelobt, das Wasser dazu aber erst graben und dann wärmen lassen. Der Schatten des hingerichteten Blaubart wandelt noch auf der Höhe, so oft die Witterung wechseln will; hätte er auch noch sein zwölftes Opfer geschlachtet, so hätte er „dur alle Wänd und Mûslöchere dure schlüse chönne."

Da dem Alterthum Krankheiten für eine Strafe Gottes gelten, so ist Blut ein Entsühnungs- und zugleich ein Heilmittel. Am meisten wird es gegen den Aussatz angewendet. Das Morgenland hat Sagen von Königen, die jeden Tag einen aus ihrem Volke zur Fristung ihres Lebens brauchen. Grimm, Arm. Heinrich, S. 219. Conrad v. Würzburg im hl. Sylvester, Diut. 2, 12, läßt den miselsüchtigen Kaiser Constantin 3000 Kinder zusammen bringen, um in ihrem Blute zu baden. „Küng Ludwig von Frankrych XI, als er nun fast krank war, ersucht und versucht er alles, insunders von wegen der Malacy vil Kinderblut." Val. Anshelm, Bern. Chron. 1, 320. Die mittelalterlichen Judenverfolgungen entstanden zum Theil, wie die vor wenigen Jahren zu Damascus, aus dem Glauben, daß die Juden zur Reinigung (vom Aussatze) Christenblut brauchten, oder solches in die Osterkuchen zu backen hätten, die beim Reinigungsfeste verzehrt werden. In der Schweiz hat der Aussatz weit über die Reformation hinaus geherrscht. Unter den fünf Ehescheidungsgründen nennt die Rechtssatzung des Graubündner-Münsterthales noch heute den Aussatz. Leonhardi, Rhätische Sitten (1844) S. 48. Noch jeden Sonntag lassen die Almosensammler in Schaffhausen ihre Siechenklappern auf den Gassen ertönen; ihre Mäntel sind falb und braun gestreift, ihr Jahrhunderte alter Dankspruch heißt: Gott geb üch Gsundheit trülich! Das sind der Tracht und dem Thun nach die letzten Aussätzigen. Aus ihren Klefflen (Handklappern), mit denen sie jeden Begegnenden vor Ansteckung zu warnen hatten (Kas. Pfyffer, Gesch. Luzerns, S. 237) ist die Kinderklapper geworden, welche die Schweiz noch Kläfflen nennt. So heißen auch in Basel die Almosensammler noch Kleffler, und die Gasse für die an der Malacie Leidenden war die dortige Malzengasse.

Digitized by Google

Noch der Zürcher Professor und Stadtarzt Joh. v. Muralt verordnet in Hippocrates helvet., Basel 1692, S. 645, gegen Erbgrind Menschenblut. Ein Epileptischer hat bei einer in den dreißiger Jahren zu Baden im Aargau vollzogenen Exekution des Enthaupteten Blut auf dem Schaffote aufgefangen und zur Heilung warm hinabgetrunken. Der Räuber Danneil und Lippold, vgl. Kuhn, nordd. Sag. No. 186, 279, und Harry, ndrsächs. Sag. 1, No. 53 — hat ebenfalls den Erbgrind; beide lassen sich von dem gefangenen Mädchen lausen (wie in unserm Guggibaderliede), um dann sie oder ihre Kinder an die Bluttanne zu hängen; beide bezwingt man durch heißes Wasser, das man in ihre Höhle hinabgießt. Also liegt auch da eine Beziehung vor auf ein Abbaden des Aussatzes. Ein Jungfernbrunnen im Langenholz bei Langreuti, Kant. Zug, soll entsprungen sein, nachdem an dieser Stelle Zuger-Jungfrauen einen Zwingherrn erwürgt hatten. Meyer-Knonau, Erdkunde 1, 411. Vgl. dazu Müllenhoff, Schlesw. Holstein. Sag. No. 35. Kuhn, Märkisch. Sag. No. 211, und Grimm, K. M. 3, 76 und 77. Sämmtliches geht auf den mit dem Aussatz geschlagenen Blaubart zurück, der seine Weiber ebenfalls der Reihe nach des Blutes wegen tödtet. Darum heißt der Rüesengügges unserer Sage im Volksausdrucke auch Rüesenbart. Die Quelle, welche an der Stelle eines solchen Mordes entspringt, berührt auch Hermann von Fritzlar, Leben der Heiligen, geschrieben 1349: Do yme (St. Paulus) daz houbit wart abe geslagen vnd do iz rurete die erden, do vluzzen drie schone burnen (Borne) hervz, die noch stên vnd ir wazzer tribit ein mulerat wol. W. Wackernagel, Leseb. (1835) S. 857. So fließt auch (Abthl. XI. No. 474) die Quelle bei den drei enthaupteten Angelsachsen roth. In solchen Zeiten des herrschenden Aussatzes entstand das Seelbad, das Jemand zum Heil seiner eigenen Seele für Arme stiftet, und das dann am Jahrestag seines Todes bestritten wird. Es ist noch in Bayern üblich; und Münchner-Zünfte pflegen für die Seelen ihrer Abgeschiedenen solche Bäder zum Besten zu geben, die dann von der Kanzel herab ausgeboten werden. Schmeller, Wb. 3, 226.

## 15. Das Guggibader-Lied.

(Altes Volkslied aus dem Aargau.)

Es ritet e Rüter dur es Ried,
Er sung mit Freüd si's Dägelied,
Er sung's dur dreierlei Stimme,
Dass es zwüsche zwei Berglene chlinget;
Schön Anneli g'hörts im Müllerhûs
Und lueget ihm nach zum Pfeister ûs.

Das Anneli sprung dur d'Stegen ab
Und lost und rüeft dem junge Chnab,
O chönt i au ne so singe,
Wött mit ehm vo heimen entspringe;
Mine Chleideli sind au nit z'schlecht,
Sie sind au iedem Fräueli recht.

Digitized by Google

Ach Anneli, wottst cho mit mir,
Das Baderliedli, das singen ich dir,
E Liedli ûf dreierlei Stimme
Wott i dich lehre go singe,
So leg dîne schöne Chleidleni an,
So wei me rîten zu Berg und Tann.

Das Anneli springt dur d'Stegen ûf,
Es leit si Siden und Sammet ûf,
In Sammet und sîdige Schnüre
De Rüter wott 's Anni verführe.
Er nahm das Anni bîm Gürtelschloss
Und schwung's wohl hinter ûf's höchi Ross.

Es goht e chli balde, chli balde,
Er rîtet zum finstere Walde,
Sie chömet zur grüenliche Haselstûd,
Dört rugget e wîssliche Durteltûb,
Das Dübeli thät sich ruggiere:
O du Maidli, er will di verführe!

Ach Rüter, lieber Rüter mî,
Was rugget echt das Dübeli?
Es rugget wege sîm rothe Fuess,
Wo's im Winter dra früre muess,
Um sîne blutrothe Chralle,
Wo-n-im Winter der Schnee isch g'falle.

Er rîtet mit em i de finstere Wald,
Das Anneli schreit, o weh, was G'walt!
Er rîtet mit em i d'Stûde und Stöck,
Es schreit, o heie, mîne sîdige Röck!
Er rîtet mit em über Stûden und Stei,
Es schreit, o weh, mîne schneewîsse Bei!

Wo sie im grüene Wald si dûss,
Spreitet der Rüter der Mantel ûs,
Er spreitet der Mantel is grüene Gras,
Schöne Jungfrau zu n'em nieder sass:
Ach Anneli, chum mir cho lûse,
Mîs chrûselgëls Hörli verzûslä.

So mängi Locke das Anni verthat,
So mängi Thräne as ihm empfalt;
Er luegt ihr unter die Auge:
Jungfrau, was muess i g'schauge,
Jungfrau, so loht üer Trûre,
Oder was isch üch z'dûre?

Weinest du dîn junge stolze Mueth,
Weinest du um dîs väterlich Guet,
Weinest du um dîni Ehre,
Ass du meinst, du heigist sie nimmermehre,
Oder weinst du um eine Tanne,
Ass du meinst, du chönnist nümme manne?

Ich weine nit um mîs jung stolz Bluet,
Weine nit um mîs väterlich Guet
Und wein nit um mîni Ehre,
Ass ich mein, ich heig sie nit mehre,
Weder ich wein ob diesere Tanne,
G'seh eindlef Jumpfere dra hange.

Wein nit zu sehr, mîs Anneli,
'Sisch wohr, du muesst die Zwölfti sî,
Muesch oben an a d'höchsti Spitz,
Ass me g'seht, dass de Marggräfene bist,
Muesst Chaiseri sî ob alle,
Muesst aller-z'öberist hange.

Schrei du nur zu viel hundertstund,
Ich weiss ja gar wohl, ass Niemer chunt;
Du chaust jo schreien, so viel as d'witt,
Die junge Waldvögelî lose der nit,
Und die umme-n-im Obwald flüge,
Die Dübîî sind gar verschwiege.

Der erste Schrei, den 's Anneli g'than,
Es rüeft den liebere Vatter an;
Der zweite Schrei, den 's Anneli thuet,
Es rüeft dem Müetterli lieb und guet;
Und wo's zum dritten und letzten schreit,
So rüefts dem Brüeder, der isch nit dehei.

Digitized by Google

Der Brüeder, der isch bi's Sternewirths gsesse,
Hätt Hochsig-Bratis und Fischli ggesse,
Der Brüeder sitzt bim küele Wi,
Die Stimm goht ihm zum Pfeister le;
„I bitt ech um Gottes Wille,
Händ ech chlei weneli stille!“

„Es lit mir öppis in minem Sinn,
I mein, i g'höre mis Schwösterlis Stimm;
Hör, Regewind, hör stürme, Wind,
I g'hören es Stimmli, wie eusis Chind,
Es lit mir gäng im Sinne,
I g'hören mis Schwösterlis Stimme.“

„Sattelt mis best Ross im Stal,
So chan i riten über Berg und Thal,
Zäumet's mit ere isige Chett,
Ass i mim Schwösterli 's Leben rett,
Ass i chumme-n-e chli bass ûse
Zur ruggede wissliche Tûbe.“

„I han es Ross, s'isch buggeile,
Verzêret all Strick und Seile,
I cha mis Rösseli wise,
Ass es Bluet schwitzt unter den Ise,
Ass es chocht i Läber und Lunge,
Bis ich mis Schwösterli ha g'funge.“

I chomme bass ûse g'sprunge,
Do chumm i zu einerem Brunne,
Er hanget voll Löckli und Maitschihoor,
Der Brüeder denkt, der Traum isch wohr;
Er ist berunne mit Mägdlibluet,
Der Brüeder denkt, der Traum isch guet.

I chomme bass ûse, bass ûse,
Do chumm i zu einer Stûde.
„Ach Rüdeli, wehr, ach Rüdeli, speer!
Worum denn draijest selb Widel so sehr?“
Schwig, Schwösterli, schwig, dieselbige Wid,
Ihm draijen ich se, mim Anneli nit!

**Draih sie du nummen und draih se bald,**
**Du draijest sie selber an dinen Hals;**
**Du Rüter, du Schölm, du Räuber, du Dieb,**
**Lueg, wie me dir 's Lûsen und 's Chrûslen vertrîbt,**
**Du muesch ietz hange mîm Ross a Schwanz,**
**Du muesch ietz lehre den Höppelidanz!**

Ein betagter Mann aus dem Freienamte und seine Dienstmagd, die einst als Schnittermädchen aus dem Zugerlande zu ihm gekommen war, sind die ersten Quellen zur Aufzeichnung des Liedes gewesen, welches nunmehr bei der Bevölkerung schon verschollen ist. Später hat ein Wirth auf dem Bötzberge noch aus dem Gedächtnisse den mehrfachen Lücken abgeholfen, die sich in der ersten Aufzeichnung vorfanden; er behauptete, dieses Lied in seiner Jugend als fliegendes Blatt besessen zu haben. Dies diene dem fremden wie dem einheimischen Leser als Beispiel, mit wie viel Mühe und Geduld der Sammler beflissen gewesen ist, jeden im Volksmunde sich vorfindenden Gegenstand erst gänzlich abzuhören, ehe man daran gieng, nachzusehen, wie derselbe anderwärts sich behandelt zeige oder sich auffinden lassen werde. Beim Nachschlagen verwandter Sammlungen und Quellen hat sich nun über obiges Lied Folgendes herausgestellt. „Alte Ballade aus dem Entlebuch" nennt Pfarrer Stalder, der Verfasser des Schweiz. Idiotikon, eine Aufzeichnung unsers Liedtextes, der nun bei Henne, Schweizer-Bl. Jahrg. 1833 gedruckt steht. Unsere Fassung wird dagegen gehalten manchen Vorzug aufweisen. Viererlei Gestaltungen finden sich ferner bei Uhland, Volksl. 1, 74, a—d. Das zweite daselbst, nach einem Drucke von Matth. Francke, Augsb. 1566, steht unserm Text am nächsten. Aus dem Volksmunde selber sind dann darüber in der Neuzeit noch folgende Aufzeichnungen gemacht worden: Simrock, Volksl. No. 7, 8: Schondilie, Siburg. — Hoffmann, Schles. Volksl. No. 12, 13 (dabei ein Auszug aus dem in Wackernagels Leseb. 2, 224, zweit. Ausgabe, stehenden Volksl., das nach einem flieg. Blatte von Schröter, Basel 1605 gegeben ist). E. Meier, Schwäb. Kinderreime, S. 145 giebt eine einzelne Strophe; hierauf derselbe in seinen Schwäb. Volksl. 1855, No. 167, 168. In einer großen Masse von Spielarten hat es gesammelt Mittler, Deutsche Volksl. von No. 76 bis No. 90. Aehnlich und verwandt in Handlung und Behandlung ist noch folgendes holländ. Lied: van een Ruyter met een Meysje; dabei ist nicht der Reiter, sondern das Mädchen selber miselsüchtig und wird deshalb an der verhängnißvollen Waldquelle gewaschen. Grimm, Arm. Heinr. (1815) 167. Le Jeune, Nederlandsche Volkszangen, Gravenhage 1828 bringt eine Version „uit een blaauw boekje"; da schlägt der Landsknecht dem Mädchen das Haupt ab und wirft's in die Quelle, weil es nicht seine Kaiserin werden will.

Sehr alterthümliche Erinnerungen drückt der Text mehrfach aus, dies beweisen folgende Belegstellen: „hie hört uns anders nieman dan got unde diu waltvögelin". Ecke, 96. Die Wildtauben im Hochwalde, Vögel, Boten Gottes, belauschen die Heimlichkeit der Menschen. Myth. 15. Der Reiter wird als Straßenräuber mit der Wide hingerichtet; statt der hänfenen Seile galten Zweige von frischem Eichen- oder Weidenholz, daher die altnord. Formel ekevidhiu. Grimm, RA. 683. nach dem scach-

Digitized by Google

roube retaile man di wide, nach dem morte daz rat. Kaiserchron. ed. Diemer pag. 464, 4.

## 16. Der Brunnen in Olsberg.

Als vor vielen Jahren in Olsberg großer Wassermangel herrschte und Mensch und Thier an Krankheiten zu Grunde gieng, gaben die Geistlichen dem Unglauben des Volkes die Schuld und ließen täglich Bußpredigten und öffentliche Gebete abhalten. Während so einmal der Kaplan am Klosteraltar die Messe las, meinte er plötzlich ein lautes Rauschen und Sprudeln um sich zu vernehmen; die Ministranten eilten betroffen hinter den Altar, als den Ort, woher jener Lärm drang, und sahen mit allgemeiner Freude, wie ein vorher hier nie gewesenes Loch im Kirchenboden voll tiefen Wassers anquoll. Man traf sogleich Anstalten, die Quelle zu sammeln und leitete sie so gut, daß seither die Olsberger gegen ähnliche Noth geschützt blieben. Jenes Loch ist noch immer zu sehen unter dem Altar der Kirche; nicht weit davon, so erzählt Sebast. Münster in seiner Cosmographey (Basel 1567, pag. 588), ist des frommen Mannes Grab. „Es wirt noch für heilig gehalten bei den Vmbgesessnen." Er hieß Gottfried und lebte 1339 zur Zeit, da Elsbet von Eptingen Abtissin dieses Klosters war.

In der Laibacher Dreifaltigkeitskirche sieht J. G. Kohl (Allg. Augsb. Ztg. 1851, No. 254) neben dem Altar ein Wasserloch mit einer Eisenplatte bedeckt, durch die man das Wasser heraufrauschen und, wenn es ruhig ist, die Fische plätschern hört. Dieser Quelle zu Ehren, „vo der e kloaner Bua troamt hat", wurde die große Kirche erbaut. Der Münsterbrunnen in Straßburg heißt Kindelsbrunnen und lag offen; er wurde 1766 mit Platten überdeckt, als ein Soldat in ihm ertrunken war. Die Quelle, die in der Kirche zu Buchsweiler entspringt, heißt der Lure-Jerri. Als sie bei anhaltendem Wassermangel einst wieder floß, hatte derjenige, der zuerst darüber Meldung machte, eine rothe Mütze oder einen neuen Hut zu wählen. Stöber, Alsatia 1852, 201. Elsäß. Sag. No. 212. Es sind damit solcherlei Quellen bezeichnet, die schon den Heiden als geheiligt und verehrt galten und die das Christenthum dann in Taufbrunnen umwandelte. In unsern Gegenden tragen sie den Namen Heidenbrunnen, Maibrunnen, Hembrunn, Lugibach (Wyß, Reise ins Bern. Oberl. 2, 637), Schonbrünnlein bei Wollishofen, von schonen benannt, das ein Aufhören des Sturmes und der Theuerung bedeutet. (Wagner, hist. nat. helvet. 1680, pag. 135.) Hungerbach bei Wangen, Zeitbrunnen.

## 17. Burkhardsbrunnen in Beinwil, Freienamt.

Die Pfarre Beinwil mit einem gleichnamigen gebrochenen Burgstall, ehemals Eigenthum des Klosterstiftes Muri, liegt bei Meienberg

Digitized by Google

in den freien Aemtern des Aargaus. Da wohnte der Priester Burkhard. Während er seinem geistlichen Berufe nachgieng, achteten seine Hausmägde wenig auf des Herrn Nutzen, sondern zogen ihre Gespielen und Buhlschaften zu sich herein und hielten zusammen mit Essen und Trinken ein gutes Müthlein. Da zog er sich eine Dohle auf, die ihm alles wieder sagte, was die ungetreuen Dienstmägde in seiner Abwesenheit zu thun pflegten. Deshalb pflegt man ihn mit diesem Vogel abzumalen. Die Mägde warfen das geschwätzige Thier in die Abgrube, aber auch dorten noch verrieth es sie.

Hinter dem Chore der Beinwiler Kirche geht ein Loch durch den Boden hinab in die Gruft, in der St. Burkhard begraben liegt. Durch diese Oeffnung hängen die Presthaften ihre kranken Gliedmaße, um Linderung oder Heilung des Uebels zu erlangen. Unter dem Sarge in der Gruft entspringt der St. Burkhardsbrunnen und geht bei der Pfarrkirche zu Tage. Er wird gegen das Fieber getrunken. Zahlreiche Wallfahrer besuchen ihn, waschen sich damit und tragen das Wasser in Flaschen weit durchs Land, um auch dem kranken Vieh davon zu reichen. Zum Unterschiede von einem gleichnamigen Beinwil, welches am Hallwiler-See liegt, nennt man dieses Freienämterdorf, dessen Wallfahrtskirche vollhängt von geopferten wächsernen Gliedern, Stelzen und Krücken, „G'hanget-Beuel."

Murer, Helvetia Sancta. 1751. pag. 138. — Jac. Wagner, hist. natur. helvet. Tiguri 1680, 122. Vgl. No. 10, das Verenaloch. No. 58, St. Burkhard im Balken.

---

## 18. Der gestörte Ritt.

Vom Weiler Leidiken im aargauischen Sulzthale geht der Fußweg über den Berg in das Thal von Gansingen. In der Höhe der Halden oberhalb dem Dörfchen Bütz liegt unfern einem vereinzelten Bauernhofe ein wildes Brünnlein. Hier haben die Leute, die in Sommerabenden vorübergehen, ein junges Weib sitzen gesehen, die mit trauriger Miene das Haar flicht, welches ihr über Nacken und Schulter herab wallt. In den zwanziger Jahren ritt der Pfarrer von Gansingen hier herüber. Als er in die Nähe des Brünnleins kam, bat der mitgehende Sakristan, behutsam abzusteigen, weil hier das Pferd vor der Erscheinung des Weibes leicht scheuen könnte. Allein der Pfarrer meinte, er habe im Dienste der Kirche mit Geistern nichts zu schaffen und blieb im Sattel. Gleichwohl bäumte sich an der Quelle das Roß und warf den Reiter ab, ohne daß er jedoch wirklichen Schaden nahm. Von der Zeit an stieg der Pfarrer jedesmal, so oft er über den Berg

Digitized by Google

mußte, vorsichtig in der Nähe des Brunnens vom Rosse und führte es am Zaume vorbei. Der Mann jenes einzelnstehenden Hauses oberhalb Bütz erklärt, daß man seit jenem Ritte des Pfarrers die Erscheinung nicht mehr wahrnehme und daß also gerade dadurch der Geist erlöst sein werde.

---

## 19. Der Heiterech-See bei Muri.

So nennt man eine durchaus trockene Thalmulde, eine Viertelstunde von Muri an der Landstraße nach Luzern; sie liegt im Maiholze und ist theilweise selbst überwaldet. Oft füllt sie sich bei ganz heiterer Witterung plötzlich mit Wasser an, und dies soll von jeher immer zu den Zeiten geschehen sein, in denen außerordentliche Dinge zu erwarten standen; so namentlich vor der französischen Revolution, und wieder vor dem Hungerjahre 1817. Als im J. 1712 die Kriegsmacht der Berner nach Sins gegen die katholischen Kantone der Schweiz zu Felde zog, hörte einer der stolzen Berner-Dragoner von des Gewässers Gefährlichkeit reden, an dessen seichtem Saum er eben vorbei ritt. Er sprengte sein Roß mit den Worten an: „da will ich hindurch, sei's Gott lieb oder leid!" und war sogleich im Bodenlosen verschwunden.

Was aber die Umwohner noch aufmerksamer auf diese Erscheinung gemacht hat, das geht im Dorfe Muri selbst vor. Dort ist die Pfarrkirche auf einen ziemlich hohen Hügel, Kirchbühl, gebaut; und außerhalb der Kirchenmauer stehen einige andere Wohnhäuser in beinahe gleicher Höhe. In einem dieser Häuser nun soll sich der Keller gleichzeitig mit dem mehrere hundert Fuß tiefer liegenden und weit entfernten Heiterechsee mit Wasser anfüllen, und dieses verschwinde an beiden Orten zur selben Frist wieder, sobald das damit angedeutete Ereigniß seinen Anfang genommen habe. Sogar der im J. 1847 entstandene schweizerische Sonderbundskrieg soll auf solche Weise hier vorgemeldet worden sein, und durch die Wallfahrer, die aus Frankreich früherhin ziemlich häufig nach Muri kamen, ist auch die Kunde von diesem Wundersee bis ins Elsaß verbreitet worden.

Hierher versetzt der allgemeine Volksglaube ein Schloß, das wegen der Unthaten seiner Bewohner in die Erde hinabgeschlungen worden ist. Wer Nachts dort vorbeigeht, sieht des Schloßherrn schwarze Gestalt aus dem Sumpfe emporsteigen, sein Schloß suchen und wieder versinken. Dann wandelt er in der Gestalt des allbekannten Dorfhundes durch die Gassen des Dorfes Muri. Noch kennt man eine nicht geringe Zahl unterirdischer Gräben und Kanäle, die aus dem Innern der Erde die gefährlichen Wasser des Sees abführen. Das

Digitized by Google

Volk hält sie für Gänge des alten Schlosses, ein Mann soll aufrecht darin laufen können.

Die gleiche Schwurformel legt die Glarner Sage einem Geishirten in den Mund, der den Oberblegi-See überschwimmen will; in der Mitte ergreift ihn der verrufene Wasserwirbel. Als zur selben Stunde seine Mutter am Fuße des Berges Wasser schöpft, da wo der See als Leugelbach unterirdisch ausmündet, rollt ihr das abgebissene Haupt des Sohnes ins Wassergefäß. Blumer-Heer, Kant. Glarus, 315. Zwei österreichische Reiter des Heeres von Herzog Leopold retten sich aus der Niederlage bei Morgarten in den Aegerisee und erreichen mit ihren Rossen schwimmend die Landspitze bei Raf'. Als das Pferd des einen schon Grund gefaßt hatte, rief der Reiter übermüthig: Nun bin ich entronnen, sei's Gott lieb oder leid! Augenblicklich versank er. Zürch. Neujahrsbl. der Feuerwerker 1818, 6. Am Appenzeller Altmann liegt der Wilde See; ein Hirtenknabe, der dessen Tiefe erforschen wollte, wurde durch eine grauenerregende Stimme zurückgeschreckt, die herauf rief: Laß mich, oder ich friß dich! Rüsch, Kant. Appenzell, 25. Missest du mich, so fresse ich dich! ruft's aus dem Schwarzwälder Titisee. Myth. 564. Vergl. in dieser Abtheil. Egelsee, No. 8, und Hoggema No. 419. Wie hier von unterirdischen Gängen von gewaltiger Höhe und Länge die Rede ist, so kennt man solche auch in der Nachbarschaft. Am Lindenberge hat man das Innere des Heidenhügels bei Sarmenstorf (Abth. X, No. 460) beschritten und Erzschüsseln gefunden; von siebensäuligen Marmoraltären und metallenen Opferleuchtern in diesem Heidenhügel spricht man noch; ein halbträumerisches Wissen verlegt in diese Tiefe eine von jenen Städten der Helvetier, welche beim Auszuge unter Orgetorix niedergebrannt wurden. Aehnliche Sagen aus Thüringen, Mone, Heidenth. 2, 212; aus Bayern, Panzer, Sag. 1, 277. — Schon die Kaiserchronik trägt sich mit solchen geheimen Gängen zu Trier, an deren Ausschmückung auch eine Liedstelle bei Spervogel (W. Wackernagel, Leseb. 1, 216) erinnert: in himelrich ein hûs stât; ein gulden wec darin gât, die siule die sint mermelin mit edelen gesteine. Solche Traditionen können sich auf zweierlei histor. Angaben stützen. Cäsar, Bell. Gall. 6, 17, erzählt, daß die Gallier ihren Staats- und Tempelschatz in aufgethürmten Hügeln hinterlegten; und Strabo 4, 287 macht die Bemerkung, auch in Sümpfe habe man solche Staatsgüter versenkt, weshalb die erobernden Römer derlei geheimnißvolle Plätze an die Meistbietenden zu versteigern pflegten. — Ueber den „Dorfhund" von Muri vgl. 265, e.

## 20. Schwimmer Willi zu Meisterschwanden.

Am Hallwiler-See im Dorfe Meisterschwanden lebte ein reiches Bauernmädchen Lisa. Sie hatte bis jetzt alle die Bewerber, die aus ihrer Gemeinde um sie freien wollten, hartnäckig abgewiesen, und wenn nun ein Jüngling aus der Nachbarschaft als Bewerber erschien, so wußten die aufgebrachten Bursche zu Meisterschwanden genug Mittel, ihm diese Besuche zu vereiteln, ja sogar lebensgefährlich zu machen. Da kam nun aber einer aus dem jenseits des Sees gelegenen Dorfe

Digitized by Google

Beinwil, der fand sich einen neuen Weg in das bewachte Nachbardorf und kein Neider vermochte diesen zu entdecken oder ihn abzuschneiden. Willi (Wilhelm) war ringsum der geübteste Schwimmer, und wenn er Nachts über die halbstündige Breite des Sees zu Lisa hinüber schwamm, so hatte das Mädchen in ihr Fenster, welches gerade dem Ufer zugieng, das Licht gestellt, und unverwandt blickte dann Wilhelm nach jenem freundlichen lieben Zeichen. So konnte er lange und unbemerkt „zu Licht gehen" und die Eifersüchtigen verlachen. Allein es waren einst noch in später Stunde Verwandte zu Lisa gekommen, die über Vermuthen lange ihren Besuch ausdehnten und von ihr, dem einzigen Kinde des Hauses, nicht verabsäumt werden durften. Zu der Zeit hatte Willi jenseits schon die Kleider auf den Rücken gebunden und sich den wohlbekannten ruhigen Wogen wieder anvertraut. Schon war er seinem Ziele nicht mehr ferne, er hörte es am Anschlagen der Hunde, da war plötzlich das Licht erloschen, dessen Schein er über sich in der Höhe des Gestades suchte. Die Dunkelheit des Gewässers, die peinigende Ungewißheit über die Geliebte, über das Ausbleiben ihres Freundschaftszeichens führten ihn irre, er ermüdete mit einemmale und versank. Inzwischen war Lisa aus dem Gespräche ihrer Verwandten einmal losgekommen und in ihre Kammer hinaufgeeilt. Da entdeckt sie mit wahrem Schrecken, daß ein Windzug die Kammerthüre schon vor ihr geöffnet und das Licht in der Laterne gelöscht hat, das vors Fenster gesetzt war. Als es immer später wurde und der Erwartete noch nicht dem Hause sich näherte, stiegen die bangsten Ahndungen in ihr auf. Sie konnte es nicht länger ertragen; in der Finsterniß der Nacht und allein lief sie über die steilen Ufer hinab und rief so lange übers Wasser, bis ihr die Stimme versagte. Sobald man daheim die Tochter vermißte, liefen Knechte und Mägde nach allen Seiten aus, sie zu suchen. Aber es war schon hoch am Tage, da man das sterbende Kind drunten am See bei der Leiche Wilhelms fand.

Noch jetzt wird diese Begebenheit an den Ufern des Hallwiler-Sees als ein wirkliches Erlebniß erzählt.

---

## 21. Volkslied vom Anneli.

(Mundart vom obern Hallwiler-See.)

Es wend zwöi Liebi z'sämme,
Wenn's vor em Wasser g'si möcht;
Er schrau im Lieben ännet,
Ob es nit zündä well?



Digitized by Google

Wol frîli will i dir zünda,
Wenn du dä übere schwimmst;
Wo muess i das Liechtli stella,
Dass mir's nit abe wütscht?

Stell ich's i die Höchi,
So löscht mir's ab der Wind,
Und stell ich's i die Mitti,
So löschet mir's ab die Chind.*)

Und stell ich's i die Teufi,
Dört lit das alti Wîb,
Die Hex dört nebe dem Seeli
Verlöscht's mit ihrem Chib.

Denn chaust du nit übere finda,
Und blîbst verloren im See;
Ach Gott, wie will ich der zünda?
Ha scho kei's Liechtli meh!

Das Anneli sprung zue der Muetter:
Erlaubet mir's an den See,
I möcht' mîni Händeli chuela,
Sie thüent mer im Herza weh.

Ach Tochter, lieberi Tochter,
Alleinig muesst du nit goh,
Du hest ein chlînes Schwösterli,
Dasselbig muesst mit der loh.

Ach Mûetter, lieberi Muetter,
Mîs Schwösterli ist e Chind,
Es günnt die chlîne Blüemli ab,
Die no-nig zîtig sind.

Ach Tochter, lieberi Tochter,
Alleinig muesst du nit goh,
Du hest ein chlînes Brüederli,
Dasselbig muesst mit der loh.

---

*) Setzet's Liecht zu hoch, so löschet's der Wind,
Setzet's zu nieder, so löschen's die Kind.
Fischart, Aller Praktik Grossmutter.

Ach Muettér, lieberi Muetter,
Mi's Brüederli ist es Chind,
Es springt de chline Waldvöglene noh,
Die no-nig g'federet sind.

Ach Tochter, lieberi Tochter,
Alleinig muesst du nit goh,
Nimm du der alti Schiffmann,
Derselbig chaust de mit loh.

Ach Schiffmann, liebe Schiffmann,
Steck du der Angel ab,
Fahr du dem blaue Striemeli noh,
Du findst ein ertrunkne Chnab.

Er zog der Jungchnab ussä
Im Anni ûf sini Schoos:
B'hüet ihn Gott im Himmel,
Dass er ihn fahra loht!

Es g'schaut e wol ummen und umme,
Es g'schaut em wol sini Händ:
Verleih ihm Gott im Himmel
Es guet's glückseliges End!

Es g'schaut e wol ummen und umme,
Es g'schaut em wol sin Mund:
Verleih ihm Gott im Himmel
Ei gueti glückselige Stund!

Was zog's ihm ab sim Finger?
Vo Gold es Ringeli:
Ach seh, du liebe Schiffmann,
Das soll di Finderlohn si.

Und nahm der Jungchnab in Arfel,
Sprung mit em i Boddesee:
Es soll wege minetwille
Kei Jüngling sterbe d'ass de!

Das hier mitgetheilte Lied ist im Dorfe Aesch am Hallwiler-See aufgezeichnet. Dort setzt, der Sage nach, der Schwimmer vom Dorfe Beinwil nach Fahrwangen über. Vgl. der verlorne Schwimmer No. 2, Simrock

Volkslieder. Von einem Kloster Lindau am „Bodensee" giebt eine Handschrift des Klosters Einsiedeln eine ähnliche Hero- und Leander-Sage. Pertz, Archiv 8, 749. Das Hallwiler Seevolk denkt bei unserer Ballade weder an den Bodensee, noch an Schillers bekannte Ballade, geschweige daß es gar vom Lord wüßte, der durch Ueberschwimmung der Dardanellen die Wahrheit der Hero-Sage bewahrheiten zu sollen glaubte. Noch seit Menschengedenken erneuerte sich im Dorfe Immensee am Zugersee die Geschichte von Hero und Leander. Während eines ganzen Sommers besuchte ein junger Immenseer als Schwimmer seine Geliebte, welche am jenseitigen Gestade des an dieser Stelle mehr als eine halbe Stunde breiten Wassers in Walchwil wohnhaft war. So ersparte er den sehr weiten Weg über das Dorf Arth und St. Adrian, und wich zugleich den Auflaurern aus, die jeden nächtlichen Besuch aus einer andern Gemeinde nach allgemeiner Landessitte mit Gewaltthätigkeit ahnden. Freilich mußte er jedesmal erwarten, ob Wind und Woge seine Rückkehr nicht gefährden würden. Meyer v. Knonau, Kant. Schwyz, pag. 282. Diese Art der Liebessage geht durch alle Welt, sogar im indischen Pendschab zeigt man das Grab beider Ertrunkenen. Hagen, Gesammt-Abenteuer 1, CXXIX. Dante, Calderon, Shakespeare und Hans Sachs haben dieselbe gleichfalls je nach ihren verschiedenartigen Vorstellungen verherrlicht (Fr. W. Valent. Schmidt, Taschenb. der Romanzen, Berlin 27, S. 274). Panzer, Bayr. Sag. 1, pag. 364, zieht bei Betrachtung dieses Sagenstoffes das Volkslied heran aus Hoffmann, Hor. Belg. 2, 114; dessen ndd. Grundtext ist jedoch um Vieles berichtigt und neu gegeben in der Allg. Augsb. Ztg. Beilage, 4. Nov. 1850: Et wassen twe Küniges-Kinner. — Diese ganze Schwimmersage scheint sich nunmehr in eine Sage vom Lebenslichte umzustellen, über welches sich außer dem hier Nachfolgenden unsere No. 194 erklärt.

Atropos bestimmt dem Meleager so lange zu leben, als das auf dem Herde glimmende Scheit nicht verbrannt sei; in der thracischen Hero- und Leandersage ist dies Schicksalsscheit schon eine Fackel, und wenn diese der Genius senkt, vergeht der von Sestos nach Abydus Schwimmende. Brauch, Lied und Sage Deutschlands kennt dafür nur Licht, Kerze und Lampe. Das ndd. Volkslied von den zwei Königskindern läßt die drei von der Geliebten angezündeten Rettungskerzen von der Base ausblasen. In Simrocks Volksl. No. 3 bläst's eine Nonne aus, in Panzers bayr. Sag. 1, No. 31 ist die Nonne selber die Geliebte.

Einem das Licht ausblasen ist unsere Redensart für tödten; deshalb läßt die treue Schwester jahrelang ihr Licht am Fester brennen, damit der über See gegangene Bruder, wenn er heimkehrt, wisse, daß Schwester Elke noch lebe und warte. Müllenhoff, Schlesw. Holst. Sag. pag. 163. Die Gräfin Schack läßt eine Wachskerze, die ihr eigenes Lebenslicht ist, in der Kirchenmauer auf Gramm einmauern, doch diese Kirche brennt ab und die Gräfin stirbt. ibid. pag. 180. Wer ein eben erloschenes Licht wieder anblasen kann, gilt für jungfräulich. Um der Geliebten das Leben zu verlängern, schleudern die Bursche die Fasnachts-, Neujahrs- oder Pfingstscheiben, angeglühte Holzscheiben an Schwingstäben, ins Thal. Der Appenzeller nennt es „de Tüfel hale", d. h. ihn entmannen und der Kraft berauben, dem geliebten Mädchen am Leben zu schaden. Zellweger, Appenz. Gesch. 1, 63. Aehnlich thun die Römer am Carneval, wenn sie sich ihre

Digitized by Google

Moccoli auszublasen suchen und dabei rufen: Sia ammazzato! Vergl. W. Wackernagel in Haupts Zeitschr. 6, 280. — Die fünf thörichten und fünf klugen Jungfrauen kaufen Oel, um den Bräutigam zu empfangen. Die wendisch-preuß. Hochzeitsjungfern müssen brennende Lichter tragen, Kuhn, Märk. Sag. S. 357, und der Hochzeitsreiter auf dem Schimmel mit dem Breithute heißt Puut de Lamp ût, Lichtausblaser (ibid. 362); richtig sieht Müllenhoff den Gott Odhinn in ihm. Bei elsäßischen Hochzeiten dauert der Tanz so lange, als eine eigens aufgestellte Festkerze brennt. Sobald dies Licht erlischt, ruft der Ceremonienmeister „Todt!" Damit hat das Ehepaar nun zum letztenmal mit Andern getanzt. A. Weill, Sittengemälde aus dem Elsäß. Volksleben. Ueber das erscheinende Licht berichtet Panzer, bayr. Sag. 2, pag. 554: in den bayr. Dorfkirchen gilt während des Charfreitag-Gottesdienstes noch der Brauch, vierzehn Kerzen auf einem dreieckigen Eisengestelle aufzustecken und nach jedem abgesungenen Bußpsalm eine von ihnen durch den Ministranten ablöschen zu lassen. Damit stellt man Christum und seine Apostel dar. Bei einem französ. Kinderspiel wird ein brennender Wachsstock von Hand zu Hand herumgereicht: „Petit bon homme vit encore!" Das Männlein lebt noch! sagt man dazu, und der, bei dem es erlischt, muß ein Pfand geben. Ueber unser „Stirbt der Fuchs, so gilt der Balg" vgl. Göthe an Zelter, Briefwechsel 1, 258. Im Kant. Wallis herrscht noch der Glaube, vom Bette eines Todtkranken steige ein Feuerfunken auf und fahre in der Richtung durch die Luft fort, in welcher man die Leiche zur Beerdigung tragen wird. Weitere Erklärungen über die Symbolik des Lichtes: Abthl. V, Zwergensag. Anmerk. No. 13.

## 22. Die beiden Lebenslichter.

In der Stadt Laufenburg lag eine alte Frau im Sterben. Als ihr Ende kam, sah man auf ihrem Nachttischchen plötzlich zwei schöne Lichtlein leuchten, von denen das eine etwas früher erlosch als das andere, und in demselben Momente that dann auch die Frau ihre Augen auf immer zu. Als man nun ihre im Schwabenlande wohnende Schwester zur Seelenmesse abholen wollte, kam man eben zu ihrem eigenen Leichenbegängniß, und die beiderseitigen Trauerboten hatten sich unterwegs getroffen. (A. Birrcher in Laufenburg.)

## 23. Brautfahrt auf dem Hallwiler-See.

Wenn an schönen Sommertagen die Leute zwischen Beinwil und Wilhof ihre Weinreben bearbeiten oder sonst dort herum auf dem Felde sind, so vernehmen sie öfters vom rechten Ufer des Hallwiler-Sees her, da wo Meisterschwanden liegt, ein Rufen und erinnern sich dabei aus alter Zeit einer Brautfahrt, von der heute noch gesprochen wird. Vor vielen Jahren wollte ein Brautpaar von Fahrwangen über

den See nach Reinach, um in dortiger Kirche sich trauen zu lassen. Es war an einem Freitag im Herbst, als Braut und Bräutigam mit andern Hochzeitsleuten am Seeufer nach dem Fährmann fragten, um übergeschifft zu werden. Der Alte nahm die Leute ein und war bald mit ihnen mitten auf dem Wasser. Da aber zogen unter starkem Winde schwarze Wolken über den Himmel her; der Regen schlug von oben, die bewegte Welle von unten in den Kahn und die Leute gaben sich bald verloren. Lange sah man vom Ufer her den mit dem Sturme Ringenden zu, ohne daß man es wagen konnte, ihnen zu Hilfe zu eilen. Als die Finsterniß des Gewitters sich verzogen hatte, war das Schiffchen nirgends mehr auf den Wellen zu erblicken, und erst gegen Abend erzählte der triefende Schiffsmann, wie der Kahn umgeschlagen worden und er allein durch Schwimmen sich gerettet habe. Während dem hatten die Glocken in Reinach fortwährend zur Trauung geläutet, bis endlich ein Bote von Beinwil das Jammergeschick dorten meldete. Aber seit dieser Zeit und besonders wenn andere Witterung eintreten will, hört man dort das wehmüthige Rufen des untergegangenen Brautpaars, oder es durchklingeln kleine Glöckchen wie am Halse flüchtiger Hunde die Gegend. Dies Geräusch nennt man Schellenpeter. Auch ist ein alter Glaube, so oft im Hallwiler-See Jemand ertrinke, sehe man ein Haupt im Schaume der Wellen auftauchen, die der Sturm ans Ufer schlägt.

---

## 24. Wassergeist bei Seckingen.

Im Frickthalerdorf Hornußen lebte ein Bauer, der täglich in die Messe gieng, fleißig seinen Rosenkranz betete, dem Pfarrer und Kaplan in Allem folgte, der Obrigkeit aber um so weniger nachfragte. Wegen wiederholten Ungehorsams ließ ihn zuletzt das Amt auf vier Tage ins Bürgerstübchen sperren. Da man ihn wieder aus der Haft entließ, wandelte ihn eine solche Scham vor den Leuten an, daß er sogleich dem Rhein zulief und sich hinein stürzte. Ein Bekannter, der ihm auf dem Wege begegnet war, hatte aus seinem trüben Aussehen nichts Gutes geschlossen und war ihm nachgegangen; als er den Fluß erreichte, sah er eben noch, wie der Unglückliche im Wasser mit dem Tode rang; er hatte ein am Ufer stehendes Tannenbäumchen zu fassen gesucht, dieses riß aus und blieb ihm in der Hand, damit versank er.

Einige Zeit darnach fuhr ein Schiffer den Rhein herab und fühlte oberhalb Seckingen, eben an dieser Unglücksstelle, wie sein Weidling plötzlich emporgehoben werde. Zugleich sah er vorne an der Schnauze des Schiffes ein Tannenbüschlein aus dem Wasser auftauchen, ver-

Digitized by Google

sinken und dann wieder hervor kommen, von einer Menschenhand krampfhaft festgehalten. Sogleich erinnerte er sich des Unfalls, der hier seinem Bekannten das Leben gekostet hatte, und im herzlichsten Mitleiden rief er: ach Gott, was muß man denn thun? Da war's ihm, als ob Jemand entgegen gerufen hätte:

Sechs Johr am Läbe verlore,
Und sechs Johr im Wasser verfrore.

Der Schiffer rechnete nach, daß heute gerade sechs Jahre um seien, seit der Hornusser hier ertrunken war.

Vom Schwarzsee im St. Gallischen erzählt man, es sei ein Mann aus Weißtannen in ihn gestürzt und strecke nun bisweilen seinen Arm heraus, in der Hand einen mit bunten Bändern behangenen Stock haltend. Meyer-Knonau, Schweiz. Erdk. 2, 8. Tannenwipfel nennt man Grotzen, daher das Weihnachtsbäumchem am St. Nikolaustage den Klausgrotzen; vgl. den Gespenster- und Scheltnamen Grotzenwatter, Abtheil. IX, No. 409.

## 25. Nothhaus für Ertrunkene.

Nach einem im Freienamte geltenden Glauben muß ein durch eigene Schuld ums Leben Gekommener so lange ruhelos wandeln, bis die Zahl der ihm bestimmt gewesenen Lebensjahre voll ist, und man hat dafür folgende Geschichte aus dem hintern Entlebuch. Ein unbesonnener Bursche badete sich häufig in einem Gumpen (Bachloch), dessen Wasserstand durch plötzliche Gebirgszuflüsse oft sehr gefährlich wurde. Dorten fand man ihn einmal ertrunken. Da man durch geheiligte Loosbücher heraus brachte, daß er wohl siebenzig Jahre alt geworden sein würde, so erbarmte man sich seiner und ließ ihm ein Häuschen mit Tagelöchern ans Gestade hinbauen, damit er doch gegen Wind und Wetter geschützt sei. Einer aus dem Dorfe Marbach hat ihn dorten aus dem Tageloch schauen sehen und ist darüber in ein anhaltendes Weh verfallen. Der Volksglaube faßt dies in dem Satze zusammen: Ein Gespenst muß ein Dach haben, hat es keins, so sucht es eins.

## 26. Hungerbrunnen in Degermoos.

Unterhalb Degermoos, nahe beim Dörflein, liegt eine Quelle unsichtbar mitten im Ackerfelde, nur einige Leute wissen ihre Sprungstelle; gleichwohl hat sie noch immer reichliches Wasser ausgequollen, so oft Theuerungsjahre eingetreten sind, wie namentlich wieder i. J. 1847. Hier hatte ein wucherischer Bauer gewohnt; sein Hof, der zum Dörflein gehört hat, ist längst eingegangen. Es trat einst eine solche

Digitized by Google

Landdürre ein, daß dorten das Flüßchen der Surbe versiechte und endlich auch noch der Thalebach austrocknete, ein Gewässer, das in jedem Sommer mit gleicher Stärke läuft und auch in den kältesten Wintern nicht zufriert. Damals grub dieser Bauer in seinem Hause einen Brunnen, den er auf seine Saaten leitete; das Wasser davon verkaufte er noch dazu den benöthigten Nachbarn bei der Maß. So gerieth ihm sein Getreide vortrefflich, und da es bald im Preise stieg, so wucherte er nun damit ebenso wie vorher mit dem Trinkwasser. Nun hat er zur Strafe hiefür es jedesmal anzuzeigen, wenn wieder eine Theuerung droht; dann erscheint er des Nachts im Felde und zapft das Hungerbrünnlein an. Man erinnert sich noch, wie reichlich es i. J. 1817 geflossen ist.

Die Legende von der hl. Amalberge läßt den Wucherer damit prellen, daß ihm die Heilige sein theueres Wasser im Siebe davon trägt; wo sie dieses ausstürzte, entsprang ein heilkräftiger Born, der des Geizigen versiechte. Wolf, Beitr. 1, 184. Der Wendische Wassermann kauft Getreide auf; zahlt er über den Marktpreis, so folgt Theuerung, kauft er aber wohlfeiler als andere, so fallen die Preise. Myth. 460.

---

## 27. Hornußer-Hungerbrunnen und Sälibrunnen.

Auf dem Hornußerfelde (im Frickthal), genannt Hinter der Mühle, steht ein Wildbrunnen in großer Achtung. Seit Menschengedenken ist er nie gelaufen als nur in den Kriegs- und Theuerungsjahren 1787, 1815, 1830, 1845. Auch im Frühjahr 1848 wollte er wieder anfangen zu sprudeln.

Anders verhält es sich mit dem Brunnen, der auf dem Sälischlosse ist, der Nachbarruine der Wartburg bei Olten. Das zerstörte Sälischloß wurde schon zur Reformationszeit wieder hergestellt und mit einem Schloßwächter besetzt. Dieser, Felix Säli genannt, hat einen ganz übernatürlichen Hang gehabt, Wasser in ungewöhnlichem Maße zu trinken, und so hat er seinen Wasserdurst vom J. 1547, da man ihn zum Schloßwächter machte, bis zum J. 1635 fortgesetzt, wo er noch lebte und trank. So war er also 88 Jahre lang ein wassertrinkender Schloßwächter. Auch seine Nachkommen hatten sein Amt und seinen Durst, und von diesem Geschlechte hat die Ruine den Namen Sälischlößli bis heute. (Zofingerchronik 2, 18.)

Hungerbrunnen, auch Heidenbrunnen, Zeit- und Hemmbrunnen, Schonbrunnen genannt, sind Quellen, die meistens erst im Monat Mai, oft gar nicht, überhaupt nicht alljährlich zu fließen beginnen und nur bis Juni oder Juli in Fluß bleiben. Aus der Reichhaltigkeit und längern Dauer

Digitized by Google

ihrer Strömung pflegen die Landleute auf Mißwachs, Theuerung und Hungersnoth zu schließen, daher der Name. Dieser landwirthschaftliche Schluß ist nicht unberechtigt. Solcherlei Quellen sind zumeist häufig in wasserreichem Hügellande und entstehen vorzüglich dann, wenn nach einem nassen Spätsommer der Boden so sehr mit Wasser übersättigt wird, daß er das Schneewasser des Winters nicht mehr aufnehmen kann; demnach erscheint dieses beim ohnedies verspäteten Auftbauen des Bodens an der Oberfläche, und durch eine so lang aufgehaltene Verdunstung ist der erkältete Boden für das Gedeihen der Gewächse unbrauchbar. Je weiter dieselbe Bodenbeschaffenheit landschaftlich reicht, um so fühlbarer muß der Mißwachs alsdann werden und es entsteht wenigstens locale Hungersnoth. Solcher Hungerbrunnen hat die Schweiz sehr viele; im Kant. Zürich bei Wangen, Seglingen, Aspi, der Haarsee bei Hausen, der Schonbrunnen bei Wollishofen. Im Kant. Schaffhausen bei der Ruine Neuenburg am Rhein. Im Kant. Freiburg die Quelle Bramafan im Jaunthal. Im Kant. Waat der Mocausa-See. Nicht damit zu verwechseln sind die sogenannten Maibrunnen, Quellen, die ihren Ursprung dem Schmelzwasser der Gletscher verdanken, im Frühlinge also zu fließen beginnen und bei eintretendem Herbstfroste stocken. Aus diesem Grunde gilt das Wiedererscheinen des Räzlibaches bei Lenk im Berner-Simmenthal, der aus dem Räzligletscher kommt, im Thal als der sicherste Bote des nahenden Frühlings. Ein solcher ist auch der Aengstlenbrunnen auf den Melchthalgebirgen, der drei Monate lang fließt, so lang das Vieh auf den Alpweiden ist, aber oft etliche Tage ganz ausbleibt, wenn man ihn (setzt J. L. Cysat hinzu, Vierwaldstätter-See 1661, 247) muthwillig verunsäuberet. Vom Urner-Brunnen im Kaltle, zwischen Wolfenschieß und Engelberg, der des Tages dreimal ausbleiben und wiederkehren soll, erzählt Murer, Helvet. sacra, pag. 261. Zur Zeit Barbarossa's lebte Bruder Berthold im Kloster Engelberg und da er sterbend lag, begehrte er noch einen Trunk aus dem Bergquell, der des Abtes Brunn hieß. Dreimal brachten ihm die Klosterbrüder einen Becher voll Wasser herbei und dreimal fand sich's in Wein verwandelt. Ein Lied der Landsknechte (Uhland, Volksl. No. 195) verehrt die hl. Maria in solchen Quellen:

**Unser liebe Frawe vom kalten Brunnen**
**Bescheer uns Armen eine warme Sunnen.**

Solchen weinströmenden Brunnen reihen sich die kornströmenden an. Die Engelberger Mönche wollten sich einst von der Genauigkeit der Zeitfristen überzeugen, welche das Volk im Lauf und Stillstand des Kaltlebrunnens anzugeben pflegt. Zu diesem Zwecke erstieg ein Theil von ihnen die Schneewand des Gebirges, von dem die Quelle ihren verborgenen Lauf nimmt, und streuten dorten Haufen von Kornhülsen in die Eis- und Schneerunsen, während ein anderer Theil unten im Thale beobachtete, wann diese Hülsen vom Wassersprung im Thale ausgeworfen würden. Es geschah, wie das Landvolk voraus bestimmt hatte, begann am 3. Mai und hörte auf am 14. Septbr. Cappeller Hist. mont. Pilati 1767, pag. 67. Hieran hat man die naturgeschichtliche Erzählung zur Legende von der Quelle zu Lommatsch bei Meißen, die je Blut oder Weizen ausströmte, je nachdem Krieg oder Frieden bevorstand; und ebenso zur Sage von der Wunderquelle Glomuzi bei Alt-Lomnitz, nahe bei Glatz, welche voll Eicheln, Haber und Weizen schwamm, wenn ein fruchtbares Jahr eintreten sollte. „Diesen

Digitized by Google

Quell verehrt und achtet jeder Eingeborene mehr als die Kirchen." Thietmar v. Merseb. l. 1 cap. 3. Solcherlei Gewässern pflegt mit Namen gelockt und gerufen zu werden, damit sie zur Zeit wieder erscheinen. Jaik, laß den Schuß los! ruft das Volk der Berchtesgadner Quelle in die Felswand hinein, wo nebenan das Frauenloch liegt. Panzer, bayr. Sag. 1, No. 10. Der Name Jaik gleicht dem Schrei des W. Jägers in Wolfs ndl. Sag. No. 260 „Jakko!" Ein gleiches wird aus den Waldstätten gemeldet. In Mitte des Luzernersees am Bürgenstad, wo sich beide Ufer am nächsten begegnen und den See in zwei Hälften zu theilen scheinen, ist der Kreuztrichter. Dorten am linken Ufer bei der Bruderbalm soll in der Tiefe des Sees ein Brunnen quellen. Ruft man ihm mit lauter Stimme dreimal, so wallt das Gewässer von Grund auf sichtbarlich und bringt mit solcher Gewalt heran, daß man eilends zu Lande fliehen muß. Die Person aber, so gerufen, wird dasselbige Jahr nicht überleben. Joh. Leop. Cysat, Beschreib. des Waldstätt.-Sees, pag. 244. Lurrejerri heißt die Quelle, die in der Kirche zu Buchsweiler entspringt; wer ihr Wiedererscheinen zuerst anzeigte, hatte die Wahl frei zwischen einem neuen Hut oder einer rothen Mütze. Stöber, Elsaß.-Sag. No. 212. Cysats Sage vom tödtlichen Brunnen am Grunde des Waldstätter-Sees lebt heute noch in der Urnersage vom Elb fort. Dieser ist gleichfalls ein Seeungeheuer, das bei Seelisberg in Mondnächten auftaucht und als Schlange das ganze Seebecken umspannt. Dann aber ersteigt er die Alpen und schlägt dem Weidevieh seine Krallen ins Fleisch. Reithard, Sag. der Schweiz, 233. Vgl. Uristier an der Reuß, Abthl. VI, No. 246.

---

## 28. Brunnen zu Waldhäusern.

Mitten im Dorfe Waldhäusern, eine halbe Stunde vom Städtchen Bremgarten entfernt, liegt am Kreuzwege ein ziemlich regelmäßig gethürmter Steinhaufen, von Brombeerstauden überwachsen und von Rasen eingefaßt. Schon seine reinliche Art fällt gleich auf, wenn auch nicht das große steinerne Kreuz bedeutsam daneben stände. Bald sieht man aber unter der größten Platte, auf welcher ein Theil des Gewölbes liegt, ein Loch in die Tiefe gehen, und fühlt sich daraus heftig und kalt regelmäßig angeblasen, so oft eben die Witterung umschlagen will. So kommen denn alle Leute des Dorfes hieher zum ausgemachten Wetterpropheten, halten die Hand vor die Oeffnung und haben sich für Korn- und Heuernte beste Witterung stets richtig vorausgesagt, wenn es hier nicht bläst. Sie sagen, hier sei ursprünglich der Sodbrunnen des Dorfes gewesen, bis einst eine Bettelfrau zur heißen Erntezeit ins Dorf kam und die reichen Leute um ein Almosen gebeten habe. Nicht einmal einen Trunk Milch oder Most gab man ihr. Da warf sie aus Rache Quecksilber in den Brunnen, das auch jetzt noch immer tiefer und weiter hinabdringe, das Wasser wegzehre und die innere Höhle vergrößere.

Digitized by Go

Die vielerlei Windhöhlen in den Schweizergebirgen ſind naturgeſchichtlich bekannt; in ihnen herrſcht bei ſtärkſter Sommerhitze bis gegen 5 Grad Kälte, ſo daß der Aelpler ſie als Milchgadem gebrauchen kann. Im Mai fangen ſie beſonders ſtark zu wehen an, und ihr ſchwächerer oder ſtärkerer Luftzug dient alsdann als ſicherer Vorbote des ſchlechten oder guten Wetters. Phyſikaliſch beſchreibt ſie Blumer-Heer, Kant. Glarus. Die Windhöhle la Tanna a l'aura auf dem Gipfel der Naie im Waatländer-Jura bläst immerwährend wie der Zug eines großen Schmiedblaſebalges; und am Mont-Aubert am Neuenburger-Jura ſchleudert der Luftſtrom ziemlich ſchwere Gegenſtände wieder heraus, die man in die Höhle fallen läßt. Vulliemin, Kant. Waat 120. 127. — Die Angabe, daß Quellen durch hinein geſchüttetes Queckſilber verſiechen (vgl. Römerſtadt bei Reinach, Gondeliſee im Kulmerthal) ſcheint aus einem Wortmißverſtändniße entſprungen. Der Queck- und Keckbrunnen (lons vivus, ahd. queh), den unſere No. 45, Abthl. I, auch das Silberbrünnlein nennt, hat ſich ins Queckſilber argentum vivum verdreht, und zwar ſeitdem die Markſcheidekunſt ihre alchymiſtiſchen Vorſtellungen unter das Volk miſchte. Letzteres geſchah beſonders durch die ſogenannten Venediger, Aegypter, Heiden und Zigeuner, die das Land mit dem Vorgeben durchſtrichen, aller Orten Goldadern finden zu können und in überirdiſchen Verbindungen zu ſtehen.

---

## 29. Wäſſerrecht zu Urſprung.

Folgende Geſchichte gehört den letzten Jahren an. In einem Hauſe in Urſprung, eine ſtarke Viertelſtunde von Bötzberg, fällt plötzlich reichliches Waſſer von der Stubendecke, ohne daß die Hausbewohner die Urſache davon finden können.

Dieſes wiederholt ſich mehrere Wochen, ſo daß die Stube faſt unbewohnbar wird. Die Betten werden durchnäßt, die Hausfrau ſchläft mehrere Tage gar nicht mehr darin. Man muß zuletzt die Stubendecke neu machen laſſen und nun ſcheint geholfen.

Da wird ein kleines Kind in Haus und Koſt genommen, das einmal den Drang in ſich fühlt („es heig nit anders chönnä"), ein Becken voll Waſſer gegen die neue Decke zu ſpritzen, und ſeither tropft das Waſſer wieder herunter, wie zuvor. Selbſt das Mittageſſen iſt nicht ſicher davor; man ißt einmal auf der Ofenkunſt zur größern Sicherheit unter einem Regenſchirm; nichts deſto weniger fällt auch da ein Platſch (Guß) Waſſer in den Härdöpfelbräuſi (geröſtete Kartoffeln). Die Kohlenpfanne, die man in die Stube geſetzt hat, um die Betten zu trocknen, findet ſich nach einer Weile ebenfalls voll Waſſer. Während der Spuk im beſten Gange war, brach Feuer im Hauſe aus, ebenfalls auf unerklärte Weiſe. Es fieng unter dem Dache an und zog ſich allmählich tiefer. Das Haus verbrannte von Grund aus. Verdacht von Brandſtiftung liegt nicht vor. Man ſagt: „wie

Digitized by Google

das Wasser von oben herunter kommen konnte, so konnte es auch das Feuer." Man muthmaßt, der Mann der letzten Hausbesitzerin, der seit vielen Jahren todt ist, hätte einmal einen allgemein für falsch gehaltenen Eid wegen eines Wässerungsrechtes gethan, und das sei nun die Strafe.

Ziemlich Aehnliches erzählt man in Hausen, bei Brugg, von einem Bauern, der dem dortigen Wirthe gewässerten Wein i. J. 1846 verkauft haben soll. Während des darüber erhobenen Prozesses starb der Bauer, und seitdem triefte die Hausdecke so von Wasser, daß man im Freien essen mußte.

Das hier aus der Zimmerdecke losbrechende Wasser erinnert an die Melusinensage. Melusine leert bei Grenoble im Gebirge von Sassenage ihre Wasserkufen im Berge aus oder füllt sie an, je nachdem Mißwachs oder Fruchtbarkeit kommen soll, eine Kufe dem Korn, die andere dem Weine geweiht. Im badischen Stollenwalde wohnt sie als Fräulein von Staufenberg (das ältere Gedicht dieses Namens ist von Engelhardt herausgegeben) und stößt bald ihren Fuß, bald ihren Drachenschwanz durch die Zimmerdecke; jeder Wassertropfen, der dabei in den Eßteller herunter trieft, tödtet die zu Tische Sitzenden. Mone, Anzeig. 1834, 88. Die Angabe, dieses wassertriefende Haus sei zugleich von Grund aus niedergebrannt, findet ihre Erläuterung Abthl. VI, No. 303, das Ungeheuer in Uecken.

## 30. Der verschüttete Brunnen.

In einem Frickthaler-Dorfe hatte ein Bauer einen Brunnen boshaft verschüttet. Gleich nach seinem Tode ließ sich hinter dem Stubenofen in seinem Hause ein widerliches Aechzen vernehmen, und jedes Becken Wasser, das man auf den Tisch setzte, drehte sich im Kreise herum, schwankte eigenwillig über, und von Zeit zu Zeit fiel etwas von oben her aufzischend in dasselbe hinein. Die Erben vermochten dies und anderes nicht länger mehr zu ertragen, sie meldeten es bei Gericht und im Beisein der hiezu erschienenen Beamteten brannten sie das zuvor geleerte Gebäude nieder.

## 31. Der Wässermann zu Staffelbach.

Jemand war an einem Sonntagsmorgen auf dem Wege von Staffelbach her, um diesmal den Gottesdienst im Dorfe Schöftland zu besuchen. Er schlug dabei den Fußsteig an der Suhre hinab ein und erstaunte, als er hier einen ihm wohlbekannten Mann in den Matten fand, der in seinem Futterhemde dastand und gegen allen Brauch eben die Wiesgraben auszubessern beschäftigt war. Er grüßte

Digitized by Google

den Mann im Vorbeigehen, erhielt aber weder Dank noch Antwort. Sein Erstaunen wuchs aber noch mehr, sobald er gegen die Kirche von Schöftland kam und nun eben denselben Mann hier unter den Kirchgängern und im Sonntagsrocke erblickte. Wie war es möglich, daß der Arbeiter heimgehen, den Weg noch einmal zurücklegen und frischgekleidet noch vor ihm die Kirche erreichen konnte? Dem Ding war nicht zu trauen; gleich nach beendigter Predigt mußte es den Bekannten unter den Kirchgängern mitgetheilt werden. Aber auch sie versicherten einstimmig, es selbst gesehen zu haben, wie der angebliche Wässermann diesen ganzen Morgen in der Predigt geschlafen hatte. Der beargwöhnte Doppelgänger war ein reicher Staffelbacher-Bauer, der sich vor einigen Jahren noch recht wohl befunden hat.

---

## 32. Der Feuermann an der Ezger-Fähre.

Zwischen Rheinfulz und Ezgen rief dem Fährmann, der Abends sich eben heimmachen wollte, vom jenseitigen Rheinufer her noch eine Stimme, und sogleich stieß er ab, um den Fremden herüber zu holen. Drüben stand in der Dämmerung eine große, hagere Gestalt, die ohne ein Wort zu sagen, ins Schiffchen trat. Schon war man mitten auf dem Rheine, da fieng die Gestalt an plötzlich eine so große Hitze auszusprühen, daß es der Schiffer kaum zu ertragen vermochte. Eilig stieß er zu Lande; der Andere sprang mit aus dem Kahne und streckte nun im Weggehen ihm die Hand wie zum Danke dar. Mißtrauisch that der Fährmann, als wäre er, noch mit dem Schiffchen beschäftigt, nicht im Stande, ihm die Hand zu bieten, und hielt nur die Schalte hin. Sogleich drückte jener seine brennende Hand tief hinein und verschwand. Lange bewahrte der Fährmann die Schalte mit den fünf schwarzen Fingergriffen daheim auf, bis sein Sohn, der solche Märchen nicht glauben mochte, dieselbe nahm und in den Ofen warf.

Nach einer andern Erzählung wurde demselbigen Fährmann dreimal nach einander vom jenseitigen Ufer her „Fritz, Fritz!“ gerufen, und dreimal war er darauf umsonst hinüber gefahren. Als er das letzte Mal wieder Niemanden traf, nahm er einen am Flußbord liegenden Baumstamm ins Schiff, um doch wenigstens einen Nutzen für seine vergebliche Bemühung zu haben. Mit einem Male gieng der Weidling so tief, daß der Schiffer schon zu versinken meinte; ebenso schnell aber stieg dann eine Feuersäule vor seinen Augen auf und eine Stimme rief: „Du hast mich erlöst, Fritz!“ Der geladene Baumstamm war darauf im Schiffe nicht mehr zu finden. (A. Birrcher in

Digitized by Google

Laufenburg.) Gleiches erzählt man von der Fähre, welche zwischen dem badischen Grenzorte Hauenstein und dem schweizerischen Rheinufer geht.

## 33. Der brennende Räuber in der Reuß.

Am hohen Reußufer Mühlerain steht nahe bei der Linnmühle an einem verfallenen Hag eine alte Buche. Wer dort in der Nacht vorüber wandelt, wird von einem feurigen Manne verfolgt und läuft Gefahr, in die Reuß hinab gestürzt zu werden. Gleichwohl hat noch jeder, anstatt im raschen Strome zu ertrinken, immer glücklich das Gestade wieder erreicht. Hier wollte einst ein Mann ein wenig ausruhen, der von Birmenstorf nach Muntwil ein Fäßchen Branntwein auf seiner Hutte zu tragen hatte. Plötzlich lief vom Muntwiler-Felde ein Anderer gegen ihn her, roth wie eine Gluth, nahm ihm die Hutte sammt Fäßchen von der Buche weg und schleuderte zugleich den Mann weithin ins Gesträuch. Dieser verlor, sowie er sich wieder aufgerafft hatte, den Muth nicht, sondern lauschte sogleich, nach welcher Richtung der Dieb entweichen werde. Im Augenblick hörte er unter sich mitten in der Reuß einen Strudel entstehen, und sah, wie der Brennende durch den Fluß ans jenseitige Ufer watete, ohne im Wasser zu erlöschen und ohne daß zugleich das Fäßchen Schnaps auf seinem feurigen Rücken sich entzündete. Aehnliches hat sich auch schon auf dem Ackerlande begeben, das des Müllers Reben heißt und oberhalb jener Linnmühle an der Straße liegt.

## 34. Der Feuermann in der Machnau bei Klingnau.

Unterhalb Klingnau muß man gleich am Bildstöckli den Fußweg einschlagen, wenn man in die Machnau und dort über die Aare will. Jetzt freilich ist die Fähre weiter unten, in der Au. Vor hundert Jahren aber war die große Kiesbank noch nicht aufgeworfen, die den Strom nun in zwei Arme theilt, und man fuhr damals gleich von der Machnau aus über ins Kirchspieler-Feld. Deswegen hatten sich hier die zwei Fehren von Klingnau ein Häuschen hergebaut, um gegen Wetter und Nachtfrost geschützt zu sein. Und so saßen und plauderten sie einmal am Weihnachtsabend, als es zwischen sieben und acht Uhr dringlich ans Haus klopfte. Da sie öffneten, erschraken sie nicht wenig über einen ganz feurigen Mann, der augenblicklich über die Aare gesetzt zu werden verlangte. Doch sie wußten, daß man auch den bösen Geistern nichts abschlagen dürfe, weil es gerade Weihnachten sei, wo

Digitized by Google

jene dem Orte ihrer früheren Verbrechen wieder zulaufen müssen; beide traten also in den Weidling und ruderten hinüber. Es gieng auch so schnell, daß sie kaum nachdenken konnten, ob der Gast ihnen nicht Löcher ins Schiff brenne, und schon stand er jenseits draußen. Alle drei sind wir verloren, sagte er ihnen vom Ufer aus, wenn ihr nicht Schlag acht Uhr hier seid, um mich wieder hinüber zu nehmen. Dann verschwand er im Leuggener-Hardwalde. Den Fehren war's schlimm zu Muthe; doch was wollten sie machen? Punkt acht Uhr hielten sie also am jenseitigen Bord, und sogleich war er wieder in den Weidling hinein gekommen, sie wußten nicht wie. Auf der Machnauer-Seite dankte er und bot ihnen die Hand zum Abschied. Der nächststehende Fehre durfte sie ihm vor Angst nicht geben, sein Kamerad aber war gefaßter und reichte ihm statt der Hand die Schwibele (zweigriffigen Stiel) seiner Schalte hin. Der Feurige berührte sie und im Augenblicke war sie bis zuunterst glühend. Schnell steckte man sie ins Wasser und löschte; indessen war der brennende Mann ausgestiegen und flackerte schon dem öden Giriz zu.

Die beiden Fehren von Klingnau haben zum Andenken an jene Weihnachten die Schalte aufbewahrt und ihren Kindern vererbt; und die ältesten Bürger des Städtchens behaupten heute noch, daß sie dieselbe gesehen und genau die Finger des Brünnlig in der Schwibele gezählt haben.

## 35. Die überfahrenden Gerippe.

Der Schiffer von Klein-Döttingen mußte einst in später Mitternacht drei Personen über die Aare fahren, welche sich in seinem Kahne zu drei Todtengerippen umgestalteten, aus deren Augenhöhlen Feuer loderte. Da sie nun ausstiegen und ihm den Fährlohn geben wollten, streckte er ihnen nur die Schalte hin. Sie schienen ihm ein schimmerndes Goldstück darauf zu legen. Als er es wegzunehmen meinte, war ein glühendes Loch durch das Ruder gebrannt. Bis heute bewahrt es die Familie auf.

Vielleicht gehört Folgendes dazu:

Die untern Kirchspiele des Zurzacher-Bezirks waren mit Kreuz und Fahne zu einer Prozession nach Zurzach gezogen und wollten, ein ganzes Schiff voll, bei Klein-Döttingen sich über die Aare stoßen lassen. Hier schlug das Fahrzeug um und Alles ertrank. Seitdem kommen die „Chilspeler" zwar noch immer prozessionsweise zur Festzeit nach Zurzach, doch ohne Fahne, und alle Jahre am selben Tage hört man in der Aare aus dem stärkern Gange des Wassers ein Wehklagen und Jammern.

Digitized by Google

Die Ueberfahrt der Seelen über unterweltliche Ströme in das Todtenreich: Mythol. 790. 791. Ueber das den Todten mitgegebene Fährgeld: Kuhn, Märk. Sag. No. 19. 30. In St. Matthias bei Trier hat man in christlichen Gräbern aus dem 3. Jahrh. Skelette mit dem silbernen Fährgroschen gefunden, und beim Fortbau der Basilika in Trier fanden sich Steinsärge aus dem 15. Jahrh., in denen Schädel lagen, die kleine Silbermünzen in der Mundhöhle enthielten. So weit reichte also dieser heidnisch-römische Gebrauch noch in das Christenthum herein. Hocker, deutsch. Volksglaube, S. 233. Die Chemnitzer Rockenphilosophie schreibt vor (Mythol. Abergl. No. 207): Todten lege man Geld in den Mund, so kommen sie, wenn sie einen Schatz verborgen haben, nicht wieder. In neuentdeckten Gräbern zwischen Vivis und La Tour fand man ein Geldstück in einem der Schädel stecken, das gewohnte Fährgeld für den Charon; dieses aber trug die Inschrift Tributum Petri. Also eine Verschmelzung der heidnischen mit der christlichen Religion. Vulliemin, Kant. Waat 1, 53.

## 36. Der Brünnlig durch Gebet verscheucht.

Der alte Fischer, der jetzt noch um Klingnau lebt, hat erzählt, wie es ihm selber einmal mit einem Brünnlig ergangen ist. Er und sein Gefährte waren um Weihnachten draußen auf der Aare und setzten Angeln. Es war das Wetter schön und wie gemacht dazu. Während sie so am Ufer hin beschäftigt sind, kommt ein feuriger Mann auf sie zugewankt. Der Kamerad sieht's und ruft im ersten Schrecken: Jesus, Maria! Laß den Weidling oben hinaus! Der Andere wendet nun rasch die Kahnspitze, und der Strom reißt das Schiffchen zugleich weit hinunter. Aber auch der Brennende war durch jene Namen wie weggeprellt vom Ufer, und als sie ihm nachsahen, strich er schon dem wilden Girizmoose zu und reichliche Funken sprühten aus ihm.

Das Gegentheil hievon trug sich ein andermal zu, da das Fluchen es war, welches den Brünnling vertrieb. Ein Bauer im Ober-Aargau steht an einem trüben Tage mit der Stechschaufel auf dem Felde, um seine Wassergräben zu öffnen. Da erscheint zehn Schritte von ihm entfernt ein schwebendes Licht. Er weiß schon, was er davon zu denken hat, nimmt seine Schaufel wieder auf die Schulter und macht sich für heute heim. Allein das Licht wird ein Brünnigs Mannli, das ihn bald einholt und sich ihm sogleich hinten auf die Schaufel hinaufsetzt. Unter fortwährendem Beten kommt der Mann seiner Hausthüre zugelaufen. Da steht sein Weib eben in der Küche an der offenen Thüre, blickt ihm auf die Schaufel und ruft: was Tüfels hesch du dô? Kaum ist das Wort Teufel über ihre Lippen, so ist auch der Brennende verschwunden.

Digitized by Google

## 37. Laufenburger Feuermann.

Noch jetzt erzählen sich zu Laufenburg die Rheinschiffer, was ihnen schon ihre Väter und Großväter vom dortigen Feuermann erzählt haben. Er winkte eines Abends vom Anlandungsplatze, dem sogenannten Schessigen, am steilen Ufer herab und bedeutete, herübergeholt zu werden. Gerade kam auch der Schiffer Joseph Zimmermann von Seckingen her in seinem Weidling heimgefahren. Er sah ihn stehen und ohne lange wählen zu wollen, schickte er sich ins Unvermeidliche, fuhr hin, nahm den unwillkommenen Gast ein und ruderte mit ihm nach dem jenseitigen Ufer zurück. Da er die Art schon kannte, mit der solcherlei Gesellen sich zu empfehlen pflegen, bot er ihm beim Abschiede statt der Hand nur das Ruder entgegen, und augenblicklich waren alle fünf Finger dankbarlich hineingesengt. Aber in der Schnauze des Schiffes, wo er gesessen, hatte er zugleich den heißen Abdruck seines Sitzleders ebenfalls brandschwarz zurückgelassen. (Schweizerbl. 1833, 227.)

---

## 38. Das Räuberschiff am Rhein bei Rietheim im Tüfthal.

Am Rheinufer unterhalb Rietheim stehen Ruinen eines gewaltigen Rundthurmes aus der Heidenzeit. Von ihm aus gefährdete eine Räuberbande vor langen Jahren die Kaufleute, welche auf ihrem Waarenschiffe hier vorbei nach Basel fuhren. Als sie auf einem solchen einst auch einen Geistlichen fanden, der allein unter allen Reisenden ihnen kein Geld zu bieten hatte, warfen sie ihn ins Wasser. Noch im Versinken verwünschte er die Unmenschen.

Bald darnach wurde es auf dieser Rheinstrecke sicher und friedlich, und man hörte nicht mehr, daß irgend ein Reisender weiter angefallen worden sei. Aber die Stüdler von Zurzach, jene alte Schifferzunft, welche allein das Recht haben, alle Güter und Waaren durch die Rheinstrudel der Wildi und des Höllhakens zwischen Zurzach und Rheinfelden hindurch zu führen, bekamen bei ihrem nächtlichen Flößerdienste jene Bande wieder zu Gesicht. Namentlich ein Koblenzer Lachsfänger, der an jenem zerfallenen Thurme seine Geräthschaften zurecht legte, sah ihrer mehr als ein Duzend auf einmal, alle mit Schwert und Spieß bewaffnet. Ihr Hauptmann trug die gleiche Ausrüstung, körperlich aber war er ein bloßes Knochengerüste. Als sie dem Fischer aus dem Auge kamen, hörte er noch lange drüben her vom badischen Gehöft Aettikon die Ruderschläge ihres Raubschiffes.

Zwei muthwillige junge Leute aus Rietheim, denen man davon erzählte, wollten es nicht glauben und machten sich darauf eines Abends



Digitized by Google

zu jenem alten Thurme. Die haben ihren Vorwitz hart gebüßt, denn nie hat man seitdem je wieder von ihnen gesehen oder gehört.

Später meinte ein Schiffer, der Nachts rheinab fuhr, an dieser Stelle einen Ruf gehört zu haben und landete in der Voraussetzung, es werde Jemand in sein Schiff einsteigen wollen. Als er ans Ufer kommt, treten wirklich sogleich zwei sonderbar gekleidete Mannsbilder in seinen Weidling und fahren bis zum Dorfe Koblenz mit ihm hinunter. Dorten drückt ihm der Eine ein Stück Geld beim Weggehen in die Hand; während der Fehr das gewichtige Stück in der Hand wägt und betrachtet, sind die beiden Gesellen schon davon und aus seinem Gesichte. Er erzählt darauf im Wirthshause sein Abenteuer und als man ihn da auffordert, das schwere Geldstück herzuzeigen, zieht er statt dessen ein Stück von einer gelben Rübe heraus, das einen solchen Gestank verbreitete, daß Alle zugleich aus der Stube hinaus laufen mußten. Diesen Auftritt überlebte der Schiffer nicht lange; er ist binnen Jahresfrist wahnsinnig geworden und ward todt im Walde gefunden.

Eine alte Frau von Degerfelden, die an der Ruine herum Kräuter für den Apotheker sammelte, hat bei dem Gemäuer ein Aechzen und Stöhnen vernommen; auch weiß man, daß hier des Nachts Stimmen laut werden, als ob man einem vorbeikommenden Fahrzeuge Halt geböte.

„Wir müssen nicht ins Zurzacher Schiff", dies Sprichwort führt Kirchhofer als eine die Eile bezeichnende Redensart an, No. 136 und 164, ohne es indessen seinem Leser genügend einleuchtend machen zu können. Es hängt aber in der Zurzacher-Stiftskirche das Modell eines alten, mit aller Schmiedekunst verfertigten Schiffes; man sagt, es sei der heil. Verena von einem deutschen Kaiser geweiht und trägt es an ihrem Festtag in Procession durch die Gassen. Dieses Eilschiff wollen wir nun in der einheimischen Sage weiter betrachten. Das Schiff ist unser erstes und letztes Geschirr, wie die anlautende Formel Schiff und Geschirr es selbst schon besagt. Unser Milchgeschirr, aus dem man unmündige Kinder stillt, führt Form und Namen des Schiffleins. Unserer Frau Holle, welche die Wickelkinder stillt (Abthl. IV, No. 167) und ihnen auf Neujahr sechs neue weiße Hemden bringt (Schambach-Müller, ndsächs. Sag. pag. 76) muß dieses Schifflein sonst auch eigen gewesen sein, gerade wie das Glas, woraus man St. Gertrudenminne trank, die Form eines Schiffchens hatte, oder wie das Bildniß der deutschen Göttin Nehalennia (das Wolf, Beitr. 1, 149 beschreibt) ein Schiff zum Symbol hat. In Cortryck kommen die neugebornen Kinder, anstatt mit dem Storche oder aus dem Kinderbrunnen, zu Schiffe herbei. Das Kind fragt, Mutter, wann kaufen wir ein Kindlein? und die Antwort heißt: het schip zal weldra komen, das Schiff wird schon kommen. Wolf, Beitr. 1, 164. In Simrocks Kindb. No. 24. 92. verrathen sich noch entsprechende Reime:

**Minge Mann es kumme,**
**de bûr von Quecke.**
**wat hät hä brunge?**
**en schepp voll wecke,**
**en schepp voll junge. —**

**Herrgott hilf, es kummt e schiff**
**mit win und brod, dass wol geroth!**
**mamme, backe kiechli,**
**ganzi ganzi pfanne voll,**
**gänn im Kindel au dervon.**

Stöber, elſäß. Volksb. No. 13. Dies gleicht jenem Schiffe in den Wolken, von welchem Biſchof Agobard, † 840, ſchrieb, es trage Getreide und Frucht ins Land der Glückſeligkeit (Myth. 604), jenem Glücksſchiffe des Frankenkönigs, das alle Tage die Welt umfährt (Bechſtein, DSagb. No. 273) und dem Frieſiſchen Rieſenſchiffe Mannigfual, in deſſen Tauwerk Wirthshäuſer angelegt ſind (Müllenhoff, Schlesw. Holſt. Sag. pag. 235). Die davon handelnden Kinderreime erinnern zugleich lebhaft an jenes Weihnachtslied aus dem 14. Jahrh., das man gewöhnlich Taulern zuſchreibt:

**Uns kommt ein schif gevaren,**
**darûf vil engelscharen,**
**es bringt ein schönen last,**
**hat ein grôzen mast.**

Weinhold, Weihnachts Sp. pag. 381 zeigt, daß auch dieſes nur eine Umdichtung älterer weltlicher Volkslieder iſt und zählt die vielerlei Bearbeitungen auf, die daſſelbe erfahren hat.

In dieſem Geburtsſchiffe nun läßt ſich dasjenige Schiff erblicken, „das auf dem trockenen Lande geht", von welchem in Pröhles Kinder- u. Volksmärchen (No. 76) und in Meiers ſchwäb. Märchen (No. 31) die Rede iſt. Auch das Kinderlied weiß davon, nur mißverſteht man bisher den Text und ſtellt ihn mit in eine Reihe unter die ſogen. Lügenmärchen. In Simrocks Kmb. No. 511 heißt es davon:

Es ſegelten etliche über Land,
Die Segel hatten ſie in den Wind geſpannt
Und ſegelten auf den Feldern,
Sie ſegelten auf einen hohen Berg,
Da ertranken ſie all in den Wäldern.

Was iſt hiemit anderes ausgedrückt als die Fülle und Unzahl der Fröhlichen, von welchen auch Seb. Brants Narrenſchiff in ganz ähnlicher Weiſe behauptet:

**die mag das schiff nit dann getragen,**
**die muessen an den narrenwagen.**

Es iſt das zur Göttin Freyja fahrende Schiff, deren großes Reich Seelengefilde, Volkvangr heißt, worin alle Engelsſchaaren Raum haben. Und damit erklärt ſich der Zweck jenes Schiffes, das i. J. 1133 von Aachen an bis an die Meeresküſte unter allgemeinem Jubel und Zulauf der Bevölkerung zu Lande fortgeſchafft und deshalb von den Gelehrten jener Zeit terrea navis benannt worden iſt. Man wiſſe nicht, fügt die gleichzeitige Meldung bei, ob daſſelbe eine Behauſung des Bacchus oder der Venus ſein ſolle; ſogar im Mondſchein kamen die Frauen ſchaarenweiſe heran, wo das Schiff vorübergezogen wurde; unter Liedern und Muſik umtanzten es Tauſende von Menſchen und noch um Mitternacht ſtrömten ſie dabei zuſammen,

wenn es während seiner zwölf Fahrttage an den einzelnen Orten still zu halten pflegte. Myth. 237.

Diese Zeitfrist entspricht derjenigen unserer Zwölften, unserer Rauch- und Losnächte u. dgl., die zwischen altes und neues Jahr fallen. Deshalb fährt der Eber des Gottes Fro zu bestimmter Zeit noch immer vom Rhein aus über die Aare und zwar in dem obrigkeitlichen Fährschiffe: No. 88. Wir haben aber auch das Schiff selbst unter unsern übrigen Volksbräuchen von heute mit zu erwähnen. Es wird in der Ulmer Fasnacht auf einen Schlitten gestellt und mit Musik durch die Stadt gefahren. Meier, schwäb. Sag. 2, pag. 374. Deshalb mag es sein, daß Sebast. Brant für den Namen seines poetischen Gegenstandes im Narrenschiffe abwechselnd auch den Namen Narrenschlitten gebraucht. Im Nürnberger Fasnachtszuge hatte dasselbe bis zum Jahre 1539 nie gefehlt und wurde erst damals obrigkeitlich verboten, als man unter den übrigen Vermummten dieses Schiffes auch eine dem reformationseifrigen Prediger Osiander allzuähnliche Pfaffenmaske mit umführte. Panzer, bayr. Sag. 2, 250. An der bayr. Donau hat indeß Schreiber dieses dasselbe Maskenschiff selbst noch in Städten und Dörfern zur Faschingszeit durch die Gassen fahren sehen; es lief auf mehrern im Schiffsboden angebrachten Rollen. Die Martinsschifflein zu machen, ein Festbrauch am 11. Wintermonat, da man die Martinsgans verzehrte und den Pelzmertel in den Kinderstuben umgehen ließ, gehörte sonst eben so gewiß dazu, wie heute die noch im Glarnerlande geltende Ueblichkeit, das Fridolinsfest mit einer Unzahl getheerter Schiffchen und bewimpelter Tröglein zu begehen, welche die Kinder Nachts angezündet oder mit Lichtchen besteckt mit dem Gewässer dahin schwimmen lassen. Das heißt dann vorzugsweise die geheiligte Nacht.

Von diesem Freudenschiff, das alle Neugebornen in sich trägt, diesem navigium Isidis der Römer, dieser Liburna der Sueven, unter der sie die Isis verehrten (Germ. c. 9) ist ein naturgemäßer Schritt zu dem Leichen- und Geisterschiffe, auf dem man über die unterweltlichen Todtenströme und durch der Hölle Bad zu fahren hatte. Auch im deutschen Süden hatte der Sarg die Form des Schiffes, nämlich des sogen. Einbaums. Menzel fand die Heidensärge, die er am Lupfener-Todtenfelde ausgrub, trogförmig und Kähnen nicht unähnlich. Odin, pag. 176. In dem Grabhügel Ringhoog auf Silt liegt ein Seeheld, Namens Ring, sammt seinem Schiffe. Müllenhoff, Schlesw. Holst. Sagen No. 501, im Klöwenhügel ein anderer mit einem goldenen Schiffe begraben. An das mythische Todtenschiff Naglfar, an das gleiche im friesischen Volksglauben, Mannigfual genannt, sei hier nur erinnert; beider Namen deutet an, daß sie alle Welt an Bord zu nehmen vermögen. Eben so bleibt die Sage von dem Geisterschiffe unter dem Namen des fliegenden Holländers als bekannt vorausgesetzt. Die noch lebende Sage läßt dieses Todtenschiff ganz in derselben Weise über Land fahren, wie vorhin von der terrea navis zu Aachen gemeldet worden ist. Seidl (Steiermärk. Sag. in Wolfs Zeitschr. 2, pag. 32) schildert das Wilde Gjaid am Thorstein in Steiermark; es besteht dasselbe aus einer Art Schlitten, der wie ein Schiff gestaltet ist und von vorgespannten Dienstmägden, sagt man, gürtelhoch durch die Luft gezogen wird. Dieses geschieht wiederum in der Christnacht, in welcher das Geburtsschiff mit den Kindern anzulangen pflegt. Im Bieler-See bei Möringen soll im Grunde

Digitized by Google

unter altrömischem Pfahlwerk ein vom Volke sog. Heidenschiff liegen. Antiquarisch muthmaßt man darunter einen aus einem Eichenstamm ausgehöhlten Kahn oder Einbaum (Jahn, Kant. Bern, 33); das Volk aber sieht ein auf dem See umziehendes Leichenschiff, und darein als wie in einen Sarg habe der Graf von Nidau sein Weib, weil es Drillinge gebar, vernageln und versenken lassen. Reithard, Sag. der Schweiz, 189. Pfyffer v. Neueck berichtet von einem ähnlichen Todtenschiffe auf dem Vierwaldstätter-See; viele Seeleute hätten es schon gesehen, wie es ein Mädchen steuere, das Gesicht nach dem Gestade von Kerssten gerichtet. Wanderer i. d. Schweiz 1840, 341. Von versteinerten Schiffen berichtet aus dem Bernerlande Wagner, Mercur helvet. Tiguri 1680, 356. Statt diese schlechtberichteten Angaben dorten auszuschreiben, folge lieber, was sich Jos. Leop. Cysat von einem Geistlichen aus Uri hat gleicher Weise erzählen lassen und in seiner Beschreibung des Waldstätter-Sees (Luzern 1661, pag. 241) mittheilt: Jener Geistliche habe auf einem hohen Urnerberge die Ueberreste eines großen Eichenschiffes gesehen und untersucht und man meine, es sei aus der Zeit der Sündfluth dem Menschengeschlechte zur Erinnerung da droben verblieben; und ebenso habe man nach Beschreibung von Augenzeugen auch im Bernerlande hundert Ellen tief in der Erde ein Schiff mit Anker und Ankertauen und den Gerippen von 40 Mann gefunden. Man urtheilte, es müsse dasselbe durch einen Meerwirbel verschlungen und durch die verborgenen Wassergänge der Erde bis in die Klüfte dieses Bergwerkes versenkt worden sein. Weitere Angaben über das germanische Todtenschiff sind zu finden: Grimm, Myth. 790. 793. Menzel, Odin 175—183.

---

## 39. Der Schwarze in der Au, Klingnau.

Die Jüppe heißt ein Weiler, eine Stunde von Leuggern, von wo aus der Knecht noch in später Mitternacht über die Aare nach Klingnau hinüber geschickt wurde. Es regnete, stürmte und schneite, da er auf dem Rückwege in die Hohle Gasse kam. Der Wind ließ ihn kaum den Regenschirm aufmachen, den er in Klingnau mitgenommen hatte. Während er sich damit plagte und über die Aecker an der Aare zu seinem Kahne hinunter lief, begegnete ihm in gleicher Richtung ein Mann von übermäßig hoher Gestalt. Er fragte diesen, ob er ebenfalls mit an die Fähre käme, erhielt aber gar keine Antwort. Kaum getraute sich nun der Knecht den Regenschirm zuweilen so hoch zu halten, daß er zu dem Unbekannten hinüber blicken konnte. Derselbe trug einen breiten Hut und schleppte einen gewaltigen Sack nach; in gleichmäßig großen Schritten gieng er so mit fort, man hörte seine Füße deutlicher, als daß man sie sah. So kam man zum Flusse; es war stockfinster, nirgends konnte der Knecht an der ihm wohlbekannten Stelle seinen Kahn wieder finden, in dem er erst vor kurzer Zeit übergesetzt hatte. Stunden lang lief er in Schilf und Gebüsch umher und

Digitized by Google

eben so lange stolperte sein stummer Begleiter neben ihm und über ihn einher. Dies erzürnte endlich den Knecht, er vergaß sich und brach in laute Flüche und Schwüre aus; jetzt half's. Augenblicklich war der Schwarze verschwunden und statt seiner sah der Knecht den Kahn. Er war schon über die Mitte der Aare hinaus, als schwere Lasten von Steinen aus der Höhe her ihm nach gestürzt kamen. Er im Kahn wurde mit Erde und Sand überdeckt. So schmitz der Große nach und pfiff dabei zweischneidig durch die Finger. Erst daheim unter der Dachtraufe hörte der Knecht ihn nicht mehr.

Das ist der Schwarze in der Au, der von der Tracht den Namen hat, in welcher er herumwandelt. Das zerfallene Häuschen in der Au war seine Wohnung gewesen, da hütet er noch immer schlimmerworbene, verborgene Schätze.

Steinschleudernde Riesen und Satane sind ein häufiger Gegenstand der Sage, Myth. 974. Ein daraus sich entwickelndes Sprichwort heißt, der Teufel hat seinen Stein darin. Vgl. Abthl. X, No. 435, der Wirtel in der Aare. No. 433, die Teufelsburdi.

## 40. Der Mörder am Sandbrunnen.

Zu Stalden auf dem Bötzberge diente im Wirthshause eine Magd, welche die Liebesbesuche eines Burschen von Linn so lange angenommen hatte, bis sie ihn endlich dringend bitten mußte, sie ehestens zu heirathen. Dies kam dem Liebhaber so unerwartet und verstieß so sehr gegen seinen Dorfstolz, daß er bei sich beschloß, das Mädchen gewaltsam auf die Seite zu schaffen. Schon in den nächsten Nächten verlangte er wieder bei ihr Einlaß. Arglos wird ihm wie sonst das Gadenfenster aufgethan. Sogleich versetzt er der Armen drei Messerstiche und entflieht. Nebenan und nur durch eine Holzwand getrennt, schlief diese Nacht eine der vielen Wallfahrerinnen, die aus dem Elsaß und Schwarzwald dieses Weges über den Bötzberg alljährlich nach Einsiedeln zur Schwarzen Mutter Gottes pilgern. Diese erwachte über dem Stöhnen der Verwundeten und machte im Hause Lärm. Als man Licht gebracht, konnte die Sterbende nur eben noch den Namen ihres Mörders aussprechen, dann verschied sie. Indessen war jener bis zum Sandbrunnen gekommen, der nicht weit vom Wirthshause entfernt ist, hatte da schnell sein blutiges Messer abzuwaschen gesucht und weil's nicht gieng, es von sich geworfen; dann lief er heim. Schon am andern Morgen ward er verhaftet. Er läugnete, bis man ihm sein Messer vorhielt; da bekannte er, wie er die paar Blutstropfen daran durchaus nicht habe wegreiben können, sie seien wie eingefressen

auf der Klinge geblieben. Das habe ihn so erschüttert, daß er sein Leben gestern schon verschätzt habe.

Im Dörfchen Hafen am Bötzberge wurde seine Leiche aufs Rad geflechten. Nun sieht man am Sandbrunnen zuweilen seine Gestalt stehen, bald auf einen Pfahl regungslos gestützt, bald aus allen Kräften etwas segend, das er dann aufnimmt und im Schimmer des Mondscheins prüfend betrachtet.

## 41. Die Reußbrücke zu Sins.

Die Reußbrücke zu Sins wird zusammenstürzen, wenn der Sinser-Jahrmarkt, der auf ihr abgehalten wird, wieder auf einen ersten Maisonntag trifft, bei dem so viele Leute zusammenströmen würden, wie es vorher noch nie der Fall gewesen wäre.

## 42. Der Wässermann in Seengen

übervortheilte seiner Zeit die Nachbarn im Wässerrecht und geht seitdem um. Schwarz am ganzen Leibe, den Spaten auf der Schulter, kommt er vom G'hei her, läuft dem Graben nach bis zur Kirche, trinkt dort am Brunnen und verschwindet. Ein Weib, das spät Nachts von der Wäsche heimgieng, sah ihn so kommen und blieb stehen. Während er am Brunnenstock gelehnt sie maß, meinte sie einen Nachbar in ihm zu erkennen und rief ihn an. Da tritt er vor sie hin, sie gewahrt nun ihren Irrthum, entrinnt, kommt leichenblaß heim und hat am andern Tage einen geschwollenen Kopf.

## 43. Wassergeist im Trottenbach.

Auf dem Wege von Leuggern nach Reuenthal kommt man beim Trottenbach zum alten Steg, der über den Graben führt. Drunter haust ein Gespenst. Es trägt das Haupt im Arme, die Augen auf einem Teller und brüllt dabei wie zu einem hohlen Hafen heraus.

Wie oder welcher gestalt die geist erschynen? Etwan hat es sich sähen lassen wie ein brünnender strauwüsch. Etwan hat man allein ein timmere stimm ghört, als wenn einer vß einem hafen herfür redte. Lavater, von Gespänst. Zürich 1578. Bl. 61. Ueber den Sinn, welchen die Hauptlosigkeit der Geister hat, erklärt sich Anmerk. No. 474. Dazu No. 157.

Digitized by Google

## 44. Der Frauensteg.

Zwischen Endingen und Degerfelden ist eine Brücke, über die des Nachts übel zu gehen ist; ein Gespenst soll einem den Weg versperren. Als gleichwohl Einer hinüber gieng, pfuchzte es drunten im Wasser, wie wenn einem beim Schwimmen Wasser in die Nase dringt. Kaum hatte der Wanderer „Helf dir Gott!" gesagt, so folgte ein zweites Ernießen und wiederum gesegnete er es. Beim drittenmal aber schrie er hinunter: „Hol dich der Teufel!" Da fieng es an zu jammern und sprach: „Ach hättest du auch noch das drittemal recht gesprochen, ich wäre erlöst!"

---

## 45. Silberbrünnlein bei Seengen.

Beim Dorfe Seengen am Hallwiler-See kennt man ein sogen. Silberbrünnlein, aus dem in Hungersjahren die Menschen sich genährt haben sollen. Daß Segensgeister hier gewohnt haben, deutet auch noch der Name der benachbarten Wiesen an, die nördlich vom Hallwiler-Schlosse am Aabache liegen; sie heißen Alvmatt und Elsli.

---

## 46. Tribächli am Lindenberg.

Tribächli heißt heute ein Wald auf der Höhe des Lindenberges, wo sonst weiße Jungfrauen aus dem Wasser kamen und den Kindern beim Erdbeersammeln erschienen. Wer sie aber jetzt gewahrt, ist des andern Tages mit Aussatz geschlagen.

Bergfräulein und Wasserfräulein kommen im Glarnerlande noch mehrere vor. Zwischen Schwanden und Nidfuhren ist das Widewibli, das die Leute irre führt; in der Pulstere bei Engi ist das Pulsterewibli (es trägt den Namen des Luzerner-Landgespenstes Posterli oder Polsterli); das rothstrumpfige Wibli mit großem Schattenhut schwebt über der Speichenruns in Engi herab. Blumer-Heer, Kant. Glarus, 317.

---

## 47. Der Steg für die Verstorbene.

Zu Erlisbach war eine Wöchnerin gestorben und begraben worden. Der Kirchhof aber liegt nicht auf der gleichen Seite wie jenes verwaiste Haus, sondern jenseits des Baches, welcher das Dorf in zwei Theile scheidet. Da man nun seit jenem Begräbniß jede Nacht ums Haus weinen hörte, so erinnerte man sich, daß dieses von der verstorbenen Mutter herrühren möchte; denn sechs Wochen lang muß jede verstorbene Wöchnerin noch ihr Kind heimsuchen, hier aber hielt das

Digitized by Go

am Hause vorbeifließende Wasser den Geist ab, zu ihrem Säugling kommen zu können. Sobald ein Steg über den Bach gelegt war, hörte auch das Gestöhne auf. (A. Birrcher in Laufenburg.)

Brücken und Stege waren geheiligt. So lange der alamannische Thurgau noch ins heutige Aargau hereinreichte, wurde das Landgericht zuweilen auf der Rheinbrücke in Schaffhausen abgehalten (Zellweger, Appenz. Gesch. 1, 220), zuweilen auf den Aarbrücken von Brugg, von Klingnau sogar, als dorten die Brücke noch bestand. Bis in Mitte der Brücken trug man fremde Leichen, führte und geleitete man fremd herkommende Bräute. Grimm, Grenz. Alterth. (Abhandl. der Berl. Akad. 1845). Feierliche Zusammenkünfte begieng man auf Brücken. Das älteste Zeugniß hiefür bietet Tacitus hist. 5, 26; das jüngste liegt in der Zusammenkunft Napoleons und Alexanders auf dem Niemen. Weitere Zeugnisse giebt Grimm, Latein. Ged. pag. XV. Allein nicht die Brücke, sondern das geheiligte Element des Wassers ist bei solchen Bräuchen das Bestimmende gewesen für Lebende und Todte. Um den Seelen die Ueberfahrt ins Schattenreich zu ermöglichen, begrub man sie im Schiff (Anmerk. No. 38), und von dem schmalen Steg, den sie überschreiten müssen, ist im Nierensteiner Todtensegen noch die Rede (vgl. Aargau. Kinderspiel., Abthl. 2 „Goldene und Faule Brücke").

Mehrfach kommt daher auf Runensteinen die Meldung vor, der Verstorbene habe für seine Seelenruhe eine Brücke bauen lassen, um jene Höllenbrücke über die Flüße Nifhels ungehindert betreten zu können. Solcherlei Nachweise giebt Mone, Gesch. des Heidenth. 1, 429. Auch die hl. Schriften der Parsen nennen die Todtenbrücke Chinvat und zwei Geisterhunde befragen an ihr die Seele um ihren Wandel. Spiegel, Avesta 1, 249. Daher rührt die häufige Angabe unserer Sagen, als ob Geister unter einer Brücke so tief im Wasser steckten, daß sie fortwährend oder dreimal hinter einander sich ernießen müßen. Ruft man ihnen dann eben so oft ein Gotthelf zu, so sind sie erlöst, allein man muß dann selber sterben. Mone, Anz. 1838, 370. 1839, 62. Sommer, Thür. Sag. No. 18. Panzer, bayr. Sag. 1, pag. 177. Firmenich 1, 206. Stöber, elsäß. Sag. No. 252.

---

## 48. Die Reußfähre bei Mühlau.

Vom Aargauer Dorfe Mühlau geht eine Fähre über die Reuß ins Zugergebiet. Hier schiffte sich einst auch ein armes Mädchen mit ein, das von ihrem Geliebten treulos verlassen war; als man die Mitte des Stromes erreichte, sprang sie lebensüberdrüßig ins Wasser und konnte nicht mehr gerettet werden. Von dieser Zeit an wurde die Fähre beständig durch einen Wassergeist gestört; so oft man in die Mitte des Stromes kam, wurde das Wasser wild und tobend, und sobald man dann nicht schleunig den Rückweg nahm, lief man Gefahr umgeworfen zu werden. Also mied man nun diese Ueberfahrt gänzlich, dafür aber gieng weit und breit das Gerede, wie viele und große Verbrechen jenes arme Mädchen einst begangen haben müße,

Digitized by Google

daß man nicht einmal des Stromes mehr Meister sei, seitdem sie in ihm ihren Tod gefunden hatte. Inzwischen erschienen einmal zwei Kapuziner, die in der Gegend von Sins terminiert hatten und nun auf das Zugergebiet übergesetzt sein wollten. Der Fährmann aber verweigerte es ihnen und gab alle Umstände gründlich an. Es lag den Mönchen sehr daran, heute auf dem Heimwege nicht aufgehalten zu sein, sondern in der ihnen vorgeschriebenen Frist in ihrem Kloster richtig einzutreffen, daher sagten sie dem Fährmann bei der Allmacht Gottes völlige Sicherung seines Lebens zu und drangen in ihn, das Ruder zur Hand zu nehmen. Dieser folgte und brachte sie bis in die Mitte des Stromes an jene gefährliche Stelle, wo das Wasser zu sieden und zu toben begann. Allein anstatt ihn nun umkehren zu lassen, befahlen sie ihm still zu halten und beschwuren den Geist, in ihrem Schiffe zu erscheinen. In Gestalt eines langhaarigen schwarzen Hündchens kam dieser sofort aus der Reuß zu ihnen hereingesprungen, und erklärte auf die Frage, wer er sei und kraft welchen Rechtes er hier die Schiffahrt störe, er sei nicht etwa der Geist jener verunglückten Jungfrau, sondern der Teufel selbst. Ihm liege aber daran, die Leute glauben zu lassen, jenes Mädchen verursache den gefährlichen Wasseraufruhr; denn je länger ein solcher Glaube andauere, um so größere Unthaten würden schlechtdenkende Menschen dem Mädchen aufbürden, um so mitleidloser ihr an die Ehre greifen und ihr Andenken schänden. Also bekäme er die schadenfrohen Lügner und Verleumder ganz sicher in seine Gewalt und mehre auf erlaubtem Wege damit sein Reich. Allein die Patres wollten von diesem Rechte des Teufels nichts wissen, sie geboten ihm vielmehr, ins künftige das Schiff ungekränkt passieren zu lassen. Er mußte ihnen wohl folgen, denn die Fähre besteht noch; so urtheilt ein Theil der Gläubigen. Ein anderer Theil aber sagt, der Teufel habe sich mit dieser Erklärung nur über diejenigen Prediger lustig machen wollen, die alle Aeußerungen der Menschen für nichts als Eingebungen des schlauen Teufels ausgeben.

Digitized by Google

# II. Geheiligte Bäume.

## 49. Die Etelmutter zu Schneisingen.

Im Oberholze von Schneisingen findet sich ein rund ausgemauertes Loch im Boden, das der Rest eines alten Thurmes zu sein scheint. Es ist so tief, daß man hinein geworfene Steine drunten nicht wieder auffallen hört. Die Heiden haben es vormals bewohnt; es war ihr Schatzhaus. Sie sind fortgewandert oder ausgestorben, und nur die Etelmutter allein ist übrig geblieben. Diese geht eigenthümlich gekleidet in einem rothen Rocke einher und verfährt mit den Holzdieben, die sie betrifft, so barsch, als ob der ganze Gemeindewald ihr gehöre. Zum Schutze gegen dieses gefürchtete Weib hatte ein Schneisinger-Holzfrevler ein Muttergottesli in den Sack gesteckt, eines jener gebrannten kleinen Thonbildchen, wie die Wallfahrer duzendweise um einen Kreuzer in Einsiedeln kaufen, und gieng damit im Walde seinem Diebstahl nach. Die Etelmutter konnte ihm diesmal zwar nichts anhaben, aber doch trat sie ihm drohend entgegen und sagte höhnisch: Wenn der Mann das Herz verliert, nimmt er sich eine irdene Frau! Diesmal fand der Angeredete auch den Wohnplatz der Alten und hat ihn später einmal seinen Buben gezeigt; es ist ein Fleck unter einer breiten Fohre, der so besonders sauber gekehrt ist, daß nicht eine Waldnadel oder ein Steinchen drauf liegt.

Etelmutter heißt Großmutter, dasselbe was hier in No. 436 und in Grimms KM. 1, 152. 2, 188 des Teufels Ellermutter ist. Etter, ableitend von Atto, Großatt, bedeutet auch Vatersbruder und Vetter. Stalder 1, 115. Der Etelmutter Wohnplatz vergleicht sich der Reinlichkeit der Geisterwohnung, von der in Abthl. IV, No. 169, Schatzhöhle bei Bellikon, die Rede ist.

## 50. Die Barakenfrau bei Frick.

Im Säckenberg, einem Walde nordwestlich von Frick, von dem in No. 186a des weitern erzählt ist, sieht man am hellen Tage eine Frau, die Barakenfrau, die, wenn man ihr nahe kommt, plötzlich verschwindet, die Leute aber oft so weit in der Irre umherführt, daß sie sich über Berg und Thal nicht mehr zurecht finden können. Sie trägt, wie ehemals die Weiber auf dem Lande, einen rothen Tschopen (jupon, Jacke) über einen rothen Rock und hat einen Schinnhut auf

Digitized by Google

aus gespaltenen Weidenruthen geflochten. Sie erscheint bald mit einem Armkorb, bald mit einem Stab in der Hand und bisweilen mit einer Bürde ganz kleiner Reiser auf dem Kopfe, die nicht größer sind als Rebreiser. Ihre Wanderung geht vom Ettenberg-Egg bis zum Kellengraben. Gewöhnlich hält sie sich unter einer Eiche auf, wo sie die gesammelten Beeren dörrt und dann ißt.

---

## 51. Der Dornstrauch auf dem Birrfelde.

Stirbt der Dorn, der mitten auf dem Birrfelde steht, so geschieht dorten eine Schlacht, deren Blutbach die Mühle zu Müllingen drei Tage lang treiben und den Rossen bis über die Fessel gehen wird. Alsdann wird ein sechzehnjähriger Jüngling der siegreiche Held sein. So lautet eine zwischen Reuß und Aare lang verbreitete Prophezeiung. Als nun vor etlichen Jahren jener alte Dorn sichtbar abdorrte, so daß er jetzt nur noch von dem daranstoßenden Hagenbuttenstrauch umgrünt ist, wurde die umwohnende Bevölkerung fühlbar nachdenklich und sah gespannt den Nachrichten über einen ausbrechenden Krieg entgegen.

Nach einer von Tschudi, Gallia comata 141 geäußerten Vermuthung ist bis auf die Neuzeit das Birrfeld für die Gegend angesehen worden, wo Constantius Chlorus 303 die Alemannen schlug, und die Brugger-Neujahrsbl. v. J. 1821 fügen im Tone des Augenzeugen die Behauptung hinzu, noch lange nachher sei dieses Birrfeld von den Gebeinen der Erschlagenen bedeckt gewesen. Unsere Sage kümmert sich im vorliegenden Falle gar nicht um die Ergrübelung einer geschichtlichen Schlacht, von welcher ohnedies nichts anderes als eine Jahrzahl übrig ist, sondern faßt die Weltschlacht der Zukunft ins Auge, mit ihrem nach der endlichen Vertilgung des Bösen folgenden Weltfrieden. Den Glauben an diese Erfolge knüpft sie an einen Schicksalsbaum. Dies ist die Sage vom Dürren Baum, welcher mit dem nahenden Sieg und Frieden wieder zu grünen beginnt. Von ihm singt schon die Kaiserchronik (Diemer, pag. 218, Vers 25), da der siegreiche Herzog zum Haselbrunnen seinen Speer steckt und ausruft: das Land ist den Bayern zu Ehren gewonnen! Dieselbe hat bis auf die jüngste Zeit 1847 ihr Leben im Volke forterhalten, da der prophetische Birnbaum am bayrischen Untersberge zum Erstaunen des Landvolkes plötzlich wieder auszuschlagen anfieng, nachdem er seit Napoleons Untergang 1814 gestockt hatte. Steub, Aus dem bayrischen Hochlande. 1850, 160. Der Trunser-Ahorn in Bünden, der jetzt seinem Tode entgegen geht, und die längst nicht mehr stehende Tellenlinde in Altorf mögen früherhin als solche Schicksalsbäume gegolten haben; dazu kommt noch das sogenannte Stäudlein von Oesterreich, das einem die Schiffer fleißig zeigen, wenn man am Thunersee die Landspitze Nase umfährt: „es wächst nicht und welkt nicht, ein Weidenschoß, das vom J. 1298 an, seit die Herrschaft Unterseen österreichisch war, unabläßig gegrünt hat und wieder grünt". Wyß, Bern. Oberl. 1, 321. Die neueste landauf-

Digitized by Google

regende Prophezeiung solcher Art war 1843 im Luzernerlande und gab zu einem langen, mehrere Kantonsregierungen stark beängstigenden Hochverrathsprozeß Anlaß. Sie stimmt ziemlich genau zu unserer vorliegenden Sage und lautet so: Auf dem Emmenfelde wird eine so blutige Schlacht geschehen, daß die Pferde bis ans Gefieser im Blut stehen. Die alten Männer und eilfjährige Knaben, lauter Bauern aus den Schneebergen, werden den Feind gänzlich außer Land jagen bis auf das Ochsenfeld. Hier wird die letzte Schlacht geliefert; die Schweizer werden siegen. Ein Sechzehnjähriger, der auf dem Emmenfelde unter einer Linde geboren worden, wird als Sieger die Fahne der Freiheit der ganzen Welt in Mitte des Schlachtfeldes aufstecken. Die Sieger werden einander fragen, ob sie in einem oder zwei Wirthshäusern einkehren wollen; da werden sie aber in einem einzigen Platz genug haben. Dies soll der Bauer Thomas Wandeler in der Funtannen, den man den Rigelitommen nennt, vor etwa 100 Jahren prophezeit haben; nunmehr legt man es dem Bruder Klaus von der Flüh in den Mund. Kas. Pfyffer, Luzern. Gesch. 2, 213. Diese Prophezie über die Schlacht am Ochsenfelde stimmt mehrfach überein mit Müllenhoff, Schleswig-Holst. Sag., No. 509 (auch Panzer, bayr. Sag. 1., No. 120), wo eine rothe Kuh über eine Brücke schreitend schicksalsentscheidend wird.

Außer den in Grimms Myth. hiezu enthaltenen Sagenparallelen verweise ich auf folgende neuere Schriften, in denen dieser Gegenstand umfassend und quellengemäß behandelt ist: Wackernagel, Hdschrift. der Basler-Biblioth. 55: Sibyllen-Weissagung aus dem 14. Jahrh. Damit unmittelbar zusammen gehört „Sibillabuch": Aarg. Beitr. 1846, 275. Das Volksbuch von Kaiser Friedrich, Haupt, Ztschr. 5, 267. Kaiser Friedrich im Kiffhäuser, von Maßmann, 1850. Friesische und Paderbornische Weissagungen, gesammelt v. Leverkus, Haupt, Ztschr. 3, 457. Die Sagen vom Dürren Baum: Menzel, Odin 344. Eine mit hieher gehörende und, wie mir scheint, noch nicht beachtete Sage vom Dornstrauch findet sich bei Wier, de praestig. daemon. 1586, pag. 531: „Bald nach dem grawsamen Vnfall vnd Blutbad, so sich auff der Hochzeit zu Pariß 1572, 24. Augst begeben, hat auff dem Kirchhoff der Vnschuldigen Kinder zu Pariß ein dornechtiger Staud oder Strauch, welcher etliche jar gantz dürr vnd ohne krafft gewesen, von neuwem zu grünen, Blätter vnd Blumen zu bringen angefangen; gleichwie der dürre vnd außgetrocknete Baum, daran sich Christophorus gehalten, als er Christum durch das Meer getragen, wiederumb solle grün worden vnd seine Frucht bracht haben.

---

## 52. Der Dornstrauch zu Oberkulm.

Auf dem Oberfelde zwischen Kulm und Zetzwil war einst die Stadt Hegenau gelegen, die durch Erdbeben untergieng. Wo heute der Mauerhübel liegt, umgeben vom Mürthale, da versank zuletzt das Schloß. Es ist dasjenige, welches noch nachher den Namen Hegnau getragen und dem im Kulmerthale zahlreichen Geschlechte der Hegnauer den Namen gegeben haben soll. Vgl. No. 7. 52. Alljährlich pflügt man

Digitized by Google

noch Ziegelstücke und Mauerreste auf, die den Glauben der Leute an die ehemalige Stadt neu verbürgen. Dort aber, wo die Landstraße von Aarau nach Luzern vorbeiführt, war seit undenklicher Zeit ein Dornstrauch aufgewachsen, dessen Stamm allein drei Fuß dick gewesen sein soll. Jeder, der des Weges kam, sah ihn als ein Wunder an, legte einen Stein dazu, und so thürmte sich nach und nach ein kleiner Wall rings um den Dorn; er gedieh in diesem Schutze, gewann sein eigenes Plätzchen Land, und somit blieb dieses unbepflanzt. Die Leute, die in der Nähe ihre Aecker hatten, erzählten sich wohl, welche Schätze unter dem Busche verborgen lägen, und daß sich eine Frauengestalt im heißen Mittage dorten sehen lasse, unter deren Tritten es wie Gold glänze; aber jeder nach diesen Schätzen Lüsterne fürchtete zugleich, dem bösen Geiste zu verfallen, und eben deswegen, sagten sie, dürfe man auch den Dornbusch nicht umhauen. An einem Samstage Nachts waren die jungen Bursche des Ortes ins Wirthshaus zum Rößli gekommen, wo bereits einige ältere Männer beim Weine saßen. Als die Rede zwischen beiden Parteien auch auf den Dorn kam, waren es natürlich die Alten, die für seine Unvertilgbarkeit fest einstanden. Gegen diesen Aberglauben ereiferten sich die Bursche, sie ließen es eine Wette gelten und giengen mit Säge und Beil davon. Nicht lange, so brachten sie den alten Dornstrauch zerhauen zur Thüre herein geschleppt. Da erschraken die Leute sehr. Der Baum reuete sie, der doch beinah in allen Chroniken eingeschrieben stand, der so lange eine wichtige Sache im Thale gewesen war, nach dessen Ausschlagen und Blühen man Jahrgänge und Begebenheiten gerechnet hatte. Und jene würden vor Gericht gewiß hart gestraft worden sein, wenn man alles recht an den Tag hätte ziehen wollen. Aber nun war's geschehen. Trotzdem will man auch nachher noch die Erscheinung einer weißen Jungfrau an jenem Mauerhübel gesehen haben.

---

## 53. Die Linde von Linn.

Einer der größten und ältesten Bäume des Aargaues ist die Linde am Bötzberge, welche dem Dörfchen Linn daselbst den Namen gegeben hat. Jeder ihrer Aeste ist ein eigener mächtiger Baum voll zahllosen Gezweiges. Ehe der Sturm ihre höchste Krone gebrochen hatte, war, wie ein dortiger Mann darüber sich ausdrückte, ihr Wald noch viel größer. Sie steht etwas weiter drinnen in der Bergebene; dennoch überragt sie die vor ihr aufgewachsene Tannen- und Laubwaldung, daß man den einzelnen Baum meilenweit im Umkreise

Digitized by Google

darüber hervor schauen sieht. Auf einer Seite ist der Stamm klüftig und morsch; gleichwohl schießt er aus der geborstenen Rinde neue frische Aeste von Eichendicke hervor. Ein paar Ellen hoch kann man in die Höhlung hinein steigen. Wie erstaunt man, in solcher Höhe neue Wurzeln aus dem Innern von oben her kommen zu sehen, Luftwurzeln, die selbst wieder in Stammesgröße keck in die leere Höhlung hinunter nach Boden suchen. Ein leiser Luftzug durch die Wipfel erinnert den darunter Liegenden an ein brandendes Gewässer. Man meint, ihr Schatten könne bis auf das entlegene Birrfeld hinüber reichen, wo jener Schicksalsdorn steht, dessen Absterben den Untergang des Landes zur Folge haben soll. (Vgl. Dornstrauch am Birrfelde, No. 51.) Andere sagen, die Welt gehe unter, sobald ihr Schatten auf die näher gelegene Ruine von Habsburg am Wülpelsberge falle, und man bewährt dies mit dem Spruche, der sich auf den einstigen Bewohner dieser Burg, auf Rudolf von Habsburg bezieht:

Leit d'linde-n-ihr's chöpfli ûf 's Ruedelis hûs,
Se-n-isch mit alli wëlten ûs.

Als der irische Apostel Gallus das Land betrat, soll er unter dieser Linde sein Predigtamt begonnen haben. Das bekehrte Volk baute ihm zu Ehren ein Kirchlein, und daher rührt der Name des benachbarten Dorfes Gallenkirch. Die Reformation, der dann diese Ortschaften beigetreten sind, hat solche Erinnerungen nicht völlig getilgt. Die Gallenkircher sollen noch das Recht haben, nach dem ganz katholischen Dorfe Hornußen zur Kirche zu gehen. Es ist ihnen diese letztgenannte Gemeinde nicht bloß konfessionell, sondern auch politisch fremd und gehört zu der in sich abgeschlossenen Landschaft des Frickthales. Aber dorten in jener Kirche sehen sie den alten Glauben ihres Bekehrers fortdauern, und hier unter der Linde schlafen ihre Ahnen; noch versammeln sich bei ihr auf dem Kreuzwege um Weihnachten alle — Zauberer.

Ein ähnliches Verhältniß ist im Orte Linn selbst, der heute pfarrgenößisch im Dorfe Unter-Bötzberg ist und seine Leichen auf dortigem Kirchhofe bestattet. Dies war früher nicht so; die Gemeinde Bötzen ist selber eine so zerrißene, daß von ihr bis zum J. 1824 die thatsächlich wahre Redensart galt, ihre Kirche liege zu Bötzen, ihr Pfarrhaus liege im Dorfe Elfingen, und ihre Glocke hänge am Wirthshausschilde zu Effingen im Frickthale. (Meyer-Knonau, Erdkunde 2, 193.) Der alte Begräbnißplatz der Linner war also nicht in Bötzen, sondern bei der großen Linde. Dies hat sich auf folgende Art geändert. Einst zur Zeit der Pest starben im kleinen Dörflein Linn der Leute so viele, daß ein eigener Fuhrmann die Leichen täglich nach Unter-Bötzberg

zum Begräbniß führen mußte. Er fühlte sich zuletzt selber von der Pest ergriffen, und in dem Wahne, ihr entfliehen zu können, entläuft er bis Rheinfelden. Dort aber herrscht gerade der schwarze Tod gleichfalls und der Knecht geht daran zu Grunde. Während dem hat zu Linn das Sterben ungehemmt fortgedauert. Der einzige Mann, der zuletzt übrig ist, macht in der Nähe des Dorfes eine große Grube, wirft die Leichen zusammen hinein und pflanzt zum Andenken die Linde darauf. Die Linde steht wirklich auf einem ausgedehnten Grabfelde. Seit Jahrhunderten pflügt man aus den vielen Morgen des umliegenden Getreidelandes alles Gestein sorgfältig aus und thürmt es an die eine Seite des Baumes. Diese Denk- und Grabsteine eines ganzen Leichenfeldes, das in der Heidenzeit hier gewesen sein soll, waren lange als Mauer um den Baum gelehnt; kaum aber vermochte sie das Auge nur zu bemerken gegenüber der Mächtigkeit des borkenverwachsenen Lindenstammes. Der Verfasser dieses Buches läßt sich hier ein einziges Mal selber vernehmen; die Mittagsrast, die er einmal unter jenem Baume hielt, hat ihm folgenden Spruch gebracht:

Sobald des Hügels Sagen von ihrem Traum erstehn,
Hat jedes Blatt Behagen, am Lindenbaum zu wehn;
Noch nicht der Frühlingssiege und Heldensprossen satt
Wird eine Liederwiege sein allerjüngstes Blatt.

Die Linde von Linn scheint vorhanden gewesen zu sein, um die Pest in sie zu verkeilen. Eine Sage aus Westfalen von der Pest, die man in sieben Linden verkeilt hat, meldet Woeste in Wolfs Ztschr. 2, 83. Wenn endlich auch die siebente Linde fällt, bricht die Pest wieder heraus. Aehnliches ist von der Linner Linde prophezeiet. Baum und Pflock solcher Art ist auf dem evangelischen Kirchhofe der westpreuß. Stadt Cönitz noch zu sehen. Tettau-Temme, Preuß. Sag., No. 234. Auch der Teufel und die Hexe wird so gebannt. Von letzterer erzählt Abthl. IX, No. 392, Milchstellerin zu Tegerfelden. Der Meiter von Uerkheim, No. 376, tödtet seinen Gegner dadurch, daß er ihm den dritten Nagel in den Thürpfosten schlägt. Hessische Hexenprozeße v. J. 1597 erzählen eine ähnliche Thatsache: Wolf, Ztschr. 2, 72. Eine Appenzeller-Sage in Philo's Magiologia, Basel-Augst 1675, erzählt, wie Paracelsus im Walde an eine Tanne kommt, in die der Teufel durch ein Zäpfelein verkerbt ist. Paracelsus läßt ihn heraus, bekommt dafür die Goldtinktur und beschwatzt darauf den Hochmuthsteufel, das Kunststück, wie man in einem so kleinen Löchlein doch Platz finden könne, noch einmal zu machen. Kaum ist der Teufel in Gestalt einer Spinne in das Loch zurück gekrochen, so verzapft es Paracelsus, und der Teufel steckt nun noch drinnen, denn wegen der Schneelawinen darf seitdem daselbst kein Baum mehr gefällt werden. Die Römer, die ihre Jahreszählung mit dem Einschlagen von Nägeln im Capitolinischen Jupiterstempel begonnen hatten (Liv. 7, 3), erinnerten sich dessen dunkel beim Ausbruche einer Pest 365 und 331 v. Chr. Beide Male mußte der Dictator einen Nagel zur

Digitized by Google

Besänftigung der zürnenden Gottheit einschlagen, und so ist der Nagel ein dichterisches Sinnbild unwandelbaren Schicksals geworden. Horat. Od. 1, 35. 3, 24. Die Fortuna zu Antium führte den Nagel, Atropos richtet einen Nagel gegen die Wand und hält in der Rechten den Hammer. Schwenk, Sinnbilder 308. Die Soldaten, die einen Tempel plündern, brechen dabei unwissend eine solche Pestklammer auf, und die aus Antonins Zeiten eingeschlossene Pest bricht damit los. Ammian. Marcellin 23, 6. Hinter ein Stadtthor verschließt der hl. Remigius zu Rheims die Pest und vermauert's; sie bricht wiederum los, als Fercinctus dieses durchbricht. Grimm, DS., No. 423.

An die Linde knüpfen sich die allermeisten Bräuche in einer Reihe von der Wiege bis zum Grabe. Das Singen an der Kinderwiege beginnt mit ihr. Aarg. Kinder-Spr., Abthl. 4. Wiegenlieder: es fahrt e wind durh d'linde, und d'muetter singt de chinde. etc. Die Besegnungsformel (ebenda C.), wenn dem Kinde etwas ins Auge gefallen ist, lautet gleichfalls an die hinter diesem Baume stehende Gottheit: wisse frau, hinterm baum, mach mer 's dingli üssem aug! Das Kindlein bekommt kein Zahnweh, dessen erster Brei mit Lindensproßen umgerührt wird. Die Volksgerichte werden unter ihr abgehalten: sub tilia in Altorf. Urk. 1258. „Unter der Linde zu Stans bei der Spielmatten." Blumer, Rechts-Gesch. der Schweiz. Demokratien 1, 267. „Zu Altorf bei der Linden — steckt auf der Vogt den Hut — und sprach, den will ich finden, — der dem nicht Ehr anthut!" so beginnt das ältere Tellenlied. Die Linde zu Münchwiler (Villar), eine halbe Stunde ob Murten, ist älter als die daselbst gegen Karl den Kühnen gelieferte Murtnerschlacht 1476. Unter ihr wurde der Angriff berathen. Der Bote, der dann mit der Siegesnachricht nach der Stadt Freiburg abgeschickt wurde, hatte sich von diesem Baume ein Reis gebrochen und auf den Hut gesteckt. Man pflanzte es zum Angedenken auf dem Marktplatze Freiburgs. Einst beim Dreikönigsfeste fiel eine brennende Granate in den Stadtbaum und setzte ihn in Brand, doch rettete man ihn wieder mit Aufbietung aller Feuerspritzen. Unter ihr wurde das Lindengericht abgehalten und Missethätern der Stab gebrochen. Nun hat sie selber der Sturm gebrochen. Im Hinblicke auf den Pappelbaum, mit dem die Neuzeit die Linden zu ersetzen pflegt, sagt R. Tanner v. Aarau, Heimatliche Bilder, Zürich 1846, 113:

Als noch des Königs Banne trafen
Im Lindenschatten, kühl und dicht:
Den Finkenschlag beim Spruch des Grafen,
Den, Pappel, den vernahmst du nicht.

Die Linde weist uns die Grabstätte der Heiden nach, sie beschattet den ersten Prediger der christlichen Lehre; sie tönt und leuchtet in der Sage fort (Lindegiger. Abthl. V, No. 220), wie sonst als das nächtedurchschmausende Volk unter ihr und in ihrem festlich erleuchteten Dache saß; und zuletzt verkündet sie das Weltende, das eintritt, sobald nämlich ihr Abendschatten einmal von ihrem Standberge hinüber reichen wird auf das Habsburger Stammschloß, welches über dem Aarthale auf der jenseitigen Berghöhe gelegen ist. Weitere Sagen und Bräuche an diesen Baum sich knüpfend, erwähnt Wolf, Beitr. 1, 168.



Digitized by Google

## 54. Die Strebelstaude zu Königsfelden.

Auf den großen Kornfeldern bei Windisch wurde Kaiser Albrecht durch seinen Neffen Johann und dessen Mitverschworene ermordet; sie ließen den vom Pferde Gehauenen liegen und entflohen. Im Schooße eines armen Weibes, einer Landstürzerin, die aus dem Städtchen Brugg gegangen kam, gab er hier den Geist auf. Seine Wittwe Elisabeth und seine Schwester Agnes, die Wittwe des Ungarnkönigs Andreas, errichteten an dieser Unheilsstelle vorerst eine Kapelle mit einem Häuschen und übergaben Beides zweien Waldbrüdern zur Aufsicht. Der eine war Bruder Klaus von Bischofszell; der andere Berchtold Strebel von Ostringen. Dieser war ein waghalsiger Ritter und König Rudolfs Freund gewesen, nach dessen Tode aber Franziskaner geworden. Während die beiden Klausner hier für des Kaisers Seele beteten, vollzogen dessen Frau und Schwester jene fürchterliche Blutrache, in der so viele Schuldige und Unschuldige hingeschlachtet wurden, daß der Aargau und Zürichgau lange darnach voll menschenleerer Burgen stand. Zwei Jahre darauf erschienen die zwei Frauen wieder, und legten den ersten Stein zum großen Gotteshause und den zwei dazu gehörenden Klöstern von Königsfelden, deren Trümmer heute noch stehen. Diesem stolzen Bau mußte die kleine Zelle der Waldbrüder weichen. Gerade als Agnes den Grund ausebnen ließ, um den neuen Fronaltar darauf zu setzen, trat Strebel zur Königin und prophezeite ihr, daß dieser Neubau nur so lange dauern würde, als die große Haselstaude leben werde, die hier an seiner eingerissenen Zelle stand. Man schonte sie. Die Staude dauerte bis ins Jahr 1520 und hieß die Berchtoldenstaude. Mit ehrfürchtiger Scheu war sie von allem Landvolke betrachtet. Man hatte sie dem Reformator H. Bullinger noch in seiner Kindheit gezeigt. (Tschudi I, 252.) Da verdorrte sie sichtlich. Schon vier Jahre später entsprangen die Ordensleute aus dem Kloster; noch vier Jahre, und die reformierenden Berner hatten aus allen Gebäuden der aufgehobenen Abtei eine Hofmeierei gemacht. „Wie der Bruder geweissaget, also ist vielvermeldete Stiftung im Jahre Christi 1528 zu nütti worden." H. Bullinger, Chron. Tigur. I. lib. 7, cap. 9. Endlich fielen die Franzosen ins Land und brauchten die Räume als Lazareth; das Uebrige verfiel und verbrannte, der letzte noch erhaltene Flügel ist nune in Irrenhaus. Vgl. Abthl. XII, No. 500. 501: Bruderhöhle bei Brugg an der Aare.

Diese Sage ist längst in die historischen Schriften der Schweiz übergegangen, sie stützt sich jedoch allein auf das übelbeschaffene Jahrzeitenbuch von Königsfelden, das Abt Gerbert in seiner Tapographia 2, 171 abdrucken

Digitized by Google

hat lassen. Unsere beiden Klausner werden darinnen also erwähnt: Der ein hiess bruoder Claus von Bischofszell, Custer in vnserem (Franciscaner) orden, ein selig man. der ander hiess bruoder (Berchtolt) Strobel vnd was geboren von Oftringen (burg in Kleinlaufenburg), ein leybruoder, ein fromer gotzdiener. Dirre was edel, küen vnd manhaft vnd was küng Ruodolfes diener. do er (König Rudolf) lang was bi Losen (Lausanne, ao. 1275) vnd ietzent solt von baebst Gregorio X. gekroent werden: do tet dirre Strobel inritten mit spis vnd (— turnierte —) mit dem aller aller vernantisten (waghalsigsten — an —) manlibsfterke vnd gemütes, der do was vnder allen herren, vnd gewan den sig erlich. vnd als er in (seinen Turniergegner) überwand, also gedaht er darnah, wie er die welt vnd den tiufel überwunde. das er darnah tet, do er zoch in Franciscenorden. Darnah kament vier bruoder zuo den zwein, daz ir sechs wurden, Jacob Erber, Fridrich von Messingen, Burchhart von Messkilch (Möskirch), Marti von Schafhusen. die sturbent alle. So weit spricht das Jahrzeitenbuch von den beiden Klausnern unserer Sage; sein übriger Inhalt ist zur Rechtfertigung der Königin Agnes, der Stifterin von Königsfelden, geschrieben und bezweckt das Andenken ihrer in der Blutrache gezeigten Grausamkeit zu verwischen. Agnes, des ermordeten Albrechts Schwester, soll durch eine Reihe verrichteter Liebeswerke des Himmels würdig sein, und auf die mit Stillschweigen übergangene Elisabeth, Albrechts Wittwe, würde alsdann die ganze Schuld jener bluträcherischen Unthaten zurückfallen. Dies ist der leise Zweck der Königsfeldner Chronik. Die neuere Geschichtsschreibung hat die gleiche Rechtfertigung dieser Agnes versucht; man vgl. Aebi, Blicke in das Leben der Königin Agnes: Sinner, Schweizer-Bibliothek 1851. Kopp, Urkunden, pag. 80. Es lohnt sich der Mühe, zu zeigen, daß diese Königsfeld. Chronik, auf welche man sich dabei stützt, nichts als die schwache Prosacopie eines altdeutschen Gedichtes ist. Das Leben der hl. Elisabeth, Landgräfin von Thüringen, wird nach einer lateinisch abgefaßten Quelle zu Ende des 13. Jahrh. gedichtet (abgedruckt in Graffs Diut. 1) und nach 1315 durch Fr. Ködiz in Geschichtsprosa umgesetzt. Ausgabe von Rückert, 1851. Alle dorten enthaltenen Thatsachen und Legendenzüge sind, soweit sie dienlich waren, von dem Königsfeld. Jahrzeitenbuch entlehnt und der Königin Agnes beigelegt. Hier soll nur Einiges in Kürze ausgehoben werden aus der Elisabethenlegende; den Schluß daraus auf die Agnesensage kann man selbst ziehen.

Die hl. Elisabeth ist die Tochter des Ungarnkönigs Andreas; Agnes ist die Schwester des ermordeten Kaisers Albrecht und die Gemahlin des Ungarnkönigs Andreas. Elisabeths Gemahl ist der Thüringer Landgraf Ludwig, der gleichfalls eine Schwester hat, Namens Agnes. Der Landgraf verunglückt auf dem Kreuzzuge, seine Leiche wird 1228 heimgeführt und unter großem Gepränge im Kloster Reichartsbrunn bestattet. Ebenso verunglückt Kaiser Albrecht auf der Badereise und seine Beisetzung im Stifte Königsfelden geschieht so prunkend, daß der Einsiedler Strobel darüber Vorwürfe gegen Agnes erhebt. Elisabeth stiftet darauf zwei Spitäler, unsere Agnes darauf zweierlei Klöster in einem Hofraume, ein Clarissinen- und ein Minoritenkloster. Elisabeth thut alsdann selber den Klosterconfeß, aber für

ihre Klosterzelle wählt sie sich ein eigenes kleines Häuschen, nährt sich darin von ihrer Hände Arbeit und verschenkt den Armen, trotz des Hohnes von Seiten der Höflinge, ihre Reichthümer. Eben dasselbe thut alles Agnes zu Königsfelden, und die von ihr bewohnte Zelle, worin sie angeblich ihre Tage beschloß, zeigt man heute noch, obschon jenes Häuschen laut testamentarischer Verfügung der Fürstin nach ihrem Tode 1361 nieder gerissen worden ist. Die Urkunde darüber: Schweiz. Gesch.-Forscher 1817, 388—92. Elisabeth pflegt den Aussätzigen Eli, der nachmals in einer Felskluft der Wartburg, welche man daselbst noch immer kennt, als Einsiedler seine Tage beschließt (Bechstein, DSagb., No. 465); eben so beschließt Strebel, Agnesens einsiedlerischer Bekannter, sein Leben unfern vom Stifte in einer noch bekannten Felskluft an der Aare bei Brugg. Der andere gleichzeitige Einsiedler bei Königsfelden ist der Bruder Berchtold, der gewesene Ritter und Turniersieger von Ostringen. Dieser zieht sich gleichfalls von Agnes zurück und weissagt ihr aus der Haselstaude vor seiner Klausnerhütte die Zukunft ihres allzu prächtig aufgebauten Stiftes. Vgl. Abthl. XII: die Bruderhöhle bei Brugg, No. 501. Ein derartiger Berchtold besucht auch die Thüringer Elisabeth; er ist früher ihres verstorbenen Mannes Reisekaplan und ein welteitler Mensch gewesen; nun aber betet er mit ihr, besucht mit ihr ihre neue Kirche und tritt endlich (gleich dem Strebel der Königsfeld. Chronik) als Mönch ins Minoritenkloster ein. Elisabeth spinnt mit ihren Mägden und Nonnen Röcke für Wöchnerinnen, Hemden für Neugeborne, theilt zur Erntezeit Hemden und Sicheln aus. Ihr eigenes Hemde wird zu Köln im Dominicanerkloster aufbewahrt (Carpzow u. Menken, Monatl. Unterredung. 1698, pag. 400). Agnes hinterläßt zwar kein Hemde, sondern nur eine massive Kleidertruhe; aber sie macht Ernte- und Erntetanz-Stiftungen „und verfertigt eigenhändig viele Hemden für kleine und arme Kinder auf das Weihnachtsfest, um den armgebornen König Christus alljährlich also zu kleiden." Königsfeld. Zeitbuch, pag. 108. Da Elisabeth stirbt, erscheinen ihr viele Vögel. Als Agnesens Gemahl Andreas stirbt, vergißt unsere Chronik nicht den Beisatz: do erschinen im vil böser geisten in gstalt vnreiner vogel; dabi verstuend der küng, daz die zit hie was, daz er mit den bösen geisten stritten solt. (ibid. 2, 174.) Endlich ist der Name des Ritters von Ostringen nicht zu übersehen in der Agnesensage; er führt auf den Heinrich von Ofterdingen, der im Sängerkriege auf der Thüringer-Wartburg bereits seine sagenhafte Ritterrolle spielt.

## 55. Die Ringlisaumatte.

Im Walde zwischen Gansingen und Bütz hauset ein Ungeheuer. Gehe nur einer oberhalb der Ringlisaumatte durch das Dickicht, welches das Märsche heißt, und er wird es selbst erfahren, wie unrathsam es ist, sich zur Nachtzeit hieher zu begeben. So geschah es dreien Burschen, die hier einen Maibaum hieben, um ihn dem Nachbar, der seinen neuen Wein auswirthen wollte, vor das Haus zu stellen. Beim Heimschaffen war ihnen der Baum zu schwer geworden und sie sägten

Digitized by Google

deswegen ein Stück davon ab. Da es ihnen im Weitertragen noch nicht beſſer gehen wollte, machte ſich der eine mit dem Fluche Luft: „Ich wollte, der Teufel nähme ſich auch noch ſein Stück davon.“ Hierauf ſtand eine ſchwarze Geſtalt mit ſchimmernder Art vor ihnen und ließ dieſe klingend in den Baum fahren. Die Drei ſprangen ſich faſt zu Tode, bis ſie wieder zu Hauſe waren. Noch jetzt ſoll an jener Stelle der Boden krachen und ſtürzen, und ſchon am hellen Mittage ſchien der ganze Wald in Feuer zu ſtehen.

Der erſcheinende Waldgeiſt, der ſeine Art in die von den Holzfrevlern weggeſchleppte Tanne ſchleudert, iſt Gott Donar, er kündet ſich damit als Herrn des Waldes an. Des Waldes Herrn Recht iſt, ein Beil in den Block zu bauen: Ehſtniſch. Sprichw. in Grimms Reinh. Fuchs, cap. 14. Dieſen Hammer trägt der W. Jäger ſogar am Riemen mit ſich: Meier, ſchwäb. Sag., No. 126—131. Kirchenbauende Rieſen und Heilige verſchleudern Hammer und Beil: Panzer, bayr. Sag. 1, No. 171. 172. 2, 570. Die Erbärte auf weſtfäliſchen Bauerngütern, die Bolärte auf ſchwediſchen, der Hubhammer auf unſern den Hübnerbauern überlaſſenen Herrengütern haben das Recht auf Grund und Boden zu beſtimmen. So weit hat nach Lichtenſteiner-Weisthum der Verfolgte freies Geleite, als man über die Stadtmauer einen Beſchlaghammer links werfen kann. Tſchudi 1, 607a. Die Berner-Patricierſöhne bildeten bis Ende des vorigen Jahrhunderts die Geſellſchaft des Aeußern Standes, bei ihrem öffentlichen Umritt trug derjenige, der dabei zum Landvogt über die ſchon zerſtörten Burgen ernannt war, den Fauſthammer. Deliciae urb. Bernae. 1732. 477—79. Das weiter hierauf Bezügliche erklärt ſich „Meiſter Hämmerli“, No. 418.

---

## 56. Der Holzbirnbaum bei Lupfig und der krumme Jäger Hoperli.

Will man von Lupfig nach Wildegg hinüber, ſo kommt man auf dem kürzern Wege in der Mitte des dazwiſchen liegenden Waldes zu einem Steinbruch, bei dem in frühern Zeiten ein Holzbirnbaum ſtand, von welchem man jetzt noch mancherlei zu erzählen weiß. Wer da mit dieſen Geſchichten vertraut iſt, oder alter Dinge noch mit einer natürlichen Ehrfurcht gedenkt, der wird heute noch einen Umweg einſchlagen, wenn er in dieſer Richtung nach Wildegg ſoll, während die Aufgeklärten freilich die kürzere Strecke nehmen, dafür aber auch manchmal tüchtig erſchreckt ihr Haus erreichen. Ein Holzbirnbaum macht gewöhnlich die Hauptſache in den Erzählungen aus, die man hievon jetzt noch in den Spinnſtuben hören kann. Unter ihm verzehrte ein krummer Jäger gewöhnlich ſein Mittag- oder Abendbrod. Fraßen ihm ſeine hungrigen Hunde irgend ein geſchoſſenes Häslein an, ſo hieng 'er ſie an dieſen Baum, bis man ihr Heulen in unſer Dorf hinunter hörte. Und an dem nämlichen Baume fand man ihn

Digitized by Google

auch zuletzt todt; er hatte sich hier mit einem Stricke selbst aufgeknüpft, und weil man solche Leute nicht in geweihter Erde begraben darf, so wurde die Leiche gerade an der Stelle verscharrt. Kein Vorübergehender aber vergaß, einen Stein an den Platz zu werfen, damit der Unhold nicht gleich hervorkommen könne, wenn ihn etwa der Teufel wecken wollte. Lange war der böse Mann vergessen, bis sich einmal ein Lupfiger auf dem Wege von Wildegg her dem Orte näherte und dort einen Hasen auf drei Beinen sah. Er betrachtete ihn als einen Angeschossenen und gedachte schon ihn mit sich heim zu nehmen. Da bemerkte er mit Grauen, wie derselbe immer mehr anschwoll, bis seine Augen zuletzt so groß wurden, wie Räder eines Pflugs. Je schneller der Mann entsprang, desto polternder folgte der gedunsene Hase ihm nach bis zum Hause. Noch athemlos erzählte er in der Stube, was ihm geschehen sei; nur das Bäschen wollte nichts glauben, und schob die so große Angst des Erzählers auf den starken Wildegger-Wein. „Da ist ja überall nichts von einem Hasen zu sehen," schrie sie zum Fenster hinaus; als sie aber den Kopf zurückziehen wollte, war ihr derselbe augenblicklich so angeschwollen, daß man ihr das Fenster am Leibe zerschlagen mußte. Diese Begebenheit erweckte ein allgemeines Gemunkel unter den Leuten und obschon einige die Sache bezweifelten, so wurde doch dem krummen Jäger der Name dreibeiniger Hase von nun an allgemein beigelegt.

Nicht viel anders gieng es einem ältern Manne in seiner Neugier, ob es sich denn wirklich so verhalte. Guten Muthes hatte er sich jenem Baume genähert und traf einen langen Mann, der unbeweglich auf die Erde sah, als ob er hier etwas Verlornes suche. Mach weiter, wir wollen zusammen gehen, sprach der Unerschrockene. Aber vor seinen Augen war der Schwarze verschwunden und jetzt verirrte er selber sich auf dem ihm wohl bekannten Wege so ganz, daß er ganz gewiß nicht mehr heim gefunden hätte, wenn die über sein Ausbleiben beängstigten Söhne nicht noch in später Nacht aufgebrochen wären, ihn zu suchen. Drei Tage lang lag er mit gedunsenem Mund und geschwollenen Augen zu Bette, und konnte vor Heiserkeit keine Frage der Seinigen beantworten. Durch dieses ward die Sorge des Dorfes von Neuem geweckt und man beschloß, damit es doch endlich Ruhe gebe, den Baum umzuhauen. Aber wie übel bekam es den Leuten, die von der Gemeinde dazu gedungen wurden. Während ringsum das Gebüsche unbewegt in der ruhigen Luft stand, schüttelte ein Brausen die Aeste dieses Baumes. Den Arbeitern sprang die große Waldsäge ab und wo man mit der Art hintraf, war das Beil stumpf und ein blutrother Saft quoll nach.

Digitized by Google

Nur mit Hilfe der dazu berufenen Kapuziner von Baden gelang es, den Baum weg zu schaffen. Aber mit allem diesem war der Krumme noch nicht vertrieben und es gieng zum Theil noch ärger als vorher; denn nun wurden die Leute nicht nur bei Holderbank und im Lupfiger-Walde von ihm beunruhigt, er verließ jetzt öfter seine Steinhaufen beim Baumstrunk und kam vom Felseli und vom Steinbruch mit solchem Lärmen herab ins Dorf, daß man des Nachts nicht mehr schlafen konnte.

Im Spätherbste ist es gerade ein Jahr, da kam ein fremdes Weibsbild aus dem Lenzburger-Amt von Holderbank her über die Berge zu uns ins Dorf und setzte sich zitternd und athemlos auf die Fensterbank des ersten Hauses. Die Leute fragten sie, ob sie etwa gar der Hoperli habe nehmen wollen? Da erzählte sie von Haus zu Haus, was ihr oben begegnet sei. Als Spinnerin habe sie Arbeit gesucht droben auf dem Kernenberger-Hof, und kaum habe sie die Höhe erreicht gehabt, als ihr von der Lupfiger-Seite über den Berg her ein Mann entgegen stieg. Er habe weite Fluderhosen, ein langes rothes Wamms, einen grünen langschwänzigen Rock und auf dem Kopf einen Nebelspalter getragen. Eine Flinte habe sie nicht an ihm bemerkt, aber aus dem abscheulichen Gesichte seien die großen Schaufelzähne so gelb hervorgestanden, daß sie vor Schreck starr, kaum von der Stelle zu kommen vermochte.

„Ich will weiter, es muß sein", schrie sie, und mit einem Anlauf sprang sie über Stock und Stein, so schnell sie nur immer konnte, gegen Lupfig hin, während der krummbeinige Mann mittagwärts über den Berg wankte und höhnisch und fürchterlich hinter ihr her schrie: „Ho, hop! Hu, hu!"

Obschon jetzt die Rede geht, er sei neuerdings von den Kapuzinern in eine Flasche gebannt und unter einen Felsen geschoben worden, und wenn auch die jüngern Leute vom krummen Jäger überhaupt nichts mehr wissen wollen, so hört man ihn doch allemal hopen, das Jagdhorn blasen und hinter dem Dorfe hinab ziehen, so oft sich der Mond erneut, dann schlagen auch die Hunde in der ganzen Nachbarschaft an, als ob sie mit zur Jagd müßten.

Den aus den Bäumen geschaffenen ersten zwei Menschen Askr und Embla verleiht Gott Lodhr Blut und Farbe. Entsprechend dieser Lehre von der Schöpfungsgeschichte des Menschen ist es, daß man den Baum als Stammbaum verehre und seiner Säfte schone, wie man des eigenen Lebens und Blutes schont. Es gab daher und giebt noch immer solcherlei geheiligte Bäume, welche vorzugsweise als Blutbäume gelten. Die Biographie des hl. Barbatus von Benevent (Geschichtschreib. d. deutsch. Vorzeit, 249) kennt den Blutbaum (Sanguineum), den die Langobarden vor den Thoren von

Digitized by Google

Benevent in die Wette umritten, bis ihre Rosse bluteten, und der Ort, wo er gestanden, trug noch lange nachher davon den Namen Wodam (statt des falsch geschriebenen Votum der Handschrift). Odhinn aber war selbst an der Esche gestorben, wie auch der indische Krischna, der menschgewordene Gott, am Baume stirbt. Dadurch wird Tacitus Wort, Germ. 39, über jenen heiligen Hain so werthvoll, in welchem die Semnonen den Ursprung ihres ganzen Stammes sahen: initia gentis; eoque omnis superstitio respicit. Dieser blutschwitzende Baum dauert in Brauch und Glauben fort. Unsere Sammlung enthält dafür vielfache Angaben in Abthl. II, besonders No. 75, das Kind und die Blutstropfen. Ehemals soll auf dem Umhauen bestimmter Schutzbäume in manchem Gebirgsthale der Schweiz Kapitalstrafe gestanden haben; so z. B. waren die Arven und Tannen im Urserenthale „gebannt", d. h. gefreiet vor dem Arthieb, weil sie, wie noch Schillers Tell angiebt (Act 2, Scene 3), unter dem Beile geblutet haben würden. In der Gemeinde Celerina im Ober-Engadin wird alljährlich aus jeder Familie eine Person vor die Waldgäumer gestellt und eidlich befragt über ihre und anderer ihr bekannt gewordene Vergehen und Frevel am Bannwald. Sammler für Bünden 1806, Heft 4, 308. Lieber, hau mich nicht um! sagt ein Waldbaum zum norwegischen Bauern, und Blut quillt aus der Wurzel, da es doch geschieht. Püttmann, nord. Elfmär., pag. 68. Ein Baum blutet beim Dolchstoße: Schöppner, bayr. Sag., No. 283. Die Blutlinde zu Burg Freienstein, bei Wiesbaden, hat eben so ihren Namen erhalten, Bechstein, DSagb., No. 72. Als die preuß. Ordensritter die hl. Eiche zu Romove fällten, wich lange das Blut von jenem Platze nicht. Temme-Tettau, preuß. Sag., No. 15. Ein Baum schwitzt blutige Thränen: Kuhn, nordd. Sag., No. 122. Wie ihn die Gallier schon mit Blut düngten (Lucan. Pharsal. 3, 409), so geschieht es jetzt noch bei uns, und J. v. Muralt (Hippocrates helvet., Basel 1692, 130) räth Rinderblut dazu zu nehmen. Die auf dem Irchel bei Stammberg (Kant. Zürich) so berühmt gewordene Blutbuche hatte um Pfingsten ihr eigenes, von Tausenden besuchtes Fest. Scheuchzer, Natur-Gesch. 1746. 1, 2. Ihretwegen war die uralte Kirche zu Embrach gebaut worden. Hottinger, Antiquit. Turic. 1737, 363. Helvet. Almanach 1814, 117. Der Baum, als das Schicksal und das Ende der Welt bestimmend, verräth sich noch in einer gangbaren Frickthaler-Redensart; mißräth da die Obsternte mehrere Jahre nach einander, so heißt es: „die Art ist schon am Baume", der jüngste Tag wird anrücken.

Steine an den Ort niederzulegen und anzuhäufen, den man für geweiht oder für gefährlich hält, den man damit gemieden oder besucht machen will, das ist ein in unserer Sammlung ofters wiederkehrender Brauch. Abthl. II, No. 52, Dornstrauch zu Oberkulm. No. 53, Linde von Linn. Abthl. VIII, No. 386. Ein ganzer Haufen solcher „Schleifsteine" wird erst neuerlich entdeckt: Abthl. III, No. 114, Schloßmusik der Homburger. — Bräuche solcher Art sind mehrdeutig, dies verräth sich aus nachfolgenden Angaben. Tiroler-Kinder im Burgeis pflegen, wenn sie im Frühjahr die Alpe ihres Dorfes wieder besteigen, einen Stein von einem bestimmten Steinhaufen aufzunehmen, anzuspucken und ihn mit den Worten wieder hinzulegen: ich opfere, opfere den Wilden-Fräulein. Wolf, Ztschr. 2, 61. In Westfalen legt man Baumzweige an derlei Stellen nieder. Woeste, Volksüberlief. 46, No. 19. Damit der im Heidenglauben verstorbene Obrist

Digitized by Google

recht tief in die Erde zu liegen komme, mußte jeder zu Aholfing Neuverheirathete eine Fuhre Schutt auf dessen Grabhügel fahren. Panzer, bayr. Sag. 1, 100 a. Im welschen Alpengebirge nennt man solcherlei von den Wanderern einzeln zusammen gelegte Steinhaufen Marronnes, im Deutschen heißen sie Mannje, Steinmandli; sie dienen in den Schneefeldern der Alpenpässe als Wegweiser. Die zum Aufsuchen Verirrter bestimmten Diener des Hospitiums am Bernhardin heißen nach diesen im „Todtenthale und am Todtenberg" errichteten Steinhaufen Marroniers. Pott, Etym. Forsch. 2, 589 hält letztern Namen für keltisch, denn Maro (Virgils oberitalienischer Name) hätten keltisch diejenigen Führer geheißen, welche Reisenden durch den Schnee halfen. Strabo 3, 1. pag. 138 redet von solchen Steinen, die am Herkulestempel des Vorgebirges Cuneus zu gottesdienstlichen Zwecken aufgehäuft lagen und dortiger Sage nach von Jeglichem, der das Land als Fremder betrat, umgewendet werden mußten. An der baskischen Grenze Galiciens trifft man ebenfalls noch solche große Steinhaufen an, und jeder nach Arbeit ins übrige Spanien auswandernde oder heimkehrende Galicier muß einen weitern Stein dazu legen. Hierin mag ein Ueberrest einer jetzt nur anders gedeuteten oder angewendeten Sitte verborgen sein. W. v. Humboldt, Gesam. Werke 2, 176. Eben solche Steinhügel, die jeder Vorübergehende mit vergrößert, in Schlesw.-Holstein und in Schottland: Müllenhoff, pag. 125. Ueber diejenigen Felsen, unter denen die landschaftlichen Zwerge wohnen, ist die Rede in Abthl. V, No. 205.

## 57. Wildhans am Kestenberg bei Birr.

Der lange, mit schönem Buchenwalde bedeckte Kestenberg trägt auf seinem westlichen und östlichen Ende die zwei Schlösser Wildegg und Brunnegg. Zwischen inne hat ein gespenstiger Jäger seine Weidbahn, den man den Wildhans von Wildegg nennt. Er hängt seine Hunde an die Bäume, um sie mit Riemen zu hauen oder Hungers sterben zu lassen, so oft sie die Fährte verloren haben. Dann hört man ihr Gewinsel bis ins Dorf Birr hinab. Aus Wuth erhieng er sich selbst an einer Eiche. Erst nach langem Suchen fand ihn der Schloßherr, vom Winde in den Zweigen hin und her geschaukelt; sogleich befahl er den Baum zu fällen. Aber Blut quoll unter dem Arthiebe heraus und rothe Adern durchzogen den ganzen Stamm. Da verbrannten die Leute den Stamm sammt dem Leichnam.

## 58. St. Burkhard im Balken.

Der heilige Burkhard, dessen Grab noch im Freienämter-Dorfe Beinwil verehrt wird, soll sonst in einem Jägerhause bei Muri gewohnt haben. Dies beweist man jetzt noch in dem Weiler Längenmatt, einen Büchsenschuß von Muri entfernt. Da sieht man eine alte

Digitized by Google

Scheuer, welche schon vor langen Zeiten renoviert und außen mit dem Bilde des Heiligen bemalt worden ist; innen aber zeigt man einen alten Balken her, einen Schuh lang, welcher der Ueberrest von des Heiligen Wohnhaus sein soll. Wollte man ihn von da entfernen, so würde der Gegend Gefahr drohen.

Einhard in seinen Annalen erzählt und ihm nach Adam von Bremen l. 1. c. 8, „die Sachsen hätten einen hölzernen Pfahl verehrt von ungemeiner Höhe, der unter freiem Himmel aufgerichtet war und den sie in ihrer Landessprache Irminsul nannten, das aber heiße Allsäule, weil sie gleichsam das Weltall trage". Die zwölf Hauptbalken im Upsalatempel deutete man gleichfalls auf die Zwölfzahl der Asen, und in den altnordischen Wohnhäusern waren die Balkenköpfe am Hochsitze in Götterbilder ausgeschnitzt. Dies ist ein noch geltender Volksglaube. Es ist daraus unsere Hochstud geworden, welche weissagt, Glück und Unglück bringt, Wohnung der Geister ist und Schätze birgt. Entsprechend unserm hl. Burkhard, dessen Balken noch in Ehren steht, wird ein ähnlicher Eichenbalken in der Kapelle bei Rollbach vorgewiesen. Herrlein, Speßbarts Sag. S. 259. Und wieder ein solcher wird in der Münchner-Frauenkirche (Schöppner, bayr. Sag. 1, No. 453) unter dem aus 1400 Flößen bestehenden Dachstuhl der Kirche hergezeigt und man soll rathen, wo dieser Balken hier noch hin gehöre. Solche Balken darf man ohne Gefahr für Haus und Umgegend nicht entfernen. Trüge man das unverletzliche Reinacherhaus ab, so bräche daraus ein Unheil übers ganze Thal hervor (Abthl. II, No. 63); hiebe man den Klingnauer-Pfahl um (Abthl. II, No. 62), so käme der Schwarze los. Da man des Geiserfriedels Haustrümmer an ein neues Gebäude verwendet, entsteht gespenstische Brunst (Abthl. IX, No. 380). General Werdmüller von Zürich starb 1677 als kaiserl. Feldmarschall in Villingen. Auf seinem Landgute Au am Zürich-See hatte er sich eine Schmiede zu seiner Unterhaltung eingerichtet. Noch lange nach seinem Tode behauptete das Volk, man dürfe darin einen bestimmten Holzblock nicht von der Stelle rücken, ohne nicht großes Unheil für die Umgegend mit anzurichten. Helvet. Kalender 1796, 62. Dieser Glaube stützt sich auf mehrfache Gründe. In Balken und Bäume ist die Pest gezaubert, in Balken und Bäume sind also auch Geister und Dämonen verwünscht. Die Paulwirthin in Durlach ist zwischen drei in den Boden geschlagene Pfähle gebannt. Schnezler, bad. Sagb. 2, 360. Die Einwohner des Berner-Dorfes Jolimont behaupten, in den Eichen des nahen Foserenwaldes lebten Heren. Jahn, Kant. Bern, 308. Bei der Breitenberger Kirche findet sich ein alter Hausbalken, aus dem zu gewissen Zeiten Blutstropfen hervor quellen und nieder fallen. Müllenhoff, Schlesw. Holst. Sag. pag. 143. Man zeigt in der Gegend bei Tondern viele Pfähle, worunter Wiedergänger gebannt sind, und hütet sich sie anzurühren. ibid. pag. 196. — Am Walbloche unter der Dachfirst wohnt der Geist in Hornußen, vgl. No. 369. Der Wilde Jäger (No. 340) verschwindet regelmäßig hinter der Scheiterbeuge. In dem morschen Balken der Sennhütte auf der Ruine Ramstein (Baselland) wohnt das Burgfräulein und ihr Jäger, und da man den Balken verbrennt, so wiederholt sich dorten alle zehn Jahre der Rinderfall (Abthl. II, No. 61). Zugleich sind solche Balken auch die Glückssymbole des Hauses und Landes, mit ihrem

Digitized by Google

Verbrennen ist der Wohlstand dahin. Deshalb wird der Dachstuhl von Koschewitzens Haus (Abthl. IX, No. 371) vom Gebirge ins Dorf herunter getragen und neu verbaut. Durch einen bloßen Bettpfosten (Abthl. V, No. 223) ist ein Holzhaus bombenfest. Ein solcher Glückspfahl wird dann zum gerichtlichen Symbol; er wird auf dem Amte Neuenhagen aufbewahrt, zum Zeichen, wie weit derselbe einst die Landesgrenze abgesteckt habe. Kuhn, Märk. Sag. No. 771. Weil die Götter als Balken gedacht werden, so läßt der Aberglaube die Heren sich in Reiswellen wandeln und die Herenmeister sich in Baumstämme: No. 160. 371. Die Meleagersage gründet sich hierauf: „die Seele nimmt — Abschied vom Leben — die Funken beben — das Scheit verglimmt." Platens Gedichte in Einem Bande. 1839, pag. 68.

---

## 59. Der Hausgeist im Brandbalken.

In Tägerig, unweit Mellingen, brannte ein Strohhaus ab. Das Brennholz des nieder gerissenen Gebäudes kaufte ein Mann aus der Umgegend an, um es nach seiner Wohnung heimzufahren. Nun gilt der Glaube, daß man niemals alles Holz zusammen von einer Brandstätte wegnehmen dürfe, weil man sonst leicht auch den Hausgeist mit sich brächte, welcher stets in dem Reste zurückbleibt, den man ihm auf der Baustelle liegen läßt. Dieses wußte zwar der Käufer, aber von Geiz getrieben ließ er's diesmal außer acht. Beim Wegfahren von der Brandstätte maß er noch einmal seine volle Ladung und fragte befriedigt den Knecht: Jetzt haben wir wohl Alles? Eine Stimme von der Landwied her erwiederte schnell darauf: Jo, fahret numme zue, i sitze scho ûf der Landwidd hinde.

Der Nißpuk wohnt im Dachbalken. Müllenhoff, Schlesw. Holst. Sag. No. 451. Als man zur Vermeidung seiner Bosheiten ein anderes Wohnhaus bezieht, setzt er sich der Magd in den Besen und zieht so mit um. ibid. No. 449.

---

## 60. Der Opferstock in Stüßlingen.

Ein kleines Solothurner-Dorf zunächst an der Aargauer-Juragrenze erzählt von einem seiner Ortspfarrer, er habe aus der Sakristei einen goldenen Kelche geraubt und sei dafür von einem Oltener Mönche in den Opferstock der Stüßlinger-Kirche bis heute gebannt. Des Nachts nun bricht er winselnd aus diesem Holzkasten durchs Blechloch hervor, mischt am Altare die consecrierten Dinge durch einander, zerreißt die Evangelienbücher und die aufgepflanzten Kirchenfahnen. Die dortigen Pfarrherren kennen den Grund dieses Unfuges wohl, weder wissen sie aber ihm zu steuern, noch getrauen sie sich aus Schamgefühl den eigentlichen Thäter zu nennen.

Digitized by Google

Der Opferstock ist hier Stellvertreter geworden eines geheiligten Baumes, der einst auf der alten Opferstätte stand und seinen Tempelschatz besaß. Die hohle Eiche zu Kloten, deren Stamm im Umkreis 33½ Werkschuh maß und in deren Höhlung vier Weiderosse Schatten vor der Mittagshitze fanden (Bluntschli, Memorab. Tigur. 1742, 69) galt noch im vorigen Jahrh. als Opferbaum der Heidenpriester, wie Diakon Ott von Zürich in seiner 1742 darüber veröffentlichten Schrift zeigte. Ihre Standstelle heißt jetzt die Schatzhalde. Wenn der Cultus sich vom Baum abwendet und dieser gefällt ist, so bleibt der Baumstamm noch Symbol des Cultus, endlich der daraus gezimmerte Opfer- und Bildstock, zuletzt ein heilkräftiger Span, den man davon abschneidet, ein Splitter, mit dem man Zahn- und Kopfweh stillt.

## 61. Die Ramsteiner Verwünschten.

Die Ruine der Burg Ramstein ist zwischen den Jurapässen Oberhauenstein und Paßwang beim Dorfe Bretzwil in Baselland gelegen. Ihre Trümmer haben zur Errichtung von ein paar Sennhütten gedient, von denen jedoch ebenfalls nur noch eine übrig ist. Die ältere mußte wegen dauernder Viehseuchen verlassen und endlich ganz niedergerissen werden. Die Veranlassung dazu war folgende. Da man einst eine Wand dieser Hütte veränderte, kam bei Ausbrechung eines Balkens plötzlich eine Jungfrau nebst einem Hündchen mit aus der Wand hervor und bat die Arbeitsleute dringend, man möchte diesen Balken zu einem Altar verwenden und sie auf diese Weise von ihrer Verwünschtheit erlösen. Ich bin, sagte sie, die Tochter des Schloßherrn da droben gewesen, und dieses Hündchen hier war unser Jäger, der mich entführte. Auf meiner Flucht entschlief ich vor Müdigkeit unter einem Baum, so betraf uns der nacheilende Vater und bannte uns mit seinen Verwünschungen in denselben; der Balken da ist es, den ihr eben aus der Wand gebrochen habt.

Die Zimmerleute wußten in ihrem ersten Schrecken nichts anderes zu thun, als ein Vaterunser zu beten und schnell setzten sie dann den Balken wieder an seinen alten Platz zurück. Mit fürchterlichem Gekrache stürzten auch die beiden Gestalten in ihren Winkel nach. Andere Erzähler behaupten hier, man habe den Balken nicht wieder in die Wand zurückgethan, sondern ihn gleich in das Feuer geworfen, welches zum Kalkbrennen eben angemacht war. Aber schon am Morgen darauf lagen die schönsten Kühe des Sennen todt im Stalle, jede hatte, als man sie abzog, einen großen schwarzen Flecken unter der Brusthaut, sonst war ihnen nichts anzumerken. Von nun an wiederholte sich dieser Rinderfall, den man den Angriff nannte, alle zehn Jahre und oft sah man auch eine weiße Gestalt, der ein Hündchen nachlief,

Digitized by Google

durch die Scheune ziehen. So brach man zuletzt das gefährliche Sennhaus ganz ab.

(Ausführlicher und mit andern Verumständungen erzählt's: Schweiz. Merkur 1835, 311.)

Die Familiengeschichte der Ramsteiner ist ein Verbrecherroman. Der letzte Freiherr von Ramstein, Rudolf († 1459), hielt Haus mit einer Dirne, die Freifrau ward eines Grafen Buhlerin. Rudolfs natürlicher Sohn war der berüchtigte Strauchritter Pfefferhans. Bei Hapfen fiengen ihn die Basler Stadtknechte, der Magistrat ließ ihn 1445 ertränken. Von Rudolfs drei Töchtern war die eine verheirathet an den grausamen Thomas von Falkenstein, der die Mordnacht zu Brugg veranstaltete; sie mußte fliehen und sah ihr Schloß zu Gösgen in Feuer aufgehen (Abthl. XII, Thomas v. Falkenst. verbrennt Brugg). Die beiden andern Töchter stahlen dem Vater das Silbergeschirr, entflohen als die Entführten ihrer eignen Leibeigenen nach Breisach, ihre beiden Buhlen starben am Galgen, sie im Kloster. Joh. v. Müller 4, 123. Lenggenhager, Schlösser v. Baselland 1848, 100. Und gleichwohl waren die Ramsteiner einst so berühmt gewesen, daß selbst Cervantes im Don Quixote 1, Kap. 49 eines zu Basel turnierenden Ritters aus diesem Geschlechte gedenkt, den er nur etwas hispanisch Moses Heinrich von Remestan nennt.

---

## 62. Der Schwarze im Pfahl

wohnt zu Klingnau an jener verödeten Stelle, wo das alte Stammschloß der Herren von Klingen gebaut gewesen ist. Da steht nämlich zwischen dem Kalkgerölle unterhalb der Felswand der Rebberge ein morscher Pfahl, der längst keinen Zweck mehr hat. Dennoch hütet man sich, ihn umzubrechen; sonst käme der Schwarze, der in ihn gebannt ist, wieder los und ins Städtchen herab.

---

## 63. Das unverletzliche Reinacher Haus.

Als den Rittern von Reinach ihr Thurm abgeschossen wurde, zogen sie vom Berge ins Dorf herunter und bauten sich ein Haus, das sich von den übrigen Bauernhäusern durch nichts als durch einen stumpfen Schneckenthurm unterschied. Dieser wurde nach ihrem völligen Erlöschen abgetragen und ihr Wohnhaus verkauft. Nun sind nur noch Trümmer davon übrig, diese aber bleiben unvertilglich. Vor einigen Jahren erschien dorten am frühen Morgen ein fremdartiger Mann; der Bauer, der ihn zuerst erblickte, starb rasch. Die Leute deuteten es sogleich auf ein bevorstehendes großes Sterben. Drum schont man die Ueberreste jenes Hauses und meint, beim gänzlichen Abbruche desselben würde daraus ein Unheil über das Thal hervorbrechen.

Digitized by Google

Die sogen. Peſtſteine an der Mauer der Stendaler-Domkirche, die aus dem J. 1682 ſtammen, darf man ohne Gefahr für die Stadt nicht entfernen. Volksſag. der Altmark. Tangermünde 1844, Heft 1, 62. Schiller, Briefw. mit Göthe, 9. Dez. 1794 ſchreibt: Meiner Frau iſt es noch erinnerlich, davon gehört zu haben, daß in Baireuth bei Oeffnung eines alten Gebäudes die alten Markgrafen ſich hätten ſehen laſſen und geweiſſagt hätten.

## 64. Der Bann und ſeine Löſung.

Geſellen ſitzen im Wirthshauſe. Einer von ihnen verſichert, jeden Kameraden auf die Schenkbank feſtbannen zu können. In der That, ein dazu Bezeichneter vermag alsbald nicht mehr aufzuſtehen. Dieſer zieht aber nun ſeine Schlarpen (Halbſchuhe) ab, die an den Abſätzen in Hufeiſenform tüchtig genagelt ſind, und ſchlägt die Stöcklein gegen einander. Dadurch hat er den Bann gelöst und kann wieder aufſtehen; er hat aber damit auch dem Banner das Handwerk gelegt, „er bet em derfür tho“, denn dieſem ſpritzt im ſelben Augenblicke das Blut aus den Ohren.

Andere können ſich ſo feſt machen, daß ihnen auch ein Stich nichts thut. Mein Vater hat es aber einem ſolchen auch gelöst; er hat nichts beſonderes zu machen gebraucht und ihm nur mit der Fauſt einmal unter das Kinn geſchlagen.

Auch die Bäume werden in Bann gethan. Wer dann einen ſolchen beſteigt, kann nicht mehr herunter, bis ihn der Meiſter ſelbſt herunter kommen heißt. Geſchieht das nicht vor Sonnenauf- oder Untergang, und gelingt es dem droben nicht, Erde aufzunehmen oder die Schuhe zu wechſeln, ſo wird er brandſchwarz. Davor warnt ein Kinderreim:

Gang nid a's Lunzi's Oepfelbaum,
Gang nid a's Lunzi's Tanne,
Er heig en Hexeſpruch im Sack
Und chönnt di anebanne.

Krankheiten werden in Bäume verwünſcht (transplantiert). Zur Zeit, als die Cholera gegen den Oberrhein anrückte, ſah ein Luzerner-Knabe ein blaues Räuchlein in das Aſtloch eines Waldbaumes ziehen; er ſchneidet ſich ſchnell einen Zapfen und vernagelt damit das Loch. Der Knabe kommt ſpäter in die Hände der Werber, wird in den Italienerkrieg geſchickt und bleibt mitten in der dorten ausbrechenden Seuche geſund. Als er ſpäter wieder heimkehrt und ſein elterliches Gut übernimmt, haut er beim Holzfällen im Walde auch jenen Baum ſelbſtvergeſſen mit um. Sein ganzes Geſchlecht iſt alsbald ſammt ihm ausgeſtorben. Dies erzählt man zu Buttwil im Freienamte. (Aehnlich aus dem Voigtlande: Bechſtein, DSagb. No. 573.) Vgl. S. 64.

Digitized by Google

Gebannt und in der Irre bleibt man, wenn einem beim Gehen durchs Waldgras Farnsamen, Wegetritt, Irrkräutlein hängen bleibt und so mit abgerauft in den Schuh hinein fällt. Man muß deshalb den Schuh wechseln, ausklopfen, über die Achsel werfen, mit dem Absatz zusammen schlagen; nach des Zaubersamens Entfernung schwindet die Verblendung. Verreist eines deiner Angehörigen, so vergiß nicht, ihm einen Pantoffel oder den Schuh am rechten Fuße nachzuwerfen. Erin, 6. Abthl. II, 445. Das Bannen der Bäume und den Tod des Feindes, wenn man ein von ihm beschädigtes oder ein mit ihm aufgewachsenes Bäumchen in den Rauch hängt und verdorren läßt, kennt die Edda; Odhinn berühmt sich dessen im Havamal, Str. 152 (Simrock, Uebers. S. 93):

Ein sechstes kann ich:
So wer mich versehrt
Mit harter Wurzel des Holzes:
Den Andern allein,
Der es mir anthut,
Verzehrt der Zauber,
Ich bleibe frei.

---

## 65. Der Heine auf dem Steinbühl bei Baden.

Man glaubt unter Heine's Bekannten allgemein, daß er sich trefflich aufs Bannen verstehe. In seiner Nähe gab's einen jungen Burschen, der gar arm war; er hatte beide Eltern verloren und schaffte jetzt Jedem um Lohn. Der Heine nahm ihn und gab ihm viel Arbeit. Das war zur Zeit der Kirschenreife, da wässerte dem armen Schelmen das Maul und er erstieg einen Kirschbaum. Droben lehnte er sich mit dem Rücken an den Stamm und leerte seinen Ast. Als die Lust gestillt war, wollte er freilich gleich wieder zur Hacke hinunter; aber es gieng nicht; der Rücken saß ihm wie angewachsen am Stamme fest. Er hatte sich schon eine gute Weile abgezappelt, da sah er zum größten Schrecken den Heine selbst heran kommen. Sind die Kirschen gut? fragte dieser etwas höhnisch in das Laub hinauf; fuhr aber gleich mit geänderter Stimme lächelnd fort: Ei du bist's ja, Lorenz? Nein, nein, da steig nur herab. Aber wahrhaftig, wär's ein Anderer gewesen, ich hätte ihn droben, bei Gott! — hier unterbrach er sein allzuhitziges Selbstgeständniß und setzte dann sich selber corrigierend hinzu: vor den Gemeinderath geführt.

Der Spielhansl (Grimm, K. M. No. 82) bekommt nebst andern Wunschdingen von dem bei ihm einkehrenden Gott einen Baum geschenkt, der allerlei Obst trägt und jeden Fremden, der ihn besteigt, so lange festhält, bis Spielhansl ihn wieder erlöst. Langbein hat es als eine österreich. Volkserzählung bedichtet „Philemon." Ein Fischer ist's in J. W. Wolfs Rodenstein und Schnellert, No. 16, der den abholenden Todesgott auf den Birnbaum hinaufzaubert. In die Holzbirnen gehen, bedeutet als aargau. Volksrede ster-

Digitized by Google

ben. Laubrise und Birnenfall als gesetzlicher Termin: waß über die neunte laubrißi ohne rechtliche ansprach sich erstreckhen thuet, sol niemandt kein recht mehr gehalten werden. Klingnauer-Gerichts-Ord. Hds. aus dortigem Stiftsarchiv. In ähnlicher sinnlich poetischer Weise wird die Lebensfrist berechnet: Eb der Nussbaum Birli treit, träg ich um mî Schwiegeri leid. Aargau. Kinder-Spr. No. 245. Eben so im Renner, 24344: Seht als muezzen wir von hinnen alle scheiden nach der birn valle. Deshalb steht auf dem Walser Felde jener verhängnißvolle Birnbaum, nach dessen Dürren und Grünen sich des Vaterlandes Zukunft bestimmt, und einen gleichen kannte man einst auf dem Kiffhäuserberge. Ueber ihn heißt es in Gregorii Topographia, Frankf. 1715, 537: „Unten am Berge ist ein Birnbaum zu sehen, dessen Wurtzel gleichsam petrificiert ist. Insgemein sagt der Gemeine Mann, der Kayser Fridericus habe in dem Dorf Tille sein Hofflager, auff Kiffhausen seine Kantzley, auf der Rothenburg seine Hoffräthe, zu Kälbra das Vorwerck und zu Roßel die Studterey gehabt.“ — Fizzbirrlibaum hieß der auf der Waldhöhe ob Bremgarten an der Reuß stehende, wo man es zum Landgericht heißt. Bis hieher wurden die zum Tode Verurtheilten vom Henker mit Ruthen gehauen (gefitzt), dann bis zum Galgenhau geführt und aufgeknüpft.

## 66. Der Langstieler-Baum in Husen.

In Husen gieng vor wenig Jahren ein junger Mann am Vorabend vor Allerheiligen im Mondschein auf den Acker, um noch vor eintretendem Froste seine weißen Rüben heim zu holen. Als er im Rückweg über die sogen. Plätze unter dem großen jetzt noch stehenden Langstielerbaume (Namen einer rauhen Birnenart) vorbeigieng, hörte er ein furchtbares Tosen und Krachen über sich auf dem Baume. Von Schrecken und Angst ergriffen, vermochte er kaum die unbedeutende Last bis nach Hause zu tragen. Böses war ihm sonst nichts widerfahren, als daß er am Morgen einen nicht wenig geschwollenen Kopf hatte.

## 67. Der schwarze Eichmann in Wohlen

wohnt auf einer alten Eiche, die an der Wohlener-Straße beim Oberdorfe steht; er steigt manchmal vom Baum herunter, um einen Wanderer zu verjagen oder weit umzuführen.

## 68. Der Suchelis am Kirschbaum.

Auf der Pfaffenhalde bei Boniswil am Hallwiler-See stand bis in die letzte Zeit ein Kirschbaum von hohem Alter. So oft man bei ihm Nachts vorübergieng, sah man einen Mann dahinter, der gegen

Digitized by Google

Jeden die Hand vorreichte. Achtete man sein nicht, so sprang er rasch hervor, lief der nächsten Hecke nach und verschwand. Sah man sich aber nach ihm um, so blieb einem der Hals verdreht. Auch als Dorn hieng er sich einem Weibe in die Jüppe und als sie ihn aus dem Kleide riß, mußte sie's mit einem geschwollenen Kopfe büßen. Seit man den Baum umgehauen, ist auch jene Stelle frei; allein eben so lange schon sitzt im Keller des nächstgelegenen Hauses nun ein schwarzer Hund auf einer Kiste und heißt wie der längstverstorbene Ahnherr jenes Hauses, Suchelis.

---

## 69. Der Apfelbaum an der Sarmenstorfer Einsiedelei.

Die kirchliche Verehrung, welche die drei Angelsachsen seit alten Zeiten in den Freienämtern genießen (No. 474), wollte sich im vorigen Jahrhundert ein listiger Waldbruder zu nutz machen; er hieß Haigeli und war aus Schwaben gekommen. Bei der St. Wendelinskapelle ob Sarmenstorf baute er sich am Saume des Buchenwaldes ein mit dieser Kapelle verbundenes Haus, verschaffte sich Reliquien, die er für den Leib des heil. Firmanus ausgab und eröffnete damit eine neue Wallfahrt, die ihm viele Gaben und Geschenke eintrug. Mit der zunehmenden Andacht der Leute wurde sein Lebenswandel immer schlechter. Seine Klause barg allerlei Waffen; nicht bloß das Wild, auch allerlei Dirnen jagte er im benachbarten Walde. Die Tagsatzung zu Baden hatte darüber bereits eine Untersuchung anstellen und ihn verwarnen lassen; er fuhr jedoch in seinem freien Leben fort, vergrößerte seine Zelle und berief sich bei allem auf ein ihm vom Fürstabt zu Einsiedeln hiefür ausgestelltes Patent. Auch als das Konstanzer-Bisthum ihn hierauf aus dem Lande wies, wendete er sich noch an Landvogt und Geistlichkeit und versicherte, wie man nur mit höchstem Frevel die Aechtheit des von ihm ins Land gebrachten Leibes des heil. Firmanus bezweifle, daß aber Gott nun durch ein Wunder dieses zu bekräftigen die Gnade haben wolle. Trete der Himmel selber ins Mittel, so werde man ihn gewiß sein Leben ferner in dieser Einsamkeit verbringen lassen. Zum Zeichen dessen werde in dieser laufenden Winterszeit und zwar schon am nächsten Sonntagsmorgen der alte Apfelbaum vor der Wendelinskapelle voll Blätter stehen. Man that, als ob man noch auf diese Probe eingehen wolle. Am Sonntag vor Tagesanbruch schickte der Sarmenstorfer Pfarrer seinen Sigrist Stutz hinauf, um nachzusehen, wie es mit dem versprochenen Wunder stehe, und wirklich fand der Sigrist den Baum ganz belaubt. Mit dieser Nachricht war dem Pfarrer und den Gemeindevorstehern wenig gedient; schleunig

gieng man daher noch im Zwielicht hin, hieb den Baum um und schaffte ihn so auf die Seite, daß man nirgend eine Spur mehr davon anzugeben wußte. Nun wurde der Eremit aus dem Lande getrieben. Pfarrer aber und Sigrist nebst den Uebrigen, welche den Baum mit umgehauen hatten, bekamen dafür von Stunde an entzündete Augenlieder, die berstend sich stülpten.

Was hier vom Einsiedler und seinem Wunder berichtet wird, erzählt die Kaiserchronik ed. Diemer 1849 pag. 65. Vers 12 von dem heidnischen Zauberer: in hulzinen sulen machet er di sel, daz di lute wenent, daz si leben. alte ronen hiez er beren Von einem Apfelbaum in der Grafschaft Katzenelenbogen, unweit dem Flecken Tribur, wird erzählt, daß er in jeder Christnacht Aepfel trage. M. Zeiler im Itinerario Germaniae, und Einhundert Gespräch (7. Th.) 18. Dialog. Ulm 1653. Er trägt zugleich Blätter, Blüthen und Früchte: Wolf, hess. Sag. No. 214. — Solche Früchte heißen Dräutleinsäpfel, und der Baum Dräutsapfelbaum. Wolf, Ztschr. 1, 106. Der Name deutet entweder auf die hl. Gertrudennacht oder auf unsers Herrn (trohtin) Geburtsnacht, wie denn auch Odhinns Beiname Thrudr ist. In dieser Nacht schüttelt man die Kinder von den Bäumen, vom Baume das Brod, von den Reisern die Bretzen, und Aschenputtel schüttelt sich zugleich die prächtigen Kleider mit herunter. Es ist die Wunschnacht, in welcher der Wunschbaum blüht, an den auch die Inder glauben (Myth. 1228). Obige Sage erinnert sich dieses Glaubens nicht mehr und schiebt deshalb alles auf einen Betrüger, wie Saxo auch den wunderthätigen Odhinn für einen Betrüger ausgiebt. Es geht uns oft nicht anders. Die Sache sehen wir noch, aber nicht mehr die Ursache.

## 70. Rothe Augenlieder.

Alle Heren sind triefäugig und haben rothe entzündete Augenlieder; sie haben dies schon von ihren Müttern ererbt, die gleichfalls Zauberei getrieben haben, und pflanzen es eben so wieder auf ihre Kinder fort. Im J. 1798 plünderten die Franzosen im Freienamte. Dies machten sich einzelne Gemeinden aus der angrenzenden Landschaft zu Nutz und stahlen nebenher unbestraft mit. So kam in das bereits ausgeraubte katholische Dorf Hägglingen ein Mann aus dem reformierten Dorfe Othmarsingen in gleicher Absicht und drang in die dortige Kirche ein. Als er hier alles schon fortgeschleppt und geleert fand, stach er aus Wuth einem Muttergottesbilde auf einem Altar die Augen aus. Es sind ihm darauf bei Lebzeiten noch die Augen aus dem Kopfe gefault, und seine Nachkommen haben bis auf diesen Tag rothe Augenlieder.

Diejenigen, welche den Apfelbaum an der Sarmenstorfer Einsiedelei umhauen, werden mit einer Augenkrankheit heimgesucht; der Frevler am Muttergottesbilde hat Nachkommen, deren Augenlieder entzündet sind. Von

Digitized by Google

dem feurigen Blick der Weisen Weiber, der sich dann zur Triefäugigkeit und zum Schielen erniedrigt, ist Abthl. IX die Rede.

---

## 71. Die Fehrenlinde bei Aarau.

Halbwegs zwischen Aarau und der Brücke des Dorfes Rohr findet sich auf derjenigen Straßenseite, welche jäh in die Sümpfe des Rohrer-Schachen absinkt, ein mit Moos überwachsener Baumstrunk, den mehrere behauene Steine einfrieden, die selbst umgestürzt daliegen. Es ist der Ueberrest einer stolzen Linde, welche weithin in der Gegend sichtbar gewesen und vor einigen Jahrzehnten umgehauen worden ist; sie heißt Fehrenlinde. Denn wie nun die Aare an der jenseitigen Jurawand nach Biberstein hinab fließt, so hatte sie ehemals ihren Lauf auf der entgegen gesetzten Seite hier unten in den Wiesen, und dieser hohe Straßenrand war sonst des Stromes altes Ufer. Hier beim Lindenbaum stieg man in die Fähre; und wo nun Fabriken spinnen und das Weberschiffchen schießt, da haben vormals Schiffe gerudert.

Nach der Fehrenlinde bestimmte sich ehemals die Bezirksgrenze: Mit der Herrlichkeit von der Linden ze Narow untz in den Klosbrunnen zwischen Aarburg und Olten. Urk. 1458. Jld. v. Arx, Oltner Gesch. 26 a. Dieser Baum wird als Mal- und Gerichtsstätte erwähnt: Abthl. VIII, No. 341, Ring von Hallwil. Eine andere Linde hatte die Stadt mitten auf dem Platze vor der Leutkirche an der Stelle stehen, wo nun zwei verkrüppelte Platanen kein weiteres Wachsthum finden können. Sie war einst unter großer Festlichkeit im Beisein des Schultheißen und der Pfarrer gepflanzt worden (1599) und wurde 1719 umgehauen, als die Nachbarn und die Geistlichkeit sich beklagten, daß ihnen der mächtige Baum zu viel Licht entziehe. Eggen, Nachträge zu Ulr. Fisch, handschriftl. Stadtchronik, pag. 156.

---

## 72. Der Kirschbaum in Schildwald.

Wo das Ruederthal an den Kanton Luzern stößt, liegt die äußerste Gemeinde des Thales, Schildwald. Das weiter unten noch rauhe Bergland wird hier offener und sonniger, und statt der Buchen und Tannen zeigen sich wieder Fruchtbäume; um so befremdlicher fällt einem hier ein Kirschbaum ins Auge, der vor dem Dorfe mit wunderlich in einander verschränktem Astwerke am Wege steht. Es hat mit ihm folgende Bewandtniß. Drei geizige Brüder aus dem Schildwalde hatten ihr väterliches Erbe zu theilen und waren mit Allem fertig geworden bis auf diesen Baum, der auf keines Gute stand und nun dem Aeltesten in ganz unbillig hohem Ansatz zugeschlagen werden

Digitized by Google

sollte. Er stritt sich lange mit ihnen, da sie ihm aber den Baum nicht um ein Mäßiges gönnten, der bei seiner entfernten Lage von den Gutsäckern doch keinen gedenkbaren Nutzen abwarf, so blieb ihre gegenseitige Bosheit zuletzt dabei, den untheilbaren Baum für Jeden unbrauchbar zu machen. Sie gruben ihn nun aus und setzten ihn verkehrt in den Boden. Nun steckte der unschuldige Baum mit der Krone im Boden und starrte mit der Wurzel in die Luft. Aber auch in dieser unnatürlichen Lage blieb er ein besseres Geschöpf als diese drei Geizhälse; er fieng dennoch an wieder zu grünen und trägt einige Kirschen, die man jedoch nicht pflückt.

Kuhns märk. Sag. No. 116 erzählen von den drei Linden am heil. Geistkirchhof zu Berlin, sie seien von drei Brüdern verkehrt eingegraben und hätten geblüht zum Zeichen, daß keiner von ihnen den Mord begangen, dessen man sie geziehen hatte. Unserer Sage liegt die jetzige Güterzertrümmerung zu Grunde. Ueber diese erzählt der helvet. Almanach v. J. 1821, S. 91: Vier Geschwister theilten ein aus vier Stücken Land, vierzig Kirschbäumen und einem Hause bestehendes Erbe also unter sich, daß sechzehn Landtheilchen, hundert und sechzig Kirschrechte und vier Hausantheile heraus kamen. Ein guter Heuwagen, unter vier Erben theilbar, ward in vier Stücke zersägt und jeder trollte sich mit dem seinigen heim. Nicht ganz selten begegnet es, daß zu den Früchten eines einzigen Baumes sich allherbstlich fünfzig bis sechzig Antheilhaber einfinden, die manchmal nicht ohne Unkosten an Ort und Stelle gelangen können. An einem Nußbaum zu Iseltwald am Brienzersee hatten 60 Haushaltungen Antheil, als Kasthofer die Bemerkungen über die Wälder des Berner-Gebirges (Aarau 1818 S. 143) schrieb.

---

## 73. Entstehung des Brugger-Jugendfestes.

Auf eine Zeit beschlossen die Bürger der Stadt Brugg, im Gemeindsbann einen Eichwald zu pflanzen. Also zogen sie einst an einem Regentage aus, machten mit Stecken Löcher in den Waldboden, ließen in jedes Loch eine Eichel hinunter und traten das Loch mit dem Fuße zu. So setzten sie an einem Tage bei zwölf Mütt Eicheln; und am Abend bekam jede Person ein Weißbrod zum Andenken an die Pflanzung des Waldes. Allein die Eicheln waren zu tief und zu fest im Boden und wuchsen nicht.

Darnach pflanzte man dasselbe Landstück mit Roggen und Hafer an, pflügte es nach der Aernte wieder um und legte nun zum zweiten Male Eicheln. Allein auch so kamen nur wenige aus den Furchen, und statt der Eicheln wuchs Gras. Nun heuete man das Gras und ließ beim Mähen die jungen Eichlein vorsichtig stehen. Aber sie wollten doch nicht wachsen und verserbten in dem Rasen.

Digitized by Google

Daher stellte man die Sache noch einmal anders an. Am 20. Weinmonat des Jahres 1532 zog die ganze Gemeinde mit Weib und Kind hinaus in den Wald. Alles mußte daselbst junge Eichlein ausgraben. Darnach zogen sie mit ihren Setzlingen hin, wo sie den Eichenwald pflanzen wollten und setzten sie. Und als man von der Arbeit heimkam, wurde jedem Kind ein Brödlein gegeben, damit sie sich an die Pflanzung des Waldes erinnerten. Männer und Frauen aber hielten auf der Stadtstube ein fröhliches Nachtessen. Und die Eichen, sagt die Chronik, wuchsen nun. Dessen freute sich die Bürgerschaft sehr, und zum Andenken zog man alle Jahre aus und machte mit der Jugend einen Umgang im Walde. Zum Zeichen aber, daß die Eichen wüchsen, mußte dann jedes Kind einen Zweig mit sich in die Stadt heimbringen, und darnach bekam es zum Abend ein Brödlein.

Von daher ist das jährliche Jugendfest in der Stadt Brugg entstanden und wird darum dort Ruthenzug genannt.

(A. Keller, Aargauer Erstes Lehr- und Lesebuch 1853, 119.)

Im J. 1681, 28. Nov. ist der vordere Landstrich des Bohl (Bühel) gegen Entfelden zu, vorher Ackerland des Lätbauer, von der Stadt eingetauscht worden; alsdann zogen Rath und Burgerschaft aus, stachen kleine Gruben aus und in jegliche derselben steckten dann die mitziehenden Schulknaben Eicheln. (Hdschriftl. Sammlung v. Eggen zu Ulr. Fisch, Aarauer-Stadtchronik, pag. 113. Ueber den zu Grunde liegenden Brauch, den Mai unter Trommel- und Pfeifenklang aus dem Walde her einzuholen, wird der Band berichten: Aargau. Kinder-Spiel, Abthl. Ruthenzug und Reckholdernzug.

---

## 74. Die Heiligföhre bei Wegenstetten.

Auf dem Fußwege von Wegenstetten nach Wittnau, zweien Frickthalerdörfern, stand oben am Berge sonst eine vereinzelte alte Föhre, an deren Stamm ein kleines Muttergottesbild unter einem Dächlein hieng. Ein Kind, das öfters dieses Weges geschickt wurde, gieng nie an dem Baume vorüber ohne nieder zu knieen und sein Gebet herzusagen, wie man es ihm daheim eingeprägt hatte, und immer fand es alsdann einige kleine Silbermünzen am Stamme liegen. Je mit den Altersjahren des Kindes stieg auch der Werth der Münzen, die es da im Grase fand, nach und nach wurden es statt Kreuzer Groschen und Sechskreuzerstücke. Einmal, da es sich dem Baume wieder näherte, traf es eine fremdartige alte Frau dorten. Sie trug eine weiße Haube übers Haar, einen rothen Heidenschopen, der weit über die Hüfte herabreicht, wie ihn ehemals ältere Frauen im Schwarzwalde noch trugen, auch ihr Rock und ihre Strümpfe waren gleichmäßig roth. In der

Digitized by Google

Hand hielt sie ein Reise- oder Marktsäckchen an den Schnüren, viereckig geschnitten und an den untern Zipfeln mit wollenen kleinen Troddeln besetzt. Auch dieses Säckchen war roth. Sie bot es dem Kinde schweigend hin. Das Kleine merkte am Gewichte, daß es mit Geld gefüllt sein müße, nahm's also und machte sich damit schnell davon. Als es schon eine Strecke weit entfernt war, hielt es wieder an und blickte nach dem Baum zurück. Dort stand noch immer jene Frau. Nun kam sie ihm aber gar seltsam und so ausgealtert vor, daß es plötzlich erschrak, das Säckchen von sich warf und entlief. Von da an hat man die Frau nicht wieder gesehen, das Kind hat aber auch keine Münzen mehr gefunden, und die Föhre ward endlich umgehauen.

## 75. Das Kind und die Blutstropfen.

Im Herrenholze, einem Waldsaum oberhalb Erlisbach bei Aarau, hört man bisweilen bei einer verlassenen Bohnerzgrube das Schreien eines Kindes. Oben im Walde stehen drei Bäume in solcher Richtung wie drei vorgespannte Gäule; zwischen ihnen liegt der vergrabene Schatz, den jenes Kind beschreien soll. Aarauer-Buben, die nichts von Allem wußten, vernahmen hier sein Weinen, zugleich that's auch drei Pfiffe vom Baum herab. Als der eine zur Tanne hinauf schaute, erblickte er ein Kind und drei Blutstropfen fielen ihm ins Gesicht.

Dieses Sagenfragment dient dazu, die Sätze zu bewahrheiten, welche Abthl. V, No. 186 (und Aargau. Kinder-Spr. Abthl. IV „Geburtsbaum") über die germanische Tradition vorgetragen sind, der zufolge das Menschengeschlecht seinen Ursprung in den Bäumen des Waldes hat. Ich bin so alt wie der Westerwald, ruft der Kobold im K. M. Mir si au net ûs de Stüde! wir sind so vornehm wie Andere, sagt man aargau. zum Prahler. Im Dolder (Baumwipfel) eines Baumes auf dem Schwarzwalde blieb bei einer allgemeinen Ueberschwemmung die Wiege desjenigen Kindleins hangen, das der Ahnherr des Geschlechtes der Dolder geworden ist. Dem classischen Alterthum ist dieselbe Vorstellung nicht fremd: **Cruda puerperia, ac populos umbrosa creavit fraxinus et foeta viridis puer excidit orno.** Statius, Thebais 4, 276. Der Gott Buddha selber schläft in Seligkeit versunken unter dem Urstamme, aus dessen Zweigen der colossale Feigenbaum von Anurahdepura auf Ceylon erwachsen ist, welchen die Buddhisten göttlich verehren. Humboldt, Kosmos 2, 99. Tiroler Volksglaube um Meran ist, die Kinder wachsen auf dem Mutberge an den Bäumen und werden von der Hebamme herunter geholt. Wolf, Ztschr. 2, 345. Die drei Blutstropfen, die jenen nach dem Kinde auf dem Baume Emporblickenden ins Gesicht fallen, sind bereits in Wolframs Dichtungen ein altepisches Motiv. Sie kehren wieder in jenen Sagen vom Freischützen, der nach Sonne oder Mond schießt (vgl. Abthl. VI, No. 280 „Hirschbock im Rambölzli") und sind Anlaß geworden zum Mirakel vom Heiligenblut zu Willisau, Kant. Luzern.

Digitized by Google

Philo Magiologia, pag. 351. 566. Auch die Kapelle von Zitail in Bünden verdankt ihre Entstehung jenen drei Blutstropfen, welche dorten Maria mit der Hand übers Bündnerland ausſprengt. Flugi, bünd. Sag. Chur 1843, 98. Das Vögelein von Kyburg hat drei Blutstropfen auf der Bruſt. Alpenroſ. 1812.

## 76. Kleinkinderbaum.

Unter den Zinsgütern des Dorfes Koblenz verzeichnet der Zinsrodel der Klingnauer Probſtei v. J. 1664, pag. 192 b. die Söthenzelge, deren Grenze auf dem Ried der Kindlibirnbaum ausmacht. In der Tegerfelder Zelge Zur Linden am Ruckfelde macht der Kindlibirnbaum im Bilbalchen die Ackergrenze aus (ibid. pag. 48 b.). Gleichfalls heißt eine Zelge am Schnaiſinger-Brühl aus Acker- und Staudenland beſtehend, die Kindſetzi (ibid. pag. 136 b.). Eine eigene Gattung runder kleiner Moſtbirnen heißt auch heute noch Kindlibirnen.

Kinder- und Geburtsräume verzeichnet Wolf, Ztſchr. 2, 92. Lieber den Aſt als den Stamm! ruft der Vater, der wählen muß, ob er das Kind oder das Weib verlieren ſoll. ibid. 2, 377.

## 77. Kleinkinderſteine.

a. An der Burgfluh bei Wölfliswil (Frickthal) wird ein iſoliert ſtehender thurmförmiger Fels der Ankenkübel genannt. In ihm ſteht der Kleinkindertrog. Donnert es, ſo ſagt man ſolchen Leuten zum Troſte, die eben ein Kind durch den Tod verloren haben, es iſt wieder ein Stein von der großen Fluh herunter gepoltert, jetzt kann die Hebamme wieder ein anderes heraus holen. Beklagen ſich die Geſchwiſter, daß ihnen ſtatt des verhofften Brüderleins ſchon wieder ein Schweſterchen gebracht worden ſei, ſo entgegnet man, die Hebamme muß diejenigen zuerſt dorten herausnehmen, die am meiſten ſchreien. Eine Felsvertiefung dabei heißt die Waldbruderhütte; ein Eremit ſoll hier gewohnt haben und von den Kaiſerlichen oder Franzoſen erſchlagen worden ſein.

b. Beim Fluchbrunnen im Walde Honderen zu Neſſelnbach im Freienamte, liegt der Fluchſtein (Flühe), ein Fels, aus dem man bereits zwei Wohnhäuſer gebaut hat. Er iſt für die dortige Gegend des Reußthales der allgemeine Kleinkinderſtein.

c. Bei Wegenſtetten im Frickthale liegt in den Feldern der Mariaſtein, auf dem die Arbeiter zu ruhen pflegen. Vor Mannsgedenken noch hat man in ihm die Maria zu regelmäßigen Zeiten gar ſchön ſingen hören.

Digitized by Google

d. Der sogen. Kindlistein, den man für das Ueberbleibsel einer römischen Hermessäule hielt, stand im Jahre 1836 unweit römischem Gemäuer am Karstenbühel, einer kleinen Anhöhe, die nun von dem Straßenzuge zwischen Zürich und Baden durchschnitten wird. G. Meyer-Knonau, der Kant. Zürich 1, 64.

e. Alter Weiber Morgengabe heißt ein eiförmiger Fels, der frei aus dem Vierwaldstättersee beim Dorfe Treib hervorragt. Aus diesem Felsen sollen die kleinen Kinder geholt werden. Lusser, Knt. Uri, pg. 124.

Der Zwerg von Ralligen am Thunersee kommt bei einem alles überschwemmenden Wolkenbruche zur Rettung barmherzig handelnder Menschen auf seinem Felsenstein herangerudert. In der Thalschaft des benachbarten Grindelwald gilt eben dieselbe Sage. R. Wyß, Schweiz. Idyll. 1, 315. Das übrige Sagenmaterial über die Steine und Brunnen, aus denen man die kleinen Kinder bringen läßt, findet sich besprochen in den Anmerk. zu den Zwergensagen (No. 205, 24.)

## 78. Die Geburtstanne.

In dem Dorfe Auenstein an der Aare ward einem Landmann ein Kindlein geboren und zu derselben Frist begehrte eine fremde Frau Einlaß und Nachtquartier. Man hatte sie anfangs abgewiesen, dann aber gab man ihren dringenden Bitten nach und nahm sie auf. Als sie Tags darauf sich wieder auf den Weg machte, dankte sie ihrem Gastfreunde gar sehr, wünschte dem Neugebornen Glück und Wohlergehen und mahnte die Hausbewohner alle, doch ja zu diesem Kindlein recht Sorge zu tragen. Denn ein Traum von einer hohen Waldtanne, den sie in dieser Nacht hier gehabt, deute leider darauf hin, wie es diesem armen Kinde bestimmt sei, wenn es einmal zwanzig Jahre alt geworden, sich erhängen zu müssen. Doch läßt sich, schloß das Weib, auch dieses Unheil abwenden, sobald Ihr das Kind von seinem ersten Sprechen und Spielen an nur recht sorgfältig gewöhnet, Alles im Namen Gottes zu beginnen. Die Hausleute säumten nicht, den Rath der Alten treulich zu befolgen; so wurde das Kind in Gottesfurcht auferzogen und wuchs zu einer schönen Jungfrau heran. Niemals hatte man es allein, nie ohne Aufsicht über Feld, nie ohne Begleitung zur Kirche gehen lassen, und ohne Unglück waren seine neunzehn Lebensjahre vorbeigegangen. Am frühen Morgen nun, da sein zwanzigster Geburtstag kam, weckte der Vater sein Kind, hieß es aufstehen und sich ankleiden, damit es mit ihm vom Hause fortgehe, ehe noch Jemand erwacht wäre. Diesen Tag sollte die Tochter mit ihm droben auf dem menschenleeren Berge zubringen, wo keine Gesellschaft und kein Bekanntenbesuch Anlaß zu einer unvorhergesehenen Gefahr geben konnte.

Digitized by Google

Der Vater nahm Wein und Brod in das Quersäckchen, die Tochter trug das Körbchen, so giengen sie zusammen im Morgen durch die Bergmatten in den Wald hinauf. Das Mädchen war voll Lebenslust über den unerwarteten Spaziergang. Beim ersten besten Waldbaum blieb sie stehen und maß ihn in ihrem jugendlichen Uebermuth. Ei, welch eine schöne Tanne, rief sie dann frohlockend in einen mächtigen Baum hinauf; ach Vater, auf diese laß mich doch steigen! In Gottes Namen, so geh und steig denn hinauf, sagte der Vater. Aber mitten im Sprunge wendete das Mädchen sich um; ach Vater, sagte sie mit verwundertem Ton, nun kann ich's nicht mehr! Der Mann verstand dieses Wort und dankte Gott still im Herzen. Der ganze Tag vergieng ohne Unfall, nun war die Tochter erst gerettet. (Durch A. Birrcher in Laufenburg.)

Ueberraschend stimmt diese Erzählung mit jener brahmanischen über die indische Fürstentochter Sawitri, übersetzt von Fr. Rückert. An dem Todestage, der dem jugendlichen Gatten Satiawan von dem Geschicke vorausbestimmt ist, nimmt er früh morgens ahndungslos Korb und Beil, um in den Wald hinaus zu gehen und wie sonst Frucht und Holz zum Opfer heim zu holen. Die Gemahlin Sawitri kennt diesen Schicksalstag, sie läßt sich's nicht nehmen, auch diesmal wie vorher jeden Augenblick um den Gatten zu sein und geht mit. Nachdem er draußen Holz gespalten hat, naht der gefürchtete Augenblick, Satiawan kann der Erschöpfung nicht widerstehen und entschläft auf Sawitri's Schoos. Da tritt der Todesgott Yama herbei, bindet des Schlafenden Seele an einen Strick und führt sie mit sich fort. Aber die gattentreue Sawitri folgt Beiden so lange durch die Wälder nach, bis sie das Opfer wieder losgebeten hat. So ist dann Satiawans Todestag zu seinem neuen Geburtstag gemacht. Weitere Erklärungen über verwandte Mythen und daher stammende Bräuche finden sich im Aargau. Kinder-Spr., vierte Abthl. 1, d. Geburtsbaum. Tannligrotze ist femininer, Tannliwater masculiner Scheltname im Aargau, Abthl. IX, No. 409. Beide deuten auf die in dem Baume (Grotz ist Wipfel) waltende Gottheit. Daß der Baum nicht bloß Grabstätte, sondern Sarg gewesen ist, wie man Schiff und Sarg noch Einbaum nennt, oder wie man Geister noch in das Astloch einer Linde bannt und verkeilt (No. 220 Lindegiger am Ruckfeld), dies geht aus der Sage vom Hohlen Baum in Menzingen, Kant. Zug, hervor. Derselbe stand seit ältesten Zeiten mitten im Dorfe. So oft der Wind in ihn blies, erbebten alle umstehenden Häuser in ihrem Grunde, denn so weit spannten seine Wurzeln. Es wollte sich niemand mehr finden, der ihn nur in Ast und Zweig stutzte, denn der Baum war unersteiglich hoch und zugleich hohl. Wäre er einmal im Sturme gebrochen, so mußte er die Wohnungen zerschlagen, und wenn man ihn hätte fällen wollen, so begrub er sie im Sturze. Endlich gewann man um Lohn ein Bergmännchen. Es kuppte den Baum und verschwand dann in dem hohlen Stamm auf immer. Henne, Schweiz. Bl. 1833, 186.

---

Digitized by Google

## 79. Die Schloßtanne in Wirlingen.

Schloß Wirlingen am badiſchen Oberrhein iſt längſt zerfallen und Waldbäume wachſen auf ſeinen Trümmern. Sonſt erſchien den Kindern dorten eine weißgekleidete Jungfrau in wallenden Haaren, nun läßt ſie ſich niemals mehr ſehen. Die Leute ſagen, ſie ſei erlöst, und da dies erſt ſeit neuerer Zeit ſein ſoll, ſo ſuchen ſie den Grund ihres gänzlichen Verſchwindens in folgender Begebenheit. Vor einigen Jahren vermißten Eltern des Abends beim Heimkehren vom Felde eines ihrer Kinder; beim Nachforſchen fand man es im nahen Bache ertrunken. Dieſes Kind iſt der Erlöſer der Jungfrau geweſen und ſo ſollte es ſelbſt gleichfalls nicht lange ohne den Lohn der Seligkeit bleiben. Das Schickſal der Jungfrau war nämlich an eine der Tannen auf der Ruine geknüpft; dieſer Baum aber war gefällt und zur Wiege eben jenes Kindes verſchreinert worden, das ſeinen Eltern ſo früh verloren gieng. Da nun der Schloßbaum fiel und zur Wiege gemacht wurde, in welchem ein Kindlein bis zum Laufenlernen geſchlafen hatte, ſo war das Schickſal erfüllt. So lautet die wiederholte Verſicherung des Dorfſchreiners, der ſich noch wohl erinnert, jene Wiege gemacht zu haben. (A. Birrcher in Laufenburg.)

Digitized by Google

# III. Wildes Heer.

## 80. Das Guetigsg'heer am Aarauer-Homberg.

Der Weidgang im Aarauer-Jura hat sich schon im vorigen Jahrhundert verloren, nur im benachbarten Solothurner-Jura ist er nach alter Weise zum Theil noch üblich. Früherhin aber trieb man des Abends das Vieh, nachdem es gemolken war, wieder auf die Bergwiesen zurück und ließ es unter der Hut von Knaben die Nacht über draußen. Es kauerte da in jedem Gebüsche, wo es vor den Fliegen Ruhe fand, und die Hüter schliefen in den zahlreichen Heuhäuschen. Ein solcher Hirtenbube hütete einst um die Zeit der Aernte auf dem Aarauer-Homberge und wurde nach Mitternacht durch ein schönes Singen und Spielen aus seinem Schlafe geweckt. Er meinte, die Schnitter im Thale zögen so spät unter fröhlichen Liedern noch durch die Gegend. Bald aber kam es immer näher herauf, gieng aus Westen nach Norden hin, eine Musik, an der kein einziges Instrument fehlte. Sogar aus den Lüften brach ein leiser Gesang darein, der ihn durchschauerte. Es schien ihm, als ob das Gras der Matten und das Laub der Buchenwälder im Mondlichte woge und sich neige, so oft die Töne neu ansetzten. Der Thurmwächter drüben in der Stadt blies schon zwei Uhr an, als die Musik sich wieder verlor. Diese Musik wird im Aarauer- und im nächsten Theile des Fricktaler-Jura 's guetigs G'heer genannt und Guenishirt derjenige, der sie anführt. Die Voreltern haben sie oft gehört und wußten viel darüber zu sagen. Es gieng auf dem linken Aarufer stets in der Richtung von West nach Ost und verkündete ein gesegnetes Jahr. Wenn es von der Schafmatt durch das hintere Thal von Küttigen gegen Lenzburg hinüber zog, hörte man ein Klingen und Tönen in der Luft wie von tausend Instrumenten. Im Dorfe Küttigen nennt man es noch das Glücksheer; auch von schlechter und unharmonischer Musik jedoch pflegt man gleichnißweise zu sagen, sie gehe wie das Guetisheer. Das ist Guetigsg'heer (das ist ein schlechter Gesang), ist eine gewöhnliche Phrase in Küttigen. Nicht bloß in den Hundstagen, auch in der Fasnacht zog es einher, und die Bauernregel besagt in Anwendung darauf: So viel Sterne als in der Alten Fasnacht am Himmel stehen, so viel Schnitter giebt's in der Aernte. Das Volk um Lütwil sagt, man höre das Guetis- und Gueniſchheer außerordentlich schön singen,

Digitized by Google

so oft es ein fruchtbares Jahr geben soll. Gunisheer nennt man dasselbe um Birmensdorf an der Reuß; Guetis-Ee aber nennt man zugleich im Freienamte das Wilde Heer, dessen Rauschen durch die Lüfte man dorten dem Flügelschlage mächtiger Raubvögel und Wildgänse zuschreibt.

---

## 81. Das Gundisheer um Muri.

Außerhalb Muri hebt der Umzug des Gundisheeres an. Wie eine laut nüschelnde (wühlende) Schweineheerde zieht es über das Klosterfeld durch das äußere Dorf nach Buttwil den Berg hinan. Hinter Geltwil geht es einer Hecke nach bis ins Schlattholz und fährt über den hohen Lindenberg weiter. So sahen es einmal junge Burschen vom Dorfe Geltwil den Berg herauf kommen, und einer von ihnen ließ sich bewegen, ein hinter drein laufendes Ferkelchen aufzufangen. Die Kameraden brachten ihm einen Sack, er band es hinein, lud es auf und wollte es heimtragen. Da rief eine Stimme mit Macht aus der Höhe herab, wo eben die Heerde dahin brauste, Hagöhrli (Eberöhrlein), wo bisch au? und zum Schrecken der Bursche antwortete sogleich das Ferkel im Sacke: I's Heiniguggeli's Sack inne! Der Träger fuhr zusammen und ließ den Sack fallen, dann eilte er mit den Andern davon. Nachher fanden Vorübergehende wohl den Sack, aber leer. Seitdem soll das Gundisheer dorten nicht mehr erschienen sein.

Ueber die Entstehungsart des Namens, den das Luzerner-Städtchen Willisau trägt, giebt es dreierlei Anekdoten. Wie du das Städtchen benennen willst, sagte der eine Bruder zum andern, als sie den Ort gründeten, so will ich's auch = Will is au! Als drei Spieler an jener Stelle zusammen saßen und der eine von ihnen im Zorn über seinen Spielverlust sein Schwert gen Himmel warf, um den Herrn zu durchbohren, fielen drei Blutstropfen vom Himmel, welche man dorten in der Kirche noch verwahrt. Als aber darüber der Frevler plötzlich vom Teufel in die Luft entführt wurde, entsprangen seine Kameraden unter dem Angstgeschrei: Er will üs au! Eine dritte Deutung dieses Ortsnamens paßt zu der eben erzählten Sage vom Ferkel zu Geltwil. Zwei Bursche hatten in jener Gegend ein Faselschweinchen bemerkt und der eine von ihnen fieng es und schob's sogleich unter seinen Mantel, um es als sein Eigenthum heimzutragen. Damit aber war sein Geselle keineswegs zufrieden, sondern forderte auch seinen Theil auf der Stelle daran. Beständig schrie er, ich will es auch, ich will die Sau! Darüber ereilte Beide der Eigenthümer und nannte nachher nach der wieder gewonnenen Sau seinen Hof Willisau.

Digitized by Google

Ueber die Bedeutung des Schweines in Sage und Brauch muß auf den ausführlichen Artikel No. 30, das Loßbrod, verwiesen werden, in der Schrift Oberdeutsches Gebildbrod. Hier handelt es sich von Frô's heiligem Eber Gullinbursti, der mit Rossesschnelligkeit über Land und Wasser geht und die Nacht erhellt mit dem Glanz seiner goldenen Borsten. Statt des einen Schweins, das den Götterwagen zieht, werden es in der Sage ihrer viele, weil dem Gott Frô die Zahl neun geheiligt ist. Die Moor Moritz (Abthl. III, No. 85) auf der Schloßbreite führt ihre zehn Ferkel mit sich. Vierundzwanzig Hündinnen umklaffen den Wagen der W. Jägerin Gaue, es sind ihre vierundzwanzig verzauberten Töchter. Kuhn, märk. Sag., pag. 217. ebenda No. 58 ist die Burgfrau von Milow sammt ihren Töchtern eine Sau mit eilf Ferkeln. Als röchelndes Mutterschwein, aber ihre Jungen sind nicht mitgezählt, zieht die Rochelnmoore über die Alpen des Berner-Oberlandes. Jahn, Kant. Bern. 328. Dies wiederholt sich in unserer Nummer: Rindelen- und Rochelmoore bei Ober-Schupfart. Mit sieben scheckigen Jungen läuft das Dorfthier von Lütwil. No. 89. 265, o. 86. Der neuntausend Fuß hohe Wazmann bei Reichenhall ist der W. Jäger Wazmann (d. h. Eber, vgl. No. 92, Ebermann in Kölikon) gewesen, nun umstarren ihn seine Kinder als siebtn Felszinken. Panzer, bayr. Sag. 1, No. 276. Dieses besondere Thier der W. Jagd hat Menschensprache und besitzt daher vielfache neue Eigennamen. Hier heißt es Hagöhrli. Hag ist englisch Schwein und Lamm; schweizerisch Hag bedeutet sonst Stier, wie Bär und Baier zugleich Name des Schweins ist. Hakelbärend und Bärens ist Name des W. Jägers (Kuhn, märk. Sag. pag. 205). Hakelbärend, der auf der Eberjagd umkommt, heißt zugleich Hakelblock. Block und Bolk ist wiederum Schweinname im Südharz. Journal v. u. f. Deutschl. 1790. 38. Demnach ist Bär und Hag gleichbedeutend und setzt sich zum Namen des Hakelberg zusammen, welcher wiederkehrt in unsern Gespensternamen Hoggema und Häggele (Abthl. IX, No. 419). Daher wird das aufgefangene Wildschwein von den Stimmen der W. Jagd gefragt, Hagöhrli, wo bist? Eine Sarganser-Sage in Henne's Schweiz. Bl. 1832 läßt einen Fuchs im Zwilchsack auffangen, worauf dann ein ähnliches Fragen und Antworten entsteht. Im Havellande fängt der Bauer einen Dachs und birgt ihn im Zwerchsacke; da ruft das W. Heer, man habe eine einäugige Sau eingesteckt, und daheim angekommen, findet sich wirklich eine solche im Sacke. Kuhn, märk. Sag., No. 136. Wo ist denn die einäugete Häsin? ruft's bei Bamberg aus der Luft. Panzer, bayr. Sag. 2, No. 97. Mickmick! rufen die Ferkel beim Guetisee-Zuge im Rüti, No. 83, während das Murren der alten Sau voraus geht; in Kuhns nordd. Sag., pag. 113 ruft die Frau Harke der Heerde zu: „pickel!", dem Dachs aber, der davon abgewichen ist: „quêms!" Die Schweizersage bezeichnet noch mehrere dieser landschaftlichgiltigen Gespensterthiere. Auf der Sanct Galler Wildenburg wandelt eine Matrone, die, wenn man ihrem Winseln folgt, ihre Nase plötzlich in einen Schweinerüssel verlängert. Felsthal, Sagenschatz, pag. 74. Hinter dem Rathhaus der Stadt Sitten (Sion, in Wallis) spukt die große Geistersau mit grünen Augen. Reithard, Sag. d. Schweiz, 492. Auf die vielen in gegenwärtiger Abthl. III enthaltenen Beweispunkte gleicher Art soll nur hingewiesen werden, wie z. B. daß der Lochluegenjäger, No. 94, als Wildschwein durchs Waldlaub raschelt, oder daß der

Digitized by Google

Lälle von Rheinfelden, No. 164, erst in eine Burgunderflasche hinein verwünscht wird, dann aber aus derselben wieder in Gestalt einer ganzen Schweineheerde hervor bricht. Dazu, sowie zu den vorausgehenden Fällen gehört sodann das landesübliche Sprichwort (Kirchhofer, Sprichw. 274), wer das Fehrlein haben will, muß den Sack aufheben: das Glück verlangt Muth. Ich erinnere daran, daß der größte Theil der sogenannten Teufelsmauer beim Volke der Schweinegraben genannt wird; daß wir in Deutschland und in der Schweiz (z. B. in Bünden und in Uri: Meyer-Knonau, Erdkunde 2, 114. 1, 311) den Adel deren von Schweiningen und Schweinsberg haben oder hatten; daß die Merowinger die Borstigen, cristati, hießen, da ihnen gemäß ihrer Abstammung von einem meerentstiegenen Ungeheuer Schweinsborsten am Rücken wuchsen. Und wenn schon die Aestier vorzugsweise unter den Germanen die Göttermutter durch Helmzeichen in Eberform verehrt hatten (Tacitus, Germ. 45), so läßt sich begreifen, warum das Steinbild des Teufels am Münsterportale von üchtländisch Freiburg, sowie an dem der Stadt Bern mit einem Schweinskopfe erscheint. Der Teufel ist selbst ein Sauhirte, wie die Anmerkung Stifeli und Bläseli (Abthl. V, No. 213, 32) nachweist.

---

## 82. Das Streggelenjagen in Meerenschwanden.

Mehrere Nachtbuben wollten sich zusammen den landesüblichen Spaß machen, jenes Nachtgelärme zu veranstalten, das man mit Peitschen, Ketten und Schellen um die Häuser bekannter Familien erhebt und wobei namentlich die erwachsenen Mädchen unsanft aus ihrem Schlafe durch maskierte Liebhaber aufgeweckt werden. Man nennt dies im Freienamte und dem benachbarten Luzernerlande das Streggelenjagen. Die Meerenschwander-Bursche sammelten sich in der Nacht des Fraufastenmittwochs vor Ostern, wohlversehen mit lärmenden Instrumenten an einem Lebhag, der zum Baumgarten eines ihnen bekannten Hauses gehörte und fiengen an, dieser Hecke entlang gegen das Wohnhaus hin ihren tollen Lauf zu machen. Diesmal aber war es auch auf einen ihrer eigenen Gesellschaft mitabgesehen; der Jörri (Georg), dessen schwacher Verstand sonst schon zu lachen gegeben hatte, sollte bei dieser Gelegenheit in Schrecken gesetzt und nachher zur Dorf-Anekdote gemacht werden. Sie stellten ihn deshalb allein an eine offene Lücke jenes Lebhages, an dem sie herunter jagten, und gaben ihm einen offenen Sack in die Hand, in welchem sich die gejagte Streggelen fangen sollte. Alsbald sprang eine gehetzte Katze gegen ihn aus der Hecke und fieng sich im offenen Sacke. Dieser wurde zugebunden, mit Hülfe der Uebrigen dem Jörri aufgeachselt, in sein Haus getragen und dorten in der Wohnstube abgestellt. Hier schwoll nun der Sack höher und höher auf; endlich platzte und sprang er in jeder Nath,

Digitized by Google

und ein Ungethüm, welches daraus hervor kam, füllte immer breiter anwachsend alle Räume der Stube aus. Nun mußte man die Kapuziner von Bremgarten zu Hilfe holen, die das Thier beschwören und das Haus von ihm befreien sollten. Sie brachten es mit geweihtem Oel, Salz, Wasser und Wachs unter vielen Gebeten dahin, daß das Thier wieder zu einer gewöhnlichen schwarzen Katze zusammenschrumpfte und zum Hause hinaus sprang. Die Burschen, die sich diesen Unfug erlaubt hatten, erkrankten zusammen, einige so schwer, daß sie starben; der Jörri aber, der von ihrem Anschlage nichts gewußt und nichts verstanden, kam mit heiler Haut davon.

## 83. Guetisee in Rüti.

In Rüti, einem Weiler der Gemeinde Meerenschwanden im Freienamte, ist ein altes Strohhaus dafür wohl bekannt, daß durch dasselbe das Guetisee jede Fronfastennacht seinen Weg hindurch nimmt. Man mag wann immer daran vorbei kommen, so wird man durch seine stets offen stehende Vorderthüre zur hintern hinaus sehen, denn beide müßen die Bewohner offen halten, wenn man gesund und unbeschädigt hier wohnen will. Das Heer zieht dann Nachts als lärmende Schweineheerde hindurch, man hört dabei das Murren einer alten Sau, welche an der Spitze läuft, und die ihr nachkommende Schaar Ferkel schreit hinterdrein: Mick-mick!

Im benachbarten Walde von Muri ist ein bekannter Eichbaum, unter welchem sich das Gutisee aufhält, und eine dorten um Mittag rastende Frau hat dessen Murren gehört, ohne jedoch ein Stück der Heerde sehen zu können.

## 84. Der Guenis-Heerwagen bei Mellingen.

Zwischen den Städten Baden und Mellingen zieht Nachts das Guenisheer. Es kommt über den Oedlisberg nach Neunbrunnen im Schönhardswalde, da setzt es über die Reuß und zieht über Mellingen gegen Schloß Brunneck und Lenzburg zu. Mein Vater hat es vor vierzig Jahren gehört, als er zu Mellingen in einem Hause diente, welches außerhalb des Städtchens am rechten Reußufer gelegen war, wo oberhalb der Trostburg die alte Kapelle steht. Man hörte einen schweren Eisenwagen über das Haus hinrasseln, als ob lauter Käsekessel drauf geladen wären, und hinter der Fuhre kam eine Mannsstimme drein, die mit großer Dringlichkeit wiederholt schrie: Verbind mer's, verbind mer's!

Digitized by Google

Als dies mein Vater mit einem Appenzeller-Krämer besprach, der öfters durch Mellingen reiste, erinnerte dieser sich aus seiner Heimat einer ähnlichen Begebenheit und erzählte dieselbe also: Auch wir hörten in unserer Jugend gar oft Nachts über unsern Häusern dieses Gekessel (Lärmen), hüteten uns aber wohl, dabei zum Fenster hinaus nachschauen zu wollen. Als uns nun ein Nachbar berichtete, wie neulich einer dieser Luftreiter ganz die gleichen Worte herab gerufen habe, machte ihm ein Mädchen, das eben bei uns zu Besuch war, Vorwürfe, warum er denn jenem Reiter keine Antwort gegeben und dem Hilferuf gemäß ihn nicht verbunden habe. Der Nachbar erklärte, daß er den Sinn jener Worte nicht verstanden, wohl aber sich sehr gefürchtet habe, und nahm das schnippische Mädchen beim Worte, nächsten Fraufastenabend den Reiter selber darüber zu befragen. Das alberne Geschöpf vermaß sich nun in falscher Scham wirklich, nächste Nacht, sobald der Zug käme, vor die Thüre treten und ihn anreden zu wollen. Folgenden Abend gab man ihr Wein und Branntewein zu trinken, so viel sie mochte; das Getöse ließ sich wiederum hören, und endlich rasselte es gegen die Häuser her, als ob man einen Karren schlechtgebundenes Eisengestänge rasch über eine frischbekieste Straße führe. Da trat denn das Mädchen vors Haus unter die Dachtraufe hinaus, und als jene Stimme rief: „Verbind mer's!" antwortete sie: so halt au, du Donners-Chetzer, wenn i der's verbinde soll! Auf dieses freche Wort hörte plötzlich der schmetternde Lärmen ganz auf, der Wagen stand still und ein Mann sprang herunter. Das Mädchen aber verlor das Herz und kam schneeweiß zur Stube herein gestürzt. Ein Großer sei vor ihr gestanden, nichts anderes wußte sie zu sagen. Draußen rollte indessen der Wagen weiter. In kurzen Tagen aber war sie todt.

Ich will ihm eins schenken, sagt der Barnimer-Bauer beim Gewitter, und tritt mit dem Glas vor die Thür; ein anderer zu Päsewin will ebenso dem lieben Gott Prosit zutrinken. Beide werden vom Blitz erschlagen. Kuhn, nordd. Sag., pag. 123, No. 1. 2. Der Gott, der hier mit seinem richtigen Namen Donar angeredet wird, findet sich zusammenhängend besprochen in No. 415, Abthl. IX.

Der dem waghalsigen Mädchen unbegreiflich lautende Ruf des W. Jägers heißt Verbind mir's! Auf einem an der Weser ausgepflügten bronzenen Henkelgefäße (Archiv des histor. ndsächs. Vereines 1840, I) zeigen sich dreibeinige Jagdthiere, welche alle gegürtet sind. Wär ich gegürtet und geschürzt, so könnt' ich auch mit! rief ein Geist aus dem W. Heer heraus, das der Schiffer über den Main setzen mußte; der Gerstenhüter band ihm darauf ein Strohseil um den Leib und sprach, nun kannst du nach! Panzer, bayr. Sag. 1, 176. No. 189. 198. Auf, schürze dich! ruft ebenso der todte Reiter Lenoren zu in Bürgers bekannter Ballade. Geiler v. Keisersb.,

Digitized by Google

Ameise, Bl. 37, weiß gleichfalls, daß die im Wüthenden Heere zusammen „an einem Seil“ laufen müßen. Dies ist gewöhnlich ein Strohseil. Die ungewöhnliche Stärke desselben gleicht der Kette des Homerischen Zeus, an die sich alle Götter miteinander hängen können, und dem Stricke, an welchen der indische Todesgott Yama die abgeschiedenen Seelen bindet; vgl. Fr. Rückerts Gedicht Sawitri. Ein einzelner Halm aus jenem Seile reicht hin, sich daran zu erhängen: vgl. Abthl. VI, No. 271, das Erhängenspielen. In unserer Sage scheint eine der Seelen von diesem Stricke abgekommen zu sein, gleichwie in Kuhns nordd. Sag., No. 151, auch ein Weib vom Zuge der W. Jagd abkommt, worauf der Helljäger dem unten im Zauberkreise stehenden Menschen zuruft: Stoß das Weib hinaus! An einem solchen Seil von Erbsenstroh führt man bei den Frühlingsspielen den Wilden Mann, den Erbsbär, und bei Aerntefesten den Schimmelreiter umher: Sommer, Thüring. Sag. 156, 160. Schmalfuß, die Deutschen in Böhmen, Prag 1851. In solchem Sinne ist's gemeint, daß auch der Mann im Monde in eine Bohnenstrohgarbe eingewickelt ist. Strohwisch dient als Pfandzeichen und Verkaufszeichen; man bindet es feilen Rossen in Mähne und Schweif, man ist, wenn die Ehefrau auf Reisen geht, ein Strohwittwer. Das Toggeli erscheint als Strohhalm und Kornähre. Auf der Zurzacher-Messe scheint es den Zuschauern, als ob des Zauberers Hahn, der nur einen Strohhalm im Schnabel hält, einen Wiesbaum trage. Die Bielefelder-Sage nennt letzteres Augenverkaikeligge. Firmenich 1, 277. Neben dem Strohseil der W. Jagd, womit man sich gürtet und zugleich sich beschützt, kommt auch das Gegentheil vor, die Zerreißung und Zerfleischung der Todesopfer. Gegen solcherlei giebt wiederum eine Stimme Rath; wenn nämlich das W. Heer über Wolfartsweiler hinzog, so rief's dem Zuge voraus: Wenn du beschädigt wirst, so verbinde dich mit rohem Garne. Mone, Anz. 1839, 307.

---

## 85. Die Moor Moritz auf der Schloßbreite bei Tägerfelden.

In Tägerfelden steht ein verfallenes Schlößlein mit einem dazu gehörenden Wiesengrunde, der die Schloßbreite heißt. Hier läuft jeden Samstag mit dem Klang der Betzeitglocke ein Mutterschwein, die Moor Moritz, und führt ihre zehn Ferkel mit sich. Es kommt aus jenem Theile des Schlößchens hervor, der ehemals die Stallungen ausgemacht hat, jetzt aber nur aus ein paar überdachten Mauern besteht und der Gemeinde zum Holzschuppen dienen muß. Es nimmt seinen Weg bis zum Chile-Rainli, einem Abhange, welcher zur Schloßkapelle gehört, und geht von da wieder heim. Es hat die Farbe der sogenannten Zweibrücker-Zucht, nämlich vorne schwarz und hinten weiß; ebenso sind auch seine Ferkel gezeichnet. Hat nun ein Vorübergehender den Muth, bis auf einige Schritte heranzutreten, so schwillt das Schwein zur Größe einer solchen Waschwanne an, wie die sind, in welchen man geschlachtete Schweine brühet, und beginnt entsetzlich zu grunzen. Dies bedeutet, daß man zurückweichen soll. Folgt man



Digitized by Google

dieſer Warnung nicht, ſo iſt man bis zum nächſten Morgen gewiß eine Leiche.

Die frühere Herrin dieſes Schlößleins ſoll eine alte Wittwe aus dem Luzerner-Adelsgeſchlechte deren von Sonnenberg geweſen ſein. Sie hatte Niemand als ihren Sohn Moritz. Sie machte für die Kapelle ihres Schloſſes mancherlei Vergabungen an Feldfrüchten und Eiern, ließ das Kirchendach ſtatt der Schindeln mit Ziegeln eindecken und ſetzte bei ihrem Tode den Grundzins von ein paar Juchart Land nebſt zehn Stück Hafer (ein Mannwerk) aus, um daraus die Löhnung des Sigriſt beſtreiten zu laſſen. Einige Jahre lang nach der Mutter Tod gab der Sohn Moritz den geſtifteten Hafer gebürend ab und verſpürte ebenſo lange in ſeiner Güterwirthſchaft niemals Mangel. Nach und nach jedoch reute ihn dieſe unnütze Abgabe, er ließ ſie eingehen und hielt ſich aus dem Ertrag des Kirchenhafers ein Schwein mehr. Aber die Strafe blieb nicht aus. Das Schwein war eines Morgens ſammt ſeinen Ferkeln verſchwunden, bald fiel im Stalle auch das übrige Vieh. Das Vermögen des Junkers ſchwand ſo ſehr, daß er nach und nach bis zum armen Tauner herabſank, der ſein einziges Tagwerk Ackerland mit fremden Ochſen pflügen muß. Als ſein Hausdach anfieng baufällig zu werden, nahm er bei Nachtzeit die Ziegel vom Kapellendache herab und deckte dies dafür mit Stroh. Zuletzt fand man ihn in ſeinem Stalle an einem Stricke erhenkt. Nun ſagt man, der Junker ſei in jenes Schwein verwünſcht, das alle Samſtagsabende auf der Schloßbreite mit den Ferkeln weidet, aus Barmherzigkeit aber werde ihm vergönnt, hin und wieder in einer menſchlichen Geſtalt erſcheinen zu dürfen. Man meint, er ſei zugleich ein Dachdecker, weil man öfters um Mitternacht einen Mann auf dem Ziegeldache der Kapelle klappern hört. Auch auf jenem Holzlande, welches die Wanne heißt, ein hübſcher Föhrenbeſtand, der jetzt der Gemeinde Baldingen angehört, erſcheint er häufig als Jäger mit ſeinen Hunden; denn ſtatt dieſen Forſt, nach der Mutter letztem Willen, zur Unterhaltung des Kirchengebälkes zu verwenden, hatte er ihn dem Junker von Baldingen um einen Antheil an der Hochjagd auf dem Baldinger Berge vertauſcht. Am öfteſten kommt er aber noch als die Moor. Da läuft das Schwein, ohne ſich ſtören zu laſſen, um Betzeitläuten ſeinen Weg hin und her. Seit etwa fünfzig Jahren ſchon iſt ein Haus in dieſen ſeinen gewohnten Pfad gebaut worden, nun läuft es durch daſſelbe mitten hindurch.

24 Hunde folgen dem Wode nach. Müllenhoff, Schlesw. Sag. No. 500. Frau Gauden hatte 24 Töchter; zuſammen waren ſie ſo leidenſchaftliche Jägerinnen, daß ſie riefen, die Jagd iſt beſſer als der Himmel! Nun

Digitized by Google

sind's 24 Hündinnen, die den Jagdwagen der Mutter umklaffen müßen. Kuhn, märk. Sag., S. 217. Nordd. Sag., S. 2. Die Moor Moritz hat ihren Namen in gleicher Wortverdrehung, wie Moritzmachen gilt, statt Moreslehren. Seifert, Hildesh. Sag., pag. 178.

## 86. Das Dorfthier von Lütwil.

Es macht seine Runde bloß im Dorfe. Dabei erscheint es anfangs wie ein winzig kleines Thierchen, fast wie ein Igel gestaltet. Begegnet man ihm und es schlägt gerade Zwölf im Thurme, so schwillt es zur Größe eines Heuwagens auf. Soll der Jahrgang recht fruchtbar werden, so läuft es mit sieben Jungen, das sind weiße und schwarze Katzen. Sie legen sich den Leuten gerne in den Weg, tritt man aber auf eine, so bekommt man das Weh, das fallende Uebel, das im Dorfe wirklich häufiger vorkommen soll.

## 87. Die Meerenschwander-Dorfloos.

Das Nachtgespenst des Freienämter-Dorfes Meerenschwanden ist ein Schwein, das zwar die Dorfloos heißt, im Allgemeinen aber eben so häufig Dorfhund genannt wird, weil dieser letztere Name der landesübliche für jedes allbekannte Gespenst ist. Ein Reisender, der auf dem Wege nach Zug begriffen, Abends durch Meerenschwanden kam, stolperte über dieses in der Gasse umlaufende Schwein und meldete den Leuten im nächsten Hause, sie möchten das losgekommene Thier wieder in den Stall thun. Man erwiederte aber kurz, er und jeder andere solle jene Loos nur sein lassen.

Der Scherz der Nachbargemeinden giebt den Meerenschwandern den Spitznamen Speck, und behauptet: sie hätten sich bei einer Kirchweih besonders an Speck gütlich thun wollen, und um ihn beim Sieden vor dem Zerfließen zu bewahren, hätten sie ihn in eine Windel gewickelt in den Kochhafen gesteckt. Auch hiemit weist der alte Spitzname auf das Ortsgespenst der Loos zurück. Die Buttwiler führen den gleichen Schmutznamen. Sie nahmen zum Speckstehlen zwei Säcke auf einmal mit, füllten den einen und ließen heißhungrig den andern am Platze liegen. Da er ihr Dorfzeichen trug, waren sie bald daran erkannt. Ebenso heißen die Bewohner von Gebistorf Speck, die von Birmenstorf Wildsäue, und denen im benachbarten Mühlingen singt man nach:

Mülliger, Mülliger-Moore,
Hänked d'Speck a d'Ohre!

## 88. Die überfahrende Sau bei Koblenz.

An der Mündung der Aare in den Rhein liegt das Fischerdorf Koblenz. Zu regelmäßigen Zeiten erscheint am jenseitigen Ufer des Nachts ein Schwein, um sich vom Fährmann ins Dörflein übersetzen zu lassen. Auch jetzt, da die Kantonsregierung das Fahr gänzlich erneut und für den Transit im Großen hergestellt hat, findet sich das Schwein noch immer ein und geht mit der Naue herüber. Die Leute sagen, es sei ein betrügerischer Grenzzollner dieser Gegend.

Gott Frô, dem der Eber geheiligt und in den Wagen vorgespannt ist, besitzt ein Schiff, in welchem alle Götter mit Waffen und Heergeräth Raum fanden, das sich seinen Fahrwind selber machte und das die Zwerge mit solcher Kunst gefertigt hatten, daß es sich wie ein Tuch zusammenfalten und einstecken ließ. Von diesem ist die Rede in Abthl. I, No. 38: Räuberschiff bei Rietheim.

---

## 89. Rindelenmoor bei Schupfart.

Herwärts vom Dorfe Ober-Schupfart im Frickthale treibt in der Rindelen die Rindelenmoor ihr Unwesen, ein gespenstisches Schwein, das man sonst auch Rochelenmoor wegen ihres heißhungrigen (rüechenden) Grunzens und Wühlens nennen hört. Vor noch nicht langer Zeit machte hier Nachts ein heimkehrender Schupfarter-Bauer seinen Begleiter aufmerksam, ob er denn jenen Hund nicht bemerke, der beharrlich hinter ihm drein fauche und lappe. Der Befragte konnte durchaus nichts wahrnehmen. Nun fieng der Andere gewaltig an zu fluchen und meinte damit das Unthier zu verscheuchen; als das Thier wegprallte, ward er aber am Fuße gestreift. Der Mann schwoll heftig an und hatte lange darnach noch das Bett zu hüten.

---

## 90. Der Schweinreiter auf Thierstein.

Auf der Schloßruine Thierstein im Frickthal begegnete einst mehreren Hirten ein Mann und ersuchte sie, ihm hier eine große Eisenkiste aus einem finstern Orte heraustragen zu helfen; nur möchten sie dabei nicht lachen, sonst könnten sie leicht Schaden nehmen. Die Hirten halfen unverzüglich, hatten aber kaum die Kiste gefaßt, als ein gar närrisch gekleideter Mann auf einem Schwein daher geritten kam. Da war das Lachen nicht mehr zu verhalten. Kaum war dies geschehen, so fuhr der Reiter unter entsetzlichem Geschrei rings herum, während die Hirten wie todt zur Erde fielen. Als sie wieder erwachten, lagen sie bei ihrem Vieh, das ruhig weidete. (A. Birrcher in Laufenburg.)

Digitized by Google

Grebelhou heißt ein Alpengeist im Waatlande, der auf Schweinen geritten kommt. Zürcherisch gilt grebeln, Grauen erregen, Grebel, ein häßlicher und schlechter Mensch. Grebelistrugge und Wundertrugge ist der Zauberkasten. Vulliemin, Kant. Waat 2, 31. Stalder 2, 520. Vergl. No. 92, Ebermann in Köllikon.

## 91. Die silberne Sau im Chillholz.

Im Freienämter-Dorfe Buttwil und den benachbarten Gemeinden des Lindenbergs geht noch die Rede, es hätten die Klosterherren von Muri, als die Neufranken am Ende des vorigen Jahrhunderts gegen die Schweiz anrückten, eine silberne Sau auf dem Hofe Chillholz vergraben lassen, der damals noch zum Stifte Muri gehörte und auf der Höhe des großen Lindenberges gelegen ist. Es ist dies derselbe Berg, an dessen östlicher Seite das Gausermatten-Wibli schreit, No. 116, so oft dem Lande Kriegsgefahr droht, und auf dessen Höhe nach Norden das Bad der Elftausend Jungfrauen liegt, auch Heidenbad genannt, No. 14. 15. Nun soll es noch nicht lange her sein, daß einer der beiden Bauern gestorben ist, die beim Vergraben jenes silbernen Thieres hatten behülflich sein müßen. Er habe es öfter geschildert, wie man das Thier in ein Salzfaß geschlagen, bergauf geschafft und im Walde versenkt habe, und sein Zusatz hieß dann gewöhnlich: wenn er damals schon so klug gewesen wäre wie sein Kamerad, der Odli (kleine Adam) von Buttwil, so hätte er sich sein Stück Speck von jener Sau auch auf Lebenszeit abschneiden können.

Gerade so vergraben die bayrischen Mönche, als die Schweden kommen, drei Schatzkisten, in deren einer digenes Fleisch (geräuchertes Schweinefleisch) ist. Schöppner, bayr. Sag. 1, No. 37. und ebenda No. 147 wird ein goldener Fuchs ausgegraben. Dies zusammen erinnert an den Bauern in Wolfs ndl. Sagen, der, nachdem er dem W. Jäger behülflich gewesen ist, vierzehn Tage lang nachher noch Eberfleisch einzusalzen hat; und an das Goldferch der Lauterbacher-Satzung in Grimms Weisthümern, das noch i. J. 1589 an die Gerichtsmänner gezinset worden ist. Es ist dies der Majalis sacrivus der Lex Salica, der beim christlich gewordenen Frankenvolke alljährlich zum großen Frühlingsopfer dargebracht wurde. Eine goldene Sau liegt im Schloßbergbrunnen beim Sieflingerhof. Panzer, bayr. Sag. 1, No. 22.

## 92. Ebermann in Köllikon.

In der Gegend von Köllikon, einem Dorfe bei Aarau, liegt ein Waldplatz, genannt Im Eber. Drinnen haust ein Schimmelreiter, welcher der Ebermann heißt und von Köllikon aus über die Wal-

Digitized by Google

dungen das Efter und die Egerten reitet bis hinauf gegen das Dorf Safenwil.

So läßt sich der Schimmelreiter zu Bielstein immer zwischen den Schweinen sehen des alten Klosters Ilfeld, wenn diese sich im Klostersumpfe wälzen. Pröhle, Harzsagen, pag. 226.

---

## 93. Die Pfaffenhöhle in Suhr.

Zwischen den Jahren 1740 und 1750 entstand zu Suhr im Dorfe ein allgemeiner Lärm, es führe aus dem dortigen Pfarrhause ein alter Gang unter der Kirche hinweg in ein Schatzgewölbe des Kirchberges, worin die Heidenpfaffen neben andern Kostbarkeiten und Kleinodien jenes goldene Kalb verborgen hätten, das sie aus dem wüsten Arabien mit sich nach Deutschland gebracht haben sollen. Die damaligen Tonangeber im Orte, die vielleicht ihrem Pfarrer nicht gewogen waren, aber das öde Gerücht so weit benützten, als es ihrem Streben nach Einfluß dienlich schien, rückten alsbald mit dem Antrage heraus, von Gemeinde wegen nach diesen unerschöpflichen Reichthümern im Berge graben zu lassen. Als ihnen die Mehrheit der Ortsbürger beistimmte, fieng man die Arbeit wirklich an. Man begann auf jener Seite des Chores den Boden aufzubrechen, auf welcher die Gerichtsmänner und Gemeindeältesten ihre Kirchenstühle hatten. Nach einigem Schaufeln traf man auf eine ungewöhnlich große rohe Steinplatte; für einen bloßen Grabstein war sie viel zu groß, hinter ihr fand sich ein weiter leerer Raum, der von Schutt und Erde auffallend rein gehalten schien, also grub man um so frischer drauf los. Endlich gerieth man an die Quadern einer abwärts führenden Treppe. Der Jubel war groß, aber kurz, denn trotz alles Widerspruches der Steifgläubigen mußte man zuletzt diese Treppe doch nur für ein Stück derjenigen erkennen, von der ein Jeder schon gewußt und um die sich Keiner mehr gekümmert hatte. Sie hatte nämlich zu den alten Gefängnissen geführt, welche die Berner-Herrschaft während des schweizerischen Bauernkrieges in den Sandsteinklüften dieses Kirchberges für die Aufrührer des Ober-Aargaus angelegt hatte. Diese schlechten Keichen verfielen nachher wieder und wurden zugeschüttet, einige davon benutzte der zunächst Wohnende auch als Nothkeller, und so stieß die übriggebliebene Treppe hier noch an die Kellerwand des Pfarrhofes an. Nun mußte man das goldene Kalb sammt allen übrigen Schätzen freilich im Stiche lassen. Der Schluß des lächerlichen Unternehmens blieb jedoch gleich sonderbar. Denn wer sollte nun die Kosten tragen, wer den durchwühlten Boden wieder ausfüllen und das Kirchenchor frisch belegen

Digitized by Google

lassen? Jene ursprünglichen Rathgeber waren schlau genug, allerlei Gerede zu verbreiten, durch welches sie kostenfrei ausgiengen. Denn die einen erinnerten sich plötzlich wieder, wie hier im Dorfe die Berner Reiter einst gehaust, gesengt und geplündert hatten; wie viele arme Bauern zu Suhr und zu Entfelden an die Dorflinde gehenkt oder in diese Berglöcher geschmissen worden waren; die andern aber behaupteten, diese unterirdischen Gänge stammten doch von den Heidenpriestern her, die hier gewohnt hätten, und die Ortspfarrer von Suhr seien mit diesen und andern heimlichen Dingen des Kirchberges schon von jeher nothwendig vertraut gewesen. Kurz der damalige Pfarrer Rufli wurde durch einen zweiten Gemeindebeschluß angehalten, diesen Gang vom Pfarrhause bis unter die Kirche auf seine Kosten vermauern zu lassen. Um des Friedens willen fügte sich zuletzt der gute Mann.

Ueber die in unsern Sagen häufiger vorausgesetzten unterirdischen Gänge hat Panzer, bayr. Sag. 1, S. 298 unwiderleglich nachgewiesen, daß es Grabkammern altheidnischer Tempel sind und einer Vorzeit angehören, welcher die architektonische Deckenwölbung noch unbekannt ist. Von dem auf dem Berggipfel stehenden Holzthurme solcher Tempel stieg man durch senkrechte Schachte in diese oft weitlaufenden Gänge hinab. Daß man in ihnen zu Kriegszeiten Tempelschätze verbarg, erzählt Caesar, Bell. Gall. 6, 17. Daher die Sage, daß hier goldene und silberne Thiere vergraben liegen. Unter dem Hügel Poya zu Salvan, Kant. Wallis, ist Marimians goldenes Kalb vergraben und ein schwarzer Bock hütet's. Henne, Schweiz. Bl. 1833, 308. Vor Zeiten hat man in das Heidenloch, eine Glarner-Berghöhle, ein weißes Lamm hineingebracht, und dasselbe kam dann dreiviertel Stunden tiefer, im Thale bei Schwendi, roth gefärbt wieder zum Vorschein. Blumerheer, Kant. Glarus, 315. Die Mönche Grünenbergs in Hessen vergruben, als sie ihr Kloster verlassen mußten, ein goldenes Lämmchen, und man kann es sehen, wenn man unter dem Arm durchschaut. Wolf, Ztschr. 1, 35. Schatzgräber geben vor, das goldene Kalb ergraben zu wollen. Myth. 691 a. 1223. Das Kolmarer Stadtgespenst heißt Nachtkalb, das von Wangen der Dorfhammel. Stöber, elsäß. Sag. No. 67. 173. Ein goldenes Kalb liegt in der Burg Alt-Eberstein. Mone, Anz. 1836, 414. Ein anderes liegt in der untergegangenen Stadt Benau, ibid. 1837, 174. 1838, 52. Die Hunnen begraben ihren Fürsten mit einem goldenen Kalb im Heidenbuck. Baader, bad. Sag. No. 41. Die zwölf silbernen Apostelbilder liegen im Berge vergraben. Wolf, hess. Sag. No. 189. Meier, schwäb. Sag. 1, pag. 305. Im Steinbrunnen des Schloßbergs wird einer goldenen Sau nachgegraben. Panzer, bayr. Sag. 1, No. 22.

---

## 94. Der Lochluegenjäger.

Am Wege vom Dorfe Leerau nach Staffelbach liegt westlich der Großstein, östlich eine muldenförmige Thalsenkung, die Lochluege.

Digitized

Dorten auf einem Hügel, welcher Schloßhubel heißt, soll einst eine Ritterburg gestanden haben und ihr letzter Besitzer, der diesen Platz in schlimmen Ruf gebracht hat, ist der Lochluegenjäger. Bald sieht man um den Kopf des Hügels ein blaues Räuchlein sich dehnen, und dies deutet auf schlechtes Wetter; bald begegnet denen, die hier durch müßen, der Burggeist selber. Er ist in Frickthaler-Tracht gekleidet, die hier auf viele Stunden weit nicht üblich ist, nämlich in einen langflügeligen grünen Tuchrock mit großknöpfiger rother Weste. Ein Mädchen, das vor etlichen Jahren hier allein auf dem Wege war, meinte in der Gegend des Esterli, wo der Leerauer- und der Staffelbacher-Gemeindebann sich scheiden, mit jedem Schritte in tiefem Laub und Heidekraut einzusinken, so sehr raschelte und rauschte es um sie, und doch stand sie allenthalben auf nacktem, kahlem Boden. Angstvoll hebt sie die Füße höher und beginnt zu springen, aber auch das Rauschen wird um so ärger und nur mit Noth kommt sie von der Stelle. Aehnlich ergieng's hier auch einem Burschen, welcher Mehl aus der Mühle geholt hatte und auf einem zweiräderigen Karren vorbeiführte. Hier deuchte es ihm, sein Karren ziehe sich plötzlich so leicht. Er blickt um, da hilft ein Mann, von dem er vorher nichts bemerkt hat, ihm hinten den Mehlkarren stoßen; er ist ganz in Rübeli gekleidet, nämlich in grünen Baumwollensammet, den man häufig zu Hose, Spenzer und Weste zusammen wählt, und auf dem Kopfe hat er einen hohen schwarzen Strohhut. Der Bursche wagt nicht, etwas zu sagen, auch der Grüne spricht nichts. Nach einer Weile wird die Last wieder schwerer, der Ziehende schaut wieder um, da ist der Rübelimann verschwunden. Jetzt erst standen ihm die Haare zu Berge. Aber gethan hat es ihm nichts.

Schlechter bekam's einem Andern. An derselben Stelle sperrte ihm ein mächtiges Schwein mit rasselnden Borsten den Weg. Er wollte schon umwenden, denn zum Ausweichen ist das Gelände zu enge und das Thier mit seiner blutunterlaufenen Haut sah ihm zu wildfremd aus. Da schnurrte das Ungethüm grunzend an ihm vorbei und hinterließ ihm nichts als einen tüchtig geschwollenen Kopf.

Wegwart, Wegweis, Wegluege und Lochluege sind Namen für cichorium indybus. Lochluege leitet ab von loh, silva. Da man der Pflanze die Wirkung des Irrkräutleins beilegt, so erhält zugleich der W. Jäger seinen Namen von ihr, da er in dem Walde, in welchem er hier haust, die Leute irreführt, denen der Samen der Lochluege unversehens in die Schuhe hinein gefallen ist. Wer auf die Blüthe der weißen Wegluegenwurzel trifft, muß die ganze Pflanze, wenn er gar nichts Anderes bei sich hat, mit einem Stück Silbergeld ausgraben, dann kann er Kunststücke damit machen. Aarg. Abgl. Am Tage St. Johannis des Täufers, erzählt Philo

von den Schweizern (Magiologia 1675, pag. 786) berühren sie knieend die Wurzel mit Gold, des Morgens vor Sonnenaufgang und graben sie herfür in der Kraft des Schwertes des Judas Maccabäus, solche wider allerlei Unglück bei sich zu tragen.

Wie der Geist hier des Bauern Mehlkarren nachschieben hilft, eben so legt ein schwäb. Bauer seinen eigenen Mehlsack dem W. Jäger aufs Roß. Meier, schwäb. Sag. No. 116. Der Lochluegenjäger trägt einen schwarzen Strohhut nach Frickthaler Bauernart; der Ranzenpuffer läßt einen breitrandigen Bauernhut auf der Erde liegen. Meier, ibid. 124, 6. Ersterer kommt ferner als Wildschwein vorbeigeschnurrt; der Ranzenpuffer verwandelt sich gleichfalls in ein solches und wandert dann in die Schweiz aus. Meier, ibid. No. 124, 2. Es hat eine blutunterlaufene Haut, theils um dadurch der rothen Farbe zu entsprechen, welche der Tracht göttlicher Wesen zukommt; theils auch, weil es das Metzelschwein ist, der Eber Sährimnir, der zu den Tafelfreuden Walhalls täglich gesotten und allabends wieder heil ist. Daher die mancherlei Thiere der Sage, die mit Vorlegmesser und Gabel in der Schwarte umherlaufen, oder plötzlich zur Größe einer Waschwanne anschwellen, in der man das Metzelschwein brüht (No. 85).

---

## 95. Das Erlisbacher Dorfthier.

Es schiebt sich in Gestalt eines geladenen Heuwagens selber in den Wiesenbach Wütherich, welcher vom Dorfe aus in die Aare geht; bei jeglicher Begegnung schrumpft es aber sogleich in einen Hund zusammen und heißt alsdann der Dorfpudel. Dieser, schwarzzottig, von der Größe eines Mastkalbes, den Schweif am Boden nachschleppend, hat feurige Augen gleich den runden Scheiben eines Bauernfensters. Wenn an jener Ackerstelle, wo das Thier in den Wütherichbach geht, das Getreide besonders schön golden reift, oder auch wenn es in den Aehren auswächst und schwarz wird, so hält man dies für die Wirkung der Feueraugen, mit denen der Geist die Fruchtfelder mißt. Zwei Dorfbuben hatten hier einst Korn vom Feld gestohlen und meinten es hinter den Knochen des Beinhauses auf dem Erlisbacher Kirchhofe zu verstecken. Als sie aber von dem mannshohen Knochenhaufen wieder herunter steigen wollten, waren Beiden die Füße plötzlich dermaßen mit Schwären überdeckt, daß sie nicht mehr weiter kamen und gefangen wurden. In diesem Beinhause hat es besonders seinen Sitz, es geht von da mitten durch die Kirchhofsmauer hindurch und halbwegs bis zum nahe gelegenen katholischen Pfarrhaus; da aber kehrt es gleich wieder um, denn ein Wohnhaus betritt es niemals, und wendet sich zu dem alten Gebäude neben der Kirche, das ehedem eine Schaffnerei gewesen ist. Die Herren von Bern hielten hier, so lange sie das Land noch regierten, ein Faselschwein und einen Wucherstier

Digitized by Google

für Jedermann aus der Gemeinde, außerdem stand noch eine Kuh im Stalle, von der eine jede Wöchnerin täglich ihre Maß Milch bekam. Oben war eine Getreideschütte, von der die Armen ihr Saatkorn unentgeltlich nehmen konnten. Von alle dem ist nichts mehr übrig als dieser Dorfpudel. Alljährlich läuft er zweimal langsam ins obere Dorf. Er thut es nur zur heiligen Zeit und hält dabei seinen Weg so gewissenhaft ein, daß Niemand zu Schaden kommt, der um dieselbe Zeit nur eben diese Richtung meidet. Gesellschaft und Gespräch verscheucht ihn nicht, auch kein Geistlicher kann ihn bannen. Geräth ihm aber Jemand in seine Bahn, so erheben sich augenblicklich ringsum hohe Mauern, vor denen man bis zum Frühläuten rathlos liegen muß, um endlich mit einem geschwollenen Kopf wieder heimgeschickt zu werden. Er kam einst zwischen zwei Männer hinein gelaufen, die zusammen von Stüßlingen her ins Dorf giengen. Schauerlich murmelnd, als ob er reden wollte, wanderte er bei zweihundert Schritt weit mit ihnen fort. Als ihn einer der Beiden schärfer betrachtete, konnte er nichts anderes an ihm gewahren, als eine sonderbare zackige Kopfbedeckung, dem Meßkäppchen der Kaplane ähnlich. Man sagt dann auch, das Thier sei ein ehemaliger Dorfpfarrer, der ein kirchenräuberisches und wüstes Leben geführt habe. Drunten in den Aarmatten beim letzten Dorfhag kommt das Thier am öftesten hervor, wenn die Witterung ändert. Da schwimmt es rauschend eine Strecke weit in der Aare herab und steigt dann herauf in den Dorfbach, um da zu „woddeln". Diesem Geräusche aber muß man entweichen, es erschüttert einem das Blut, daß es dick wird.

Einem Schatzgräber erscheint ein großer taumelnder Heuwagen, von zwei Enten gezogen und mit zwerghaften Reitern. Schambach-Müller, ndsächs. Sag. pag. 113. Schatzgräbern begegnet ein großer Heuwagen, von einem Hahn gezogen, ein anderer von Mäusen gezogen: Kuhn, märk. Sag. No. 32. 111. Auf Einem Rade kommt ein hochbeladener Heuwagen zu den Schatzgräbern in die Mühle herein: Wolf, hess. Sag. No. 183. Ein Fuder Heu, von sechs weißen Mäusen gezogen, fährt beim Goldbrunnen, im Süddtmarschen. Bechstein, DSagb. No. 171. Des Geisterhundes von Elmshorn Haare sind länger als längstes Gras. Müllenhoff, Holst. Sag., pag. 191. Die Erklärung zu diesen ungewöhnlich lautenden Anschauungen in einem so beharrlich sich wiederholenden Sagenzuge sehe ich darin, daß Hesperus in ahd. Glossen stelbôm genannt wird, wie triones (Siebengestirn) mit wagana übersetzt ist. Schlettstädt. Gloss. Haupt, Ztschr. 5, 326 a. Stellbaum ist aber unser Wiesbaum, Bindbaum, Raitelbaum. Dem entsprechend ist es also auch, daß der Liedvers „currus jam poscit phosphorus" (Grimm, Hymnor. interpretatio theot. 2, 3) in ahd. Uebersetzung lautet: reita giu fergôt tagastern. Darum erscheint das Erlisbacher- und das Lütwiler-Dorfthier (No. 86) in Gestalt eines Heuwagens, und der Drache ist stets so dick wie ein Wiesbaum, die zu erlösende Schlange

Digitized by Google

so lang wie ein Heuseil (vgl. zum Beweise für letzteres Abthl. VI, No. 234 Drache. — Abthl. IV, No. 167 Schlüsseljungfrau von Tegerfelden).

---

## 96. Die Fischbank bei Othmarsingen.

Wenn man auf der Straße zwischen den Städten Lenzburg und Baden gegen das kleine Dorf Mägenweil kommt, so sieht man zu beiden Seiten des Weges große Granitblöcke in Menge weit in die Felder hinein liegen. Eine viel größere Zahl ist seit einem Menschenalter aus dem fruchtbaren Kornlande herausgeschafft, zerschlagen oder gesprengt worden. Manch freundliches Wohnhaus in der Nachbarschaft ist daraus gebaut. Das Volk sagt von diesen Felsenmassen, es sei hier einst ein Steinregen nieder gegangen. Die Dorfchroniken hingegen erzählen, daß schon die Römer mit diesen Blöcken die Militärstraßen und Wasserleitungen aufgeführt haben, die hier herum nach Windisch und nach Baden hin gehen. Noch ist ein besonders großer Granitkegel links im Felde drinnen, der über seine nächsten Kirschenbäume hinaussieht; derselbe soll einst noch viel gewaltiger gewesen sein, so daß man ihn nicht aus dem Wege zu schaffen wußte. Die Römer, die ihre Straßen schnurgerade zu machen pflegten, mußten ihn deshalb zerklüften, um an ihm vorbei zu kommen, und was heute noch von ihm übrig ist, war ihnen dann nur der Weisstein.

Ein solcher Block liegt auch im Walde Linth, zwischen dem Dorfe Othmarsingen und Lenzburg. Der spitz zulaufende Fels ist gegen 30 bis 40 Ellen lang und bei 15 Ellen hoch und breit; seine noch beträchtlichere Masse scheint er in den Boden zu versenken. Die mächtigen Stämme der Eichen und Buchen, die ihn umstehen, auf Tagereisen weit die edelstgewachsenen Bäume, geben ihm ein gar stattliches Aussehen. Man nennt ihn die Fischbank; er soll zur Heidenzeit den Mittelpunkt des Marktplatzes von Lenzburg ausgemacht und auf ihm sollen die Fischweiber ihre lebendige Waare feilgeboten haben. Aehnliche Felsenlasten, wie dieser, krönen den Scheitel des Berges, auf welchem das ausgedehnte Schloß von Lenzburg liegt; auch sie sollen von den Heiden dort hinauf getragen worden sein. Am Othmarsinger Wegrain stößt man des Nachts öfters auf einen unbekannten Mann, der neben der dortigen Ruhebank im Grase liegt, oder den Leuten aus dem Walde heraus entgegen tritt. Er trägt seinen Kopf unterm Arm. Um Fraufasten und wenn der Mond neu wird, geht er gegen das Dorf hin bis zum sogen. Galgenrain. Dann ist es Zeit ihm auszuweichen, sonst schwillt man an, als ob man in einen bösen Wind gekommen wäre. Der Mann, sagt man, umgeht die Römerstadt

Digitized by Google

Namens Lenz, die einstens hier gewesen, und zwar von diesem Platze aus, wo der Heidengalgen war. Hier fährt auch eine Geisterkutsche. Vor einigen Jahren aber ist sie von ihrem gewöhnlichen Wege abgewichen und im Lenzhard gesehen worden, einer näher bei Lenzburg gelegenen Waldung, in welcher das Volk eine Schatzgrube vermuthet. Die Kutsche ist im Rococogeschmack gebaut und wird von vier Rappen gezogen. Drinnen sitzt ein Herr mit zwei schwarz gekleideten Damen in Reifröcken und hoher Frisur. Vorn und hinten auf stehen Bediente. Sie fährt durch die dichtesten Gebüsche und ohne Hinderniß die steilen Abhänge auf und ab. Geleise läßt sie nicht zurück. Zwei Männer, die des Geldes sehr benöthigt waren, hatten sich hieher begeben, um den berufenen Schatz zu heben. Sie waren entschlossen, kein Wort zu reden und keinen Mucks zu machen, wenn nun auch die seltsamsten Erscheinungen kommen sollten. Alsbald zogen elf Männer der Reihe nach bei ihnen vorbei; jeder trieb sein eigenes Handwerk und führte es in Kürze auf; sie zimmerten, schmiedeten, pflasterten, metzten. Unbeirrt sahen die beiden Schatzgräber allem zu und warteten nur, ob der Schatz bald empor steigen werde. Nun trat der Zwölfte auf, einer vom Handwerke der Schleifer. Dieser hob ein steinaltes Weib aus seinem Tragkorbe heraus und setzte es mit dem Rücken an sein Drehrad, um ihr nun aufs Umständlichste den Allerwerthesten zu schleifen. „Wär' doch ämel au das Donners-Füdli-Schlife verbi!“ rief in seiner Ungeduld endlich der eine Kamerad, und augenblicklich war Alles ringsum zerstoben. Die Beiden sollen räudig heimgekommen sein.

Das Schleifen mittelst des Schleifrades ist hier eine grobsinnige Folgerung aus dem Drehen des Glücksrades; dieses selber, die rota fatalis, die Glücksscheibe, Frauen Sälden Scheibe, mit welchem sich das Steigen und wieder Absinken des Glückes darstellt, ist in Felix Hämmerlins Werk de nobilitate et rusticitate abgebildet, ebenso bei Schmeller, Carmina Burana. Bei Grimm, D. S. 1, 286. 437 lockt der Teufel zwölf Landsknechte mit der Vorspiegelung, daß sie weissagen und Schätze heben lernen würden, auf ein Glücksrad hinauf und dreht sie zwölf Stunden lang zwischen Wasser und Feuer um. Somit führt er mit ihnen das Löffelschleifen oder Hobeln des Glückspilzes und Dummkopfes auf. In diesem Sinne denkt sich dann Luther die Teufelsversuchung und die Art, ihr auszuweichen. Polterhans, sagt er zum Satan, du treibst viel Gaukelei und Kunst, komm her und unterstehe dich dies: ich will, mit Reverenz, dir hie einen starken Hinder lassen, bist du so keck, so mach einen starken Knopf daran. Hagen, Germania 6, 293. Von wunderbaren Schleiffsteinen, welche zu ganzen Hügeln an alten Burgställen auf der Gebirgshöhe sich vorgefunden haben sollen, ist dieRede No. 114. Daß sie dem Donar-Wuotan zugehören, ist dorten gezeigt und hier in der Fluchformel Donnersschleifen mit ausgedrückt.

Digitized by Google

## 97. Postkutsche zu Endingen.

Alljährlich gegen die heiligen Tage kommt durch das Dorf Endingen Nachts eine prächtig aufgerüstete Kutsche gefahren. Sie kommt durch die Weidgasse, geht durch den Bach und in jenen Dorftheil, welchen man die Rueße nennt. Vier Schimmel sind vorgespannt, sie fährt gänzlich geräuschlos und heißt gemeinhin die Postkutsche.

---

## 98. Der Jäger auf der Trostburg.

Die Zwingherren, welche sonst die Trostburg im Kulmerthale bewohnten, hatten sich im Burggraben ein eigenes Jägerhaus gebaut, das jetzt noch steht. Von da aus zog man auf die Jagd; alsdann tönten die Glöcklein am Halsband der Jagdhunde durch die ganze Gegend; alle Wege der Weidbahn aber, die man damals einschlug, muß heute noch ein verdammter Jägersknecht pünktlich ablaufen. Da geht's erst nach dem Fornach und Brandholze, wendet sich nach dem Unterkulmer Einschlag über die Brönne nach dem Weiherrain und gegen die Heurüte; dann ersteigt's die Felsen an den Wampfeln (Wannenflühen) und kehrt über die Ortschaften Dürrenäsch und Teufenthal wieder in den alten Theil des Schlosses zurück. Oft erhebt da schon um Mitternacht der Jäger sein Schreien und Pfeifen, um seine Hunde zu koppeln; und hat er sie endlich beisammen, so schlägt er sie so grausam, daß man ihr Geheul an des Heurüter-Samuels Haus vorbei gegen den Sod (vgl. No. 99) und bis in die Felsen hinauf hört. Darein mischt sich dann ein Wehklagen von vielen Stimmen; es geschieht um die Schloßfrau, welche aus Verzweiflung über die falsche Botschaft vom Tode ihres Gemahls sich sammt ihrem Kinde in den Burgbrunnen gestürzt hat. Alsdann hat man, noch ehe der Morgen anbricht, einen solchen Platzregen zu erwarten, daß das strömende Wasser den Waldboden aufreißt. Dies dauert oft bei zwei Wochen. Für diesen Witterungswechsel hat man jedoch noch andere Vorzeichen. Man hört nämlich vom Schlosse hinweg über den Berg hinaus eine Kutsche fahren, die auf die Höhe der Bampf hinüber geht und von dorten nach Retterswil und Seon in das Hallwiler-Seethal hinab. Sobald sie abfahren will, kommt eine vornehme Frau am Arme eines ergrauten Mannes unter dem alten Thor durch über den Schloßhof, dann wenden sich Beide gegen das sogen. Hundsloch und verschwinden da in einer Felsenspalte. Dies ist der Platz, um zur Spazierfahrt einzusteigen. Zu der Zeit hütet dorten stets ein schwarzer Pudel eine Eisenkiste. Bei Tage aber sonnt sich am Berge unten ein altes Weib

Digitized by Google

und hat eine Wanne neben sich stehen, in welcher bloß weiße und rothe Böhnlein liegen. Fürchtet man dabei die Katze der Alten nicht und kann eine solche Bohne erhaschen, so verwandelt sich diese je nach ihrer Farbe in ein Gold- oder Silberstück.

---

## 99. Der Sodbrunnen der Römerstadt Lorenz.

Vom Dorfe Dürrenäsch führt der Weg über den Bergsattel hinüber nach dem Dorfe Lütwil zum Ufer des Hallwiler-Sees. Droben auf der Berghöhe findet sich seitwärts im Walde eine hübsche Waldwiese mit einem alten halbverfallenen Ziehbrunnen, welcher dem Platze den Namen Sod gegeben hat. Land und Brunnen gehört den Einwohnern von Lütwil und sie haben letztern jährlich zu reinigen. Allein sie betrachten ihn mit großem Mißtrauen, trinken niemals daraus und steigen, wenn sie ihn alljährlich von dem hinein gewehten Sand und Waldlaub wieder frisch reinigen müßen, niemals weiter als bis auf eine geringe Tiefe in ihn hinab. Der Brunnen würde ihnen und ihren umliegenden Gütern in jeder Weise nützlich werden können, man hat ihnen auch schon mehrfach Geld angeboten, um ihn wieder in Stand zu setzen, sie lassen sich jedoch nicht dazu bewegen. Sie sagen nämlich, dieser Quell sei sonst reichlich geflossen und habe Hunger und Durst zugleich gestillt; allein der Teufel habe Queckſilber drein gegossen und so sei das Wasser versiecht. Zum Hohne habe er dann seinen Roßstall an jenes besonders anmuthige Plätzchen auf dem Wege zwischen Kulm und Dürrenäsch hingebaut, wo er seine Rosse an den Schwänzen herauszieht und alle Vorübergehenden plagt. Auch steckt er in Gestalt einer großen Kröte im Brunnen. Der Barthli-Sepp ist seit fünfzig Jahren den Leuten noch im Gedächtnisse, wie er als ein ruchloser Nachtbube hier einst in die Tiefe des Brunnens hinunter gegraben und jene entsetzliche Kröte erblickt hat; auch an ein Büblein erinnert man sich noch, das beim jährlichen Räumen der Cisterne einmal zu nahe an den Rand getreten und hinunter gefallen war. Mittelst vieler Seile konnte man es wieder herauf ziehen; als man es abwusch und ihm die Steinchen aus den Schuhen klopfen wollte, waren alle Buchenblätter, die drinnen steckten, zu eben so vielen Goldstücken geworden.

An diesen Sodbrunnen knüpft sich nun eine Reihe von Erzählungen, die einen eigenen kleinen Sagenkreis bilden, welcher von dem Kulmerthale aus in das Hallwiler-Seethal, von diesem bis über den Staufberg und zur Stadt Lenzburg hin reicht. Sie knüpfen sich in

Digitized by Google

diesen verschiedenen Thalschaften an einzelne Waldungen, Moose und Wassertobel überall frisch an, oder auch an die Ueberreste eingegangener Wohnungen, an Ruinen angeblicher Heidenbauten oder Raubschlösser, und so sind daraus fast eben so vielerlei neue Geschichten an jeder einzelnen Oertlichkeit besonders entstanden.

Der Sodbrunnen war der Mittelpunkt einer gewaltig großen Römerstadt, welcher man mehrere Namen giebt. Die Lützwiler nennen sie das Gufenstädtli und sagen, sie habe vom Kulmerthal an und den Dörfern Kulm, Zetzwil und Dürrenäsch über den Berg hinüber bis zum Hallwiler-See gereicht und sei da über die Dörfer und Waldungen von Birrwil, Nieder-Hallwil und Seon bis zur Stadt Lenzburg gegangen, wo die gleichnamige Schloßhöhe Goffisberg noch jetzt auf diesen altrömischen Stadtnamen Gufenstädtli hindeute. In der Nähe jenes Brunnens aber stand das oberherrliche Schloß. Dieses war von einem abscheulichen Tyrannen, die Stadt von einem nicht minder entarteten Volke bewohnt, und so vertilgte endlich Gott dieses Sodom und ließ es von der Erde verschlingen.

Die Leute vom Dorfe Dürrenäsch geben der versunkenen Stadt den Namen Lorenz und weisen den Lauf der alten Stadtmauern an mancherlei Baureſten nach, die an der Straße gegen Hallwil hin hie und da aus dem Boden schauen. Südöstlich vom Dorfe liegen ein paar Bauerngüter, welche man noch Sodhöfe nennt, sie gelten als die Ueberbleibsel des Stadtschlosses.

Im obern Kulmerthale zwischen Reinach und Beinwil, nennt man dieselbe Römerstadt Hulm und erklärt sich mit ihrem Namen den des dortigen Hombergs, auf dem sie lag. Von dieser großen Bergstadt zeigt man daselbst oben im Hochwalde an einer Stelle, da mehrere Feldwege sich kreuzen, noch den Grundstein, in welchem sich die Angeln des Stadtthores gedreht haben. Sie hat zugleich dem Kulmerthale den Namen gegeben. Als sie durch Feuer zerstört worden, blieb noch ihr Brunnen übrig, aber auch der wurde durch hinein gegossenes Quecksilber versenkt. Die Stelle, wo er sprang, füllt sich bei unfruchtbaren Jahrgängen noch jetzt mit Grundwasser an.

Anderwärts nennt man das Schloß wieder Iglisten und sagt, es sei westlich vom Dorfe auf dem Hügel gelegen und von Rittern bewohnt gewesen. Hier reitet zu Zeiten ein Weib auf einem weißen Rosse den Hügel hinan.

In alle diese Erzählungen mischt sich sodann die andere von der Wilden Jagd, und da jenes Schloß des Oberherrn beim großen Brunnen stand, so geht auch diese W. Jagd herkömmlich vom Sodbrunnen aus. Sobald die Witterung ändert, vernehmen die Einwohner von

Digitized by Google

Lütwil aus dieſer Waldgegend her ein mächtiges Toſen und Brauſen und ſagen dann: „der junker Oberherr rot't se, d'meuti wird los glo, d'Wildjagd foht a.“ Kommt dies bei Tage, ſo vernimmt man bloß den Ton eines Jagdhornes, kommt's bei Nacht, ſo hört man auch Hundegebell dazu. Iſt dieſe Jagd einmal aufgeſtanden, ſo hält ſie getreu folgende Richtung ein. Sie zieht vom Sod nach der Egg, von da in das Wuſt an der Wannenfluh, und von da durch die einzelnen Striche des Lütwiler-Waldlandes, welche Föhren, Kabishaupt, Guggerai und Hinterm Ofen heißen. Von hier aus aber ſtehen ihr zweierlei Wege offen; entweder zieht ſie nun querfeldein über weites Ackerland und durch das Dürrenäſcher-Moos, und ſo kommt ſie gerade auf die Bampfhöhen in den Liebegger- und Retterswiler-Wald. Oder ſie nimmt den Lauf in einem Halbkreiſe durch lauter Waldungen des Kulmerthales, ſetzt in das Kulmer-Holz, kommt zu des Teufels Roßſtall, ſetzt auf den Reinetberg über, von da über Dürrenäſch und Teufenthal nach dem Schloſſe Troſtburg und endigt dann auch hier auf der Bampf und im Retterswiler-Wald. Während dieſes Zuges iſt es für niemand rathſam, vor dem Hauſe zu ſtehen, wenn man nicht einen entſetzlich geſchwollenen Kopf, Triefaugen und andere Uebel bekommen will. Nur der Scharfrichter könnte dann ein Heilmittel angeben. Den Wilden Jäger, der dieſe großen Waldſtrecken durchfährt, nennt man Sodbaſchi. Es haben nämlich einſt zwei Jäger die Bampf bewohnt, die in ihrem Haſſe gegenſeitig ſich trieben und bannten und endlich mit geweihten Kugeln auf einander ſchoſſen. Als der eine gefeuert hatte, fieng der andere die tödtliche Kugel mit dem Hut auf und ſchleuderte ſie ſeinem Gegner an den Kopf. Dieſen hört man nun, wenn der Mond neu wird oder die Witterung anders, auch um Fraufaſtenzeit, ſeinen Hunden droben rufen und mit ihnen beim Stieget, dem äußerſten Theile von Teufenthal gegen Dürrenäſch hinziehen. Er heißt Sodbaſchi, weil er der Sebaſtian vom Sodhofe geweſen iſt. Nur der alte Liebegger-Köhler brauchte ſich nicht vor ihm zu fürchten; ſo oft er ſeinen Meiler anzündete, kam der Sodbaſchi herzu, wärmte ſich dran und ſeine Hunde fraßen dem Köhler das Brod aus der Taſche.

Allein die Wilde Jagd nimmt ihren Zug auch hinüber in das jenſeits gelegene Seethal von Hallwil, und bleibt auch auf dieſer Fahrt ebenfalls ihren ſchon einmal berührten Gegenden ſtets getreu. Die Waldtheile, die ſie hier beſucht, heißen Salvis, Tüfels Tanzplatz, ein runder unfruchtbarer Waldplatz voll Fils und Sauergras, Galgenhölzli. Hier erreicht ſie die ſteilen Birrwiler-Waldungen und ſtürzt aus ihnen mit lautem Hundegebell herab ins Häfniloch, einem Bachtobel, in dem ſie verſchwindet. Die Leute, die dorten an der obern

Digitized by Google

Bergstraße einige vereinzelt liegende Häuser bewohnen, Häfni genannt, wissen die Ankunft der W. Jagd immer voraus; denn es läßt sich dann Tags zuvor unten am Seeufer bei Alliswil eine große Schlange blicken, die ein Goldkrönchen auf dem Kopfe hat. Alsdann braucht man nur die Heuschober oder Korngarben rechtzeitig noch unter Dach zu bringen. Jene Höfe leiten ihren Namen zwar nicht von der erwähnten Römerstadt, aber von einem Schlosse ab, das hier stand und vom Berge verschlungen worden ist. Es schaut noch Gestein davon aus dem Boden hervor und an jener Stelle fechten nun Nachts oft Ritter unter großem Lärmen. An einer besonders tiefen Erdgrube sonnt sich da auch ein Schatz, den ein schwarzer Mann Mittags hütet und ein Fronfastenkind heben könnte.

Von hier weg schlägt die Wilde Jagd ihren Zug durch das Thal hinab nach Seon und Egliswil ein. Dorten kommt dann ein großer Leichenzug zu Roß (No. 100) mit auf den Staufberg gegangen, während zugleich die Geisterkutsche am Heidengraben und der Heidenkirche vorbei (No. 168. 469) gegen die Stadt Lenzburg fährt (No. 96).

Der Name Lorenz, welcher hier einer bis auf den Brunnen untergegangenen Römerstadt gegeben wird, scheint sich zunächst auf den Namen des Flüßchens Lorez zu beziehen, das aus dem Zugersee kommend unterhalb Maschwanden in die Reuß, den aargau. Grenzfluß im Freienamte, mündet. In Kuhns märk. Sag. 7 ist das Bild der Jungfer Lorenz das Wahrzeichen und Schutzmittel der Stadt Tangermünde, das man weder berühren, noch von der Stelle nehmen darf. Sie schenkte jener Stadt so viel Land, als sie selbst auf einem Hirschen umreiten konnte. Unser Stadtnamen scheint sich nicht auf den größern Landbesitz, sondern auf ein unter besonderm Verhältniß erworbenes Brunnen- und Wasserrecht beziehen zu sollen, und mag ursprünglich Aehnlichkeit mit folgender Legende gehabt haben. Die Kapelle zu Temsche ist der hl. Amalaberga erbaut worden, weil sie bei einer großen Landdürre die Wohlthäterin dieses Ortes war. Der einzige Brunnen jener Gegend sprang sonst auf dem Acker eines Geizigen und dieser gab das Wasser nur kaufsweise ab. Da bat ihn Amalaberga um ein Sieb voll, dies schöpfte sie voll und leerte es auf ihrem Acker aus; hier entsprang ein heilkräftiger Born, der des Geizigen aber verfechte. Wolf, Beitr. 1, 184. Der Brunnen, der unserer Erzählung nach, des Teufels Roßstall heißt und bei obigem Sadtbrunnen gelegen sein soll, verräth verwandte Züge.

---

## 100. Nächtlicher Leichenzug bei Seon.

Vor alter Zeit war im ganzen Hallwiler-Seethale keine Kirche und kein Kirchhof als auf dem ein paar Stunden entfernten Staufberge. Dorthin giengen die Leute von beiden Seeufern zur Predigt, dorthin brachten sie auch ihre Leichen. So geschah es auch, als der



Digitized by Google

reiche Herr im Schlosse zu Lütwil starb und auf dem Staufberge beerdigt werden sollte. Bevor die Lütwiler Leute aber sich auf den Weg machten, tranken sie im Schlosse, von dem heute gar nichts mehr zu sehen ist, noch so viel, daß sie hernach im Zuge hin und her wankten und endlich den Sarg gar fallen ließen. Bis sie diese Ungebür ganz abgebüßt haben werden, müßen sie seither nächtlicher Weile von Zeit zu Zeit wiederholt mit der aufgebahrten Leiche zum Staufberg hinunter ziehen. Dabei halten sie folgende Ordnung. Am dritten Tage Neumonds gewöhnlich brechen sie von Lütwil gegen das Dorf Dürrenäsch auf; dorten stellen sie das erste Mal ab und ruhen. Dann gehen sie quer über das Aescher Feld gegen das Retterswiler Dörfli, wo sie wieder ruhen und umwechseln. Auch weiter unten im Galgli, einem Dickicht an der Lenzburger Landstraße, halten sie abermals still und füttern die Pferde mit ein wenig Hafer. Dann geht's gegen Seon, durch das obere Dorf hindurch und in das Chilchthal hinein. Von dieser Bergenge ziehen sie zum Heiliggraben hinüber und warten, weil sich ihnen hier eine zweite Schaar anschließt. Nun geht's ohne weitern Halt hinauf zum Staufberg. Droben auf dem Kirchhofe nehmen alle die Hüte ab, bedecken das Gesicht mit einem schwarzen Tuche, und die Pfarrer knieen am Grabe und beten eine halbe Stunde. Dann verschwindet alles.

Unseres Vogts Große hat sie kürzlich einmal gesehen, da sie Nachts von Retterswil heimgieng nach Seon und im Galgli bei der Kiesgrube noch zurückschaute. Der Sarg war mit einem rothen Tuch bedeckt; vier große Männer, in rothen Strümpfen, schneeweißen Ueberröcken und Spitzhüten trugen ihn. Voran giengen zwei Pfarrer in rothen und weißen Hüten, jeder trug ein offenes Buch, in dem er beständig betete. Zu beiden Seiten der Bahre und hinterher folgte eine große Schaar zu Pferde. Die Gewänder der Herren schimmerten von Gold und Gestein, die Pferde trugen Kränze um den Hals. — Jedesmal wenn der Leichenzug dieses Weges kommt, stürmt und tost es bei uns aus dem Reffenthal und über den Schürberg-Paß her, und man kann sicher sein, daß es schlechtes Wetter geben wird. Wer nicht einen geschwollenen Kopf oder sonst ein Uebel bekommen will, geht dann gewiß nicht aus dem Hause. Wer aber den Zug anredet, wird todtkrank.

Ein alterthümlicher und schätzbarer Zug liegt hier in der Angabe, daß das Leichengefolge Halt mache, um den Leichenrossen Hafer zu füttern. Wenn die Schleswiger Bauern bei Hesterberg, erzählt Müllenhoff, einen Acker mit Hafer besäen wollen, so nehmen sie einen gefüllten überzähligen Saatsack mit und lassen ihn über Nacht auf dem Felde stehen. Der ist

Digitized by Google

dann für den „König Abel", wie man dorten den localen Wuotan nennt. Auf der Insel Möen läßt ihm der Bauer zur Aerntezeit ein Gebund Haber für sein Roß liegen. Myth. 896. Vielerlei Aerntebräuche aus Nord- und Süddeutschland in den neuern Sagensammlungen, die ich hier nicht weiter auszuziehen brauche, bestimmen nebst den in Grimms Myth. hierüber schon enthaltenen Ueblichkeiten, wie man den Aerntegott mit Trank- und Speiseopfern auf dem neugeschnittenen Felde ehrte und noch ehrt. Das ihm geheiligte Roß hat bei diesen Anläßen zuweilen noch eine besondere Rolle zu spielen. Das dafür zu unserm Zwecke Dienende ist bereits zusammen gefaßt in der Schrift Oberdeutsches Gebildbrod, No. 20 „Rößlibrod". Der reichliche Schmuck und Zierat, den unsere Ahnen den Tempelrossen in Mähne und Schweif flocht, wird von vorliegender Sage damit betont, daß die Rosse des Leichenconducts Kränze um den Hals und die Reiter Geschmeide in den Mänteln tragen. In Baaders bad. Sag. No. 227 tragen die Rosse der feurigen Kutsche Federbüsche „gleich Leichenrossen"; und jene bei Hessisch Haal haben das Haupt mit goldnen Federbüscheln verziert, gleich dem Gespann einer hohen Herrschaft. Wolf, hess. Sag. No. 28.

---

## 101. Der Quäcki zu Asp.

Ein Weib von Asp, einem Bergdorfe im Aargauer Jura, hatte Händel mit dem Manne bekommen ihres Kindes wegen; um es los zu werden und sich zu rächen, warf sie's in den Backofen. Zuletzt war noch etwas Gebein übrig geblieben. Sie nahm's sammt der Asche und streute es in den Asper-Bach. So weit das Wasser die Gebeine trug, wandelt dorten jetzt eine Gestalt, und wo der ehemals sog. Steig, jetzt aber eine Brücke vom Dörflein her über den Waldbach geht, da muß sie des Nachts stehen und sich die Zöpfe flechten. Stöhnt sie dabei schmerzlich, so wird sich bald das Wetter ändern. Von ihrer Klagestimme her heißt sie der Quäcki. Vor noch nicht einem Vierteljahre hat sie sich wieder sehen lassen, und ein Knabe wäre dabei bald übel weggekommen.

Der Zufall hatte diesen eines Abends in schlechte Gesellschaft gebracht und da spielte er, so blutjung er noch war, Karten und verlor. Er sollte nun am Ende als Kleinster beim nächstgelegenen Wirthshause Wein und Zubehör in seinen Kosten herbei holen. Es war schon sehr spät, als er ans Wirthshaus klopfte, und man öffnete nicht sogleich. Mittlerweile aber umgab ihn ein Stöhnen und Aechzen, das immer heftiger wurde, und eine Gestalt gieng dabei so hart und dicht an ihn heran, daß sie ihm zwischen die Beine zu kommen schien. Zum Glücke that eben der Wirth auf; auch dieser hatte es noch gesehen und fragte erschrocken, ob denn dort nicht eben der Quäcki weggehe, der werde wohl so furchtbar gethan haben. Aber der Junge

Digitized by Google

mochte weder antworten, noch konnte er jetzt den Wein verlangen denn im Augenblick entlud sich ein entsetzliches Donnerwetter über den Dorfe, daß er das Heimgehen bleiben ließ. Länger als eine Woch hielt der stärkste Regen an. Mit dem Namen dieses Dorfthieres häng ein bei uns allgemein üblicher Reim zusammen, mit dem man quä erisch sich geberdende Kinder beschämt:

de Quiggeli chunt, de Quäggli chunt,
er quägglet ûf de Steine,
i kenne ne, i weiss ne wol,
es quäggelet sust ekeine.

---

## 102. Der Gigelispanner auf der Risi.

Am Ende des Dorfes Döttingen kommt man zur Risi. Im steilsten Abhang geht's tief zur Aare hinab, die unten vorbeifließt; auf der andern Seite beginnt hinter einem schmalen Stücke Bauland dichte Waldung. Einige Minuten weiter macht die Straße eine große Krümmung, hüben von einem Abgrunde voll Wildniß und Steintrümmer, drüben von Waldung und neuen Schluchten begrenzt. Hier hat der berüchtigte Gigelispanner gehaust. Von seinem Hause auf der Risi droben ist er jeden Abend hieher gegangen, wenn er Kaufleute auf der Reise zur Zurzacher-Messe vermuthete. Hier saß er beharrlich an der Stelle, wo kein Fuhrwerk rasch ausweichen kann, ohne daß es Gefahr läuft, in die Tiefe zu stürzen, und wo kein Fußgänger so flink entsprang, daß ihm nicht der Lauerer da gleich wieder den Weg abgeschnitten hatte. Wie ein Bettelmann fieng er dann ein Schlemperlied an zu geigen und wartete die Mildthätigkeit des Reisenden tückisch ab; kaum aber machte der die erste Bewegung, ihm ein Almosen darzureichen, so war er auch schon mit einem Messer durchstochen. Der Bösewicht raubte ihn aus und stürzte ihn dann entweder in den Abgrund, wo ihn die wilden Thiere fraßen, oder schleifte ihn hinter in die Tiefe des Waldes, wo für manchen schon lange eine Grube vorgearbeitet war. Heute noch stehen dort aus jener Zeit solcherlei Unheilskreuze. Als er eines Abends hier wieder mit der Geige saß, hörte er den unerwarteten Zuruf: Komm! — Ja! antwortete er sogleich. Zuruf und Antwort folgte noch zweimal auf gleiche Weise hinter einander, dann blieb's stille.

Etwas nachdenklich suchte jetzt der Räuber sein Haus. Doch am andern Abend schon hatte ihn Neugier oder der Reiz der Gefahr wieder an die Stelle geführt und noch dringlicher rief es ihm heute: So komm doch! Jetzt galt's; denn er wußte, daß es des Teufels

Digitized by Google

Stimme war. Entschlossen rief er dagegen: Wohl, heute! nahm seine Geige vom Boden auf, gieng fidelnd auf die Risi und sprang von ihr hinab in die Aare.

Die Döttinger erzählen seither viel Neues von ihm. Noch sitze er am alten Mordplatze. Zu bestimmten Zeiten vernehme man da wehmüthige langgezogene Geigentöne oder einen tieftrauernden Gesang; dann aber schließe es mit einem frechen Abstrich und gleich drauf ziehe ein Sausen wild über Weg und Wald. Man geht und fährt da noch nicht ohne Behutsamkeit vorbei. Namentlich die Rosse scheuen, und es hat auf dieser Strecke noch jüngst von Amtswegen eine bessere Vorsorge getroffen werden müßen.

Ein anderer Gigelispanner haust um Klingnau auf den Kiesbänken der Aare und in der umliegenden Waldung. Er soll ein sehr rechtschaffener Mann gewesen sein. Weil er sich aber in der Aare beim Grien ertränkte, so ließ man ihn dem Gesetze gemäß auf diesen Aar-Inseln verscharren. Nun neckt er die Leute auf den Feldern. Wenn jetzt der Gigelispanner käme! sagten einst drei Holzfrevler zu einander, während sie Nachts Eichen stöckten und sich den Schrecken vor dem Bannwart auszureden suchten. Kaum war das Wort heraus, so folgte die Strafe. Sie wurden von der Räude befallen und mußten die juckende Haut so lange reiben und kratzen, daß ihnen das Blut den Leib herunter rann.

## 103. Der Viehtreiber bei Mörikon.

Sind rechte Leute einmal todt, so sind sie aller Müh' und Arbeit los. Jener Hirte aber, der auf dem Felde zwischen Mörikon und Niederlenz das Vieh getrieben hat, kann nicht ruhen; er muß auf jener gleichen Weide wandeln und wie sonst Haho! Hüo! schreien. Denn nicht bloß das Futter hat er verkauft, das er von den Leuten in Niederlenz und Mörikon bekam, damit ihre Heerden auf dem magern Flurtrieb genug hätten, sondern er schlug die armen Thiere auch noch mit scharfen Geißelhieben, wenn sie vor Mattigkeit kaum recht stehen konnten und schrie sein Haho und Hüo! bis sie über Willen und Vermögen zum Stall sprangen. Da glaubten dann die Leute, das sei der satten Thiere Wollust; aber nun wissen sie Alles, seit die Zeit gekommen ist, wo der Unbarmherzige Nachts über das leere Feld brüllt.

(Aehnliches von dem Nebelmännchen auf der Stutzalp: Flugi, Volks-Sag. aus Bünden (Chur 1843) 86.

## 104. Der nächtliche Ruf in der Mühlimatte zu Aarau.

Vor einigen zwanzig Jahren hörte man allemal, wenn ein Landregen kommen wollte, in der Mühlimatte ein nächtliches Rufen, wie wenn man die Kühe anzulocken pflegt, und ganz genau unterschied man dabei die regelmäßig wiederholten Worte: se se se! Chom, se se se! — Man meint, das sei immer der Hilferuf eines armen Knaben gewesen, der hier vor langer Zeit zu Grunde gieng. Er hatte das Vieh des reichen Bauern zu treiben, bei dem er wenig Essen und viel Schläge bekam. Die ganze Weide lag hart an der Aare und doch sollte er verhüten, daß keine Kuh zu nah an das reißende Wasser gehe. Einst sprangen ihre zwei zusammen davon und dem Flusse zu; der Knabe eilte ihnen mit seinem Lockrufe nach. Als er aber sah, wie beide von den Wellen gefaßt versanken und der fürchterlichen Strafe daheim gedachte, stürzte er sich nach und ertrank mit ihnen.

In jenen Jahren führte noch eine bedeckte hölzerne Stadt-Brücke über die Aare. Mehrere Wäscherinnen mit einander hatten sie um Mitternacht zu passieren, um die Wäsche für ein vornehmes Haus einzuweichen. Mitten auf der dunkeln Brücke begegneten sie zwei Priestern, die beide zwei Schritte weit aus einander zusammen gleichmäßig einher gegangen kamen und fortwährend mit Haselruthen um sich hieben. Zwischen sich transportierten sie so jenen Geist der Mühlimatt, der hier den Weg unsicher gemacht hatte. Die Wäscherinnen mußten, um vorbei zu kommen, den zwei Männern unter ihren Stöcken durchschlupfen. Der Geist wurde auf den Galgenhubel am Rombach geführt, wo man jetzt noch die Fasnachtfeuer anzündet, und dorten in einer Flasche vergraben.

---

## 105. Das alte Schloß bei Gontenschwil.

Auf dem nächsten Berge des Dorfes Gontenschwil zeigt man jetzt noch im Gestrüppe einen Sodbrunnen als letzten Rest des hier gewesenen alten Schlosses. Da sieht man bei hellem Tage Ritter und Frauen umherwandeln, und will das Wetter sich ändern, so hört man im sausenden Windstoß Jägerruf und Hundegebell wohl eine Stunde lang. Als ein Mann dieses Weges nach Birrwil gieng, sah er schon von Weitem hier etliche Personen so lustig den Berg herab kommen, daß er glaubte, eine Reisegesellschaft zu treffen, die er schnell einholen solle, um den hübschen Hochzeitsmarsch besser hören zu können, den sie bliesen. Als er aber den Berg erstiegen hatte, stand die ganze Schaar unbeweglich dort, und während er deutlich drei Herren und drei Frauen unterschied, glaubte er mit Entsetzen wahrzunehmen, daß

Digitized by Google

einer davon keinen Kopf habe. Er lief bis er das Holz erreichte, und dort wagte er es zu seiner eigenen Beruhigung umzusehen. Kaum sechs Schritte hinter ihm fieng es an zu prasseln, als ob der Hagel schlage, und dann durch das Oberholz zu rauschen und zu dröhnen, wie wenn die dicksten Stämme auf einmal umgebrochen würden.

---

## 106. Burggeist der Ruine Botenstein.

Oberhalb Botenwil, einem Dorfe im Uerkheimer Thale, Bezirks Zofingen, liegen auf einem Hügel mit Gesträuch überwucherte Mauerreste, einst der Herrensitz eines gewaltthätigen Vogtes. Als dieser dem Bauern von Krähenbühl ein schönes Rind frech vom Pfluge spannen wollte, erschlug ihn dieser mit der Pflugschar und ackerte ihn unter die frische Furche. Seitdem lärmt der Vogt droben auf den Trümmern. Bald fährt er in einer feurigen Kutsche den Berg hinauf, bald als eine schwefelgelb brennende Strohwelle zu Thal. Dann ändert sich jedesmal das Wetter.

(Vgl. die Anmerk. „Stierengarten zu Moosleerau" Abthl. III, No. 111.

---

## 107. Die Bornjungfrau und die Kutsche zu Aarburg.

Ein alter Fährmann im Städtchen zu Aarburg hängt fest an folgenden Begebenheiten, die sein Vater und er erlebt haben wollen.

Mitten in einer finstern Nacht wurde dem Vater vom gegenüber liegenden Bornberg her Hop-hop! gerufen, das Zeichen, daß jenseits der Aare Jemand herüber gefahren zu werden verlange. Der Strom, der hier die Grenze zwischen den Kantonen Solothurn und Aargau ausmacht, war damals noch ohne Brücke. Der Alte ruderte also pflichtgemäß hinüber, traf aber Niemanden, und da er auf seine Mahnung, daß man sich beeilen solle, gar keine Antwort bekam, kehrte er endlich um. Mitten im Fluße meinte er jedoch, es lasse sich von der Höhe des Bornberges her derselbe Ruf und von einer Weiberstimme vernehmen; einen Augenblick später ruft es wirklich unten am Ufer, und der Schiffsmann glaubt, er sehe dorten etwas Weißes sich bewegen. Er fährt daher wieder hinüber. Da er aber zum zweitenmale Niemand am Ufer finden kann, wird es ihm doch etwas wunderlich und er wendet seinen Weidling eilig heimwärts. Auch diesseits hört er zum drittenmale noch dieselbe Stimme, zugleich aber bricht ein so gewaltiger Sturm in der Luft los, daß der Fehr unfehlbar verloren ge-

Digitized by Google

wesen wäre, wenn er noch einmal dem Rufe gefolgt wäre. Bei dieser Erzählung wollte er nun nicht geradezu behaupten, daß dies die Bornjungfrau selbst gewesen sei; dies aber glaubte er zuversichtlich, daß sie alle hundert Jahre einmal die großen Gewölbe im Innern des Bornberges verlasse, um in der Aare zu baden, und wer ihr alsdann folge, der habe die Wahl, ob er diejenigen Schlüssel, welche die Schatzkiste im Bornberge aufsperren, oder jene andern sich einhändigen lassen wolle, welche zu den vergrabenen Reichthümern auf der gegenüber gelegenen Wartburg verhelfen. Damit wäre dann zugleich auch die Jungfrau erlöst.

Der Sohn dieses Schiffers berichtet von sich. Im Jahre 1801 hatte ich einst noch um Mitternacht mit dem Auffangen des Treibholzes auf der Aare zu thun, welches der stark angeschwollene Strom massenhaft mit sich herab führte. Die Nacht war aber ganz hell, ich hätte die Thurmfähnchen droben auf der Festung zählen können, und mein eigenes Häuschen sammt dem Zickzack der hohen Kirchentreppe lag mir deutlich vor Augen. Plötzlich begann droben auf dem Schloßfelsen das Gebell eines kleinen Hündchens, und als ich aufblickte, sah ich, wie dorten eine große gewaltige Kutsche das Hundert von Stufen über die Felsentreppen des Berges herab von der Kirche ans Ufer her gefahren kam. Die Furcht trieb mich augenblicklich heim. Nachher schämte ich mich meiner Angst und die Neugier brachte mich bald wieder aus der Stube. Da war aber von Allem rein nichts mehr zu sehen. Ein Unwetter jedoch war nun losgebrochen, daß man für sein Leben zu zittern hatte. Denn nun goß es mehrere Wochen nach einander unaufhörlich vom Himmel, und zugleich fieng der Bornberg an sich zu rühren, als wollte er in die Aare herunterstürzen und sie über das ganze Städtchen wegtreiben. Als dies vorbei war, gieng erst die Noth überall im Lande los und das ganze Volk kam in Aufstand. So war noch kein Jahr herum, da saßen bereits die armen Leute, die sich gegen Napoleon hatten wehren wollen, gefangen droben auf unserer Festung.

---

## 108. Das Hoden-Schüerli auf dem Nack bei Leerau.

Auf dem Nack, einer Hügelspitze beim Dorfe Kirchleerau, sind noch Spuren eines ehemaligen Schlosses zu sehen; geht man östlich über den Kamm dieses Hügels fort, so kommt man zum Hoden-Schüerli. Es ist dies die höchste, aber wohlbebaute Stelle dieser bergigen Waldgegend, und hier führt der Pfad aus dem Leerauer-Seitenthälchen hinüber in dasjenige der Rueder-Ache zum Schloß Rued. Vor dreißig

Digitized by Google

Jahren, so erzählt ein Leerauer, giengen ich und meine Schwester als Aehrenleser den Weg über dieses Hoden-Schüerli. Wie wir den buschigen Hügel aufwärts zur freien Höhe kamen, sahen wir mitten auf ihr und hart am Wege eine schneeweiße Gestalt. Sie lehnte regungslos an einer Föhre, ein weiter faltiger Mantel hüllte sie fast ganz ein. Sie schien westwärts gegen den Nackberg gewendet. Eine Zeit lang schauten wir Zwei nach dieser Gestalt, wir sahen genau, daß ihr der Kopf fehle. Da fuhr der Schreck in uns, und in weitem Umweg eilten wir über die Höhe die andere Seite hinunter in den nächsten Bauernhof. Hier langten wir athemlos an, und zuerst erblickte uns die alte, uns wohlbekannte Großmutter. Sie fragt um unsere Angst, und wir berichten schnell und unzusammenhängend, was wir so eben gesehen. Jetzt sie schnell hinein in die Stube; es war gerade Mittags und der ganze Haufen ihrer Schnitter rings um den Eßtisch. Den Löffel aus dem Maul, rief sie, nur gleich hinaus zum Binden! Die Schnitter lachten und hielten's für Spaß; denn das Wetter war herrlich, darum schien ihnen eine solche Eile ganz überflüßig. Aber der Großvater, dem die Frau indessen etwas ins Ohr geflüstert hat, steht nun auch von der Ofenbank auf und sagt zu den Arbeitern: Nun, habt ihr gehört, was die Mutter will? ihr könnt ein andermal um so länger sitzen! — Wenn der redete, so galt's. Und noch war es nicht vier Uhr geworden, als die Schnitter merkten, daß er recht gehabt; denn ein furchtbarer Sturm entwurzelte bald darnach die dicksten Bäume und hätte sicherlich alle Garben entführt, wenn man sie nicht schon rechtzeitig unter Dach gehabt hätte.

Vom Nack her hört man auch eine Kutsche über den Bergrücken hinfahren gegen das Hode-Schüerli und von da in gleicher Richtung weiter auf den entgegengesetzten Hügelkopf, welcher Burg heißt. Hier liegt ebenfalls altes Gemäuer und man deutet es auf eine zweite Burg, welche durch eine eigne Straße einst mit jener auf dem Nack verbunden gewesen sein soll. Jetzt geht nur noch ein Fußweg durch das Gestrüppe, aber ein Windstoß wirft es zu beiden Seiten aus einander, wenn die Kutsche durchfährt. So geht sie über zwei Hochwälder hin, der eine ist der Rötler mit dem Enzegraben, der andere Bodematt geheißen. Hier auf der Burg gruben zwei Männer aus Mooslecrau nach Gold. Sie meinten schon, auf den Schatz zu stoßen, als sie durch eine Erscheinung verscheucht wurden, von der sie niemals weiter erzählen wollten. Der eine erkrankte darnach und starb bald, auch der andere verfiel in Siechthum.

Ueber die hauptlosen, oder ihr Haupt unter dem Arm tragenden Männer vgl. Anmerkung No. 474.

---

Digitized by Google

## 109. Der Wetterhut am Aarauer-Hungerberg.

Das Buchgatter am Aarauer-Hungerberg ist die Grenze, bis zu welcher das benachbarte Dorf Erlinsbach ehemals das Weidevieh austreiben durfte. Im dortigen Hêrenwalde kennt der Bauer zweierlei Wetterzeichen. Er hört die Stimme eines kleinen Kindes (vgl. No. 75), und weiß, daß alsdann bald Regen folgen wird; und er behauptet, daß sich am Buchgatter ein Mann im Wetterhute zeige, der, sobald man sich ihm nähere, sogleich verschwinde. Mancher, wenn er von diesem letzteren hört, greift alsbald je nach Sense oder Sichel, denn dann kommt anhaltend gute Witterung. Auch im Dorfe Küttigen erscheint auf den Aeckern, des Statthalters geheißen, bei Regenwetter ein Mann mit großem „Schinnhut", d. i. mit einem aus gespaltenen Weidenruthen geflochtenen Deckelhute.

Von diesem Manne mit dem großen Hute weiß noch ein Volksräthsel aus dem Freienamte (aarg. Kinder-Spruch, Abthlg. III, No. 423, der Sternenhimmel); es nennt ihn den Muet, welcher als Herr des Muetisheeres mehr Krieger befehliget als der Tannenwald Aeste hat:

De Muet
mit de breit huet
het meh gä'st,
wedder der wald tannäst.

Der sehr großen Aehnlichkeit wegen sei ein bremischer Reim hieher gesetzt, den die Kinder um Martini singen und Gaben dabei einsammeln. (Bremer-Ammenreime 1836, pag. 60.)

Jann mit dem filzhoot,
dau (thau) up dem dache,
Frô mit 'n witten laken:
himmelriek is upgedaan;
wo schält wi alle hen mit usen gästen gan?

(Ueber den Namen Muet erklärt sich Anmerk. No. 129.)

---

## 110. Der Gut-Wetter in Freienwil.

In dem kleinen Dörfchen Freienwil, drei viertel Stunden von der Stadt Baden, lebte ein schlichter frommer Bauer. Er hatte die Gewohnheit auf jegliche Frage, wie es daheim gehe, was er vom Wetter und vom Jahrgang halte, mit der Redensart zu antworten: „Guet Wetter, gar guet Wetter." Deswegen nannte man ihn überall im Dorfe schlechtweg den Gutwetter. Als nun der Alte starb und man Nachts, wie es jetzt noch üblich ist, im Hause bei seiner Leiche die Todtenwacht hielt und betete, kam auch einer seiner vielen Freunde

Digitized by Google

in die Kammer herein und äußerte seine herzliche Theilnahme mit der gut gemeinten Frage: Was wird jetzt wohl unser Gutwetter machen? Da soll sogleich eine Stimme in der Kammer gesprochen haben: Es ist gut Wetter und bleibt gut Wetter in Ewigkeit!

Fast nie vergißt die Sage beizufügen, daß nach dem Erscheinen eines großbebuteten Geistes das Wetter umgeschlagen habe. Stirbt in unsern Volkserzählungen ein Böser („Alrune zu Bukten" No. 268), so hat er herkömmlich schlechtes Wetter zur Reise in die andere Welt; der Fromme dagegen heißt selber „Gutwetter" und prophezeit dieses auch noch nach seinem Tode. Moralisch gut und böse verkehrt sich sogar endlich in einen landwirthschaftlichen Witterungsbegriff. So sagen die Meininger vom Tode eines Herrenmeisters: „Sällmohl, wie der ohlt Häxenstoffl sai dräckata Himmelfohrt gehalten hott." Firmenich 2, 114. Unsere Abstractionen von Raum und Zeit übersetzt sich der Bauer häufig in eine Vorstellung von Jahrgang und Witterung; das Wetter ist ihm eins mit der Zeit: Der Nachtwächter in Biel am Bielersee mußte ehedem nicht nur die Stunde, sondern auch zugleich das Wetter ausrufen. Meyer-Knonau, schweiz. Erdkunde 1, 176. Oder die Witterung dient ihm auch dazu, einen Gradmesser von Seligkeit und Verdammniß abzugeben. Wenn's einem von Todten träumt, so giebt's bald Regen, sagt die Wetterauer Bauernregel (Wolf, Beitr. 1, No. 161) und wem's ins Grab regnet, der wird selig. Regen als Beweis der Unschuld eines Hingerichteten: Wolf, hess. Sag. No. 205. Die Entstehung des Thaues wird den Seligen und Erwählten Gottes zugeschrieben. Griesbaber, altd. Predigt. 1, 36 b. Also müßen die Unsterblichen um so nothwendiger beim Witterungsverhältnisse betheiliget sein. Tirol verehrt eine Reihe Landesheiliger unter der ausschließlichen Benennung Wetterherren. Wolf, Ztschr. 1, 282. Thalherren nennt man im luzernischen Entlibuch die Verwünschten, welche im Enziloch das Wetter machen müßen, Funken schwitzen und Donner husten müßen. Reithard, Sag. der Schweiz, 218, 537.

Die Götter machen das Wetter, und die Weiber, welche ihnen in dieses Recht einzugreifen versuchen, verbrennt das Mittelalter als wettersiedende Hexen; dämonische Thiere sind noch diejenigen, von denen man sagt, sie brauen oder kochen das Wetter, wie der Fuchs und die Katze. Gleich unbefangen äußert sich das heidnische Alterthum und die christliche Neuzeit über dieses den Göttern zukommende Geschäft. Als die hl. Columban und Gallus zu Tuggen am Zürchersee das heidnische Götteropfer, das man eben abhielt, ins Wasser warfen, drohte ihnen das Volk mit Schlägen und sprach: Unsere alten Götter haben uns und unsere Väter bisher gut genug mit Sonnenschein und Regen versehen; sie regieren wohl und wir brauchen nicht von ihnen zu lassen. Hanhart, Schweiz. Gesch. 1, 31. Aehnlich drohte, als 1850 der Große Rath des Kant. Freiburg sechs Feiertage abschaffte, der Rath Roggo dem Lande mit der Rache der Heiligen, die weder mehr regnen, noch die Sonne scheinen lassen würden. Eidgen. Volkskalend. 1851. Als die Bauern des hl. Emmeran Leiche nicht am rechten Orte bestatten, regnet's vierzehn Tage lang ununterbrochen. Panzer, bayr. Sag. 1, No. 250. Daß in Wind und Regen der Alte Gott stecke, besagt Legende, Kalenderregel, Volksspruch und Kinderreim. Ich lasse einige Beweissätze folgen: Thor serena et fruges gubernat. Adam von Bremen.

Digitized by Google

Odhinn heißt Vidhvir und Oski, Wetterherr und Wünschelwind, wenn er Schiffenden günstigen Fahrwind verleiht. Bei Donnerwetter und Donstig schwört am öftesten unsere Volksrede (vgl. Teufelsnamen: Donner, No. 415). Vom fernen dumpfen Donner gilt: der Himmelsälti mudret; von milder Frühlingswitterung: s'isch alles so prächtig und schön: der lieb gott isch gwüsslich nid höhn. Je nach des Gottes Laune, nach seiner Heiterkeit oder Finsterniß trägt er oder schwenkt er den Wetterhut, sein Zeichen der Herrschaft, und ebenso erscheinen auch die ihm dienenden, oder verwandten göttlichen Geister. Er heißt in Säm. Edda 46 b. Sidhhöttr Breithut, und in der lex Langobard. (Diut 2, 358 b.) heißt es deswegen von dieser Huttracht Odhinns: ipse est, qui apud Romanos Mercurius dicitur.

Der Gott des griech. Schattenreiches trägt einen tiefen Helm, von dem her er Aïdes heißt, Ungesehen; und die Götterbotin Iris wird bei Aristophanes (Vögel) wegen dieses ihres ähnlichen Hutes gefragt: wie nennst du dich? etwa Schlapphut? Darum heißen auch unsere wettermachenden Zwerge so oft Hütchen, nordd. Hödeken (vgl. Abthl. V, Zwergensagen, No. 211, 30). Hubert Hochhut ist ein Hauskobold (Weiden, Kölns Vorzeit, pag. 203.) Kobold Heinzelmann hinterläßt einen Strohhut, der nachmals an Kaiser Ferdinand II. kam (Grimm, DS. 1, pag. 127). Der Geist im Schlapphut heißt der Gute Mann: Herrlein, Speßhart. Sag. No. 17. Der englische Kobold trägt einen Hut von solcher Größe, daß er sich ganz in denselben einhüllen kann. Ausland 1846, No. 333. Auf dem Klostersee von Lehnin schwimmt ein Hut an einer Grundkette, und will ihn der Fischer wegnehmen, so folgt Gewitter. Kuhn, märk. Sag. No. 79. Der gespenstische Amtmann im Münsterlande trägt den Timphut (Dämmerungshut), so oft er in die eingestürzte Rothenburg fährt. Firmenich 1, 290. Der Wassermann ruft: Ein Eisenhut hält lang und gut! Wolf, Ztschr. 2, 27. Der Breithut fährt über die Mauern von Wiesensteig, und wenn man ihn in der Maskerade darstellt, macht man dabei den Rand seines Hutes größer, als ein Regenschirm ist. Meier, schwäb. Sag. No. 103. Wie es im Schwäbischen noch Huttänze giebt (Meier, loc. cit.), ebenso erscheinen Wilde Jäger (Abthl. VIII, No. 345: Müserngeist von Gäbisdorf) mit einem geöffneten Regenschirm. Beim Dorfe Wildhaus im Toggenburg wohnt im Gebirge am Käseruck das Hinterrisi-Mandli; er erscheint schreiend in Scharlachkittel und großem Lampihut (mit hangender Krempe), so oft das Wetter abfallen will. Illustr. Schweiz. Kalend. 1851, 153. Kann man sich eines solchen Hutes bemächtigen, so hat man einen Schatz mit erworben; verlieren die Zwerge auf der Insel Rügen ihre Mütze vom Kopfe, so werden sie sichtbar. Steinau, Volks-Sag. Zeitz 38, pag. 291. Vgl. Grimm, Jr. Elfenmärch. LXXV. In Schwaben sagt man, wenn etwas verloren oder verlegt ist, Teufel, thu' dein Käpple runter, oder ich verbrenn dir's! Meier, schwäb. Sag., pag. 504.. Der Schwedenkönig Eirikr führte den Beinamen Vedhrhatter, Herr des Windhutes; wohin er seinen Hut kehrte, daher wehte erwünschter Fahrwind. Grimm, KM. No. 71, weiß von einem, der durch Schief- oder Geradsetzen seines Hutes das Wetter lenken kann. Dasselbe geschieht in unserer Zwergen-Sage No. 211. Weitere Wirkungen dieses Wunschhutes giebt an: Wolf, Beitr. 1, 11. Aus dieser Göttertracht entsteht ganzen Geschlechtern Zierde und Namen. Das goth. Herrengeschlecht

Digitized by Google

nennt Jornandes, cap. 5, die pileati; Regenhut heißt der Berner-Venner, der auf dem Kriegszuge gegen das Städtchen Landeron am Bielersee umkommt 1325. Justinger. Aeltere und neue Geschlechtsnamen, welche die personificierte Witterung ausdrücken, verzeichnet Pott, Familiennamen, pag. 93. Grimm, Myth. 1068. Ich mache hier noch zugleich auf diejenigen Berge aufmerksam, welche für ganze Landschaften witterungsbestimmend sind und als Hutberge gelten. Vom Niesen am Thunersee gilt der Bernerspruch: Hat der Niesen einen Hut, wird das Wetter gut; hat er einen Kragen, darfst du's auch noch wagen; hat er Mantel und Degen, giebt's Wind und Regen. R. Wyß, Idyll. 2, 411. Hier hat also der Berg als ein Götterfitz alle drei dem Gotte selbst zukommende Symbole: Hut, Mantel und Schwert. Vom Luzerner-Pilatusberge heißt es: Si Pilatus pileatus: Aër erit defoecatus. Wann Pilatus hat ein Hut, ist das Wetter fein und gut. Cappeller, hist. mont. Pilati. 1767. 41. Hat der Pilatus eine Kappen, so wird das Wetter gnappen: Businger, Kant. Unterwalden, pag. 30. Den Uetlisberg erklärt sich die Zürcher-Mundart als einen Hütliberg. Vom Asper-Strichen im Aarauer-Jura: der Asper-Striche hät e Chappe, morn cha me der ganze Tag lappe (nämlich im Kothe). Das Freiburger-Gebirge Moléson trägt eine Nachtmütze: Moléson l'ia son caperon. Küenlin, Alpenblum. 1834, 107. Im Aargau gilt außerdem als Witterungsbestimmung: Dört dur-ab wie ne Wullhut, und dört ab wie ne Schinnhut: denn isch 's Wätter guet. In Simrocks Kinderb. No. 288: Sonnenregen, Hutabnehmen: morgen wird's schön Wetter werden! Wenn der Kiffhäuserberg in Thüringen mit Nebel bedeckt ist, sagt das Volk, der Kaiser Friedrich hat einen Hut auf. Menzel, Odin 336, mit Berufung auf Rohrs Unterharz, pag. 254. Entsprechend dem dunkeln Wollhut, welchen unsere Bevölkerung in der Wetterwolke erblickt, war Filzhut i. J. 1575 der Name einer Zürcher-Kanone. Zürch. Neujahrsbl. der Feuerwerker 1850, 15. Und wiederum in diesem Zusammenhange muß es stehen, daß Pumphut ein Mühlenkobold ist, der nach seinem ungewöhnlich großen Hut zubenannt wurde, dabei aber Klöße von der Wirkung einer Kanonenkugel schleuderte. Bechstein, DSagb. No. 566. Da die Götter nach ihrem Hut verehrt sind, so verehrt die Pfarrkirche zu Lauben, im Allgäu bei Kempten, ein letztes Stück desjenigen Hutes, den der hl. Ulrich, Bischof zu Augsburg 962, Mitbesieger der Ungarn in der Lechfeldschlacht, getragen hat. Haggenmüller, Kemptner Gesch. 1, 58. Auffallend ist es, daß Bernergebirge nicht bloß den Hut tragen, sondern wie aus folgender Erzählung hervorgeht, Hüte korbweise selber hervorbringen. Altmann, Beschreib. der helvet. Eisberge, Zürich 1751, 83 berichtet vom Lauterbrunnengletscher im Berner-Oberlande. „Ein Hutmacher von Thun, welcher mit einer Burde von Hüten nach dem Wallisland, selbige dorten zu verkaufen, verreiset, nahm seinen Weg über den Lauterbrunnen; er mußte aber zu seinem Unglück ein Stück Wegs über den Gletscher machen, stürzet sammt seiner Burde in einen Schrund. Man wußte nicht, ob der Mann unter die Mörder gefallen, niemand wollte nichts von ihm gesehen haben, er war auch in der That verloren. Nach dem Verlauf etwelcher Jahre erscheint er bei dem abgeschmolzenen Gletscher(rand) in Lauterbrunnen, aus welchem er nach etwelchen Jahren hervor getrucket worden. Seit seinem Tode ware er in dem Eis begraben gewesen, deßwegen sein Leib der Verwesung auch nicht unterworffen ware. Seine Burde Hüte,

die er mit sich getragen, hatte ihn auch nicht verlassen, man sahe alles beisammen." In unserer Sammlung fängt der Sodbaschi die tödtliche Kugel mit seinem Hut auf (No. 99. 373), es trägt der W. Jäger Kinzhalden-Joggeli (No. 150) einen Dreiröhrenhut, der Hoppeli einen Nebelspalter (No. 56), der Jäger Burkhard einen Lampihut, des W. Heeres Vorreiter und der Zauberer haben eine weiße Zipfelkappe auf (No. 120. 376); das alte Weib bei den Schatzgräbern hat eine Rußpfanne übers Haar gestülpt (No. 180), der Stifelireiter trägt einen dreikrempigen Schwarzwälderhut, einen Dreischnöri, und brennt solchen eigennützigen Leuten, die ihm ums Trinkgeld ihre zwei in einander gestülpten Hüte entgegen halten, mit dem hinein geworfenen glühenden Geldstücke ein Loch durch die beiden (No. 213). Endlich das Erlisbacher-Dorfthier erscheint zwar auch in Hundegestalt, trägt dabei aber doch ein Kapelansbaret, ist also ein bis zum Hunde herabgesetzter Pileatus, gleich dem Gotte Wod, der gleichfalls zum Hundenamen Woid und Wud geworden ist, wie König Waldemar, der W. Jäger in Schleswig (Müllenhoff, pag. 361) mit seinem Namen auch den Lockruf des W. Jägers im Aargau bezeichnen muß, wenn dieser seinen Hunden lockt: Walti, da!

---

## 111. Der Stierengarten zu Moosleerau.

Die Höhe, an welcher Moosleerau liegt, wird der Stierengarten genannt. In einer kleinen Schlucht auf der Ostseite dieser Anhöhe, gegenüber dem Roßrückenberge, hatten sich die Burgherren dieser Gegend einen Thierzwinger angelegt und belustigten sich damit, die armen Leute drunten mit den wilden Bestien kämpfen zu lassen. Von einem Weibe erzählt man, die einst weit hergelaufen kam und den Ritter fußfällig um das Leben ihres gefangenen Mannes anflehen wollte, die aber in dem gleichen Augenblicke sehen mußte, wie der Unglückliche im Burggraben von einem Bären zerrissen wurde. Weiter hinauf am Bergrücken liegt ein kleines Stück fruchtbares Land, d'Hell geheißen; und da haben sie ihre Sklaven und Schlachtopfer verscharren lassen. Hier haust nun der Hellrüter, der letzte dieser Zwingherren. Derselbe betraf einst auf dem Felde, das man den Rußerain nennt (vgl. die Rueße, No. 97), einen reichen Bauern beim Pflügen, und befahl ihm augenblicklich, den Zugstier vom Pfluge zu spannen. Der Bauer kannte wohl das Ende einer solchen Forderung und verlegte sich aufs Bitten und Flehen. Als aber alle guten Worte nichts halfen, riß der Verzweifelte das Sech vom Pfluge und erschlug damit den Tyrannen, dann pflügte er ihn auf der Stelle unter die frische Ackerfurche.

Von der Zeit an sehen die dortigen Leute oft eine Kutsche mit weißen Pferden vom Berge herab bis zum Rußerain fahren, und wer ihr je näher gekommen ist, will einen leichenweißen Zwingherrn mit langem Barte darin bemerkt haben.

Digitized by Google

Aber diesen traurigen Erinnerungen gegenüber bleibt es unbegreiflich, daß man auch auf dem gleichen Berge gar häufig sanfte Musik vernimmt; und daß es Saiten- und Pfeifenspiel sei, lassen sich die zunächst Wohnenden nicht ausreden. Ferner erzählen sie, wie hier ein Mann aus Aegypten gewohnt habe, welcher das erste Saatkorn in diese Weidgegenden gebracht haben soll. Der Hügel, auf dem er sich anbaute und die erste Frucht ärntete, hieß deswegen sonst das Kornhübeli, ein zierliches Berglein rings von Ackerland eingefaßt, und wird nun in mundartlicher Verkürzung das Chnübeli genannt.

Die Meldung, ein Aegyptier habe das erste Getreide in diese Gegenden gebracht, bezieht sich auf die Zigeuner, welche bei ihrem ersten Erscheinen vorgaben, aus Aegypten herzukommen. „jn dem jar 1419 kament gen Basel, Zürich, Bern und Solotern meh denn 200 getoufter Heiden, warent von Egyptenland." Justinger, Bern. Chronik 381. Sie thaten den Schweizern in ihren Bürgerkriegen noch 1531 gegenseitig Spionendienste: Bullinger, Chron. Tigur. Fol. 4, Bl. 290. In Schwaben nennt man sie jetzt noch Aegyptier. Meier, Sag. pag. 197. Ganz besonders gedenkt man ihrer Heidenkunst, das Feuer zu bannen und mit demselben übermüthig spielen zu können. Sie brennen daher durch jede Strohgarbe runde Löcher, ohne daß dieselbe sonst sich entzünden darf. No. 223. 426. Auch gilt von ihnen, was man jetzt bei uns den Landstreichern und Heimatlosen noch nachsagt, sie hätten im Walde auf dem Flügelberge Küchlein gebacken, dann aus Uebersättigung die Zweige der Haselstauden in den Teig herab gebogen, und sie so überbacken wieder in die Luft hinauf schnellen lassen. Die Bauern, die dann an solchen verlassenen Lagerplätzen vorbeikamen, hätten an Zauber *geglaubt*. Vgl. Bronner, Kant. Aargau 1, 426. In Meiers schwäb. Volksl., No. 71, heißt es gleichfalls:

Zigeuner sind auch keine Narren,
Wenn sie schon in der Welt rum fahren,
Kochen's Wildpret in dem Hut,
Und der Hut nicht brennen thut.

Auch Christus in der westfäl. Legende (vgl. Abthl. Legende: No. 490, Petrus mit der Geige) macht dasselbe Kunststück beim dreschenden Bauern, und anstatt daß die Garben anbrennen, entleeren sie noch ungedroschen sogleich ihren Weizen, als der Herr durch sie mit dem Lichte hindurch zündet. Alsdann wird derselbe Zug auf den „gottlosen" Schweden, später noch auf die Neufranken übertragen, welche den Herrgott „abgesetzt" hatten, No. 223.

Der Name der Gegend Stierengarten und die Bemerkung, hier sei ein von den Rittern gehaltener Thiergarten gewesen, stimmt zu W. Grimms Angaben (Athis C. 17), wornach unser auf Feste erpichtes Mittelalter Fiedler und Sänger in Baumgärten, Thiergärten und Anlagen von bedeutender Größe versammelte, wo Wurmlager und Wurmgatren nichts seltenes waren. „Das Andenken mancher Burg, die unter der Pflugschar bis auf den letzten Mauerrest verschwunden ist, hat sich nur noch in der Benennung Thiergarten erhalten und diese kommt fast ausschließlich Oertlichkeiten in der Nähe alter Burgstallen zu." Zürch. Antiquar. Mittheil. 1849. 29. Im Thiergarten zu Krauchenwies folgt dem Schimmelreiter

Digitized by Google

ein mit Menschen überfüllter feuriger Wagen und diesem ein Koch nach, der ein ganzes Gebund Kochlöffel am Rücken trägt; es ist das Jagdgefolge eines Sigmaringer Fürsten. Meier, schwäb. Sag. No. 163.

Diese Rechtssage wiederholt sich No. 106 „Burggeist der Ruine Botenstein", und kommt auch sonst in schweiz. Sage und Geschichte noch vielfach vor. Auf dem Berge Napf beim Luzerner Dorfe Luthern wohnte der Burgherr von Waldburg; er wurde von einem pflügenden Bauern mit dem Sech erschlagen und in die frische Furche eingeackert. Reithard, Sag. d. Schweiz, 201. Grimm, R. A. 546. 682 zeigt, wie Grenzsteine, denen ein Rad oder ein Pflugsech eingehauen ist, für Hinrichtungssteine der Felddiebe gehalten worden sind, die man hier bis an den Hals in den Acker eingegraben und denen man so den Kopf abgepflügt haben soll. Hier zu Lande mengte sich noch außerdem die Melchthalsgeschichte ein und des Vogtes Gewaltthat, der dem Bauern die Ochsen vom Pfluge spannen ließ. Die beiden Eigennamen der Ritter obiger Sagen weisen indeß tiefer zurück auf Hel und Wodan. Hel in der Edda wörtlich die Kälte, dann die Todesgöttin (Kuhn, nordd. Sag. Anmerk. 310) reitet bei den Wenden auf dreibeinigem Rosse und bringt die Pest. Von Seuchen sagt man in Schleswig, Hel ist da. Myth. 804. Am Hellfeiertag begeht man im Speßart den Jahrestag einer vormaligen Pestzeit. Herrlein, Speßhart. Sag. 264. Sonach wird hier der Hellreiter zum Höllengotte und verwandelt sich in einen Wütherich, in einen tyrannischen Zwingherrn. In gleicher Weise übersetzen ahd. Glossen den Namen des obersten Gottes, tyrannus uuotan. Diut. 1, 276 b. Eben dahin wird auch derselbe Name die Sage von vom Burggeist zu Botenstein geführt haben. Daß Wuotan und Bot sprachlich sich häufig vertauscht haben, soll No. 489 nachgewiesen werden. Daß ein Geroldus de Botistein urk. 1087 erscheint (Mone, Anzeig. 1837, 6), beeinträchtigt einen solchen Nachweis nicht. Vgl. den Aufsatz Helle, v. Krause in Wolfs Ztschr. 2, 288.

---

## 112. Der Wilde Jäger Mutti am Chnubel.

Das sogenannte Mutt-Schüerli am Chnubel bei Gontenschwil, Wohnhaus und Scheune, stand früher droben auf dem jenseits gelegenen Homberge, wurde aber abgebrochen und ins Thal herunter gefahren, um hier aufgerichtet zu werden. Die Fahrt aber kam in der Nähe der jetzigen Baustelle auf einer Matte plötzlich ins Stocken, und die vorgespannten Thiere zogen nicht weiter mehr an. Da bemerkte der Bauer, daß hinten auf einem hervorstehenden Brette der Ladung ein ihm unbekannter Mann inzwischen aufgesessen war. Um sein Bauunternehmen nicht durch unüberlegtes Reden zu vereiteln, stieß er jenes Brett stillschweigend vom Wagen, und sogleich gieng nun die Fuhre wieder weiter. Aber von dieser Stelle aus auf der Matte, wo das Brett abgeworfen worden, nimmt jetzt der Wilde Jäger seinen Weg zum Umzug auf den Homberg hinauf, wo sonst das Mutt-Schüerli gestanden hat. Die Bedeutungen, die der Name

Digitized by Google

Mutti in jener Gegend noch hat, sind: stark, reich, körperlich gedrungen, bösartig.

(Ueber den Namen Mutti, Muet vgl. Anmerk. No. 109. 129.)

---

## 113. Kegelspiel im Walde bei Uezwil.

Im großen Buchenwalde zwischen Uezwil und Kallern im Freienamte findet sich auf der Berghöhe, wo sich die Fußwege nach wohl fünf Ortschaften kreuzen, eine ebene, waldfreie Stelle mit einem langen rothbraunen Streifen, wo noch niemals Gras gewachsen ist. Da wäre, sagt man, die Kegelbahn gegangen des Wirthshauses, das vor Alters auf dieser Waldblöße gestanden haben und wegen vieler Unthaten seiner Gäste zuletzt vom Boden verschlungen worden sein soll. Um Mitternacht spuken nun da die Schatten der falschen Spieler, man hört die Kugel auf der Bahn hinrollen, das Lärmen der streitenden Parteien, das Stöhnen der im Raufhandel zu Boden Geschlagenen. Seltsam lautet dann die herrliche Tanzmusik dazu, die unaufhörlich fortspielt. Als der Müller von Sarmenstorf Nachts dieses Weges kam, umgab ihn hier ein starkes Surren und Rauschen, er konnte nicht mehr vorwärts, noch zurück. Zuletzt hieb er mit dem Stocke um sich und drängte sich gewaltsam hindurch, aber nicht ohne einen geschwollenen Kopf mit heim zu bringen. Auch Knaben, die an der nördlichen Bergseite, welche Gräberenwald heißt, die Ziegen hüten, haben gegen Abend schon oft jene schöne Musik gehört, die durch die Luft herkommt und dann mit starkem Brausen und Prasseln in die Waldwipfel fährt.

Das Tägerli, zwischen Uezwil und Sarmenstorf gelegen, ist eine Heide, wo das Volk seit ältesten Zeiten die Fasnachtsfeuer anzuzünden pflegt. Man kam dazu ehemals sogar Gemeindenweise zusammen und hielt Spiele, Leibesübungen und Gefechte ab. Auch hier redet man von einer großen Kegelbahn, die niemand kennt, deren Lauf aber bis zu dem weitentfernten Fuchsstein gegangen sein soll, einem Höhenpunkt dieser Gegend. Man will hier Spuren römischer Bäder gefunden haben.

Die aarg. Mundart bezeichnet den Donner: d'Engel schiebe Keigel, sie keigle wieder döt obe, sie werfet der Künig. Die Sterngruppe des Bären heißt ebenfalls Ries, Rees, Keigelries und Kegelfall. Hier erscheint Wuotan und Donar in Eine Person gemischt, der Gott des Spieles mit dem der Elementargewalten. Petrus, der Apostelfürst, muß mit seinem Himmelsschlüssel auch die Schleußen des Regens verschließen und des Donnerwetters walten. Unser Kinderreim sagt von ihm: er wirft de Schlüssel

über de Rhî, morn muess schö Wetter sî; und in der preuß. Mark wie am Rhein ist es sein Kegelschieben, das den Donner verursacht. Petrus kegelt, der Heiland thut schießen (kegeln). Meier, schwäb. Sag. No. 290. Donner, Blitz und Wetter sind drei Brüder, die eine goldne Kegelbahn besitzen. Meier, schwäb. Volksmärch. No. 6. Daher die zahlreich wiederkehrenden Sagenlocale, wo goldne Kegel liegen sollen. Eine Freiburger-Alpenweide am Gros-Mont im Sanenlande heißt le Jeu de Quilles, Kegelspiel. Schweiz. Merkur 1835, S. 116. In den Ruinen von Neu-Habsburg am Luzernersee liegt ein goldnes Kegelspiel. Wander. i. d. Schweiz, 1840, S. 123. Der Bannhölzler in Zug wird von Keglern im Kappelbusch frevelhaft angerufen zum Mitspielen, er schleudert ihre Kugel, daß sie im Felsenspalte des Kaiserberges zwischen dem Zuger- und Aegeri-See stecken bleibt. Reithard, Sag. d. Schweiz, S. 303. Auf den Trümmern des Felsenschlosses Ober-Ruchenberg bei Chur treiben Poltergeister ihr Wesen und ein goldenes Kegelspiel liegt drinnen vergraben. Röder-Tscharner, Kant. Graubünden, 1, 110. Flugi, Bündner-Volkssag. pag. 45. Im Waatländer Dorfe Belair lebt der Gemeindekobold (servant) noch in gutem Andenken der Leute. Er gehörte ins dortige Schloß, wo einer „der alten Herren" spukte und sich als Kugel rings um den Kirchhof wälzte. Vulliemin, Kant. Waat, 2, Abthl. 2, pag. 37. Der Servant selbst aber ließ sich in Gestalt eines kopflosen Schimmels, einer Geis und eines ungeschwänzten Hundes sehen. Zu Rankwil unter der Kirche kegeln Ritter mit goldenem Kegelspiel. Vonbun, vorarlberg. Sag. S. 28. Der Schwedengeneral Wrangel gräbt ein solches bei Bregenz aus, ibid. No. 31. Das Schloß am westfäl. Kindelsberg geht unter, weil man dorten goldene Kegel und Kugeln führt und mit Kutschenrädern, gemacht aus Semmelteig, spazieren fährt. Bechstein, DSagb. No. 381. Andere sagenhafte Kegelbahnen führt an: Stöber, elsäß. Sag. No. 258. Am schlesischen Rummelsberg bei Strehlen kegeln der Teufel und ein Ritter auf einer Strecke, Kegelbahn genannt. Kern, schles. Sag. Chronik (Breslau 40) S. 181. Dem Hauskobold Hubert Hochhut opfert man ein Kegelspiel. Weyden, Kölns Vorzeit, S. 204. Felslöcher, in die der Teufel Kegel aufsetzt, bei Kuhn, märk. Sag. No. 234. Der Brunnen am Drachenfels beim rheinbayr. Busenberg birgt ein silbernes Kegelspiel. Panzer, bayr. Sag. 1, No. 215. Unter der Iburg am Schloßberge bei Freiburg liegt ein goldnes. Schnezler, bad. Sagb. 1, 367. Goldne Kegelspiele, unterirdisch verzaubert: B. Baader No. 8. 38. 67. 163. (Hier ist der Kegel zum Angedenken in einem steinernen Cruzifix eingehauen.) Das Hölfterchen im Siebengebirge (ein Elbenmännchen) spukt, weil es mit einem Kegel einst einen Mönch todt geworfen. Firmenich 1, 513. Auf Hohenkrähen kegelt der Schloßgeist Poppele mit den Rittern jeden Sonntag während der Kirche. Auch in der Ruine von Aspermont bei Chur hört man kegeln. E. Meier, schwäb. Sag. S. 77. Der verstorbenen Hausfrau muß man jedes Jahr ein Spiel Kegel sammt zwei Kugeln bringen. Wolf, hess. Sag. No. 154. Ebenda No. 72: Die Kegelbahn der Riesen. Im Innern des Odenberges bekommt ein Schmied eine große Eisenkugel von starken Männern geschenkt, die da kegeln. Grimm, Myth. 905. Unter leuchtenden Bäumen, umgeben von allen Waldthieren, kegeln die Geister im Lüningsberge. Harry, ndsächs. Sag. 1, No. 27. Zu Annaberg

Digitized by Google

in Sachsen ist ein altes Sacristeibild, auf welchem die Engel nach aufgesetzten Kegeln schieben. Schramm, Reise-Lexikon (Leipz. 1744) 57. Der in alten Volksliedern gefeierte Robin Hood hat im Kirchspiel Halifax einen Felsen, den Pfennigstein, mit dem er zur Kurzweil gekegelt haben soll. Er ist auch Woden geheißen, sein Festtag der erste Mai. Die Chorherren zu Evreux in Frankreich hielten an diesem Tage Waldprocessionen und schoben zum Schlusse über ihrem Kirchengewölbe Kegel. Nork, Fest-Kal. 329. Am Ratzeburger Dom ist ein Kegelspiel eingemauert. Müllenhoff, Schlesw. Holst. Sag. pag. 79. Eine zahlreiche Reihe einschlägiger Sagen berührt auch Menzel, Odin, pag. 256.

---

## 114. Die Schloßmusik der Homburger.

Wenn die Frickthaler Mädchen in die benachbarte Baselllandschaft zur Aerntezeit als Schnitterinnen hinüber gehen, so machen ihnen ihre daheim gebliebenen Bursche auch dorten zuweilen einen Nachtbesuch und scheuen dabei, um unentdeckt zu bleiben, den mühsamen Hin- und Herweg über die dazwischen liegenden Juraberge keineswegs. Ein so unermüdlicher Liebhaber war auch Joseph Hochreuter von Wittnau, und in mancher Sommernacht überstieg er hin und zurück den beschwerlichen Homberg. Wie ein übergewaltiges Hausdach mit schnurgerader First und steilabfallenden Seiten streicht dieser Berg an der Grenze des Frickthales und Baselllandes stundenweit hin und trägt auf seinen zwei entgegengesetzten bewaldeten Spitzen die Ruinen zweier Ritterschlösser, der Homburg und des Rechbergs. Eine beträchtliche Ebene liegt oben auf der Höhe, sie stürzt aber gegen Wittnau hin jäh ab, und die tiefen Risse und Schuttwände dieser Seite gehen weithin sichtbar wie hochrothe Rinnen durch den schwarzen Tannenwald ins Thal herunter. Als Hochreuter einst in einer klaren Sternennacht auf seinem Rückwege hier herüber gestiegen kam, fand er diese ganze Ebene der weiten Länge nach gesperrt, ein doppelter Lebhag war in halber Mannshöhe drüber hingezogen und zwischen diesen zwei grünen Hecken lief pfeilgerade eine breite saubere Heerstraße. Während er den langen Hag anstaunte, wie etwas, das in dieser einen Nacht gesetzt und fertig gewachsen hätte sein müßen, begannen von Ferne her im Winde sich die Töne einer rauschenden Musik hören zu lassen; es war ein mächtig lautender Marsch. Erwartungsvoll stellte er sich am Hage auf und blickte in die fremdartige Straße hinein. Bald kam auf ihr in der Richtung, in welcher die Ruine Homberg liegt, ein gewaltiger Zug heranmarschiert. Die Spitze bildeten kleine Knaben, auf welche größere folgten, alle so ebenmäßig und nach zunehmender Größe hintereinander gereiht, daß es gar lustig anzusehen war. Paar-

Digitized by Google

weise giengen sie einher, ein jedes Paar schritt, die Straße zwischen sich frei lassend, gleichweit von einander entfernt, hart den inneren Seiten der doppelten Hecke nach. Diese Junkerlein waren alle überein gekleidet und trugen, soweit die Nacht dies zu unterscheiden gestattete, weiße Hosen und schwarze Röckchen. Ihnen folgte eine Schaar Männer nach, durchaus schwarz gekleidet, und unmittelbar hinter ihnen kam die zahlreiche Mannschaft einer Blechmusik, welche im Vorbeiziehen auf Hörnern, Trompeten und Posaunen gar mächtig aufblies. Jetzt kam eine Kutsche gefahren, mit sechs Rappen bespannt; sie war geschlossen wie ein hoher Postwagen und mit einer zahlreichen Gesellschaft von Herren und Damen besetzt. Hinter ihr erschien ein Schwarm winzig niedlicher Mädchen in weißen Kleidchen, sodann ein anderer von größeren Jungfrauen, und auch diese giengen paarweise innerhalb der beiden Seiten der Hecke. Ein Haufen schwarzmanteliger Frauen schloß endlich den Zug. Alles kam so zierlich und leicht einher, daß man keinen Schritt, keinen Huf der Rosse, keinen Laut der Wagenräder hörte; nichts vernahm man als nur die Musik, nach deren Takt sich alles bewegte. Staublos blieb die Straße, als giengen diese zahlreichen Schaaren über lauter Schnee. Alles schien, als ob es mit dem Wehen des darüber spielenden Windes hergebracht und fortbewegt würde. Was aber den Betrachter am meisten in Erstaunen setzte, war Folgendes: Anstatt daß sich Heerweg und Hecke nach Beschaffenheit des steilabfallenden Hombergs am Ende der Hochebene gleichfalls hinabgesenkt hätte, setzte sie sich in der Richtung, wie sie unten von dem Schlosse Homburg aus begann, zum Schlosse Rechberg hinüber fort und gieng also, wo die Tiefe begann, geradaus durch die Luft weiter. Dies alles geschah beim klarsten Sternenschein. Als nun Hochreuter weiter gegen die Höhe des Berges hinlief, um von da aus noch zuzuschauen, wohin das Ende des Zuges sich wenden werde, trat plötzlich eine stockende Finsterniß ein und verschlang zusammen Hag, Straße und Procession. Und damit brach ein so furchtbares Unwetter los, daß er alle Unerschrockenheit aufbieten mußte, um nur noch seinen Weg über den Berg hinab zu finden.

Dies ist die Schloßmusik und der Zug der Homburger Herren. Man giebt ihr folgenden Ursprung. Der Herr des Rechberger Schlosses liebte das Weib des Homburger Grafen aufs heftigste, doch verbarg er diese Leidenschaft vor ihr und Jedermann, und so blieben die beiden Schloßnachbarn gute Freunde, die manches Spiel und manche Wette mit einander machten. Unter anderm stritt sich einmal ihre Gesellschaft über den Sinn der Redensart, einen hinters Licht führen. Daß die Bedeutung derselben eins sein sollte mit Betrug, dafür schien

Digitized by Google

den anwesenden Damen durchaus keine der versuchten Erklärungen befriedigend genug. Der Rechberger jedoch erbot sich, ihnen dies zu beweisen, wenn man das nächste Abendessen auf der Homburg genau so abhalten wolle, wie er es nun vorschlage. Man gieng den unschuldigen Scherz ein. Zur bestimmten Minute des nächsten Abends saß also der Homburger Graf tafelnd an dem offenen Fenster, das dem Rechberger Schlosse zugekehrt war, und wie verabredet worden, so stellte die Gräfin eben noch die letzte Tafelkerze zu den übrigen gerade vors Gesicht ihres fröhlichen Gemahls, da hörte man drüben von dem Nachbarschlosse her einen Knall und zugleich stürzte der Graf in Stücke zerrissen vom Stuhle. Der Rechberger hatte ihn mit einer gut gerichteten Kanone durchs Schloßfenster herein erschossen und dem Weibe damit bewiesen, wie man die Männer hinters Licht führt. Der Hochzeit, die hierauf der Rechberger mit der Wittwe abhielt, gieng ein prächtiger Brautlauf voraus, bei dem alle Herren des Landes mit Weib und Kind erschienen. Und in derselben Weise, wie es damals auf dem Berge geschah, müßen nun ihre Seelen heute noch fahren.

Immer hört man jene Musik wieder, so oft im Sommer ein schweres Gewitter anzieht; sie tönt mit solcher Macht, daß man sie schon auf den Wölfliswiler Feldern, also wohl eine Stunde weit entfernt, deutlich vernommen hat. Vor dreizehn Jahren haben Holzbauern droben an der Ruine massivgehauene scheibenrunde Rothsteine entdeckt, die in einem Haufen zusammen unter dem Waldlaube lagen. Alle waren radförmig, darunter viele von solcher Größe, daß man sie zerschlagen mußte, um sie heim nehmen zu können; andere große und kleine hat man ins Dorf herab gebracht, um sie als Schleifsteine anzuwenden, und so sind sie nach und nach wieder verloren gegangen. Die Bauern besinnen sich heute noch, welchen Herrn und welchen Zweck wohl diese Steine einst gehabt haben mögen. Einen gleichen Fund solcher Schleifsteine will ein Bauer zu Nesselnbach im Freienamte im Jungholz des dortigen Hochwaldes in den letzten Jahren erst gemacht haben. In Höhe eines Hügels lagen diese schönbehauenen glatten Steine da; er nahm sich nur den kleinsten mit, der am handlichsten war. Als er ihn einem vorüber reisenden Schleifsteinhändler zeigte, bot ihm dieser einen Franken fürs Stück. Seither kann der Bauer, so oft er schon nachgesucht hat, keinen solchen Stein an jener Stelle mehr finden.

Der Zweck solcherlei Steine scheint in der goldenen Sichel angegeben, welche der Reiter Mattis-Ee schwingt, No. 130, und der deswegen in No. 508 als der Schwertlimann und hauptlose Mann vorkommt. Diese Goldsichel und der Wetzstein Odhinns ist besprochen Anmerk. No. 162.

Digitized by Google

Ueber Heere, die mit Gesang und Musik durch die Lüfte ziehen, ist Nachfolgendes anzumerken. Tacit. Germ. c. 45 läßt im nördlichsten Germanien die aufgehende Sonne tönen; dasselbe glaubte das klassische Alterthum von der sinkenden Sonne; in Cephalonia erscheint am Himmel eine Schaar singender Gestalten, Julius obsequens c. 73. In Göthe's Faust 2, 1 verkündet Getöse das Herannahen der aufgehenden Sonne.

Das Guetig-g'heer oder Glücksheer läßt sich bei uns in den heiligen Zeiten singend und musicierend hören. Dies stimmt mit dem Wortlaute einiger steirischen Weihnachtslieder vielfach überein, die Weinhold in seinen Weihnachtsspielen zuerst veröffentlicht hat. Dort sprechen die Hirten, da sie das Pax hominibus der Engel in der Christnacht singen hören, pag. 79:

Der Himmel ist recht Sterne voll,
Die Musik oni G'spass is toll,
Sie neigen si gegen der Erden all
Und machen d'Musik oben'n Stall.

Das ist eine Umschreibung unseres Sprichwortes: „der Himmel hängt voller Geigen", das ja auf denselben Volksglauben hinweist.

Ein anderes Weihnachts- und Krippenlied aus Aussee beschreibt den Vorgang am Himmel (pag. 88):

S'isch jo im Himmel a Lucken,
Viel tausend sein firti (zugbereit) áf d'Roas;
Wanns daten áf üns aba rucken,
Dass jeda sein Stecken g'schwind woass!

Ein Flattacher Hirtenreim dieser Art, pag. 98:

Engeln von himmel reiten:
Sö werden joa im himmel
Koan handel g'fangen oan?
Gott Vater woenn i war,
I joaget's all davoan.

Das Wutesheer auf dem würtenberg. Albuggebirge zieht musicierend, sausend und brausend durch die Luft und besteht aus Geistern, die aus dem Himmel verstoßen werden. Meier, schwäb. Sag. 140. J. Scheuchzer erzählt in seinen Alpenreisen 2, 74, daß man auf der Sandalp in Glarus zuweilen aus der Höhe her eine wunderbare Musik vernehme: suavissimum musicorum sonorum concertum. Diese oft belächelte Angabe ist neuerdings durch Oberst Weiß aus Zürich bestätigt worden. Er erstieg bei starkem Winde von der Sandalp aus den Zutreibistock und war nicht wenig überrascht, als er plötzlich Töne vernahm, welche denen einer Aeolsharfe auffallend ähnlich waren. Bei näherer Untersuchung fand er, daß der Wind in die Zwischenräume der lose auf einander liegenden Schieferplatten dieses Berges blies und dadurch diese Töne hervorbrachte. Heer-Blumer, Kant. Glarus, pag. 646. Eine ähnliche Erklärung versucht Schleiden, Studien 1855, pag. 119 über die wunderbar lautenden Töne, welche in den Vorgebirgen des Hindu-Kusch und bei El-Nakuhs, unfern vom Sinai, von Alexander Burnes, James Princep u. a. wissenschaftlich Gebildeten beobachtet worden sind. „Auf den dortigen Klippenabhängen von 45 Grad Neigung häuft der Wind Wüstensand an. Der Tritt des Wanderers, das Niedersetzen eines Vogels oder ein in ungewöhnlicher Richtung treffender Windstoß bringt die leichten Sandkörner ins Gleiten; das leise Rauschen der zuerst bewegten wird, indem mehr und mehr Sandmassen an dieser Be-

Digitized by Google

wegung theilnehmen, zum lauten nach und nach hellklingenden Ton." So meint hierüber Schleiden. Ueber die Ceyloner Teufelsstimmen, eine ähnliche Lufterscheinung, hat der verstorbene Tübinger Kanzler Autenrieth „Stimmen aus der Höhe" geschrieben (Morgenblatt 1827, 12. Decbr.). Der Ceyloneſe nennt dies den Dämonenvogel; der Isländer denkt sich darunter ein Heer von wolkenhochfliegenden Singschwänen. Dieses Ueberallvorkommen eines und desselben Glaubens, der in fast gleicher Lebhaftigkeit unter verschiedenen Himmelsstrichen festgehalten wird, überhebt einen der Mühe, an Schleidens darüber abgegebene Erklärung zu glauben und über den Hochmuth sich ärgern zu müßen, mit dem er bei dieser Gelegenheit zugleich am todten Kanzler Autenrieth zum Ritter wird. S. Anmerk. No. 474.

Wie der Hochzeitszug der Homburger hier beschrieben ist, so ist ein solcher nach den Meldungen des Mittelalters wirklich abgehalten worden. Der Gang zur Messe gab Gelegenheit, Kraft und ritterliche Gewandtheit zu entwickeln, sagt Weinhold, Deutsche Frauen, pag. 385, man hielt unterwegs ein Lanzenreiten, weltliche Musik vermehrte den Lärm. Die Reihenfolge in dem Kirchgange unterlag zwar festen Regeln, war jedoch nicht zu allen Zeiten und Orten gleich. Bei Otfried (1. 22, 13) eröffnen die Weiber den Zug, dann kommen die Männer und die Kinder gehen zuletzt. Hier in der vorliegenden Sage ist die Ordnung eine entgegen gesetzte.

## 115. Schloßmusik und Geisterwäsche.

Einer der vielen Homberge des aargauer Jura liegt gegen Oberfrick, zunächst dem Dorftheile, welcher In der Gipf heißt. Auf seinem waldigen Sattel liegt die Burg der Grafen von Thierstein; noch knüpfen sich mancherlei Erzählungen an sie über den wilden Jäger, über die landumgehende Grafenfrau, über die Freiung in der Höhe, ein Grenz-Plätzchen, das heute noch herrenlos ist und auf welchem ein ewiger Rechtsstillstand andauert. Wer am Gründonnerstag und an Pfingsten Mittags zwölf Uhr in dieser Freiung steht, der sieht ringsum über die Thäler die Wäsche von tausend Hemden und Leintüchern ausgelegt in der Sonne trocknen, und hört eine von allen Seiten her spielende Kriegsmusik, die Schloßmusik genannt.

## 116. Guggernül-Anneli und Gaußerwibli.

Auf einer Höhe des Lindenberges im Freienamte, welche der Guggernollen heißt, wohnt das Anneli, deren klagender Gesang immer Wetteränderung ankündigt; tiefer an demselben Berge liegt oberhalb dem Dorfe Buttwil der Wald Gaußerhölzli, und auch ihn bewohnt ein ähnliches Wesen, das man nach seiner wehklagenden (gauzenden) Stimme das Gaußerweiblein heißt. Nach einer unter dem katholischen Volke jener Gegend, namentlich um Bünzen und Althäusern lebenden

Digitized by Google

Prophezeiung rufen diese Stimmen zum letzten male, wenn einst hier der letzte Kampf um Glauben und Freiheit ausgefochten werden soll. Dann wird man den ganzen weiten Lindenberg in der Morgensonne von den Bajonetten der Bernerbieter (d. h. der Reformirten) erglänzen sehen, als ob ein Eisenhag ums Land geflochten wäre. Die Männer gehen dann zum Kampfe, Weib und Kind aber braucht nur so weit zu fliehen, als man an einem Laib Brod zu essen hat.

In der Umgegend vom Dorfe Lütwil heißt ein Waldplatz Gugenrain. Hier wohnt das Gugenrain-Babeli, die man zwar für eine Kindsmörderin hält, sonst aber keineswegs scheut. Sie begegnet den Kindern, die Erdbeeren und Brombeeren im Walde suchen und zeigt dadurch zugleich den kommenden Witterungswechsel an. Nicht weit von ihr ist ein ähnlicher Waldplatz gelegen, welchen das Bachthal-Anneli bewohnt, vgl. Bachmaidli zu Seon, No. 122.

## 117. Die Taufpathin auf der Wartburg bei Aarburg.

Der Junker von Wartburg wohnte auf den zwei Schlössern, welche jetzt die Sälischlösser heißen und in Ruinen liegen auf den beiden Nachbarbergen, an denen die Straße von Olten nach Aarburg vorbei führt. Er hatte eine Tochter, die aus lauter Eitelkeit wohlthätig und aus Stolz herablassend that; deshalb sagte sie auch sogleich zu, da sie einmal von einer armen Mutter in Schöftland zur Taufpathin gewonnen wurde. In einer prächtigen Kutsche, mit vier weißen Rossen bespannt, kam sie von der Wartburg im Dorfe Schöftland angefahren und gab den Befehl, die Glocken alsbald zur Taufe zu läuten. Zu gleicher Zeit aber ließ sie endlose Stücke feinen rothen Tuches aus ihrer Kutsche abwinden und vom Hause des Täuflings hinweg bis zur Kirchenthüre die ganze Gasse damit belegen. Weil nun die Dorfbuben alle schon auf den Kirchhof voraus gelaufen waren, um dorten von der Mauer herunter bequemer zuschauen zu können, wenn die in Seide und Edelstein funkelnde Pathin zur Kirche herein prunken werde, so fanden sich nicht gleich Hände genug, um die Tücher alle über die Straße zu breiten. Es waren etwa noch hundert Schritte bis zum Ziele unbelegt, und da gerade hörte der ermüdete Sigrist im Thurme schon zu läuten auf. So höret denn in Teufels Namen auf! sprach das Fräulein entrüstet, als die Glocken plötzlich schwiegen; denn das gilt heute noch für Pathin und Täufling für ein gar schlimmes Vorzeichen, erst nach dem Geläute in die Kirche einzutreten. Aber kaum war ihr das böse Wort aus dem Munde, so stellte sich ihr ein mächtig großer schwarzer Hund in den

Digitized by Google

Weg und ließ sie keinen Schritt mehr vorwärts. Die Leute mußten sie zuletzt in ihre Kutsche hinein heben, um sie nur vom Flecke zu bringen. Das Kind kam ungetauft in sein Bettchen zurück, die Pathin aber als Leiche in ihr Schloß heim. Nun geht jener schwarze Hund noch immer im Dorfe zu gewissen Zeiten herum, und eben so läßt er sich auf den Bergen der Sälischlösser und jenseits Aarburg auf dem Bornberge sehen; dorten aber muß er der Wartburgerin einen Bund Schlüssel zu den Schätzen nachtragen, die in den Ruinen der zwei Sälischlösser verborgen liegen.

Hier ist der W. Jäger in sein Attribut verwandelt, selber zum ihn begleitenden Hund gemacht. Ingleichen ist der Erlisbacher Pfarrer No. 95 und der trügerische Banntheiler, der statt der hundert Weiderechtsantheile der Almende deren nur neunundneunzig ausmißt, Abthl. VIII, No. 347 in einen Hund verwünscht, und im Hundsloch verschwindet die Geisterkutsche No. 98. Hier beruht der Name Hund auf einer volksthümlichen Etymologie und will nur als allgemeines Zahlwort gelten. Das kleine Geisterhündchen bellt, No. 107, so oft die Bornjungfrau die weiten Gewölbe im Innern des Bornberges verläßt, alsdann rührt sich der Berg selbst, als wollte er einstürzen und mehrere Wochen gießt es zugleich vom Himmel. Dieser klüftige Bornberg gegenüber der Wartburg bei Aarburg, in welchem der Bornhund spukt, ist ein Wassersammler mit regelmäßigen und periodischen Quellenflüssen. Der Hundsbach im Wäggithale, Kant. Schwyz, bleibt bei trockener Witterung ganz aus. Er hat in den trichterförmigen Felseinöden der Rädertenalpe seinen Ursprung. Das von diesen Felstrichtern verschlungene Regen- und Schneewasser zieht sich durch die Klüfte des Berges hinab, vereinigt sich drinnen in einen großen Sammler, der einen unterirdischen See bildet (vgl. Abthl. V, No. 184 c. No. 190), dessen Zugang beim sogen. Hundloch zu sehen ist, einer tiefen Felsgrotte in der Nähe der Kirche zu Hinter-Wäggithal. Bei starkem Regenwetter nun tritt durch eine Spalte des Berges das Wasser unter furchtbarem Gebrüll — eine Wirkung der eingeschlossenen und zusammen gepreßten Luft — in die sonst zugängliche Grotte und stürzt aus dieser in solcher Masse ins Thal herab, daß es nicht selten große Verheerungen anrichtet. In gleicher Weise erklärt sich die den Hirten geheimnißvolle Erscheinung eines aus dem Innern eines Berges oder einer Kluft hervor steigenden Rauches (vgl. Abthl. V, No. 195, Kochende Zwerge); es sind dies Windlöcher, deren obere Oeffnung in einem Karren- oder Schrattentrichter besteht, während unterhalb sich eine ähnliche Kluft befindet. Die aus dem Felsen heraus tretende Luft wird an der Mündung, wo sie mit den noch im Sommer herum liegenden Schneemassen in Berührung kommt, erkältet und ihr Wassergehalt in Dampfform verwandelt. Alsdann sagt der Bauer, der Fuchs oder Hase siede, der Berggeist koche, „der Her Pfarer tubäkle". Auf solchem Wege einer genauen Localanschauung werden sich noch manche von der Sage hartnäckig behauptete Ungeheuer in sehr einfache Wirklichkeiten herstellen. Man sagt z. B., unter der Runse von Valeis, Kant. St. Gallen, spukt der Valeishund. Seinen Namen hat das Val di Lei (Grafschaft Cleven, Chiavenna) von einem Meineidigen bekommen, der hier als Hund auf Erdsäcken sitzt. Escher, die Schweiz 1851, 527.

Digitized by Google

Dieses romanische Falaise entspricht der deutschen Localbenennung Faletsche, womit man am Zürcher-Uetliberg eine merkwürdige Kluft bezeichnet, die den Berg kraterähnlich und senkrecht in seiner ganzen Höhe durchrissen hat. Der gleiche Name für ähnliche Zerklüftungen wiederholt sich in der nordöstlichen Schweiz (Meyer-Knonau, Erdkunde 1, 113). Auf diesem Uetliberge wohnt aber wiederum der Dorfhund Heiggel und ein zweiter schwarzer spukt dorten auf einem alten Burgstall, der die Ofengüpfe heißt. R. Bauer, Volkssag. am Uetliberg. 1843, 7.

Eine das Kirchengeläute verwünschende Jungfrau, welche mit zur Taufe entboten ist, sich verspätet und dann in ein Ungethüm verwandelt wird, findet sich bei Panzer, bayr. Sag. 1, No. 65. 112. Der Inhalt dieser Sage ist im J. 1854 bei uns als Stadtbegebenheit neuerdings aufgefrischt worden und hat nicht geringes öffentliches Aufsehen erregt; die Sage „Zum Stehen verwünscht" (Bechstein, DSagb. No. 618. 997) kam damit vereinigt zum Vorschein. Die Kutsche, mit vier weißen Rossen bespannt, aus der heraus endlose Tücher über die Dorfstraße bis zur Kirche hin abgewickelt werden, vergleicht sich dem Götterwagen der Nerthus, veste contectum, bei Tacitus (vgl. Anmerk. No. 128 über die gespenstigen Waschfrauen und ihre Geisterwäsche) und der Krönungssitte, die rothen Tücher unter das Volk auszuwerfen, über die der Neugekrönte den Umritt gehalten hatte. Unmittelbar nach diesem Umritte schüttete man zu Frankfurt einen Berg von Haber auf, in den ein Reichsvasall sein Pferd hinein sprengen mußte. Der 1853 verstorbene bayerische Marschall Pappenheim ist der letzte gewesen, der diesen Haberritt zu Frankfurt gemacht hat. Nicht anders muß Haber und Weizen frühzeitig da reifen, wo das Dorfthier und der Schimmelreiter seinen Weg durch die Flur nimmt, oder die Geisterkutsche ihr Geleise eindrückt: vgl. Abthl. III, No. 166. Anmerk. b. c.

---

## 118. Jungfernacker bei Olten.

Bei dem solothurnischen Städtchen Olten, an der Aargauer Kantonsgrenze, giebt es einen sogenannten Jungfernacker, der seinen Namen also bekommen hat. Es war eben Markttag und zu dem Tanze, der an jedem Jahrmarkte abgehalten wird, wollte ein Bursche sein Mädchen abholen. Dieses aber war eben noch mit dem Kornschneiden beschäftigt und der Tänzer merkte kopfschüttelnd, daß sie noch lange nicht fertig sein werde. Da verfluchte sich die Schnitterin, sie wolle lieber in die Erde versinken, als bis ein Uhr nicht mit dem letzten Halm zu Ende kommen. Noch standen zwei bis drei Handvoll Aehren übrig, da schlug's in Olten ein Uhr, und das Mädchen wurde von der Erde verschlungen. Das Loch, wo dies geschah, kann niemals ausgefüllt werden. (A. Birrcher in Laufenburg.)

---

Digitized by Google

## 119. Das Hügeli-Maidli zu Holziken.

Ein hübscher Waldberg zwischen Holziken und Schöftland heißt auf der Seite, mit welcher er an den Surenbach stößt, das Hügeli. Dorten zwischen dem Walde Hard von Holziken und dem Stübisberge mit der Picardie liegt eine von Nagelfluhblöcken rings umgebene Höhle, die Hügeligrotte. Ein solcher Felsblock steht dicht vor ihrem Eingange, als wollte er ihn versperren; auch ist der Einschlupf so niedrig, daß man nur auf dem Leibe hinein kriechen kann, drum haben die Füchse ihre sichere Wohnung hier aufgeschlagen. Einige Schritte tiefer innen erweitert sich dann die Höhle und soll sich in mehrere mit Tropfstein hübsch besetzte Gänge theilen.

In alten Zeiten stand hier ein schönes Schloß. Diese Felsblöcke sind Trümmer seiner mächtigen Grundmauern, das ganze Dorf Schöftland hat mit in den Schloßbann gehört. Nur ein einziges Adelsfräulein war die Bewohnerin der ganzen weiten Burg, eine prunksüchtige stolze Jungfrau, die zwar wegen ihrer Schönheit sehr berühmt, aber bei der Thalbevölkerung wenig beliebt war. Gleichwohl unternahm es einmal um die Zeit des Frühjahres ein armer Mann im Dorfe, sie seinem neugebornen Kinde zur Taufpathin zu gewinnen, und damit sie sich nicht in sein geringes Haus bemühen müße, brachte er ihr am Tauftage das Kleine aufs Schloß hinauf. Die Zeit war da und die Glocken fiengen an zur Kirche zu läuten, im Schloßhofe drunten warteten die Mädchen schon, um mit der Herrin fort zu gehen ins Dorf hinüber auf der andern Seite des Thales. Aber das eitle Adelsfräulein konnte mit ihrem Putze nicht fertig werden und nicht vom Spiegel wegkommen, bis ihr die Magd ankündigte, eben läute es in Schöftland schon das dritte und letzte Zeichen. So läut' es auch in des Teufels Namen! erwiederte ihr das Fräulein, ließ sich verdrießlich den Täufling auf den Arm geben und schickte sich an, den Berg hinab zu steigen. Als sie aber an den Steg gekommen war, der unten über den Hungerbach führt, bemerkte sie, daß das Läuten aufhöre und daß sie sich also verspätet habe. Welche Schande für eine Junkerstochter, wenn sie ohne Sang und Klang mit einem Bauernkinde auf dem Arme hätte in die Kirche eintreten sollen, wie wenn sie unter die Dirnen gerechnet würde und dieses ihr Pathenkind unter die unehlich geborenen. Uebernommen von plötzlichem Zorn über diesen Verstoß der albernen Bauern vergißt sie sich ganz, wirft das Kind vom Steg, wo sie eben steht, in den Hungerbach und kehrt auf der Stelle wieder heim. Aber es verhüllt sich die Sonne, als ob es Nacht würde und auf dem Schloßberge bricht ein furchtbares Krachen los. Als dieser

Digitized by Google

Sturm sich wieder verzogen hatte und die Leute nach dem Berge hin eilten, fanden sie nur noch Trümmer von der versunkenen Burg, das Fräulein selber war und blieb verschwunden. Lange nachher erst hat man erfahren, daß sie in das unterste Verließ ihrer Burg lebendig versenkt worden war und da bis heute auf ihre Erlösung warten muß. So kommt sie denn jetzt noch aus dem Buchenwalde bis zum Steg, der am Bändler-Kirchweg über den Hügeligraben führt, kämmt sich die Haare, flicht ihre Zöpfe heiterhellen Tages, und wäscht und breitet Windeln aus. In ihrer Grotte wohnt sie mit einem schwarzen Hund zusammen. Er hat Feueraugen und hütet eine eiserne Geldkiste. Daneben wächst alle hundert Jahre ein Blümlein, ein rothes Maddänneli (Früh- und Schlüsselblume), und wer dieses pflückt, kann die Geldtruhe leeren. Aber alsdann muß er auch dreimal der blitzgeschwinden Jungfrau um den Abgrund rings herum nachlaufen, der sich bei der Kiste aufthut. Nur erst ein Mann hat sich gefunden, der aus Habsucht sich zu diesem Werke verstand. Mitten im Laufe um den Abgrund ergriff ihn aber ein so erschrecklicher Schwindel, daß er noch gerade rechtzeitig von der Grube weg und zur Höhle hinaus sprang. Wie lange sie auf diesen Erlöser schon gewartet hatte und wie lange es wieder gehen wird, bis sich ein zweiter findet, das weiß man aus dem Worte, welches sie dem Entronnenen nachrief: Wenn meine Krähe keine Nuß fallen läßt, so wächst mein Baum nicht! Wenn mein Baum nicht umgehauen wird, so hat mein Kind keine Wiege, und wenn mein Kind nicht schlafen kann, so wächst mein Erlöser nicht!

Ein neugieriger Bursche hat einmal erfahren wollen, wie weit wohl diese Höhle gehe, er nahm deswegen seinen Haushahn mit und jagte ihn hinein. Als das Thier durchaus nicht wieder kam, gieng der Bursche wieder heim in sein Haus, das eine halbe Stunde weiter oben im Thale liegt. So wie er in die Küche trat, hörte er seinen Hahn unter dem Herde tief im Erdboden krähen. Jetzt war es ihm gewiß, daß die Höhle endlos und die Jungfrau unerlösbar sei.

Uebereinstimmendes bei Bechstein, thür. Sag. 2, 94. DSagb. No. 58. 253. 473. Panzer, bayr. Sag. 1, No. 85. Herrlein, Speßhart. Sag. S. 210. Die Erlösung knüpft sich an den Baum, da dieser und der Wald als Anfang und als Erneuerung des Menschengeschlechtes gilt; vgl. Abthl. II, No. 75. 78. Diese Erlösung erschwert sich aber, in so ferne sie sich auf eine unabsehbare Zeit und auf Bedingungen hinaus verschiebt, die sich selbst wieder aufheben. Der Rettungsbaum muß durch bloßen Zufall gepflanzt und gefällt werden. Die Krähe läßt eine Nuß oder Eichel aus dem Schnabel fallen und der Hirsch tritt sie in den Waldboden fest: Meier, schwäb. Sag. No. 4. Er muß als ein Doppelstamm und in der Zwiesel (gabelförmig) aufwachsen; bald muß er von zwei Ledigen umgehauen und

Digitized by Google

zur Wiege deſſen gezimmert werden, der zwar zum Erlöſungswerke befähigt iſt, deſſen Leben aber gewaltthätig unterbrochen, der mit dem Schwerte gerichtet werden ſoll, und deſſen Hilfe alſo nur um ſo ſchleuniger beginnen müßte; bald auch muß der Erlöſende in ſo tiefe Höhlen hinein ſteigen und drinnen um ſo tiefe Abgründe herum einen Wettlauf machen, daß die Dauer ſeines Lebens kaum hinreicht, das Ende jener Höhlengänge zu erreichen. Vgl. den erlöſungskräftigen Spindelbaum Abthl. IV, No. 167. Der in den Berg hinab gejagte und unter dem Herde des Bauernhauſes herauf krähende Hahn bezieht ſich auf den Hahn der Hel. Ueber die damit verzweigten Erzählungen: Panzer, bayr. Sag. 1, 286 ff.

---

## 120. Ruine Königsſtein bei Aarau.

Oberhalb der Seidenfabrik hinter dem Dorfe Küttigen bei Aarau erhebt ſich eine brüchige Jurawand, auf deren ſteilſtem Ausläufer im Buchenwalde die Ruinen des Ritterſchloſſes Königsſtein ſtehen, in dortiger Mundart das Küngſtengut genannt. Die Ueberreſte dreier Rundthürmchen mit ihren Fenſterlücken ſind allein von allem noch zu ſehen, die kann man, ſo heißt es, mit der Hand zum Wackeln bringen, ſo morſch und aus ſo kleinen Steinchen zuſammen gebacken ſind ſie; ſtürzen aber kann ſie Niemand, denn ſie ſind mit der allerfetteſten Milch verpflaſtert, wie die Bauern ſie dem Zwinghern aufs Schloß liefern mußten. Dieſer herrſchte grauſam und war noch dazu ein Baunarr. Erſt mußten ihm die Landleute an der Hinterſeite des Schloſſes eine Straße über den Felſen hinab ſprengen bis zum Bächlein, das von der gegenüber liegenden Waſſerfluh herab kommt. Dieſer alte Pfad heißt jetzt die Säligaſſe. Da baute er Brunnenſtube und Waſchhaus, und ein Eſel mußte ihm ſtündlich von da das kalte Quellwaſſer herauftragen. Das iſt der Fiſchbachbrunnen, der zwiſchen zwei Felſen herrliches Quellwaſſer ausſprudelt. Dann ließ er von der Burg bis zum Dorfe Kilchberg eine andere ſtundenlange Straße anlegen, und alle Hörigen ſeines Twings in den Gemeinden Küttigen, Biberſtein und Erlisbgch mußten daran ſchanzen. Sie ſollte ſchnurgerade und überall in gleicher Breite über das Gebirge geführt werden. Das Volk nennt die noch vorhandenen Ueberreſte davon die Herrenſtraß. Auch den jähen Weg zu den Benken, der über den Jura in das Frickthal hinüber führt, ließ er durch die Hügel hauen, ſo daß er auf einem Eſel, ohne abzuſteigen, hier durch nach dem Schloß Urgitz reiten konnte, das drüben jenſeits der Schneeſchmelzi (Gebirgsgrates) beim Dörflein Asp als Ruine ſteht. Dem Königsſtein gegenüber liegt eine gleich hohe Bergwand des langen Achenberges, die Wandfluh oder verkürzt Wampfle genannt; ſie ließ er durch ſeine Untervögte zu einem

Digitized by Google

Garten umschaffen, und als dieser fertig und ummauert war, wollte er gleichfalls eine Burg drinnen haben. Sie entstand und auch von ihr will man noch etliche Trümmer auf jener Bergwand erkennen. Damit belehnte er dann seinen Bruder, und als dieser sich nachmals mit ihm überwarf, hat er ihm vom Königsstein aus mit einem Pfeile Auge und Haupt durchschossen. Die Leiche warf er in den Sodbrunnen, der über hundert Fuß tief in den Felsen gegraben ist. Damit sich nicht wieder einer gegen ihn auflehne, ließ er nun den Thalweg zwischen beiden Bergwänden und Burgen mit einer starken Mauer verschließen, die zwei Nachbarburgen aber durch eine lederne Brücke verbinden. Diese Brücke war hundert Klafter lang, mit Seilen unterspannt und bestand anfangs aus lauter Schmalleder. Bis sie fertig und so stark geworden war, daß der Ritter jeder Zeit von einem Schloß zum andern drüber reiten konnte, kostete sie manchen schönen Stier. Alle Jahre mußte man zudem sie allenthalben ausbessern, denn sie moderte schnell, und die Bauern weigerten sich endlich, ihre besten Thiere dazu aufs Schloß zu liefern. Da fieng er ihnen auf seinen vielen neugebauten Wegen allenthalben das Vieh weg, das sie anders wohin zu Markte trieben. Um dieser Plage einmal los zu werden, zerschnitten die Küttiger heimlich diese Brücke, und als der Burgherr wieder drüber ritt, riß das drunter weggespannte Tragseil und der Dränger kam um.

Man erzählt diese Begebenheit mit Angabe näherer Umstände auch also. Ein junger Bursche von Küttigen hatte sich durch Jugendstreiche und Ausgelassenheit daheim schon sehr verrufen gemacht, und da der Burgherr auch noch seinen persönlichen Haß erregt hatte, gab er sich bald dazu her, die Allen verleidete Lederbrücke zu zerschneiden. Die Verwegenheit gelang nur halb, und der aufgebrachte Vogt bot bei hunderttausend Gulden Jedem, der den Thäter angäbe. Obschon nun alle Bauern diesen wohl kannten, verrieth ihn doch Niemand, weil man gar wohl wußte, daß der Burgherr die Brücke doch wieder bauen und die dem Entdecker verheißene Summe nur um so eher wieder aus ihnen heraus pressen würde. Jener Bursche entwich aus dem Lande, gieng als Soldat in holländische Dienste und gerieth so bis nach Ostindien. Im Unglücke der Verbannung nahm er sich zusammen, schwang sich endlich zu hohem Ansehen auf und erwarb sich ein großes Vermögen. Vor etlichen dreißig Jahren erst soll sein Todtenschein über Meer nach Küttigen gekommen sein. Endlich ward des Burgherrn Maß auch voll. Während er auf eine Jagd ausgezogen war, überrumpelten einmal die Bauern das Schloß und verbrannten es sammt der Brücke. Den rückkehrenden Ritter fiengen sie auf, hiengen ihn an

Digitized by Google

den Füßen an einen Baum und kratzten und striegelten ihn mit Karden (Kardetschen, Wollhecheln) zu todt. Die Leiche schleppten sie auf die Wiese hinter dem alten Schulhause und verlochten sie da. Diese Stelle heißt die Scheibenstatt.

Noch liegt droben im Schlosse des Burgherrn Schatz vergraben, er scheint im dortigen Sodbrunnen oder Keller zu stecken. Denn wenn überall Windstille herrscht, so zieht doch auf diesem Platze immer eine schneidende Luft oder wirbelt das Laub auf. Wenn sich dorten der große Uhu hören läßt und die Krähen ihn stoßen, so giebt es jedesmal anderes Wetter; aber man meidet diese Stelle, die Kupferschlange hat schon manches Kind gebissen, das dorten Leseholz sammelte, und über Andere ist ein plötzliches Sausen hereingebrochen, daß sie mit einem bösartigen Gliederweh heimgekommen sind. Zwar will noch dieser und jener dorten einzelne Thaler gefunden haben, wenn er sie aber daheim herzeigen sollte, hatte er nichts als Schneckenhäuser im Sack.

Oft wandelt in der größten Mittagshitze ein weibliches Wesen durch die obere Waldung um die Ruine. In schneeweißen Gewändern holt sie in einem silbernen Handkessel Wasser herauf vom Kuhrüti-Brünnli, einer Quelle, die am Südabhange des Nachbarberges Egg entspringt. In ihrer aufgebauschten Schürze scheint sie Geld zu tragen, denn sie legt solches auf die Erde aus in großen Wannen, welche sie gar hübsch aus Laub zu flechten weiß. Dann schaut sie mit einem bittenden Blick hinab in die Gegend, als wollte sie sagen: O ihr lieben Bauersleute, befreit mich doch aus diesem Schicksale, ich habe euch ja nichts angethan, daß man mich so lange leiden läßt! Am Charfreitage zeigt sie sich am liebsten; so haben sie einst drei Jungen gesehen und es schnell daheim dem Großvater gemeldet. Der schickte sie gleich wieder zurück mit der Weisung, Brosamen auf jene Wannen und Blätter zu werfen, alsdann würde sich dies Alles in Gold verwandeln. Allein die Knaben konnten, auf jenem Platze wieder angelangt, von der ganzen Pracht nichts mehr finden.

Ein Mann, der sich dorten herum Weiden zum Garbenbinden schnitt, sah ebenfalls Tücher in die Sonne gebreitet und allerlei niedliches Geschirr darauf gestellt. Er dachte seinem Kinde nur ein einziges dieser blitzenden Schüsselchen zum Spielzeug mit heim zu bringen und gieng damit hinweg. Als er's aber daheim aus dem Sacke zog, war's ein bloßes Geldstück. Dies machte ihn zwar nicht unzufrieden, aber es jagte ihm eine besondere Scheu ein und er mied von nun an jenen Ort.

Auch eine Ente und ein schwarzes Hündchen gewahrt man manches mal droben, und beide, meint man, seien die Jungfrau, die aus

Digitized by Google

solcher Verwandlung erlöst sein und dafür ihre verborgenen Schätze hergeben will. Das ließ sich der Flender von Erlisbach, als ihm sein Haus abgebrannt war, alles ausführlich an Ort und Stelle von einer alten Frau zeigen und erklären. Tief unten wies sie ihm eine kreisförmige Schuttlage, worunter der Schatz stecken werde, und alles werde sein, wenn er binnen drei Nächten das schwarze Hündchen vertrieben habe, das darauf zu liegen pflege. Käme dann die Jungfrau auch als Schlange, so solle er sie nicht fürchten, sondern sie zu berühren suchen. Und käme hernach der Teufel, welcher im Momente, da die Jungfrau erscheint, einen Felsen über dem Haupte des Schatzgräbers abzulösen droht, so müße er schweigend zur Stelle bleiben. Denn auf jeden Ruf würde der emporsteigende Schatz sogleich wieder versunken sein. Der arme Flender machte sich nun mit drei Bauern von Küttigen, Entfelden und Oberhofen ans Geschäft. In der ersten Nacht gieng ein scharfer eiskalter Wind; sie ließen sich's nicht anfechten und gruben ein gewaltiges Loch aus, fast von solcher Tiefe, wie ihnen die Frau angegeben hatte. Mit Tagesanbruch verließen sie auf verschiedenen Wegen die Höhe, um unbemerkt gegen Abend wieder hier zusammen zu treffen. In der zweiten Nacht war die Luft viel milder, sie gruben noch tiefer, da zogen Schwäne nahe an ihnen vorbei. Später meinten sie sogar einen schwarzen Hund zu erblicken. Eben stießen sie mit Pickeln und Hebeisen auf einen Deckstein, als ein bärtiger Greis mit einer verschleierten Jungfrau zu ihnen trat und ihnen feierlich vortrug, daß sie in der nächsten Nacht die Truhe sicher erheben würden; dann aber sollten sie nicht säumen, einen Theil ihres Gewinnstes nach Küttigen zu erstatten und einen zweiten nach Biberstein, denn dorten seien ehemals große Summen erpreßt worden. Allen Vieren bleibe gleichwohl noch genug, um zeitlebens reich zu sein. Nach dieser Erklärung schienen die zwei Gestalten wieder im Gebüsche zu verschwinden. Im gleichen Augenblicke aber erhob sich ringsum ein so einstimmiges Hohngeschrei und Heulen, daß unsere Männer zusammen entsprangen. So schrieen indessen nicht die Geister der Verwünschten, sondern die Dorfjungen, welche von der Schatzgräberei bereits gehört, heute zur Ruine sich geschlichen hatten und nun, da zwei von ihnen die Rolle der Geister spielten, zu voreilig ihrem Spottgelächter Luft machten. Gleichwohl ließen sich die Schatzgräber nicht die Aechtheit jener Erscheinung bezweifeln und waren in der dritten Nacht abermals an ihrer Arbeit. Allein die Sache war schon ruchbar. Es erschienen heute, anstatt der Schloßjungfrau, zwei Landjäger und betrafen die Beschwörer, wie sie eben um ein Feuer saßen und zusammen aus einem alten Buche beteten. Alle wurden festgenommen.

Digitized by Google

Vergebens baten sie, man möge sie nur noch diese Nacht, die letzte, unangefochten am Platze lassen, dann seien sie reich und die Geister erlöst, und mit gutem Muthe werde man sich alsdann morgen freiwillig der Polizei stellen. Die Landjäger vollzogen ihren Befehl. Erst vor einigen Jahren ist der Flender gestorben, und noch auf dem Sterbebette hat es ihn geschmerzt, daß man ihm seine Hoffnung also zu Wasser gemacht hat.

Es hatte sich auch ein anderer Bauer mit seinen Bekannten zu gleichem Zwecke auf die Ruine begeben und dreiundzwanzig Nächte lang von elf Uhr Nachts bis ein Uhr dorten gebetet. Schon zeigte sich im Innern der Grube etwas wie eine Wanne, in der das Geld vermuthet werden konnte; da brach einer von ihnen das angelobte Stillschweigen dadurch, daß er unwillkürlich eine Unanständigkeit begieng, und plötzlich war die Wanne wieder versunken. Jetzt wären wir auch Herren, schloß nachmals einer von ihnen hierüber seine Erzählung; so aber sind wir arme Bauern, haben alle Tage um geringen Lohn Wind und Wetter auszustehen, und erschwingen doch nicht einmal so viel, um nur eine kleine Haushaltung zu ernähren.

Ein Mann in ähnlichem Nothstande kam spät des Abends zur Ruine herauf, um noch ein wenig Holz für sein Küchenfeuer mit heim zu nehmen. Da dünkte es ihn, als ob er Reiter vom Schloßberg herab sprengen höre, und wie er sich umschaute, kam eine ganze Reihe von Chaisen mit lauter altmodisch geputzten Leuten über den Berg gefahren. Kaum war der Zug vorüber, so ritt der Schloßkoch mit weißer Zipfelkappe auf einem Eselein ebenfalls daher. Er hielt einen Kupferkessel in der Hand, den er am Sodbrunnen gefüllt haben mußte, und schnaufend vor lauter Eile fragte er den Bauern, ob der Zug schon weit voraus sei. Der sonst gleichgiltige und ohnedies bekümmerte Mann mußte nun doch über den Geschäftseifer dieses sonderbaren Kerls lächeln und antwortete: O, auf deinem Renner hast du sie gleich wieder! Auf dies Wort warf ihn ein Windstoß um, und da er heim kam, mußte er mehrere Tage das Bett hüten.

Etwas Aehnliches begegnete auch einem Bekannten meines Vetters, so fährt hier ein anderer Erzähler aus jener Gegend fort. Er wollte Nachts von dem Bergdörfchen Hard noch nach Küttigen hinab gehen, aber die sternenhelle Nacht wurde nach und nach so finster, daß er den Weg nicht mehr sehen konnte und sich in den Königsstein verirrte. Da hörte er nun ein Gerassel, wie wenn eine Kutsche käme und zugleich bemerkte er ein Licht, das sich schnell näherte. Das war denn auch wirklich die Laterne einer Kutsche. Mit vier Schimmeln bespannt kam sie herauf gefahren, zwei schwarze Windhunde liefen zur Seite



Digitized by Google

und drinnen saßen Herren und Damen in alterthümlicher Tracht. Nun hielt sie an, ein Diener sprang ab, deckte schnell den Sodbrunnen auf, aus dem ein leichenhafter Mann emporkam, öffnete dann den Kutschenschlag und half ihm einsteigen, und alsbald fuhr alles wieder hinweg. In der Ferne verschwand das Laternenlicht der Kutsche, und kaum war alles vorüber, so fieng es sehr heftig zu regnen an, ein großes Gewitter entlud sich. Von der Angst fortgetrieben und mit Hilfe der leuchtenden Blitze fand der Mann den Weg wieder und erreichte unbeschädigt das Dorf.

---

## 121. Das rothe Tüchlein bei Castelen.

Aus fernen Landen war ein Flüchtling nach Thalheim gekommen im Jura und hatte sich da das Schloß Castelen hinter der Gislifluh gekauft, das er in aller Zurückgezogenheit nur mit einem Knechte und einer Magd bewohnte. Nach und nach gewannen er und der Knecht diese Magd zugleich lieb. Als sie aber unerwartet einen Knaben gebar, jagte der Herr den Knecht aus dem Dienste, die Mutter aber warf er sammt ihrem Kinde in einen unterirdischen Kerker des Schlosses und brachte Beiden manches Jahr selber ihr Essen hinab. Als nachmals der Flüchtling wieder in sein Vaterland zurückkehren konnte, erdrosselte er die Magd im Kerker, ihren Knaben, der indeß gegen zehn Jahre alt geworden war, that er zu einem Bauern auf dem Berge ins Versteck. So erfuhr der Bauer aus dem Munde des Kindes bald die Unthat und machte davon Anzeige. Die Obrigkeit kam dem Mörder in weiter Ferne wieder auf die Spur, und als er sich entdeckt sah, nahm er sich selbst das Leben. Man fand bei ihm einen Brief, worin er den Wunsch ausgesprochen hatte, auf seinem Schlosse Castelen begraben zu werden. Dies geschah, aber seitdem muß er dorten umgehen.

Ein Bauer dieser Gegend, der noch spät auf dem Wege nach dem Dorfe Thalheim war, sah hier lange einem Lichte zu, welches vor ihm herzulaufen und manchmal still zu halten schien. Da er es erreicht zu haben glaubte, war es erloschen, an der Stelle lag nun ein rothes Taschentuch, das wie zum Trocknen über die Hecke hingebreitet war. In dieser Gegend, wo weitum keine Wohnung ist, befremdete ihn das Tuch; er hatte es anfangs mitnehmen wollen, aber bei weiterm Nachdenken fand er's nicht für gut, er warf's mit dem verächtlichen Worte von sich: De näm' i ned ewegg! Kaum einige Schritte weiter lag jedoch wiederum ein rothes Tüchlein da. Nun kehrte der Bauer um, zu sehen, ob das Vorige noch an der alten Stelle liege; es

Digitized by Google

war weg. Jetzt fieng es an ihm unheimlich zu werden und er machte sich fort. Aber schon nach kurzer Zeit lag ihm das unheilvolle Tüchlein noch einmal im Fußwege. Da faßte er Herz, begann zu fluchen und zu schwören und schwang den Stock. Sogleich war das Tüchlein verschwunden und statt seiner jenes Licht wieder gekommen, das nun dem Bauern bis an sein Haus hin leuchtete. Ermattet und niedergeschlagen legte sich der Mann zu Bette und blieb auch nachher noch lange an dem Arme starr, den er zum Dreinschlagen geschwungen hatte.

## 122. Das Bachmaidli zu Seon.

Als einst ein Weib in Seon ein unehlich Kind bekam, sann sie darauf, es umzubringen und lief damit dem nächsten Weiher zu. Bis dahin mußte sie aber durch so manchen Bauernhof, daß sie befürchtete, schon gesehen worden zu sein, und so machte sie sich von diesem Platze hinweg und gieng dem Dorfe Seengen zu, wo der Feuerweiher ist. Auch hier geschah ihr wie beim ersten Versuche, die Angst, gesehen zu sein, hinderte sie an der Unthat. Gleichwohl sollte das arme Kind einmal nicht leben, also gieng sie denn weit von allen Behausungen zum Aabache hinunter und warf es da ins Wasser. Im selben Augenblicke bewegte sich jedoch ihr Herz, sie suchte das arme Würmlein wieder zu retten und sprang ihm nach bis zur Mühle hinunter; vergebens. Als sie es endlich hier trotz des raschen Laufes des Wassers herausziehen konnte, war das Kind schon todt. Seitdem erscheint das Bachmaidli an jenen drei Wassern und nimmt ihren Weg unabänderlich durch alle jene Höfe und Häuser hindurch, denen sie bei ihrer That ausgewichen ist. Dies soll so oft geschehen, als die Geisterkutsche kommt, die von Teufenthal aus nach dem Seethal hinüber fährt. Dann fängt der Geist, den man das Bachthal-Anneli nennt, zu wimmern an, und von dem Waldplatze aus, welcher Gerstenmühle heißt, weil da noch Trümmer einer alten Wohnstatt liegen, begiebt sie sich auf ihre nächtliche Wanderung.

## 123. Die Rosenkranztochter am Löhli.

In katholischen Gegenden giebt es neben andern kirchlichen Privatvereinen auch einen der Rosenkranzjungfern. Derselbe besteht aus fünfzehn Dorfmädchen, die an den Festtagen Mariä bei der kirchl. Procession in eigener Tracht erscheinen, an ihren Weihkerzen Bildchen mit den fünfzehn Geheimnissen Mariä führen und sich zu besondern Ge-

Digitized by Google

beten verpflichten müßen. Rosenkranztochter nennt man nun nach dem Namen dieses Vereines einen Geist, der seit alter Zeit beim Dorfe Nesselnbach im Freienamte sich zeigt. Dorten ist gegen die Gemeinde Tägerig hin ein Mattland, Löhli geheißen, weil es sonst Wald war; und in der Laubwaldung, die höher hinauf gelegen ist, wohnt unter einem Eichbaum die Rosenkranztochter. Nachts an den Fraufasten-mittwochen läßt sie sich daselbst sehen, in Hemdärmeln, ohne Spenzer, mit weißer Schürze und einer gelben Haarschnur. Am Scheitel trägt sie ein besonderes Braut- und Jungfernkäppchen aus beweglichen Gold- und Silberflitterchen gemacht, das man Schäppeli nennt. Unter dem Arme aber hat sie alle Zeit einen Ellenstecken; da man noch nie das Herz gehabt hat, sie anzufragen, so weiß Niemand, was sie mit Letzterm will, doch vermuthet man, sie habe mit Tuch gehandelt und in zu kurzer Elle ausgemessen.

## 124. Die Kränzleinjungfer bei Oberhof.

Auf dem Wege von Oberhof nach Wölfliswil kommt man in die Hohle Gasse, der Fußsteig daneben ist der Alte Kirchweg geheißen. Derselbe führt zu einer nahen Bergquelle. Dorten am sogenannten Stegli ließ sich die Kränzleinjungfer sehen, ein freundlicher Geist, der ein Flitterkrönlein aus Glasperlen und Goldschnürchen im Haare trug, wie es sonst bei den Frickthaler-Mädchen allgemein Mode war. Im Arme hatte sie einen großen Wasserkrug, der mit Gold angefüllt war. Sie hat ihn öfters den Vorübergehenden angeboten, ist aber immer abgewiesen worden, weil man wohl wußte, daß man sich alsdann mit ihrer Erlösung beladen müßte. Dann erhob sie im Weggehen stets ein gar jammerhaftes Wehgeschrei.

## 125. Der Bödelmergeist in Wölfliswil.

Ein einzelner Dorftheil von Wölfliswil im Frickthale heißt nach seiner ebenen Lage das Bödemli, und dorten spukt sowohl bei der Nacht, wie am hellen Tage ein Gespenst in Gestalt eines brandrothen Fuchses, der Bödelmergeist. So oft er dem halb erblindeten Bauern Ziprian Raimann begegnet, ruft derselbe das Dorf auf und ab, man möge je nach dem Stand der Jahreszeit die Arbeiten in Feld und Wiese beeilen oder ganz sein lassen; denn alsbald werde man ein gottsträfliches Ungewitter, oder Ueberschwemmung und Hagelwetter zu erleben haben. Zuweilen ist dies schon eingetroffen, und so vermehrt

Digitized by Google

ſich der Glaube an einen Dorffuchs, den ſogar ein Blinder erblicke, theilweiſe jetzt noch.

---

## 126. Das goldene Boddemaidſchi in Ober-Lengnau.

Zwiſchen den Dörfern Endingen und Ober-Lengnau kommt man oberhalb der ſogenannten Mürſtege zu einer Quelle; ſie entſpringt an dem Straßenbord, von dem der Fußweg über die dortige Mühle wieder in die Fahrſtraße einmündet, läuft dorten über die Straße und geht in die nahe Surb. Ein halbhundert Schritte vor der Mündung dieſes kleinen Feldwaſſers ſpielt die Sage von der goldenen Jungfrau, welche man das Boddemaidſchi und die Boddebächliſumpfere nennt. Sie kommt weißgekleidet an dies Boddebächli, ſtrählt da ihr Haar und hütet zugleich Schätze, nach denen man in früherer Zeit oftmals gegraben hat. Man begegnet der Jungfrau nicht ſelten, ſieht auch keineswegs einen böſen Geiſt in ihr, paſſiert aber gleichwohl jene Stelle nicht eben gerne. Am Wegbord beim Urſprung der Quelle ſtand ein Schloß unbekannter Geſchlechter, das Boddeſchloß geheißen.

Quellen, die man goldene nennt, und denen man Schloß und Thor beilegt, ſind in unſern Gegenden nicht gerade ſelten. Die Quelle, die aus dem Schatzbuck bei Bülach, Kant. Zürich, fließt, heißt bei den Leuten ſeit undenklicher Zeit das goldene Thor. Zürch. Antiquar. Mittheil. 1838, 2. Das goldene Boddemaidſchi, welches Schätze hütet und eine keineswegs gefürchtete Erſcheinung iſt, gleicht im Märchen von der Frau Holle, KM. 24, dem Aſchenputtel, das als goldene Jungfrau dem Brunnen entſteigt; der Königstochter vom goldenen Dache; der in den Brunnen ſtürzenden, aber durch das Goldthor drunten einziehenden Schweſter (Panzer, bayr. Sag. 1, No. 210). Dies iſt Frau Holda ſelbſt, wie Wolf, Beitr. 1, 167 zeigt. Dieſe im Brunnen wohnende und da die Ungeborenen hütende Ehegöttin trägt hier in ihrem Namen Bodde-Mädchen, die mundartliche Spur des Namens ihres Gemahles und iſt eine Wuotana. Darüber geräth ſie in die Reihe dieſer Wuotans-Sagen und findet ihre Erklärung in der über die Namensformen dieſer Gottheit gegebenen. Vgl. den Namen Muet No. 109, Mutti No. 112, Mötteli No. 131. Muttisee und Mattisee No. 129. 130, und Anmerk. No 489: Buddha-Wuotan.

---

## 127. Das Breitſee-Meidli bei Möhlin.

Die ſumpfige Waldgegend, welche Breitſee heißt, war einſt ein See. Jetzt ſtößt da die Grenze des Waldbannes zweier Frickthaler-Gemeinden zuſammen, von Wallbach und Möhlin. Ringsum waren die Seeufer futterreiches Land und heiteres Laubgebüſche, und eine Jungfrau von beſonderer Schönheit pflegte hier ihre Spaziergänge zu

Digitized by Google

machen. So lange das Frickthal noch unter Oesterreich stand und es üblich war, die Heerden in den Wäldern treiben zu lassen, waren die Weidbuben ganz vertraut mit dieser Jungfrau und ließen sich von ihr oft bis zum Rande des Forstes heim begleiten; oder wenn sie zuweilen hier aus einem Mittagsschlummer erwachten, lag das Mädchen arglos mitten zwischen ihnen. Sie trug einen Schinnhut, wie er vor Zeiten in diesen Gegenden gewöhnlich war, und weiße oder grüne Schürzen. Oft aber kam sie in flatternden blonden Haaren, in denen ein frischer Kranz lag. Geredet hat sie niemals.

Die heutigen Erzähler vermuthen in ihr eine Braut, die auf dem Heimwege von ihrer Hochzeit hier am Ufer des angeblichen Breitsees versank oder ermordet wurde.

---

## 128. Waschende Geister.

1. Schloßjungfer auf Wessenberg. Die Ruine Wessenberg liegt im Bezirke Brugg. Aus dem verwilderten und verschütteten Schloßhofe geht die Schloßjungfer alle Charfreitage im steinigen Schloßgäßchen umher; will aber die Witterung umschlagen, so kommt sie bis zum sogenannten Dorfbrunnen in Hottwil und spült dorten Linnen und Wäsche. Sie soll früherhin verschiedenartige Gestalten angenommen haben, seit einigen Jahren spricht man indeß nicht mehr von ihr. Schatzgräber haben im Burgstall Silbermünzen von achteckiger Form gefunden.

2. Das Wäscherli ist der Name eines Weihers bei Birri. Das Volk sagt, es sei die älteste Waschgrube der Gegend gewesen. So oft schlechtes Wetter kommt, erscheint hier ein Weib in alterthümlicher Tracht und schwadert diejenigen Linnen, die sie vormals bei einer Dorfwäsche gestohlen haben soll. Sie trägt einen breiten Schinnhut (Weidengeflechte), kurze Jüppe, rothes Brusttuch, auch eine starkgefaltete Schaube (Deckelmütze). Ein Mann aus der Schweddi und der Altammann von Birri haben sie so erblickt.

3. Das Bündelmaideli spukt im Frickthale auf dem Homberge zwischen Wittnau und Wegenstetten an derjenigen Stelle, wo ein Wallfahrtskreuz errichtet ist. Man droht noch den unfolgsamen Kindern in der Gegend mit ihr.

4. Der Bergfridli läßt sich aus den Waldungen her im Frickthale hören und gilt mit seinem Rufen als ein Wetterprophet. (Er gehört zu den männlichen Witterungsgeistern und wiederholt sich Abthl. XI, No. 472: Frickthaler-Landespatron Fridolin.)

Digitized by Google

5. Die Waschjungfer von Rohrdorf, Bezirks Baden, wird Nachts auf dem Brunnenstein gesehen, wie sie Wäsche windet und ausbreitet.

6. Das Strähl-Anneli und das Spinnmütterli gelten nur noch als unheimliche Vorstellungen bei der Bevölkerung des Badener-Bezirkes. Letzteres hielt sich besonders in jenem Theile der Weinberge vom Dorfe Würenlos auf, welchen man den Bick nennt. Man maß ihr die Schuld bei, wenn der Rebmann seinen mühsam auf die Höhe getragenen Korb voll Dünger zur Unzeit umgeleert fand.

7. Das Bachmaidschi auf der Ziegelmatte. Will man vom Dorfe Dottikon im Freienamte aufwärts nach dem Nachbardorfe Häggligen gehen, so hat man anfangs an einem tiefen Bachtobel hinzusteigen. Hier wandelt zu Fronfasten das Bachmaidschi als blaue Flamme über die rauschenden Wasser herab. Wer sich ihr vorsätzlich in den Weg stellen will, bekommt einen geschwollenen Kopf. Am jenseitigen hohen Ufer liegt ein kegelförmiger Bühl wie ein alter Burgstall mitten in dem Wiesgelände. An seinem Fuße stößt man vielfach auf Scherben von Urnen; das Volk, welches daraus schloß, hier müße einst eine Ziegelhütte gestanden haben, nennt die Flur die Ziegelmatt. Von da aus nimmt auch der Dorfhund seinen Lauf.

Ziegelmatt, Ziegelgäßlein sind bei uns übliche Benennungen für Reste von Römerstraßen. Auf ihnen hat die W. Jagd ihre Weidbahn; vergl. Abtbl. III, No. 143: der Ziegler im Grindel. Ein solcher Weg ist das Ziegelgäßchen im Surhard, wo die Römerstraße von Gränichen her mit derjenigen von Olten im Walde bei Rohr zusammentrifft und über Rupperschwil nach Vindonissa geht.

8. Brunnenmädchen in Küttigen. Beim Bärenbrunnen im Dorfe Küttigen pflegt in gewissen Nächten ein weiß gekleidetes Mädchen Wasser zu holen; man sagt, sie sei früher Wirthin gewesen und habe den Schenkwein zu sehr getauft. Ein Küttiger bewog einmal seine Frau, des Nachts mit zu gehen, um dieses Mädchen zusammen zu betrachten. Die Frau aber vermochte von allem nichts zu sehen, nur daß sie hörte, wie man einen Züber am Brunnentrog abstellte. (A. Birrcher in Laufenburg.)

9. Am Südabhang des Berges Maiengrün im Freienamte läuft ein Fahrweg vom Dorfe Hägglingen nach Mäggenwil; an demselben liegt das Müseli. Hier sitzt an einem Bergquell, welcher Müselibrunnen heißt, das Müselifräuli, kämmt und wäscht sich, breitet bunte schimmernde Gewänder in der Sonne aus und während sie einen Ellenstab drüber schwingt, singt sie klagende Lieder. Zur Zeit des beginnenden

Digitized by Google

Frühlings sieht man sie am öftesten. — Der Name dieses Müseri- oder Moosweibchens wiederholt sich in dem des Müserigeistes von Gebistorf, No. 345.

10. Die alte Köchin. Im Dorfe Tägerig umgeht die Ortskirche herkömmlicher Weise ein Nachtgeist, den man die alte Köchin heißt. Sie trägt eine Bränzhaube, das ist eine schwarze Florhaube mit strahlenförmig um das Haupt gehendem Drahtrande, dazu ein weißes Goller, nämlich einen viereckig geschnittenen Halskragen, der Brust und Nacken bis zur Hälfte herab deckt, und ein schwarzes Jüpplein, ein Mieder, das mit der Brisnestel über der Brust künstlich verschnürt ist. Vom Schulhaus bis zur Kirche geht sie hinter einem Hag her, in der Hand hat sie einen kleinen maßhaltigen Milchkessel; er glänzt, als ob er frisch vom Blechschmied käme. Ein Hündlein mit weißem Rubelhaar (zottig) und rothem Halsband lauft hinter ihr her. Ein junges Mädchen, das der Alten begegnete, wollte ihr guten Abend bieten und wie man einen solchen Gruß nicht nach der Tageszeit, sondern je nach der gerade geltenden Arbeit auszudrücken pflegt, sagte das Kind: Ihr geht gar spät Milch holen. Da war die Alte verschwunden, das Kind aber kam mit einem gewaltigen Rüfenmaul heim.

Weinhold, die deutschen Frauen, pag. 326 giebt Beispiele darüber, welchen Antheil in unserm Alterthum die vornehmsten Weiber dem Hauswesen bis auf das Geschäft des Waschens hinab schenkten. „Königinnen selbst beschäftigten sich mit der Wäsche und bis in die neuere Zeit hinein war der Waschtag auch für die Frauen der höhern Stände ein Tag lebendigster Geschäftigkeit. Die jüngere Edda erzählt, wie der Streit zwischen Brynhild und Godrun bei der Schleierwäsche ausbricht. Die schöne Schwanhild, des Gothenkönigs Jörmunrek Gemahlin, wird, als sie bei der Schleierbleiche sitzt, von den ausgesandten Mördern überritten." Lag solches in der Sitte der Fürstinnen, so konnte das gleiche Geschäft auch den von ihnen verehrten Göttinnen um so sicherer zustehen. Die älteste Göttin unseres Germanencultus wäscht zwar nicht selber, aber sie wird gewaschen feierlich sammt ihrem Wagen und Gewand im abgelegenen See. Germania, c. 40. (So befiehlt unser Aberglaube, den Alraun regelmäßig zu waschen und neu zu kleiden: Abthl. VI, No. 267. 268.) Andere durch die neuern Forschungen erst heller werdenden Göttergestalten einer Frau Holla, Berchta, Frene, Muotana, Ursula, Hunna nehmen sich neben dem Geschäfte des Spinnens und Webens zugleich auch besonders des Waschens an und halten streng die Hausregel fest, zu welcherlei Zeiten irdische Frauen geziemend sich damit befassen sollen, zu welchen andern aber nicht. Dies wird denselben verkündet durch die vor jeder größern Festzeit singend einher ziehenden Geisterschaaren des Muetis-Ee und Glücksheeres. Die Göttin des häuslichen Glückes, die Fraua, hat da, wo sie nicht selbst in den Wohnungen erscheint, ein beaufsichtigendes Wesen: das ihr und der Häuslichkeit geweihte Thier, die Katze, welche jede Entheiligung der Festtage entdecken und rächen hilft.

Digitized by Google

Man darf daher in den Zwölften nicht waschen, spinnen oder backen, sonst zerstören's die Katzen; dieser Glaube geht durch ganz Ober- und Nieder-Deutschland. Wer da den Zaun bekleidet (Wäsche trocknet), der muß den Kirchhof bekleiden, sagt man niederdeutsch. In Weihnachten darf man keine Wäsche draußen lassen, denn die Hunde (der W. Jagd) zerreißen sie; man darf nicht backen, sonst wird eine Wilde Jagd daraus. Müllenhoff, Holst. Sag. No. 500. Denn eben zu dieser Zeit kommt in Holstein der Wode, auf Usedom der Waud, in Meklenburg Fruh Gaue, in der Uckermark Frau Gode und Frau Frigg (Kuhn, nordd. Sag. 319); und bei uns halten die Prechtelen, das Posterli, das Stregelen u. s. w. ihren lärmenden Umzug. Es muß also im Hause schon vorher rechtzeitig alles zum Empfang der einkehrenden Gottheiten hergerichtet sein; je mehr die Hausfrau dagegen verstößt, je mehr sie sich versäumen läßt und dann die Festzeit selbst noch zur Rüstung des benöthigten Weißzeuges mit verwenden will, um so mehr wächst im Hause die Noth an Wäsche und Speise, bis endlich mit der gehäuften Festtagsschändung der Landvogt obrigkeitlich eingreift und den Uebelthäter justificiert. Dies erzählt unsere Sage vom Matthisethier in Reinach, No. 129.

Matthisee heißen aber auch die gespenstischen Schwedenreiter No. 130, denn auch sie schwemmen Nachts in der Schwetti ihre Rosse, tränken dabei ihre Gefangenen (wie es scheint, abermals die dem Brauch Zuwiderhandelnden) mit Jauche und schwemmen sie in der Aare. Sonach erscheint denn das Muetisheer als ein beim Waschen und Bleichen des zum Feste bestimmten Linnenzeuges sich eifrig mitbetheiligendes, festbegieriges, freigebiges und alle Wohnungen gerne heimsuchendes Geistergeschlecht. Es wäscht und trocknet die Hemden und Leintücher von tausend Mann auf der Ruine von Thierstein; es überzieht das ganze Juragebirge in der Mittagssonne und im Mondschein zugleich mit weißen wehenden Tüchern: No. 115.

Noch machen sich zahlreiche Wäscherinnen für die Sage einzeln in der Landschaft geltend, und wo auch sie nicht mehr erscheinen, da zeigt man doch noch ihre ehemaligen Waschgruben und Badstuben her als die ältesten Punkte der Gegend, No. 128, 2. Aus der Göttin Hunna, die im alten Eigennamen Hoena, Lopthoena sich verräth (Weinhold, deutsche Frauen, 15), welche eine die Korn- und Flachsäcker befruchtende Quellengottheit gewesen zu sein scheint, und die sich in Altbayern als die mit 11,000 spinnenden Jungfrauen umziehende, den Lieben-Frauensommer webende Göttin Gnut (sedula) noch verräth (Pangkofer, altbayr. Ged. 2, 244) wurde christlicherseits eine heilige Hunna, die Schutzpatronin der Wäscherinnen, auf deren Hunnenwiesen die Hunnenbrunnen Wein quellen lassen, und welche auf einem Eselein zu den Hütten der Armuth reitet (Stöber, elsaß. Sag. No. 94). Diese Hunna, eine den Centenen, Decanieen und Hunschaften vorstehende und sie mit dem Hundert ihrer Spinnerinnen durchziehende Schutzgöttin, wurde sprachlich in eine dem Hunger wehrende, oder in eine ihn verbreitende Hungergöttin und Hunnin verwandelt. Die Hungerberge und Hungerquellen der Schweiz bezieht man schon seit langer Zeit auf Hungarn, Ungern und Hunnen; und wie aus diesen vorausgesetzten Hunnen zugleich die alles aushungernden Schweden werden, zeigt unsere Sammlung an vielerlei Punkten. Aus dieser Göttin Hunna entwickelt sich sodann die weitere Legende von der hl. Ursula und ihren 11,000 Jungfrauen. Diese trägt

Digitized by Google

einen so großen Mantel mit sich, daß ein Bittlied aus dem 16. Jahrh. (O. Schade, Geistl. Ged. 1853, 171) darüber singt:

Eilftausend zwar darunter stehn,
Vieltausend mehr darunter gehn.

Diesem alles, Land und Leute bedeckenden Mantel der Heiligen entspricht es, daß die ältere oberdeutsche Kirche alljährlich um Ostern von den Frauen je einer Hundertschaft das Hungertuch weben ließ, um es über die Altarornamente auszuspannen, seitdem dasselbe einer im Elsaß wüthenden Hungersnoth gesteuert haben sollte. Sebast. Münster, Cosmographey 1567, 650 kennt diesen Brauch geschichtlich genau aus elsaßisch Ruffach; Geiler von Keisersberg (Narenschiff 153 b) predigt darüber. Fernere Hungertücher dieser Art, die in Deutschland bis auf unsere Zeit einen gewissen Cultus hatten, sowie die entsprechenden einzelnen Sagenbezüge dazu sind ausführlicher behandelt: Oberdeutsches Gebildbrod, No. 48.

## 129. Matthisethier in Reinach.

Am Weihnachtsabend legte sich ein junges fremdes Kätzchen vor das Fenster eines Hauses in Reinach, dessen Bewohner Matthise genannt wurden. Sie ließen das verlaufene Thierchen aus der Kälte herein und gaben ihm ein Stückchen Fleisch vom Essen, bei dem sie gerade als am heiligen Abend fröhlich beisammen saßen. Aber damit hatten sich diese Leute einen Kobold ins Haus geschafft, dessen sie nun sieben ganzer Jahre nicht mehr los werden konnten. Mit dem einen Mädchen der Familie lebte das Thierchen zwar in gar vertraulicher Art, schlief bei ihm, lief mit ihm zur Feldarbeit hinaus und war, wo dasselbe gieng und stand, zugegen auf eine oft wundersame Weise; um so unleidlicher und boshafter aber that es gegen alle übrigen Hausbewohner; es machte so vielerlei Streiche, daß man die verschriene Katze bald überall nur als das Matthisethier kannte. So oft man buck, fand sich wenigstens ein Brodlaib bis auf die bloße Rinde ausgefressen; fingerweise war der Honighafen ausgestrichen und die schönste Wäsche im Schranke war sicherlich nicht mehr sauber, wenn man gerade ein Stück für den nächsten Feiertag heraus nehmen wollte. Da war denn die Hausfrau immer in Verlegenheit, die heilige Zeit entweder durch Waschen, oder gar durch Aufbreiten eines unsäuberlichen Tischtuches entweihen zu sollen. Lieber wusch sie dann manchmal noch die ganze Nacht durch. Aber auch dies zog ihr neuen Verdruß zu. Sie wurde in ihrem unzeitigen Hausfleiße entdeckt und nach der Strenge des frühern Brauches alsbald vor das Sittengericht geladen. Darüber schämte sie sich gar sehr; da sie jedoch bei ihrer nächtlichen Wäscherei unmöglich von Jemand hatte gesehen werden können, so

Digitized by Google

bestand sie einmal vor Gericht darauf, daß man ihr auch den wiederholten heimlichen Angeber nenne. Man meldete ihr den Namen eines schon lange verrufenen Weibes und entließ sie mit einer geringen Buße. Wer hätte denken sollen, daß eben dieses schlecht beleumdete Weib und jenes Matthisethier eine und dieselbe Person seien. Aber jetzt erwies es sich. Denn bald darauf wurde die böse Angeberin wegen allerlei Zaubers verhaftet, und da sie noch mehr gestand, als man nur vermuthet hatte, so führte man sie aufs Schloß Lenzburg zum Berner-Landvogt, der sie als Hexe verbrennen ließ. Da hörte aller Unfug im Reinacher Hause auf.

In unserer Sagenreihe begegnet dem Götterumzuge des Gutisheeres und Gundis-Ee noch ein anderer Namens Mutis-Ee und Mattis-Ee (No. 130); und hier No. 129 stößt man nun auch noch auf ein sog. Matthisethier. Mattis-Ee wird das Nachtgetöse der gespenstischen Schwedenreiter genannt, das Thier Matthise aber ist der Name einer hexenhaften Katze. Diese schleicht sich während der Weihnachts- und Fasnachtsmahlzeit in ein Bauernhaus, lebt und schläft da mit dem Töchterlein der Familie, verrichtet neben und mit diesem alle Feldarbeit, verderbt aber um die Zeit der hl. Tage das dafür im Hause gerüstete Linnenzeug, sowie namentlich Brod und Honig, also die Mittel zu den beabsichtigten Festkuchen. So oft die Hausfrau alsdann mit dem Wiederrüsten der beschmutzten Linnen oder der frischen Brode beschäftigt die hl. Nacht nothgedrungen entweihen muß, wird sie dafür bei Gericht heimlich angegeben; doch bei weiterer Untersuchung stellt sich die Katze des Hauses als die Uebelthäterin heraus, sie wird als Hexenweib erkannt und vom Berner Landvogt zum Scheiterhaufen verurtheilt.

Wir erklären uns zuerst über die sog. Matthisennacht. Sie wird, meines Wissens, nicht mehr in unsern reformirten Landstrichen, wohl aber in den Waldkantonen gefeiert. Vom 23. auf den 24. Hornung verkleidet man sich, z. B. im schwyzerischen Bezirke Wollerau, in vorsätzlicher Häßlichkeit, behängt sich mit Glocken und Schellen und sucht durch nächtliches Anklopfen an die Fenster fremder Häuser die Kinder zu schrecken. In solcher Gestalt heißt man dann in dieser Matthisennacht ein Chrungeli. Auf den Höhen häuft man gleichzeitig Bohnen- und Rebstecken zum Brande und umtanzt das Feuer. Die Sitte verbietet zugleich für diesen Tag alle Feld- und Hausarbeit. Berühmte Begebenheiten der ältern Schweizergeschichte sind auf diese Matthisennacht angesetzt. So fällt auf 23. Hornung 1350 z. B. die Zürcher Mordnacht (Bullinger, Chron. l. 8. c. 1—3), und das Zürcher Neujahrsblatt vom J. 1676 „Ab dem burgerlichen Buchgehalter" (Stadtbibliothek) besagt noch ausdrücklich:

Hier an Sanct Matthias Nacht,
Als von sorgenfreyem Schlaff
Jeder überfallen lag,
Plötzlich Mordgeschrey betraff
Zürich, die uralte Statt.

Diese Matthisennacht heißt im alten Kalender die gute und fällt acht Tage nach dem „Perchtag oder Hirschzistag". Da sie von jeher durch Gelage gefeiert wurde, so ist auch damals der Anschlag der in die Stadt

Digitized by Google

Zürich eingedrungenen Verschworenen durch einen Knaben entdeckt worden, welcher im Straußenwirthshause beim Festgelage übernächtig eingeschlafen war und auf der Ofenbank liegend die Berathung der Verschworenen unbemerkt mit behorchen konnte. Dieselbe Begebenheit wiederholt sich zu Luzern in gleicher Weise, nur um acht Tage später. Die Luzerner Mordnacht wird geschichtlich angesetzt auf Peter- und Paulstag 1333, d. i. auf jenen Güdismontag der Alten Fasnacht, der seinen Namen von vergeuden und verprassen haben soll. Auch da wird der Anschlag der Verschworenen durch einen Knaben behorcht und dann Nachts noch dem Ofen auf der Trinkstube der Bürgerzunft entdeckt. Mithin war man dorten in dieser Nacht zu besondern Gelagen gleichfalls auf den städtischen Zunftstuben versammelt. Diese Gleichheit beider Vorfälle und beider Festtage ist für gegenwärtige Untersuchung wichtig, weil sich damit erweist, daß die Matthisennacht und die Andreasnacht (24. Febr. und 30. Novbr.) in unsern Gegenden gleiche Bedeutung und Feier hatten, ja sich mit einander verwechselten. Dies besagt auch der Schweizerpfarrer Barthol. Anhorn (Philonis Magiologia. 1675, 136), wenn er von der zu seiner Zeit unter unserer Bevölkerung üblich gewesenen Tagewählerei redet: „Andere treiben an Mattheis- oder Andreasnacht viel Gaukel- und Affenspiel mit Gürtlen, Schuen, Aeschen, Besen, Messern, Schabziegern oder grünen Käsen; hierdurch im Traum zu erfahren oder durch wirkliche Erscheinung zu sehen, was sie für Heurath bekomen werden." Die Andreas- und die Matthisennacht haben somit den Mädchen gleichmäßig zur Erforschung ihres künftigen Frauenstandes und Ehelebens gedient. In so ferne müßen diese sog. Rauch- und Loosnächte der Göttin Frouwa geheiligt gewesen sein, welche die Schwester des Liebesgottes Frô ist. Ihre Gunst suchten die heirathslustigen Mädchen in dieser Nacht zu gewinnen. Diese Göttin des häuslichen Glückes und der Liebe stand selbst der Zauberei vor, hatte Walküren in ihrem Gefolge und fuhr mit einem Katzengespann. Die Katze, als das der Häuslichkeit geweihte Thier, stand im Zürcherlande noch im J. 1780 unter einem eigenen Katzenrechte, welches Laßberg in Mone's Anzeiger I. nachgewiesen hat und das ganz der Rechtssitte gleichkommt, der gemäß über dem getödteten Schwan und der Menschenleiche das Wergeld in Weizen oder Gold aufgeschüttet werden mußte. Vgl. Grimm, RA. 669 fg. Die Katze wird als ein wichtig erscheinendes Thier im Kinderspiele getauft (vgl. Aargau. Kinder-Spr. No. 200) und somit widerfährt ihr dieselbe religiöse Bevorzugung, welche in der Sage vom Uristier an der Reuß (No. 246) und vom Geisbock auf den Klariden erwähnt ist. Als Heilthier spielt sie ihre besondere Rolle in jenen Segensprüchen, mit welchen die Mutter den Schaden ihres Kindes hinweg bannt (Aargau. Kinder-Spr. Abthl. IV, 4: Besegnungen). Sie hat ihren Theil von allen Festspeisen in der Familie, von Braten, Kuchen, Kindsbrei. Wenn man in einem Hause küchelt und man giebt der Katze nicht das erste Küchlein davon, so ist kein Segen in der Speise. Vom Brei, der dem Neugebornen gekocht wird, muß man ihr gleichfalls etwas überlassen. Aargau. Abergl. „Von der Gans ein Tätzlein, das kriegen dort hinten die Kätzlein", heißt's beim Verzehren der Martinsgans. (Rückert, Gesam. Ged. 1, 493.) Mutter, back die Kuchen, laß mich auch versuchen, wirf ein Stückchen hinter die Thür, kommt die Katz und leckt dafür. Simrock, Kindb. No. 413. Von Maria und dem Christkinde singt der Schlesw. Holst. Kinderreim (Müllen-

Digitized by Google

hoff, pag. 517), sie hätten ein Butterbrod für uns und unsere liebe Mauskatze in der Hand. Dies sind Spuren des Opfers, welches dem Thiere Frouwas gebracht zu werden pflegte. Es wird Züseli genannt, Zizibüseli; ich denke von ahd. zeiz, tener, blandus, amabilis. Graff, 5, 714. Der ahd. Frauenname Zeizichoma besagt Benvenuta, Geliebte, Willkommene. Von dieser Gabe des Thieres, eine glücksbringende Ankunft voraus zu melden, weiß noch der Aberglaube. Wenn sich die Katze die Ohren putzt, kommt ein gefreuter Besuch, heißt es; fährt sie übers rechte Ohr und leckt den Schwanz, so kommt ein Mann; über die Nase, so kommt bald eine Frau ins Haus. Leckt sie sich gegen das Haar, so folgt Sturm und Wind, ebenso, wenn sie sich aufs Ohr legt. Aus dem, einen fremden Besuch voraus witternden und ankündenden Thiere wird folgerecht auch ein wetterverkündendes. Nordwest heißt am Harz Katzennase. Journal v. u. f. Deutschl. 1790. 2, 37. Die aufsprützende Uferwelle des stürmenden Sees gilt als emporspringende graue Katze (Aargau. Räthsel No. 71). Katzen hageln und Spieße schneien ist ein sprichwörtlich Maaß für die Höhe gefallenen Schnees und Hagels. Scheuchzer, Nat. Gesch. 1, 234. Walser, Appenzell. Chron. (St. Gallen 1740) pag. 490. Daraus erwächst diesem Thiere seine finistre und dämonische Seite; es wird wetterbrauend, blocksbergfahrend und teuflisch, wie die Heren. Johann, spann an, drei Katzen voran, drei Mäuse vorauf, den Blocksberg hinauf. Fiedler, Dessau. Kinder-R. pag. 112. Derno het diss klein-klein Fröjele zu dem klein-klein Kätzele g'seit: gehsch furt du alti Hex! Stöber, elsaß. Volks-B. No. 239. Man prellt den Teufel mit ihr. Aargau. Sag. No. 388. 476; man macht ihn mit dem Thiere machtlos: drei gliche brodschnitz und e schwarzi chatz in schlitz (sack) helfet gege-n-alli tüfelswitz. Unter den anderthalb hundert Sekten, die Kaiser Friedrich II. verdammen mußte, war auch eine, der man das Katzenküssen Schuld gab; unter den Schweizern ist diese Nachrede besonders an den Bernern hängen geblieben. Sie haben darüber einmal den Unterwaldnern Krieg erklärt; annoch nennt sie der Kinderspruch mit diesem Spitznamen (Aargau. Kinder-Spr. Abthl. IV. 2, c.). Sie haben also wohl dem guten Genius dieses Thieres oder der ihm zustehenden Göttin besonders lange angehangen. Ein durch Ober- und Niederdeutschland gehender Glaube besagt, daß man in der Zeit der Zwölften nicht waschen, spinnen und backen dürfe, sonst zerstören's die Katzen. Das Thier achtet auf die Heiligung dieser Zeit, weil da seine Herrin in der Menschen Wohnungen einzukehren pflegt. Diese Zeit heißt in Bayern die Genacht und wird am 6. Januar, als dem Ende der Zwölften, zugleich sammt dem Neujahr der Mutter und Hausfrau angewünscht. Dies ist das große Neujahr. Panzer, bayr. Sagen. 2, 298. Die Mutternacht, mödranecht, fiel den Angelsachsen vom 22. bis zum 23. Dez. (Beda, de tempor. rat. cap. 13) und war ihnen Jahresanfang. In dieser Zeit reitet der lauenburgische Wode mit 24 Hunden um, und dem Bauern, der da backt, fliegen die Brodlaibe als Jagdhunde davon. Müllenhoff. In Meklenburg kommt alsdann ebenso Frû Gaue, in der Uckermark Frau Gode und zerkratzt allen Spinnerinnen den Rocken, der noch nicht sauber abgesponnen ist. Kuhn, nordd. Sag. Ein Leintuch von 100 Ellen hat ein Rotenburger Weber nur in der Abendfeierstunde gewoben; aber es verschwindet auf immer, als man es zum Verkauf an der Kirche vorbei trägt, in der gerade „Octave" abgehalten wird. Meier, schwäb. Sag. pag. 244.

Digitized by Google

Die Heilighaltung des Tages und der Nacht, da die Götter ihren Besuch machen, liegt hier ausgesprochen; die Katze aber erscheint dabei als beobachtendes und den Bruch der Sitte ahndendes Wesen. Sie heißt in diesem Zusammenhange das Matthisenthier. Mithin muß ihre Göttin selber Matthise heißen. Der sprachliche Nachweis hiefür läßt sich geben.

Der Ortsname Gudenswegen lautet i. J. 965 Vodeneswege (Thietmar von Merseb. 2, c. 14) und bedeutet den dem Gotte Wuotan geweihten Heerweg. Meier, schwäb. Sag. No. 156 zeigt in Pfullingen, Undingen und Immenhausen die Muotes-Heergassen, wie Panzer, bayr. Sag. 2, No. 89 den Wuotes-Heerzug kennt. Es wechselt also der Anlaut des Namens Wuet in Muet, wie Wôdanestac und Mittwoch, wie mundartlich mir und wir sich verwechselt, wie man die Halbinsel zwischen dem Murtner- und Neuenburger-See Mistelach, Wistelach, franz. Vuilly nennt. Zürcherisch gilt e chli munzig, nhd. klein winzig; altsächs. wechselt Präp. mith und uuith, schwäb. mo und wo, ubi; das nordd. Machandel ist obd. Wachholder. Entsprach nun dem Gotte Wuotan eine Frau Wuotana, so kommt unserm in No. 109 nachgewiesenen Gotte Muet auch eine Frau Muetis zu. Um Rotenburg und Friedingen an der Donau gilt für ihren lärmenden Umzug der Name Muoteheer, in der Hildesheimer und Königsbronner Gegend die Muterheer, und man denkt sich eine verwunschene Frau darunter. Meier, schwäb. Sag. No. 158. Eine Frau Motte am Gutenberg kennt Sommer (Thüring. Sag. No. 8) und sie thut dasselbe, was unser Matthisethier, sie besudelt stets den Rocken, wenn man in den hl. Nächten der Zwölfe spinnt. Demgemäß drückt man in Schwaben das W. Heer feminin aus, die Mueterheer (Meier, No. 158. 146). Während seines Umzuges ist alle häusliche Arbeit untersagt. Im Schwarzwalde heißt es Modis, sein Ruf tönt wie Katzengeschrei (Meier, No. 144. 153) und endigt als Hexenversammlung. In Köln hat man bei diesem Namen geflucht: Tacker Moht, Mohtkrenk! (Weyden, Cölns Vorzeit, 243.) Es bedeutet Tod und Krankheit, ebenso viel wie unser Fluch Alahirzi No. 413 a. Wir haben damit unsere fragliche Namensform bereits nachgewiesen und gezeigt, daß dieselbe keineswegs mit dem Kalendernamen Matthias zusammen gehöre; zum Ueberfluß läßt sie sich noch aus unserer Nachbarschaft weiter zeigen. Von den Stadtgespenstern der Stadt Schaffhausen sagt ein Weihnachtsgruß 1851, pg. 18:

Die Mutterees im alten Thurm
Versperrte den Weg bei Nacht und Sturm,
Und hinten in der Webergaß
Mit Feueraugen der Wali saß,
Den Wäscherinnen früh vor Tag
Bereitete er manche Plag.

„D'Mueter-Ees chunt!“ riefen sonst die Stadtkinder, wenn sie spielend durch diesen Thurm an der Stadtmauer sprangen. Vor einigen zwanzig Jahren ist er zugemauert worden. (Mündlich.) Hier paart sich der Name Wali und Mutterees sehr bedeutsam.

Unter den alten Göttern ist Vali derjenige, der mit Môdhi nach dem Weltuntergang den Himmel erneut. Mythol. 784. Walman nennt das Zürchervolk den über Kyburg hinstreichenden Bergzug, erst das Schriftdeutsche hat den Namen in die Almannskette verdreht. Meyer-Knonau, Kant. Zürich 1, 115. Das Schaffhauserland kennt für das W. Heer die

Digitized by Google

Benennung Muttiseer. Stalder 2, 227 mißdeutet die Beschaffenheit dieses Wortes, während bereits Scherz, Gloss. pag. 168 den Begriff eines geweihten Heeres darin sah. Elsaßer Localnamen sind der Moderbach bei Hagenau, Mutterhausen und Motheree ebenda. Beim Dorfe Modern grast die schwarze Kuh mit silberner Halsglocke, welche verirrten Wanderern hilft. Im Moderwalde haust neben anderm Spuk auch der W. Jäger, man entgeht ihm aber, wenn man sich behende auf ein Taschentuch stellt. Stöber, elsäß. Sagen 209. 226. So begegnet dieser bedeutsame Localname sonst noch oft an sagenhaft berühmten Punkten. Eine wunderliche Felsgruppe am Schaffhauser Dorfe Hauenthal heißt Mutterloch; man geht durch dasselbe in das Geklüfte Loch und von da in jenes Hemmenthal, am Fuße des Randenberges, das durch die Sage von der kirchenstiftenden Emma und ihrem leuchtenden Laternen-Hirschen berühmt ist. Im Thurn, Kant. Schaffhaus. 160. J. Grimm in den Altd. Bl. von Haupt und Hoffmann 1, 371 hat also über diese Namensbildungen das Wahre richtig voraus geahndet: „Wie, wenn diese Benennung gar auf eine Frau Mut oder auf einen Herrn Mut führte?“ und er zeigt diese Frau neuerdings (Myth. 945) als die in Nithards Liedern genannte Vrômuot, vrou Muot.

Wie nun beim Herabsinken der Heidengötter und bei der Verdüsterung ihrer Namen der göttliche Jäger und König Waldemar (Müllenhoff, pag. 361) zum Welthund geworden ist, von dem es in Westfalen heißt, er jage und sei überall (Wolf, Ztschr. 2, 99), und zu unserm gespenstischen Dorfrudel, zum Namen der Jagdhunde Walti; so ist auch die Göttermutter Berchta und Precht zur Pudelmutter herabgesunken (Weinhold, Weihnachts-Spr. pag. 11), ohne daß noch ein Schimmer des alten Namens des Gottes Buddha und Wuotan durchschiene durch unsere vulgären Ausdrücke budelwohl und budeldick (kerngesund), bödeln (zechen), bodaviel, budewinzig u. s. w. Nicht anders verwandelte sich das singende Guetigsgheer in eine Schweineherde, deren Führerin die furchtbare Rochelnmoore ist, und das Muetis-Gee in eine tobende Schaar gespenstischer Schwedenreiter, genannt Matthis-Ee, und der feminine Name Matthise wird zum spukenden Thier, zum Katzengeschrei, zu der in Katzengestalt vom Henker verbrannten Here. Solche Wandlung des Wortsinnes und wie muet allmählich zu môdag (iratus) wird, zur Bezeichnung teuflischer Geister dienen muß, weist Grimm nach, Myth. 883. 943. Die Fröhlichkeit der durchs Land fahrenden und die Familien heimsuchenden Göttin Fromuth verdünnt sich späterhin noch zu einer St. Armuth, die noch Kirche und Altar im elsäß. Dachstein an der Breusch besitzt (Stöber, elsäß. Sag. No. 164). Zur wüthenden und maudernden Katze (bayrisch Mudel, Mäuder, Mutz, Mautz genannt, Schmeller 2, 664) wird sie, weil die provinziellen Namen dieses Thieres zufällig dem Namen der Göttin ähnlich sind, während überdies Frouwa und die Katze, wie schon bemerkt, zusammen gehörten. Der holländische Katzenmittwoch ist bekannt. Wie unser Matthisenthier schließlich als Here vom Landvogt justificiert wird, so nennt man auch die Fasnachtfeuer in der Schweiz mehrfach das Hexenbrennen, während man zu derselben Zeit in den Vogesen Katzen beim Fasnachtfeuer an Holzpfählen todt brennt und sie umtanzt. Stöber, Alsatia 1851, 120. In Hugo's hl. Mortina ist die Katze bereits Fürstin der Hölle: der fuort in da in cratze diu helleclichiu Katze. Diut. 2, 139. G'wohn's, Mudel, g'wohn's! lern's nur ertragen, Kätzlein, sagte der Beck, als er mit

ihr den Backofen auswischte, ist eine bayrische Redensart. Schmeller 2, 553. Auch dabei noch steht Mudel, die Katze, zur Muet, der Göttin. Mit der Katze wird der Backofen ausgewischt, weil darin die Festbrode für den Feiertag der Muet fertig gebacken sein sollen. Wie schweizerisch bödeln zechen heißt und zu Budda-Wuotan führt, dem freigebigen Gott (vgl. Böhli und Buhli, erwogen von J. Grimm in Aufrecht-Kuhns Ztschr. f. Sprachforschung 1, 437), so führt bayrisch Muth und guter Muth in der Bedeutung von Hochzeit- und Kindstaufschmaus (Schmeller 2, 655) und nordd. Mottenkopf, ein zu lustigen Streichen aufgelegter Schalk (Kuhn, nordd. Sag. pag. 518) gleichfalls zur thüringischen Frau Motte und zur schweizerischen Frau Matthise. Zarncke, ed. Brant, Narren-Sch., pag. 305, zeigt das Wort Mut in der Bedeutung von Schmaus noch aus einigen älteren Autoren: wir wöllen nit von hinnen scheiden, dann halten vor ein guoten muot, als man dan vff der hochzeit thuot. Murner, Gross. Luther. Narr b.3. — da wöll wir haben ein guter mut, wie man dann auff hochzeiten thut. H. Sachs, ed. Götze, 1, 200. Ingleichen ist Mutti in unsern Sagen No. 112 Name des W. Jägers und bezeichnet zugleich einen starken, körperlich gedrungenen und reichen Mann.

---

## 130. Mattisee und das Schwedenhaus bei Hettenschwil.

Als die Schweden die Rheinstädtchen Laufenburg und Rheinfelden belagerten, verwüsteten sie ringsum alles Land im benachbarten Jura und verfuhren namentlich in den Thälern von Mandach und Hottwil auf eine unmenschliche Weise. Sie gossen den Leuten Mistjauche ein und banden sie an den Schwanz ihrer Rosse; dann jagten sie mit denselben oberhalb Wil durch die Barte, das Härdlen- und das Götzelenholz, dann durchs Immenholz auf dem Altweggäßlein nach Gippingen zur Aare, und stürzten die Armen hier übers Ufer in den Fluß. Fragt man aber, warum sie von hier aus niemals in die innere Schweiz, und nicht einmal weiter in die hier offene Landschaft eingedrungen seien, die man das Kirchspiel nennt, so weist man auf ein altes Haus in Hettenschwil, an welchem die Wappenschilde der VIII Alten Orte (Kantone) angemalt sind. Diese Schildzeichen, sagt man, hätten den Feind so in Respekt gehalten, daß er seine Truppen nie über das Sennenloch, ein Waldthal von Hettenschwil, vorgeschoben hat, sondern droben im Versteck des Berges Verschanzungen anlegte, die noch vor fünfzig Jahren gestanden und dem Platz bis zur Stunde den Namen Schwedenholz bewahrt haben. Wo aber der Name der Eidgenossen damals nicht verlautete, da gieng es gerade umgekehrt. So nennt man im Frickthaler Dorfe Ittenthal eine geräumige Berghöhle das Schwedenloch, weil sich die unbeschützten Bauern alle in sie flüchten mußten. Auf den gleichen Waldwegen nun, auf denen

Digitized by Google

damals das arme Landvolk zu Tode geschleppt worden ist, fahren jetzt die schwedischen Reiter auf halben Rossen Nächte lang hin und her. Sie treiben da ihre Pferde auf die Weide und reiten sie in die Tränke. Letztere liegt an der sogenannten Schwetti. Einer reitet ihnen dabei voran, der besonders an der Sichel kennbar ist, die er in der Hand schwingt. Die Wallbacher am Rheine wissen gleichfalls von ihm und sagen, er sei von einem Frickthaler mit der Sichel geköpft worden, als er diesem verwehren wollte, die schon überreif gewordene Frucht zu schneiden. Bei Laufenburg sagt man, es sei der Schwedenkönig selber, dem seine eignen Leute bei einem Lagertumulte das Haupt abgeschlagen hätten. Bei regnerischer Witterung beginnt ein hundertstimmiges Hurrahrufen, ein Kesseln und Rasseln, daß sich kein Mensch in der ganzen Gegend Nachts in den Wald wagen würde; und dieses wunderliche Getöse hat man Mattisee genannt. Das „Schwedenhaus", welches der Feind sonst droben auf der Waldhöhe „Schwedenholz" bewohnte, ist ins Dorf herabgeschafft worden und steht da noch.

Eine Gegend droben im Walde nennt man die Hohle Gasse. Hier stand einst ein Schloß, als aber der Krieg kam, vergruben die Schloßbewohner ihre Schätze, zogen hinweg und das Schloß verfiel. Zwei Männer haben einmal versucht, das Geld zu heben, und hatten in tiefem Stillschweigen bereits einen Trog hervorgegraben, den sie alsbald mit vier Kreuzthalern unterlegten. Als sie nun auch den Deckel abhoben, sprang eine Schlange draus hervor und hieng sich dem einen um den Hals, daß er zu schreien anfieng. Augenblicklich war die Schlange wieder in den Trog zurückgesprungen und dieser mit ihr versunken. (A. Birrcher in Laufenburg.)

Es ist keine Uebertreibung, daß der schwedische Soldat den gefangenen Bauern Mistjauche eingegossen habe, um sie damit zum Geständniß zu bringen, wo sie ihr Geld vergraben hätten. Von den Horden unter Wrangel erzählt es die Klosterchronik des bayr. Donaustiftes Altaich, und aus den Spessartgegenden Simplicissimus l. 1, c. 4: den Knecht legten sie gebunden auf die Erde, stellten ihm ein Sperrholz in den Mund und schütteten ihm einen Melkkübel voll garstiges Mistlachenwasser in den Leib; das nannten sie einen „schwedischen Trunk". Auch standen schwedische Truppenabtheilungen unter Gustav Horn und dem Rheingrafen Otto Ludwig wiederholt im Frickthale und erhoben in allen Ortschaften bis an die Bergscheide des Aarauer-Jura ungeheure Contributionssummen. Gleichwohl hat diese Sage noch alterthümlichere Beziehungen; auf diese ist schon zusammenhängend eingegangen in der Anmerkung No. 129, es soll hier nur noch das Einzelne ins Licht gestellt werden. Muet hat sich aus dem Gottesnamen Wuet-an entwickelt, wie Mittwoch aus Wôdanestac, und zum Namen Mattisee sich umgebildet durch die Matthisennacht. An dieser wird

bekanntlich jetzt noch geloost, gezaubert, und sie gilt zugleich als eine Frist in der Geister sich sichtbar machen und ihre alten Wege wieder wandern dürfen. Dies ist die Zeit, in welcher das Heidenthum den feierlichen und bescherenden Umzug der Götter feierte und denselben in entsprechenden Festumzügen und Verkleidungen darstellte. Rheingauer Glaube ist, die in der Matthäusnacht Geborenen müßen mit den Holden fahren, d. h., es müßen alle Todesfälle ihnen sich voraus anmelden und sie müßen zu bestimmten Nächten auf dem Kirchhofe die Geister tragen. Wolf, Ztschr. 3, 60. Das Muttis=ee, wie man im Schwaben= und Schaffhauserland die W. Jagd jetzt noch nennt, das Gottes= und Freudengebot, verwandelte sich sprachlich in ein Mattisee, und wie das singende und schmausende Guetigsg'heer zum fauchenden Schweineheerde wird, so der bewaffnete und berittene Festumzug des Gottes zu gespenstigen Schwedenreitern auf halben Roßleibern, die statt Meth und Kuchen, den gräulichen Schwedentrunk austheilen, statt der Aerntesichel eine goldene Henkerssichel schwingen. Geht die Anschauung noch einen Schritt mehr der Verdüsterung entgegen, so wird das Mattisee zu einem Räuber Matthes (Meier, Schwäb. Volksm. No. 16), für den ein eigenes Folterbette in der Hölle steht voll Feuerqualen. Und wie hier die Reiter die Kornärnte stören und den Schnittern Mistjauche eintrichtern, ebenso wird in der schwedischen Sage, in Dybeks Runa, Kuhmist in die Schüssel geworfen, wenn der Gott bei den Bauern den Julbrei verzehren will. Weinhold, Weihnachtsspiele pag. 15. In gleicher Weise schändet das Matthisenthier unserer Sammlung Festbrod und Festwäsche, ehe beides noch gebraucht hat werden können. Diese Schwedenreiter schwemmen Nachts ihre Rosse in der Schwetti (Roßschwemme) und jagen bis zur Aare, als bis zum Grenzpunkte ihres gewöhnlichen Rittes. Sie waschen und baden sich also für die kommende Festzeit, wie andere Geister zu gleichem Zwecke die Linnen weit über das Gebirge auslegen und im Mondscheine bleichen. Die Aare macht ihrem Geschäfte ein Ende: fließendes Gewässer bricht die Macht der Geister. Was hier die Schweden sind, das heißt pag. 287 in Meiers schwäb. Sag. das Gundesvolk, besteht aus österreichischen Rothmänteln, sogar aus Franzosen, es ficht alle Schlachten unverwundbar durch und wird zuletzt nur durch Zauber vertilgt. Anderwärts sind es die Hunnen, die alles Land verwüsten; anderwärts ist's zugleich die hl. Hunna, in der kathol. Kirche die Schutzpatronin der Wäscherinnen, oder jene bei Tacitus Germ. c. 40 erwähnte Göttin, deren Gewand zum Feste gerüstet und mit ihrem Bilde zugleich Nachts im See heimlich gewaschen werden muß. Auch an einem bestimmten Tempel oder wenigstens Opferplatze wird es diesen Matthisee=Reitern nicht gefehlt haben; darauf weist die Behauptung hin, daß sie in ihrem Walde das Schwedenhaus bewohnt hätten, welches man später bis ins Dorf herab schaffte, wo man es gegenwärtig noch bewohnt. Dasselbe muß also eines der sogenannten Heidenhäuser gewesen sein; Unterstützung findet dies noch durch die weitere Behauptung, daß diesem Schwedenhause entgegen ein anderes gebaut und mit achterlei Schildzeichen bemalt worden sei, während zugleich ein drittes, das „Eidgenossenhaus" eine Viertelstunde weiter entfernt an der Anhöhe in einem nun ausgereuteten Walde steht. Vgl. die Heidenhäuser No. 427.

Sonderbarer Weise reden auch die heutigen Waatländer, bis zu denen die Schrecken des dreißigjährigen Krieges niemals drangen, von ihren Erleb=

Digitized by Google

nissen unter dem Drucke der Schweden. Man nennt in Beziehung auf letztere einen bestimmten Thalkessel die Schwedenschlacht, la combettaz dai Schaidos, man hat das Sprichwort: laufen wie ein Schwede, cor i'mon Schaido. Gewiß aber ist's, daß man in diesem Namen einen ganz andern Inhalt zu suchen hat. So erwähnt Vulliemin, welcher Kant. Waat 2, Abthl. 2, 54 diese Patois-Phrasen mittheilt, unter denjenigen Namen, die dem Teufel in der Waatländer-Mundart zukommen, einen Schautairo (Luftspringer) und eine Herenmutter, welche die Schlafenden reitet, Namens Tçauce-villha, also die Alte des Tschaud und Tschaid. Dieses Tschaid Trabanten scheinen also wohl die pluralen Schaidos; im Kreise von Ormond heißen sie auch Schauterels und hüpfen dorten über die Häuser hinweg, denen sie zwar zum Schutze dienen, in denen sie aber manchmal auch alles durcheinander werfen. Vulliemin ibid. 2, Abthl. 1', pag. 31. 32. Abthl. 2, 149.

## 131. Metteli.

Um das Dorf Wettingen gilt von hoffärtigen und gewaltthätigen Leuten die Redensart „es wurd ei'm meine, de sig de Metteli", man möchte fast meinen, er sei ein Mann gleich dem Metteli, dem berühmten Vogt. Eine Viertelstunde vom Dorfe am Abhange des Lägerenberges liegt im Steingerölle des Bergschuttes ein überwaldeter Platz, das Steinbodenmätteli geheißen. Hieher versetzen einige dieses Vogtes Schloß. Andere suchen es auf der Höhe des Lägeren, gegen das Dorf Otelfingen zu, wo sich ebenfalls alte Mauertrümmer finden. Als bestimmt aber gilt es übrigens, daß der Vogt Metteli jetzt noch vom Steinbodenmätteli aus über die Zindelmatten bis gegen das Bannholz gefahren kommt und von dorten der alten Straße nach ins Dorf herein. Vier Schimmel sind dabei sein Gespann und hinterher folgt ein heftiges Rauschen.

J. Merz, Poet. Appenzeller 1836, S. 177 hat die Sage vom Metteli bedichtet: Me hört dick emol sägen im Land „so rich wie der Mötteli, oder: er het Möttelis Guot". Der St. Galler-Sage zufolge hat Hans Mötteli das Schloß Rappenstein, das ehemals Martistobel hieß, vom Kaiser zu Lehen erhalten 1483. Heut zu Tage wird Schloß Sulzberg beim Volke Möttelisschloß genannt; bei Untereck, Bezirks Rorschach. Es soll dies das einzige Schloß der Gegend sein, das die Appenzeller in ihrem Freiheitskriege unzerstört gelassen haben. Rudolf Mötteli, des reichen Hansen Bruder, soll es gekauft haben. Jetzt ist es im Besitz der Salis-Soglio. Da bewachen zwei Jungfrauen, jung und schön, in weißen Kleidern und rothen Schuhen, aber beide in Ketten gehend, einen im Schloßkeller vergrabenen Schatz. Wer um Mitternacht anpocht, den bitten sie beweglich um den Erlösungskuß; allein ein riesiger Hund verhindert stets Mötteli's Geld zu erheben, und so zerfällt das Schloß immer mehr. Am Burgstadel hört man Kegel schieben, die Kugel in die Kegel einprallen

und fröhliches Gelächter der Spielenden. Vgl. Appenzell. Monatsblätter 1825, 168. Diese Sage ist alt und gieng ziemlich frühe in die schweizerischen Chroniken über, so daß noch in den jetzigen Handbüchern der Schweizergeschichte vom reichen Metteli herkömmlich die Rede ist. Man berichtet, er sei während des Schwabenkrieges 1499 als Auszüger im Schweizerheere von den Landsknechten im Hegau gefangen genommen worden. Auf des Grafen Jost von Zorn Verwendung gelang es ihm, sich endlich um 2000 fl. loszukaufen. Kaum war das Geld erlegt und Metteli wieder auf St. Galler Boden angekommen, so überfielen dorten die deutschen Landsknechte plötzlich Reineck, wo er sich eben aufhielt, und nahmen ihn zum zweitenmale gefangen. Lenz, der gleichzeitige Chronist des Schwabenkrieges (herausgegeb. von Dießbach, Zürich 1849) reimt S. 132 b. darüber:

der rychen mettelin eyner zur fart
von lantſknechten gefangen ward,
den furten ſy mitt jn hin,
den lost graff Jöſt von Zorn an jn,
vmb zwei tuſent gulden ab,
den lantſknechten er ſy gab.
Die lantſknecht ouch namen
jr teyl, zweyhundert vm kamen
zu Ryneck in derſelben not.
Das ſchloß Ryneck man behielt,
die ſwaben man zur Flucht ſchilt,
mitt dem mettelin ſy entronnen
wider vber See ſchwummen.

Auf diesen Vorgang scheint sich die Redensart von des Mötteli's Geld und Gut zunächst zu beziehen und was sonst Kirchhofer, Sprichw. No. 116 darüber Allgemeines beibringt. Allein diese historische Beziehung, welche man der Sage zu geben versuchte, hatte dennoch keine Dauer in der Volks-Erinnerung. Tobler, Appenz. Sprachsch. 320 a. weiß aus der Volksrede nichts von einem richa Mötteli, wohl aber von einem sprichwörtlich geltenden Müeda Mötteli; man bezeichnet damit eine lästig fallende Person, in dem wegwerfenden Sinne, in welchem der Glichesære im Reinh. Fuchs V. 658 den Namen als Scheltnamen anwendet. Ich will hier das Wenige was mir über den historischen Mötteli in die Hände kam, mittheilen. Zu Ende des 15. Jahrh. versteuert der Reiche Mettelin (Mattelin) zum Rapenstein, Patricier der Stadt Ravensburg, sein der Stadt eidlich auf 150,000 fl. angegebenes Vermögen. Naumann Serapeum 1845, 263. Rudolf Möttelin, 1417 Bürger zu Ravensburg, kauft das Dorf Woringen im Allgäu, geräth aber darüber mit dem Abt von Kempten in einen achtjährigen Zehent-Prozeß. 1452 geht dann das Dorf an Walther Mettelin über, nach ihm an Hans von Rappenstein, genannt Mettelin. Haggenmüller, Gesch. v. Kempten 1, 239. 257. 431. Wegen fortgesetzter Prozesse wandern die Mötteli in die Schweiz aus. Durch den Stadtjunker Jak. Mötteli, dessen Vater Junker Joach. Mötteli gewesen, erhält Winterthur 1540 das weitläufige Möttelihaus geschenkt. Winterthur. Neujahrs-Bl. 1836, 4. Ruine Altregensberg am Katzensee, Kant. Zürich, war Mitte des 15. Jahrh. Mötteli's Eigenthum; von ihm gilt noch die auf jeden Verschwender gedeutete Redensart: man sollte meinen, er hätte Mötteli's Gut. Auf dem Landrücken zwischen dem See von Pfäffikon und Greifensee nahe bei Rutsperg lag zur Zeit des Chronisten Stumpf noch viel altes Gemäuer, das auch

Digitized by Google

jetzt theilweise noch vorhanden ist und auf ein untergegangenes Städtchen gedeutet wird. Seit Jahrhunderten heißt dieser Platz Mettlen. Meyer-Knonau, Kant. Zürich 2, 493. 1, 91. Dorf und alte Burg Mettlen im Kant. Thurgau verzeichnet Pupikofer, Kant. Thurg. 304. Das Geschlecht der Möttele besteht noch im Appenzell Außer-Rhoden in den Gemeinden Stein, Speicher, Trogen. Appenz. Monats-Blätter 1840, 161. Im Aargauerlande sind Groß- und Klein-Metteläcker im Schneisingerbann; Mettelwiesen im Hochwalde von Ober-Siggingen. Handschriftlicher Klingnauer Probstei-Zinsrodel, erneuert von Jak. Bluomer, Landvogt zu Baden, 1663, pag. 122. 144.

Mythologisch wichtig werden nun dabei folgende Thatsachen. Das Appenzeller Mötteli-Schloß heißt ursprünglich Martistobel, dort wohnen zwei walkürenhafte Wunschjungfrauen, umgeben von den klaffenden Hunden der W. Jagd und bieten Schätze dar. Der Wettinger Metteli hat gleichfalls seine Schloßruine und fährt von ihr auf dem Lägerngebirge auf unverrückbarem Geisterwege mit vier verzauberten Schimmeln aus. Nun ist in No. 499 gezeigt, wie dem hl. Martinus Schimmel als Kirchenrosse geweiht wurden. Martinus ist aber ein Stellvertreter Wuotans-Mars, von dessen Heidentempeln ums Jahr 980 noch geschichtliche Zeugnisse reden: Myth. 1203. Beim Martisbauern zieht daher das Muetisheer mit allen Hunden durch die Keller. Meier, schwäb. Sag. No. 151. Die Thüringer Sage bei Sommer No. 8 kennt eine Frau Motte am Gutenberg hausend, welche in derselben Weihnachtszeit wie unser Guetisheer, hergezogen kommt. Gutenberg wäre langobardisch Gwodanes-berg, wie lotharingisch Vaudemont, Vodani mons. Gleicherweise liegt ein Gudensberg bei Maden (Mattium) und heißt 1154 Wuodenesberch. Ortschaften Waten und Motten liegen beide zusammen an der Fulda. Beim Sakermoht, bei der Moht-krenk schwört man in Köln (Weyden, Vorzeit Kölns 243). Das Mottisheer wird in Schwaben das Nachtgetöse der W. Jagd, und in Burgdorf im Emmenthal metaphorisch der Lärmen einer aus dem Schulhause heraustobenden Kinderschaar genannt. Unser Mötteli und Metteli reiht sich also wie der W. Jäger Mutti (No. 112) sprachlich und mythisch dem Gotte Muet an, von welchem Anmerk. No. 129, 130, 489 die Rede ist.

---

## 132. Die sieben Herren im Kelleramt.

Das kleine Bächlein, welches durch den Malesizgraben in den Reppischbach bei Urdorf fließt, macht zugleich die alte Grenze, welche das Aargauer Kelleramt vom Zürcher-Gebiete trennt. Hier stand vor Alters ein Schloß; sieben Herren bewohnten es zusammen und blieben am meisten darin einig, daß sie lebenslang die arme Berggegend von Rudolfstetten, Dietikon und Friedlisberg mit Plündern und Rauben heimsuchten. Nach einem nächtlichen Hochgewitter war einst ihr Schloß gebrochen und sie selbst zeigten sich nicht mehr öffentlich. Aber alle Fronfasten Nachts sieht man sie Gold zählen auf dem Wege, der an dem Burgstall vorbei nach dem zürcherischen Birmensdorf führt. Da

könnten Lastwagen über sie wegfahren, ohne sie zu stören oder zu verletzen. Ein Mann sah sie einst zusammen in ihrem Schloßhofe an der Mahlzeit sitzen; zugleich stand ihr Thorwächter, den Kopf unterm Arm, mit brennender Lunte auf dem Posten. Diesem mußte er bei großer Buße versprechen, Niemandem jemals von dem hier Gesehenen zu erzählen. Als er aber einmal am Wirthstische seiner Zunge nicht mehr Meister war und zu berichten begann, was er vormals erlebt hatte, war er im Nu den Gästen aus den Augen, und Niemand weiß, wohin er gekommen.

---

## 133. Die Geisterküche.

Der muthige Sigristensohn im Dorfe Kulm war ein Jugendgespiele jetzt bejahrter Männer des Kulmerthales. Sein Vater wußte den wilden Buben nicht zu bändigen und meinte seinen Uebermuth durch allerlei Schreckmittel dämmen zu sollen. So stellte er einmal einen Strohmann in den Kirchthurm und schickte dann den Knaben bei Nacht in den Thurm hinauf, dorten noch die Uhr aufzuziehen. Der schlägt aber einfach den Popanz über die Stiege hinunter und bringt ihn dann lachend in die Stube herein gehuckelt. Der Vater merkt endlich, hier müße man etwas Klügeres beginnen und läßt ihn das Schneiderhandwerk lernen, um ihn in die Fremde zu schicken, in der er sich die Hörner abstoßen soll. Der Sohn blieb aber der Gleiche. Auf seiner Wanderschaft wollte er einst mitten im Walde in einem einsam liegenden Häuschen übernachten; aber Niemand öffnet und er erbricht zuletzt die Thüre. Kein Mensch ist drinnen, doch brennt auf dem Tische ein Licht. Während er sich's dabei bequem machen will, kommen zwei Männer in die Stube getreten, die ihn einige Zeit anstutzen, dann aber nach kurzem Gespräche ihm gestehen, das Haus habe gar keinen Herrn mehr, denn es sei gespenstisch, ihnen aber diene dieser Umstand dazu, ihre Diebereien hier verbergen zu können. Der Geselle, der um das Nähere fragt, vernimmt, eine weiße Frau hüte hier einen Schatz und erscheine regelmäßig um die Geisterstunde; und so verbünden sie sich zu Dritt, heute diesen Schatz zu erheben. Aber bis Mitternacht ist's noch lange, der Hunger ist nicht gering, die Diebe haben Mehl und Schmalz im Hause; also sucht der Geselle ein Mahl zu rüsten, macht in der Küche ein Feuer auf und in kurzer Zeit küchelt er schon am Herde. Da hört er, noch ehe die anberaumte Mitternachtsstunde da ist, aus dem Schlot herunter eine Stimme rufen: Flieh, oder ich falle! — Nur zugefallen! antwortet er unbesorgt, und gleich fällt ein Schenkel durch den Kamin herab auf den Herd. Er schleudert

Digitized by Google

denſelben in einen Winkel der Küche, thut die Pfanne wieder übers Feuer und röſtet weiter an den Schmalzküchlein. Bald hört er die Stimme aus dem Schlote abermals und giebt abermals dieſelbe Antwort, da liegt der andere Schenkel vor ihm am Herde. Er wirft ihn zum erſten hinter, und ſo geht es fort, bis zuletzt alle Glieder und Stücke eines Menſchenkörpers da ſind. Sobald er auch den Kopf zu den übrigen Theilen hinter geworfen hat, fügt ſich Alles zuſammen, ein großer Mann richtet ſich hinten in der Küchenecke auf und tritt zu ihm heran. Der Burſche fragt ihn höhniſch, wo er denn ſein Weib habe? Sie wird nachkommen, iſt die Antwort. Um ſo beſſer, ſagt der Geſelle, ſetz dich alſo derweilen dorten in jene Ecke. Der Mann gehorcht und der Geſelle trägt nun ſein fertiges Gebäcke auf. Als er mit der Schüſſel über den Hausgang in die Stube gehen will, kommt ihm eine ſchneeweiße Frau entgegen. Aha, ſagt er, das iſt wohl diejenige, welche hier den Schatz hütet. Nun ja, ſo mag ſie vor der Hand zu Tiſch kommen und ihren Mann, der dorten im Winkel ſitzt, mit herbei bringen! So geht er mit der Schüſſel voran in die Stube und das Paar folgt ihm. Alle ſitzen zu Tiſch, jedoch wollen die zwei Geiſter nichts genießen. Nach dem Eſſen fordert der Geſelle die Frau auf, ihm die Mittel anzugeben, wie ſie erlöst werden könne und verſpricht ihr, ſtandhaft und beherzt bleiben zu wollen. Nun zündet ſie ihm bis zu einem alterthümlichen Bette voran, in welchem ein gewichtiger Schlüſſel liegt; dieſer paßt im Hauskeller zu einer Eiſenthüre und nach dreimaligem Umdrehen geht das Schloß auf. Die Frau tritt mit dem Licht hinein. Da erblicken ſie im Gewölbe einen Hahn mit feurigem Kamm, der ſich auf dem Rücken eines gewaltigen Zottelhundes ausſpreizt. Der Hund aber kauert knurrend auf einer großen Kiſte, während der Hahn dazu kräht, daß er ſich ſelber faſt überpurzelt. Der Schneider läßt ſich von Allem nicht dumm machen. Aller Grimaſſen ungeachtet verſcheucht er erſt die Ungethüme und ſchließt, ſobald ſie zum Keller draußen ſind, die Thüre zu. Dann legt er wohlbeſonnen ſein Schurzfell ab. Mit dem zweiten Schlüſſel, den ihm nun die weiße Frau einhändigt, öffnet er die Kiſte und ſie liegt bis oben voll Gold. Sogleich aber wirft der Geſelle ſein Schurzfell darüber, weil man jedem Geiſterſchatze, der nicht mehr entweichen ſoll, etwas von unſern eigenen Sachen beilegen muß. Kaum iſt dies geglückt, ſo ſagt er der weißen Frau und ihrem Manne, jetzt könnt ihr gehen, und augenblicklich ſind beide verſchwunden. Nachher haben ſich die Drei, der Schneider und die Diebe, in die Schätze friedfertig getheilt, und der alte Sigriſt von Kulm ſah ſeinen Sohn als reichen Mann wiederkehren.

Digitized by Google

Sagen über Geistermahlzeiten verzeichnet W. Menzel, Odin pag. 245, und pag. 251 werden auch die stück- und gliederweise herabfallenden Körper der Tischgenossen erwähnt. Damit scheinen die täglich im Kampfe fallenden, täglich aber wieder auflebenden und mit Odhinn tafelnden Einheriar gemeint. Dazu finde ich noch anzumerken: Der Meßmersſohn, in Zingerle's Tyrol. KM. 1, 117. Die Funkenburg bei Leipzig, in Steinau's Volks-S. pag. 282. Ein gegen seinen eigenen Pfarrer in solcher Weise spukender Sigrist wurde zu Zürich 1705 ertappt und hingerichtet. Helvet. Calend. 1786. In Wolfs hess. Sag. No. 23. 24 schmausen die Geisterhelden im Schlosse und die W. Jäger in der Küche, auch dabei soll ein Leichnam zerrissen und zerstückelt werden, um ihn alsdann in einen Sack zu fassen; während er bei Müllenhoff, Schlesw. Holst. Sag. pag. 218 in seinen einzelnen Theilen zum Leib eines Hofdieners wieder zusammen gesetzt wird. Zwölf Männer sitzen im Walde um einen runden Tisch, spielen Karten und haben einen steinernen Bierkrug vor sich. Fr. Mihm, koburg. Sag. 1845, No. 30.

## 134. Die wandelnden Rathsherren von Muri.

Bis still, die Herren gehen herum! war sonst eine landesübliche Redensart, wenn man einen, der zu Anzügliches redete, zu einem ehrerbietigen Tone auffordern wollte. (Melch. Kirchhofer, Schweiz. Sprichw. No. 79.) Dies findet in Muri-Egg noch seine Anwendung. In diesem Dorftheile steht ein baufälliges Haus, das vor Alters ein Rathhaus gewesen sein soll. Seine letzten Bewohner, die zur Miethe drinnen waren, haben noch bis vor wenigen Jahrzehnten Tag und Nacht die Hausthüre offen halten müßen. Denn sobald man diese schloß, entstand Nachts ein unerträgliches Gepolter und die längst verstorbenen Rathsherren spazierten dann in ihren Amtsmänteln durch den Hausgang hin und her.

## 135. Die unverschließbare Thüre in Veltheim.

In einem gewissen Hause zu Veltheim geht bisweilen am Tage wie bei der Nacht die Stubenthüre auf. Die Leute sind so sehr daran gewöhnt und unterscheiden die Zeit so gut, daß sie dann die geöffnete Thüre nicht wieder verschließen, es wäre doch vergeblich. Ungläubige von der neuen Schule wollten hierin eine bloß natürliche Ursache sehen und stemmten sich deshalb mit aller Gewalt gegen die Thüre; sie öffnete sich dennoch und legte jene mit ihrer neuen Weisheit unsanft zu Boden. Einmal machte der Kobold seinen Besuch, als die Wiege mit einem kleinen Kinde eben an die Thüre geschoben war; er warf zwar die Wiege gänzlich um, das Kleine litt aber nicht den mindesten Schaden und der Mutter, die daneben saß und spann, geschah eben so wenig.

Digitized by Google

Auch im Frickthaler-Dorfe Obermumpf findet sich ein altes Haus, dessen Thüren zu bestimmten Tagen des Jahres alle sich von selbst öffnen und die ganze Nacht darauf nicht wieder geschlossen werden können.

Man sagt von Selbstmördern, daß jene Stubenthüre, durch die man ihre Leiche aus dem Hause schafft, ja sogar das Fenster einer solchen Stube, zu gewissen Nachtstunden sich stets von selber öffne.

Alle umziehenden Geister pflegen ihren Weg in einer sich stets gleich bleibenden Richtung zu nehmen, vgl. No. 155; und wenn der Geisterwagen einmal ausnahmsweise eine neue Bahn einschlägt, so erscheint dies so unbegreiflich, daß es von der Sage (Abthl. III, No. 96) besonders hervorgehoben wird. Um Meiningen gilt der Satz (Haupt, Zeitschr. 3, 366. No. 66): Häuser mit zwei in gerade entgegengesetzter Richtung führenden Eingängen sind dem Durchzuge des W. Heeres ausgesetzt. Thôrs und seines Kämpen Kars Grabhügel liegen nach der dänischen Sage bei einem Bauernhofe, dessen Pforte in einer bestimmten Augustnacht offen stehen muß, weil der Brautzug von Kars Sohn und Thôrs Tochter hindurch zu ziehen pflegt. Müllenhoff in Haupts Ztschr. 7, 425. Eine Scheune bei der Stadt Ragnit verliert stets ihre wieder hergestellte Dachung, denn sie liegt gerade in der Linie, in welcher die Geister des deutschen Kirchhofes denen des litthauischen eben daselbst ihren Besuch machen. Tettau-Temme, preuß. Sag. No. 162. An einem alten Hause zu Zürich muß ein Ziegel des Daches stets aufgerichtet stehen; legt man ihn, so findet der Geisterdurchzug den gewohnten Weg nicht mehr und macht dann das ganze Gebäude unbewohnbar. Schweiz. Merkur 1835. Als man die Mönche in Königsberg vertreibt, kann man das dortige Kreuzthor nicht wieder schließen und muß es zuletzt ganz abbrechen. Die auf dem Todtenberge bei Marienwerder begrabenen Soldaten widersetzen sich einem neuen Hausbau. Tettau-Temme, preuß. Sag. No. 175. 220. Im schwäb. Stift Weingarten wird jährlich zu Christi Himmelfahrt die berühmte Blutprocession zu Pferde abgehalten; dieselbe geht seit alter Zeit immer durch die Scheune eines benachbart wohnenden Bauern. Meier, schwäb. Sag. 2, pag. 400. Durch die Scheune des Bauern Simon Daum geht der Zug des Burggeistes Rodenstein. J. W. Wolf, Rodenstein, pag. 19. 20. Gleiches findet sich bei Schambach-Müller, ndsächs. Sag. No. 142: Zwerge in ihrer Wohnung gestört; und bei Weinhold, Weihnachtsp. pag. 15 die schwed. Sage. Entsprechende Züge unserer Sammlung sind No. 25. 122.

Wenn die W. Jäger im Berner-Grindelwaldthale jagen, müßen ihnen die Thore des Melkhauses auf der Scheidegg offen gelassen werden. Reitbard, Sag. der Schweiz, 537. Der Volksglaube an der Mosel besagt: Die armen Seelen werden zur Strafe oft zwischen die Thüren gesetzt, und deswegen solle man die Thüren nicht zuschlagen. Wolf, Ztschr. 1, 240. No. 8. Im Aargau glaubt man, daß derjenige, der nach dem Tode umgehen soll, im Sterben ein Loch durch das Dach reißen müße. In allen Strohdächern sind sog. „Heiterlöcher" angebracht, Luftlücken, die nicht eben heiter geben. Fehlen dieselben und deckt der Sturm ein solches Strohdach ab, so meint man, ein früherer Hausbewohner habe wieder Einkehr gesucht. Dem entspricht in kathol. Landkirchen das sog. Heiliggeistloch, ein Loch in der Decke, welches offen bleiben muß zur freien Auffahrt einer Figur, die

Digitized by Google

am Himmelfahrtstage früherhin empor gezogen worden ist. Zu diesen unsern Verstand verletzenden Zügen stellt Grimm, GDS. 117 den überraschend zutreffenden Satz, mit welchem Tacitus das würdige Gottesbewußtsein der Germanen zeichnet: non cohibere parietibus Deos; „nur Bäume hegten den Gott und über ihnen stand der Himmel offen."

---

## 136. Schwärmende Geisterschaaren.

a. Der Oedlisberg, den man auch den aufgeworfenen Hügel nennt, ist eine ringsum abgerundete Höhe im Walde an der Bergstraße, welche von dem Dorfe Birmensdorf nach Fislisbach führt. Dorten erscheint in den heiligen Nächten eine Schaar bewehrter Männer, während zugleich ein Geharnischter auf der Spitze des Hügels steht. In dieser Stunde vernimmt man alsdann auf dem benachbarten Steppfelde bei Birmensdorf eine verworrene, aber militärisch rauschende Musik. In den dreißiger Jahren ist in jenem Hügel ein Schatz gehoben worden.

Dieser Grabhügel wurde 1835 untersucht. Man fand in seinem Innern ein aus Kieselsteinen gebautes Grab, worin ein Gerippe, außerdem noch eine eigene Grabkammer mit schwarzer Asche angefüllt. Zürch. Antiq. Mittheilungen. 1839, 10.

b. Wer zu einer gewissen Zeit des Jahres Nachts von Umiken nach Villnachern im Aarthale geht, kann ein ergreifendes Schauspiel erblicken. Traurig marschiert ein Zug Soldaten links vom Ackerfelde her über die Straße und man hört dazu den Klang einer dumpfen Trommel. Man sagt, diese Schaar sei vor Alters hier im Lager überfallen und niedergemacht worden.

c. Im Mattenlande, einer großen Wiesenebene der Dörfer Lengnau und Endingen, sollen zu Weihnachten und Ostern große Reiterschaaren gesehen werden. Das Volk sagt, es seien dies die Geister der Russen und Franzosen, welche sich i. J. 1798 hier ein Gefecht geliefert haben.

Im Hennebergischen gilt von den Sterbenden die Redensart: hä gëtt zur grusse ärméä, ins grusse hêr. Haupt, Ztschr. 3, 368.

d. Kloster ist der Name eines Dickichts im Hochwalde bei Bärikon, da ziehen Nachts ganze Schaaren von Klosterfrauen um. Mit aller Bestimmtheit versicherte mein Erzähler, er sei hier selbst einer Nonne mit einem Schlüsselbunde begegnet, habe ihr aber aus guten Gründen die Zeit ja nicht geboten (gegrüßt); gönne man einer solchen nur ein Wort, so werde man ihrer nicht mehr los, bis sie einen zu Tode geredet habe. (Bezirk Bremgarten.)

Digitized by Google

e. Im Walde zwischen Döttingen und Würenlingen sollen so viele Geister stecken, daß ein Mann an einem ganzen Kornsack voll Nüsse nicht genug hätte, wenn er jedem Geiste nur eine geben wollte.

Haselnüsse in Gräbern fand W. Menzel in dem Grabfelde zu Oberflacht; und Bullinger, Reformat.-Gesch. 1, 161, in den Särgen der Zürcher Stadtpatrone Felix und Regula. „Man fand wenigs gebeins darin, Kolen, Ziegelstein und ein Haselnuß mitt eim löchlj". Vergl. Bluntschli, Memorab. Tigurin. Zürich 1742. pag. 339 und unsere Anmerk. No. 434.

Das Tessiner-Dorf Sementina, Bezirk Bellinzona, versetzt auf den öden Bergsaum seiner Thalschlucht die Seelen aller reichen Geizhälse; droben in der Schneekälte müßen sie ihre Sünden abbüßen. Franscini, Kant. Tessin, 428. Im Todtentobel bei Chur zeigt sich ein Todtenheer zu Roß, das aus lauter Churer-Rathsherren besteht. Insbrucker-Phönix 1851, 271. Still, die Herren ziehen um! Schweiz. Sprichw. bei Kirchhofer. Im Luzernerlande sind es die Riesen im Enziloch, die in die Bergfirsten des Entlebuchs gebannt die Witterung machen müßen; in der Seegegend nennt man sie die Thalherren, im Aargau die Roththaler. So oft ein neuer Zwingherr dorthin verwünscht wird, muß er Eichenstämme auf die kahlen Berghöhen hinauf wälzen, bis er drüber Funken schwitzt und Donner hustet. Im Berner-Grindelwald sind es die riesenhaften Westfriesen, welche durch die Melkhäuser auf der Scheidegg ihre Weidbahn nach Gassen und aufs Faulhorn hinüber nehmen. Friesen heißt dem Berner-Oberländer die Bewässerungsgraben der Felder öffnen (Stalder 1, 398). Der West- und Föhnwind, welcher friesel und in localer Redeweise sogar „den Schnee frißt", hat im Haslithale zu einer erkünstelten Sage geführt von einer Einwanderung aus Friesland und Schweden. Die schlimmen Advokaten im Wallis müßen auf dem Gebirge die Wolken schieben, und die Geizhälse den Rhonesand in durchlöcherten Geschirren bergauf schleppen. Reithard, Sag. der Schweiz 218. 537. Die gleiche Anschauung hatte auf Island statt. Wenn dorten das Treibeis sich in Bewegung setzt und ein Krachen in den Lüften entsteht, so tönt es wie ein flehendes Menschengeschrei, und die thörichten Einwohner meinen, dies sei der Seelen Geschrei, die ihr Fegfeuer in der Kälte um den Heklaberg hätten. So meldet Sebast. Münster, Cosmographey. Basel 1567, pag. 1217. Am Heinzenberge in Graubünden zieht das Heer des Todtenvolkes musicierend durch das Domletschger-Thal hin. Meier, schwäb. Sag. No. 159. In Bernisch-Röthenbach, Amtes Signau, sagt man vom fernen Dröhnen der Gletscher, die Roththaler exercieren, es giebt ander Wetter, und wenn der Mühleseiler von Signau Nachts mit den Geistern spazieren gieng, trug er beständig den Hut unterm Arm und sagte zu den ihm begegnenden Leuten: Seid doch so gut und geht da ein wenig auf die Seite, es kommen da Herren! dann tönte es, als ob eine große Menge Pferde durch die Straße hintrabte. Manchmal exercierte er auch mit ihnen im Feuer. Kohlrusch, schweiz. Sagb. 1, No. 30. Wenn der Beatenbach in seinen großen Gebirgshöhlen unterirdisch anschwillt, um sich dann über die Felswände in den Thuner-See hinabzustürzen, wird vorher ein unterirdisches Getöse gleich heftigen Detonationen vernehmbar; dies nennt man allgemein die Musterung auf dem Seefelde. Jahn, Kant. Bern, 316. Auf den Reconfelsen ob Vionnaz, Kant. Wallis, hört man die nächtliche

Reiterei. Im tessinischen Bellinzona begleiten 24 berittene Geister den Landrichter als Schutzwache zu Gericht. Henne, Schweiz. Bl. 1833, 187. Ein Luzern. Lied vom Dekan Häffliger (Volksl. Luzern 1813, 171) schildert solcherlei Volksglauben:

**Bald heisst's, 's göyh schier all Mitternacht**
**Ums Hüsli z'ringlet um**
**E Schaar Soldate lings und rächts,**
**Me chönn sie zälle chûm.**

Tschudi 1, 34 erzählt zum Jahre 1082: „man sah von wittnuß uff den witen veldern Gesichten, als ob merckliche reisige Huffen Rüttern durch einander rännetind, und wann es vergieng und man uff dasselb Veld kam, kont man weder Hufschläg noch Tritte, ald andere Gemerck finden, daß jemand allda gewandlet wäre."

Es ist sehr wahrscheinlich, daß so weitverbreitete und ausgedehnte Legenden, wie die der Thebaischen Legion, welche für mehrere Schweizerkantone und Schweizerstädte zur Urgeschichte geworden ist, aus diesem Todten- und Gottesheere ihren Ursprung genommen haben. Anstatt nun hier weitere Parallelen aufzuzählen aus den vorhandenen Sammlungen und Geschichtsbüchern, versuche ich nur, ihre ältesten und die jüngsten Ausprägungen, die mir bekannt geworden sind, hier mitzutheilen.

Paul Diaconus Langobard. Gesch. l. 2, c. 4 erzählt von einer i. J. 565 in Italien wüthenden Pest: Tag und Nacht klangen schmetternde Kriegstrompeten, die meisten Menschen glaubten das Stampfen anmarschierender Kriegsheere zu vernehmen, und doch zeigte sich nirgends die Fußspur Wandelnder, ꝛc. — Die Jahrbücher von Brauweiler in Köln (Böhmer, Fontes rer. germ. 3) erzählen von einem 1140 beobachteten Riesenkampfe berittener Geister, welche die größten Eichen mit den Wurzeln ausrissen und sich als Wurfspieße entgegen schleuderten, dergestalt, daß ein Fluß, über den eine Partei die andere verfolgte, von den niederfallenden Stämmen aufgestaut wurde. Das neueste solches Glaubens meldet die Allg. Augsb. Ztg. 1854 No. 43 aus dem Dorfe Büderich zwischen Unna und Werl in Westfalen. Die Regierung hat über dieses Phänomen gegen 50 Augenzeugen einvernehmen lassen. Man erblickte am 22. Jan. jenes Jahres kurz vor Sonnenuntergang einen unabsehbaren Heereszug, der aus Reiterei und Fußvolk nebst einer ungeheuern Wagenreihe bestand. Man unterschied deutlich das Blitzen der Gewehrläufe und die weiße Uniform der Reiter. Als die Infanterie über die Ebene weg gegen den Schaffhauser-Wald marschiert war und die Cavallerie annahte, hüllten sich mit einem male die Bäume in einen dichten Rauch ein, und man bemerkte dazwischen zwei Häuser, welche in hellen Flammen standen. Mit dem Untergang der Sonne war die Erscheinung verschwunden. Zum Schluß sei an die ahd. Uebersetzung der Stelle erinnert aus Habakuk 4, 8: **du dîniu ros rîtest unde dîna reite, so uarent skinbari blechicende dîniu sper. Diut. 3, 130.**

Digitized by Google

## 137. Geistermauer auf der Eck.

Der Fußweg, der von Uecken nach Hornussen geht, führt über einen geringen Berg, auf dessen Höhe schon manche Leute eine ganze Geisterschaar erblickt haben. Als einst ein Mann von Sulz hier auf der Eck ankam, schien eine schwarze Mauer in weitem Umkreis den Weg zu umziehen, und bei jedem Schritte vorwärts ihn immer mehr und mehr einzuengen. Er kam darüber so von Sinnen, daß er über den Hügel Murbis durch wildestes Gestrüppe und Dornenwerk hinab gerieth und plötzlich sich auf einem Strohdach fand, auf welches er unbegreiflicherweise gekommen war.

Ein alter Mann von Uecken, der nach Betzeit ebenfalls über die Eck heim wollte, wurde gleichfalls bald von jenen Geistern auf dem Felde umher gejagt, bald von jener furchtbaren Mauer eingeengt und gequält. Als er im Morgengrauen endlich heimgefunden hatte, vermochte er seine Leute nicht einmal mehr zu grüßen, er wälzte sich auf dem Stubenboden bis zum Hühnergitter, und biß ein hölzernes Stenglein dran entzwei. Die Seinen erschraken, sie rissen ihm den Rock auf und schmissen alle seine Kleider vor das Haus unter die Dachrinne. Sowie er entkleidet war, konnte er wieder aufstehen und sprach: Der Teufel hat mich furchtbar gewürgt; er saß mir in der Rocktasche; gebt mir nur schnell Brod zu essen!

Ein anderer Frickthaler-Bauer hatte sich von Hornussen Nachts um zwei Uhr auf den Weg gemacht, um andern Tags bei Zeiten im Stifte zu Schönenwerth seine österliche Andacht zu verrichten. Sein nächster Weg führte ihn über die Eck. In dieser ihm wohlbekannten Gegend verirrte er sich gänzlich, lief bis in die Gegend Weid, suchte da die Richtung nach Herznach einzuschlagen, kreuzte aber seinen vorigen Irrweg noch einmal und gerieth gegen seinen Plan durch die Waldung Buhalde hinab; da aber sah er zu seiner Verwunderung sein Dorf wieder vor sich liegen. Nun war's bald Messezeit und nach Schönenwerth lange zu spät. So weit hatte ihn der höllische Feind herumgeritten.

---

## 138. Die Geistermauer in Endingen.

In dem Theil der Endinger-Bünte, der sich ins Dorf erstreckt, muß ein armer Sünder spuken, weil er hier die Grenzsteine verrückt hatte, seine Hände sind brandschwarz, wie sie schon bei seinem Tode geworden waren. Als hier ein Mann Nachts durch die Wiese wollte, entstand ein großer Hag vor seinen Augen, der ihm nach allen Seiten

Digitized by Google

den Weg versperrte, und als er durch eine Nebengasse hindurch zu kommen trachtete, wehrte ihm eine anwachsende Mauer den Eintritt.

Es ist eine altepische Formel, Krieger und Freunde als die Grund- und Wallmauern einer Stammburg erscheinen zu lassen; die Befestigungssage der Habsburg (Abthl. XII, No. 497) hat sich daraus entwickelt. Ein Minnelied, Diut. 1, 319, sagt:

vroeiden bin ich umbehuiret,
von der erin ingemuiret,
ir burc heizet stetec (Flins).

Im Gudrunliede (ed. Ettmüller, pag. 143, 18): dîn burc und ouch dîn lant, daz ist umbemûret von gesten ungehiure. — Nib. 1916: von zweier helde handen, dâ gênt wol tûsent rigele fûre, treue Freundeshand ist der stärkste Schirm. Als Abends am 5. Januar 1814 der Waffenstillstand in Schleswig abgelaufen war, lag eine Wittwenwohnung in der Nähe der ersten Attaken, mit denen Schweden und Kosaken abermals den Kampf begannen. Die Frau drinnen betete das Lied: „Eine Mauer um uns bau, daß dem Feinde dafür grau." Am Morgen nach dem Gefechte war das Haus verschont geblieben; eine mannshohe Schneewand hatte der Wind davor aufgethürmt. Der Hexenhammer (II, 1. cap. 15) erzählt, wie sich ums Jahr 1484 der Hexenmeister Stauf zu Bern in eine Mauer verwandelt habe. Diese Anschauung fällt mit der orientalischen zusammen: es soll der Messias einst den Juden als Mauer dienen (Hieronym., Comm. in Zachar. cap. 2). Stephanius in den Noten zur Ausgabe des Saxo Gramm. (179, 27) verweist dieses erklärend auf eine Stelle aus Hegesippus Prolog Ueber die Juden, wonach der Juden Hoffnung nur in Mauern und nicht in Wehrhaftigkeit bestanden habe, da ihnen doch in einer Belagerung der Untergang prophezeit gewesen sei. Entsprechend dem religiosen Cult der Germanen ist es, daß statt dieser gebauten Mauer öfters der gewachsene Hag die geweihte Umfriedung gewähren muß; ein solcher wird No. 114 nachdrucksam erwähnt.

---

## 139. Weidbahn der wilden Jagd um Zofingen und Brittnau.

Vor Jahrhunderten trieb in den Wäldern um Zofingen und Brittnau ein Jäger sein Wesen, und wenn er den ganzen Tag keinen Hasen erlegt hatte, so mußte ihm beim Heimgehen der Teufel noch einen in den Orten Vor dem Wald und Strengelbach auftreiben. In diesen Wäldern ist er auch gestorben. Seither hört man, wenn sich das Wetter ändert, Hundegebell und Jägerruf. Noch vor zwanzig Jahren kam dann in der Luft ein Gebrause von Kirchberg her, über den Albiswald, zog durch den Kunzen- und Kuhrainwald, lief im Städtchen Zofingen vom Schlachthause bis zum jetzigen Bibliothekgebäude hinauf; und wenn es über den Mühlberg nach Reiden hingieng, hörte man oben am Schnürberg aus dem Hundegebell den Ruf heraus: „Wehr unten, wehr oben!" — „Wehr du selbst oben!"

Digitized by Google

rief ihm einst ein Bauer zu, der bei diesem Lärmen neugierig das Fenster geöffnet hatte, „bei mir da will ich schon wehren!“ Plötzlich hatte sich auf dies Wort das Getöse gelegt. Als aber nun der Bauer in seine Kammer gieng und zu Bette wollte, klopfte jemand ans Fenster; der Bauer hatte den Muth verloren und wagte nicht zu öffnen, bis Klopfen und Ruf zum dritten Mal drohend kam. Als er den Schieber aufthat, brüllte ihm eine Stimme entgegen:

Halfest du mir heute jagen,
So kannst du jetzt auch Knochen nagen.

Von diesem Tage an zehrte der Mann, den wir noch alle gekannt haben, wirklich auf Haut und Bein ab und starb endlich.

(Vgl. Wolf, hess. Sag. No. 23. 24. 25. 62.) Den hier angeführten Weidmannsschrei des W. Jägers legt der Chronist Schodeler den Schweizern bei in ihrer zu Marignano 1515 erlittenen Niederlage: „was nüt anders dann, wehr hie, wehr dört!“ Schweiz. Archiv von Escher-Hottinger 1, 167. Ein Flug-Blatt, Die Schlacht vor Blawil im 1562 Jahr, getruckt 1621:

kein mann gesach nie gröser noht,
man greiff uns an an allen ort,
einer schreuw „wer' hie, wer' tort!“
wir waren gar verlaßen.

Der W. Jäger spricht in seinem Weidschrei vom Knochennagen; eine mir mündlich aus dem Elsaßerstädtchen Thann zugekommene Sage berichtet das gleiche Factum aus dem dortigen Wäldchen Rangenberg und unter denselben Drohworten; Roßknochen werden auf den höhnenden Menschen herabgeschleudert. heste met jûcht, mütste ôk met frêten! ruft in Kuhns nordd. Sag. pg. 3 die Frau Gode (Wuotana). Aehnliches daselbst pg. 478 und in Tettau-Temme's preuß. Sag. No. 260. Müllenhoff Schlesw. Sag. No. 499. Von diesem Knochennagen ist die Rede Abthl. III, No. 155; es bezieht sich auf die allgemeine Opfermahlzeit, zu des Gottes Ehren veranstaltet und von ihm gesegnet. Dies erhellt namentlich auch aus den an den Eber sich knüpfenden Sagen. Vierzehn Tage lang hat der Holzhacker, der dem W. Jäger behilflich gewesen ist, daheim Schweinefleisch einzusalzen. Wolf, ndl. Sag. No. 516.

---

## 140. Der Töst am Childberg, bei Brittnau.

Der höchste Hügel linkerseits des aargauischen Wiggernthales, zwischen den Dörfern Brittnau und Strengelbach gelegen, wird der Childberg genannt. Auf demselben finden sich Spuren einer alten Befestigung, nicht Gestein oder Mauerreste, sondern ein Graben von bedeutendem Durchmesser, der auch jetzt noch eine Tiefe von drei Fuß hat. Die Fläche innerhalb dieses Grabens gilt im Munde des Volkes als der Schloßplatz; einen Namen kennt das Landvolk für dieses

Digitized by Google

Schloß nicht, in dem benachbarten Zofingen aber nennt man es Staremberg.

Am südlichen Abhange dieses Schloßhügels steht ein Bauernhaus, Battenberg genannt, wahrscheinlich auf einen hl. Beatus oder auf einen frühern Hausbesitzer dieses Namens weisend. Dasselbe war früher so gebaut, daß seine eine Giebelfläche dem Thale, die andere dem Berge zugekehrt war. Auf der Thalseite war die Wohnung, auf der Bergseite der Scheunentheil; auf dem letzteren haftete die Servitut, daß Besitzer der umliegenden Güter mit ihrem Ackergespann und dem geladenen Wagen durch die Tenne der Scheune fahren durften, und aus diesem Grunde stand sie stets offen. Heut zu Tage fährt nun eine zweispännige Kutsche hindurch, welche vom Childberg herabkommt; namentlich im Sommer vor einem Gewitter, sagt man, sei diese Erscheinung hier wahrzunehmen. Ihren Weg nimmt die Kutsche südwestlich dem Abhange des Berges nach, fährt nach der „Fröschengüllen" (Sauerwiesen) und über den Hemmeler wieder nach dem Berg zurück. Personen fahren mit, aber sprechen hört man sie nicht. Dazu gehört ein Reiter auf einem Schimmel, welcher denselben Weg macht; am Fuße des Berges hat er ein eigenes Brünnlein und tränkt da sein Roß. So oft man ihn sieht, folgt stets langwieriges Regenwetter. Droben am Hügel hört man zu Zeiten lebhaft jagen. Die Hunde kommen von der andern Seite des Thales herüber, springen bellend den Hang des Childberges hinauf und verlieren sich im Walde. Der Jäger, dem sie zugehören, ist im ganzen Thale unter dem Namen Töst bekannt, derselbe Name, der im benachbarten Luzernerlande Türst heißt und dorten den Anführer des Türstengjaid bezeichnet, der Wilden Jagd. Der Töst trägt einen grünen Rock und einen Hut von glänzendem Wachstuch. Vormals hörte man ihn um die Zeit, wenn die Heidelbeeren reif waren, auf dem Heidenhubel, nicht weit von Teufenthal, seinen Hunden rufen und bemerkte ihn von der Hönneten und von Liebigen aus; dann brach immer ein schrecklicher Platzregen los und acht Tage lang dauerte das Unwetter an.

Dem Heidenhubel gegenüber liegt der Langnauerberg, schon zum Kant. Luzern gehörend. Er trägt eine Schloßruine, die man Teufenthal und Zwingherrenschloß nennt. Dort läuft ein Edelherr mit einem feurigen Hund umher und nimmt dem Bauern, der in den Wald fahren will, die Ochsen vom Wagen. Er macht sich oft auch nur durch ein Geräusch bemerkbar, dem ähnlich, wenn jemand in Holzschuhen über Glatteis oder hart gefrornen Schnee geht. Fluchet man, so vermehrt sich das Geräusch bis zu einem erschrecklichen Tosen;

Digitized by Google

ndet man aber von Gott, so wird es plötzlich stille. Auch Kettengeklirr mischt sich drein, namentlich bei einem nahen Gewitter. Am Charfreitag haben Schulbuben dorten Spielwaaren und Kinderpuppen gefunden, und was sie davon mit in der Schultasche heimbrachten, war in Geld und Gold verwandelt.

Der Reiter, der am Fuße des Berges sein eignes Brünnlein hat, um da sein Roß zu tränken, ist Oden, der sein Pferd weidet; die entsprechende mecklenb. und schwed. Sage giebt Grimm, Myth. 141. Auch Wagen und Berg des Alten Gottes fehlen hier nicht. Sein Name Töst ist eine mundartliche Verschlechterung des gleichfalls geltenden Turst und bezeichnet Riese und Wilder Jäger. Das durstige Heer (Myth. 105. 140. 890), das mit Kaiser Karl im Odenberge haust, tränkt ebenfalls seine Pferde alle sieben Jahre im Glisborn. Es sind damit die dem Gotte und seinem Roß gestiftet gewesenen Futterwiesen gemeint, von denen Abthl. XII, No. 499 gehandelt ist.

Der Dürst, von welchem man im solothurnischen Gäu erzählt, soll in der Heidenzeit Reichsvogt gewesen sein und beim Chapeller-Born seinen Schloßsitz gehabt haben. Seine Stallungen waren voll Rosse, er hatte hundert Hunde und für jeden eine Hundsmagd. Zur Aerntezeit ritt er alsdann mit all diesen Thieren durch die Saaten. „Drei Schritt abweg!" hieß dabei sein Ruf. Im Grenchner Schloß beim Bachteler Bad wohnte seine Geliebte, und heute noch rollt er da krachend als Feuerrad über die Juramände herab. Seit ihn der Teufel geholt hat, ist er ins Gäuthier verwandelt und muß Nachts hoppen „Hubu", und damit das „Hudelwetter" ankündigen. Seit den Franzosenzeiten liegt auch des Dürsten Jagd „im Bann" (ist gesperrt). So bedichtet es Anaheim in Solothurner Mundart. Schweiz Unterhalt. Bl. 1848, No. 38.

Der Entlebucher Türst hat seine Wohnung in der Wüstung Gadenmatt, er jagt als ein geharnischter Riese. Das ist das Türstenjäg. Solche Jäger sind auch die Riesen von Iseltwald (Bern. Oberl.) und von Thorberg (Bern. Krauchthal), sowie die Westfriesen in Grindelwald. Des Türsten riesiges Weib ist die schöne Sträggeln. Reithard, Sag. aus d. Schweiz.

Durstgraben ist der Name einiger Häuser in der Gemeinde Neuhausen, in deren Nähe die Ruine der Neuenburg liegt. Im-Thurn, Kant. Schaffhausen, pag. 159.

Pfaffengällere (Geschrei) ist, wie Stalder 2, 496 versichert, gleichfalls ein Namen des Dürst im Luzerner Gäu. Es ist indeß nur des Dürst Pfaffenköchin und Metze „Gälle" damit gemeint. Vgl. No. 412.

Dicunt aliquando venatorium quoddam spectrum, Tuerst vocant, velati praedam insequeretur, Alpes pervagare, medio inter ipsa pastorum domicilia, aut quae dispergit armenta, excurrens; latratu adeo incondito ut capilli audientibus rigeant. Memorantur nocturni equites magnis turmis per fragosas rupes resonante horrendo et concutiente omnia, strepitu, sursum deorsumque cursitantes. — Cappeller hist. Mont. Pilati. — Basil. 1767. pag. 10.

Der Riese zu bayrisch Seefeld heißt Türsch, sein Landbach Türschenbach, das Blut seiner Wunden Türschenöl. Panzer, bayr. Sag. 2, pag. 441.

Oberhalb Zirl beim Weiler Dirschenbach ward der Riese Tirsus vom Riesen Haimon erschlagen; beider Standbild ist am Portal der Stiftskirche ausgehauen. Meyer, tirol. Sagenkränzlein 1856, pag. 177.

Der französ. Name Toustain, vieler bekannten Männer Taufname, wurde seit der Schlacht bei Hastings Familiennamen eines normännischen Geschlechtes, dessen Ahn im Treffen das Banner des Herzogs Wilhelm getragen: Turstinus filius Rollonis vexillum Normannorum portavit. Orderic Vital. pag. 501. Franz Gaudy, Roman von Rollo (1835) S. 275.

Die schlettstädt. Gloss. ed. Wackernagel in Haupts Ztschr. 5 verzeichnen No. 6, 169: Ditis: durisis. 6, 428: Orcus: duris.

## 141. Der Jägersknecht von Trostburg.

Ein Mann von Kulm band unterhalb des Dorfes nahe am Walde Reiswellen. Da glaubte er jenen Jäger rufen zu hören, der vor Jahrhunderten dem Trostburger Schloßherrn so übel im Jagdbanne gedient hatte. Wirklich sah auch der Bauer einen Grüngekleideten zehn Schritte weit auf sich zu kommen. Beide schauten einander an, keiner sprach ein Wort. Der Grüne fällte die Flinte und zielte, als wolle er ihn erschießen. Verächtlich hob der Bauer seine Reiswelle auf die Schulter, kehrte ihm den Rücken und dachte sich: Blas du mir.....! Aber nach der Heimkunft wurde er doch einige Tage bettlägerig.

## 142. Der Neuliger im Ruederthal.

Die oberste Hofstatt des Ruederthales heißt Neulig. Es wohnte dort früher ein Jäger, Neuliger geheißen, dessen Hunde alle hellklingende Glöckchen trugen, und der sich des Wildes durch Festbannen und Zaubern bemächtigte. So vermaß er sich oft, er brauche nur zum Fenster hinaus zu schießen, so müße jeder Schrot einen Hasen treffen, er möge stecken wo er wolle; eher würde seine Kugel siebenmal ums Haus fliegen, an allen vier Ecken anschlagen und ihm wieder in den Flintenlauf zurückfahren. Nun ist er lange todt; aber so oft man anhaltendes Regenwetter zu erwarten hat, hört man ihn auf seinen alten Wegen mit dem Geschelle der Hunde heranlärmen.

## 143. Der Ziegler im Grindel.

In dem großen Eichwalde Grindel haust der gespenstische Ziegler. Sein Haus sei eine Ziegelhütte gewesen am Ende des Waldes, wo die Straße des Surenthales sich mit der Luzerner Grenze kreuzt.

Digitized by Google

Dort will man unter den Eichen noch Backsteine und Ziegelstücke finden. Er aber schreckt die Holzfrevler, wenn er in grünem Frack und rother Weste plötzlich daher kommt und eine gewaltige Ofenkrücke mit sich trägt. Eilig entlaufen dann die Diebe, aber stets bringen sie einen aufgeschwollenen Kopf mit heim.

Seinen Namen Ziegler hat der W. Jäger von den mancherlei Scherben und Ziegelstücken, die man in den Linien alter Römerstraßen „Ziegelgäßlein" auspflügt. Daher die Angabe, hier seien Ziegelhütten gewesen; vgl. Abthl. III, No 128, 7.

## 144. Weidbahnen der W. Jagd um Aarau.

Auf der rechten Aarseite beginnt der Jagdlärmen im Aarauer Oberholze, man hört Aho rufen und ein Horn blasen. Vom Gürnet oder Gönhard geht's quer über die Landstraße zum Binsenhof, von dorten weg die Straße wiederum kreuzend in der Höhe des Surer Waldberges auf dem Todtengäßlein fort bis zur Spitze des Berges, dem Pfaffenhügel. Im gleichen Walde zieht's am Steinernen Tisch vorbei, wo sonst der Sammelplatz der Gönhards Heren gewesen ist.

Jenseits dieser Berghöhe, welche Distelberg heißt, beginnt ein anderer Nachtzug und geht gegen Teufenthal hinauf. Hier zieht der Holzweibel Landluegi mit den Hunden ans Winenufer zum Vogelrain; er schlägt dabei mit einer Art an die Tannen. Da begegnet er dem Rothenburger, auch Roththaler geheißen, der aus dem Luzernergebiete vom Enziloch herkommt.

Auf der linken Aarseite zieht die W. Jagd dem Jura nach. Am Saum der benachbarten Grenze von Baselland ist es der Rothenfluher, der böse Dieter, der Wiesberg-Joggeli und der Ewigjäger. Vom Thalkessel in Kienberg aus kommt er ins Frickthal; dorten ruft er auf den Waldbergen von Wölfliswil seinen Hunden: „Walti, bede, hudada!" — „Chum, wenn d' öppis bisch!" rief ihm da einst ein Berauschter zu; darauf war's, als ob der ganze Wald her käme, und der Erfrechte wurde jämmerlich zugerichtet.

In entgegengesetzter Richtung stromab geht eine andere Schaar der Jagd zwischen den Aarauer- und Schinznacher-Jurabergen hinüber gegen die Waldungen von Brugg. Hier und im Rynikerbann entsteht dann in klaren Mondnächten ein Schießen, Bellen und Schreien, das sich oft in ein klägliches Geheule auflöst. Es ist dieses noch in den letzten Zeiten wiederholt gehört worden.

Digitized by Google

## 145. Der Wildjäger am Degerbache straft Roßquäler.

Wem blieb nicht der Weg im Gedächtnisse von Zurzach nach Kaiserstuhl, wie er ehemals bergauf und bergab gieng, wie vom Himmel in die Hölle; das war seit alten Zeiten die Arme Sünder-Straße für alle Rosse und der Schrecken für alle Fuhrleute. Da hat gewißlich keiner die Strecke vergessen am Degerbache zwischen Mellikon und Rümikon und jene andere Stelle gerade über dem Dorfe, wo der Teufel hinter jedem Nußbaum stand, um die Geißelhiebe und Flüche alle aufzuschreiben in seinen Kalender.

Es ist noch nicht lange her — erzählte meiner Mutter Großvater — daß da der Rudi von Rietheim ganz blutig und zerhauen am Rümikoner Wirthshaus vom Stallknecht betroffen worden ist; sein Frachtwagen hatte schon Halt gemacht vor der Wirthsthüre, er aber stemmte noch immer die Schulter ins hintere Wagenrad und schob übermenschlich, als müßte er die Fuhre noch fortwährend weiter fortstoßen. Er war ganz erstarrt und verwirrt, so zog ihn der Knecht heraus und brachte ihn herein. Als er in der Wirthsstube an der Wärme wieder zu sich gekommen war und der Stallknecht auch mit einem bedenklichen Gesichte erschien, weil ihm draußen eben eine ganz fremde Stimme „Ausspannen!" zugedonnert habe, mußte der Rudi berichten, wie es ihm heute ergangen. Nun erzählte er, daß er sich des Morgens in Zurzach zu lange aufgehalten und zu viel geladen habe; aber statt mehr zu füttern, habe er sich gedacht, wie der Haber jetzt doch gar so theuer sei und wie die Gäule nur um so besser bergauf ziehen möchten, wenn sie die Bäuche nicht zu voll hätten. Auf dem Wege habe er noch einmal eingekehrt, den Pferden aber auch nicht über vier Batzen Heu geben lassen. Zwar sei auch dort der Stallknecht mehrmals gekommen und habe gefragt, ob man nicht ein wenig ausspannen solle; allein es wäre alsdann eben allzu spät geworden und so habe er es denn bleiben lassen. Bald wollten hierauf beim Weiterfahren die Pferde nicht mehr anziehen und am Degerbache standen sie ganz still. Alles Zerren am Zaume, alles Peitschen und Anschreien half nichts; brennenden Schwamm habe er ihnen unter den Schwanz gelegt und einen Fluch fürchterlicher als den andern gethan. Nun wollt' ich doch, daß unserm Hergott im Himmel seine zwei schönsten Engel ..... schrie er, und hatte noch nicht ausgeredet, da sei hinter dem Baum hervor einer gekommen, habe ihm die Peitsche aus der Hand gerissen, ihn in die Speichen des Hinterrades gedrückt und geschrieen: „Wart', du Mordiofuhrmann, dir will ich fahren!" Hinten am Wagen ins Rad geflochten, habe er jetzt mitstoßen müßen

Digitized by Google

bergan, daß er meinte, das Herz wolle ihm aus dem Leibe brechen, und gieng's nicht gleichmäßig im Augenblick voran, so seien Peitschenhiebe hergeflogen, als würden ihm Hosen und Kittel mit einem Scheermesser zerschnitten.

Als der Rudi das erzählte, schlotterte er und die Zähne klapperten ihm wie ein Storchenschnabel. Am andern Morgen beim Weiterfahren lief er wie auf Eiern; dem Knecht befahl er, recht gut und langsam zu füttern, einen Theil der gestrigen Last lud er selbst ab, und für die Pferde nahm er noch ein Extrabrod mit auf den Weg. Dann führte er ein Roß ums andere aus dem Stalle wie Prinzessinnen, und als sie nun anziehen sollten, sagte er ganz sanft und hübschlich: Hü, in Gottes Namen.

Von der Zeit gieng's auf dieser Teufelsstraße ein wenig manierlicher her; sogar ein Kreuz setzten die Leute hin, das ist zwar nun wieder weggekommen, seit die Straße neu gemacht und die Brücke dorten gebaut worden ist; aber die Geschichte von dem Basler Kaufmann, der hier begraben liegt, weiß noch Jedes. Es war in der Zeit des dreißigjährigen Krieges. Er ritt von der Zurzacher Messe heim, eine schwere Geldkatze um den Leib geschnallt. Hier wurde er von einem abgedankten Soldaten erstochen und ausgeraubt. Doch das ledige Roß verfolgte den entfliehenden Mörder so lange, bis es ihn mit seinen Hufen zerstampft hatte. Seitdem soll man um die Herbstzeit ein feuriges Roß einen Mann durch diese Wälder verfolgen sehen.

Eine Spielart dieser Erzählung findet sich bei Panzer, bayr. Sag. 1, 140: Ein Wandgemälde in der Kirche zu Pielenhofen zeigt zwei Priester in einer Kutsche fahrend, der Teufel ist in eines der Räder geflochten und muß die daran fehlende Felge und Speiche vertreten. Ein kleiner ex voto-Wagen aus Eisen wird in dieser Kirche aufbewahrt.

---

## 146. Wildes Heer bei Egliswil.

Im Stöckhof bei Egliswil beherbergte der dortige Bauer einen terminierenden Kapuziner und plauderte mit ihm vor dem Schlafengehen noch, als ein fernes Getöse das wilde Heer ankündigte. Der Kapuziner ermahnt die Leute des Hauses, sich ruhig zu verhalten. Allein während das Getümmel nun über dem Hause wegzieht, steckt der Sohn den Kopf zum Läufterli (Schalter des Fensters) hinaus und schreit hinauf:

Du rîtist i der Nacht,
De Tüfel het di g'macht!
Du rîtist wie ne Schnîder,
De Tüfel holt di wieder!

Digitized by Google

Auf dieſe Worte ſcholl es aus den Lüften herab:

witt du mit mer strîte,
se chast au mit mer rîte!

Kaum hatte man dieſe Worte vernommen, ſo fliegt der Bube zum Fenſter hinaus. Am nächſten Morgen fand man ihn unfern im Walde völlig zerſchmettert.

Der Anruf gegen den Geiſt, du ritist wie ne schnider! gilt dem Gotte Donar, der im Donnerwagen zwei Böcke vorgeſpannt hat, den Zahnkniſternden und den Zahnknirſchenden. Der Höhnende wird zerſchmettert gefunden, er iſt getroffen von Donars alles in Staub zermalmenden Hammer Miölnir, dem Blitze.

---

## 147. Die wilde Jagd am Lirihanſi bei Birmenſtorf.

Der Lirihanſi iſt ein Stück Reb- und Waldboden, unterhalb Birmenſtorf an der Brugger Straße gelegen. Nach zween zuverläßigen Augenzeugen zieht dort die wilde Jagd vorbei. Meine Mutter erzählte mir Folgendes. Sie und mein Vater giengen einmal von Reuß ab der Störe heim, es war gegen 12 Uhr. Wie ſie in jene Gegend kamen, hörten ſie über den Gipfeln der Waldbäume ein Rauſchen und Knicken, wie von brechenden Aeſten. Sie glaubten zuerſt, es ſeien Holzhacker und ſchritten ziemlich ruhig der lärmenden Gegend zu. Je näher ſie kamen, deſto lauter wurde es. Es that und rollte wie Donner, ohne daß doch der Nachthimmel bedeckt geweſen wäre. Dann kam das Toſen wie von allen Seiten auf ſie herein, und mit einem Schlag plumpte es neben ihnen dumpf auf die Erde. Sie fuhren zuſammen und ſchrieen. Alles war wieder ſtill, rein ſchienen die Sterne.

Eine andere Perſon verſichert, das Nämliche erfahren zu haben, nur ſetzt ſie noch hinzu, daß ſie auf der Straße ein ganz grünes Männchen geſehen habe.

Meinem Vetter ſtunden hier einmal gegen drei Uhr die Pferde ſtill, bäumten ſich, blieſen die Nüſtern weit auf und waren um keinen Preis vorwärts zu bringen.

---

## 148. Des Mandlehenjägers Wege um Villnachern.

Unterhalb Villnachern finden ſich auf einer geringen Anhöhe die Ueberreſte einer Burg, welche die unbeſtimmte Sage Lichtenau nennt. Da wo jetzt Haſelgebüſche ſich an die Aare hinabziehen, ſieht die Gegenwart noch einen wilden Mann, dem ſie den Namen Mandlene

Digitized by Google

und Mandlehenjäger gegeben hat. Er ist schwarz und langhaarig, schleppt eine große Keule hinter sich her und geht in stillen und drückenden Sommernächten, wenn das Wetter sich ändern will, am Flusse bis gegen Birrenlauf und von dort wieder zum Villnacher Walde hinab, trägt die Weidenbündel, welche Bandhauer dort zum Garbenbinden sich schneiden, hinweg, und erscheint damit bei der Schinznachter Fähre, wo sein schallendes „Hop hop!" den Fährmann aus dem Schlafe weckt. Dieser aber läßt ihn rufen, seitdem er ihn einmal mit seinen Weidenbündeln deutlich am Ufer stehen und sogleich wieder verschwinden sah, als der Kahn ans Ufer stieß.

---

## 149. Der Härdlifuhrmann

zieht im Siggenthal des Nachts um und knallt mit der Peitsche. An der Stilli soll er ehemals die Schiffsleute oft aus dem Schlafe geschrieen haben, um ihn über die Aare zu setzen. Seitdem sie nicht mehr an ihn glauben, läßt er sich auch nicht mehr hören.

---

## 150. Der Kinzhalden-Joggeli als Jäger und Roß.

Ein reicher Bauer von Kaisten im Frickthale pflügte seinen Feldnachbarn die Grenzfurchen ab, stahl ihnen zur Aerntezeit die aufgeschoberten Zehentgarben und war noch überdies ein Trunkenbold und ein Schwörer. Dafür mußte er nach seinem Tode in dem Hause, das er bewohnt hatte, das gestohlene Korn hüten. Aber zu den heiligen Zeiten wüthete der Geist herkömmlich so sehr in den Stuben herum, stieg in den Stall hinab, quälte dorten das Vieh und jagte ihm den Schweiß aus, daß die Einwohner ihres Bleibens nicht mehr wußten und endlich das Besitzthum um eine geringe Summe losschlugen. Bald erschien auch der neue Käufer im Kapuzinerkloster mit dem Verlangen, man möchte ihm sein Haus besegnen. Die Mönche kamen, beschwuren den Geist in eine Branntweinflasche und führten ihn auf einem zweispännigen Wagen hinaus auf die Kinzhalde. So heißt eine bewaldete Hügelkette zwischen jenem Thalgrund, den das Bächlein Sissele durchfließt und dem Hardwalde, der gegen die Rheinufer bis Laufenburg sich hinzieht. Daselbst ist eine Gegend, bei der Breiten Eich genannt, ein „gezeichnetes Gestäude", wo das Hochgericht gewesen war; noch tragen die benachbarten Landstrecken Galgenacker und Galgenrain davon ihren Namen. Je näher die Rosse dem Ziele kamen, um so schwerer schien der Wagen zu werden, die Thiere

brachten ihn kaum vom Platze. Endlich dorten angelangt, zog man der Flasche den Propf aus; sogleich fuhr auch der Geist mit einem solchen Getöse heraus, daß Fuhrmann und Kapuziner meinten, die Erde wolle untergehen. Seitdem führt er nun Betrunkene, die hier vorüber kommen, in der Irre herum oder setzt sie durch sein plötzliches Erscheinen in solchen Schrecken, daß sie darüber erkranken. Dem Straßenknecht, der zwischen Eiken und Sisselen den Weg zu machen hat und der ein arger Schnapstrinker war, sprang er auf den Rücken und ließ sich bis zur Stangenlücke tragen, jenem Ziele, das die Geisterbanner ihm gesetzt haben. Dorten konnte der Wegmacher entrinnen, aber unter dem entsetzlichen Geräusche des Gespenstes verlor er Hut und Stock und verfiel in ein so schweres Siechthum, daß ihm alle Aerzte das Leben absprachen.

Ein ander mal hatte ein Mann in dortiger Gegend sein Roß auf die Weide gethan und legte ihm Abends Zaum und Zügel an, um es wieder heimzureiten. Kaum war er aufgesessen, so wurde das Thier zusehends dicker und höher und blies sich schnell so gewaltig auf, daß der Reiter kaum mehr auf den Boden herunter sehen konnte. Er sprang ab und entlief. Das Roß ist niemals mehr heimgekommen, denn jener Teufel im Hardwalde hat es seitdem zu reiten.

Der Kinzhaldenjoggeli soll eigentlich Winter geheißen haben und von Kaisten gebürtig gewesen sein; einen Ortspfarrer gleiches Namens, der erst in den Zwanziger-Jahren daselbst starb, soll alle Welt für den Enkel jenes Mannes gehalten haben. Auch soll noch an des Altgroßrath Winters Haus in Kaisten ein Stall sein, in welchem man lange kein Stück Vieh halten konnte. Man meint, man habe einen frühern Besitzer pfänden wollen und er habe sich drinnen erhängt. — Dieser Winter war als österreichischer Untervogt über Eiken gesetzt und mißbrauchte seine Gewalt aufs unbarmherzigste. So oft er Recrutierungen vorzunehmen hatte, schickte er alle Leute, deren Aecker ihm gerade ins Auge stachen, als Soldaten fort und wußte sie schon in solche fremde Winkel, ja bis in die Türkei hinzuschieben, wo sie ihr Leben lang den Rhein nicht mehr zu sehen bekamen. Aeltere Männer, die er nicht mehr aus dem Lande schaffen konnte, beherte er und machte sie oft so irrsinnig, daß sie aus Täubi (Tobsucht) ins Wasser sprangen. Dann wurde der Vogt der Verwalter ihrer Hinterlassenschaft. So hatte er einmal während einer großen Hungersnoth einen Familienvater an die Werber verhandelt; der arme Mann wußte sich und den Seinigen nicht Rath und Hilfe mehr, und begieng in der Verzweiflung eine schreckliche Unthat gegen sein eigenes Blut. Daher begegnet man an den Schluchten der Kinzhalde jetzt noch einer schwarz-

Digitized by Google

gekleideten hagern Gestalt, die ein bis zum Gerippe abgehungertes Kind dorten aus den Armen legt und dann lautheulend sich die Brust zerschlägt und die Haare ausrauft. Denn eher als jener Mann seine hungernden Kinder unversorgt im Stiche lassen wollte, stürzte er sie lieber in diese Kluft der Kinzhalde, die davon den Namen Kindshalde bekommen haben soll.

Der Vogt war auch ein leidenschaftlicher Jäger und wußte durch Zaubermittel das Wild im Forste festzubannen. Einmal sah er von der Halde herab im kleinen Weinberg am Südabhange von Eiken einen Hasen in der Sasse, und schoß von oben herunter nach ihm. Aber an diesem erbärmlichen Thierlein mußte der gewaltthätige Mann umkommen; sonderbarer Weise traf er sich selbst und starb auf jener Stelle. Als man seinen Leichnam fand, war er völlig schwarz geworden, und auch das Waldlaub, auf dem er lag, hatte sich mitgeschwärzt, zum Zeichen daß er dem gehöre, dessen Farbe er trug. Kaum ihrer Sechse konnten ihn zu Grabe tragen, aber je näher man dem Kirchhof kam, um so leichter wurde der Sarg. Da befahl der Pfarrer Rothenburger den Leuten, mit dem lauten Gebete aufzuhören und den Sarg noch einmal zu öffnen. Man fand ihn leer, obschon noch vor einer Stunde die ganze Gemeinde gesehen hatte, wie der Vogt brandschwarz drinnen gelegen hatte. Als seine alte Mutter nun vom Kirchhofe nach Hause zurückkam, rief er ihr schon vom Rauchfang übers Dach herunter spöttisch entgegen: „I bi d'heim no öb d'ihr!“ und in der Nacht darauf sah man ihn im Vogthause und in allen andern Häusern, die er sich im Dorfe zusammen gewuchert hatte, zum Fenster heraus schauen. Als man ihn darauf in die Kinzhalde beschwur, wußte er sich noch das Zugeständniß zu erzwingen, daß er sich alle Jahre um einen Hahnenschritt dem Dorfe wieder nähern dürfe. Man sagt, er werde nun bald Kaisten gänzlich erreicht haben und könne alsdann nicht wieder zurückgebetet werden. Inzwischen lärmt er noch im Hardwalde herum. Er soll sich unglaublich schnell von einem Orte zum andern bewegen können. Er geht in Jägerkleidung, trägt eine Flinte am Rücken und ruft sein fortwährendes Huhuh! Dann wird bei gänzlicher Windstille der Forst oft so heftig erschüttert, als wenn ihn der stärkste Sturm durchbrauste. Besonders ist er den Fuhrleuten und den Holzfrevlern aufsäßig. Einen Dreiröhrenhut am Kopfe und einen Prügel in der Hand tritt er brüllend auf sie zu; oder er schleicht dem Fuhrwerk nach und zieht unvermerkt den Long (Achsnagel) aus, damit das Rad ausfällt und die Ladung stürzt. Wenn man nur einmal drüber flucht, während man den Long wieder einmacht, so wiederholt er augenblicklich seine Tücke. Weniger fürchten

Digitized by Google

ihn die Holzfrevler. Ein Sisseler-Bauer, den er draußen beim Holzen angebrüllt hatte, entsprang zwar in der ersten Angst, weil er den Bannwart vor sich zu haben meinte; aber bald besann er sich wieder und kehrte um; Angesichts des altfränkischen Kerls nahm er seine Bürde Holz auf und sagte: So, bist's nur du!

Der Kinzhalden-Joggeli wird in eine Branntweinflasche gebannt und so in die Oede fortgeschafft. Dasselbe geschieht auch dem Lälle von Rheinfelden (No. 164), und der Müserengeist von Gäbisdorf, No. 345, setzt sich eigenmächtig einem Glashändler in seinen Tragkorb voll Glasflaschen hinein. „Dieses Bannen in Guttern" könnte unserm gelehrten Hochmuth gar zu albern vorkommen, wenn man es ihm nicht auch aus dem Alterthum documentiert. Pausanias l. 9 erzählt bei Besprechung der Bacchischen Tempelstatue zu Tanagrä: Ein Triton dieser Gruppe giebt vielerlei zu reden, als habe er einst badende Tanagräerinnen im Wasser rauben wollen; zuverläßiger aber sagt man Folgendes über ihn. Da er nämlich Thiere in der Schwemme und Kähne im Hafen anpackte, so stellte man ihm listig einen gefüllten Weinkrug hin, und an dem bezechte er sich so, daß er trunken vom Uferrande hinabstürzte und dann von einem Manne mit dem Beil erschlagen werden konnte. — Wir haben gleichfalls solche Flaschenbäche und in Flaschen gelockte Räubergeister. Die älteste Markbeschreibung von Salmünster, einem Städtchen an der Kinzich, zwischen Steinau und Gelnhausen, giebt als einzelne Grenzmarke einen solchen Flascunbach an und dabei ein Haus der uuildero uuibo. Roth, Kleine Beitr. zur Ortsforschung 1, 5. Heft, pag. 231. Wie der Tanagräer Triton in einen Weinkrater, wird in unserer Sammlung der Gast von Rheinfelden, Abthl. XII, No. 504, in eine Burgunderflasche gelockt und in den Grütgraben am Rhein hinabgestürzt. Aehnliches gilt vom Wanzenschneider, No. 377, Geisterbett am Steinern. Tisch, No. 360, Wolfgrabengeist zu Leidikon, No. 359, und so fort No. 365 — 368.

Noch heute setzt man das Geschirr, das ein Kranker gebraucht hat, nach seinem Tode zerschlagen an einen Kreuzweg, damit er nicht wiederkehre. Wolf, Beitr. 1, Abgl. No. 140. Man schlägt den Selbstmörder gerichtlich ins Faß und schickt ihn so stromab. Zürcher Raths-Erkenntniß v. J. 1417. Bluntschli, Rechts-Gesch. 1, 411. Selbst der Osnabrücker Pranger und die Schandsteine hatten die Gestalt einer Flasche. Grimm, RA. 721. Der Teufel wird in eine Flasche gebannt, und das Galgenmännlein wird zum Geist im Glase. Grimm, KM. 3, 186. Der schwarze Mönch Bruno zu Meißen liegt in einer Kristallflasche unter dem Leipziger Klosterkeller und wenn er sich dorten befreit, wird er zum Elster- und Pleißehund. Volks-Sag. Zeitz 1838, 280. Entsprechendes vom Allergewässer bei Ostenholz erzählt Kuhn, nordd. Sag. No. 296. Geburt und Tod knüpft sich an die Flasche. Sisilia, König Sigmunts Gemahlin legt, da sie in der Wildniß eines Knäbleins genest, das Neugeborene in das ihr mit auf den Weg gegebene Methgefäß. Dieses rollt ins Meer hinab, schwimmt an die fremde Küste an, der darin liegende Knabe wird endlich dorten der berühmte Landeskönig Sceaf, d. h. Schaff, und da er stirbt, wird er, „das zerbrechende Gefäß", in ruderlosem Fahrzeug abermals den Meereswellen übergeben. Vilkinasage c. 131 — 49. Wer diese Fläschchen

Digitized by Google

vorzeitig verliert, ist dem Unheil preisgegeben. Weh mir, daß ich die Flasche meines Gevattern verloren habe! ruft der Kobold, von dem der Mönch zu St. Gallen (9. Jh.) l. 1, c. 23 erzählt. Gegen den bösen Wind und andere Uebel trägt der eingeborne Mexikaner, gerade so wie wir es machen, einen Wasserkrug an das zuletzt überschrittene Gewässer; dorten ruft er den Namen des Kranken dreimal ins Gefäß und richtet dann dessen Mündung gegen die Fluth. Sartorius über Mexiko. Allg. Augsb. Ztg. 1850, 30. Nov. Quodcunque mali est, quidquid triste timemus, in pelagus rapidis devehat amnis aquis. Tibull. 4. 4, 7. Gröblicher lautet es dann, wenn der Wassergeist im Trottenbach (Abth. I. No. 43) „wie zu einem hohlen Hafen herausbrüllt". Diesen Glauben an eine in Gläser gebannte Geisterwelt drückt die Redensart aus: „wenn glich der Tüfel und alle Gütterli chäme!" Der Aberglaube räth einem vom Toggeli Geplagten, oder einem Behexten, in eine Flasche zu harnen und sie zugebunden aufs Feuer zu setzen; alsdann wird das schuldige Hexenweib selber das Wasser nicht mehr lösen können. In solchem Sinne heißen die Zauberer „Kristallenseher" und die Aerzte „Gütterlib'schauer". (Vgl. Abtbl. IX.)

Auch in Schränklein und Schächtelein bannt man Verwünschte. Den Bauern von Krummbach hat man in ein Gänterli (Küchenschrank) gebannt und ihn zum verwünschten Landvogt von Willisau in das Enziloch am Luzerner-Napfberge hinabgeworfen. Luzern. Kalend. 1851. Den Berner-Teufel sperrt man in ein Truggli, so z. B. erscheint der Grüne Jäger von Sumiswald bei Regenwetter öfters als Spinne; so betraf ihn ein altes Weib und sperrte die Spinne, anstatt sie ins Wasser zu werfen, daheim in ein Truggli (Schachtel). Ueber Nacht aber war ihr alsbald das Haus abgebrannt.

---

## 151. Der Burgvogt von Brunnegg.

Wenn anderes Wetter eintreten soll und besonders wenn die heil. Zeit heranrückt, hören die Leute am Fuße der Brunnegg ein anhaltendes Getöse droben auf der Burg. Man sagt, der Burgvogt reite auf seinem Chöli (Rappen) auf die Jagd. Das that er auch einmal im strengsten Winter mit seiner Kuppel Hunde und einem Troß Reisigen. Vor Kälte erstarrten ihnen die Füße, da fand der Vogt einen armen Holzhacker, erschlug ihn und wärmte im aufgeschnittenen Bauche seine frierenden Füße. Von dem Augenblicke an brach ein gräßlicher Schneesturm los, er muß sie alle zusammen verweht und begraben haben, keiner ist mehr ins Schloß zurückgekommen. Diejenige Stelle, wo der arme Bauer starb, kennt man noch; bis dorthin sprengt der jagende Reiter, dort hört man sein weidmännisches Hop-hop! verstummen.

Belesene Leute nennen ihn Geßler und meinen, es sei derselbe, der den Tell zwang auf sein eigenes Kind zu schießen.

Digitized by Google

Diese Sage gehört zu „Wildhans von Kestenberg bei Birr", Abthlg. II., No. 57. Sie wärmt eine alte, überall erzählte Rechtssage auf; dieselbe Anklage, welche hier den angeblichen Geßler von Brunnegg treffen soll, ist bekanntlich im französischen Convent in jener denkwürdigen Nacht vom 4. August 1789 gegen einen adeligen Gutsherrn aus der Provence erhoben worden, er habe auf der Winterjagd seine frierenden Füße im aufgeschnittenen Leib eines seiner Jagdtreiber sich gewärmt. Bouthor, Coutumes locales du baillage d'Amiens (2 Bände 1854) hat als Jurist aus nordfranzös. Weisthümern den Beweis von der Unwahrheit solcher Rechtssitten für die romanischen Länder geführt; J. Grimm hat aus noch weiter reichenden Untersuchungen unserer deutschen Rechtsalterthümer dasselbe Ergebniß hergestellt: das alte Recht, blutig in seinem Buchstaben und milde in seiner Anwendung, hat zu solchen Sagen häufig Anlaß gegeben, nirgend aber liegen Beweise vor, daß solche Justiz wirklich geübt worden wäre. Gleichwohl erzählt die Waatländersage eben dasselbe vom Burgherrn Brandis auf La Molière. Henne, Schweiz. Bl. 1833, 231. Der Name des bekannten Landvogtes Geßler, der hier mit eingemischt wird, darf nicht blenden; obschon er in dieser Sage eine localhistorische Giltigkeit hat. Schloß Brunnegg gehörte ursprünglich den Truchsessen von Habsburg, dann den Edeln von Hedingen an, wurde aber nach dem Tode Albrechts und in der darauf folgenden Zeit der Blutrache dieser Familie entzogen und den Geßlern gegeben. Meyer-Knonau, schweiz. Erdkunde 2, 174. Diese sind zugleich die Nachfolger der Edeln von Aarburg im Besitze der Burg und Stadt Grüningen, im Kant. Zürich 1374, verburgrechten sich 1406 mit Zürich und übergeben dieser Stadt 1442 ihre Herrschaften zu Stäfa, Mönchaltorf und Hombrechtikon. Meyer-Knonau, Kant. Zürich 1, 94. Im Besitze dieser Geßler war das noch bestehende schöne Bergschloß Brunnegg bei Lenzburg bis zum Jahre 1415, wo dann die Berner die Vordern Erblande eroberten und gleichzeitig der Ritter Konrad von Weinsperg versuchte, diese Lande in des Kaisers und Reiches Namen zu besetzen; allein die vergrößerungssüchtigen Berner kamen ihm darin zuvor. Justingers Chronik, 299 erzählt den Hergang: „Ze glicher Wis warb er, Cunrad von Winsperg, mit Bruneck ouch, und uf dieselben sin gute wort hielt sich die Geßlerin, dera Bruneck war, und ouch der Schultheß von Lenzburg, bis daß sie Beide verdurbent vnd ze grund giengent." Konrad von Weinsperg hatte nämlich als Bannerträger des deutschen Reiches die Belagerung des Städtchens Mellingen bei den Eidgenossen der VII Kantone mitgemacht und sodann auch die Burgen Lenzburg und Brunnegg, die den belagernden Bernern noch trotzten, zur Uebergabe an das Reich vermocht. Indeß Herzog Friedrich und Kaiser Siegmund ließen den unternehmenden Ritter im Stiche. Drei Wochen lang hatte er die Besatzungen beider Schlösser verstärkt, die Mauern ausgebessert und mit neuem Kriegsgeräth versehen. Der Kaiser hatte zwar die Erneuerung aller Feindseligkeiten den Schweizern streng untersagt, ließ aber das Land gleichwohl in den Händen der Eroberer. Konrad vermochte die fortlaufenden Kriegskosten nicht ferner zu bestreiten, und kam mit den Bernern überein, ihnen die Schlösser zu übergeben, wenn sie ihm die 5000 fl. bisher ausgelegter Soldgelder erstatteten. Sie willigten ein und so kamen die beiden letzten Burgen aus Reiches- in Schweizerhand. Aus dieser Brunnegger-Geßlerin hat dann Tschudi erst den Tellischen

Digitized by Google

Landvogt Geßler in Uri gemacht, den er gleichfalls von Brunnegg sein läßt; er sagt in den Originalhandschriften (nun theilweise im Besitze der Glarner-Tschudi, von mir eingesehen und ausgezogen): „Als die fürsten vo Osterrich ouch sendten, die lender zu bevogten, waren edellüte im Thurgouw vnd Aergouw, die gern großhern gewäsen wären. die fuoren nun zuo vnd wurden vm die vogtyen. war der ein der Gesler, ward vogt gen Vry vnd Schwyz." Gerade dieser von Tschudi aufgestellte und nach ihm in die Literatur übergegangene Urner-Landvogt Geßler, auf welchen sich nun die aargauische Brunnegger-Sage stützt (und Schillers Tell mit jener halb „verbrennenden Bruneggerin", die selbander aus den Flammen getragen werden muß), gerade dieser durch Schiller erst recht für gewordene Tyrann ist noch immer eine historische Unmöglichkeit. Im Munde aller unterrichteten und zugleich patriotischen Schweizer noch in der zweiten Hälfte des vorigen Jahrhunderts gab es nicht einmal einen solchen Geßler, sie nennen ihn allenthalben Grißler (Sinner, schweiz. Bibliographie 1851, 141), wie denn auch die dreizehn aus diesem Geschlechte zu Kappel bestatteten Ritter an den Pfeilern und Wappenschildern daselbst bald Grissler, bald Gessler genannt sind. Zürch. Antiquar. Mittheil. 1845, 13.

Damit soll gezeigt sein, wie der gelehrte Aberglaube noch in der Neuzeit Sagen im Volke hervorbringt, wofern man ihn nicht behindert, sich selbst zur Historie zu stempeln. Der Name Geßler, gleichbedeutend mit dem des bekannten Zürcher-Idyllen Dichters Salomon Geßner (die Schlüsseljungfrau von Tegerfelden, Abthlg. IV., No. 167, nennt einen Landvogt Geßner), hat sich eben so fühlbar auch mit dem Namen der Hohlen Gasse in Küßnacht erst verschwistern müßen. Geßler und Geßner, Kirchgeßner sind Pflasterer und Straßenbesetzer; die Grießler sind Straßen- und Triftknechte, also dasselbe. In Wien machten sie eine eigene Zunft: Schlager, Wiener-Skizzen, 2, 16. In Bayern gehörten sie mit in eine gleiche und hatten die Arbeiten an Flußdämmen und Holztriften (Gries) für das obrigkeitliche Grießamt zu versehen. abd. griozan, communicare. Schmeller Wb. 2, 121.

---

## 152. Der Erlacher auf den Bilgerhöfen.

Graf Rudolf von Erlach war der Schweizer-Feldherr gewesen in den großen Schlachten, die das Land gegen den auswärtigen Feind siegreich bestand. Zu seinem Schlosse Castelen, das in einem Jurathale gegen die Aare hin oberhalb Schinznach liegt, hatte er sich auch die Bilger-Sennenhöfe gekauft. Diese sind auf der dem obern Frickthale zugekehrten Jurawand in der Höhe der Wasserscheide gelegen und bilden heute achterlei verschiedene Bauernhöfe, die man in die beiden Gruppen des innern und des äußern Bilger theilt. Die Höfe des innern Bilger, an denen die nachfolgende Erzählung haftet, heißen der Reihe nach Kohlwald, Kalkdarren, Kammer, Saal, Gottlisacker und Böpperler. Bei ihnen nimmt der Wölfliswiler Bach seinen Ursprung, der als Derken nach Frick hinabfließt und den Thalgeist des

Digitized by Google

Derkenthieres in sich wohnen hat. Beim letztgenannten Hofe Böpperler, der jetzt einem Lenzi gehört, ist die Stelle des alten Sennhauses, das vor Jahrhunderten allein noch in dieser Bergeinsamkeit stand. Hier pflegte Rudolf von Erlach in seinen alten Tagen den Sommer und Herbst über Ruhe und Frieden zu suchen; zwei Knechte und zwei große Jagdhunde machten dann seine ganze Umgebung aus, und Niemand störte ihn in dieser Zurückgezogenheit, wenn nicht zuweilen der ungebetene Rudenz erschien, sein Schwiegersohn, der jenseits der Aare oben im Ruederthale auf dem Schlosse Rued wohnte. Dieser hatte Erlachs einzige Tochter zur Frau bekommen und mit ihr große Reichthümer; aber er war ein Trunkenbold, der, nachdem er Besitz und häusliches Glück verschleudert und verscherzt hatte, nun dem greisen Schwiegervater zur Last fiel. Zu wiederholten Malen schon hatte der Alte für den leichtsinnigen Verschwender einstehen müßen; heute an einem Herbsttage erschien Rudenz mit dem gleichen Anliegen wieder hier oben. Als er zu ihm in die Stube trat, hatte Erlach eben Mittagsruhe gehalten und lag noch auf dem Feldbette, seine beiden Doggen vor ihm. Niemand sonst war auf dem Hofe, die zwei Diener jagten draußen im Walde.

Rudenz begann mit seinem bekannten Begehren, wiederholte es und sah sich wiederholt und entschieden abgewiesen. Da sprang er nach Erlachs Heldenschwert, das ob dem Bette an der Wand hieng und schlug dem Greise das Haupt in einem Hiebe ab. Dann entfloh er das Gebirg herab zur Aare und wollte diese überschwimmen, aber heulend verfolgten ihn die beiden Doggen und machten ihm überall das Ufer streitig. So konnte er sein Schloß Rued nicht erreichen und wendete fliehend sich wieder dem Gebirge zu. Immer die Hunde an den Fersen, gewann er das Versteck einer einzeln stehenden Heuscheune bei den Innern Bilgern, warf die Thüre zu und verkroch sich ins Heu. Auch hier spürten ihn die Hunde auf. Mit gefletschten Zähnen hielten sie draußen vor der Hütte Wache, ihr Geheul durchdrang den ganzen Berg, in kürzester Zeit mußte es Rudolfs beide Knechte hier herauf locken. So sah er sich gefangen und verrathen und erhieng sich. Diese Scheune liegt oberhalb dem Hause, das jetzt dem Bauern Bitterli angehört, er hat sich aber eine neue gebaut und läßt die alte ungebraucht stehen; denn durch diese zieht manche Nacht ein unerträglich Brüllen, Wehschreien und Toben. In diesen unsäglich wüsten Lärmen mischt sich auch das Locken der Hunde, das Blasen der Hörner, der Jagdschrei hup, hup! Dann rollt es sich aus dem Heustadel gerade übers Gebirg hinab in den Thalbach. Sogleich darnach bricht dann Donnerwetter und Wasserguß über das Thal von Oberhofen herein.

Digitized by Google

Die dortige Bevölkerung verwechselt schon lange die Personen dieser Sage mit einander, sowie die Stimmen auf der Höhe und das losbrechende Unwetter, darum wird dorten alles dieses zusammen der Erlacher genannt.

In neuerer Zeit hat ein Bauer aus Wölfliswil den Erlacher auszukunden versucht. Er stand in der Hargetwaldung in der Nähe, wo jener früheste Sennhof gelegen hat, und hörte dem Branden der obern Luft zu, das anschwellend in den Hochwald herein fiel. Uebermüthig riß er einen Büschel langstieligen Mooses vom nächsten Markstein, das man Baumbart nennt, hielt sich's ans Kinn und schrie in den Wald hinein: itz, Erlacher, channst go luege! wo bist? itz han i en bart wie du! Darauf soll ein Mann mit einem sehr hohen Federbusch ihm entgegen getreten sein, und der Wölfliswiler entlief. Die Folge davon aber war, daß er mit einem geschwollenen Kopfe heim kam und bei acht Tagen sich im Bette halten mußte.

Rudolf von Erlach wurde 1360 auf seinem Landsitze Reichenbach an der Aare bei Bern von seinem Tochtermann Jost Rudenz aus Unterwalden im Wortwechsel um die Ausrichtung der Ehesteuer mit demselben Schwerte gemordet, das der Held in der entscheidenden Schlacht bei Laupen 1339 geführt hatte. Auf welche Weise der geschichtliche Rudenz starb, haben die Chroniken nicht hinterlassen, man weiß nur, daß er schon zu Ende des Jahres 1360 todt war. Bern. Neujahrsbl. 1824, 15.

---

## 153. Das Reiterspiel auf dem Geisspitz.

Will man von Aristorf nach dem angrenzenden Frickthal, so kommt man über die Käsehütte, Sennweid genannt, zu einem gewaltigen Stein, der die Marke zwischen den Kantonen Aargau und Basel bestimmen soll. An seinem Fuße entspringt der Violenbach, der eine kurze Strecke beide Kantone theilt. Rechts hin gegen das Dörfchen Nußhof liegt ein abgeplatteter fichtenbewachsener Berg, Geisspitz geheißen, auf dem noch im vorigen Jahrhundert die Burg Geiseck zu sehen war. Noch steht in kleiner Entfernung davon des Grafen unansehnliche Kapelle mit einem geringen Thürmchen, die der Bauer im nahen Pechhof als Holzschoppen und Heubrücke benutzt. Die Ueberreste der Burg sind keinem recht bekannt; doch ist gewiß, daß noch Kellergewölbe vorhanden sind, deren verschüttete Zugänge unsere gar nicht abenteuerliche Jugend aufzuspüren versäumt. Besser wissen darum umherziehende Kessel- und Wannenflicker, Lumpensammler und Vogelsteller, die oft einen Theil des Winters darin zubringen sollen. Geht man nun Nachts über diese große Ebene, welche das Reiterspiel

Digitized by Google

heißt, so sieht man, wie der Graf von Geiseck vom Berge herunter reitet und seine Rittergeschwader ordnet. Nun geht es an ein Turnieren, die Rosse scheuen und bäumen sich, die Ritter heben sich aus dem Sattel, andere sitzen ab und fechten zu Fuß. Aber auch Mittags von Elf bis Zwölf wollen erfahrene und alte Leute diesen Waffenübungen schon zugesehen und deutlich den Grafen von Geiseck erkannt haben, wie sie ihn noch auf alten Bildern gesehen hätten; während andere behaupten, Berner seien's, die hier im Schwabenkriege fielen und noch für die Verwüstung büßen müßten, mit der sie damals das Frickthal heimgesucht haben.

Aarauer Tagblatt vom 30. Jan. 1849 erzählt: In dieser Nacht gewahrte man um Nußhof (an der Aargauer-Basler-Grenze, wo vorstehende Sage spielt) eine eigene Naturerscheinung, mit welcher sich der Aberglaube viel zu schaffen macht. Es war ein Mark und Bein durchdringendes Wimmern in den Lüften, gleich Angstgeschrei von Menschen und Thieren in Lebensgefahr, das hoch über alle Berge und Klüfte daher gefahren kam und sich dann tief in das Thal gegen das Frickthaler-Dorf Magden hinab senkte, wo es unter Blitz und Donnerschlägen endete.

---

## 154. Moospferd am Erlenmoos.

Ein jüngerer Mann aus der Langenthaler-Gegend gab hierüber folgenden mündlichen Aufschluß.

Es ist an der ganzen Sache kein wahres Wort. Die Leute wissen selbst nicht, was sie damit wollen; bald reden sie von einem Moosmann, bald von einem Moospferde, das drinnen im Erlenmoose stecken und brüllen solle. Allein nur alte Weiber halten noch steif und fest darauf; zu denen müßte man gehen, wenn man eigentlich was erfahren wollte, sie lügen jedoch ganz gottvergessen. Das junge Volk denkt jetzt anders, es kennt jenes Moos genau und hätte längst das Roß um die Wette herausgeholt, wenn ein herrenloses drinnen wäre. Nur das ist ausgemacht, was sich in meiner Jugend hier herum begeben hat, ich war noch ein geringes Bübchen. Da trafen Nachts unsere bösen Knaben an einem fremden Wohnhaus ein im Karren stehendes Roß, banden es los und führten es in ihrem schlimmen Uebermuthe sammt dem Wagen vom Karrenweg ab ins Erlenmoos hinein. Dort ist es freilich in jener Zeit noch gar unwegsam und gefährlich gewesen; die Buben fürchteten im Dunkel einzusinken, ihr böses Gewissen plagte sie obendrein, und so entliefen sie bald wieder und ließen Roß und Wagen in der Irre stehen. Das arme Thier muß dort untergegangen sein, wenigstens ist es in hiesiger Gegend

Digitized by Google

nie wieder gesehen worden. Nun dauerte es nur handumkehrt, da starb derjenige Bursche plötzlich, der den Nachtbuben zuerst den schlimmen Rath dazu gegeben hatte; und gleich war wieder der Lärmen im Dorfe, das sei Strafe Gottes für den Frevel, jener sei nun ins Moos verwünscht und ziehe dort brüllend herum. Wir wollten Alle nicht daran glauben. Als das Gerede nicht nachließ, entschloß sich einer aus der Kameradschaft, Nachts im Moose sich genau umzusehen. Er that's und meinte bald wirklich so was zu sehen und zu hören. Eine ganze Nacht gieng er der Stimme vorsichtig nach bis zur Morgendämmerung. Als er den Weg an einer niedern Waldung gegen ein Haberfeld heraus nahm, sah er ganz deutlich einen Mann bei einem Leiterwagen stehen, der ein schreiendes und brüllendes Roß verkehrt daran gespannt hatte und unbarmherzig drauf lospeitschte. Man konnte ihm jedoch vor Sumpf nicht näher kommen.

---

## 155. Das Roß bei Wallbach.

Gegenüber dem Schweizer-Dorfe Wallbach am Aargauer Rheinufer liegt ein gleichnamiges badisches. Ein dortiges geringes Gewässer nennt man Stechehörnlisee, ein Name, mit dem man auch die zahlreichen Belemniten bezeichnet, die daselbst vorkommen und die in der Volksmeinung etwas Teuflisches an sich haben. Ein Bauer dieser Gegend hatte sich über Tag nicht genug geschafft und nahm mit einbrechender Nacht noch einmal die Schaufel zur Hand, um auf seine Wässermatten hinaus zu gehen und die Gräben zu reinigen. Dies verstößt doppelt gegen das Herkommen, denn einmal ist die Nacht keines Menschen Freund, und sodann setzt man sich mit nächtlichen Feldarbeiten dem Verdacht aus, man wolle seinen Matten auf Kosten der nachbarlichen einen Vortheil zuwenden, den man hinter dem Dunkel der Heimlichkeit verbergen müße. Die Hausfrau warnte deswegen auch beim Fortgehen, und da es nichts half, so besprengte sie ihren Mann wenigstens noch mit Weihwasser. Er hatte draußen nicht lange gearbeitet, als er ein Roß weiden sah. Er gieng darauf los, faßte es beim Mähnenhaar und schwang sich auf. Sogleich rannte es dem Stechehörnlisee zu. Beim letzten Absprung, den hier das Thier that, fiel der Reiter am Ufer ab, während es selbst in der Tiefe des Gewässers vor seinen Augen versank; aber eine gewaltige Mannsstimme rief ihm zu: Da lägest du mit drinnen, hätte dir das Weib nicht ihr Chrüzischrezis vorgemacht! Damit sollte des Weibes Bekreuzung und Besprengung mit Weihwasser verhöhnt sein. — Man meint, dies sei

jenes Roß gewesen, auf welchem jährlich einmal ein grün gekleideter Mann mit rothem Federbusche vom Kloster Olsberg aus hieher reite. Dann muß man ihm einen ganzen Korb voll Knochen aus dem Beinhause des Kirchhofes in den Roßstall des eingegangenen Klosters werfen; am Morgen ist nichts davon übrig. Hier in Wallbach aber müßen zu gleicher Zeit in einem gewissen Hause alle Thüren die Nacht durch offen stehen. Als sich einmal die böse Bäuerin diesem Brauche widersetzen wollte, hörte man zuerst den Ruf:

flieh, flieh b'hend,
ass dich niemer g'schänd!

Da sie aber dennoch nicht aus dem Hausgange wich, wurde eine mächtige Dornenlast krachend über sie hinweggezogen, und die Narben davon blieben ihr zeitlebens im Gesicht. Im Hausgange lag frischer Roßmist.

Vom Rosse dieser gespenstischen Art, das den Reiter ins Verderben lockt, bis ihm irgend ein unbeachtet geringer Christenbrauch plötzlich Hilfe bringt, erzählen die Gesta Romanorum, ed. Gräße cap. 155 u. pg. 208. Ganz wie in unserer Erzählung der Wassergeist zum Bauern, so spricht der Teufel zum Spieler, ärgerlich über die dem Dämon hinderlich werdende Kraft des Weihwassers:

nu irret ein cleiner tropfen mich,
da du trunkener luderhunt
dich sprengst vz einem kezzelein,
der machet, daz ich nu schone dein.

Hugos Renner, Vers 11261. Auf den Moosmatten Bourliandé im Greyerzerlande, Kant. Freiburg, geräth unter die dort weidenden Rosse ein Gespensterroß, welches man Zavoudschavou (das Roß der Rosse) nennt. Es ließ sich willig von Jean Pettolaz besteigen, rannte aber mit ihm dem Jaunbache zu; die Mutter Gottes erledigte ihn, da er ihr schnell eine Kapelle gelobte, die nun daselbst erbaut steht. Henne, Schweiz.-Bl. 1833, 231. Vor Errichtung dieser Kapelle wird hier ein Opferplatz gewesen sein; auf ihn deutet unsere Sage, der zu Folge ein Korb voll Knochen in den Roßstall des eingegangenen Klosters Olsberg jährlich einmal für den gespenstischen Reiter gebracht werden muß. Der Trottengeist in Frick, No. 260, nimmt dem Jäger jenes Schinkenbein ab, das dieser als Lockung für Füchse mit in den Wald zu nehmen gedachte. In Süd- und Norddeutschland verlangt der Pfingstspruch der Kinder noch einen Roßkopf zum Geschenke, in Erinnerung desjenigen, den man einst beim Pferdeopfer abschnitt, an Bäume nagelte und auf Stangen steckte. Fr. Panzer, der auf dem Oekonomiehof Heiligenthal, einem ehemaligen Nonnenkloster bei Würzburg, Nachgrabungen anstellte, fand unter einer Menge von Thierknochen und Gefäßen ganze Pferdeköpfe. Bayr. Sag. 2, pag. 448. Dies sind die von Tacitus erwähnten equorum artus, equi abscissum caput. Eine dunkle Erinnerung an solche Opfermahlzeiten erzählt, als der Sarganser Weidbube in jenem Alpsegen, der von den katholischen Sennen allabendlich gerufen

Digitized by Google

werden muß, den alten Schimmel ausließ „Bhüet Gott all's, as de alt Schimmel nit", so lag dies Thier Morgens darauf ausgeschunden und schwarz auf dem Dache. du pissa de l'éga, Stutenpiß, nennen die Weiber im Freiburger Gebirgslande Branntwein und Cognac. Henne, Schweiz.-Bl. 1832. Schweiz. Merkur 1835, 187. In diesen Zusammenhang gehört die Schlußbemerkung, der Hausgang, in dem die Dornenlast über der Bäuerin Gesicht weggeschleift wurde, habe zugleich voll frischen Roßmistes gelegen.

Eine Urkunde des Bischofs Gebhard von Halberstadt v. J. 1462 klagt über heidnische Verehrung eines Wesens, das man den guden lubben nenne (den faulen Riesen) und dem man auf einem Berge bei Schochwitz in der Grafschaft Mannsfeld Thierknochen darbringe. Nicht nur haben sich solche uralte Knochenanhäufungen dort an dem Lupberge vorgefunden, sondern auch an der Kirche des nahgelegenen Müllersdorf das eingemauerte Bild eines Götzen, welches der Sage nach von dem Lupberge aus dahin gebracht werden sein soll. Grimm, Myth. 492.

Beim Ausstecken der Brachweide, das die Hirtenjungen am Drömling mit geschälten Stäben vornehmen am Weißen Sonntag (14 Tage vor Ostern), müßen die jüngern Buben, die zum erstenmal mit zur Weide gehen, Knochen herbeischaffen, womit die Aeste einer aufgerichteten Tanne besteckt werden. Oben steckt ein Pferdeschädel, der Baum heißt dann der Knochengalgen. Kuhn, nordd. Sag. „Pfingstbräuche."

Das Erlisbacher Dorfthier hat auf den Knochen des Beinhauses in der Kapelle neben der Kirche sein Lager, Abthl. III, No. 95.

---

## 156. Roß als Glutofen.

Im Schwaderloch, nahe beim sogenannten Sennhof im Frickthal, liegt ein Graben, an welchem es spukt. Als vor einem Jahrzehent der Sennbauer ausdreschen sollte und sich dazu die Drescher im Thale bestellt hatte, kam er sehr spät Nachts auf dem Heimwege an diesem Graben vorbei. Hier traf er ein Roß, das ihm wiederholt vor die Beine kugelte, aber alsbald verschwunden war, da er zu fluchen anfieng. Als er nun Nachts eine Weile geschlafen hatte, klopfte man ihm außen am Fenster. In der Meinung, die gedungenen Drescher seien angekommen, stand er auf, sowie er aber die Kammerthüre öffnete, stand ein Glutofen an der Zimmerschwelle, so daß der Bauer darüber stürzte und sich die Beine verbrannte. Als darauf die Drescher anlangten, hörten sie etwas im Salzkasten rollen; daraus schloß man, daß man des Mannes verbrannte Schenkel mit Salzwasser benetzen müße, und diese heilten. (A. Birrcher in Laufenburg.)

---

Digitized by Google

## 157. Der Reiter zu Leuggern.

Im Hardwalde zwischen Böttstein und Leuggern läßt sich bei einem hölzernen Wegkreuz ein Mann blicken mit grauem Gurt und weißen Handschuhen, durch welche man auch Nachts Fingerringe hindurch schimmern sieht. Weil er einen Haarzopf trägt und seinen Weg stets nach dem Schlosse Böttstein hin nimmt, hält ihn das Volk für einen alten Schloßherrn. Einem Mann aus Bernau, der hier spät nach Lenzburg durchfuhr, kam er ans Wägelein heran, als ob er aufsteigen wolle. Küher, so hieß der Bernauer, wies ihn zurück; doch reute es ihn wieder, gegen einen müden Fußgänger hart zu sein; er hielt also und lud ihn ein, aufzusitzen. In diesem Augenblicke aber fühlte er sich so furchtbar gepreßt und gedrückt, daß er völlig geschwollen in Lenzburg ankam und von nun an keine gesunde Stunde mehr hatte.

Von der Hardwaldung fließt ein kleines Bächlein über Grundstücke hin, die Solen geheißen; man überschreitet einen Steg und kommt zu einer alten Eiche. Hier hat der Brugg-Joggeli seinen Aufenthalt. Auch er schickte einen Bauern aus Groß-Döttingen mit einem geschwollenen Kopf heim, der geprahlt hatte, er werde den Geist im Vorbeigehen fragen, ob er schon fertig gekocht habe. Um diese Eiche ziehen sich mehrere dunkelfarbige Grasringe, Herenringe genannt, und man sagt, hier hätten die bösen Weiber ihren Tanzplatz. Als der Schreiner Kalt auf dem Wege von Eien nach Gippingen hier vorbei kam, hörte er schon auf achtzig Schritte Entfernung Musik und Tanzjubel von diesem Baume her.

Anderes sah der Mann, der im Gänterhause in Eien wohnt. Er traf eine weiße Gestalt, die auf einem halben Roß saß und ihren Kopf mit weißem Barte unter dem Arm hielt; dann sprengte sie gegen die Wiesen hinab der Aare zu, und ein Krachen folgte, als wären alle Eichen geborsten.

---

## 158. Der Casteler-Reiter am Hasliacker.

Der Hasliacker, auch Maienacher geheißen, gehört nunmehr in den Dorfbann von Schinznach. Es ist dorten ein stets nasses und kothiges Plätzchen, das als versegnet gilt. In gewissen Zeiten kommt vom Schlosse Castelen her bis zu diesem Platze ein Reiter auf weißem Rosse.

---

Digitized by Google

## 159. Burgfluh im Frickthal.

Wird unten an der Burgfluh ein Ritter auf weißem Pferd gesehen, so giebt's großen Krieg; dasselbe weissagt man auch vom wilden Jäger Burkhard, der sich erst neulich wieder im Frickthale sehen ließ. Er nimmt seinen Weg vom Sammelplatz bis zu dem Punkte, wo das Dorf Abbizüs (No. 514) versunken ist. Sein Kopf ist unkenntlich vor einem tief herabhängenden Hut, seine Hundemeute folgt ihm, er ruft hup-hup! und verschwindet hinter einer Scheiterbeige. Man sucht die Stelle seines Schlosses am Sennhof zu Pfarsberg (Farnsburg in Baselland).

---

## 160. Hoppedihop bei Ober-Endingen.

Kalktaren heißt eine Waldgegend zwischen dem Steinebühl und Ober-Endingen. Hier stand ehemals ein Bauernhof, dessen Eigenthümer sich viele Gewaltthätigkeiten erlaubte. Er spukt nun als Schimmelreiter und heißt Hoppedihop, nach seinem Rufe, mit dem er den Wald durchschreit. Zimmerleute giengen in dieser Gegend eines Abends vom Arbeitsplatze und ließen den Wagen mit Balken hinter sich drein fahren. Es begegnete ihnen ein altes, gebücktes Weib und bat, ihre Holzbürde auf den Wagen legen zu dürfen; natürlich ward es ihr erlaubt. Beim nächsten Bache vermochten die Rosse durchaus nicht mehr, die Last über das andere Ufer hinauf zu bringen; aber ein alter frommer Mann sah den Zusammenhang bald ein; er ließ jenen Reißbündel der Frau vom Wagen werfen, eine ungerade Speiche des Rades ausbrechen und die Rosse bis zur Abendglocke ausspannen. Kaum tönte diese, so gieng's wieder ans Ziehen, und der Wagen hob sich. Das Weib, das eben so lange zugesehen hatte, fuhr nun plötzlich unter heftigem Rauschen vor ihnen in die Luft, und in demselben Augenblicke kam der Schimmelreiter hinter ihr hergesprengt.

(Eine Parallele bietet Panzer, bayr. Sag. 2, No. 40.)

---

## 161. Der Schimmelritär am Salibrunnä.

's chunt mär ietz au z'sinn, wie nä mol ä paar mannä z'sämä g'standa sigä und sigä go gält grabä zuäm Salibrunnä ûsä. mä sait, äs sig dört ietz no ä ganzä trog voll im bodä-n in und no schûflä und chärst därbî. Si häigä's aber nit äläi chönnä; der pfarrer, i glaub, der Bürgi seelig, häig enä g'hulfä, nämli

nit grabä, abär sust, und er häig gsait, er wöll nüt därvo, wenn si's scho übär-chömtit. Si häigä grabä, bis si de ganz trog voll scho dûssä gha häigä, si häiga aber nüt z'sämä dörfä sägä. wo n'er scho frei und frank do gstandä sîg, de trog, luäg einä von änä vorûf und g'säih einä cho z'rittä ûf äme wîssä schimmäl. er häig gmaint, äs sîg der pfarrer, denn dä sîg fast alläwîl ûf äme schimmäl g'rittä, er häig halt gar bös füäss gha, dä hêr, wegä sîm zipperlî. Dä, wo do chô sîg, häig aber änandernô grüäft: „I will's halb, i will's halb!" Jetz säg dä, wo-nä g'seh häig chô: „G'seh'sch dört, er chunt scho, de sakermentspfaff, und will's halb, und hät jo nüt dra tho. wenn-ä nummä s'donnerwättär verschuss!" Und wie dä das g'sait häig, se sîg 's g'schirr und der trog wiedär is loch iä g'heit und si häig' es nümmä chönnä neh, und au de pfarrer häigä si nümmä gseh. es sîg aber der tüfäl gsî. denn der pfarrer sîg mit sannt 'm schimmäl do z'mole dähaim gsî. Und 's gält und 's gschirr und de trog ist itz no dört. wemmer nummä wüsstä, wo's wär, mer wöttit es go räihä! sellä mâ ist au scho g'storbä, ass ammä der blätz bî drei schuehnä het wöllä zeigä.

Oberhofer Mundart. Mittheilung von Herrn Lehrer Lenzin. Dieſer Salibrunnen iſt ein Bergquell an der Nordhöhe des Strichenberges und gilt als das Eigenthum der Erdmännlein; fünf große Zinnkannen ſtehen um ihn herum und ſchlupfen jedesmal, ſo oft ſich eines nähert, in den Boden hinein.

Wuotans Roß iſt der achtfüßige Schimmel Sleipnir, auf deſſen Zähnen Runen ſtehen und der Land und Waſſer überſchreitet. Es kehrt in allen Volkserzählungen wieder, ſelbſt wo ſie bis zur bloßen Anekdote abgeblaßt ſind, wie z. B. jener in Lauingen am Hofthurm angemalte Schimmel iſt, den man nur auf Leitern beſteigen kann (Schöppner, bayr. Sag. 1, 392). Schimmelthurm und darneben die Schimmelwirthſchaft tragen von dieſem Roſſe den Namen. Sagenb. der Städte Gundelfingen, Lauingen ꝛc. 1849. pag. 32. Aehnlich verhält es ſich mit dem Lallenburger Schimmel, der die Stadtmauer abweiden ſollte. Von des Thieres achtfüßiger Geſtalt berichtet Scheuchzer Nat. Geſch. 1, 313 aus dem Munde des Bündner Pfarrers Molitor, der ſich ſelbſt wieder auf Begebenheiten vor d. J. 1700 zurückberief. Der Heinzenberger-See Paſchol und der Calandari-See auf Aroſenalp bei Andeer ſollten Menſchen an ſich ziehen, und zum Beweiſe hiefür erzählte man, wie Weidbuben aus Uebermuth oder Neugier ſieben Weidpferde einſt in dieſen See geſprengt hätten; nachdem die Roſſe ſtundenlang im Waſſer verſunken geblieben waren, ſtieg eine alte graue Stute auf, und ihr nach kamen die ſieben übrigen, je eins dem andern am Rücken; aber vorher wohlbeſchlagen hatten ſie nun ſämmtliche Hufeiſen verloren. Bayriſche Bauern, welche glauben, ſolcher Thiere geb' es im Schimmelweiher mehr, ſuchen da nach und ertrinken zuſammen. Panzer, bayr. Sag. 1, No. 110. Reitet Wuotans Gemahlin Hellia, die Führerin der

Digitized by Google

Walküren, auf diesem Rosse, so verwandelt sich das achtfüßige in das dreibeinige blinde Roß Hel, das jede Nacht in Tondern umtrabt. Müllenhoff, Holst. Sag. 245. So reitet der Alpenpfeifer im Klettgau einen dreibeinigen Schimmel. Schnezler, bad. Sagb. 1, 114. Als ein zwölffüßiges erscheint es in der Zürcher-Sage. Auf der höchsten Spitze des Albis oder des Uetliberges stand das feste Schloß, welches Baldern genannt wird und Ute. Von hier aus ritt Graf Lüthold von Regensberg täglich in Gesellschaft von 11 Reitern, alle auf weißen Pferden und von 12 Hunden gleicher Farbe begleitet, entweder auf die Jagd oder auf Raub aus. Graf Rudolf von Habsburg, sein Feind, brachte eben so viele Schimmel und weiße Hunde zusammen, barg sich mit seinem Kriegsvolke in der Nähe des Schlosses und kam, da Graf Lüthold nach gewohnter Weise aufs Weidwerk ausgeritten war, plötzlich dem Schlosse zugesprengt, als wäre er der vor einer Anzahl ihn verfolgenden Reisigen rasch den Seinen zufliehende Burggraf Lütbold. Die Schloßknechte öffneten den zwölf Schimmelreitern mit ihren zwölf Hunden eilig die Thore, Rudolfs im Hinterhalt liegende Mannschaft brach vor, und Baldern oder Uto war nun in ihrer Gewalt. Sie verbrannten und zerstörten es, seit dieser Zeit ist es nicht wieder gebaut worden. Zürch. Neujahrs-Bl., der Feuerwerker 1811, 7. Diese Sage wird als eine histor. Thatsache erzählt: M. Schuler, Sitten und Thaten der Eidgenoss. 1, 36. Wie Rudolf von Habsburg in der Schweizergeschichte zum zweitenmale sich in die Sage vom Schimmelreiter verirrt hat, zeigt die Abth. XII., No. 499. — Wuotans Tempelroß wurde mit dem neu eingeführten Christenglauben in die christlichen Kirchen hinüber versetzt, nicht willkürlich und zufällig, sondern ebenso, wie nachmals die katholischen Stiftungen und Kirchenzehnten an die Kirchenverwaltungen der Reformirten übergegangen sind. Der heidnische Dienst nur hörte auf, der Gegenstand selbst und sein ihm gestiftetes Vermögen erhielt sich fort. So soll Kaiser Karl in des bekehrten Sachsenherzog Wittekinds Wappen statt des schwarzen Rosses einen Schimmel gesetzt haben. Compend. Staatsbeschreib. 2, 52. Unter den zahllosen Schimmelreitern, die in jeder Landschaft einzeln gelten, erscheint in unserm Freienamte auch Dr. Luther als ein solcher. Im Munde der dortigen kathol. Jugend heißt ein Reim:

Martin Luther am Schimmel,
chunt i d'höll und nit in himmel.

Bekanntlich reiten unsere ältesten Kirchenheiligen Georg, Michel, Martin, Urban in Abbildungen stets den Schimmel. Der hl. Martinus trägt dazu noch Wuotans besondere Abzeichen: den verbergenden und entführenden Mantel, das theilende Schwert. Im Märchen vom Heiligenbildschnitzer (Panzer, bayr. Sag. 1, 110) verschafft sich der Schimmelreiter außer diesen eben genannten Abzeichen Wuotans auch das letzte, des Gottes Stab und Sack, und entrinnt damit allen Gefahren. Als Schlachten- und Siegesroß des Gottes wurde der Schimmel seit dem Jahre 955, da man auf dem Lechfelde die Ungarn geschlagen, bis zum Jahre 1829 in Augsburg in Prozession umgeführt, da die dortige Weber-Innung den König Ludwig von Bayern im Schmucke ihrer geschichtlichen Ehrenzeichen begrüßte. Histor. Erklärung derer Gemälde des Weberhauses. Augsb. 1718. Der ehrbaren Zunft von Webern Herkommen, Cronica und Jahrbuch, Hdschr. v. J. 1544 auf dem Weberhause und der Stadtbibliothek zu Augsburg.

Digitized by Google

Daraus entwickelte sich theils der obrigkeitlich-bürgerliche, theils der kirchliche Festschimmel, und beide erweisen sich in ihrer Anwendung als die Thiere des die Aernte, die Witterung, das Fest und den Festschmaus bescheerenden und leitenden Gottes. Geiler legt im Narrenschiff 93, 1 den Kornwucherern folgende Rede in den Mund: Reservabo, inquiunt, frumenta mea et vina quousque St. Gregorius per pontem super equo cinerii coloris equitaverit (vff eim falben hengst), denotando pruinam, quæ cadere solet circa hoc festum, habens hunc colorem. Aus dieser Stelle ergiebt sich, daß auch der hl. Gregorius an die Stelle des umreitenden Wuotan mit dem falben Roß getreten war, und daß Reif und Thau, als aus der Mähne dieses Rosses triefend, damals noch sprichwörtlich galt, wie im Heidenglauben sonst wirklich angenommen war. So entstand dann das geschichtliche Sprichwort, auf dem obrigkeitlichen Schimmel umreiten (Kirchhofer, Sprichw. No. 118) für jedes auf Staatsunkosten langsam und gedehnt betriebene Geschäft, oder ein fahles Roß reiten, den Falben streichen, blind werden wie der falbe Hengst im Spittel: das Halbe thun und auf das Ganze hin leben. Ist der Schimmel endlich obrigkeitlich oder kirchlich aberkannt, so bleibt noch sein Geschirr übrig. „Vor dem Rathhauß zu Petterlingen (Payerne) hangt ein wunderbarer Sattel, da man heut gemeinlich fürgiebt, daß er des Julii Cäsaris Reit-Sattel gewesen seye. Ob aber die Stägreiff und Sporren wie dieser hat, zu den Zeiten dises Keysers gewesen, wil ich den Antiquariis zu erkundigen überlassen. Das weiß ich gewüß, das man vor der Zeit dafür gehalten, daß er von dem Burgundischen Krieg nahen überig seye. Lindinner, Memorab. Helvet. Zürich 1684. Berthas Sattel war's, er wurde nebst ihrem Spinnrade auf dem Rathhause zu Payerne hergezeigt. Aus dieser umreitenden und ihre Maierhöfe besuchenden Königin Bertha und dem männlichen Berchtold ist der schweizer. Bechtelis-Festtag geworden, an welchem so allgemein geschmaust und gezecht wird, daß die Zürcher Neujahrs-Blätter Ab dem Musiksaal v. J. 1784 ihre landschaftliche Wortform Becheln von bacchari abzuleiten versucht hatten. Dieser Bechtelistag gilt in Halle und Usedom dem Knechte Ruprecht, (Hruodperaht, der Glänzende), der auf dem Schimmel maskirt um Weihnachten zur Bescheerung erscheint; in Oesterreich ist's dann der Stroh-Bartel; in einzelnen Theilen der Schweiz der St. Nikolaus, der auf dem Esel geritten kommt; in Bern die Neujahrs-Bescheerung, welche Nüjohrs-Eseli genannt wird; in Norddeutschland (Kuhn, Sag. pag. 403) um dieselbe Zeit der Schimmel, der Spanische Hengst geheißen. Dieser Schimmel wird nach Weinholds Bericht (Weihnachts-Sp.) in Schlesien durch mehrere Bursche dargestellt, deren jeder die Arme auf die Schultern des Vordermanns legt. Ueber sie her ist ein weißes Tuch gehangen, das vorne durch eine Erhöhung den Kopf andeutet; sie tragen einen gleichfalls meist verhangenen Reiter, und dieser hält einen Topf, aus dessen Augen und Mundlöchern glühende Kohlen leuchten. In Schwaben wird das Roß aus einem Sack gebildet mit einem aus Linnen angeknüpften Kopfe; zwei Bursche nehmen ihn auf die Schulter, das Linnen verhüllt sie, und auf dem Sack sitzt der Reiter. Im Lüneburgischen geschieht es nach Th. Colshorns Mittheilung (Mythologie fürs Volk, 346) also: man befestigt einem Burschen an jeder Seite ein aufrechtstehendes Sieb, am Rücken ein drittes wagrecht; im Leibgurt hat er eine Gabel mit aufrecht

Digitized by Google

gekehrten Zinken, auf dieſelben ſteckt man einen natürlichen Pferdeſchädel, dem man Stroh in die Mundhöhle ſtopft, daß es zu den Ohrenlöchern herausſteht. Um dieſe Spitzen wickelt man die Zipfel von einem großen weißen Laken, wodurch ziemlich natürlich ſcheinende Ohren hervorgebracht werden, ſpannt daſſelbe um die ganze Figur und der Schimmel iſt fertig. Ihn begleiten der Fuhrmann mit der Peitſche und der Kurſchmied mit dem Hammer. Pochend und peitſchenknallend vor den Häuſern ſammeln ſie Würſte, Speckſchnitten und Obſt ein. In den Spinnſtuben muß der Schimmel Orakel ertheilen. Bei uns gilt ſtatt des Schimmels nun das Kameel, das in vorbeſchriebener Weiſe gebildet wird, aber Knaben mit Eberköpfen und Ziegenhörnern maskirt begleiten es.

Sagen von Schimmelreitern finden ſich: Meier, ſchwäb. Sag. No. 116 bis 123, 348. Baader, bad. Sag. No. 372. Kuhn, nordd. Sag. No. 182, 265, 183. Wolf, DSag. No. 394. Grimm, Myth. 890, 892, 896, 897.

---

## 162. Der Amsupper bei Mettau.

Bei Mettau im Frickthale iſt der ausgedehnte Amswald. Ein Weg, der durchs Gehölz führt, heißt der Amsbuck, und auf dieſem reitet der W. Jäger einher, den man den Amsupper heißt. Zwei Hunde begleiten ihn, ſein Roß iſt nur ein halbes, er ſelbſt iſt ohne Kopf. Seinen Weg nimmt er heraus zum Rhein gegen das Dorf Etzgen. Es iſt ihm nicht gut zu begegnen. An einem Sonntagsmorgen erblickte ihn ein Bauer und ſtürzte ſogleich zuſammen. Kinder fanden ihn hernach im Walde und brachten ihn wieder auf den Weg; er iſt aber zeitlebens ſtill und in ſich gekehrt geblieben, ohne je etwas von dieſem Erlebniß zu erzählen. (Birrcher in Laufenburg.)

Der Name Amsupper iſt in ſeiner erſten Hälfte deutlich. Amſe iſt heu. Supe und Suppe gilt wenigſtens im Bernerlande, Oberſimmenthal, für Morgras (Stalder 2, 419). Der Name Ams-ſupper käme alſo demjenigen zu, der ſolches Amsſuppegras heuet, oder der auf ſolcherlei Morwieſen ſeine Wohnung hat. Dem entſpricht die Angabe der Sage vollkommen. Der Amsupper wohnt im Amswalde, und eine graſige Anhöhe daſelbſt an dem Amswege gelegen, heißt Amsbuck. Amse und lindez höu, das wil ich dir geben, ſagt Wittich zu ſeinem Roſſe. Helchen Süne IV. V. 50. ed. Ettmüller. Der Zürcher-Ortsname (ed. H. Meyer No. 1710) Amslen heißt urkundl. Amson. Bei Zofingen liegt gleichfalls Berghöhe und Wald, genannt Amſel und Amſelmoos. Ich weiß nicht, ob das Amſelblümli (galanthus), deſſen Fundort Gebirgswieſen ſind, mit hieher gehört; das Volk ſagt davon: blüht es, ſo beginnt der Amſelſchlag; welkt es früh, ſo deutet's auf kurzen Sommer. Weiterführend iſt hiebei das halbe Roß, auf dem der Amsupper geritten kommt, denn mit dieſem wird man auf den reitenden Wuotan, oder auf unſern Muotis geführt. Dazu iſt in Erinnerung zu nehmen, daß in denſelben Juraſtrichen und Jurawäldern, in denen der Amsupper umreitet, auch jener hauptloſe Reiter mit einem Gefolge ge-

spenstischer Schweden haust, welcher eine goldene Sichel in der Hand schwingt (Abthl. III, No. 130, Matthisee und das Schwedenhaus), und daß in dem Hauptorte dieses Jurabezirkes, im Städtchen Laufenburg, eben dieser hauptlose Mann das Stadtwahrzeichen gewesen ist (Abthl. XII, No. 508, Schwertlimann in Laufenburg). Dies führt abermals auf Odhinn, den Aerntegott. Einer seiner Beinamen (in Magnusens Lexikon) ist falcem gestans. Menzel, Odin pag. 5. Nach ehstnischem Glauben (Myth. a. Anhang No. 65) ist der Regenbogen des Donnergottes Sichel; uns selbst aber heißen die drei Sterne des Orion ganz verwandten Sinnes die drei Mäder. Der Frau Holda wildes Heer besteht, wie Erasm. Alberus reimt (citirt von Grimms Myth. 247) gleichfalls aus sichelführenden Weibern, denn der Frau Holda ist Flachsbau und Rocken geheiligt. Von diesem sichelführenden Odhinn weiß die Edda einen Zug zu erzählen, der gänzlich zu unserm landwirthschaftlich gedeuteten Amsupper paßt. Odhinn sah neun Knechte Heu mähen und fragte, ob sie ihre Sicheln gewetzt haben wollten; nachdem er dies mit seinem aus dem Gürtel hervor genommenen Wetzstein gethan hatte, und ihre Sicheln nun schärfer schnitten, feilschten die Mäher um den Stein. Der Gott warf ihn höhnisch in die Luft und indem ihn jeder auffangen wollte, schnitten sie sich mit den Sicheln gegenseitig die Hälse ab. Darauf geht Odhinn zu dem Gutsherrn, dem riesenhaften Bauern Baugi und verrichtet ihm die ganze Neun-Männerarbeit allein. — Vgl. unsere Sage von den Schleifsteinen, No. 114. Der Hahn im Kinderräthsel hält einen Schleifstein im linken Bein, einen weißen Stein im Kopfe, verschlingt Mühle und Mühlstein und wird mittelst eines Mühlsteins hingerichtet. Aargau. Kind.-Spr. No. 380. Auch in der ältern Bernergeschichte machen sich diese Wetzsteine bei einer besondern Gelegenheit geltend. Der Bischof Johann von Vienne, den die Berner durch mehrere Kriegszüge in seinen Sprengel gezüchtigt hatten, erlaubte sich die Drohung, er wolle auf Bern ziehen und dorten den Wald Bremgarten an der Aare niederhauen, aus dem damals die Bürger sich beholzten. Zum Hohne hiengen die Bürger Schleifsteine an verschiedenen Orten in diesem Walde auf, damit des Bischofs Leute ihre Beile dran schleifen könnten. Bern. Neujahrsbl. 1825, 12.

---

## 163. Der Geistmüller auf der Wittnauermühle.

Vom Thiersteinberge herab kommt ein kleines Bächlein durch die Matten von Oberfrick und Wittnau und geht unfern der Straße, welche von Frick aus über den Benkenberg nach Aarau führt, in den Wölfliswiler-Bach. Ein Fußsteig aber durch die dortigen Matten heißt das Geistwegli. Ihn mußte der Müller von Wölfliswil einschlagen, als er am Frickermarkte einen Ochsen über alle Erwartung gut verkauft, darauf in mehrern Wirthshäusern auch über Durst getrunken hatte, und nun etwas unsicher auf den Beinen, in ziemlich später Nacht heim wollte. Auf jener Matte fiel es ihm ein, daß man sich allerlei Spukgeschichten von dieser Stelle erzähle; in seiner Weinlaune schlug er daher mit seinem Stocke auf die Hecke am Wege, rief

Digitized by Google

jeden Geist heraus, der da drinnen stecke und erbot sich, ihn zu erlösen. Plötzlich kam eine Gestalt in grüner Kleidung hervor. Von dieser unerwarteten Erscheinung überrascht nahm der Müller Reißaus. Athemlos trat er in sein Haus; die Frau wollte wissen, was ihm widerfahren sei, aber er verhehlte es ihr und suchte seine Schlafkammer. Hier lag er kaum im Bette, so klopfte es schon an sein Fenster und draußen sprach eine Stimme: Komm, erlös mich! Er richtete sich empor und erkannte draußen dieselbe grün gekleidete Gestalt. So gieng es auch in der folgenden Nacht, der Klopfer am Fenster ließ ihn nicht schlafen. Er wendete sich endlich an seinen Ortspfarrer und erhielt den Rath, der Erscheinung das nächstemal zu folgen. Er that es im Vertrauen auf die kirchlichen Schutzmittel, die ihm dazu eingehändigt wurden, und gieng so in nächster Nacht dem Spuke nach bis zu jener Stelle des Geistwegleins am Thiersteiner-Waldbächlein. Hier blieb die Gestalt stehen und erzählte: Ich bin der Hundswärter gewesen der Grafen von Thierstein, als ihr Schloß noch da droben am Berge stand. Mein Herr hatte ein großes Jagen in dieser Gegend angekündigt und zahlreich war der Besuch, der dazu auf dem Schlosse eintraf. Aber ich hatte gerade an diesem Tage den Hunden aus Versehen ihre Morgensuppe versalzen, und so wie man sie nun abließ, jagten sie zusammen diesem Bächlein zu. Statt das Wild aufzuspüren, blieben sie wasserlappend hier liegen. Ich wandte alles an, sie auf die Fährte zu bringen, ich gelobte in meiner Angst sogar eine Wallfahrt nach Maria Einsiedeln zu machen, alles half nichts. Da kam der Graf heran, sah, wer ihm das Vergnügen dieses Tages vereitelt hatte, und nicht weiter Herr über seinen Zorn, schoß er mich mit einem Pfeil nieder. Seitdem muß ich hier in Unruhe wandeln, bis mich Jemand dadurch erlöst, daß er die gelobete Wallfahrt für mich unternimmt. — Der Müller machte wirklich im nächsten Frühjahr die Wallfahrt nach Einsiedeln. Kaum war er wieder daheim, so stand auch jener Weidmann wieder an seiner Schlafkammer, klopfte ans Fenster und bat ihn, mitzukommen. Die Gestalt war diesmal wie zum Zeichen der beginnenden Sühne weißgekleidet gekommen und dies machte dem Müller ein Herz, auch diesmal ihm zu folgen. Der Weg gieng wieder jenem Bächlein in den Sulzmatten zu. An der gewohnten Stelle hielt der Jäger und sprach: Hier ruhen meine Gebeine, da hat der Graf mich verscharren lassen; bezeichne dir diese Stelle, damit du meiner Asche ein ehrliches Begräbniß geben kannst. Als dies der Müller zugesagt, wurden ihm noch drei Wünsche freigestellt, darunter auch der, ob er sogleich mit dem Erlösten nun im Himmel sein wolle. Dazu fühlte sich der Müller noch allzu jung und

Digitized by Google

schlug es aus. Dankend verschwand hierauf der Erlöste. Als nun am Morgen der Müller aufsteht und in die Wohnstube tritt, sehen die Seinigen mit Erstaunen, daß er über Nacht eisgrau geworden ist. Aber seit diesem Augenblick nimmt sein Wohlstand rasch zu, er wird endlich sehr reich, lebt glücklich und stirbt erst in hohem Alter. Weil aber sein Weib die ganze Geschichte ausplauderte, so bekam er seiner weißen Haare wegen allenthalben den Namen Geistmüller.

Die Leiche des Jägerburschen ist an dem Geistwege ausgegraben und auf dem Kirchhofe zu Wölfliswil bestattet worden. Gleichwohl kann man jetzt noch in jeder Stunde der Nacht auf dem Thiersteinberge und in den unterhalb gelegenen Sulzmatten Hundegebell und Hornstöße hören, als wäre dorten eine große Hetzjagd in Bewegung.

---

## 164. Der Lälle von Rheinfelden.

Zu jener Zeit, als die Schweden die Stadt Rheinfelden belagert hielten, bestachen sie drinnen einen reichen und gewaltthätigen Bürger mit einer großen Summe, daß er ihnen die Festung in die Hände spiele. Dies war der Bürgermeister Gast, der da auf der Herrenmühle saß. Nachts elf Uhr öffnete er dem Feinde ein Thor beim Storchennestthurm, und ließ einen um den andern leise herein, bis sich zuletzt bald eine Schwadron Schweden innerhalb der Mauern befand. Und weil er vorher die Straße sorgfältig mit Spreuern bestreut hatte, so vernahmen die Einwohner den Hufstritt der Rosse nicht und schliefen fort. Aber in jener Nacht wandelte die Mutter Gottes auf den Ringmauern und richtete alle Uhren von zwölf Uhr, da die Schweden nachrücken sollten, auf Morgens vier Uhr, da die Arbeiter aufstehen. Als mit diesem Glockenschlage die Gesellen der Knappenschmiede zur Werkstatt giengen, die beim Storchenthurm lag, wateten sie erstaunt durch lauter Spreu. Aber sogleich bemerkten sie auch den Haufen Feinde in Bickelhauben und Brustharnischen, der still am Thore stand. Da griff ein Schmiedemeister zum großen Hammer und rief seinen Burschen zu: **I g'seh scho, ihre Hûbe sind nit recht gschmiedet, si händ d'Hämmer no tüchtig nöthig!** Nun augenblicklicher Lärm; die Bürger sprangen allenthalben herzu, und wer von den Reitern nicht entrann, wurde erschlagen. Ein anderer Theil der Einwohner eilte auf den Sammelplatz zum Rheinthor hinab; mit Zorn sah man, daß hier die Fallbrücke niedergelassen war und zog sie schnell wieder auf. Als nun hier der Feind im Dunkeln ebenso anmarschierte und statt der verhofften Brücke einen Abgrund voll strömenden Was-

Digitized by Google

sers vor sich fand, riefen seine ersten Reihen den nachdrängenden Kameraden zu: „Z'ruck, z'ruck!“ Diese aber verstanden „Druck, druck!“ und drückten mit solcher Heftigkeit nach, daß sie ihre eignen Leute in den Strom stürzten. Erst als sie den Rhein voll Sturmhüte schwimmen sahen, merkten sie den Irrthum und flohen.

Damit war die Gefahr abgewendet, nicht aber die Hungersnoth. Das Korn im Felde hatte man unreif schneiden müßen, um nur dem Feinde zuvor zu kommen, endlich soll gar sieben Jahre lang in der Gegend kein Pflug mehr gegangen sein. Als man die Spreu, welche den schwedischen Reitern gestreut gewesen war, von der Gasse in den Rhein warf, fischten die ebenfalls hungernden Schweden sie für Weizen auf und wurden nur um so lüsterner nach den großen Vorräthen, welche sie in der Stadt vermutheten. Dies brachte die Bürger auf eine List. Sie hatten nur noch eine Kuh und ein Viertel Korn im Orte. Das Thier war schon so abgemagert, daß sich daran das noch übliche Sprichwort knüpfen soll: „Dri-luege wie d'Chueh im Schwedekrieg.“ Sie gaben ihr das Viertel Korn zu fressen, umwickelten ihr das eine Horn mit einer Flachsreiste und das andere mit einem Zettel, auf dem geschrieben stand:

So ring, as deisi Chueh lehrt spinne,
Wird der Schwed Rhifelde g'wünne.

So jagte man die Kuh zum Thor hinaus. Als sie der Feind schlachtete, fand er verwundert die Menge Frucht in ihrem Magen; er meinte also diesen Ort nicht aushungern zu können und zog gegen das Nachbarstädtchen Laufenburg ab.

Allen Rheinfeldnern aber galt es als ausgemacht, daß der mißlungene Handstreich gegen das Städtchen von einem der ihrigen herrühren müße. Sobald nun der Feind fort war, versammelten sich Rath und Zünfte und hielten Umfrage, welche Strafe den Verräther treffen müße, wenn man ihn je entdecken würde. Bürgermeister Gast hatte hier zuerst seine Stimme abzugeben und suchte nun den Verdacht dadurch von sich abzuwenden, daß er sogleich das höchste Strafmaß beantragte. Sein Urtheil über den Uebelthäter lautete:

Mä sottä z'Rieme verschnide
Und in Oel versüde.

Man nahm ihn bei seinem eigenen Worte und zwang ihn, sein Verbrechen eidlich zu bekennen. Er sollte also in einem Kessel siedenden Oels getödtet werden. Es brauchte noch Zeit, bis man so viel Oel in der Nachbarschaft aufgebracht hatte; denn gar alle Dinge hatte die Kriegszeit weggezehrt. Endlich ward Gast in den Kessel geworfen und gesotten. Als von anderthalb Saum kein Tropfen mehr übrig

war, sprang ein schwarzer Hund aus dem Kessel hervor und eilte davon. Nun gieng eine neue Noth im Städtchen an. Der Böse trieb sich als Schimmel um, oder biß als Hund die Heerden aus einander, auf der Straße wälzte er sich Jedem als Mehlsack zwischen die Beine, und nach Betzeitläuten erkletterte er die Ringmauer, schaute den Leuten zum obern Stockwerk ins Fenster und verhöhnte sie durch Herausrecken der Zunge (Lälle). Daher bekam er auch den Namen Lälle. Streckte einer nach dem Läuten der Thorglocke noch den Kopf neugierig zum Fenster hinaus, der brachte ihn gewiß nicht anders als wie ein Malter angeschwollen wieder zurück. Und immer pflegte der Geist bei solchem Unfug drohend zu rufen: Ich will's euch entgelten! Ein Pater mußte ihn endlich in eine Glasflasche bannen. Man verstopfte sie und brachte sie in den Grütgraben, einer Wüstung am Rheinufer, die eine halbe Stunde von der Stadt entfernt ist. Vorher aber mußte man eine förmliche Uebereinkunft mit dem Unhold abschließen, und der gespenstische Hund unterschrieb sie mit der Pfote. Von seinem Kiesgraben, gegenüber Bicken, darf er sich der Stadt jährlich um einen Hahnenschritt nähern; alle dreißig Jahre aber wird ihm mit sämmtlichen Glocken der Stadt um dreißig Mannsschritte zurückgeläutet. Gleichwohl ist er jetzt schon bei der Dreifaltigkeitskapelle angelangt, andere sagen gar, schon am Rosengäßli, nahe beim Wirthshaus zu den drei Königen. Ist er einmal wieder im Thore, so bringt ihn kein Kapuziner und kein Jesuite mehr hinaus.

Am Tage kann man ihn sehen, wie er im Graben liegt zusammengeschrumpft im Weingeistfläschchen. Ein unwissender Hirtenjunge öffnete es einmal, da brach eine ganze Heerde Schweine daraus hervor und jagte seine eigene in die Flucht. Nachts fliegt er als Strohgarbe und als lodernde Flamme von einem Grabenende zum andern; auf seiner Bahn läßt er Geld fallen, es ist aber nichts als Trug und Schein. Gar manche Bewohner des rechten Rheinufers lassen sich heute noch ihre Furcht vor dem Gast nicht nehmen; sie schläfern mit seinem Namen sogar ihre unruhigen Kinder ein, und will man diesen eine Ungebühr verweisen, so sagt man nur: „Du wüeste Gast!“ Wenn die Schiffer aus dem Schwarzwalde hier den Rhein herab fahren und sie hören um Neujahr und Weihnachten das Krachen der Eisberge von der Schweizerseite her, so sagen sie, der Gast brülle. Der Kessel, in dem man ihn gesotten, soll noch im Spritzenhause zu Rheinfelden liegen.

(Vgl. damit Abthlg. XII. No. 504: Burgermeister Gast vo Rhifelde.)

Manche Wahrzeichen der Städte haben ihren Ursprung in einer geschichtlich nicht ergründbaren Zeit; trägt nun die Form, in der dieselben

Digitized by Google

gearbeitet sind, einen verwandten und unentlehnten Typus an sich, und einigen sie sich unter einander selbst als die zusammen gehörenden Theile eines größern Sagenkörpers, so wird man sie mit Sicherheit zu den Götzenbildern des deutschen Heidenthums rechnen dürfen. Basels weitbekanntes Wahrzeichen, welches der Schreiber dieser Zeilen i. J. 1834 noch am damaligen Rheinthor der Stadt betrachtet hat, ist der Lällenkönig gewesen: ein gekröntes, sich bewegendes Mannshaupt, das vom Brückenthor auf den Rhein niedersah und bei den Schwingungen des Pendels der Thurmuhr Augen und Zunge bewegte. W. Core, Briefe über die Schweiz 1781 pag. 347 bemerkt, dasselbe solle an jenen Bürgermeister erinnern, der eine die Stadt betrebende Verschwörung dadurch vereitelt habe, daß er sämmtliche Uhren der Stadt um die eine Stunde vorgerückt habe, welche zur Ausführung des feindlichen Ueberfalls anberaumt gewesen sei; und deshalb müßten heute noch alle Thurmuhren Basels allen übrigen Europa's um eine Stunde vorgerückt bleiben. Erst seit der Revolution von 1798 ist dieser außergewöhnliche Uhrenstand Basels abgeschafft. Burckhardt, Kanton Basel 1, 194. Pädageg Campe in der Bibliothek der Reisebeschreibungen sieht in diesem von der Großstadt aus gegen Klein-Basel hinüber grimassirenden Haupte einen politischen Hohn jener gegen diese Gemeinde ausgedrückt und ereifert sich stark über solche Intoleranz. Beide Autoren zeigen uns damit, daß man schon zu ihrer Zeit in dem damaligen Basel über Zweck und Bedeutung dieser Figur dem Fragenden widersprechende Erklärungen gab und selber nicht mehr klar in der Sache war. In der Rathhausuhr des Reichsstädtchens Aalen war als Retter der Vaterstadt der sog. Spion von Aalen abgebildet und schnitt da solche Gesichter, daß noch Napoleon über ihn in ein Gelächter verfallen sein soll. Meier, schwäb. Sag. 2, No. 411. So gähnte auch an der Rathhausuhr zu Jena ein angebrachtes Haupt mit jedem Stundenschlage und gab damit den Anlaß zur Benennung Jena's. Bechstein, DSagb. No. 606. Der Rathsherr Gimann in Heidingsfeld hatte Alles besser als Andere wissen wollen; man stellte daher sein Bild, einen Holzkopf, an den Rathsthurm, ließ es da auf den Stundenschlag blecken und nannte es zum Stadtwahrzeichen Gimaul (Gähnmaul). B. Baader, bad. Sag. No. 463. Das Wahrzeichen Passau's ist der Passauer Tölpel, ein steinern Mannshaupt mit zwei Spannen langem Munde (Bechstein, DSagb. No. 859) und dasjenige Straßburgs ist das „große offen stehende Maul am Weißenthurmthore, über dessen Zweck man daselbst keinen Aufschluß weiß." Stöber, elsaß. Sag. No. 318. Bei Belagerung der Stadt Budissin durch die Hussiten 1429 hatte der Stadtschreiber Pritschwitz einen Pfeil mit einem Papierstreifen dem Feinde zugeschossen und sich mit ihm wegen Uebergabe der Stadt ins Einvernehmen gesetzt. Er wurde entdeckt und hingerichtet. Man bezieht auf ihn den Steinkopf, der an der Nicolaipforte daselbst eingemauert ist. An der dortigen Ortenburg, die einst ein Götzentempel gewesen sein soll, ragen gleichfalls zwei Steinköpfe aus der Mauer, eines Mönchs und einer Nonne Abbild, die hier zusammen eingemauert sein sollen. Gräße, sächs. Sagensch. No. 613. 618. 634. Großlellenfeld, ein eichstädtisches Dorf, hat seinen Namen von einem Steinbild seiner Kirche, das Löll heißt. Es hält mit Daumen und Zeigefinger seine herausgestreckte Zunge fest. Bechstein, DSagb. No. 870. In gleicher Geste zeigt sich „der Heidengötze Lollus oder Lölle zu Schweinfurt." Schöppner,

Digitized by Google

bayr. Sagb. 1, 218. Als man dies Bild in den Main geworfen hatte, gab es daselbst noch einen zweiten, sog. „Kleinen Löllein." Ein anderer Lollus, in Wolfs hess. Sag. No. 229, ist ein im Hauskeller fortspukender Geizhals. Lollemann und Lollekerl sind westfälische Kinderscheuchen. Lollakulen nennt man die eingegangenen Grubenwerke, Lollapfeffer das Heidelbeerenmus, lollen ist laut weinen, „schreien wie ein Lollakater". Wolf, Ztschr. 2, 81. Bayerisch ist masc. Löll und Lolli, Stammler und Dummkopf, fem. Lall'n und Lull'n: die Schwerredende, das am Finger schnullende Kind. Matth. 25, 2: Aber fünf unter ihnen waren thöricht und fünf waren klug: „και αι πεντε λωλαις." Der Hanflöhli, eine Lumpengestalt und Vogelscheuche im Hanffelde; der Ofenlöhli, der Ofenschieber-Deckel, in Gestalt einer Larve mit Mund, Nase und Augen. Stalder 2, 178. Ueber den grünen Kachelofen, der geheizt ist oder der einen solchen Schieber hat, besagt das aargau. Räthsel No. 561: E grüene hoselade und e rothe lälli. — 's Fü'r lället zuem Chemi ûs, das Feuer lechzt znm Kamin heraus. Tobler, pag. 290. Der Name der Lallenburger gründet in diesem Worte und zugleich in den aufgezählten Stadtwahrzeichen. Grimm, GDS. 636 sieht in solchen Bildern „das zur Schau getragene Haupt des erlegten Feindes, der im Todeskampfe fletscht", das man zum Schrecken der Angreifer auf Stadtmauer und Haus setzte, und er erinnert dabei an den sog. Cimbrischen Schild, einem Wirthshausschilde der Römer, auf welchem nach Beschreibung bei Cicero, de oratore 2, 66 und Plinius, hist. nat. 35, 4 eine ähnliche Larve abgebildet stand. Ein Kinderreim, Simrock KindB. No. 206 scheint noch auf solche Wirthsschilde zu zielen:

Der Lulli ist mir schuldig
Und ich dem Lulli auch;
Wenn mich der Lulli zahlen will,
Zahl' ich dem Lulli auch.

Angemalte Thierhäupter, mit aufgespreiztem Rachen von der Hauswand entgegen bleckend, sind pag. 11 bei uns erwähnt. Der Lälle von Rheinfelden hat zwar eine ähnliche Abbildung nicht mehr aufzuweisen, führt aber den bedeutsamen und mit jenen Scheuchbildern zusammenhängenden Eigennamen Gast = hostis, hos-pes, Fremder und Krieger. „Du wüeste Gast", du Ungethüm, ist der Scheltname, der hier in unserer Sage (No. 504) und in der Mundart überhaupt gilt. Appenzellisch ist Gäst, und bayrisch Gâest (Schmell. 2, 79) das Gespenst, der Geist. es gaestet — es spukt, Tobler, pag. 213. vergastligen und entgesten = verunstalten. Stalder 1, 426. gastig, häßlich, schmutzig. Schmid, schwäbisch. Wb. 222. — Gast schaut von der Gasse aus den Leuten in die Fenster des obern Stockwerkes. So lassen auch Lausitzer Knaben Puppe und Strohmann, die sie beim Todaustragen im März herum führen, den Leuten in die Fenster gucken, und wenn man sich dagegen mit Geld auslöset, soll dann in einem solchen Hause der Tod das Jahr über Niemand abholen. Auch Frau Perchta, wenn sie in der Dreikönigsnacht herum geht, um nach dem Fleiß der Spinnerinnen sich zu erkundigen, schiebt die Fenster auf und schaut in die Stuben. Myth. 252. 732. Auf dieser spinnenden Göttin Fest deutet zugleich der Reim, welcher der ins Feindeslager getriebenen Kuh ans Horn geheftet wird: So ring as deisi Chueh lehrt spinne — ꝛc. In Holstein gilt die gleiche Sage mit dem nämlichen Spruch: Müllenhoff, pag. 33.

Digitized by Google

Noch folgende Bildwerke dieser Art sind erwähnenswerth.

Im Städtchen Rapperswil am Zürchersee sieht man in Stein gehauene Köpfe in grasser Geberde an dem Brückenthore, fernere über dem dortigen Thorbogen ob dem Sausenden Wind, und andere zwei ob dem Halsthor. Es ist die Sage, der Herzog Albrecht von Oesterreich, der das von den Zürchern zerstörte Städtchen wieder aufbaute, habe diese Steinbilder einmauern lassen zum Zeichen, daß hier Mord und Weh geschrieen werde über die Zürcher. Zürch. Neujahrsbl. der Feuerwerker 1826, 6. Im Berner-Dorfe Wyl wurde vor einigen fünfzig Jahren in einem Hauskeller ein Granitblock mit einem Relief gefunden, das, leider nun überarbeitet, im Bächibölzligut bei Thun zu sehen ist. Ein dämonisches Menschengesicht en face mit Glotzaugen und breiten Backenknochen läßt aus rund geöffnetem Munde die Zungenspitze kugelartig geballt hervorragen. Abwärts vom Kopfe sind neun Ringe ausgehauen, deren zweiter von oben als Halsring einen wirklichen Wulst bildet, während die übrigen sieben nebst dem obersten scheiben- und schuppenartig über einander zu stehen kommen. Jahn, Kant. Bern, 401. Auch das Städtchen Brugg hat an seinem Aarthurme ein solches gegen den Fluß herabschauendes Steinhaupt; man hält es sowie den Thurm für römisch.

Nach dieser Erklärung über die unter dem Namen Lälle vorhandenen örtlichen Bildwerke soll noch des übrigen Inhalts dieser Sage gedacht werden. Allerdings gieng die Stadt Rheinfelden zwischen den Jahren 1633 und 1638 dreimal an die Schweden und Kaiserlichen verloren und die Hungersnoth in der belagerten Stadt war 1634 so hoch gestiegen, daß zwanzig Säcke Eicheln, etwas Hirse und einige Pferde noch den ganzen Mundvorrath ausmachten. Lutz, Geschichte des vorderösterreich. Frickthales 1801, 60. Gleichwohl sind alle übrigen Züge der Erzählung nur ein Eigenthum der Sage. Die Kriegslist der Belagerten, den Feind durch Zutreiben des letzten noch vorräthigen Thieres zum Abzug zu nöthigen, ist uralt. Die vita comitis Gerardi de Rosillon, verfaßt im 12. Jahrh., läßt die Belagerung montis Latiscensis durch die Vandalen mittelst eines ihnen ins Lager getriebenen Stieres beendigen. Pertz, Archiv 8, 317. Das Chron. Novalic. erzählt es von der Burg Canusium, aus der ein mit Weizen gefüttertes Wildschwein dem Belagerer zugetrieben wird. Grimm, DS. 2, 460. Die Kärnthner sagen Gleiches der Margaretha Maultasch nach. ibid. 2, No. 504. Glogau befreit sich durch die letzte Katze, die man dem Feind fricassirt zustellt. Kern, schles. Sag.-Chron., Breslau 1840, 215. Auch das Sieden des Verbrechers im Oelkessel beruht nur auf der Rechtssage, obschon diese in die Rechtsbücher selbst übergegangen ist, z. B. in die Freienämter Malefizordnung, Handschrift v. J. 1737; „Vrtell über Falzschmüntzer, Kanthengießer, Metallseltscher: Herr, mich dunckhet Rächt, daß der scharpf Richter disen näme vnd ihn allda in einen Kessel oder standen mit siedens wasser oder öll versüde." Daß sich der gebannte Geist als Pudel und mit der Pfote zu Protokoll unterzeichnet, ist ein auf den helle-hunt zurückführender Zug, welcher in der Sage vom Teufel und dem heil. Beatus am Thunersee (Wyß, Reis. ins Bern. Oberl.) wiederkehrt, da der Teufel die in Beatus Predigt Einschlafenden sich auf eine Bockshaut notiert. Der Glaube an diesen Umstand lebt noch in der Steiermark: Diemer, ahd. Gedichte 1849, Anmerk. pag. 84.



Digitized by Google

## 165. Der Jäger am Bruchmattbrunnen im Frickthal.

Die Großmutter meiner Schwägerin — so erzählt ein Frickthaler, — war zwischen Münchwiler und Eiken auf dem Felde in der Aernte und sollte den Schnittern Wasser vom Bruchmattbrunnen im Bulstelthale herbei holen. Als sie die Krüge dorten gefüllt hatte und sich von der Quelle erhob, stand ein Jäger in grünem Kleide und rothem Hute ruhig und schweigend vor ihr. Sie war damals noch ein schüchternes Mädchen und sagte also kein Wörtchen zu dem wunderlichen Manne. Das war ihr Glück. Denn als sie zu den Schnittern kam, brachte sie einen bedeutend geschwollenen Kopf mit und lag dann mehrere Wochen krank. Vgl. No. 181, h.

---

## 166. Der Dreihundertjährige am Strichenberg.

Der Grethans zu Wölfliswil befand sich, da man vor Jahren einmal im Gemeinwerke den Strichenberg abholzte, ganz allein auf der Höhe dieses einsamen Waldberges und hieb sich das ihm zukommende Theil Reißwellen und Stauden. Da kam aus einer unwegsamen Waldlücke heraus ein Mann zu ihm getreten in völlig rother Tracht. Ein rothes Wollenhemd gieng ihm über die Hüfte, er trug rothe Stumpfhosen und rothe Strümpfe, Rinkenschuhe mit fingerbreiten funkelnden Messingschnallen, auf dem Kopfe einen sog. Dreischnörrihut. Ein solcher Hut, den man mittelst Schnüren in eine dreischnäutzige Form aufbinden, gegen den Regen aber als Schlapphut breit aus einander schlagen kann, war vor alten Zeiten einmal hier herum allerdings üblich gewesen, aber zum Aussehen dieses Mannes paßte er gar nicht, der, wenn er zum Uebrigen noch ein rothes Käppchen getragen hätte, ganz einem stattlichen Schützenzeiger glich. Der Grethans besann sich eben, von welchem Scheibenschießen doch wohl der in diese weglose Gegend herkommen könnte, da begann der Rothe und sprach, das Thal drunten überblickend: Vor dreihundert Jahren hättest du wahrlich auch nicht so allein hier Holz gefällt! Der Grethans dachte bei sich, also auch wieder so ein Faulenzer, der zu jeglicher Arbeit einen Gesellschafter haben muß; und nicht einmal guten Tag bietet er dir, und dutzt dich schon im ersten Augenblick! Er antwortete ihm daher wie einer, der dem Fopper das gleiche Wort mit Nachdruck zurückgiebt und sagte: Freilich hätte ich vor dreihundert Jahren weder ganz allein, noch in großer Gesellschaft, noch auch mit dir mein Brennholz hier oben hauen können, weil wir vor dreihundert Jahren

Digitized by Google

ja alle zusammen noch nicht auf der Welt gewesen sind — ausgenommen vielleicht dein Hut da.

Das ist gar nicht die Ursache, sagte der Rothe begütigend; sondern weder ein Mann einzeln, noch viele Männer zusammen würden sich damals hier herauf gewagt haben, so viele Wölfe gab es hier herum. Und dein Dorf Wölfliswil bekam ja von ihnen seinen Namen damals vor dreihundert Jahren.

Das ist aber dann doch nur die Schuld der damaligen Leute gewesen, erwiederte Grethans; sie werden eben auch wie du lieber auf das Schützenfest als auf die gefährliche Wolfsjagd gelaufen sein. Hätten sie die Wölfe nur brav zusammen gepulvert!

Zusammen gespießt, mußt du sagen, unterbrach ihn der Rothe; denn in seinem ganzen Hause hatte der Bauer keinen Schuß Pulver vor dreihundert Jahren. Da drunten auf dem Platze in Oberhof, den Ihr jetzt Auf der Hofstatt nennt, hat der Erste gewohnt, und ausgebälgte Wölfe hiengen so viele ringsum unter seinem Dachrande, daß er mehr Stroh, als jetzt auf euerm Felde steht, nur in die Wolfsbälge allein hinein zu schoppen hatte vor dreihundert Jahren. Aber jetzt ist eben überhaupt nicht mehr der dreifache Ertrag an Frucht und Obst vorhanden wie vor dreihundert Jahren. Sobald im Frühling der Derkenbach groß wurde, schwamm er voll Schwarzkirschen, und im Herbste lag er so voller Aepfel, Zwetschgen und Nüsse, daß meine Base ihre Herbstwäsche statt im Bache, hieroben beim Heidenbrünnlein hielt; dann wurde allemal der ganze Strichenberg schneeweiß, wenn ihrer Schwester Tochter die Bett- und Tischtücher zum Trocknen aufhieng vor dreihundert Jahren.

Das muß aber eine schlechte Wirthschaft gewesen sein, erwiederte ihm der Grethans. Da hätten sie doch Schnaps draus brennen sollen und Kirschwasser, anstatt es den Bach hinab schwimmen zu lassen, das viele schöne Obst!

Es ist gleichwohl auch nicht verloren gegangen, sagte der Rothe; denn die Schweine haben sich herrlich mit gemästet, und trieb sie der Vetter einmal auf den Markt nach Basel, so waren's ihrer so viele geworden, daß er mit den letzten noch nicht im Frickerthore stand, wenn die vordersten schon zum Mühlhauserthore wieder hinaus zogen. Seht, da kommen die Rothen, riefen alsdann die Basler Metzger und bezahlten sie ihm wannenweise mit Brabänterthalern und saumweise mit Elsäßerwein, wie er süß und herrlich gerathen ist vor dreihundert Jahren.

Jetzt wußte der Grethans nichts mehr zu erwiedern, aber er dachte sich, mach dich einmal fort, du Aufschneider! als der Rothe, ohne

Abschied zu nehmen, sich kehrte und in der Richtung nach Oberho bergab gieng. Was für einen Weg will er denn da machen über Stau den und Stämme, über Stock und Stein? Denn dorten über die holz gerade Felsenwand hinunter ist wohl auch vor dreihundert Jahren noch keine Klaue und kein Fuß gekommen! so sagte Grethans bei sich selbst, sprang ein paar Schritte weit nach und schaute und staunte. Unauf gehalten schritt der Rothe ohne Weg und Steg geradaus über die senkrechte Kluft und jenseits in den Wald hinein, als ob er die dichte Wand der Tannenbäume niedertreten könnte. Der Grethans nahm schnell zum Beten seine Zuflucht, um des Grauens Herr zu werden. Des Rothen immerwährendes Wort wurde ihm plötzlich befremdend deutlich, er wußte nun was es auf sich hatte, allein gewesen zu sein auf dem Strichenberge vor dreihundert Jahren.

## 166 a. Farbe und Tracht der Geister.

Die rothe Tracht des Wild. Jägers. Im Ober-Aargau heißt er Rotthaler und Rothenburger. Er kommt, wie der Odenwälder-Rodensteiner vom Schnellerts, bei uns von der Gletscheröde des Rotthales, welches man theils in die inneren Wildnisse der Berneralpen von Jungfrau, Breithorn und Blümlisalp, theils in das Luzerner Oberland versetzt. Seine dortigen Hauserinnen sind die Strüdelenheren (Jahn, Kant. Bern, 321). Der Aelpler sieht in ihnen zugleich eine Heerde verwünschter Rinder und Geisen, welche ein geisterhafter Hirte übers Gebirge treibt. Ihre Augen sind feurig, ihr Rumpf verdreht, ihre Glocken klingeln. Henne, Schweiz. Blätter. 1850, 1. Rötler heißt No. 108 der Hochwald, über welchen die Kutsche des W. Heeres hinfährt. Maria und Rothenburg! war das Feldgeschrei der Luzerner in der Schlacht bei Vilmergen 1656, in welcher das Heer der reformirten Berner geschlagen wurde. Bern. Neujahrs-Bl. 1851, 13. Vom Luzerner Pilatusberge her kommt er mit dreibeinigen rothen Hunden. Kas. Pfyffer, Luzern. Gesch. 1, 320. Seine und seiner Begleitung Farbe und Tracht weist auf Donars und Wuotans Rothhaar und Rothbart. Grani, Rothgrani, Rothbart ist ausdrücklich Odhinns Beiname. Myth. 1206. In unserer Sammlung No. 143 trägt er ein langes rothes Wamms, darüber einen langschwänzigen Grünrock, ein rothes Leibchen (Jacke). Der Sarg des „nächtlichen Leichenzuges bei Seon", Abth. III., No. 100 ist mit einem rothen Bahrtuche gedeckt, seine Träger sind rothstrümpfig, die beiden Pfarrer rothhutig. Sogar der Zurzacher-Straßenhund No. 265, a. hat rothe Strümpfe an. Das Geistermädchen No. 181, e. hat ein rothes Fürtuch, die Alrune No. 268 einen blutrothen Kamm; der Reiter No. 155 einen rothen Federbusch. In rothe Unterröcke hüllt das Landvolk noch die Fieberkranken und Gebärenden, und diese Röcke nennt man auf dem Schwarzwalde Heidentschöpen, von franz. jupon. Beschädigte Glieder umwickelt man mit rothem Faden; die rothe Waldschnecke ist heilkräftig. Eine rothe Sau mit grünen Augen spukt im Wallis hinter dem Stadthaus zu Sitten. Henne, Schweiz. Bl. 1833. Das Geisterschwein mit rasselnden Borsten hat eine blutunterlaufene Haut, No. 94.

Digitized by Google

Die Füße des Geistervögleins von Kyburg sind blutroth. Alp.-Rof. 1812, 289. Die Margaretha Maultasch reitet in Klagenfurth um den Stadtbrunnen auf dunkelrothem Pferde. Grimm, DS. 2, No. 502. Ein rother Ritter mit rothem Helmbusch auf rothem Rosse ist der Rodensteiner im Odenberge. J. Wolf, Rodensteiner und Schnellerts, S. 9. Der Wetterauer W. Jäger kommt in einem „reatzeruure" (räßrothen) Mantel. Firmenich, Völkerstim. 2, 101. Der heiratslustige Teufel freit eine Rothenburgerinn. Schöppner, bayr. Sag. 1, 377. Von zwei Geisterheeren, das eine weiß, das andere ganz roth, erzählt die Legende des XIII. Jh. Stöber, Elsaß. Sag. No. 114. Rothenburger heißt der Frickthaler Pfarrer, welcher den Jäger Kinzhalden-Joggeli beerdigt, Abthl. III., No. 150. Das rothe Tüchlein No. 121 duldet es nicht, daß man mit dem Stocke darnach schlage. Das Rötheli rubecula, ist geheiligt; wo es baut, schlägt der Blitz nicht ein. Fuchs und Eichhörnchen sind von bedeutsamem Angang. Der erstere erscheint feuerschnaubend (Abthl. VIII., No. 333), das letztere erscheint zugleich mit Donars geheiligtem Bären an derjenigen Waldstelle, an welcher sodann vom Zähringer-Berchtold die Stadt Bern gebaut wird. Die in der Farbe des Gottes schimmernde Vogelbeere und Erdbeere hat der Aberglaube mit eignen Bräuchen umgeben, der Bündnername Buddlergräusle (Preiselbeere), die Raffausle (im Glarus Name der Alpenrose) erinnern an das Fest der Grauflete, das dem Wuotan im Schwyzer Muotathal gefeiert wurde und wird.

**die rothe lüt hend siba hüt,**
**sechsmol meh, as ander lüt.**

Appenz. Spruch, Tobler 27 a. — Rothhaarige Leute sind „von Gott" gezeichnet, Meier, schwäb. Sagen 2, pag. 507. Zum Rothen Schuh heißen einige Häuser und über ihnen gelegene Bergflächen bei Gersau am Vierwaldstätter-See, dorten spielt die Sage vom Kindlismord. Meyer-Knonau, Schweiz. Erdkunde 1, 330. Zum Rothen Männel sind in Straßburg und Kolmar die Wirthshäuser geschildet, auch trägt sonst am Lande dorten manche Schenke denselben Namen. Jetzt liegt dies rothe Männlein unter dem Straßb. Münsterthurm begraben, während es sonst das „Reuterlein auf der Säule" war, das mit krausem Haar und rothem Röcklein auf einem weißen Pferde sitzend, am Münster den Fremden zum Wahrzeichen gewiesen worden ist. Stöber, Elsaß Sag. No. 325 und pag. 475. Merkwürdig stimmt damit auch die Tracht des Japanesischen Teufels überein; W. Heine, Wanderskizzen auf einer Fahrt nach Japan (Allgem. Augsb. Zeitg. 1854, No. 249) sieht ein Kapellenbild, auf dem alle bei dem Herengastmahl aufwartenden Unterteufelchen grün sind und rothe Haare haben. — Viele Ortschaften und Gegenden, die nach dem Rodensteiner, Rothenburger, Rotthaler u. s. w. benannt sind, verzeichnet Menzel, Odin pag. 272 ff.

Grüne Farbe der Geister. Der Grünhütler ist ein Alpengespenst in Graubünden. So oft er Nachts an die Thüre einer Sennerhütte klopft, wird morgens darauf die ganze Alp mit Schnee überdeckt sein. Leonhardi, Bündner-Vierteljahrsschrift 1852, 23. Aargauisch bezeichnet der Grüne, der Grünrock den Teufel, Abthl. IX., No. 417. Unter wohllautender sanfter Musik erscheint das Glücksheer, mit dem Zuge der Reiter und Hunde. Alsdann ist der W. Jäger auch der Grünrock (vgl. Abth. III,

Digitized by Google

No. 94, Lochluegenjäger), der Thierbändiger, dessen Hunde so zahm sind daß sie dem Köhler von Liebegg vertraut das Brod aus der Hand fressen (Abthl. III, No. 99. Sodbrunnen der Römerstadt Lorenz.) Ebenda ist er auch in Rübeli (grüner Halbsammet) gekleidet. So ist auch die Schürze des Breitsee-Maideli grün, Abth. III, No. 127. Um Luzern sind die Hornbläser der W. Jagd grün kostümirt. Kas. Pfyffer, Luzern. Gesch. 1, S. 320. Aus dem Zuge des W. Heeres fällt ein grüner Schuh herab. Kuhn, nordd. Sag. S. 478. Baadets bad. Sag., No. 254 heben nicht minder die grünen Pantoffeln hervor, welche ein umgehender Ammann trägt. — Ueber die Grüne Tracht der Zwerge handelt No. 205, Anmerkung.

Schwarz und weiße Geister. Die helende und bergende Göttin heißt Hel, sie ist halb weiß, halb schwarz. Sie fällt ursprünglich gewiß mit der Erdgöttin Jördh zusammen. So erklärt sich dann ihre Zweifarbigkeit, da die Erde die lichte Oberwelt und die schwarze Unterwelt zugleich umfaßt. Wie die Jördh später ausschließlich das grüne heitere Erdenleben vertrat, so Hel das bleiche und traurige. Weinhold, deutsche Frauen, 29, 30. — Die wichtigste Figur, welche in der neu gewonnenen Sage übrig ist von dieser schwarz-weißen Unterweltsgöttin, ist die Frau Held und Wehld (Panzer, bayr. Sag. 1, 186) mit ihren beiden Schwestern, welche als Norne des Walfeldes zugleich den Namen unserer Bructerer Jungfrau, der prophetischen Veleda wiederholt. Letztere, die sich dem jungfräulichen Stande ergeben hatte, an den Unsterblichkeit und Schicksalswissen geknüpft war, war dem Volke selber ein siegskündendes Schildmädchen der Walstatt und hieß lebend schon so, wie sie einst unter Odhinns Schwanjungfrauen genannt werden sollte. „Elsternfarbig", halbweiß und halbschwarz, halb zum Leben, halb zum Tode führend ist die deutsche Walküre, die antike Furia, die Aphrodite Melanis, endlich das Marienbild. Myth. 289. In unserer Sammlung scheint die Versicherung lächerlich zu lauten: Man fürchte den umgehenden Schaffner in Castelen, No. 326, nicht mehr, denn er trage neuerlich schon weiße Hosen. Diese Doppelfarbe hat er aber gemein mit dem Schimmel-Reiter im schwarzen Mantel, No. 161; mit den Ferkeln der W. Jagd, No. 85, die sämmtlich von scheckiger Race sind, vorne schwarz und hinten weiß; (weiß und schwarze Katzen sind die Jungen des Lützwiler Dorfthieres, No. 86) mit dem Feldmesser Trog in der weißen Zipfelkappe, No. 328; mit dem Pfaffen von Murg, der tiefschwarz erscheint, aber doch ein schneeweißes Leichen-Gesicht zeigt; mit dem Schwarzen, der eine weiße Hemdkrause blicken läßt, No. 263. So sitzt Matthias Pagels auf Rügen, wegen Meineid und Urkundenfälschung verwünscht, mit grauem Rock und weißer Mütze auf einer hohen Buche. „Pagels mit de witte Mütz, wo koold und hoch ist din Sitz!" Arndt, Märchen 1, 249. Temme, Volks-S. von Pommern, 267. So ist auch der heidnische Held Feirefiz elsternfarbig, wie ihn Wolfram im Parzival nennt, weil ihn sein Heidenthum zur Hölle, seine Ritterbravheit gleichzeitig zum Himmel hinzieht. Und so ist alles Schwankende und Unentschiedene des Charakters uns noch von gemischter Farbe, grau, vornen hui, hinten pfui.

Digitized by Google

## 166. b. Wagen des W. Heeres.

Höhere Gottheiten werden fahrend gedacht; auch ihr Reiten denkt sich unsere Mundart immer noch als eine bloße Fahrt, wie die ältere Sprache den zwei- und vierspännigen Wagen reita, den Fuhrmann reitweko nannte. Anton, Gesch. der Landwirthsch. 1, 425. Der dänische Othin unterweist seinen Liebling, den König Harald Hildetand in den Kriegskünsten und wird sein Wagenlenker in der Bravallaschlacht. Auch Gott Thôrr hat den Beinamen vom Wagen, auf dem er fährt, und heißt Reidhar-tyr, Rhedings- oder Wagengott. Grimm, Myth. 147, 306, 178. Fahr zum Odin! ist eine noch geltende Verwünschungsformel: Geijer, Schwed. Gesch. 1, 110. Nun haut sich der Alte mit der Art ein Rad, gilt im Ditmarschen vom grollenden Donner: Müllenhoff, Schlesw.-Holst. Sag., No. 840. Schlofts, Kinda, da schwari woag'n wird glei vabei foarn, sagen die Mütter um österreichisch Preßburg zu den Kindern, die nicht friedlich einschlafen wollen. Wolf, Ztschr. 2, 193. In unserer spielenden Rede sagt man beim Gewitter, der Herrgott fahrt spazieren. In der älteren Anschauung des mythischen Zeitalters sowohl, wie in der noch dauernden Ausdrucksweise der Sage und der Volksrede wird der Götterwagen als ein zweimal vorhandener unterschieden. Der eine fährt und bleibt zugleich am Himmel, der andere fährt nur auf der Erde oder durch unsere Luft. Der eine Himmelswagen des Gottes ist das Sternbild des Bären und heißt bei uns Hèrewagen, Cherwagen; er dreht sich Nachts mit großem Geräusche um, sein Tiefer- und Höher-stehen deutet man auf Wohlfeile oder Theuerung der Lebensmittel. Scheuchzer, Schweiz. Natur-Gesch. 1, 245 spricht von einer Windsbraut am Hörrwagen; in den Niederlanden heißt das Gestirn selbst Woenswagen, Wodanswagen. Rebmann, Gespräch zwischen Riesen und Stockhorn (Bern 1620) beschreibt das Gestirn pag. 30 also:

bei diesem steht der große Ber,
der groß Heerwagen gnennet er,
Sein sternen seind also gestalt,
gleich er Roß, Wagen, Reutter halt.

Dies ist der Wagen der Seligkeit, des Glückes und der Freude. Tacitus weiß Germ. 40, daß wenn derselbe durchs Land fährt, der Gottesfrieden überall herrsche. Dasselbe weiß auch die Noveleser Chronik zu sagen von jenem großen Leiterwagen ihres Klosters, der Ton seiner Schellenstange bringt Ruhe und den Stillstand aller Geschäfte und Fehden im Lande hervor. (Latein. Gedichte des X. und XI. Jh., pag. 107). Und wie man nach dem einst von Kühen gezogenen Wagen der Gottheit die Milchstraße noch auf Baltrum Waogenpat, das Wagengeleise nennt, im Gröningerlande aber Kaupat (Kuhweg), und wie für den Namen Wodan zugleich eine Göttin eintritt, die nach diesem Wagen benannte Frû Waogen (Kuhn, nordd. Sag. pag. 457, 519), ebenso gilt auch am Schaffhauser Rheinfall noch die Tradition, ein Wagen mit Rindern bespannt, soll dreimal die Stadt umfahren haben, bald auf der Erde, bald in der Luft, und durch seine Richtung nach Rechts Gutes, durch seine Linkswendung Böses verkündet haben. Kohlrusch, Schweiz. Sagen-B. 1, 341. Wir können den Glauben an diesen Gotteswagen noch bis in unsere Zeit verfolgen. Der politische Brauch hat in den oberitalienischen Städten den

Digitized by Google

Carroccio oder Fahnenwagen daraus gemacht; der kirchliche Brauch hat ihn in einen Prozessionswagen verwandelt, wie derjenige, genannt la Barra, zu Messina und Palermo ist an Mariä Himmelfahrt, der lebende Kinder auf seiner höchsten Mondscheibe trägt. Beim Frühlingsumgang singen unsere eigenen Landeskinder noch von diesem (Simrock, KindB., No. 487): Wir wünschen dem Herrn einen goldenen Wagen, damit soll er ins Himmelreich fahren. Das schles. Christkindlein sagt in den Häusern bei seiner Bescheerung:

Geh hinaus zu meinem Roß und Wagen
Und hol herein die Gottesgaben.
Wir haben draußen stehn einen schönen Wagen,
Der ist mit lauter Gold und Silber beschlagen.

Weinhold, Weihnacht-Sp. 36, 38, 40. Dieser Geisterwagen ist, wenn er durch die Stadt Freiburg fährt, vierspännig und so angefüllt mit Leuten, daß manche nur noch auf der Langwied Platz finden. Baader, bad. Sag., No. 56. Aus seinem Innern tönt eine wunderschöne Musik: Stöber, elsaß. Sag., No. 206. Ohne daß man ein Rad hört oder ein Radgleis sieht, fährt er unter lieblicher Musik die Kreuzberger Nonnen mit Schimmeln und Rappen dreimal um den Marktplatz. Bechstein, DSagb., No. 252. Eine gläserne Kutsche und eine kleine goldene liegt unterirdisch: Bechstein, Thüring. Sag. 2, pag. 124, 150; aber dem Teufel zerbricht die gläserne Kutsche bei Bielefeld: Firmenich 1, 274 b. Eine Kristallkutsche fährt am Römerweg: Stöber, elsaß. Sag., No. 119 (Romweg heißt uns die Milchstraße). Ein Triumphwagen geht über die Tuchelhaide: Tettau-Temme, preuß. Sag., No. 190. Unter dem Kloster Eldena steht die Christnachtskutsche, ibid. No. 237.

Der Wagen der Verdammniß entwickelt sich nothwendig aus diesem Götterwagen. Der Gothe Athanarich († 382) ließ auf ihm des Gottes Bildsäule an den Häusern der Christen umher fahren, um diese unter die Räder zum Zermalmen werfen zu lassen. Geilers von Keisersberg Ameise (Straßburg bei Grüninger 1517) hat auf dem Titelblatte zum „Wütischen Heer", Bl. 38, die Abbildung eines großen Leiterwagens, in welchem ein Mann auf dem Kopfe steht. Auch in dem Todtentanz von C. und R. Meyer (Zürich 1650) fährt, Bl. 53, der Todesgott in einem Wagen, zwei Hirsche vorgespannt, dem Walde zu. Geiler scheint noch beiderlei Wagen unterscheiden zu wollen. Er äußert über den einen in der Predigt Der hellisch Löw (Straßb. bei Schürer): bey dem karren oder wagen so verstat man das her, da David spricht im psalter: der karr gottes ist zehentausent manigfaltig. Im übrigen aber redet er mehr von demjenigen der Verdammniß: Die zyehendt hye einen karren der vnruow vnd dört einen wagen der ewigen verdamnüß. Seel-Paradies Bl. 210 b. Alle menschen vol lasteren die werden innen des musters der hellen, das ist denn der wagen. Bl. 231. Gleiches äußert Cyriac. Spangenberg im Ehespiegel (Straßb. 1578) pag. 13, und unsere Volksrede sagt von einem grundschlechten Menschen, er sei „dem Tüfel ab dem Charre g'heit." Daraus wird der in den Sagen so oft genannte Hellwagen (vgl. Kuhn, nordd. Sag. No. 199), der rappenbespannte Wagen Kölns, der in den Gürzenich fährt (Weyden, Kölns Vorzeit 207), der dreirädrige mit einem Siebengespann (also entsprechend dem Vorbilde des Siebengestirnes: Schöppner, bayr. Sag. 1, pag. 315, No. 384). Dieser

Digitized by Google

Wagen fährt oft einem bestimmten Wirthshause zu: Schnezler, bad. Sagb. 2, 205; oder er wird ohne Deichsel an der Ortskirche herum geschoben: ibid. 2, 694. Oft ist es nur ein einzelnes Rad, welches feurig bergan läuft (Panzer, bayr. Sag. 1, No. 36); oft ist dieses Feuerrad ein Höhlengeist, wie der Osnabrügger-Alke, der zu Roß bekämpft werden muß (Viehoff, Archiv für neue Sprachen 1851, 117); oft sind es große vierrädrige Wagen (Harry, ndsächs. Sag. 1, No. 52. Schambach-Müller, ndsächs. Sag. No. 82); oder es ist ein ganz kleiner eisengeschmiedeter ex voto-Wagen, wie er in der Kirche zu Pielenhofen aufbewahrt wird (Panzer 1, No. 140). Oder endlich der Wagen ist zerbrochen, und Frau Perchta verlangt, daß ein Begegnender ihr den Wagen verkeile, die Wagendeichsel verpflöcke (Börner, Orlagau-Sag. 173. 182). Am häufigsten denkt man sich nun noch bloße Kutschen. Statt der beinahe zahllosen solcher Art nenne ich eine aus meiner Nachbarschaft. Auf der Herenwiese zu Prattelen, Kant. Baselland, zeigt sich eine schwarze leere Kutsche, die gewöhnlich als Vorbote eines Todesfalls erscheint; hört man aber nur ihr Gerassel, so bedeutet's schlechtes Wetter. Kohlrusch, schweiz. Sagb. 1, 375. Man bemerkt also, daß sich Witterungsbeobachtungen noch zuletzt an die Sage vom Wagen anknüpfen, wie sie selber ursprünglich zusammenfällt mit der Beobachtung des Sternenlaufes und Sterneneinflusses. Diesen Zusammenhang hatte Klopstocks liebevolle Versenkung in unser ihm noch unaufgeschlossenes Alterthum voraus geahnt; im Bardiet seiner Hermannsschlacht verkörpert er nämlich den diesem Cultus vom Götterwagen innewohnenden Begriff in folgendes Gleichniß:

Die Räder an dem Kriegeswagen Wodans
Rauschen, wie des Waldes Ströme die Gebirg' herab.

In diesem Sinne erzählt man auch vom Schimmelritter zu Liestal (Abthl. VIII, No. 344), seine Stimme gleiche der gedämpften Sprache vieler versammelter Männer, oder dem Wasserrauschen über hohe Felsenwände.

## 166 c. Radspuren auf den Hochgebirgen.

In No. 120 wird behauptet, es habe einst auf dem Grat des Küttiger-Jura eine Hochstraße, befahrbar mit Roß und Wagen, aus den hintern Bergen her bis nach Biberstein hinab an die Aare geführt. Der Graubündner Chronist Campell, der im 16. Jahrh. schrieb, berichtet, noch in seiner Zeit habe man im Oberengadin beim Silsersee und auf dem Julierberge Spuren einer großen Heerstraße und im Fels des Urgebirges die Geleise von Wagenrädern gesehen. Auch der französische Gesandte Paschal in seiner Legatio Rhæt. spricht von diesen Wagengleisen auf dem Julier. Aehnliche Spuren will man auch in Oberhalbstein entdeckt haben. Röder-Tscharner, Kant. Graubünden 1, 96. Die Römerstraße über den Julier und Septimer mag allerdings hier vorbei geführt haben; die Sage aber von solcherlei Hochstraßen und Radspuren in den Schneewüsten der Firnenwelt ist allgemein, namentlich häufig am Monte Rosa und Bernhard, und hat in den Waldkantonen großen, kaum einmal erstiegenen Fels-Einöden den Namen der Karrenwege gegeben. Dies beweist, daß man die Gebirge und höchsten Grenzpunkte einer Landschaft als den Scheideweg ansieht, den der Gott bestimmt und zuerst befahren hat, oder von dem aus er gen

Digitized by Google

Himmel gefahren ist. In solchem Sinne heißt den Alten Götterwagen (Plinius, hist. nat. 2, c. 110) jener äußerste äthiopische Berggipfel, den die unter Hanno's Regierung versuchte carthagische Entdeckungsexpedition erreicht haben soll, und welchen Heeren (Ideen 2, Abthl. 1, 521) am Senegal sucht. Roßwagen heißt das 5800 Fuß hohe Tyrolergebirge im Etschkreise; Teufelskarrweg eine querlaufende Felsenschichtung mit tiefen Einschnitten an den Wänden des Thunersees. Jahn, Kant. Bern 276. Die Jungfrau Maria kommt mit dem Christuskinde auf einem Wagen über das Solothurner-Juragebirge bis zum Obern Hauenstein gefahren. In jener Gegend, wo man nachmals den Berg erst durchhauen und Fußgängerbrücken an Ketten zwischen die Wände hinein hat hängen müßen, begegnet sie zu Wagen einem Jäger und giebt diesem dadurch Veranlassung zur Gründung des Klösterleins Schönthal (i. J. 1130) unterhalb der Alpe Kirchzimmern. Das noch vorhandene Kirchlein ist jetzt in eine Scheune verwandelt, am steinernen Portale erkennt man noch ein den Wagen ziehendes Lamm. Hanhart, Schweiz. Gesch. 1, 158. Ein tiefer Felseinschnitt am Säntis, da wo man in der Höhe von 6680 Fuß zu den obern Meßmerhütten aufsteigt, heißt die Wagenlücke. Dies gleicht dem Rennpfad Hütchens, der sich über Gebirge und Wälder gerade hinzog (Grimm, DS. 1, 100), dem chemin des fées, dem Tröllaskeid, dem curriculum gigantum. Myth. 476. Die Sage liebt ihre Beziehungen oft auch nur in negativer und verschleierter Weise auszudrücken. Solcherlei Behauptungen halb geheimnißvoll, halb neckisch lautend, besagen Gleiches wie die obigen direct lautenden; darunter gehören nachfolgende:

Auf dem Luzerner-Emmenhorn liegt im Sodbrunnen ein goldener Wagen, den der Burgherr sich aus denjenigen Schätzen schmiedete, die er den nach Rom Pilgernden abnahm. Reithard, Sag. der Schweiz 222. Im Zireinersee am Sonnenwendjoche in den Meraner-Gebirgen liegt ein goldener Wagen. Wolf, Ztschr. 2, 351. Am Firstmisberge liegt ein goldener Wagen (Stöber, elsäß. Sag. No. 76). Die Urner-Gemeinde Seedorf nennt den Berg, an welchem sie wohnt, Gutschenberg. Im Hügel zu Gerzensee steckt der Schatzwagen und schaut in der Osternacht mit der Deichsel auf der Morgenseite des Raines hervor (Wyß, Idyll. 2, 334). Auf dem Gipfel des hessischen Osternsteines sind Felsblöcke, die ihre jetzige Form nicht aus der Hand der Natur erhalten haben und deren Namen auch auf Opferstätten deuten; eine Spalte heißt Backofen, die andere Bratpfanne, eine dritte die Kutsche. Man entzündet droben die Osterfeuer. Colshorn, Myth. 304. Anno 1694 fuhr ein Tiroler-Fuhrmann mit einem Wagen voll Wein in den Untersberg, sah aber den Kaiser Rothbart dorten nicht. Durch den letzten unterirdischen Gang des Thurmberges zu Durlach hat man sechsspännig fahren können. Mone, Anzeig. 1838, 476. Am Thore der Schloßkapelle zu Eisenbach sind noch die Radspuren im Stein zu sehen von dem Wagen, mit welchem der feindselige Bruder hier durch die Kirche seine Ausfahrt nahm, um dem andern Bruder niemals begegnen zu müßen. Wolf, hess. Sag. No. 246.

Vgl. die in Abthl. X, „Bärlisgrub" No. 440 gegebene Erklärung über die striemenweise erscheinende Frühreife in Saatfeldern.

Digitized by Google

## 166 d. Der W. Jäger im Wiggernthale.

In der Nähe der Stadt Zofingen nennt man im Finkenhardwalde einen Hügel das Schloß Finkenstein. Ein da hervorragendes Stück Nagelfluh giebt man für den letzten Mauerrest der versunkenen Burg aus; es sei, sagt man, durch die Länge der Zeit zu dieser unsprengbaren Masse verhärtet worden. Ein ziemlich neues Häuschen steht in der Nähe, und man behauptet, der Eigenthümer habe es nur zu dem Zwecke erbaut, um hier unangefochten von der wachsamen Obrigkeit auf eigenem Grund und Boden den darinnen verborgenen Schätzen nachgraben zu können. Bei jenem Nagelfluhblock nämlich, auf der Nordostseite des Hügels, soll sich noch ein verschütteter Eingang verrathen, der im Innern zu einem eisernen Thore führt, und wer durch dieses einzudringen vermöchte, der würde in dem unterirdischen Gange von hier aus bis unter das Chorherrenstift in Zofingen gelangen. Die Ritterschaft von Finkenstein kommt des Nachts in zwei bis drei Kutschen vor das obere Thor von Zofingen gefahren. Wenn da ehemals die Thorwächter das Wiehern, Peitschenknallen und ein vielhufiges Herantraben hörten, sprangen sie eilig zum Thore, und hofften durch schnelles Oeffnen ein gutes Trinkgeld zu verdienen. Dann aber jagte der ganze Zug mit grausigem Geheule, statt durchs Thor, entweder um den Stadtgraben herum, oder er fuhr durch die Luft über das Thor weg und setzte erst beim Rothen Häuschen aufs Straßenpflaster auf. Von da fuhren sie hinauf zur Stadtschreiberei und zum St. Urbanshof, lauter schwarze Männer saßen drinnen, alle hauptlos. Aus dem Kopfe, den sie unter dem Arme hielten, schaute ein stechender feuriger Blick. Die Kutschenräder ächzten unter ihrer schweren Last.

Eine andere Kutsche von ähnlicher Art kommt von der Ruine von Botenstein her (vergl. No. 106), ungefähr eine Stunde von Zofingen entfernt, und fährt achtspännig nach Botenwil durch den Forst zu einer anderen Burg hinüber, welche Hargart geheißen haben soll. Das Knallen der Peitschen, Bellen der Hunde, das Tosen und Rasseln der Wagenräder und das Hallogeschrei der Jäger soll in diesen Waldstrichen oft ins Furchtbare anwachsen. Rechts an der Straße im Thal steht ein vereinzeltes zum Dorfe Botenwil gehörendes Haus. Bis auf unsere Zeit hat dasselbe niemals ein Thor an seiner Scheuer haben können, immer mußte es seine Tenne offen halten. Denn gerade durch diese hindurch kommen die Jäger im schärfsten Galopp gesprengt und hinter ihnen die ganze Meute weißer Hunde. Der Jäger, der sie anführt, heißt der Landluegi, er beschaut des Nachts alle Landstriche, Wald und Feld (vgl. No. 94, der Lochluegenjäger), und wer ihm seinen Weidschrei nachzuspotten wagt, dem schleudert er einen Roßknochen ins Bett. Die Folge davon ist aber, daß man lahme Glieder bekommt. Auf jener Ruine Botenstein beschworen einst drei Männer aus Zofingen den Teufel um Geld; der eine hieng dazu eine Kuhhaut mit den Hörnern um, der andere setzte sich mitten in den Kreis auf einen Hafen, und der dritte sagte dazu das Christoffelgebet her. Sie erhielten so wirklich Geld, aber einen bloßen einzigen Rappen. In dem Streite, den sie über dessen Besitz erhoben, verlautete ihr Unternehmen, sie wurden eingezogen und der Rädelsführer mußte in seiner Kuhhaut nach Bern ins Schellenwerk (Zuchthaus) marschieren.

Digitized by Google

Südwestlich gegen Zofingen her hört man häufig in trüben Nächten ein heftiges Kanonieren aus vielen Geschützen; dies sind die Rothenburger. Auf dem Weißenberge hört man sie förmlich exercieren, Trompete, Trommel und Kommandoruf fehlt nicht. Nach der gewöhnlichen Erklärung sind die Rothenburger Schloßherren im benachbarten Solothurnerlande gewesen, und haben zur Strafe ihrer vielen grausamen Fehden nun auch im Tode ihr raufluſtiges Wesen fort zu treiben.

Noch ein anderer Zug der W. Jagd ist dem Wiggernthale gleichfalls bekannt, das Gutes Heer. Dasselbe geht bis nach Niederwil an die Aare hinab. Dorten zeigen sich Ueberreste alter Erdschanzen, die vom Flusse weg über den Buchrain quer durchs Thal gereicht und es gegen einen andringenden Feind abgesperrt haben sollen. Dieser gefürchtete Feind war der Dietrich und ihm zum Hohne heißt die Hauptstelle jenes Walles im Walde Dietewart, Dietrichs Warte. Bei jeder Witterungsänderung hört man hier Trompeten und Waffengetöse.

Digitized by Google

# IV. Schatzhöhlen.

## 167. Die Schlüsseljungfrau von Schloß Tegerfelden.

Der Weg von dem Aargauer-Dorfe Tegerfelden zum benachbarten Marktflecken Zurzach am schweizerischen Rheinufer führt über waldige Ausläufer des Jura an einer vereinzelten Felsenhöhe vorbei, von welcher die Ruinen der Ritterburg Tegerfelden herunter schauen. Der Bergkegel, der sich frei aus der Landschaft emporhebt und ringsum unzugänglich erscheint, bildet hier eine Wasserburg und eine Felsenveste zugleich. Von Osten umzieht ihn das Surbflüßchen und stürzt dann in einem tiefen Rinnsal über Klippen und Geschiebe am Berge vorbei und mit großem Brausen der nahen Mündung zu. Westwärts schirmt ihn eine künstlich angelegte Linie von Gewässern, die man in ihrer jetzigen Versumpfung den Cheibengraben nennt; in diesem Becken sammeln sich die Abwasser einer großen Ebene, des benachbarten Ruckfeldes, und lassen den Feldbach daraus entspringen. Die dritte Burgseite schließt sich mit einer scharfen Kante des Berges ab, welche zu so jähen Flühen ansteigt, daß deren eine, die am verwegensten droben überhängt, die Teufelsbrücke heißt. Auf den luftigen Zacken dieser Felsenscheitel liegen die Ueberreste eines alten Baues, dessen bloße Trümmer jetzt noch einen Umfang von sieben Minuten haben. Laubwald ist ringsum bis zu den Vorwerken empor gestiegen, die Mauerlücken überbüschend. Unterholz und Gestrüppe bedeckt den Hof, dazwischen entdeckt man Spuren ehemaliger Kieselpflasterung. Jeder starke Tritt dröhnt unter dem Fuße nach und läßt auf die eingesunkenen Gewölbe im Innern schließen. Die Brustwehren sind bis auf Weniges mit dem Gerölle der steilen Halde abgebröckelt, auf der sie ruhen sollten; drunten aber haben sie den doppelten Wallgraben fast zum Rande ausgeebnet, der in Nagelfluh gehauen ums Schloß geht und es einst vor Anfällen aus dem Ruckfelde her sicherte. So steht nichts mehr von Allem aufrecht als droben auf der Spitze die gewaltige Scharte eines viereckigen Wartthurmes. Er ist aus jenem rothen Juragestein gebaut, wie es die Steinbrüche im benachbarten Sennenloch unerschöpflich seit der Römer Zeiten bis heute fortgeliefert haben; recht ritterlich hebt sich der Thurm in seiner eisenbraunen verwitterten Färbung ab gegen das lebhafte Grün junger Erlen- und Eichenwipfel zu seinen Füßen.

Digitized by Google

Aus dem Rittergeschlechte, das einst hier oben gehauſet hat, weiß die Landesgeſchichte nur den einen Konrad von Tegerfelden zu nennen, und ſobald ſie ſeines dunkeln Schickſals Erwähnung gethan hat, berührt ſie Stamm und Schloß mit keinem Worte wieder. Sie berichtet, wie Konrad Erzieher war und Waffenmeiſter jenes ungebändigten Herzogs Johann von Schwaben, den man den Parricida heißt; und wie er das Unglück gehabt hat, als deſſen Begleiter bei jener Mordſcene Augenzeuge geweſen zu ſein (Tſchudi 1, 91), da auf dem Reußfelde, bei Windiſch im Aargau, Kaiſer Albrecht von ſeinem eigenen Hofgefolge erſchlagen wurde und im Schooße eines armen Weibes verſchied. Die adeligen Uebelthäter entflohen darauf nach allen Weltgegenden. Aber während der Schrecken der Reichsacht ihnen auf den Ferſen ſaß, kam noch die Königstochter, die rauhe Agnes, gegen die Schlöſſer der Verſchworenen herangezogen, erſtürmte und ſchleifte ſie, und vollzog an den Hinterlaſſenen eine faſt'ausnahmsloſe Blutrache. So fiel damals auch dieſe Burg, indeſſen der entwichene Konrad drüben in den Schlupfwinkeln des Schwarzwaldes umirrte und ſpäter unter dem Kloſtergeſinde von Neresheim ſich barg. Dorten auf dem Neresheimer Härtfelde ſoll er unerkannt die Schafe der Abtei gehütet haben bis an ſein Lebensende. Namen und Geſchlecht erloſch mit ihm.

Alſo pflegt am Schluſſe folgenſchwerer Ereigniſſe die Geſchichte ihr Blatt ſchweigſam umzuſchlagen. Mit ruhevoller Ergebenheit wendet ſich ihr Auge bereits der neuen Entwicklung zu, und ſie wird auch deren erſchütternde Momente einſt in den gleichen Frieden unbetheiligter Weisheit aufzulöſen wiſſen.

Nicht ſo aber verfährt die weichere Seele des Volkes, ihr iſt ein ſolches hohes Vermögen nicht verliehen; ſie grübelt vielmehr weiter in dem Kummerbuche eines geſtürzten Herrenhauſes, um ſo forſchender, je herbere Dinge darinnen geſtanden haben mögen, je unleſerlicher dieſelben ſchon geworden ſind.

Der Landmann betrachtet darum die ſchmale Ackerlänge, die er pflügt, die Bauſtelle, auf der ſeine Strohhütte ſteht, jeden ſinkenden Gemarkungsſtein auf der Almende, wie mit der einſeitigen Neugier eines forſchenden Alterthümlers. Mit jedem Spatenſtiche gräbt er möglicherweiſe ein Stück ſeiner örtlichen Vorzeit mit aus, ſchon die Wurzeln eines alten Weidenſtrunkes auf der Hutung draußen können ein ſolches für ihn bedeckt und verwahrt halten. An dieſen unſcheinbaren Gegenſtänden ſeiner engen Umgebung erwirbt er ſich eine Gedächtnißkraft von ungewöhnlicher Schärfe. An ihnen ſucht er bis auf die früheſten Tage zurückzukommen und bei deren undeutlichem Zwiſt verweilt er am öfteſten. Da erfindet er ſich die ſtreitenden Parteien,

Digitized by Google

er stellt sie vor den improvisirten Gerichtshof seiner naiven Empfindung und hört sie umständlich ab. Und obschon er weiß, wie erfolglos sein Wahrspruch bleibt, so fährt er doch fort, solche Pulsschläge eines längst begrabenen Zornes nachzuzählen, die Athemzüge schon versteinerter Schmerzen sich zu wiederholen, sein Urtheil darüber mit gewohnter Stimmeneinhelligkeit zu fällen, das gewohnter Weise nur auf ewige Verdammniß oder nur auf ewige Seligkeit lauten wird. So drückt das Volk die Liebe zur Vorzeit aus; es thut wie eine königliche Artemisia, es mischt gleichfalls die theure Asche mit Wein. Je inniger dieses Andenken fortlebt, um so bescheidener, um so prunkloser drückt es sich aus; vor fremden Zuhörern ist es sogar stumm, und zutraulichen Fragern antwortet es nur mit kindlicher Scheu. Da will es dann Geringfügiges nicht vergrößern, das Unglaubliche nicht ins Begreifliche herab stimmen, sogar widerwärtig lautende Selbstanschuldigungen seiner Lieblinge sucht es kaum zu mildern oder zu verschleiern. So hat es eine Tugend vor dem Weltverstande voraus, der so laut auf seine nüchternen Erbsätze pocht; so zeigt es auch weniger von dem widrigen Beigeschmacke aller untern Stände, deren Urtheil nach der werthlosen Seite hin am meisten eitel und rechthaberisch zu sein pflegt. Wo zwei besondere Schutzgeister, Sage und Lied, ihr Dorfrecht ungeschmälert noch behauptet haben, da mag der Boden mager, die Tagesarbeit hart und der Himmel noch so rauh sein; gleichwohl ist da dem Landvolke die Enge seines Gesichtskreises nicht zugleich schon zur geistigen Schranke geworden. Das Auge hat dann am trübsten Gewölke immer noch einen sanft leuchtenden Rand zu bemerken. Aus der sichern Empfindung ächter Zusammengehörigkeit geht ein herzlichwarmes Gemeinde- und Landschaftsgefühl hervor, und wo dieses nur rege ist, da schweigen auch Heimatstolz und Vaterlandsliebe nicht, diese goldenen Wiegen des deutschen Sagen- und Liederschatzes. Ist daher die Burg droben am Berge seit Jahrhunderten schon niedergebrannt, so ist doch die Burgsage nicht mit eingeäschert. Ist die Chronik auch verloren und die Urkunde längst zerschnitten über das Freiengeschlecht auf der Veste, so wird doch der unscheinbare Mann, der nun am Burgstall unten die Reben bindet, aus der hundertjährigen Erinnerung seines unvermischten und gleichgebliebenen Lebens alles zu wiederholen vermögen, was jemals diese Grenzen des Gemeindebannes auch nur gestreift hat. Er kennt den Namen der Heidenstadt, die einst hier gelegen, ehe man Landkarten entwarf; er zeigt die Flußstelle, wo der einbrechende Hunne die Furt auf der Flucht verfehlte und ertrank; er zeigt die Staude her, von der sich der erste Bekehrer dieses Gaues ein Kreuz aus Haselstäben schnitt. Sogar den Lauf jener Straße, welche die Römer

angelegt, verfolgt er mit der Genauigkeit eines Feldmessers, obwohl der alte Heerweg im Moorboden versunken liegt und mit tiefem Walde überdeckt ist. Mit jedem Quader, den man von der Ruine herunter holt, um ihn in den Neubau der Dorfkapelle einzufügen, wandert daher auch eine Rittergestalt neuerdings zu Thal. Und wenn sie den Winter über in Spinnstube und Heimgarten den Abendgesprächen zugehorcht hat, wird die Nebelhafte allmählich ins Große wachsen, ihren besondern Namen empfangen, sich bis zur Wärme des eigenen Herzschlags verfeinern, bis sie schon nächstes Frühjahr mit dem ersten Ziegenhirten wieder zum Wartthurm hinauf steigt. Abermals hält dann die Sage waffenklirrend oder schleierweiß ihren neuen Umgang durch die Trümmer.

Wer Lust hat, diesen bescheidenen Seelenfrühling mit zu betrachten, wie er bei einem still lebenden Völklein der Schweiz alljährlich neu einkehrt, der weiß bereits, daß man dabei nicht heftigen Gemüthserregungen und kühnen Kunstwirkungen begegnen wird; ihm genügt vielmehr die unnachahmliche und frische Einfachheit der paar heimatlichen Feldblumen, welche sich dem Sammler so ungezwungen zum Kranze vereinigt haben, wie er ihn hiemit vorlegt.

Wer ehedem von den Ortschaften Klingnau und Döttingen her Nachts noch ins Nachbardorf Tegerfelden gehen mußte und des Weges, der an mancherlei Gewässer hinführt, sicher bleiben wollte, der verließ sich dabei herkömmlich auf ein Zeichen, welches nie täuschte. Es schimmerte ihm von weitem aus der Tegerfelder Ruine ein Licht entgegen, und je näher er kam, um so größer wuchs es droben in einem einzelnen hell erleuchteten Fenster. War es dann noch, als ob auch die Töne einer Frauenstimme den Berg herab zögen, bald schaurig, bald süß klingend, da wußte der einsame Wanderer, daß er jetzt das Surbflüßchen zu vermeiden und von da nur noch wenige Schritte ins Dorf habe. Ah, die Schlüsseljungfrau! sprach er dann bei sich selbst, und dankbar gestimmt gegen diese sichere Führung lenkte er dem gesuchten Hause zu. Jener erhellte Fensterbogen ist nun auch zusammengestürzt, die Schlüsseljungfrau aber lebt wie vordem in aller Munde fort. Sie ist des Burgherrn berühmte Tochter; der Ruf von ihrer Schönheit gieng einst weit durchs Land. Aber mitten in den Reizen ihrer Jugend starb sie einem Jüngling nach, der ihr Herz gewonnen hatte, und den der Ahnenstolz ihrer Familie darüber in einen schauderhaften Tod schickte. Schneeweiß gekleidet und mit fliegenden Haaren, wie man das arme Mädchen damals in die Gruft gelegt hat, irrt sie noch immer ungetröstet um den ausgestorbenen Schloßberg. Rings umgeht sie oben die Zacken der Burg oder unten den Uferrand der Surbe, seit Jahr-

Digitized by Google

hunderten schon wandelt sie unveränderlich die gleiche Bahn. Obschon man vor Langem das wilde Flüßchen durch Wuhrungen beschränkt hat und so seinen ungestümen Lauf näher an den Berg hin trieb, so ist doch auch jetzt noch die Jungfrau ihrem ursprünglichen Pfade treu geblieben; sie schwebt über den neu entstandenen Wassersturz gerade so weg, als ob sie noch auf ihrer ebenen Straße gienge. Dabei ist sie gar lieb und gütig. Immer noch wächst der Goldhaufen in ihren Schatzkammern höher, aufgelagert liegt der Wein der ganzen Landschaft in ihren Kellern; und erst, wenn sie einmal alle diese Reichthümer vertheilt hat, sagt man, wird der beherzte Mann sich finden lassen, dem es allein am Ruhme seiner Wagethat genügt und dem das uneigennützige Werk der Erlösung nicht mehr mißlingt. Darum wendet sie sich auch so besonders an die Kinderwelt, denn von deren geizloser Unschuld kann sie ihr einstiges Heil noch erwarten, und Erwachsenen, die ihr etwa begegnen, weicht sie eher aus. So hat sie jüngst erst ein Schulkind reichlich beschenkt, das am Wasser Maienrieschen suchte, und hat ihm die längsten Märchen vorerzählt. Ein anderes hatte Leseholz am Burgstall gesammelt und zu einer Bürde gebunden. Als es die Tracht auf den Rücken schwingen wollte, kam die Jungfrau hurtig den Abhang herab und sprach freundlich: Wart doch nur und laß dir helfen! Aber dem armen Kleinen entsank Gertel und Reißholz, erschrocken lief es Staub aus. Will man sich die nun folgenden Erzählungen in ihrer Treue beglaubigen, so denke man sich zu dem Tone ihrer ländlichen Einfalt jenen achtzigjährigen Mann noch hinzu, aus dessen bewunderungswürdigem Gedächtnisse sie alle der Reihe nach stammen.

Unbemittelte Leute hatten ihrem Knaben eines Morgens ein Stück Brod in den Sack gesteckt und die Ziegen dazu übergeben, daß er sie im Gehölze des Schloßberges weide und nicht vor Abend heim bringe. Als das Bübchen draußen sein Brod gar bald heraus zog, fiel es ihm ein, wie gut dazu die Erdbeeren droben an der Schloßmauer schmecken müßten, und so kletterte er gegen die Ecke des Thurmes empor. Hier sah er eine schlanke Frauengestalt, die abgewendet von ihm eben beschäftigt war, zwei blendend weiße Leintücher auf dem Boden auszubreiten. Daneben hatte sie noch zwei zierliche Säckchen stehen, die den Knaben an jene Viertelsäcke oder Stümplein erinnerten, in denen der arme Mann sein Korn viertelsweise zur Mühle bringt. Als sie mit dem Ausbreiten der Tücher fertig war, öffnete sie den Knoten der Säckchen; der eine lag gehäuft voll gelber Bohnen, der andere bis oben voll weißer. Diese schüttete sie breit auf die Tücher hin, und kaum lagen sie geebnet bis aufs letzte in der Sonne, so kam ein

schwarzes Hündchen aus der Mauer vorgesprungen und legte sich zwischen beide Bohnenhaufen mitten hinein. Nun ward es aber zugleich des Knaben ansichtig und kroch bellend gegen ihn heran. Das unbefangene Büblein erinnerte sich eines Wortes von seinem Vater, der in seiner Spruchweisheit zu sagen pflegte: **Me muess de böse Hünde Wegge-n-is Mûl rüere** (man soll bissigen Hunden einen Brocken ins Maul werfen) und getreu dieser Regel warf er ihm einen Bissen von seinem Schwarzbrod entgegen. Das Stückchen fiel aber von ungefähr auf eines der Tücher, und im gleichen Augenblicke kehrte sich die Jungfrau um, bot dem Kleinen gerührt die Hand und sprach zu ihm: O du guter Junge, du bringst mich jetzt um hundert Jahre dem Himmel näher! Schnell geh, rufe Vater und Mutter, sag ihnen, sie sollen kommen und Karren mitbringen, die Schloßjungfrau habe es befohlen! Der Knabe gieng so eilig er konnte, und brachte die Eltern mit zwei Schiebkarren herbei. Der Mann las hier die gelben Böhnlein, die Frau die weißen auf, sie füllten beide Säckchen, knüpften jedes gut zu und schoben sie heim. So geringfügig der Fund war, so herzlich freuten sie sich zusammen auf dem Wege über diesen Halbmütt Bohnen, zu dem sie so unverhofft gekommen waren. Aber sobald sie damit die Dachtraufe ihres Hauses erreichten, wurden die Säcklein steinschwer, schwollen und wuchsen an und sprengten ihren Knopf. Da rollten vom Karren des Mannes lauter Goldstücke, von dem der Mutter lauter Brabänterthaler herunter. So waren sie seitdem reiche Leute im Thale. Aus Dankbarkeit stifteten sie der mildthätigen Jungfrau zwei Seelenmessen. Diese wurden noch lange nach dem Tode des Ehepaares alljährlich in der Dorfkirche gelesen, bis endlich auch hier zu Lande die Glaubensänderung um sich griff. Da nun zwei Religionsparteien im Dorfe entstanden, die ihr ehemaliges Kirchengut zu sondern strebten, aber über dessen Theilungsweise nicht einig werden konnten, so wollte es der Zufall, daß der Landvogt in Baden, dem zuletzt der Entscheid darüber zufiel, gerade selber der neuen Lehre angehörte. Er war aus der reformationseifrigen Stadt Zürich gebürtig und soll Geßler oder Geßner geheißen haben. So übergab denn dieser das Kirchengut, anstatt es gleichmäßig auf die Köpfe in der Gemeinde zu vertheilen, an die ihm näher stehende reformirte Dorfpartei, und diese ließ dann neben andern frommen Bräuchen die für die Jungfrau gestifteten Seelenmessen auf immer eingehen.

Nicht anders mißrieth es der Jungfrau, als sie ihre Erlösung zu finden meinte, wenn sie sich von dem Geschlechte der Unbemittelten noch eine Schichte tiefer zu dem der ganz verlassenen Armuth wenden würde. An jenem Waldplatze, wo einst die Bohnen sich in Gold ver-

Digitized by Google

wandelt hatten, hielten sich zur Sommerszeit oftmals Heimatlose auf, nomadenhaft lebende Banden von dunkler Abkunft, welche sich meistens nur vom Korbflechten fristen und deswegen auf dem Lande Körber genannt werden. Ein junger Mann aus einer solchen Sippschaft schnitt auf dieser Stelle Erlenruthen. Dabei hörte er sich von einer eindringlichen Frauenstimme mit Namen genannt und aufgefordert, folgenden Tages um dieselbe Zeit wieder hier zu sein, um ein gutes Werk zu thun und dafür dann selber ein Kind der Seligkeit zu werden. Der Mann willigte in dieses Begehren, was aber seine eigene Seligkeit anbelange, so erklärte er, diese dereinst zwar von Herzen zu wünschen, im übrigen jedoch noch so lange leben zu wollen, als es Gott gefallen werde. Als er mit nächstem Abend wieder zur Stelle war, sah er, wie sich eine schöne Mädchenhand unter einem Fels hervor ihm entgegen bot, und dieselbe helle Stimme wie gestern sprach dazu: Nun gieb mir noch die Hand, dann ist's vorüber! Den Körber aber wandelte ein plötzliches Grauen an und er antwortete mit der Weigerungsformel seiner massiven Bauernsprache: Nei, d'Hand gedder nöd, seh, do häsch de Rockfäckde! und damit hielt er wirklich den Zipfel seines Zwilchrockes breit gegen jene Hand hin. Aber sogleich bog sich ihm der Rockschoß wie unter einem darauf liegenden Gewichte um, es klirrte auf dem Gestein und der Waldboden war rings mit Goldstücken überstreut. Gierig fiel der Bettler über das Gold her und machte sich davon. So war der Körber von Stund an ein wohlhabender Mann, er konnte die Seinen nicht bloß redlich nähren, sondern sie sind auch lange schon aus Heimatlosen haushäblich angesessene Bauern in der Umgegend geworden. Er selbst soll indeß nur noch zehn Jahre gelebt haben. Mit einem gewissen Ahnenstolze erzählen seine Nachkommen noch jetzt von dieser eigenthümlichen Entstehungsgeschichte ihres schweizerischen Bürgerrechtes. Die Jungfrau mußte auf einem andern Weg es versuchen, die befangenen und habsüchtigen Menschen zur Erreichung ihres Wunsches willig zu stimmen.

Im Frühling, wenn die Bäume ausschlagen, kommt sie hervor aus ihrer unterirdischen Wohnung, streift mit der Hand den Blüthenstaub von den Weidenkätzchen und streut ihn dann in die strudelnde Surbe. Da gehört ihr dann jedes Fischchen im Bache, jede Amsel im Busche. Schaarenweise fahren die Forellen aus der Tiefe und haschen nach der duftigen Leckerspeise. Da horcht sie Alles aus den Wellen heraus, die Wasserhühnlein sagen es ihr, was die Menschen über sie meinen und reden. Die Dämmerungsvögel kommen mit aus den Mauerritzen herab, und man hat gesehen, wie ihr ein Rabe dabei auf der Schulter sitzt. Dann beginnt sie heilkräftige Blumen zu pflanzen,

Digitized by Google

aus denen man allerlei Tränke kocht für Mensch und Thier. Das Kuchenblümlein (Anemona pulsatilla), welches seine Maien hat, ehe es noch Blätter gewinnt, wächst hier unter ihrer Hand; sie setzt manches Hundert Engelsüßstöckchen von solcher Kraft und Würze, wie es weder drüben auf der sonnigen Eck, noch auf dem Stutz gedeiht. Gar eifrig streben die Wurzelsammler dieser Pflanze nach, denn ganze Tage dauert man auf der Wanderschaft aus ohne eine andere Zehrung zu brauchen, wenn man einen Stengel der Art im Munde hat. Aber diese ausbündigen Stöcklein sind nicht gerade leicht zu finden, denn die Jungfrau braucht sie selber, um damit die große Schaar von Kindern zu stillen, die sie im Berge bei sich hat. In einem ihrer Gewölbe steht nämlich der Kleinkindertrog und darinnen wohnen alle Ungebornen. Soll nun die Hebamme von Tegerfelden wieder einmal ein kleines Kind ins Dorf bringen, so kann sie es nicht etwa nach Belieben hier nur abholen, sondern muß es manche Woche vorher sammt dem Namen derjenigen Eltern, die sich ein solches wünschen, ordentlich anmelden. Verdienen sie eines, dann erhält die Ammenfrau den goldenen Schlüssel, der den Kindertrog aufschließt; die Kleinen aber sind so sehr an die Schloßjungfrau gewöhnt, daß sie sich gar nicht von ihr trennen wollen, und deßwegen weinen sie auch so kläglich, wenn man sie der Mutter zubringt. Stirbt hernach den Leuten ein solches Kindlein noch ungetauft, so kommt es wieder ins Schloß zurück und in denselben Trog hinein; stirbt es aber erst nach etlichen Wochen, oder nimmt es die Jungfrau sonst wieder zu sich, weil die Menschen sein nicht werth gewesen, so hat es nicht mehr in seinem vorigen Troge Platz, sondern kommt in einen andern, der tiefer innen im Berge ist. Da aber wird es dann mit Honig aufgenährt. So oft darum ein Immenstock im Dorfe stößt, schwärmt er regelmäßig zu den Eichen des Schloßberges und setzt hier den Seim für die Kinder ab.

So gieng einst die Jungfrau ungesehen der Wartung ihrer Frühlingsblumen nach, als ein Halbbauer, der nur ein paar Stücklein Pflanzland besaß und einen Haufen unerzogener Kinder dazu, angelnd drunten am Graben saß, um aus dem Erlös weniger Fische den Seinigen für heute Brod kaufen zu können. Da schwamm im Wasser ein Ringlein zu ihm heran und schimmerte, als wär's pur aus Goldrath geflochten; so wie er es aber heraus zog und näher beschaute, fand sich's, daß es nur aus einer blonden Haarflechte bestand, und enttäuscht warf er's wieder hinab. Augenblicklich stand die Jungfrau neben ihm und sprach: Geschwind nimm's wieder heraus, sonst machst du dich und mich unglücklich! Folgsam sprang der Mann der schwim-

Digitized by Google

menden Locke nach, holte sie und überreichte sie der Unbekannten. Sie drehte die Locke auf, da war's ein einziges langes Goldhaar, das bis auf den Boden reichte. Dies band sie ihm an die Angelschnur. Weil du so willig bist, so soll sie denn dein eigen sein, sagte sie zu ihm beim Weggehen, aber vergiß nun nicht, alle Wochen ein Vaterunser für uns Beide in der Stille zu beten. Natürlich versuchte jetzt der Verwunderte seine neue Angel sogleich. Sie spielte nicht lange, so gab's einen heftigen Ruck, er zog auf und eine beindicke Forelle hieng daran. Zum andernmal senkte er die Ruthe und abermals zappelte daran ein mächtiger Fisch. Jetzt sah er den Werth des Geschenkes ein; so oft er das Zauberhaar ins Wasser hielt, war der Fang gemacht, schnell wurden seine Lägel wimmelnd voll. So kam er denn alle Tage an die Surbe her, die Käufer rissen sich um seine köstliche Waare, ziemlich bald war der geringe Lehensbauer ein wohlhabender Mann. Allein dies ist eben leider der gewöhnliche Lauf der Dinge bei armen Menschen, daß mit dem beginnenden Reichthum meistens auch das Laster in ihre Hütten geräth. Der sonst so nüchterne Mann fieng an ein Trinker zu werden, er trieb das Kartenspiel und kam eine ganze Woche nicht vom Zechtische. So war's nothwendig, daß er in der Schenke Gott und die Jungfrau vergaß und damit auch sein wöchentliches Vaterunser. Zuletzt erschien die Verarmung wieder und trieb ihn an die Fangstelle zum Ufer der Surbe hinab. Er hatte ja die Angelschnur wohl aufbewahrt, und es schien ihm ein Leichtes, seinen zerrütteten Hausstand schnell zu bessern. So wie er diesmal die Haarschnur ins Wasser ließ, tauchte ein schwarzes Hündchen auf, schnapyte nach dem Goldhaar und biß es ab. Nicht eine geringste Grundel mehr war zu bekommen. Da erkannte er seine Versündigung. Aber roh, wie undankbare Seelen sind, schob er das Unheil nicht auf sein Wüstlingswesen, sondern nur auf das vergessene Vaterunser. So oft seine Gläubiger ihm den Schuldenboten ins Haus schickten, fuhr er sich vor die Stirne und wiederholte: Worum han i's Vatterunser nöd bätet! Man soll ihn zuletzt oberhalb der Wuhre ertrunken gefunden haben und meint, er habe sein Ende selber gesucht; denn sein Nachbar, der Locherhanseli, sah ihn lang nachher noch einmal angelnd dorten sitzen.

Ein wenig besser ergieng es einem Burschen, dessen sich die Jungfrau gleichfalls erbarmt hatte, da er in Nothstand gerathen war. Aber er wurde darüber hochmüthig und verfiel gar auf die alberne Einbildung, alles geschehe seinem besondern Werthe zu lieb, und die Jungfrau bewache ihn mit mädchenhafter Eifersucht als den ihrigen. Da mußte der thörichte Schlucker zuletzt auch erfahren, wie gröblich

Digitized by Google

er sich verstiegen hatte. Der Dorfschuster Krauskopf, schlechtweg Chrusli geheißen, hatte einen Gesellen, der gerne den Sonderling spielte. Anstatt bei seines Gleichen zu sein, machte er am Feierabend einsame Spaziergänge und sann allerlei Zukunftsplanen nach. Meister in einer Stadt zu werden, einen Lederhandel anzufangen, ihn ins Große zu treiben und von der Zurzacher-Messe aus das Geschäft bis in eine Seestadt auszudehnen, das waren so seine Handwerksgrillen. Er hieng ihnen einmal wieder recht ausführlich nach und befand sich darüber um Sonnenuntergang auf jenem Theile des Ruckfeldes, den man den Burgsten nennt, weil hier die Burgstallungen für die Herrenrosse gestanden haben sollen. Hier begegnete ihm eine unbekannte Frau in fremdartiger Tracht. In der einen Hand hielt sie einen Schlüsselbund, in der andern eine schlanke Gerte, auf dem Haupte aber hatte sie eine prächtige Glaskrone, in welcher seltsamer Weise ein großer Goldschlüssel, mehr wie zum Umdrehen, als zur Befestigung oder Zier des Haares steckte. Der Geselle hielt sie für sehr vornehm und trat ihr mit einer unterthänigen Verbeugung aus dem Pfade. Sie war schon einige Schritte an ihm vorüber, als sie sich wieder umkehrte und recht herablassend fragte: Bist du in hiesiger Gegend daheim? Er suchte alle seine Boutikenwörter zusammen und antwortete unter vielfachem Geräusper auf gut Tegerfeldisch: **Ech bin mit Vergaust und Verlaubt numme bim Schuobüetzer Chrûsli ûf em Hampferg und ûf der Arbet.** Da kannst du mir ja, sagte sie, wohl ein Paar Schuhe machen? aber bis nächsten Samstag schon müßten sie bestimmt fertig sein! **Jo frili, worum denn nöd; jo frili, sell cha scho si! —** wiederholte der geschwätzige Mensch; **wedder, wenn wär's üch öppe lieb, ass ech zue-n-üch chäme-n-is Hûs, cho 's Mäss z'neh? es möcht se halt doch dô nöd guet schicke.....** und damit deutete er auf den steinigen Boden, der hier allerdings für eine so schöne Frau wenig einladend aussah, niederzusitzen und sich das Maß nehmen zu lassen. Später einmal, sagte die Jungfrau ablehnend, später wird sich's schon noch geben, daß du auch in mein Haus kommen mußt; für diesmal machst du mir also Schuhe, hinten mit rothen Stöckchen, vornen mit rothen Laschen, aber das Vorgeschühe bleibt ungewichst. Der Bursche verstand jedoch noch immer nicht, was hier gemeint sei; also nahm er mit handwerkseifriger Behendigkeit seine Maßrahme hervor, rückte am Hute und sagte unter dem üblichen Knir: **No, so zieh'nd halt der Schuo ab, Jumpfere, wenn er wend so guet si.** Aber sie erwiederte von Neuem nachdrucksam: Ich habe bis heute noch gar nie Schuhe getragen und das eben sollen die ersten werden. Sie schien noch etwas Erklärendes beifügen zu wollen,

Digitized by Google

da ließ sich von der Schloßmauer her eine Nachtigall prächtig hören. Es ruft mir Jemand, ich muß schnell gehen, sagte sie, und damit entfernte sie sich unglaublich leicht und zierlich und war hinter den nächsten Bäumen verschwunden. Künftigen Samstag um dieselbe Abendstunde trug der Geselle sein fertiges Paar Stöckchenschuhe mit den bunten Laschen auf den Burgsten hinaus. Er war in seine Arbeit selber verliebt, so fein und sauber sah sie aus. Da wartete bereits die Jungfrau seiner, betrachtete die Schuhe in seiner Hand mit einem befriedigten Kennerblick und sagte: So bring denn über acht Tage auch deine Bürste mit, damit du mir noch das Vorgeschühe wichsen kannst; die Arbeit gefällt mir, und hier hast du einstweilen ein Drangeld. Flirfertig schwenkte auf dieses Wort der Schuster seine Schuhe in die linke Hand hinüber und hielt die rechte einem blanken Goldstück entgegen. Sie wollte ihm ein weiteres darauf legen, da aber schlug eben wieder jene Nachtigall, und gerade so schnell und leicht wie neulich war die Jungfrau abermals hinweg. Es war kein Schreiten, da sie sich entfernte, man konnte nicht einmal die Bewegungen eines Fußes wahrnehmen. Als er aber nächsten Samstag mit der Röthelbürste herausgekommen war, saß sie an einer Erle, hieß ihn alles Mitgebrachte abstellen und begann gar ernsthaft: Du errätyst freilich nicht, welch einen großen Dienst mir deine Willfährigkeit seit diesen zwei Wochen leistet, denn du weißt ja nicht, wer ich bin und wie mancherlei ich noch ferner von dir zu verlangen habe. Und nun erzählte sie ihm bis in die Nacht hinein die Geschichte ihrer Verzauberung. Wohl werde dies, schloß sie, das letztemal sein, daß sie mit ihm reden könne, denn sobald dieses Paar Schuhe durchgelaufen sei, werde sie nicht länger mehr zu wandeln haben. Gerathe er aber inzwischen in Nöthen, so möge er gleichwohl nur wiederkommen und auf jenem Pfeifchen blasen, das er dann hier auf dem Waldplatze finden werde. Darauf erscheine auch sie wieder, obschon dann nur noch schweigend. Müße er aber dennoch mit ihr reden, ihr ein Leid klagen, bedürfe er dringend ihres Rathes, so habe er nur den Schlüssel in ihrer Krone umzudrehen, und darauf werde sie denn auch der Sprache wieder mächtig.

Oft noch gieng dem Gesellen das Geld aus, und oft noch machte er sich in seinen Bedrängnissen auf den Burgsten und blies laut um Hülfe auf jenem Pfeifchen, das er dann allemal richtig auf dem Boden fand. Immer lag alsdann das ihm bestimmte Goldstück schon daneben. Allein gerade darüber stach ihn der alte Schalksnarr mehr und mehr, er wurde ein arbeitsscheuer Schwindler und Projektmacher und wußte nur noch den Dorfmädchen nachzustreichen. Für

so viele Schätzchen und so vielerlei Plane konnte das einzelne Goldstück nicht weit reichen. Sein Meister hatte ihn schon lange aus dem Dienste gejagt, das eigene Geschäft gedieh nicht, endlich gieng ihm das Wasser so an den Hals, daß er sich rathlos einer schimpflichen Lage preisgegeben sah, wenn er nicht der Jungfrau selber seinen Kummer klagen und sie um Trost bitten konnte. Mit einem Herzen, das ihm wohl sagte, wie unwürdig er sich ihrer Gunst gemacht habe, berief er sie diesmal. Sobald sie erschienen war, griff er, um ihre wohltönende Stimme wieder zu hören, nach dem goldenen Schlüssel in ihrer Krone und drehte ihn um, wie sie es selber einst angegeben. Doch kaum hatte er ihn berührt, so wurde dieser zur glühendheißen Schlange, die ihn umwand und zu erdrücken drohte. Er entsprang; was er diesmal heimbrachte, war eine lahme Hand. Die einzelnen Goldstücke, die er auch nun noch fristenweise abholen konnte, ließen ihn jetzt, da die Handwerksarbeit nicht mehr gieng, nicht gänzlich verderben, aber wie mit den Zurzacher-Ledermessen und Großhändler-Geschäften, so war's auch aus mit den reichen und hübschen Dorfmädchen, und er starb unverheiratet.

Wie diesen die Eitelkeit zu Falle gebracht hat, so wieder Andere ihre grobe Habsucht; auch sie betrogen sich selber um das Glück, das ihnen zugedacht gewesen war. Zwei Söhne einer Wittwe mähten zusammen ihre Futterwiese, die da lag, wo der Cheibengraben in die Surbe mündet. Da kam ein fremdes Mädchen glatt über das Wasser zu ihnen herüber gegangen, ein Körbchen auf dem Kopftuche tragend und einen Schlüsselbund in der Rechten. Der jüngere Bruder, der zunächst am Bache mähte, erblickte sie zuerst. Sie machte eine Bewegung, als wollte sie ihm ihre Schlüssel darbieten, aber der Kleine zögerte, sie anzunehmen. Da schwang der Andere, der ein habgieriger Mensch war und darüber seiner Mutter schon manchen Kummer gemacht hatte, drohend seine Sense gegen den Bruder herüber und schrie ihm hastig zu: So nimm's doch au! Damit war das Mädchen verschwunden. Nachher erklärte man ihnen den Zusammenhang. Hätte der Aeltere geschwiegen, so lange die Jungfrau selber nicht sprach, so wären sie leicht des Schatzes im Schloßberge Herr geworden; so aber war's noch ein Glück für den Jüngeren gewesen, daß er nicht zugleich nach den Schlüsseln langte, sonst würde er sich die Finger so jämmerlich verbrannt haben, wie es nachmals dem Bruder geschah. Denn diesem ließ es von heut an keine Ruhe, er wollte hinter diese Reichthümer kommen und ein Herr im Dorfe werden. Tags darauf, als er auf derselben Wiese das Heu zu hüten hatte, saß er unter einem Weidenbaum und drehte in ärgerlichen

Digitized by Google

Gedanken über seines Bruders Verzagtheit einen Kastenschlüssel spielend zwischen den Fingern. Er bohrte und klopfte damit an der Rinde des Weidenstammes herum, als plötzlich ein knisterndes Getöne im Innern entstand und ein blaues Flämmchen aus der Wurzel schlug. Jetzt wußte er es sicher, dies also war der vielgenannte Weidenstrunk, unter dem, wie sich Alles erzählte, der Schatz verborgen liegen mußte. Er suchte sogleich einen erfahrenen Mann auf, verhehlte ihm jedoch sein Begegniß und befragte ihn im Allgemeinen, wie man vergrabene und verwünschte Schätze zu heben vermöge. Die Antwort war, daß man darnach stillschweigend an einem Freitage suchen müße, weil da die Erde Alles, Todtes und Lebendiges, aus ihrem Inneren selber herauszustoßen strebe. So gieng er denn am nächsten Freitag heimlich hinaus und setzte dem Weidenstrunk mit Reithaue und Schaufel so lange zu, bis dieser stürzte. Ein großer geschlossener Kupferkessel kam zum Vorschein, auf beiden Seiten mit einem mächtigen Oehr versehen, das wie zum Heben gemacht war. Oben auf glich der Deckel einem Blumentopfe, und ein Rosenstock mit neunzehn weißen Rosen stand drinnen in Blüthe. Er wollte zuerst den Blumentopf entfernen, der aber saß selbst wie angewachsen. Dann zerrte er am Rosenstock, aber nicht einmal ein Blättchen ließ sich biegen. Auch der Kessel stand wie eingemauert. Nun blieb freilich nichts andres übrig, als eilend heim zu laufen und den Bruder zu Hülfe zu holen. Zusammen schleppten sie einen Wiesbaum herbei, steckten ihn durch das eine Oehr des Kessels und begannen an beiden Enden stehend mit vereinter Kraft zu lüpfen. Langsam hob sich das Gefäß und erreichte den Rand der Grube. Der Aeltere stemmte das Knie in den Boden und die Achsel unter den Wiesbaum, dann zum letztenmal ansetzend rief er, sich und seinen Bruder befeuernd: **Lupf, mer händ's schier gar!** Kaum war dies unzeitige Wort heraus, so splitterte der Wiesbaum entzwei, der Kessel stürzte unter seinen eigenen Schutt zurück und der gefällte Weidenbaum stellte sich steifsteif wieder drauf. Dem Schreier aber hatte noch dazu der brechende Hebel die Schulter übel zerschlagen. Doch es vergiengen nur etliche Tage, so war er schon wieder heil und machte sich aus dem Hause, um, wie er seiner warnenden Mutter angab, auf dem Ruckfelde nach dem Stand der Saaten zu sehen. Er gieng aber nur dem Schloßgraben zu; dort traf er die Jungfrau abermals. Sie lehnte an einem Felsen und hatte darauf, als wäre sie vom Tragen müde, ihre Marktzeine, einen flachen Korb, den man auf dem Kopfe trägt, abgestellt; die Waare drinnen war mit einem gar feinen Tüchlein überdeckt. Schweigend bedeutete sie ihm, er möge herbeikommen, um

Digitized by Google

ihr die Zeine wieder auf den Kopf zu heben. Er verstand den Wink und hob; das Körbchen schien leicht, wie eine Feder. In diesem Augenblicke händigte sie ihm, um die eine Hand, mit der sie sich den Tragring am Kopfe zurecht legte, frei zu bekommen, ihren Schlüsselbund ein. Während er mit Begier nach diesem griff, mit dem er nun das Ziel aller Wünsche in Händen hielt, konnte der habsüchtige Heuchler nicht anders, er meinte, er müße doch auch was Artiges dafür entgegnen, und fieng seine verkehrte Bauernphrase an: Er händ aber au schwer, Jumpfere! Jetzt begann ein grimmiges Brennen in allen Fingern des plumpen Lügners, schreiend schleuderte er die Schlüssel weg ins Gebüsch, um sie nie mehr zu finden, die Jungfrau war verschwunden. So hat der Thor dreimal durch das unzeitige Geplauder des Geizes sein Glück verscherzt und nichts davon getragen als an der Hand das Brandmal von neunzehn großen Hausschlüsseln, das ihm denn auch zeitlebens verblieben ist.

An einer Seite jenes begebenheitsreichen Burggrabens wachsen einige besonders starke Spill- oder Spindelbäume, die man auch Pfaffenkäppchen nennt, und man behauptet, die Erlösung der Jungfrau sei an ein solches „Chäppelibäumli" geknüpft. Allein dazu soll dasselbe an einem Charfreitag aufgestückt, nämlich an den Aesten so abgestutzt werden, daß es vorerst langsam abtrocknen kann, dann muß man es am gleichen heiligen Tage übers Jahr umhauen und zu einer Wiege verzimmern, in welcher ein Knabe aufgenährt werden müßte, der an einem Sonntage und zwar bei besonderer Conjunktur der Gestirne geboren sein soll. Und das erst würde der herzhafte Mann werden, der alle Gefahren und Zufälle dieses Erlösungswerkes wirklich bestände. Ein solches Bäumchen nun wollte der Drechsler vom Nachbarorte Döttingen einst hier heimlich umhauen und bei Nacht in seine Werkstatt fortschleppen. Da sah er plötzlich die gefürchtete Jungfrau vor sich. Als Holzfrevler und noch dazu im fremden Gemeindebanne hatte er in diesem Augenblicke ein doppelt böses Gewissen niederzukämpfen; doch blieb er besonnen genug, sie nicht anzureden, sondern erst ihr Wort abzuwarten. Ihr fangt es muthig an, um reich zu werden, sagte sie; allein ehe Euch das Bäumchen da nützen kann, müßtet Ihr vorher noch drei Dinge abgemacht haben. Bleibt Ihr bei denselben eben so ohne Scheu, wie jetzt, so habt Ihr nichts zu befürchten, und diese drei Proben könnt Ihr nächsten Samstag hier erfahren.

Am festgesetzten Tage trafen sich die Beiden wieder. Die Jungfrau hatte diesmal ihr schwarzes Hündchen mit dem rothen Halsbande bei sich. Schweigend führte sie den Drechsler am Schloßberg zu

Digitized by Google

einem eisernen Thore und öffnete es mit einem der Schlüssel aus ihrem Bunde. Hier trat man zuerst in einen unterirdischen Gang; doch schien derselbe gleichwohl ohne Gewölbe zu sein; denn Sterne schimmerten durch die Decke herein. Dann gieng's zu einem Saal, dessen Größe durch manches Hundert Spiegelkerzen sich ganz endlos machte. Ringsum an den leuchtenden Wänden saß eine Reihe uralter Männer mit gesenkten Häuptern zum Schlaf eingenickt. An der Rückwand aber stand ein großer eiserner Trog, auf den das schwarze Hündlein alsobald hinauf sprang. Vorerst ist da nichts anderes zu thun, sprach die Jungfrau, als dieses Hündchen zu küssen. Der Drechsler that's bereitwillig, während dem der Hund das rothe Zünglein hervorstreckte und ihm die Stirne dankbarlich beleckte. Dann schlugen die schlafenden Männer ihre Augen auf und begannen zu lächeln. Aber sogleich gieng es von da um einen Saal weiter. Der war voll schlafender Jünglinge und Jungfrauen, letztere alle ganz ähnlich der Führerin, nur daß sie keine Schlüssel trugen und ihre Haare nicht so lang und glänzend hinabwallten. Auch hier war Alles kerzenhell und ein anderer Eichentrog stand da, noch größer als der erste. Auf diesen setzte sich diesmal die Jungfrau selber und befahl sie zu küssen. Der Mann that's, aber ihre Lippen waren entsetzlich kalt. Freudig schlugen nun auch die Jünglinge ihre Augen auf, ein seliges Lächeln stand auf den Mienen der Jungfrauen. Die Herrin stieg vom Troge herab, belobte den Mann, sprach ihm Muth ein und führte ihn fort in den dritten Saal. Der war weitaus der schönste, erhellt nicht mit Kerzen, sondern wie mit einem milchigen körperlichen Lichte, das eine Unzahl kleiner Kinder beschien, die ringsum schlummerten. Im Hintergrunde mangelte abermals der Eichentrog nicht, aber vor demselben lag diesmal eine gewaltige Schlange, zusammengerollt wie ein langes Schifferseil. So wie der Mann sich näherte, stellte sie sich ringförmig auf Hals und Schwanz empor und spie Feuer. Er wagte es und schritt mitten durch den aufgebäumten Kreis ihres Leibes hindurch zum Eisentrog. Hier lag, was er nunmehr küssen sollte, die große Ungestalt einer gedunsenen Dorschkröte. Ihr Leib glich einer Bütte, ihre Augen waren wie Milchbecken, ihr Balg spielte in allen Farben. Als er es dennoch versuchte und sich hinabbog, gewahrte er vor sich den zerfahrenen Rücken des häßlichen Thieres, ähnlich dem übervollen Zweige eines Nußbaumes, und mit Grausen trat er einen Schritt zurück. Jetzt schlugen die schlummernden Kinder ihre Augen nicht auf, sondern ein Wimmern durchlief den Saal. Die Jungfrau dagegen schrie laut, zerrang die Hände, und im Augenblicke war ihr blendend weißes Kleid kohlschwarz geworden. Der Glanz der Wände

Digitized by Google

dunkelte, droben im Berge brach ein Krachen los, der Drechsler stürzte betäubt zusammen. Es war Mittag, als er wieder erwachte und sich in einem Fuchsloch im Cheibengraben liegen fand. Mit Mühe kroch er hervor. Ergraut an Haar und Bart, ganz gealtert kam er heim. Ein Fieber warf ihn aufs Krankenbette und man mußte ihn in seinem Irrsinn hüten. In einer unbewachten Stunde entsprang er wieder aus dem Bette, und da ihn die Seinigen suchten, traf man ihn den weiten Weg zum Schloßberge gelaufen, wie er am Graben stand und in die Luft hinein redete. Unter Thränen bat er die Herzukommenden, ihn nur noch bis zum eisernen Thore zu führen. So starb er.

So mißräth auch Geistern ihr Lieblingsplan, denn das Werkzeug, dessen sie zu seiner Ausführung bedürfen, bleibt der eigenwillige Mensch. Seine Kurzsichtigkeit kreuzt ihre berechneten Wünsche; seine unzeitige Einmischung, sein nicht verlangtes Besserwissen und sein voreiliges Verzagen raubt ihrem und seinem Glücke das Recht. Ob er gehorsamen oder widerstreben will, sich ereifert oder in Lässigkeit zurücksinkt, so geschieht es nicht gegen oder für das Große der Pflicht und der That; nicht die volle und ganze Leidenschaft ist es, die ihn lenkt, sondern die einseitige, die bedenkende, die bereuende, und diese verkürzt ihm und Andern stets den Erfolg. Er erkennt dies selbst und hofft deswegen, daß es eine Gottheit besser hinauszuführen wissen werde. Dasselbe wollen auch die weiter folgenden Erzählungen von der Schlüsseljungfrau ausdrücken.

Wenn das Neujahr herannaht, so treten die vermöglicheren jungen Leute von Tegerfelden zur Feier des lustigen Berchtoldstages in einen Verein zusammen, welcher die Bechtelisgesellschaft heißt. Als schmuck aufgeputzte Rebleute und Stitzenträger erscheinen sie vor den Häusern aller bemittelten Einwohner, um ihre Beglückwünschungen herzusagen und einen Zunfttanz aufzuführen. Sind ihnen dafür dann die Stitzen überall im Keller mit Wein gefüllt, so ziehen sie ab und leeren diese wieder in den Hütten der Aermeren mildthätig um; denn eine so weinreiche Gegend will bei der allgemeinen Fröhlichkeit auch den Dürftigen, der keine Rebberge besitzt, nicht ungelabt lassen. Zum Schlusse singen sie als kunstgerechter Männerchor ihrem eigens versammelten Gemeinderath noch das Neujahr an und überreichen da einen gewaltigen Eierring, frischdampfend und so umfangsreich, als ihn irgend ein Backofen hervorbringt. Als Ehrengabe erhalten sie dafür einen halben Saum Gemeindewein dekretirt. Dieser wird dann Abends gemeinschaftlich verzecht, und jeder Bursche läßt dazu seine auserwählte Tänzerin durch einen eigenen Abgeordneten unter mancherlei

Digitized by Google

Artigkeiten ins Wirthshaus herüber abholen. An einem solchen Bechtelisabend nahm der Müllerknecht Hans seinen besten Rock aus der Truhe, steckte den ersparten Lohn in den Sack und machte sich gleichfalls hinüber auf den Tanzboden. Da er nicht zur Gesellschaft des Neujahrsvereines gehörte, so hatte er diesmal kein Mädchen zum Tanze zu führen, und als er jetzt ein paar zu einem Reihen bat, wiesen sie ihn nacheinander ab. Heute tanzt man mit keinem Wälder! erwiederten ihm diese Spröden mit übel angebrachtem Scherz. Denn Hans war aus dem Schwarzwalde gebürtig und galt so im Dorfe stets als ein blos geduldeter, nebenangesetzter Fremder. Dies verdroß ihn heute sehr. Ei, sagte er zuletzt empfindlich, so muß ich eben mir eine solche Tänzerin verschaffen, wie noch keine hier sitzt, und gieng aufgebracht davon. Er hielt sich selber für ein Sonntagskind, das sieben Gespenster nicht zu scheuen hat, und so lief er geraden Weges zum Schloß. Hier warf er nur drei Weidenzweige über die Schulter ins Wasser, und schon war die Jungfrau vor ihm. Dieser klagte er sein Leid und bat sie auf drei Tänze mit ihm zu kommen; Schlag elf wolle er sie wieder heimführen, drei schwere Proben lasse er sich auferlegen, nur diesmal solle sie ihn an den schnippischen Mädchen rächen. Unter diesen Bedingungen folgte sie ihm. Als das Paar in den Saal trat, zogen alle ehrerbietig den Hut ab, während die Dorfsitte will, daß man ihn gerade an diesem Abend beständig aufbehält, weil ein hübscher Strauß von der Liebsten drauf steckt. Alles ward stille, den Mädchen kam der Müllersknecht noch einmal so schön vor, und die Männer hatten nur Augen für die wunderfremde Jungfrau. So tanzte das Paar zusammen drei Gänge, und schweigend, wie es gekommen, verließ es wieder die Staunenden. Jetzt hatte Hans sein Müthchen gekühlt; nun aber erst handelte es sich um seinen wirklichen Muth. Am Burgstall angelangt führte ihn die Jungfrau durch drei verschiedene Gemächer, deren Eisenthore ihre Schlüssel öffneten, zeigte ihm da die Schaar müder Greise, dort die Reihe blühender Jünglinge und Jungfrauen, alle in regungslosem Schlummer den Kopf in die Hand gestützt; und als sie zur Unzahl der niedlichen Wickelkinder kam, da schwankte ihr die Stimme und sie sprach jammernd:

Sieh, so sündigt der Stolz! Diese liebeweckenden Kindlein da sind mir nicht erweckt worden. So zahllos, wie jene blühenden Jünglinge und Jungfrauen hätte unser Stamm an Nachkommen werden sollen. Diese Greise alle waren einst meine Freier, sämmtlich haben sie um mich geworben; aber so groß war unsere Verblendung, daß wir sie alle ins Verderben geschickt haben. Denn das gefiel meiner Eitelkeit,

Digitized by Google

wenn hier täglich die Ritter schaarenweise einzogen, und das behagte dem Dünkel der Meinen, wenn ich täglich jeden neuen Werber ausschlug, der nicht im Stande war, dreimal unsere Burg auf ihren jähen Felsen zu umreiten. Alle stürzten sie hinab und fanden im Flusse den Tod. Dann erschien einer und vollführte das Wagestück, und die Mutter selbst reichte uns den Verlobungstrank. Aber zugleich schämte sie sich dieses namenlosen Freiers und hatte heimlich ein betäubendes Kraut in unsern Wein gemischt. Während ich unerweckbar schlief, riß man den Jüngling von meiner Seite und ließ ihn über die nächtlichen Burgfelsen stürzen. Hier hüt ich nun diese Opfer unsers Muthwillens und mir fehlt der Erlöser, wenn dein Vorsatz nicht ausreicht. Dorten jenes Hündlein auf dem Troge sollst du küssen und mich zu ihm hinaufheben. Ist dies geschehen, so nimmst du allen diesen Mädchen ein Haar aus der Locke, jedem dieser Greise ein Haar aus dem Barte, und jegliches hast du einzeln hinaus in den Bach zu tragen, noch bevor es im Dorfe Zwölfe schlagen wird. Beeile dich, denn mit dem ersten Glockenschlage schließen sich diese verwünschten Thore wieder!

Entschlossen machte sich der Müller ans Werk. Es galt kein langes Besinnen, denn schon war es elf Uhr gewesen, als er mit der Jungfrau den Tanzplatz verließ. Jetzt mochte sich das Hündchen in allerlei Gestalten verwandeln, er blieb fest und küßte es; die Jungfrau ward schwerer und schwerer, aber er entsetzte sich nicht, verdoppelte seine Kraft und hob sie in einem Schwunge auf den Eichentrog. Er zupfte der Unzahl der Mädchenlocken, endlich auch den Greisen das Härchen weg und trugs einzeln zum Bache. Nur noch zwei Bärte sind übrig, nur von diesen soll er noch zwei graue Haare in die Surb werfen, und eben springt er mit dem vorletzten durchs dritte Eisenthor zum Berg hinaus. Da schlägt's in Tegerfelden zwölf Uhr, und krachend fahren hinter seiner Ferse die Thüren auf immer zu. Er stand wie versteinert. Erschöpfung, Jammer und der grimmige Frost der Januarnacht trieben ihn zuletzt heim. Er erlebte den nächsten Bechtelistag nicht mehr, man fand ihn eines Morgens todt zwischen den Mahlgängen umgesunken. Der Arme, dem es schon zu schwer geworden war, vom Bauernstolze schief angesehen und bei den Dorfmädchen verschmäht zu sein, war freilich nicht vermögend, die Verwünschte vom Fluche ihrer eigenen Eitelkeit zu befreien. So vertanzte er prunkend am Arme der Jungfrau eine kostbare Stunde und hatte damit sich selber schon um den größern Theil der Zeit betrogen, der für die kurze Erlösungsfrist übrig war.

Nun ist noch von derjenigen Art der Menschen zu erzählen, die

Digitized by Google

man bloß die guten Menschen nennt, weil ihnen nichts besseres nachzurühmen ist, als daß ihnen das schwache Herz immer zur Unzeit überläuft.

Ein Tegerfelder Familienvater war in dem benachbarten Städtchen Waldshut zu Markt gewesen und kehrte nun des Abends nach Hause. Von Döttingen aus schlug er den kürzeren Heimweg über das Ried ein und kam so der Surbe nach durch die Schwabenwiese her. Es war eine laue Sommernacht, das Mondlicht warf die Schatten der Ruine in zackigen Streifen auf die Bächlimatte, mit silbernem Staub schäumte das Flüßchen daneben über die Klippen. Da klirrte es plötzlich zur Seite hinter den dichtstehenden Bäumen, und der Mann hielt stille. Als er aber die nächsten Zweige der Salweiden forschend auseinander bog, stieg zwischen ihnen ein weißes Wölklein empor. Die Jungfrau, von Kopf bis zu den Füßen in wallenden Gewändern, stand ihm gegenüber. Am Gürtel hieng ihr der Schlüsselbund, daneben steckte ein Strauß von Weidenröschen, die bis in die Stiele hinein wie mit einem rothen Hauche überzogen waren. Sie nahm aus dem Fürtuche ein silbernes Schwegelpfeifchen hervor, setzte es sacht und würdevoll an und begann eine so rührend schöne Weise zu spielen, daß der Mann tief ergriffen wurde und herzlich drüber weinen mußte. Aber auch die Waldthiere wurden davon bewegt. Drüben am Ufer fieng es an zu plätschern, ein Hirsch stieg in die strudelnde Surb, blies die Wellen mächtig auseinander und kam heran gerudert. Kein Härchen an ihm war naß, als sich der schneeweiße Edelhirsch zu Füßen der Jungfrau niederlegte. Sie streute ihm die Weidenröschen vor und er aß sie mit Lust; dann nahm sie eine doldenreiche Hopfenranke vom Busche herab, legte sie ihm ums Geweih und knotete sie wieder im Rücken als Zaum zusammen, hierauf brach sie sich einen Baldrianstengel und setzte sich mit dieser Gerte dem ruhenden Thiere auf den Rücken. Alsbald erhob sich der Zelter und lief leichten Schrittes mit ihr den Berg hinauf. Oben bog sie rechts und ritt gegen den Thurm; sie verschwand hier einen Moment hinter dem Gemäuer, kam aber sogleich wieder zum Vorschein, und herum gieng's nun im Kreise auf allen Trümmern und Kanten rings ums Schloß. Neunzehnmal ritt sie so nach einander um die Zinken, dann kam sie in gestrecktem Laufe die jähen Flühen herunter zum Bache, der Hirsch legte sich und die kühne Reiterin stieg ab. Sie entzäumte ihn, zerknitterte Zügel und Gerte in kleine Stückchen und warf sie in die Surb; dann gab sie dem Thiere mit der Hand einen sanften Schlag, und als ob es sich hoch beehrt fühlte, war's mit einem fröhlichen Satz im Dickicht verschwunden. Nun begann erst ihr Mädchengeschäft.

Digitized by Google

Sie löste ein Stirnband auf und ließ ihr helles Haar frei wallen. So oft sie dann den Goldkamm durch die Locken zog, streifte sie von den tiefen Zweigen ihres Lieblingsbaumes den Erlennhonig ab*) und bestrich sich damit die Scheitel; wiederholt bemaß sie dann im Spiegel des mondhellen Wassers, wie weit das Haar den Rücken hinab walle, wie weit es die Spitzen der Grashalme erreiche. Ueber solcher Herrlichkeit vergaß der zuschauende Mann alles, gebannt stand er da und dachte nicht daran, was ihm dabei die gütige Jungfrau selber zu bescheeren wünschte. Hätte er nur ein Stückchen vom süßen Marktbrod, das er seinen Kindern heimtrug, oder nur sein Paternoster im Sacke in den Kreis geworfen, so wäre Schwegelpfeife, Stirnband und Goldkamm sein gewesen. Indessen schritt sie trocknen Fußes über die Surbe fort und sang im Dahinschweben ein Lied, von dem der herzlich ergriffene Mann sich nur ein einziges Gesätze merken konnte, das er in seiner Mundart so angab:

O Erli, liebi Erli,
Es goht no hundert Johr:
Denn stricht den Bodde wärli
Mis gêles Chrûselhôr.
Und lampet's denn am Bodde,
So find' i mîni Rueh
Und chan in Himmel grothe,
Und du zum Oefeli zue.

Mit diesen Schlußworten meinte sie ihre Erle, den Schicksalsbaum, der einst an ihrem Erlösungstage umgehauen und im Ofen verbrannt sein werde. Aber dieser Baum steht noch, obschon seitdem wieder an hundert Jahre verflossen sein mögen. Ja wohl noch länger muß es her sein, denn auch die Melodie ihres Liedes, die früherhin einige alte Leute noch zu singen wußten, ist nun schon vergessen. Also ist auch die arme Wandlerin noch nicht zur Ruhe gebracht. Zu allerletzt hat sie noch ein Brunnenbube von Döttingen gesehen, als er vom Taglohn in Tegerfelden Abends in sein Dorf heimgieng; seine Verwandten gedenken der Angst und des Zweifels noch wohl, womit er sich nachher über seine Seligkeit zergrübelte und sich das Leben verbitterte. Da pflegte sie, begann er in seiner Erzählung, ebenfalls ihren verwegenen Ritt um die Schloßzacken zu machen. Dann aber habe sie die weißen Gewänder abgeworfen und sei zum Bade in die Surb gestiegen. Da sei sie denn überall um vieles schöner anzuschauen gewesen, denn ein anderes Menschenkind, nur gerade an den

*) hungen gilt mundartlich von Bäumen, deren großgetriebene Knospen vor Trockenheit nicht aufgehen. Stalder 2, 63.

Digitized by Google

Füßen nicht; denn diese, so viel man im mondhellen Gewässer wahrnehmen konnte — und der liebe Gott wolle es ihm nicht dereinst im Himmel anrechnen! — hätten Gänsefüßen geglichen.

So hat man also nach so vielen Begebenheiten am Ende erst den Grund einer einzigen erfahren; man weiß jetzt erst, warum sich die Jungfrau einst das Maß zu den Stöckleinschuhen nicht hatte nehmen lassen. Wenn sogar der Hilfbereite und Dienstfertige unter den Menschen so spät zum Verständnisse der wenigen Wünsche gelangt, die ihm die Jungfrau nahe legen kann, wie lange wird sie dann noch schmachten müßen unter den Täuschungen, die ihr der Eigensüchtige, und unter den Mißverständnissen, die ihr der Feige und Gleichgiltige bereitet? Alle versuchten Wege sind ihr daher mißlungen. Die Messen, die für ihre Seelenruhe gestiftet waren, sind von der Folgezeit vergessen, selbst das eine Vaterunser nicht einmal ist so gebetet worden, wie sie bescheiden genug es begehrt hat. Immer wieder wendet sie sich von denen, die sie schon bereichert hat, zu den Armen zurück, immer hofft sie auf's Neue, es werde der Menschendank bei den Verlassenen dauerhafter sein. Sie läßt sich herab bis zum fremden Mahlknechte, zum Schwarzwälder, zum Brunnenbuben, bis herunter zum verachteten Heimatlosen. Aber auch der Arme noch ist eitel. Der Müllerbursche und der Schustergeselle möchten vor allem bei den Dorfmädchen gelten; der Korbflechter schlägt zwar die Bauernmädchen nicht hoch an, um so höher aber sein Bürgerrecht im Himmel, er pocht auf seine Seligkeit, so lange ihm dasjenige im Dorfe nicht zusteht. Dann aber prahlt er mit seiner Ahnenreihe von zigeunerhaften Vagabunden noch in dem Ortsbürgerrechte fort, in dessen Besitz er durch das Gold der Jungfrau gekommen ist. Ihnen allen fehlt der Edelmuth. Der eine der Erlöser geht durch unzeitige Plauderhaftigkeit leer aus, der andre betrügt sich selbst durch grobe Habgier, die Begierden des Dritten zerstören einen schon weit gediehenen Plan; jeder meint sich selbst, keiner gedenkt dabei der Jungfrau. Das gute Herz, auf das sie etwa noch stößt, ist das des rathlosen Kindes, oder des weichherzigen Menschen; dem einen erstarrt sein junges Herz vor grundloser Angst, dem andern zerfließt sein altes in erfolglosen Rührungsthränen. An einem einzigen Härchen hängt zuletzt noch das Gelingen; da aber verrinnt über des Befreiers Selbstgefälligkeit die letzte Rettungsfrist, und die allmächtige Stunde erweist sich dann stärker, als der verspätete Menschenmuth und als der ganze Zauber des Geisterreiches. Und doch ist die Jungfrau noch immer nicht hoffnungslos. Ihr Glaube hängt an jenem Spindelbaum, welcher demjenigen zur Wiege werden soll, dessen starker Wille einst bis zum letzten Kusse ausdauern



Digitized by Google

wird. Diese Hoffnung der Geister oder dieser Glaube der Sage kann auch uns nicht fremd sein; auch wir erwarten das größte Gelingen von der opferbereiten Liebe. Denn, wenn wahre Liebe ein höherer Heldenmuth ist, so liegt ihre Siegeskraft, wie hier erzählt worden ist, im Erlösungskuß.

Von dem Zauberhirschen, auf welchem die Jungfrau durch die Surbe und um die obersten Zacken der Burgruine reitet, ist ausführlich gehandelt, Anmerk. No. 413 a. „Alahirzi". Es unterliegt keinem Zweifel, daß diese Schlüsseljungfrau die Frau Berchta selbst ist, daher wird auch die Hauptbegebenheit dieser Erzählung, die Erlösung der verwünschten Jungfrau, auf den Berchtelistag angesetzt, welcher am 2. Januar als Nachneujahr gefeiert wird und schon ahd. als Perahtastac gegolten hat. Do der obrist tag kam, den wir den perchtag nennen hie. Pez, zur Reimchronik des Ottokar v. Horneck, cap. 811. Die Perchtennacht: giperahta naht. Diut. 3, 311. Frau Perahta hieß die Leuchtende, später schlechtweg die Weiße Frau. Sie ist die Göttin des häuslichen Lebens, überwacht Weib, Kind und Magd, straft die Arbeitsläßigen, schützt den Korn- und Flachsbau, Rocken und Pflug ist ihr geheiligt, sie stiftet Ehen und giebt den Kindersegen, die noch Ungeborenen verwahrt sie bei sich, die unmündig Verstorbenen holt sie wieder zu sich ab. Wenn ihr Festtag kommt zur Zeit der Zwölften, spannt sich daher das Volk vor Wagen und Pflug, führt fröhliche Scheingefechte auf, backt Kuchen, und reitet, fährt und rennt nach dem Preistuche, wie die Göttin selbst theils geritten, theils gefahren kommt. Es hat sich aber Berthas Götterwesen nicht ganz selbständig bewahrt und geht mehrfach in das Wesen der Göttinnen Frigga und Freyja über, und so gestaltet sich Bertha zur eigentlichen Frau, zur Himmels- und Höllenherrin. Der Frigg, als der Gemahlin Odhinns kommt der Schlüsselbund zu, weil sie als Himmelsschaffnerin für der Götter Haushalt zu sorgen hat. So ist auch die Schlüsseljungfrau die Beschließerin und Schaffnerin für die im Schloßberge versammelten Ritter (die Einherjar), welche ihretwegen einst in Kampf und Wettritt das Leben dran gegeben hatten. Hiemit steht man bereits bei den Sagen vom Venus-, vom Horsel- und Kiffhäuserberge, welche solche Seelenheere in sich verschließen. Der Wuotan, der als der Frau Venus, als der Frau Holda Gemahl mit ihr im Berge sitzt, ist selber ein Greis, wie hier im Tegerfelder Schloßberge ein ganzer Saal voll Greise schläft; daher heißt es im Tannhäuserliede von diesem Venusberge:

Tannhäuser, wollt ihr Urlaub han,
Nehmt Urlaub von dem Greisen.

Auch der Göttin Freyja Wohnung heißt Volkswang, d. i. Sammelplatz aller Seelen, und ihr Saal oder Gemach heißt sitzräumig und unaufschließbar (Wolf, hess. Sag. No. 12). Sie ist einem nicht göttlichen Manne vermählt, dem Odur, und da er sie verlassen hat, sucht sie ihn durch die ganze Welt, ihm goldene Thränen nachweinend, und heißt daher die Thränenschöne. So trägt der Frauen Holl Stein tiefe Furchen von den bittern Zähren, welche Frau Holl über ihren Mann geweint, und die Weiße Frau auf Breuberg ist eine Ritterstochter, die zur Strafe dafür umgehen muß, daß sie ihr ganzes Leben nutzlos um den Geliebten

Digitized by Google

vertrauert hat. Wolf, hess. Sag. No. 12, 51. Freyja trägt einen allen Göttern kostbaren Halsschmuck, eine perlengeschmückte Prisnestel. Solcher Einzelheiten gedenkt unsere Sage, pag. 152. Untröstlich weint die Schlüsseljungfrau immerdar ihrem verlorenen Bräutigam nach, sie wohnt hinter eisernen Thüren, um sie schlafen in dreifachen Sälen die Geister dreier Menschenalter. Die kostbaren Stücke ihrer Tracht verschenkt sie, sie läßt den Ring vom Finger ins Wasser gleiten für den glücklichen Finder, oder wirft ihre seltene Prisnestel ins Gras, und nur dann kann sie die Todtengewölbe verlassen, wenn einstens ein Erlöser treu und furchtlos bis zum letzten Kusse bei ihr aushält. So verkündet sie als eine Göttin der Liebe die erlösende Macht, welche im Kusse liegt. Myth. 921, 1055. Nach dem Hirschen, auf dem sie reitet, ist nardus stricta das Hirschhaar genannt, wie nach ihren langen Locken das Farrenkraut isländisch Freyjuhaar, dänisch Fruehaar, deutsch Venus- und Mariengras heißt. Orchiden bietet sie den ihr begegnenden Menschen dar, eine Blume, die nach dem Schmerz der Göttin selber Frauenthräne, nach dem darin wohnenden Liebeszauber aber auch Marienhand, Christhändlein, isl. Friggjargras, sonst Hionagras, Ehekraut genannt wird (Myth. 198, 280, 279); und jener auffallende Schlüssel, der in ihrer Krone wie zum Umdrehen steckt, weiset auf die Schlüsselblume hin, auf deren Berührung alle verzauberten Schätze sich öffnen. Zu diesem Gleichnisse zwischen unserer oberdeutschen Berchta und der nordischen Frigg steht aber noch außerdem bestätigend die Sprache. Dem altf. neutrum frî (mulier formosa, Myth. 279) entspricht schweizerisch unser verwaist erscheinendes adverb. frein pulcher, frin venustus. Stalder 1, 396. Freyjas Name besagt die erfreuende, Holdas die holde, Friggs die schöne, Berchtas die strahlende, und so fehlt uns nicht einmal eine Frau Frene, die man am Verenatage anruft (vgl. No. 9, pag. 14), und deren Wohnung die höchsten Gebirgskämme sind, wie die Sage vom Vrenelisgärtli in den Glariden ausweist, ein ehemaliges Paradies, das nun unter Gletschern begraben ist.

Die Schlüsseljungfrau schwankt zwischen einer Lebens- und einer Todesgöttin, sie trägt das blendend weiße Gewand Seliger, aber es wird schwarz, so oft sie in neuen Kummer verfällt. So schwanken auch die ihr geweihten äußeren Dinge unsicher zwischen fruchtbringenden heilsamen Wirkungen und zwischen verderblichen. Dies erhellt aus Folgendem.

Der Jungfrau Erlösung hangt an Erlen- und Weidenbaum, den mit dem Frühlinge zuerst ausschlagenden. Aber ihr Schicksalsbaum ist zugleich der Spindelbaum, Mutschelle, Pfaffenkäppchen genannt (Evonymus europæus), vor dessen verderblicher Wirkung die Griechen Scheu trugen, die ihm deshalb den Namen „von guter Vorbedeutung" gaben. Seine rothen Blüthenkapseln tragen unsere Kinder als Halsschnürchen; der Samen, zerstoßen und unter Schweinefett (Bargenschmeer) gemischt, dient zugleich als Salbe gegen Kinderschorf. Die Jungfrau verschenkt weiße und gelbe Bohnen; sie sind das Sinnbild geschlechtlicher Fruchtbarkeit, aber die schwarze oder blaue Bohne ist zugleich das des Todes (vgl. No. 110). Sie breitet Linnen in die Sonne. Damit deutet sie sowohl auf das ihr geheiligte Geschäft des Webens und Spinnens (Kuhn, nordd. Sag. No. 245), wie auch auf das Schicksals- und Todtenhemde hin für die in ihren Bergräumen angehäuften Seelen (Myth. 1053). Als eine die Seelen abholende

Göttin bestellt sie sich beim Schuhmacher ein paar Laschenschuhe, solche mit ausgeschnittener Bundzunge, welche geröthet ist, nhd. lösch, ahd. losgo, rubricata pellis (Hoffmann, Sumerlaten 15, 12). Hiebei ist der rothe Brautschuh nicht zu übersehen, der dieser Jungfrau, die mit dem Müllerburschen zum Tanze geht, als einer Liebesgöttin zukommt; aber auch der Todtenschuh steht zunächst, mit welchem die Seele den unermeßlich weiten Weg ins Schattenreich zurückzulegen hat, pag. 231 (Aargau. Kinder-Spr., Abthl. 4, „Was man mit ins Grab giebt"). Der tüffel ferhieß einem alten weib ein nüw par schuh — da bot er ir das par schuh an einer stangen über den bach. Geiler, Narrenschiff 1520, Bl. 34. Ueber dieses Verlangen der Geister, daß man ihnen Schuhe bringe oder opfere, handelt ausführlicher Abthl. V. Anmerk. No. 213, 32. und No. 489. Aehnlich verhält es sich mit dem Pfeifchen, das die Jungfrau verschenkt, damit man mit dessen Tone ihr rufen könne. Auch der Dame von Greiffenstein, die als Frau Kröte den goldenen Schatzschlüssel trägt, muß so durch ein Flageolet geblasen werden. Stöber, elsaß. Sag. No. 190. Am Ilsenstein legt die verzauberte Bergfrau einen Sack voll Goldstapeln aus und daneben eine Pfeife. Pröhle, Unterharz. Sag. No. 275. Dies ist nicht blos die zum Kirchweihtanz aufblasende Flöte, sondern vielmehr die alles vom Todesschlaf erweckende Pfeife, die Frühlingspfeife, wie sie Knaben sich schneiden (Aargau. Kinder-Spr. No. 309), oder jenes Todtebeindli (No. 353), das alles Geschehene zu erzählen vermag, wie es auch der Tod selbst an den Todtentänzen zu blasen pflegt. Eine der Aufgaben, die dem Erlösenden ertheilt werden, besteht darin, allen Schläfern im Geistersaale ein Locken- oder Barthaar auszuziehen, denn damit erzweckt man die Erforschung oder Erfüllung eines schwebenden Orakels. Der Teufel läßt sich von seiner Großmutter drei solche Haare ausraufen, welche golden sind. Myth. 224. Thorkill wagt eben dasselbe an dem riesigen Ugarthiloki. Wolf, Beitr. 1, 137. Drei Haare aus Barbarossa's Bart im Kiffhäuser geholt, verwandeln sich in Goldstangen. Bechstein, DSagb. No. 429. Drei Federn müßen dem Drachen ausgezogen werden. Meier, schwäb. Volks-M. No. 73, pag. 316. Darunter ist der ergraut schlummernde Odhinn abermals gemeint, der Gatte der Frigg, und daher stammt sein Beiname Langbardhr, Harbardhr, Grani (barbatus). Im Albanes. Märchen schickt der König der Oberwelt den jüngsten der drei Brüder in die Unterwelt, um da ein goldenes Haar einer schlafenden Schönen zu holen. Wolf, Ztschr. 1, 380. Bei diesem Erlösergeschäfte verräth sich wieder das wunderbare Erinnerungsvermögen, welches der Volkssage über sich selbst eigen ist. Dieser Erlöser hier ist ein Schwarzwälder Müllerknecht. In Wolfs hess. Sag. No. 63 ist es ein sächsischer Müllerknecht, der die Schatzschlüssel aus dem Rachen der Schlange zu nehmen hat; und ein Kelterknecht, Namens Müller vom Neckar, ist es in Meiers schwäb. Sag. No. 10. Immer sind es Knechte, Jünglinge, Kinder, d. h. noch reine Seelen, denn nur sie sind erlösungskräftig. Bedeutsam ist auch, daß die Jungfrau ihr eignes Haupthaar dem armen Fischer zur Angelschnur verknüpft, worauf derselbe damit seinen reichen Fischfang macht. So läßt sich Brahma von Manu als Fisch fangen; in unserem Kindermärchen aber ist es der Butt und Hecht, welcher einen Fischer allmählich zu der höchsten Würde erhebt und dann wieder in die erste Armuth zurückversetzt, da dieser sich von Geiz geplagt von Gott ab-

Digitized by Google

wendet. Myth. 544. Als eine Todtenherrin zeigt sich die Schlüsseljungfrau ferner darin, daß ihre im Berg gehüteten Geister ihr als Vögel nachgeflogen kommen, um sie aus dem mit Menschen begonnenen Gespräche wieder abzuberufen. Die Seele ist geflügelt, von Adlern, Raben und Nachtvögeln sind daher die selbst geflügelten Walküren begleitet und eine derselben ist darnach Dämmerhilt genannt. Myth. 394. Nachtigall und Rabe sind daher erscheinende Seelen; dem Dichter Cynevulf gilt selber Christus bei der Himmelfahrt als Vogel, und von den dies Wunder läugnenden Juden sagt der Dichter: Sie konnten des Vogels Flug nicht erkennen. Haupt, Ztschr. 9, 203.

Von den Kleinkinderbäumen, Kinderbrunnen und Erdmännchensteinen, als woher man die Neugeborenen holt, ist in den betreffenden Nummern gehandelt; hier aber ist der ganze Schloßberg ein sogenannter Titistein, worin zweierlei Kindertröge stehen, aus deren einem die Tegerfelder-Ammenfrau die Neugeborenen empfängt, in deren andern die Schloßjungfrau alle unmündig Verstorbenen wieder zurücknimmt. Dieser Trog entspricht der Schatzkiste (eski) der Göttermutter Frigg. So bringt auch die schlesische Spillaholle die faulen Kinder in den Brunnen, und neugeboren kinderlosen Eltern zu. Weinhold, deutsche Frauen, 36. Aehnliche Züge finden sich: Grimm, DS. No. 4. 73. Wolf, Beitr. 1, 162. Hess. Sag. No. 17. 211. Meier, schwäb. Sag. No. 294. Aus den Kindheitsgeistern der Elben treten die Menschen bei der Geburt heraus und in sie kehren sie beim Tode wieder zurück; so denkt sich das Heidenthum die sterbende Kindesseele wieder in das allgemeine Naturleben verflüchtigt. Das nachheidnische Theologem machte sich daraus den sogen. Kinderlimbus, und unsere Bevölkerung spricht vom Nobiskratten, von dem Korb im Abyssus, in welchen die unmündige Seele wieder hinabgesteckt werde. Für diese Kleinen im Troge sammelt die Schlüsseljungfrau Honig aus den Frühlingsblumen, aus Engelsüß und Maienglöckchen, auch tragen ihr alle Bienen, so oft sie stoßen, Honig in den Berg. Diese Mythe ist auch dem klassischen Alterthum bekannt. In Kreta, sagt Antoninus liberalis (Verwandlungen, ed. Koch, cap. 19, pag. 27) ist eine Höhle der Bienen, wo Rhea den Zeus gebar; kein Sterblicher darf sie betreten. Dessen erkühnte sich aber Laios, Kerberos und Aigolos, um den meisten Honig auszuziehen. Sie hatten ihren Körper ganz in Eisen gehüllt, und während sie den Honig auszogen, sahen sie die Windeln des Zeus. Aber das Eisen um den Körper zersprang, Zeus donnerte, und nur die Mören und Themis hielten ihn davon ab den Blitz zu schleudern, denn Niemand durfte hier sterben und dadurch den Ort entweihen. Er verwandelte die Erfrechten in Krähen und Schnepfen.

Mit dem vom Schicksalsbaume triefenden Honig bestreicht die Schlüsseljungfrau ihre Locken, mit des Baumes Sproßen füttert sie ihren Lieblingshirschen, und erst wenn einmal dieser Baum unter den gebotenen Bedingungen gefällt und verbrannt sein wird, ist die Jungfrau erlöst. Dies besagt ihr Lied von der Esche:

I cha i himmel g'rothe
und du zum öfell zue.

So kann auch der Edda gemäß der neue Himmel und die neue Erde für ein glücklicheres Menschen- und Göttergeschlecht erst dann entstehen, wenn die Esche Yggdrasil in jenem allgemeinen Weltbrande des Muspilli verbrannt

ſein wird bis auf den Stamm, der Mimameidr heißt, d. i. Gedächtnißbaum, Stammbuch. Und während von dieſer Welt-Eſche der Thau trieft, welcher der Honigfall genannt wird, kennt Grimnismal den auf dem Baume Lärrad vor Odhinns Saal weidenden Hirſchen Eikthyrnir, von deſſen Geweih unaufhörlich Tropfen in den Brunnen Hvergelmir fallen.

Wie viel von dieſen hier behandelten Sagenpunkten noch übrig iſt und fortlebt in Glauben, Brauch und Sprache des Landes, dies iſt weiter ausgeführt zu leſen in „Oberdeutſche Gemeindefeſte und Feſtbrode". Daraus aber folgt in Kürze ausgehoben hier derjenige einzelne Zug, der dieſer Anmerkung am nächſten liegt, die fortbeſtehende Erinnerung an den Hirſchen, auf dem Bertha reitet. Unſere Sage läßt nämlich die hiſtoriſche Notiz einfließen, daß man der Jungfrau von Tegerfelden in der Dorfkirche eine Jahrzeit und Seelenmeſſe geſtiftet hatte, die während der Reformationsunruhen durch einen neuerungsſüchtigen Landvogt in Abgang gekommen ſeien. So entgeht uns zwar die directe Nachricht, daß dieſe Jungfrau eigene Tempel und Altäre beſeſſen habe, die Legende aber (deren in No. 413 a. weiter gedacht wird) weiß wohl, daß die Hirſchenreitende eine Kirchenſtifterin geweſen iſt, an deren Todestag alljährlich eine Brodſpende an alles Volk ſtattgefunden hatte. Daher backen auch die Teg. felder-Burſche an dem Berchtentage alljährlich einen großen Eierring, überreichen ihn in Proceſſion ihrem Dorfrathe zum Neujahrsgeſchenk, und erhalten dagegen einen halben Saum Spendwein geſchenkt. Die ſchöne Gräfin Giſela von Schwabeck hatte alle Freier ausgeſchlagen. Es wird ſchon noch ein anderer kommen, der mir beſſer gefällt! pflegte ſie zu ſagen. Dieſer Eine aber kam nicht. Da ſtiftete ſie das Kloſter Edelſtetten und wurde deſſen Abtiſſin. Aber im Angedenken ihrer frohen Jugend ſchenkte ſie der Stadt Lauingen verſchiedene Ortſchaften und Güter, und dorten vor dem Hauſe der Sonnenwirthſchaft ſteht noch der Stein, auf den ſie täglich einen großen Laib Brod und ein Meſſer legen ließ. Jeder Vorübergehende durfte ſich nach Gefallen ein Stück davon abſchneiden. Sagenb. von Gundelfingen und Lauingen 1849, pag. 34. Mit Eiferſucht hält die Göttin auf die Fortführung dieſes Brauches. Die Schlüſſelbergerin kommt aus ihrem Berge hervor und klirrt mit ihren Schlüſſeln den Ortspfarrer aus dem Schlafe, wenn die von ihr gemachte Brodſpende an dem anberaumten Tage vergeſſen wird. Meier, ſchwäb. Sag. pag. 42. So weiß auch unſere Bertha genau, aus wie viel Jucharten eine jede ihrer Meiereien beſteht, die zwiſchen dem Waatländer-Thurm Gourze und Solothurn liegen, und wie viel Eier die Hennen auf jedem ihrer Höfe gelegt haben. Vulliemin, Kant. Waat 2, pag. 18. Den unordentlich gekämmten Mägden ſtößt ſie den Milchtopf vom Kopfe, faulen Knechten reißt ſie die Bettdecke weg, fleißigen ſchüttet ſie eine Schürze und Futterſchwinge voll Schätze übers Land aus. So deutlich giebt ſie ihren Wunſch zu erkennen, man ſolle ſich rüſten, das ihr geltende Feſtbrod neu zu backen. Dieſes aber beſteht in dem Gebildbrod des Eierrings und des Hirzen. In der Stadt Zürich iſt daſſelbe ſo altherkömmlich geweſen, daß man ſeinen Urſprung bis auf Karl d. Gr. zurück verſetzte (Müller, ſchweitz. Alterthüm. 1776), es auch an ſeinem Namenstage bis 1600 zu backen und allen Häuptern und Bedienſteten der Stadt unentgeltlich ins Haus zu ſchicken fortfuhr. Die weitere Vertheilung deſſelben übernahm dann bis z. J. 1728 die dortige Metzgerzunft. Zürch. Neujahrsbl.: „Ab dem Muſik-

Digitized by Google

saal der teutschen Schul." Dieses Festbrod, von dem einläßlicher gehandelt wird in der Schrift Oberdeutsches Gebildbrod, No. 14, heißt bei uns Hirzebërnli und Perchisbrod: ein nudelförmig in längliche Stücklein gewalkter Teig wird geweihartig mit einer Scheere eingekneipt und aus dem Schmalz herausgebacken. Um dieselbe Zeit backt man auch in Steiermark das Weihnachtsbrod in Hirschform (Weinhold, Weihnachts-Sp. 26) und in Schwaben nennt man dasselbe Springerlen (Meier, schwäb. Sag. 462. 465). Hirschzungen nennt man bei uns, was anderwärts unter dem Namen Hobelspäne gilt, fingerbreite, mandelbestreute Kuchenstreifen, die nach dem ersten gelinden Backen heiß über runde Wellhölzer gebogen und geformt werden (Landolt, schweiz. Kochb. pag. 497). Bier, Most und Wein darf bei solchem Backwerk nicht fehlen. Bertzelenschmitte nennt unsere Mundart dasjenige Haus, in welchem man die Eierringe am Bärzelistage um Wein ausspielt. Berthouds nennt der Waatländer sein Lieblingsgericht, eine Käseschnitte am Feuer gebraten und mit jungem Sauserwein begossen (Vulliemin, Kant. Waat 1, pag. 110). In Mitteldeutschland zieht die Bierperchte umher und ruft Vollmaß, Vollmaß! Bechstein, DSagb. No. 510. 588. In Zürich galt die Redensart, einen zum Berchtold führen, einen im Wirthshause zechfrei halten, und das alljährliche Freudenmahl auf den Luzerner-Zunftstuben heißt Bärchtli. Stalder 1, 156. Ein oberdeutscher Beichtspiegel erkennt in diesen Schmäusen ein der Heidengöttin dargebrachtes Opfer: also versünden sich ouch, dy an der Perchtnacht der Percht lassen stên essen oder trinchen, das es in dasselb jar wol ergee und in allen dingen gelückh haben — die der Percht speiss opfernt und dem schretlein. vdHagen, Germania 1, 349. 356. 2, 64. Michael Behaimer (Mone, Anzeig. 1835, 448) bringt unter verschiedenen Aberglaubenszügen seiner Zeit auch den vor, daß man dem „schretzlin an der Berechtnaht seinen tisch richte". Für die Frau Bert stellt man in oberbayrisch Mühldorf um Dreikönig (also am Schlusse der Zwölften) Küchlein auf den Tisch (Panzer, bayr. Sag. 1, No. 278) und ebenso läßt dann der Steiermärker Speise übrig für die Perstelen. Weitere gleichbedeutende Bräuche bei Schmeller, Wb. 1, 194. In dieser Zeit fanden und finden noch aller Orten die Maskeraden statt, bei denen es besonders galt, in Hirschlarven umzulaufen. Die altkirchlichen Verbote namentlich gegen diese letztgenannte Mummerei, den Hirschen zu spielen, sind nicht selten: cervulum seu vitulum facere, Myth. 1010; auch noch Geiler von Keisersberg (Narrenschiff) muß zu seiner Zeit gegen diesen hyrtz, den man herkömmlich zur Fasnacht in der Stadt umführte, als gegen ein Ueberbleibsel heidnischer Bacchanalien ereifert predigen. Dies alles wird um so wichtiger, wenn man daran erinnert, daß Thror, der Hirsch, zugleich ein eddischer Beiname Odhinns ist. Und wie dann Wuotan selber Jäger wird und eine Jagd anstellt auf diesen Hirschen (wie wir noch das Ueberbleibsel in dem Stregelen-, Polsterlen-, Berchten- und Klausenjagen haben); wie dann dieser Hirsch sich in die schönste Jungfrau entwandelt, und aus „dem wilden Thiere" des Gottes Gemahlin wird, dies zeigt am Volksliede Von der schwarzbraunen Here (Hoffmann, schles. Volksl. pag. 193—201) Menzels Odin, pag. 215. So steigt auch die Jungfrau von Tegerfelden, nachdem sie die Zacken des Burgthurmes umritten hat, vom Hirschen herab zum Bade, und nachdem sie das letzte Gewand abgeworfen hat, das Schwanenhemd (von welchem her ihr ein Gänse-

fuß eigen ist), oder das rauhe Kleid der Frau Els, sieht der Brunnenbube, daß sie „die schönste über alle Lande ist“ (Myth. 398. 404).

## 168. Die Spinne auf der Heidenburg.

Alle hundert Jahre am Charfreitag und Gründonnerstag geht eine weiße Frau hauptlos von der Heidenburg zum Aabach hinunter und wäscht; erscheint sie aber dabei als Schlange, Spinne oder Kröte, so könnte man sie dannzumal erlösen. So begegnete sie nun einem Bauern aus dem benachbarten Dorf Staufen, als er eben auf den Kirchberg hinauf in die Osterpredigt gehen wollte, und legte sich ihm als faustdicke Spinne in den Pfad. Dies gilt aber für ein sehr schlimmes Zeichen, sagen die Leute; und wer da dennoch weiter will, wenn ihm eine Spinne den Weg verlegt, der geht zum letztenmale in die Kirche, denn das nächstemal wird er hingetragen als Leiche. Unser Mann kehrt also ebenfalls um, und will, die Zeit der Predigt hinzubringen, ins Wyl hinab und dorten seine Wässermatten betrachten. Aber hier kommt die Spinne hinterdrein, treibt ihn über den Aabach und bis zum Ausläufer des Egliswilerberges gegen die Heidenburg hinan. Da steht sie plötzlich als eine Jungfrau vor ihm in altfränkischer Tracht, reicht ihm die Hand und leitet so ihn stillschweigend in die Bergwand hinein. Alles öffnet sich vor ihnen, er steht da in einer Grotte voll Glanz und Schimmer wie in einer katholischen Wallfahrtskirche. Hier zeigt sie ihm alle Kostbarkeiten und bittet ihn um den Erlösungskuß. Sie wandelt sich in Katze, Schlange und Drache; Krallen entwickelt sie so dick, wie Dornenbündel auf Kirschbäume gehängt — unerschrocken küßt er sie. Jetzt wird sie zur gewaltigen Kröte; er will fliehen, da springt sie ihm ins Genick, und bewußtlos sinkt er zusammen. Andern Tags findet ihn der Bannwart drunten am Bache; kaum erkennt er ihn noch, so dick ist sein Gesicht verschwollen und all sein Haar bis auf den Stumpen vom Kopf weggesengt. Man bringt ihn heim, aber er stirbt in Irrsinn. Vor etlichen Jahren machte am Charfreitag ein Anderer denselben Weg ins Wyl; da vernahm er ein großes Brausen und Glockenstürmen von der Heidenburg herunter. Als er stille stand um aufzuhorchen, ob es nicht etwa auf der Staufnerkirche läute, hörte er dreiundzwanzig abgemessene Glockenschläge hinter einander droben auf den Felsen. Er meinte, das bedeute eben so viel Jahre von jenem laufenden Hundert, da dann die Jungfrau sich wieder einen Erlöser unter den Staufner-Bauern suchen dürfte.

Die Kirche auf dem Staufberge ist eine der ältesten, die man in dem Lenzburger Amte kennt; die Stadt Lenzburg selbst war in ihr pfarrgenössisch.

Digitized by Google

Die Heidenburg liegt ihr ganz benachbart. Vergl. diesen Namen, Abtheil. Legende, No. 469. Von ihr heißt es, der alte Tempel würde sich wieder öffnen, wenn man jene Geisterfrau küßte. Ueber die erlösende Kraft des Kusses: Mythol. 921. 1055. Die Deutung der 23 Glockenschläge, als ob mit ihnen weitere 23 Jahre der Verwünschtheit prophetisch angekündigt wären, hat sich auch schon in der ältern Landesgeschichte geltend gemacht. In Rickenbachs Alt-Rapperswiler Chronik (Zürich. Antiquar. Mitthl. 6, 233) wird erzählt, wie die Rapperswiler Bürgerschaft mit dem österreich. Heere gegen die Glarner rückt und bei Näfels unterliegt: „vnd spricht man, do sye hinweg zogen seyen vber den berg auf, do hab die glockh angfangen schlagen vnd hab so manchen Streich geschlagen, so mancher da bliben wer." — Tschudi, der sich allenthalben anstellt, noch Genaueres als seine Quellen sagen zu können, weiß 1, 548, wie viele Streiche es waren: „als die burger zu Rapperswyl uß jr statt uß zugend, da schlug jr glockenzit 62 streich, und wurdint jro 62 eingesetzner burger erschlagen." Von der Zürcher-Heidenburg, ein Waldhügel bei Wasserstorf, bringt H. Meyer, Zürch. Ortsnamen No. 1753, folgende Sage: Dorten reitet der Schimmelreiter als hauptloser Mann, unten aber am Engelrain, wo der Steg „der Frau Escher" über den Bach geht, zeigt sich eine weiße Frau und hütet beim Ackerfeld Steinmürli einen Schatz, den sie um drei Küsse hergiebt. Darüber aber verwandelt sie sich aus einer schönen Jungfrau in eine scheußliche Kröte, und ihr Erlöser verfällt aus Schrecken in unheilbaren Wahnsinn. Sie hat dorten auch einen besondern Baum, unter dem einst ein Mann dem Schatze nachgrub. Darüber erschien sie und sagte ihm Gelingen zu; allein er mußte zuvor einen andern Baum im Wald, den sie ihm näher beschrieb, fällen und aus demselben eine Wiege zimmern, und erst wenn ein Kindlein in dieser Wiege weine, werde er den Zauber lösen und den Schatz heben können. Nun fand er erst lang den bezeichneten Baum nicht, auch war das Holz entsetzlich hart und das Fällen dauerte lange, noch länger gieng's, bis die Wiege gezimmert war, und der Mann starb, bevor ein Kindlein in derselben lag.

---

## 169. Schatzhöhle bei Bellikon.

Nahe beim Dorfe Bellikon ist eine Höhle, von der sich das Volk noch jetzt vielerlei Vorgänge erzählt. Man hütet sich überhaupt, jenen Platz zu betreten wegen des Gelärmes, das man in seiner Nachbarschaft häufig hört; gleichwohl weiß man, daß der Eingang zum Geklüfte alle Morgen sauber gekehrt ist, ohne daß jemals eine Fußspur dort in Staub und Gras sichtbar gewesen wäre. In der Tiefe steht eine goldgefüllte Truhe, und eine weiß gekleidete Frauengestalt bietet vom Schrankdeckel herab den Schlüssel. Ohne einen Laut muß man bis zur Hinterwand hinschreiten, das Weib vom Kasten heben und auf die Erde stellen, ihr den Schlüssel abnehmen, aufschließen, um sich so viel des Goldes daraus zu nehmen, als man will; hierauf sorgfältig wieder verschließen, das Weib auf die Truhe zurück heben

Digitized by Google

und ihr den Schlüssel wieder wie vor einhändigen. Mehrere Männer, die dies zu thun versucht, sind schlimm dabei weggekommen. Der letzte Waghals hatte schon eine große Summe in seinen Zwilchsack gefüllt und schien mit Allem fertig. Er wollte nun der Jungfrau nur noch den Schlüssel wieder in die Hand geben; da habe sie denselben mit seinem ganzen Gewichte ihm auf die Nase fallen lassen. Es that ihm so weh, daß er unwillkürlich einen Fluch ausstieß. Augenblicks war er aus der Höhle geworfen und fand sich in eine Dornenwildniß versetzt, die sein Auge noch nie zuvor gesehen hatte. Nach langer Zeit erst und sehr gealtert kam er wieder in sein Haus zurück.

Vergl. Abtheil. I, No. 8 die herabfallenden Schatzthüren am Egelsee. Abthl. II, No. 49 die Etelmutter zu Schneisingen. Abthl. IV, No. 176 Heidenweib am Lägerenberg. — Die Baretto-Balma auf den Bündner-Vareina-Alpen hat eine Höhle, klein, hell und trocken, die nach dem Volksglauben stets vollkommen rein und wie ausgeblasen ist. Kein verunreinigender Gegenstand, nicht Steinchen und Moos, nicht Holz oder Kohle bleibt darin liegen; die Hirten sagen, es läßt nichts drinn. Röder-Tscharner, Kant. Graubünden 1, 258.

---

## 170. Die Römerjungfrau zu Augst.

a. Wo heute das Feld Neunthürmen heißt, da stand zur Römerzeit das Amphitheater der großen Rauracher-Stadt Augusta, und die frisch aufgeworfenen Erdhügel dort beweisen es, daß der reiche Eigenthümer daselbst das Graben nach verschütteten Münzen und Waffen noch nicht aufgegeben habe. Auch hat der Aristorfer-Bote dort im Vorbeigehen einmal eine silberne Kette schimmern sehen und sie nachher in Basel um hohes Geld verkauft. Auf der andern Seite des Baches diente im Landgute Spitzmatt jüngst noch der sogenannte Thalweber Marti. Wirklich sah er einst mit eigenen Augen jene oft besprochene weiße Jungfer, die dort Kisten Goldes hütet. Sie winkte ihm im Vorübergehen und wusch sich dabei im nahen Ergolzbache die Hände wund, bis Blut heraus quoll; als er jedoch unerschrocken an sie trat, spie sie Feuer und Flammen. Aber auch der verstorbene Rathsherr von Giebenich konnte sie fast jedesmal erblicken, wenn er früh am Morgen nach Basel in den Großen Rath fuhr.

b. Die Schlangenjungfrau zu Kaiser-Augst ist oben Mensch und unten Wurm; sie wohnt in einem Berge, dessen Eingang nur ein Unschuldiger findet; wenn er sie dreimal küßt, ist sie erlöst und der dort verborgene Schatz sein eigen.

In den römischen Trümmern des gegenüber liegenden Basel-Augst trifft man am Charfreitag zwei schwarze Geister, die den Neugierigen

Digitized by Google

dort in der Irre umführen, bis ein weißer dritter dazu kommt und ihm wieder den Ausweg aus dem unterirdischen Gange zeigt.

c. Als die kaiserlichen Truppen 1814 im Frickthal lagen, hatten zwei Soldaten, die zu Magden im Quartier waren, von einem Tausendkünstler den Ort des Schatzes erfahren, so wie die Art und Weise, wie dieser zu heben sei. An einer Freitags-Mitternacht begaben sie sich mit Osterkerzen und andern geweihten Schutzmitteln in das Gewölbe und streuten behutsam Spreuer hinter sich her, um den Rückweg sicher wieder zu finden. Eine Eisenthüre öffnete sich auf ihr Anklopfen, und eine Jungfrau, die unten in einem Schlangenleib endigte, wies sie zu einer Truhe, von der zwei Hunde mit Feueraugen herabbellten. Der Deckel gieng auf und Beide konnten sich Geld nehmen, so viel sie mochten. Schon waren sie wieder vor der Höhle, als der eine der Soldaten gewahrte, daß er drinnen sein Seitengewehr hatte liegen lassen. Trotz der Vorstellungen des Kameraden gieng er sogleich zurück, um es zu holen, und ist nie wieder zum Vorschein gekommen.

d. Schneider Lienimann im Augster-Heidenloche. Die bekandte vnd von vielen Historischreibern angezogene Histori eines einfeltigen stamlenden Schnyders von Basel, namens Leonhard, sonsten Lienimann genant, wollen wir allhier auch beyzusetzen vns nicht verdriessen lassen. Martinus del Rio, Majolus vnd Schottius melden von diesem, auß Johann Stumpffen Schweizercronik, daß derselbige umb das Jahr Christi 1520 zu Augst ob Basel in den daselbst sich befindenden gewelbten Gang vnder der Erden hienein vnd in demselbigen viel weiter, als jemahl einem Menschen müglich gewesen, fortgegangen. Da er dann von wunderlichen Dingen, die ihme begegnet, zu reden gewüst vnd gesagt: er habe ein geweyhet Wachsliecht angezündet vnd sey damit in die Höle hinein. Erstlich habe er eine eiserne Pforten angetroffen, vnd darnach auß einem Gewelb in das andere, endtlich durch etliche gar schöne lustig grünende Gärten gehen müßen. In der mitten sei ein herrlich vnd wohlgebawtes Schloß oder Fürstenhof gestanden, in welchem ein gar schöne Jungfraw mit menschlichem Leib biß vnder den Nabel gewesen, welche auf ihrem Haupte eine Kron von Gold getragen vnd ihre Haar fliegen lassen. Vnder dem Nabel habe sie wie eine grewliche Schlang außgesehen, sie habe ihn bey der Hand genommen, zu einem eisernen Kasten geführt, auf welchem zween schwartze bellende Hunde gelegen, für welchen niemand zu den Kasten gehen dörffen; die Jungfraw aber habe dieselbigen also gestillet, daß er ohn alle hindernuß hinzu gehen können. Nach diesem habe sie ein bundt Schlüssel, die sie am Halß getragen, abgenommen,

Digitized by Google

den kasten auffgeschlossen, allerley guldene, silberne vnd andere Münzen darauß genommen, von welchen sie jhme auß sonderbarer Freygebigkeit ziemlich viel geschenkt, welche er auch mit sich aus der klufft gebracht, wie er dann dieselbigen gewiesen vnd sehen lassen. Die Jungfraw hat jhme gesagt, sie wäre auß königlichem Stamm gebohren vnd in ein solches vngehewr verflucht worden, sie hätte auch keine andere Hoffnung erlöset zu werden, als wenn sie von einem Jüngling, der seiner Jungfrawschaft halben vnverlezet were, dreymahl geküsset wurde; alsdann wurde sie jhre vorige form vnd gestalt wiederumb erlangen; vnd wolte sie hingegen zur Dankbarkeit den ganzen selbiger Orten verborgenen Schaz dem, der sie erlößte, geben vnd überantworten. Er sagte auch, er hette die Jungfraw allbereit zweymahl geküßt, darüber sie sich beydemahl, für grosser Frewde vnd gefaßten Hoffnung der Befreyung von dem über ihro schwebenden Fluch, mit so grewlichen geberden erzeigt, daß er sich geförchtet, sie wurde jhn lebendig zerreissen. Entzwischen habe sich begeben, daß jhne etliche seiner Gespanen mit sich in ein Frawenhauß genommen, in deme er sich mit einem Weib solcher weise vertrabet, also nachgends den Eingang dieser Klufft nicht mehr finden, viel weniger in dieselbige wiederumb hinein kommen können: welches er zum offterenmahl mit weinen geklagt. Ist alles anders nichts, als ein lauteres Gespenst vnd Teufelsbetrug gewesen. Jedoch ist die auß dieser Klufft gebrachte und vielen Burgeren gewiesene Münz eine gnugsame Anzeigung, daß in denselbigen Gängen vnd Gewelben vnder der Erden grosse Schäze verborgen ligen, welche von den Geizteuflen besessen vnd verwahret werden.

Magiologia durch Philonem. Augustae Rauracorum 1675. S. 860.

Nach Stumpfs Chronik und Quirsfeld, Histor. Rosengebüsch 1684, erzählt die Begebenheit Stöber, elsaß. Sag. pag. 356 und K. Simrock in den Rheinsagen. Hans Rudolf Grimm, Buchbinder, Trompeter und Flachmaler in Burgdorf, bei Bern, berichtet dasselbe kurz in seiner „Schweitzer-Cronica, darinnen in Erzehlung über 200 Historien ꝛc." Basel bei Mechel, 1786. pag. 215. Noch andere Erzähler dieser verbreiteten Geschichte nennt Grimm, DS. No. 13.

Sebast. Münster, Cosmographey, Basel 1567, pag. 590 giebt in einem hübschen Holzschnitte die Abbildung der römischen Ruinen dieser sog. Neunthürmen und bemerkt dazu: Die alten mauren geben ein anzeig, das in dieser statt herrliche gebeüw vnd wohnungen gewesen seiend, wiewol aus derselbigen ein schlecht dorf worden ist, dz man Augst nennet. Man sihet auf der Seiten Baßler Herrschaft trefflich gemeür von kleinen gehauwen steinen, also ordenlich zusammengesetzt, das mich verwundert die hübsche maurarbeit, so die Alten gebraucht haben. Mit solchem gemeüwr sind aufgefürt fünf oder sechs enge gemach, in form eines halben circkels; aber warzu man sie vor zeiten gebraucht hab, mag jetzundt niemand ersinnen.

Digitized by Google

Es kan nit sein das es cisternen gewesen seind, so können es nit gefenckhnussen gewesen sein, noch behaltnussen, dazu vil minder schutzthürn. Ich hab hieher verzeichnet jr gestalt, wie sie auf einem Bühel gefunden werden.

R. Stumpf, der Chronist, cap. XIII, pag. 645: „Das gmein landvolk haltet ein söliche fabel, daß in disen gewelben ein kostlicher schatz von den Römern verlassen, in einer trucken behalten, hinter einer eisinen thür verschlossen, durch ein grossen hund als ein stäter wachter verhütet werde. Da sey bißhär keiner also kün erfunden, der mit disem hund stritte. Ein höflichs märle."

Diese Ruinen gehören zu der Augusta Rauracorum, einer Colonie Augusts, durch einen seiner Feldherren, dem Munatius Plancus gegründet. Auf der tabula theodosiana, aus dem Ende des 4. Jahrh. herrührend, wird dieselbe als eine der größten Städte dargestellt. Die bisher wieder entdeckten Trümmer lassen vermuthen, daß der Umfang der Stadt eine volle Stunde betragen mochte; man berechnet, daß das Amphitheater 12,400 Zuschauer faßte. An einer Mauer, die man für einen Theil der Stadtmauer hielt, fand man, daß die Grundsteine auf Schäften alter Säulen ruhten, die von oben bis unten in der Mitte durchsägt waren, unter deren Grundlage war abermals ein Gemisch von früherem Schutt, von Kohlen und Backsteinen. Meyer-Knonau, Schweiz. Erdkunde 1, 491. Der Violenbach bildet nun die Grenze zwischen den beiden Dörfern Baselaugst, das zum Kanton Basel gehört, und dem aargauischen Kaiseraugst, deshalb so genannt, weil es nebst dem Frickthale bis zum Jahre 1801 unter der Herrschaft des Kaisers stand.

## 171. Der Mauerhubel bei Zetzwyl.

Wenn das Getreide im Juli ringsum noch grün ist, so sieht man es auf dem Mauerhubel schon in ganz gelben Streifen von der Breite einer Heerstraße stehen. Und weil man da auch viele Scherben, Ziegel und Mosaikstücke aufgepflügt hat, so meint man, hier müße eine Handelsstraße durchgeführt haben, und an diesen Stellen lägen die alten Kaufmannsgüter versunken. Drum wollten schon vor vielen Jahren einige Männer diesen Schatz erheben. Sie mußten besondere Haselstöcke dazu haben, keiner durfte ein Wort sprechen. Als nun die Kiste sammt dem schwarzen Pudel, der darauf sitzt, heraufrückte und die Grabenden eben alles mit einem letzten Zug aus dem Loche heben wollten, dachte der Wolffriedli seinen Kameraden noch einmal Muth zu machen und sprach: „nu chäch, no einist früsch i d'händ g'speutzt!" Sogleich versank die Truhe wieder in die Tiefe.

(Vgl. No. 52, Dornstrauch zu Ober-Kulm, u. No. 440, Bärlisgrube.)

## 172. Die Schatzthüren im Born.

Ein Bauer um Aarburg hat Folgendes mitgetheilt. Noch zu meinem Gedenken wohnte am Bornberge ein Armer in einem kleinen Hüttchen. Da kam des Nachts ein Mann zu ihm und bat um Herberge. Obschon die Wohnung zu enge für zwei war und der Arme heute selbst nichts zu kochen hatte, wurde der Gast doch eingelassen und bekam auch seinen Bissen Brod. In tiefer Nacht verlangte der Fremde einen Sack und eine Laterne, bat den Bauern, ihm zu folgen und führte ihn vom Hause bergaufwärts an einen wohlbekannten Rain. Hier schärfte er ihm ein, kein weiteres Wort mehr zu reden und nur zu thun, was er ihn selber machen sehe. Er sprach einige Sprüche und es zeigte sich im Raine eine Thüre, die er mit einem bereit gehaltenen Schlüssel aufschloß. Sie giengen nun zusammen durch einen finstern Gang weit in den Berg hinein. Aus einer Felsenspalte nahm sodann der Fremde einen zweiten Schlüssel und öffnete damit eine Kiste, die hier im Finstern stand. Daraus zog er einen ganzen Schlüsselbund hervor; dieser diente zu den künstlichen und alterthümlichen Markschlössern, die an den gewaltigen Verlegbalken einer letzten Thüre hiengen, zu der sie jetzt gelangten. Nun gieng's eine steile Holztreppe hinunter, die so trocken lag, daß ihre Balken unter jedem Schritte ächzten und knarrten. Am Ende war das Gewölbe vor ihnen offen. Zwei große Kisten standen da, ein eben so großer Hund lag auf jeder. Der Fremde ergriff den einen, warf ihn von der Kiste herunter, und schloß dieselbe auf; sie war ganz mit Goldstücken angefüllt; er bedeutete seinem Begleiter, so viel als möglich von dem Schatze zu nehmen. Aber statt jetzt auf die Mahnungen des Fremden zu achten, schaute der Mann immer nur die lauernden Hunde an; nach langem Zuwarten verschloß jener die Goldkiste wieder und legte den Hund wieder darauf. Er begab sich nun zur andern Kiste, warf auch hier das darüber liegende Thier hinunter und öffnete; da schimmerte es von lauter Silberstücken. Wiederum deutete der Führer dem armen Manne, davon zu nehmen, aber dieser konnte auch diesmal nicht fertig werden, die zwei wilden Hunde angstvoll zu messen, und so schloß der Andere auch diese Kiste wieder zu und begab sich auf den Rückweg. Als sie wieder ins Freie heraus traten, that sich hinter ihnen der Rain sogleich zu. Unter Vorwürfen führte der Fremde den armen Mann bis in die Nähe des Häuschens zurück und nahm hier von ihm Abschied.

Man glaubt, der Eingang zu diesen Schätzen sei in jener bekannten, auf der Spitze des Bornberges gelegenen Höhle, welche vom Landvolk das Heidenloch genannt wird.

Digitized by Google

Der Bornberg ist innerlich so zerklüftet, daß man im Regenjahre 1842 aus seinem Erkrachen ein ähnliches Unheil voraussehen wollte, wie dasjenige vor hundert Jahren war, da er mit seinen Steinlasten gegen Aarburg herabstürzte. Er ist zugleich der getreueste Wetterprophete für die ganze Gegend. Bronner, Kant. Aargau, 2, 271.

---

## 173. Die Schatztruhe bei Reinach.

Auf dem Hügel, der östlich von Reinach sich erhebt und heutigen Tages mit Laubwald bewachsen ist, stand zur Zeit der Römer eine Stadt, deren Häuser ganz aus Holz gebaut waren. Trotz der Lebenseinfachheit, auf die eine hölzerne Stadt schließen läßt, geschah doch dort manches, was bis auf die jetzige Stunde noch nicht abgebüßt ist. Es wandeln hier Gestalten und winken; Jäger und bellende Hunde durchziehen den Forst, und immer, wenn man sie hört, ist es hohe Zeit, sich zu entfernen. Gleichwohl müßen die alten Einwohner auch die Musik geliebt haben; denn zu bestimmten Zeiten fängt oben im Dickicht ein sanftes Blasen an, wie von gedämpften Hörnern; aber je näher man den Tönen zu kommen sucht, um so entfernter klingt es, bis es endlich ganz in der Ferne verhallt. Auch von Schätzen erzählt man, wie sie in jenem Hügel vergraben, von bösen Geistern bewacht sind und von Manchem leicht hätten gehoben werden können, wenn er in einem gewissen Zeichen geboren gewesen wäre, wenn er nur vorsichtiger oder auch nur muthiger zu Werk gegangen wäre. So kam eines Tages ein armer Mann ins Laubholz, um sich eine Bürde Reißer zu sammeln. Daheim gebrach es Weib und Kindern an Nahrung, und der Vater hieng den traurigsten Gedanken nach. Plötzlich sah er eine Frau in schneeweißen Gewändern an seiner Seite, die ihm winkte zu folgen. Man kann sich seinen Schrecken denken; aber er erinnerte sich seiner zwiefachen Hilflosigkeit und nahm sich zusammen. Das Weib führte ihn bald durch enge Fußwege, bald durch dichtes Gebüsch hügelan zu einem einsamen Platze, unfern von der Straße, die hier von Menzikon nach Mosen führt. Hier gab sie ihm ein Zeichen, näher zu treten. Er that es schüchtern, und während sie mit dem Finger auf die Erde deutete, sah er in einer geringen Vertiefung eine große Kiste, die bis zum Rand mit Goldmünzen angefüllt war. Er blickte die Gebietende mit einer fragenden Miene an, und da er ihren zweiten Wink zu verstehen meinte, bückte er sich, um von den Schauthalern so viel er konnte zusammenzuraffen. Aber was sah er, als er noch einmal demüthig zur Wohlthäterin aufblickte? Ein gewaltiger Mühlstein hieng am schwächsten Zwirnfaden gerade

Digitized by Google

über seinem Haupte her, und die selbe Hand, die ihn so freundlich eingeladen, drohte den Zwirn eben mit einer Scheere zu durchschneiden. Er hätte in den Erdboden versinken mögen, aber sein theures Leben trieb ihn zur Flucht. Vergeblich eilte und rief nun das Weib ihm nach, bat und beschwor ihn, umzukehren; er entsprang, und noch lange vernahm er ihre Klage hinter sich her.

## 174. Das Loch in die Unterwelt.

Zwischen der Wasserfluh und der Egg, zweien nachbarlichen Bergzügen im Aarauer-Jura, trifft man große Erdspalten und Klüfte, deren Tiefe unermeßlich ist; sie alle führen in die Unterwelt. So ist im dort gelegenen Hochwalde Rothholz ein tiefer langer Graben, daß man ein Haus der Breite nach hinein bauen könnte; er wird aber jetzt noch immer tiefer und größer, da das Gestein seines Innern ringsum heraufwächst. Darum konnte da jener Basler-Falschmünzer, der sich hier oben verbergen und seine Fünfbätzler fortprägen wollte, kein Glück haben; die Erde stieß ihn aus, und nun sitzt er wieder in demselben Schellenwerk gefangen, wo er entsprungen war. Gerade so ist es auf dem obern Grat der Wasserfluh. Der Hubel dieses Berges ist viel höher als die überall hin sichtbare Spitze, und gerade dort ist ein solches befremdliches Erdloch. Buben warfen da einmal eine Katze hinein, aber sie kam lebendig am Fuße der Fluh bei einem Quell wieder hervor. Ein anderer Bube ließ sich von den Kameraden halten und blickte in den Schlund. Er sah zuerst schwarze stockfinstere Nacht, die rückte plötzlich von der Stelle, denn es war ein schwarzer riesenhafter Vogel, der mit ausgebreiteten Schwingen unterirdisch in der Luft gehangen hatte und nun wegfliegend ins leere Blau blicken ließ. An den Füßen mußte man den Knaben wegziehen, im Schwindel wäre er sonst dem Vogel nachgesunken. Und hätte man die Länge einer endlosen Schnur, so dürfte man sie nur hinab lassen, sie käme in Amerika wieder heraus.

(Vgl. Meier, schwäb. Sag. No. 2 „Nachtfräuleinloch".)

## 175. Das Schloß Urgiß.

Die Ruinen der zerstörten Urgiß auf dem kleinen Berglein unterhalb Densbüren decken eine große mit Geld gefüllte Eisenkiste. Oft haben hier Männer in frühern Zeiten nachgegraben; sie stießen auch auf die Kiste, dann aber saß stets der leidige Teufel drauf. Sie

Digitized by Google

suchten ihn mit Räuchern und andern geweihten Sachen zu vertreiben; er aber spie ihnen Feuer ins Gesicht. So sprangen die Beschwörer davon und das Geld liegt noch bis zur Stunde unter den Ruinen.

Doch sieht man bisweilen, namentlich wenn Regenwetter eintreten soll, bald da, wo das Schloß gestanden, bald an der unten vorbeiziehenden Landstraße eine Jungfrau; sie ist weiß gekleidet und winkt heftig unter ihrem schwarzen Schleier hervor, ihr zu den Ruinen nachzukommen.

---

## 176. Das Heidenweib auf dem Lägernberge.

Das Ehepaar auf der Mühle zu Lengnau hatte einen einzigen Sohn; man hört ihn bald Seppi, bald Erni nennen, denn es ist schon lange her, daß er gelebt hat; aber er galt für den bravsten im Lande, und dazu war er so stark, daß er keinen andern zu fürchten hatte.

Er war einst ums Frühjahr auf dem Tanze im Lengnauer-Wirthshause; es war bereits weit in der Nacht, die Spielleute ruhten schon aus und tranken ihr Glas Wein, da kam noch eine neue unbekannte Tänzerin auf den Platz und setzte sich ganz stille auf die leere Bank an der Wand. Niemand erkannte sie unter ihrem langen Schleier; daß sie aber nicht aus der Gegend sein konnte, das zeigte ihr kostbares Seidenkleid. Des Müllers Sepp wagte endlich sie anzureden und zum Tanze aufzufordern. Nachdem sie einen Reihen mit ihm gemacht hatte — und dabei war's Sepp, als berühre sie nie den Boden — verlangte sie heimgeführt zu werden. Sepp begleitete sie bis ans sog. Steinböckli, dies ist ein kleines Heideland an einem felsigen Berglein. Hier verabschiedete sie ihn, bat aber, des andern Mittags sich wieder hier einzufinden, dann werde sie ihm zeigen, wo sie zu Hause sei. Zur bestimmten Zeit war Sepp daselbst und traf sie am Maiblümchensuchen. Sie schenkte ihm einen Strauß. Hier erzählte sie ihm, wie sie schon seit manchem Jahrhundert durch den Fluch ihrer Mutter in diesen Berg verwünscht sei, weil sie von einem Liebhaber nicht hatte lassen wollen, der ihren Eltern zu arm war. Alle hundert Jahre dürfe sie drei Tage aus dem Berge. Wenn alsdann ein braver Jüngling die Schlüsselblume aufnehme, die sie gebrochen und ihr damit in den Berg folge, so sei sie erlöst. Heute sei abermals der letzte Tag. Sepp entschloß sich und folgte ihr mit der Blume in der Hand. Sie kamen bergaufwärts an ein großes Felsenthor. Drinnen glänzte es von wunderbarer Pracht. Alsbald aber erhoben sich zwei Drachen und spieen Feuer. Da erschrak Seppi so sehr, daß er ohne Besinnung entlief und nicht eher anhielt, als bis er daheim war. Hier wurde



Digitized by Google

es ihm so weh ums Herz, daß er sich gleich zu Bette legte, und schon nach drei Tagen war er gestorben.

Als ein andermal ein Büblein in dieser Gegend ein Schlüsselblümchen auflas und heim brachte, war es in helles Gold verwandelt. Als man den Verwandten darüber erzählte, griffen zwei von ihnen gleich nach Sack und Korb und liefen gegen die Lägeren. Allein sie fanden nichts, denn die Jungfrau ist nur den Bescheidenen hold. Dies erfuhr vor wenigen Jahren noch ein armer Mann von Ober-Ehrendingen, der alte Ziegelbrenner Bartli. Dorten am kahlen Berglein auf der Heide hatte er sich ein Häuschen gebaut und wurde darüber nicht wenig verlacht; aber das Heidewîbli gab ihm Gedeihen. Die Weinreben, die er anpflanzte, wuchsen schön und ergaben ihm schon im vierten Jahre sieben Saum vom besten, der noch jetzt unter dem Namen „Heidewîbli-Wî“ bekannt ist. Auch eine Quelle ist ihm auf der Klippe entsprungen, sie heißt „Heidewîbli-Brünnli“.

Nun weiß man von allen diesen Glücksgütern nichts mehr, als das Teufelsloch, das droben auf der Spitze des Lägeren gegen Ober-Ehrendingen hin liegt. Es soll von unergründlicher Tiefe sein; man meint, hier innen liege auch das Schloß versunken. Rings um die Kluft ist der Platz herkömmlich reingekehrt. Wirft man etwas hinunter, so wird es bis zum andern Tage wieder ausgestoßen; und so fest glaubt man daran, daß man sogar schon Geldstücke hinabgeworfen hat.

Das stete Reingekehrtsein geheiligter Orte ist angemerkt: Schatzhöhle bei Bellikon No. 169. Der Schluß dieser Erzählung behauptet, Geldstücke habe man in die Höhle hinabgeworfen, weil man in Wahrheit Münzen, gewöhnlich römische, an solcherlei Plätzen gefunden hat. Daher rührt überhaupt die weitverbreitete Redensart von einem sich sonnenden Schatz (vgl. Abthl. III, No. 99 Sodbrunnen der Römerstadt Lorenz). Derselbe knüpft sich meistens an Orte mit Spuren römischer Niederlassung, und zutreffend ist Potts Bemerkung, ich meine in seinen Etymolog. Forschungen, der Römer habe in den Boden der von ihm durchzogenen Länder seine Geschichte allenthalben gemünzt gesäet.

---

## 177. Die drei Jungfrauen auf dem Hertenstein.

Hinter dem Hertenstein bei Baden soll ehemals ein Ritterschloß gestanden haben. Ein Bauer, der unferne vom Burgstall seinen Hof hatte, schälte sich einst Nachts beim Mondschein Stangen im Holze und traf da auf drei Jungfrauen, die auf einer Steinbank saßen und zusammen sangen. Sie gaben ihm sogleich an, was er mit seinen Stangen machen solle; er müße damit in der heutigen Nacht an der Stelle, wo sonst der Schloßbrunnen gestanden, einen Kreis legen;

Digitized by Google

dann werde darin eine Schlange hervor kommen, der er den Schlüsselbund aus dem Maule schlagen müße, und gelinge dies, so sei er im Besitze großer Reichthümer. Der Bauer kannte den bezeichneten Ort wohl; es ist derjenige, den man die Brunnenmatten heißt, weil dorten der Kaltbrunnen läuft; aber hart daran liegt das Grütt mit der wüsten Tiefe des sog. Kaibengrabens. An diesen Orten wollte der Bauer um Mitternacht nichts zu schaffen haben, machte sich also davon und ließ die Jungfrauen weiter singen.

---

## 178. Das Mörderthier im Ruederthal.

Zwischen den Ortschaften Schildwald und Gontenschwil findet sich eine Schlucht, an welcher vorbei ehemals die Straße durch den wilden Wald nach Beromünster gegangen sein soll; sie habe dorten das Winen- und Surenthal verbunden. Noch nennt man jene Schlucht die Mördergrube, weil dort eine Mörderbande mittelst künstlich gerichteter Dräthe den Durchzug der Reisenden ausgespürt und diese dann niedergemacht haben soll. Seither will Mancher an schwülen Sommertagen ein entsetzliches Geheul, stärker als das eines Menschen oder Wildes, aus jener Gegend her vernommen haben. Einige haben sogar das scheußliche Mörderthier, wie es beim Volke heißt, wirklich gesehen, andere nur ein schönes Weib, das geschmückt, aber unter Jammern und Stöhnen aus der Schlucht tritt, hinab zum Bächlein geht, Windeln waschend und dort verschwindet. Wer sich dann vor der schwarzen Katze nicht fürchtet, die mit einer weißen Haube auf dem Kopfe jenem Weibe vorausläuft, der sieht in der Schlucht zwei große Truhen offen, von Hunden gehütet; wer aber zwei schwarze Hühnlein aus einem Ei brüten und sie über die Schlucht hüpfen ließe, der hätte das Weib erlöst und den Schatz gewonnen.

Der Sigrist von Gontenschwil sah auf dieser Stelle ein Roß auf einer Kiste aus dem Boden steigen, das tellergroße Augen hatte, und ist aus Schrecken drüber gestorben.

---

## 179. Erlösung durch einen Liedvers.

Auf dem Rothenrain bei Zeihen im Frickthale traf der Bauer des Nachts sowie am frühen Morgen öfters eine weißgekleidete Jungfrau, die einen Kranz im Haare trug und den Liedvers sang: „Wohl zu der Engel Schaar!“ Der Bauer erzählte dieses seinem Geistlichen und erhielt den Rath, sobald die Jungfrau wieder komme und jenen

Digitized by Google

Vers wiederhole, so solle er den zweiten Vers dazu singen „Und selig bei dir sein." Das that der Bauer das nächste mal und damit war die Jungfrau erlöst. (A. Birrcher in Laufenburg.)

---

## 180. Die Schatzgräber am Burghaldenberg.

Der Gipfel des Burghaldenberges im Frickthale war sonst mit stattlichen Mauern und Thürmen eines Raubschlosses umgeben. Nun ist Alles längst niedergebrochen. Der letzte Ritter hatte hier an einem Herbsttage das Schloß eben mit der Habe der umwohnenden mißhandelten Bauern gefüllt, noch brannten die von ihm angezündeten Strohhütten in die Nacht hinein, als im Schloßhofe gewaltiger Lärm entstand und ein Gepanzerter, auf dessen Helm drei hochrothe Federn schwankten, die Saalthüre aufriß. Es war dies der benachbarte Graf, den der Hilferuf und das Jammergeschrei der Landleute gerührt hatte, und der nun die Strafe vollzog. Ringsum war das Schloß von seinen Bewaffneten umstellt. Pechkränze wurden hinein geschleudert, keine Seele, als des Ritters Gemahlin wurde aus der brennenden Burg gelassen, dann wurde Alles vertilgt. So blieb diese Stelle gemieden, bis vor etwa 50 Jahren ein Kapuziner einige Männer des Frickthales beredete, den großen Schatz erheben zu helfen, der hier in tiefen Gewölben liege. Er hatte eine Wünschelruthe mitgebracht, zündete geweihte Wachskerzen an und streute dann rings um den Glücksort geheimnißvoll gewonnene Asche, die den bösen Geist abhalten sollte. Beinahe schon vier Tage hatten sie gegraben und hörten eben ihre Schaufel klingend aufstoßen, als ein Jäger in grünem Kleide vor ihnen stand und sie befragte, was man heutzutage mit so großen Gruben machen wolle. Aber sie gedachten des strengen Gesetzes, kein Sterbenswörtchen zu reden, und er verschwand wieder. Am fünften Tage hörten sie unter sich schon die heiligen Engel arbeiten, die, wie der Kapuziner versicherte, zu Hilfe gekommen seien und aus der Tiefe her ihnen entgegen grüben. Jetzt meinten sie den Schatz gewinnen zu müßen, da drängte sich ein altes Weib zwischen ihre Hauen, die über ihr pechschwarzes Haar eine Eisenpfanne gedeckt hatte und aus der Nase Feuer und Dampf schnob. „Ist der Graf mit der Braut schon vorbei?" schrie sie; „und ist den Hofdamen fertig gekocht?" Flugs entwischte einem die höhnische Antwort „ja, sie warten nur noch auf dich", und eben so rasch stürzte die Grube zusammen. Nun hört man heutzutage blos noch den gefährlichen Burghaldengeist, denn wenn er schreit, so giebt's Hagel.

---

Digitized by Google

## 181. Verwünschte Jungfrauen und Horte.

a. Die Schloßjungfrau auf den Ruinen der Habsburg im Rheinstädtchen Groß-Laufenburg trägt einen mit Wein gefüllten Stauf in der Hand und wird von jenem erlöst werden, der ihr denselben trotz ihrer Wandlungen dreimal kredenzt.

b. Im Walde zwischen den Rheindörfern Wallbach und Zeiningen geht ein Weg, das Finstergäßchen. Dort begegnet es, daß sich einem ein großer Sack voll Laub vor den Füßen herwälzt. Wer den Muth hätte, still zu stehen und ihn zu öffnen, fände eben so viele Thaler, als Blätter drinnen stecken. Auf diesem Wege kam einem Bauern eine Jungfrau entgegen und bot ihm ein Röschen an. Gerade diese unerwartete Freundlichkeit brachte ihn in Angst. Er entlief, wurde dann darüber ruhelos und beichtete es zuletzt seinem Pfarrer. Dieser aber that recht ungehalten darüber, daß er eine Blume verschmäht habe, mit welcher man zu allen vergrabenen Schätzen gelangen kann.

c. Auf der Ruine Wessenberg bei Hottwil kann man mittelst eines schwarzen Kalbes den Schatz finden. Man weiß, daß ein grüngekleideter Mann droben im Berge steckt. Er trägt einen breiten Hut und Schnallenschuhe. Die Schloßjungfrau ist früherhin häufig im Thale erschienen und hat sich im Dorfbache gewaschen.

d. Beim Schlosse Homburg suchten ein paar Schatzgräber nach Geld. Da erschien ihnen eine Jungfrau, die sie in ungewohnter alterthümlicher Rede ansprach und verhieß ihnen alle Reichthümer, wenn einer von ihnen eine Nacht bei ihr bleibe; sie möchten nun darüber unter einander das Loos werfen. Statt dies zu thun, sprangen die Männer athemlos den Berg hinunter. (A. Birrcher in Laufenburg.)

e. Das Hudikreuz bei Leuggern steht im Immenholz, wo sich die Wege ins Reuenthal und ins Sandfeld scheiden. Hier bei dem alten bemoosten Kreuze läßt sich ein Mädchen in bunter Tracht sehen. Sie trägt bald ein sog. Güggehü-Hütli, bald einen Kranz im Haar; bald ist sie weißgekleidet, bald hat sie eine grüne Jüppe und ein rothgestreiftes Fürtuch an. Zwei Fuß hoch überm Boden schwebend zieht sie übers Feld hinauf längs dem Hag bis zum Strickerain. Am Gießberg macht sie mit ihrem Schlüssel ein Bohrloch in den Boden und versinkt beim Hudikreuz. So oft man sich diesem Nachts nähert, fängt es an zu rauschen. Sie soll hier unverdient den Tod durch Henkershand erlitten haben.

f. Elendskreuz heißt eine Grenzmark im Bezirk Kulm an der Straße, die von Menzikon in den Kanton Luzern führt. An diesem

Digitized by Google

Steinkreuze wurde eine Kindsmörderin hingerichtet. Man stürzte sie lebendig in ein Grab voll Dornen, überdeckte sie mit einer abermaligen Dornenlast und warf einen Haufen Findlingssteine drüber.

Balthasar, Luzern. Merkwürd. 63. — Bronner, Kant. Aargau 2, 306. Ueber den Namen Elendskreuz vgl. No. 415 „das Zurzacher-Elend."

g. Stampfisbach nennt man eine kleine Waldung beim Schwyzer-Dorfe Wollerau, in deren Nähe eine Oeltrotte an einem Wildwasser liegt, das über eine Rise des nahen Waldberges Els herunterkommt. Ein Frauengeist spukt in diesem Dickicht und ruft Nachts den Vorübergehenden zu: Drei Schritt aus dem Weg! Ein herzhafter Mann wich aber nicht zurück, sondern fragte sie um ihr Begehren. Sie verlangte, um selig zu werden, er solle ihr acht Messen, jede mit acht brennenden Kerzen, lesen lassen, dann sei das hier im Walde von ihr vergrabene Geld sein. Die versprochenen Messen wurden zu Wollerau richtig gelesen, die Stelle aber, wo das Geld im Walde lag, konnte nicht wieder aufgefunden werden.

h. Zwischen den Frickthaler-Dörfern Stein und Eiken liegt der Buchstallhag. In der dortigen Bruchmatte am Brunnen hütet ein weißgekleidetes Mädchen eine Schatzkiste und kommt sogar bis zur Landstraße herab, um die Vorübergehenden freundlich anzusprechen. Man nennt sie das Bruchmattmaidli. Im Jahr 1846 versuchten Schatzgräber hier ihr Glück. Sie trafen, erzählten sie nachher, wirklich auf eine vergrabene Kiste, allein sie versank vor ihren Augen noch tiefer in den Boden hinein. Vgl. No. 165.

i. Die Bückli-Eiche. In der Nähe, wo Rhein und Aare zusammenfließen, liegt am linken Aarufer das sog. Fullfeld. Beinahe in dessen Mitte erblickt man auf einer kleinen Anhöhe eine alte Eiche. An dieser Stelle, die jetzt Bückli-Eich genannt wird, soll einst ein schönes Schloß gestanden haben. Wo oder wie dessen Besitzer umgekommen, weiß man nicht, auch von seinem Haushalte ist weiter nichts bekannt. Doch muß es nicht ganz in Ordnung hergegangen sein, denn jetzt noch spukt es dort zur Nachtzeit. Eine weiße Jungfrau wandelt bisweilen auf dieser Stelle umher. Sie hat einen Schlüssel in den Händen und einen weißen Kranz auf dem Haupte. Sie geht mehremale im Kreise herum und verschwindet dann wieder. Die Bauern von Full haben sie schon oft so wandeln sehen, besonders zur Fronfasten und Adventzeit.

Ein Mann von Gippingen (Disli-Andres geheißen) hütete einst als Knabe dorten in der Nähe die Schweine. Da lief eines jener Weiber, die man hier zu Lande unter die Besessenen oder Betrübten

rechnet, das Fullfeld hinunter und rief dem Knaben zu: „Kind, bei der Eiche dorten ist ein Geldschatz verborgen in einer eisernen Kiste, und ein schwarzer Pudel hütet!“ Man fieng nun sogleich an nachzugraben und fand einen Feuerherd mit Resten von Kohlen und Asche. Endlich stieß man auf eine Mauer. Noch weiter zu graben, hatten aber die Leute das Herz nicht, aus Furcht vor dem schwarzen Pudel.

Die Stelle ist seither unbebaut und öde. Wenn man mit einem Karste dorten auf den Boden schlägt, so tönt es, als ob unterhalb Alles hohl wäre.

Ueber die alten Feuerherdstellen, kreisrunden Wohnplätze mit Ueberresten von Schweinsknochen, Asche und Geschirr, welche man bei sechs Fuß Tiefe im ebenen Ackerlande aufgegraben hat, vgl. Anmerk. No. 449. 183 (2).

Digitized by Google

# V. Zwergensagen.

## A. Aargauer Zwergensagen.

### 182. 1) Das Bettelweib in Wil.

Eine Stunde hinter der Stadt Aarau liegt im Jura das Bergdorf Ober- und Unter-Erlinsbach. Geht man dem Laufe des Dorfbaches weiter aufwärts nach, so kommt man in ein Hochthal, das man zu den schönsten des ganzen Gebirges zählen darf. Zwilfluh, Geisfluh, Ramsfluh, Egg, Schafmatt, Rothholz, Wasserfluh, sind die Namen der nächsten Berge, die im Umkreise einer Stunde die Landschaft nach allen Seiten eingrenzen. Dreitausend Fuß hoch reichen ununterbrochen ringsum die Buchenwälder und Bergwiesen; wie hellgelbe Bandstreifen flechten sich die Kalkfelsen oben durch die Hochwaldung, und noch auf den äußersten Felszinnen fort läuft eine Reihe unerreichbarer Legföhren, die sich zierlich fein gegen den Himmel abheben. Ein eigenthümliches saftgrünes Licht mildert die schweren Wald- und Bergschatten, auf den Matten gewahrt man ein paar rothe Ziegeldächer, von der Sennweide herab tönt Schellenklang, reichlich strömen und rauschen die Quellen zusammen, im Gebüsche schlagen zahlreiche Amseln, der Hühnerweih wiegt sich in der Luft, und diese sonst wilden Schluchten werden zu einem Bilde anmuthiger Einsamkeit.

Hier soll Wil gelegen haben, ein untergegangenes Bergdorf. Es ist älter gewesen, als die benachbarten Ortschaften, und es hatte schon sein eigenes Kirchlein, ehe das große Dorf Erlinsbach ein solches besaß. Die Mauertrümmer davon standen noch vor einigen Jahrzehenten oben in der Waldschlucht bei der Ramsfluh an der Heilquelle, wo man nun das Gasthaus zum Lorenzobad erbaut hat. Man konnte die alten Grundmauern damals nicht abtragen und mußte sie mit Pulver sprengen. Die Haupttragsteine und Gesimse waren schon früher weggeschafft worden, um sie in die Dorfkapelle von Ober-Erlinsbach einzumauern. Das jetzige Gasthaus bei der Quelle nimmt die Stelle des alten Grabackers ein. Da man beim Neubau den Boden umwarf, kamen so viele Gerippe auf einmal zum Vorschein, daß man sie auf den katholischen Kirchhof ins Dorf hinabfahren mußte. An einem Skelette fand man einen silbernen Ring, der aufbewahrt worden ist. Befremdend aber war es, ebendaselbst auf eine

ganze Schichte von Roßknochen zu treffen, die draußen um die Mauern herum wohlgeordnet lagen und zum Theil vom neben fließenden Waldbache blos gelegt waren. Das Volk sah in ihnen Ueberreste heidnischer Gottesverehrung. Denn man weiß, daß an dieser Stelle ein Eremite wohnte und die Leute der Umgegend aus dem Wasser der Lorenzoquelle zu Christen taufte. Ehe er hieher gekommen war, hütete ein weibliches Wesen diesen Born, man kennt sie jetzt noch allgemein unter dem Namen der Frau. Der Bannwart, der oben im Bergdörflein Hard wohnt, hat sie in den letzten Jahren einmal plötzlich im Tannenwalde getroffen und konnte ihr gerade noch ausweichen. Man fürchtet sie nicht, aber man meidet sie in ehrfürchtiger Scheu; denn sie allein ist übrig geblieben, da alles zusammen, das Dorf Wil und seine Kirche bei einem Erdbeben verschüttet wurde; auch die heilige Quelle, welche früher heiß floß, ist seitdem nur lau, da sie jetzt mit andern innern Bächen zusammen geschoben aus dem Berge kommt. Aber solche Fruchtbarkeit strömt noch immer mit Quelle und Bach ins Thal, daß kaum ein Stein mehr von dem alten Gerölle des Bergsturzes unübergrast und nackt daliegt.

Damals sind auch die alten Bewohner dieser Gegend ausgewandert, die Erdmännchen. Ihr Schloß hatten sie in der dem Bade gegenüber stehenden Gebirgskuppe, hoch oben in dem gewaltigen Felskegel der Ramsfluh. Die jetzt noch sichtbare Felshöhle war damals so groß, daß drinnen ein Reiter auf seinem Rosse aufrecht sitzen konnte. Nun ist der Ort schwer zugänglich, das Thor ist durch Bergschutt verengt, und erst wenn man sich durch den Einschlupf hindurch gearbeitet hat, wird das Innere der Höhle breiter und höher. Es führt noch eine Spur von Felstreppen hinan. Zur Seite klafft eine Oeffnung, das soll das Schaufenster für den Thorwart gewesen sein. Dann geht es stark in die innere Tiefe hinab, und von da soll ein unterirdischer Gang hinauf führen bis zur Spitze der eine Stunde entfernten Wasserfluh. Aber der Weg ist so klüftig und finster, daß man sich nicht hinab wagt; nicht einmal den ungeheuren Kautz kann man fangen oder schießen, der noch drinnen haust und bei Witterungswechsel das enge Thal Nächte lang mit seinem Geheule erfüllt. Dreifache Höhlen bildeten den Keller, den Wohnsaal und die obere Schatzkammer der Zwerge. Bei Regenwetter fließt nun der Ramsfluhbrunnen heraus, er kommt aus einem See, der im Innern des Gebirges liegen soll. Die Erdmännchen, die hier wohnten, trugen Mäntel, deren Saum weit über die Füße herabreichte und deren Kapuze den Kopf verhüllte. Wer im Dorfe buck, mußte ihnen einen Wähen vor das Fenster legen. Von ihnen hat man kein anderes

Digitized by Google

Ueberbleibsel mehr als die großen Alpenraben, die sich, außer in dieser Gegend, sonst im Jura nicht aufhalten sollen. Sie dienten den Zwergen als Boten, und auf ihnen sind sie auch miteinander aus dem Thale fortgeritten.

An jener Quelle in Wil gieng ein armes Weib einst am späten Winterabend vorbei, um ihr Bettelbrod heim zu tragen, das sie sich den Tag über droben in Hard bei den Bauern gesammelt hatte. Sie watete durch tiefen Schnee und fror jämmerlich. Da stand nun plötzlich ein Erdmännchen vor ihr und bat sie so dringlich als freundlich, auf der Stelle mit ihm hinauf in die Höhle der Ramsfluh zu kommen. Sie ließ sich durch den hohen Lohn, von dem er sprach, bewegen, den bösen Weg noch einmal zurück zu machen, und traf drinnen in der Höhle ein kleines Weib, das gerade in Kindsnöthen lag. Derlei war der Erlisbacherin nicht allzuneu; sie erinnerte sich, wie zu ihren Lebzeiten in den zwei Nachbarorten Wittnau und Niederwil noch seltsameres geschehen und dorten sogar ein Geisbock laufen gekommen sei, die Hebamme in den Berg hinauf zu holen. Als nun das Bettelweib ihren Dienst verrichtet hatte und ein wunderwinziges Kindlein die Wände beschrie, warf man ihr Glasscherben, Steinchen und Kohlen händeweis in Schürze und Sack und entließ sie alsbald unter vielem Dank und mit der besondern Mahnung, zu diesen unscheinbaren Dingen ja Sorge zu tragen. Das Erdmännchen selbst gieng ihr den steilen Weg voran und begleitete sie wieder bis zur Lorenzoquelle hinab. Die Frau fror auf dem bösen Steige bitterlich, und wenn sie ihre erstarrten Finger unter das Fürtuch verbergen wollte, verlor sie darüber bald dies bald das von dem Duzenderlei, was man ihr droben hineingesteckt hatte. So oft sie wieder etwas im Hohlwege fallen ließ, sagte das Männlein allemal:

Je minder as b'hebsch,
Je minder as hesch.

So kam sie endlich heim. Als sie da den Ueberrest von allem, was unterwegs nicht aus der zerlumpten Schürze gefallen war, beim Lichte ausbreitete, fand sie noch eine Glasscherbe, die zu Silber geworden war, und ein Köhlchen und ein Steinchen, das eine war in Gold, das andere in einen Edelstein verwandelt. Alles Suchen um das verloren Gegangene half nachher nichts mehr.

Digitized by Google

## 183. 2) Vo de Härdmändlene ûf der Ramsflue.

Hinder der Aerlisbacher-Egg, zwüschen-em Dörfle Hard und dem alte Lorenze-Kapällele, stoht im-ene Thæle so ganz elleige e grûsli vertræite Flue, se säge-ere d'Ramsflue. uf der hindere Site isch se hohl, und d'Höhli het numme e chlîne Igang. Do sind denn emole, me weiss nit äxact i wele Johrgänge, so rarige Mändle gsî, die sind i die Höhle ûs- und îgange, händ ganz e so es eiges Läbe gfüehrt und en apartige Hûshaltig, und sind ganz b'sunderig derhär cho, so wärklich gstaltet; und mit eim Wort, es isch halt kei Mönsch ûs-ene cho, wer se denn au seige, und was se trîbe. Ämel chochet händ se nüt, und Würzle und Beeri g'gässe. Unden-a der Flue vorbî lauft es Bächli, und i dem Bächle händ die Mändlene im Summer badet, wie Tüble, aber eis von-ene het immer Wacht gha und het pfiffe, wenn öpper derhär cho isch ûf em Fuesswäg: denn sind se amme gsprunge, was gisch, was hesch, der Bärg ûf, dass ene kei Haas noh cho wär, und wie der Schwick in ehre Höhle gschloffe.

Dernäbe händ se kem Mönsch nüt z'leid tho, im Gäggetheil, Gfelligkäite, wenn se händ chönne.

Einisch het der Hardpûr es Füederli Rîswälle glade, und wîl er elei gsî isch, het er's au fast nit möge. E so'nes Mandle gseht's vo der Flue oben abe und chunt dert dur ab z'höpperle über d'Riese, und hilft dem Pûr, was es het möge. Wo se de der Bindbaum wänd ûfe thue, so isch das Mandle ûf em Wage gsî und het grichtet, und der Pûr het überunde azoge a de Bindchneble. Do het das Mandle s'Seil nid rächt ume g'liret, und wo der Pûr azieht, schnellt der Baum los und trifft s'Mandle ane Finger und het's würst blessiert. Do föht der Pûr a jommere und seit „o heie, o heie, wenn's nummen-au mer begegnet wär." Do seit das Mandle „abba, das macht nüt; sälben tho, sälben gha!" Mit dene Worte springt's vom Wagen abe, het es Chrütli abbroche, het's verchavlet und ûf das bluetig Fingerle g'leit, und das het all's ewägg putzt. Do springts wieder ûfe Wage und het zum Pûr gseit, er soll s'Seil numme wieder umme gê.

Mängisch wenn rächtschaffne Lüt dur'n Tag g'heuet oder bunde händ und se sind nit fertig worde bis z'Obe und s'het öppe welle cho rägne, so sind d'Härdmandle cho, und händ g'schaffet und g'wärnet drûf îne, bis alles im Schärme gsî isch. Oder wenn's dur d'Nacht isch cho wättere, händ se s'Heu und s'Chorn, wo düsse glägen-isch, de Lüte zum Tenn zuetreit, und am Morge

Digitized by Google

het halt alles gross Auge gmacht und se händ nid gwüsst, wer's tho het. Denn hend erst no die Mandle kei Dank begehrt, nummen-au dass me se gern het.

Amme-n-im Winter, wenn alles Stei und Bei gfrore gsî ich, sind die Mandle is oberst Hûs chô z'Aerlispach; se händ's halt gar guet chönne mit dene Lüte, wo dört gwohnt händ, und sind amme durh d'Nacht ûf em Ofe gläge, und am Morge vor Tag händ-se se wieder drûs gmacht. Was aber gar gspässig gsî isch: se händ ehre Füessli nie vüre glo, händ es scharlachroths Mäntele træit vom Hals bis ûfe Bode-n-abe. Jetz hets im Dôrf so gwunderige Maitle und Buebe gha, die sind einischt z'Nacht vor das Hûs go gên Aesche streue, dass se gsäche, was de Härdmändle für Füessle hebe. und was händ se g'funde? s'isch frîle wunderli: Änten- und Geissfüess sind i der Aeschen-abdruckt gsî.

Aber vo säller Stund a isch keis Mandle meh cho, und se sind au nümme ûf der Ramsflue bliebe; i die Kräche händ se se verschlosse, tief i d'Geissflue hindere, und händ keis Zeiche mê von-ene gê, und chömme nümme, so lang d'Lüt eso boshaft sind. (Grimm, Mythologie, pag. 419, nach Hieron. Hagebuch aus Aarau.)

---

## 184. 3) Die Erdleute bei Oberhof.

Hinter der Rams- und Wasserfluh liegen im Frickthaler-Jura zwei zierlich aufstrebende waldige Berggipfel, die beiden Strichen; nach ihren zwei zunächst gelegenen Dörfern unterscheidet man sie in in den Asper- und den Oberhofner-Strichen. An den letzten, dessen Höhe 2872 Fuß beträgt, knüpft sich folgende Erzählung, die aus dem Munde eines dort wohnenden Bauern stammt.

Zwei Schnittermädchen waren in der Aernte zusammen in den Oberhofner-Feldern. Plötzlich schrie das eine: Ursi (Ursula), schau diese mächtig große Kröte! soll ich ihr eins mit der Sichel geben? Nein, Bürgi (Walburg), rief die andere Schnitterin, bei Leib nicht! Schau nur diese Dicke und Gedunsenheit; merkst du doch selbst, wie es mit dem Wust da steht, er wird uns zu Gevatter bitten wollen. Inzwischen schien die Kröte weggekrochen zu sein und die beiden Mädchen schnitten weiter. Als sie Abends heim kamen und davon erzählten, meinte die Mutter: Ursi, da hast du wieder einmal dein Maul gebraucht und weißt nicht, gegen wen. Hüte dich, es setzt leicht Böses ab; denn schon oft hab ich gehört, auch der Teufel könne sich in Kröten verwandeln.

Digitized by Google

Diese Warnung war indeß schon zu spät gekommen. Noch in derselben Nacht, als beide Mädchen ruhig schliefen, klopfte es an ihr Fenster, und eine Stimme sprach: Ursi, denk an dein gestriges Versprechen, steh auf und komm schnell mit! Ursula hatte auf den ersten Ruf noch geantwortet und war nach der Thüre gegangen in der Meinung, ihr Liebhaber aus dem Dorfe warte drunten. Als sie aber sich an ihr gegebenes Wort mahnen und vom Fortgehen hörte, erschrak sie überaus, doch in Angst und Rathlosigkeit öffnete sie. Hier stand ein Erdmännchen und bat sie dringend, mit ihm zu gehen. Das Mädchen folgte ihm. Die ganze Gegend, durch welche sie nun kamen, war ihr wohlbekannt. Am Strichen aber stiegen sie in eine Tiefe hinunter, die Ursi vorher noch nie bemerkt gehabt hatte, und hier öffnete sich ein unterirdischer Gang. Da hindurch mußten sie. Zuletzt gelangten sie auf eine weite helle Wiesen-Ebene, auf der eine ganze Menge überaus zierlicher Häuser stand. Ein jedes schien ganz aus Glas, denn von einer Hauswand zur andern war alles durchsichtig, und die Lichtlein, die drinnen brannten, leuchteten selbst durch das Dach heraus. In ein solches Häuschen führte sie der Begleiter. Hier lag ein sehr blasses Erdweibchen im Bett und hatte neben sich ein neugeborenes Kind. Dieses gab man dem Bauernmädchen auf den Arm und sie mußte es einem langen Zuge von lauter Erdmännchen voran auf der Stelle aus dem Hause tragen. Statt auf den Arm nahm sie das daumengroße Kindlein in die hohle Hand. Ihr früherer Führer wies sie in eine eben so glänzend erhellte Kristallkirche hinein, um hier Kindstaufe zu halten. Sie weigerte sich nicht und verrichtete nach katholischem Brauche die Nothtaufe an dem Zwergenkinde. Nachdem alles beendigt und das Kleine wieder zur Wöchnerin zurückgebracht war, zog diese fünf Strohhalme aus ihrem Strohsacke heraus, und bot sie ihrer neuen Gevatterin zum Andenken; für die Schwester Bürgi jedoch übergab sie ihr zugleich einen kostbaren Gürtel. Dieser Gürtel, sagte sie, gehört für deine Schwester; aber daß ja niemals weder sie noch ein anderes ihn umgürtet, bis ich es Euch einmal werde wissen lassen!

Bald war Ursula wieder von dem Bergmännchen durch den unterirdischen Gang zurückgeführt. So wie sie unter den freien Himmel gekommen waren, zeigte er ihr auf den Birnbaum hinunter, der die Grenze ihres väterlichen Gutes ausmachte, und den sie im vollen Mondschein wohl erkannte, dann verließ sie der Kleine. Als sie ihrer Befangenheit los geworden, fieng sie an über das elende Geschenk zu zürnen, das man ihr bestimmt hatte, und warf sogleich viere von ihren fünf Strohhalmen aus dem Züppensack. Aber da sie nun zum

Digitized by Google

Birnbaum kam, fiel es ihr plötzlich ein, gleich hier jene besondere Wirkung des Gürtels zu erproben, den man ihr für die Schwester und unter der seltsamen Weisung mitgegeben hatte, ihn ja niemals vor der erhaltenen Erlaubniß zu tragen. Kaum hatte sie nun den Gürtel um den Stamm gespannt, so zerspaltete der ganze Birnbaum in tausend Splitter und war augenblicklich zu einem Häufchen bloßer Asche zusammen gesunken. Tief erschüttert dachte jetzt das gute Mädchen an die Schwester, und wie es dieser hätte ergehen müssen, wenn ihr das verwünschte Zaubergeschenk jemals zugekommen wäre. Eilig rannte sie davon, um daheim die überstandene Gefahr zu erzählen. Aber zu Hause wollte nun niemand, nicht einmal Bürgi ihr glauben. Vergebens berief sie sich auf den Gürtel; dieser war ja mit dem eingeäscherten Birnbaum verschwunden, und ihre paar elenden Strohhalme hatte sie auch schon weggeworfen. Jetzt suchte sie nach dem letzten übrigen im Sacke und zog vor aller Augen statt seiner einen goldnen Schauthaler heraus. So wie der Tag anbrach, suchte man am ganzen Strichen nach den vier andern Halmen; weder sie, noch Goldthaler, noch den Gürtel fand man mehr.

Das letzte Ueberbleibsel der Zwergenwirthschaft in dieser Gegend ist das Heidenbrünnlein, ein hübscher Bergquell, von dem es heißt, er laufe alle Freitage trübe. Eine benachbarte Quelle an der Bergstraße der Staffel-Egg ist von allen Wanderern besucht, und heißt das Schellenbrünneli. Ueber Letzteres vgl. No. 211, 30. Obige Sage wird auch vom Schümberge, dem höchsten des Frickthaler Jura erzählt; der erwähnte Birnbaum steht dorten auf der Lenzimatte bei Wölfliswil.

---

## 184 b. d'Härdwîbli am Strihä.

Mä g'hört nüt meh vo de Härdwîblenä. d'lüt si affäh gar fûl (boshaft) und sît s'enä äschä g'sträüt häigä, sîgä si nümmä cho. Das si au lüt gsî, wedder nummä chlîligi, und häi ne mänschefuäss und e gäüsfuäss gha. Si häigä de lütä ghulfä z'acher fahra; do derfür häig n'enä d'lüt, eb si ab em feld hei sîge, wäijä ûf e pflug gleit, und wenn si wieder anä cho sîge, se häigä si gold drûf gha. im Ifang (Name eines Mattlandes) sîgä sibä hüser gsî und dörthi sîge d'Härdlüt ammä z'liächt. derno häig es Härdwîbli înerä frau d'rîstä a'gleit (Flachsreisten aufgebunden) und häig gsait, si söll's niäm sägä, und ûs der glîchä rîstä häig si drü johr chönne spinnä. ihre g'vatteri häig si mängist gfrogt, wiä si's au mach, si spinn allä wîl und häig immer diä glîchlig rîstä? z'letzt

Digitized by Google

het si's der g'vatteri gsait: es häigerä si 'nes Härdwîbli a'gleit. derno häig si aber numme no zweü hüfli chönne drûs spinnä und sîg demit abgsi. Allwäg het si 'ringer g'schwigä. Mä sait d'Härdwîbli sigä im Strihä (Strîchen, Juraberg) innä und wäschä drinn, und dessetwägä lauf's Äschäbrünneli z'all mittwuchä und frîtig trüäb.

Oberhofer-mundart. mittheilung von hn. lehrer Lenzin.

---

## 184 c. Das Innere des Strichenberges.

Zu Ende des vorigen Jahrhunderts verfielen einige Oberfrickthaler Bauern auf die Meinung, der höchste Juraberg ihrer Gegend, der Strichen bei Oberhof, müße in seinem Kerne goldhaltig sein. Man bekräftigte sich diesen Glauben durch goldfunkelnden Lehm, den eine Quelle aus dem Berge herausschwemmte, noch mehr aber durch die auch jetzt noch lebendigen Erzählungen von der Zwergenwirthschaft, die sich an diese Waldberge knüpft, und von den goldenen Geschenken, die manche Leute mit ins Dorf herunter gebracht haben sollten. So kam man zum Entschlusse den gewaltig breiten Strichen bis in sein Inneres hinein anzugraben. Auf seiner halben Höhe, nahe an dem Wege, der über die Benken nach Aarau führt, begann man eine Schürfung; dorten an dem linken Straßenbord ist auch heute noch eine große ringförmige Grube in der Wiese zu erkennen, innerhalb ihrer eigenen Umschüttung liegend und schon wieder übergrast. Bald fand sich auch ein Bergknappe, der den Leuten den inneren Bau des Gebirges erklärte und ihnen die Art angab, wie man demgemäß den Stollen zu schlagen und fortzuführen habe. Da die Voraussagungen dieses Mannes ganz zutreffend blieben, so überließen sich die Theilnehmer seiner Leitung und trieben nun den Stollen wohl bei einer Viertelstunde unterirdisch weiter. Je weiter man vordrang, um so richtiger erwiesen sich alle Behauptungen des fremden Bergknappen. Dennoch stockte das Unternehmen gar bald wieder, weil sich, wie die Männer erklärten, eben gar kein Gold finden lassen wollte; aus ihrer Erzählung aber hört sich die Angst vor den im Berge hausenden Erdmännchen so deutlich heraus, daß vielmehr diese die Leute bewogen hat, die Arbeit einzustellen. Sie schildern ihre Erlebnisse folgender Maßen.

Im Anfange begegneten die Schaufler einem im Innern mächtig sich aufthürmenden Felskegel, der ihnen die Richtung zu sperren drohte. Während man versuchte ihn zu umgehen, fand sich's, daß er rund-

Digitized by Google

förmig wie ein einzelstehender Thurm für sich emporstieg, und man konnte ihn also nebenher stehen lassen. Allein er zeigte eine eigenthümlich schwarze Oeffnung in seiner Grundlage, die wie ein Ofenloch gestaltet schien, und dies reizte einen der Bauern hinein zu steigen. Er fand das Innere ganz einer Schloßküche ähnlich, von oben her hieng jedoch ein einzelner Felsen herab, wie der Klöpel in einer Glocke sich bewegend, und drohte den Verwegenen augenblicklich zuzudecken. Weiter nach innen trafen die grabenden Männer auf einen Abgrund, der abermals zu ihrem Glücke nur seitwärts hinzog und ihnen kein Hinderniß wurde; derselbe war so erstaunlich tief, daß man von nun an allen Schutt des Stollens, den man vorher mit Mühe und Zeitverlust zum Berg hatte hinauskarren müßen, in ihn hinunter leerte. Nie aber konnte man aus dem Tone des hinabkollernden Gesteines schließen, daß der Abgrund sich auszufüllen beginne. Noch tiefer drinnen im Berge erschien ein See, mit dessen Spiegel man in einerlei Richtung stand. Jenseits desselben, so hatte ihnen der Knappe schon vorher gesagt, werde das Goldlager anstehen; denn aus diesem Gewässer müße jene Quelle stammen, deren einzelne Goldplättchen das ganze Unternehmen ursprünglich eingegeben hatten. Niemand wollte sich entschließen, dieses schwarze und unüberseybare Gewässer zu überfahren, und die Leute wurden uneinig. Des Nachts, da sie zusammen in ihrer Kammer lagen, sahen sie auf ihrem Werkzeugskasten eine dünne Flamme lange brennen. Dies deuteten sie nun auf die nahe Gefahr, die ihrem Leben drohe, und sie ließen den Bau verfallen.

---

## 185. 4) Die Erdweibchen in Effingen.

Wenn man vom Frickthaler-Dorfe Zeihen nach der Sägemühle zu geht, so hat man links einen schönen Tannenwald, rechts Weinberge; oberhalb der Thalmatten bildet dann der Bach, der das Thälchen durchfließt, einen Wasserfall, die Imberger-Wag geheißen. Das Rauschen des fallenden Wassers, die senkrechten Felswände, hohe Steinblöcke auf der andern Seite, die augenblicklichen Sturz zu drohen scheinen — dies alles macht einen überraschenden Eindruck. Aber die Dorfbewohner sehen noch allerlei anderes und geheimnißvolles in diesen Dingen. Sie wissen, daß ein heiliger Waldbruder vor Alters hier sich aufgehalten hat; sie malen sich in den Felstrümmern die Trümmer eines Raubschlosses aus, das da sein Schatzgewölbe hatte, wo jetzt die Höhle ist im Weinberge zu Effingen, und endlich wissen sie, daß diese Höhle auch die Wohnung jener Erdweibchen gewesen sei, die sich

Digitized by Google

hier lange Zeit hindurch eingewohnt hatten. Und in der That weist das Innere der Höhle halb und halb auf einen niedlichen Haushalt hin. An der einen Wand sind mancherlei muldenförmige Vertiefungen zu sehen; das ist der Backtrog und andere kleine Gelasse; an der nördlichen Seite scheint eine Felsplatte zum Tische verebnet zu sein; hinten stehen Trümmer, die einem Steinofen ähneln, vorne sprudelt sogar ein nettes Brünnlein auf. Das alles sollen die Erdweibchen mit unbedingtem Gehorsam, wie es ihnen ihre Meisterin gebot, aus dem Felsen gegraben haben, nachdem sie von den hartherzigen Menschen aufs Feld gejagt und mit dem Tode bedroht worden waren, soferne sie sich je wieder im Dorfe blicken lassen würden. Und doch war die Furcht der Effinger eine so thörichte. Denn die Weibchen thaten jedem Armen Gutes, wo und wie sie nur konnten; jedem Holzhacker im Walde halfen sie seine Reißwelle zusammen klauben, den Mädchen, die Erdbeeren suchten, pflückten sie die Körbchen voll. Nach und nach wurde man wohl wieder ein wenig duldsamer gegen sie und es verschloß sich nicht jede Thüre mehr vor ihnen; aber immer noch war eine Scheu vorherrschend, wenn man ihre dicken kraushaarigen Köpfe betrachtete und das thierisch gestaltete Ohr. Man wollte aber der Sache ganz auf den Grund kommen, und namentlich auch ihre Füße einmal genauer kennen lernen, die sie in langgefalteten Röcken vorsichtig verbargen. Also streute man neben dem Rebberge Asche in den Fußweg, und bald darauf sah man dorten nichts anderes als lauter Gänsefüße eingedrückt. Nun war's aus bei den Bauern und bei den Erdweibchen. Diese flüchteten sich in die Imberger-Wag hinauf, und als das Volk mit Prügeln und Heugabeln heraufzog, um sie wie Heren auszutreiben, verschwanden sie auch da. Nun sieht man sie nur noch an der heiligen Weihnacht; processionsweise kommen sie in schimmernden Kleidern von der Höhle nach jenem Wasserfall gegangen, jede mit einem kleinen Kinde auf dem Arm.

---

## 186 a. 5 a) Das schwere Kind am Seckenberge.

Sommers findet man in blühenden Kleefeldern manchmal ein feinlockiges engelschönes Kind auf schneeweißen Windeln bloß daliegen. Will man's aufnehmen, so wird's immer schwerer, und gerade während man sich darum ängstiget, es ja nicht aus der Hand fallen zu lassen, ist es auch plötzlich verschwunden. Die Meinungen darüber sind verschieden. Man glaubt, es künde den Tod dessen voraus, der ein solches Kind erblickt; oder man deutet es auch auf einen besonders



Digitized by Google

fruchtbaren Jahrgang. Man hält es aber überhaupt für ein Kind, das den Erdmännchen selber gehört, oder das sie den Menschen gestohlen haben. Denn Chrügeli nennt der Aargauer ein kleines gesundes Kind, und Chrügelnägeli heißt man auch jene verdächtigen Felslöcher im Jura, deren innere Beschaffenheit nicht recht ausgemacht ist. So liegt auf der hohen Gislifluh bei Aarau ein solches Chrügelnägeli, ein steiler und enger Durchschlupf im Bergkamm, und gleich in der Nähe ist die Zwerlimatte.

Hauswirth hieß der Junge, der bei einem Handwerker im Dorfe Frick in der Lehre stand und einmal ausgeschickt worden war, im Walde Leseholz zu suchen. Als er oben auf dem sogenannten Seckenerberge ausruhte, der gegen das Dorf Eiken zu liegt, hörte er jenseits des Waldgrabens, an dem er saß, die Stimme eines Wickelkindes. Hauswirth hatte daheim schon genug Schläge darüber bekommen, daß er des Meisters Kinder nicht fleißig hüten mochte, und kümmerte sich jetzt um dieses noch weniger, das da so unvermuthet schrie. Als er aber endlich aufstand und heim wollte, sah er wirklich ein so hübsches Kind drüben am Graben liegen, daß es ihm augenblicklich das Herz bewegte. Er wollte es aufnehmen, hatte aber eine ganz unbeschreibliche Mühe, es nur umfassen zu können. Zuletzt war es gar verschwunden und er stand allein am Graben. Großer Schreck ergriff ihn. Er wurde von der Zeit an daheim immer stiller und starb jung.

---

## 186 b. 5 b) Die Erdbibberli zu Frick.

Auf der Waldhöhe des Frickerberges wohnten winzig kleine Leute in Steinhöhlen, durch die sie sich gar hübsch und nach der Ordnung ihre Taglichter gebrochen hatten. Bei Tag zwar trieben sie kein Geschäft und Helle hatten sie daheim nicht nöthig; war es aber schon spät Abend auf dem Felde und ein fleißiger Bauer konnte nach einem heißen Aerntetage seine Garben doch nicht alle zumal heimbringen, dann kamen die kleinen Leute zu ihm herunter und halfen, daß er Schober und Mandel nicht über Nacht auf dem Acker stehen lassen mußte. Auch ins Dorf herein kamen sie an Winterabenden zu Stubeten (auf Besuch) und halfen Hanfstengel raiten, oder Flachs spinnen. Ein noch nicht bejahrter Mann versichert, er habe als Knabe noch manchmal ihre Wohnungen weit in den Berg hinein begangen, die Erdbibberli aber seien damals schon ausgezogen gewesen, weil ihnen die vorwitzigen Leute Asche hinein geworfen hatten. Ungeheuer oder gar Gespenster seien sie aber nicht gewesen, sonst hätte man nicht bei-

Digitized by Google

nahe in allen ehrbaren Haushaltungen die schönsten Geschichten über sie zu erzählen gehabt.

## 187. 6) Das Erdweibchen in der Hufenfluh.

Die Hufenfluh liegt am rechten Ufer der Aare im Zurzacher-Bezirke; sie ist eine Felswand mit einer großen und tiefen Höhle. Darinnen wohnen jetzt noch Erdmännchen und Erdweibchen, die ehemals all ihren Bedarf an Brod und Mehl in der Thalmühle zu holen pflegten. Eben dahin hatte sich eine wunderbar kleine Dienstmagd verdungen gehabt, die auch ein solches Erdweibchen war. Sie begnügte sich in Speise und Trank mit allem, was die übrigen Hausgenossen ihr gaben, lebte mit dem Gesinde in bestem Frieden und war von einer ganz unermüdlichen Arbeitsamkeit. So ward sie den Leuten immer lieber und man hatte sie in allem viel zu nothwendig, als daß es einem noch beigefallen wäre, sich ein Grausen an ihrer bedenklichen Abkunft zu nehmen. Einst, da sie eben eine gar große Bürde Gras auf dem Kopfe heimtrug, kam ein kleines Männchen von der Hufenfluh her ihr auf die Matten entgegen und sagte ihr ein Wörtchen ins Ohr; sogleich legte sie die Bürde ab und ohne nur ein anderes Fürtuch umgethan zu haben gieng sie, wie sie war, mit ihm hinweg. Man glaubte in der Mühle ganz bestimmt an ihre baldige Rückkehr, aber niemand bekam sie mehr zu sehen.

## 188. 7) Weise Frauen um Kienberg.

Auf der Frauenhalde, waldwärts beim Dörfchen Kienberg im Frickthale gelegen, wohnen noch Erdweibchen, die man für weise und heilige Frauen hält. Aber weder gehen sie zu den Landleuten mehr ins Dorf, noch nehmen sie deren Besuch an. Man sagt, sie und die Erdmännchen im Dorfe Densbüren, über der Staffelegg drüben, seien scheu geworden, seit des alten Schak's (Jacques) Frau ihnen einmal Asche gestreut hat. Wenn aber ein armer Bube beim Heimschlitten des Holzes sich quetscht, so legen sie ihm ein Heilkräutlein auf.

## 189. 8) Der Frauenhügel bei Brugg.

Nach dem Glauben des Landvolkes hatten sich schöne Weiber auf den Waldwiesen unferne dem Städtchen Brugg einen Lustgarten angelegt, den man Beijel (Bühl) nennt, und sangen darin so schön,

daß die Waldthiere schwiegen. Vor den Leuten entwichen sie. Doch soll man ihre reizvollen Gestalten noch alljährlich am Charfreitag erblicken können, und wenn ein armes Kind dorten im Walde beim Holzlesen einschlummert, so hat es beim Erwachen schon manchmal einen Blumenkranz um sein Haar gefunden.

---

## 190. 9) Erdmännchen in der Stiftshalde.

Stiftshalde heißt jene Staatswaldung, welche sich ob den Weinbergen des Frickthaler-Dorfes Hornussen hinzieht. Dort wußte man noch vor etlichen zwanzig Jahren das Erdmändliloch, eine Höhle, worin die Zwerge übernachteten; denn ihren Tag brachten sie herkömmlich in Hornussen zu und waren in allen Häusern des Dorfes bekannt. Dem Feldarbeiter kam ihre Aushilfe gerade so zu statten, wie ihre Anstelligkeit in Küche und Wirthschaft der Hausfrau erwünscht war. Man hielt sie deshalb den Nächsten der Familie ganz gleich; und wenn sie ja schon mit den Kindern tüchtig zu Mittag gegessen hatten, so bekamen sie doch auch noch ein Bischen von den eingeschlagenen Eiern oder dem Pfannendotsch (Eierkuchen), den sich die Mutter hinterher kochte, wenn sie an gar zu schweren Arbeitstagen sich selber was Gutes thun wollte.

Da hatte sich nun in jener Zeit unser reiche Müller ein neues Mühlwerk näher zum Dorf her gebaut, und es war ihm sehr daran gelegen, diese Männchen als einen Haussegen mit in sein neues Quartier herüber zu ziehen. An dem Tage also, den er zu seiner Auffahrt in die Mühle bestimmt hatte, mußten alle Räder klappern, mußte das frische Feuer am Herde prasseln und der schneeweiße Schlot sich in Dampf hüllen; und Kuchen hatte er backen lassen, deren Geruch so süß durch die Gasse hinaufzog, daß sogar die Männchen lüstern darnach wurden, die sich bekanntlich auf derlei am besten verstehen. Sie nahmen also des Müllers Einladung an. Eine lange blaue Zipfelmütze am Kopfe und in langen Röcken, die ganz über die Füße herabreichten, kamen sie zur Stubenthüre herein und blieben da zusammen sittsam stehen. Aber gerade um das Aussehen dieser verhüllten Füße war's jetzt dem neugierigen Müller zu thun. Deswegen hatte er heute schon vor ihrem Erscheinen von der Thüre an bis zum großen runden Schiefertische Mehl und Kleie über den Boden streuen lassen. Da waren Kraut- und Ramwähen, Speck- und Zipärtlikuchen (aus Cyperpflaumen) aufgetragen von einer Größe, daß sich keine Platte dazu fand; lauter besondere Lieblingsspeisen des kleinen Volkes. Der Müller

Digitized by Google

hieß sie also frisch herzusitzen; sie folgten, und nun hatte der Schlaukopf, was er gewollt hatte. Aber während er so ihre Fußstapfen betrachtete und lauter Platsch- und Gänsefüße sah, hielt er nicht länger an sich, sondern brach darüber in ein lautes rohes Gelächter aus. Sogleich verließen die geschämigen Männlein Stube und Haus; seit jener Zeit haben sie auch das Dorf nicht wieder betreten. Bald wurde der Müller vergantet (fallit), und da sein großes Gut kein Anderer mit Vortheil kaufen oder lange behalten konnte, kam es endlich gar an das Stift Seckingen am Rheine drüben im Schwarzwalde. Nachmals gieng man noch oft in die Männleinshöhle hinauf, um nur wieder etwas von ihnen zu sehen. Der alte Schullehrer selbst war einmal weit hinein gekrochen, fand aber in dem finstern Gewölbe nichts anderes als zahllose Fledermäuse; weil man den Erbgrind bekommt, wenn diese einem ins Haar gerathen, so machte er sich schleunig wieder heraus. Später hat er nicht einmal mehr die Höhle auffinden können auf jener Seite, wo man am ehesten zukommt; und anderen, die sie auch genau gekannt haben, gieng's ebenso. Nur das weiß man noch, daß sie nach Innen immer weiter und größer wird, bis sie tief hinten an einen unterirdischen See führt. Ueber diesen ist aber noch kein Lebender gefahren.

---

## 191. 10) Bergmännchen auf der Hagleſtä.

Hagleſtä ist der Name eines Juraberges im Frickthale nahe beim Dorfe Magden. An seinem Fuße ist eine Höhle, in welcher Bergmännchen wohnen. Noch vor hundert Jahren kamen sie Nachts den Bach herunter und machten den Leuten in der Alten Mühle ihren Besuch. Da brachten sie ihre Kunkeln mit und spannen um die Wette. Wenn es Mitternacht wurde, hörten sie auf und giengen heim; hatte man auch die Uhr gestellt, damit man den Schlag nicht hören sollte, so waren sie zur bestimmten Stunde sonst verschwunden. Besonders gegen die Kinder thaten sie freundlich und schenkten ihnen manchen Edelstein, den man noch lange nachher bewahrt oder um hohes Geld verkauft hat.

Ein armer Tauner (Taglöhner) arbeitete einst noch spät Abends auf dem Felde, wenige hundert Schritte vom Dorfe entfernt, da sah er ein Bergmännchen, schwebend wie ein Sommervogel, über die Höhe herunterkommen und sich bei ihm niederlassen. Es grüßte artig und suchte ihm eine Schürze voll Kohlen aufzunöthigen. Der Mann konnte nicht begreifen, was ihm das eitle Zeug nützen sollte und war schon

Digitized by Google

viel zu arbeitsmüde, um sich darüber in einen Disput einzulassen. Endlich da das Bergmännchen mit Zureden nicht nachließ, nahm er ihm doch aus Gutmüthigkeit ein Köhlchen aus der Schürze und steckte es ein. Das Bergmännchen gieng nun weiter, sah aber nicht mehr so zufrieden drein, wie vorher. Als der Tauner am folgenden Morgen sich ankleidete, fühlte er noch das Kohlenstück in seiner Tasche stecken und wollte es herauswerfen; aber nun zog er ein eben so großes Stück Gold aus dem Sack und verstand freilich jetzt die gestrige Dringlichkeit seines Wohlthäters. Gleichwohl ist er nachher ein reicher Mann geworden.

Erst vor einigen Jahren ist ein hochbetagter Magdener-Bauer gestorben, von dem man weiß, daß er als vierzehnjähriger Knabe beim Holzfällen durch Zufall in jene Höhle auf der Haglestä gerieth und dorten mit Rammwähen, Butterschnitten und Kuchen aufs allerbeste bewirthet wurde. Nach ihm kam noch ein anderer Knabe in dasselbe Revier und immer war es ihm, als ob ihm da ein Geruch von Backwerk in die Nase steige. Gleich fand er auch einen Eierkuchen, der so breit wie der ganze Baumstamm war, auf dem er wie auf einem Teller hergerichtet lag. Aus Hunger riß der Bube den Fladen in zwei Stücke, und in dem Augenblick standen die Männchen vor ihm, nahmen ihn mit in ihre Höhle hinauf, zeigten ihm alle künstlichen Gewölbe und setzten ihm ganze Trachten der allerbesten Speisen vor. Weil er sehr ermüdet war, schlief er schnell bei ihnen ein. Am Morgen lag er zu Hause in seinem Kämmerlein, seine Waldart aber neben ihm im Bette, in einen gewaltigen Laib Brod geschlagen. Als er den Laib anschnitt, fiel eine solche Zahl Goldstücke heraus, daß er einer der vermöglichsten Männer im Dorfe geworden ist. So thaten die Zwerge mancherlei Gutes, bis sie die Neugier der Leute vertrieb. Denn die Müllerin wollte schon lange gerne wissen, ob diese Männchen Füße hätten oder nicht, und hatte ihnen in der Spinnstube Asche unter Tisch und Bank gestreut. Sie merkten den Verrath und verschwanden unter dem Rufe:

Lauf, Küngi, lauf,
Die Welt ist falsch und taub!

---

## 192. 11) Der Eiszapfen zu Böbikon.

Vor mehr als fünfzig Jahren gieng ein Mann von Böbikon, im Bezirke Zurzach, zur Zeit des Heuet in den Wald, Holz zu holen. Als er an dem Mühlenbach in die Gegend kam, die man den Kessel

Digitized by Google

heißt, sah er am Felsen große Eiszapfen in der Sonne schimmern, so klar, wie sie nur mitten im Winter von seinem Strohdache herabhiengen. Das große kristallhelle Eis wunderte ihn nicht wenig, er brach ein Stück ab, und da es ihm in der Hand nicht schmolz, steckte er's zu sich und nahm's der Seltenheit wegen mit heim. Als er's seinen Leuten, die eben vom Felde nach Hause kamen, zeigen wollte, erstaunten sie alle nicht wenig, da er statt des Eisstückes nun einen eben so großen lauteren Silberzapfen auf den Eßtisch legte. Sie faßten erst wirkliches Zutrauen, als er ihnen den einfachen Hergang erzählte.

Ein Gleiches hat sich am Homberge, zwischen Reinach und dem Hallwiler-See zugetragen. Da fand droben im Hochwalde ein armer Weber eine tiefe Erdgrube, von der man vorher noch nie etwas gehört hatte. Er stieg hinab und gerieth in einen so rein gegrabenen unterirdischen Gang, daß man glauben konnte, hier müße einst ein Bergwerk gewesen sein. Zuletzt waren hinten lange Stäbe gegen beide Wände wie ein Gitter gespreizt und sperrten den Durchweg. Als aber der Mann an sie schlug, klang es glockenhell und allerlei Stücklein sprangen davon ab, die am Boden wie Gold glänzten. Er las diese Abfälle sorgfältig auf und machte sich dann schnell davon; denn alles, was er je über die Erdmännchen gehört, kam ihm plötzlich in den Sinn und eine große Angst befiel ihn. Gleichwohl gieng er später wieder hieher und wollte sich mehr von dem Golde holen. Allein schon mußte die Obrigkeit Wind davon bekommen haben, denn jetzt fand er den Eingang zur Höhle vermauert.

---

## 193. 12) Die Erdmännlein zu Leuggern.

Bei Leuggern, einem Dorfe das nahe dem Ausflusse der Aare in den Rhein gelegen ist, findet sich in den Waldungen zwischen Fehrenthal und der Mooshalde in einer Bergwand eine runde Höhle, in deren Innerem viele geheime Gänge in Windungen und Zickzack laufen. Hier haben Erdmännlein gewohnt, die von Gestalt zierlich und niedlich gebaut, etwa drei Fuß hoch waren, blaß aussahen, wolliges Haar hatten, im Uebrigen aber gewöhnlichen Menschen glichen, nur daß man keine Füße an ihnen bemerken konnte. Nachts kamen sie häufig in die Wohnungen und verrichteten bei den Bauern allerlei Geschäfte, fütterten das Vieh und halfen sogar mitwaschen. Gleich nach dem Läuten der Betglocke erschienen sie und schafften oft die ganze Nacht hindurch; läutete aber die Morgenglocke, so verschwanden

sie plötzlich mitten unter der halbgemachten Arbeit. Der größte Glanz verbreitete sich, so lange sie da waren, und im nächsten Augenblicke schon waren sie nicht mehr zu sehen. Auch brachten sie schön gebackene Kuchen mit, und meiner Großmutter Bruderſohn erinnert sich noch, in seiner Jugend selber davon gegessen zu haben. Einst an einem langen Sommertage läutete der Sigrist schon um sieben Uhr den Abend ein und meinte, nun würden sie sich beim Tageslicht ganz und gar betrachten lassen; allein er täuschte sich doch, denn sie kamen zwar augenblicklich droben aus den Gebüschen hervor, wendeten sich aber eben so eilig aus der Tageshelle wieder in ihre Höhlen zurück. Diese Tücke mußte sie erzürnt haben, denn von da an waren sie manches Jahr lang nicht zur geringsten Arbeit mehr zu brauchen. Da beredete einmal ein Bursche des Dorfes seine Kameraden, ihn an einem Seile von der Höhe der Bergwand bis an jene Höhle herunter zu lassen; man könnte dann von oben her beobachten, wie es sich drinnen verhalte, und ob da wirkliche Erdgeister mit Ziegenfüßen, oder nur eine Art verwilderter Menschen wohnten. Dies geschah. Das festeste Seil und von solcher Dicke, daß es unmöglich reißen konnte, ward um seinen Leib gebunden und ihm noch ein anderes dazu in die Hände gegeben, mit dem er den oben Stehenden das Zeichen geben sollte, ihn nach seinem Willen wieder empor zu ziehen. Als nun das Tragseil schon lange abgerollt war und am andern immer noch kein Zeichen zum Aufziehen geschah, geriethen die Kameraden in Angst; und wie erschraken sie, als beim raschen Aufwinden statt ihres Gesellen der leere Strick zum Vorschein kam, dessen Schlingen und Knoten alle rein aufgelöst waren und nur noch die Haare und die Schuhe des Verlorenen zurückbrachten. In Schrecken und Graus stoben sie auseinander.

---

## 194. 13) Erdmännchen bei Gippingen.

Auf der linken Seite des Zusammenflusses von Aare und Rhein liegt da, wo das Reuenthal und das Fullerfeld zusammenstoßen, ein geringer Berg, in welchen drei Höhlen hinein führen. Der ganzen Umgegend ist es bekannt, daß hier vor Zeiten drei Fuß hohe Männchen gewohnt haben. Damals aber waren diese Höhlen Säle voll Pracht; goldene Leuchter standen darinnen, auf deren jedem den ganzen Tag acht Kerzen auf einmal brannten; die Wände waren von Glas und warfen den Glanz der Lichter zurück. Aber trotz dieser Herrlichkeit mußte jedes der Männchen der Reihe nach die untergeordnetsten

Digitized by Google

Hausarbeiten verrichten: auskehren, backen, die Leuchter abstauben, ja in der Aerntezeit sogar die Aehren auf dem Felde vom Halme raufen und drinnen in der Höhle mühsam mit Steinen ausklopfen und auskörnen. Ganz besonders berühmt waren ihre Wähen, wohlschmeckende Kuchen von dem allerdünnsten Teig. So oft ein Bauer sein Land umpflügte, dem sie vorher in seine reifen Aehren gegangen waren, kamen sie zu ihm auf den Acker und legten ihm dankbarlich ein solches feines Kuchenbackwerk auf das Höchli des Pfluges hin. Das gefiel dann dem Pflüger gar wohl und er ließ sich's schmecken ohne alle Nebengedanken. Sogar Most sollen sie dazu gegeben haben und zwar aus einer Kelter, die auf der Ostseite jener Höhe mitten in einem Weinberge gelegen war.

Ein Mann aus Gippingen war's, der bei diesen Männlein lange Zeit gelebt hat. Er hatte zufällig ihre Höhle aufgefunden und auch jenes eiserne Gitter, mit welchem sie von innen verschlossen war, öffnen können. Als er in die Kristallgänge kam, hatten die Männchen gar große Freude über sein Erscheinen, denn sie führten eben Krieg mit einer fremden Völkerschaft, und der Gippinger mußte ihnen dabei helfen. Er gewann ihnen den Krieg und ward ihnen lieb und werth. Zuletzt erinnerten sie ihn, daß er nun auch wieder hinauf auf die Welt gehen müße, nahmen Abschied von ihm und gaben ihm einen Wagen voll Gold mit. Als der Gippinger damit in sein Dorf heimkam, waren die Seinigen längst gestorben und von seinen Nachbarn erkannte ihn keiner mehr. Er selbst war so alt, als ob er viele hundert Jahre im Berg gewesen wäre. Da fühlte er, daß es auch mit ihm zu Ende sei, und weil ihm Niemand mehr angehörte, vermachte er all sein Gold der Kirche.

Einmal um die Aerntezeit kam ein Bauer heraus ins Feld, der es nicht erwarten konnte, daß sein Korn endlich zum Schneiden reif werde. Gerade befand sich ein Erdmännchen in seinem Acker. Es hatte ihm gewiß noch keinen Halm umgetreten; aber da es seinen neidigen Blick bemerkte, erschrak es und wollte entfliehen. Gleich erwischte er es beim rothen Röcklein, gab ihm ein paar Streiche, schimpfte es recht grob und wüst herunter und ließ es endlich laufen. Seitdem weiß kein Mensch, ob sie ausgewandert, oder alle in ihrer Höhle gestorben sind; doch meinen alte Leute, sie seien noch zusammen am Fullerfelde in einem heimlichen Stübchen und schaffen aus einer Bergschlucht Kohlen für die dortigen Bewohner heraus. Auch beim Frickthaler Dorfe Oeschgen haben sie in dem großen Graben gewohnt, der Lenzensteig heißt, und den Bauern Kuchen aufs Feld gebracht, die so schwarz bestreut waren, daß man meinte, sie hätten

ihr Backwerk mit schwarzen Waldameisen verzuckert. Am liebsten hörten sie's, wenn man versprach, ihnen dagegen etwas aus der Bauernwirthschaft mitbringen zu wollen. Ihre Tracht an Rock und Hut war schwarz.

---

## 195. 14) Die Herrmännlein an der Fullhalde.

Von dem Rheinufer beim aargauer Dorfe Koblenz hinweg bis hinab gegen das badische Städtchen Waldshut läuft auf der linken Flußseite eine mit Nadelholz bewaldete Anhöhe, die neu gebaute Rheinstraße zieht an ihrem Fuße hin. Dies ist die Fullhalde. Hier haben Zwerge gewohnt. Ihre Gestalt maß nicht zwei Fuß, ein paar hellleuchtende Augen steckten in den kleinen schwarzhaarigen Köpfen. Sie giengen stets barhaupt und barfuß, ein blaues Hemde mit einem schwarzen Gurt zusammengehalten, war ihr einziges Kleid. Im Benehmen mit den Landleuten waren sie besonders friedfertig und zuvorkommend, und wenn die Bauern aus dem Dörfchen Full sich recht müd im Felde gearbeitet hatten, kamen des Abends noch die kleinen Leute zu ihnen her und brachten ihnen Brod und Kuchen zur Erquickung. Fragte man dabei ihrem Herkommen oder ihrem Wohnorte nach, so deuteten sie nur auf ihre Höhle in der Fullhalde hin, denn reden mochten sie nicht, auch giengen sie niemals mit ins Dorf herein. So brachten sie einst ihren Kuchen auch einem jungen Bauern an den Pflug hin. Dem war das Stück allzugroß, um es auf einmal hin zu nehmen, er suchte deswegen in der Tasche nach seinem Messer herum, ohne es jedoch finden zu können. Da zog der Zwerg sein silbernes hervor und gab es ihm. Der Bauer zerschnitt damit den Kuchen, anstatt es aber gebürlich abzuwischen und rein zurückzugeben, steckte er es mit aufgelegter Bosheit ohne weiteres in einen daliegenden Kuhfladen. Einmal Beschmutztes rührt kein Geist mehr an; also verblieb das silberne Messer dem habsüchtigen Bauernburschen. So war's seine Absicht. Darüber erzürnte der Zwerg und klagte bitter auf das sündhafte junge Geschlecht. Als seine Gefährten sein Jammern hörten, verschwuren sie's, je wieder an das Tageslicht zu kommen. Sie eilten zusammen querfeldein dem Walde zu und schlüpften in ihre Höhle hinab; im gleichen Augenblicke aber wurde ein so furchtbarer Knall in der Gegend gehört, als ob der ganze Berg zerborsten wäre. Seitdem sind sie hier verschwunden; nur ihre Höhle ist zu sehen, aus der manchmal noch Rauch aufsteigt.

---

Digitized by Google

## 196. 15) Die Wachletä-Jumpfere bei Magden.

In jenen langen Hungerjahren des Schwedenkrieges litt das aargauische Rheingelände unsäglich; die Stadt Rheinfelden war dreimal erstürmt, das Clarissenstift Olsberg im Frickthal zum drittenmal zerstört. Da saß ein Köhler verzweifelnd im Walde vor seinem Meiler und hielt Rath, wohin er entlaufen solle. Das Dörflein Magden drunten ist schon verbrannt, wozu da noch Kohlen brennen! sagte er; so wenig der Steinhügel da zu Gold wird, so wenig wird mich meine saure Arbeit vor dem Verhungern retten.

Bei diesem Worte kamen auf einmal gerade aus der Tiefe des Hügels, an dem er saß, sonderbare Töne herauf, und noch hatte er sich nicht recht besonnen, als drei schneeweiße Jungfrauen vor ihm standen, oder eigentlich um den Kohlenhaufen herumschwebten, ohne daß ein schwarzes Stäubchen an ihren prächtigen Mänteln hängen blieb. Sie hatten Blumen in den Haaren und goldne Stäbchen in der Hand. Die eine deutete damit auf die Spitze des Kalkfelsens, und sogleich öffnete sich dieser sanft zu einem großen Gange. Da hinab führten sie den Kohlenbrenner in einen weiten Saal mit goldner Wand und boten ihm den Schlüssel an, mit dem er die Schatztruhen öffnen sollte, die ringsum dastanden. Der arme Mann wußte nicht, wie ihm geschah; halb aus herzlicher Verwunderung, halb aus christlicher Seelenangst fieng er an zu schreien, Alle guten Geister . . .! und in einem Hui fühlte er sich nach oben gewirbelt und in die Sonne hinausgeschmissen unter die alten Eichen des Hügels, während ein bitteres Jammern und Wehklagen aus dem Boden scholl. Diese Waldgegend heißt heute noch der Jungferngraben und noch will man dorten singende Mädchen, aber auch Hundegebell und Pferdegewieher vernommen haben.

Andere Erzähler versetzen jedoch den Schauplatz dieser Begebenheit unter etwas veränderten Umständen in diejenige Gegend des Dorfes Magden, welche man Wachletä heißt. Auf der Hochebene, gegenüber dem Steinbruche des Dorfes, welche sich bis zur Ortschaft Augst hinunter erstreckt, zieht sich ein paar tausend Fuß weit eine muldenförmige Vertiefung fort, wo zwischen Saarweiden zahlreiche Wachteln anzutreffen sind; hier sollen denn auch die singenden Wachletä-Jumpfern gelebt und auf dieser Höhe soll unser Kohlenbrenner gewohnt haben. Er lag einst noch schlaflos auf seinem Laubsacke, als es auf dem Magdener-Kirchthurme schon Eins geschlagen. Da fieng es draußen vor seiner Hütte zu nießen an. Helf dir Gott, sprach er, helf dir Gott! und so sagte er es wohl dreißigmal, ohne daß das

Digitized by Google

Nießen draußen aufhörte. Hilft dir Gott nicht, sagte er zuletzt, so soll's der Teufel. Da hörte es auf, aber nun erfüllte Donnern und Krachen den Wald bis zum Morgen. Als sich nun der Mann in der Frühe vors Haus machte, sah er seinen ganzen Meiler bis auf einen Korb Kohlen versunken, an der Stelle aber quoll reichliches Wasser empor. Wäre er kein Narr gewesen, so hätte er den Korb Kohlen hübsch in's Haus herein getragen; so aber warf er ihn erzürnt ins Wasser. Dies fließt heute noch, es trinkt aber kein Mensch davon, denn sonst setzt es Kröpfe ab. Aber diese Kohlen waren von den Jungfrauen, und mit ihnen ist auch ihr Esel verschwunden, der nichts fraß und doch alle Morgen einen Korb voll Goldstücke legte.

Später gieng einmal ein Jüngling Mitternachts durch diesen Strich, um in aller Eile für seinen schwer erkrankten Vater den Arzt in Rheinfelden zu holen. Am großen Steinbruch wünschten ihm drei Mädchen gute Nacht, und als er trotz seiner Athemlosigkeit freundlich darauf dankte, schwebten sie wie Vögel über den Thalbach dem Waldberg zu. Der kranke Vater war bei des Sohnes Heimkehr schon genesen.

Als nach diesem ein Bauer mit seinem vierjährigen Söhnlein hier in später Nacht vorüber gieng, kam ihm hier am Steinbruche plötzlich sein Kind aus dem Gesichte. Auf wiederholtes Rufen gab es ihm endlich weit drüben vom Bache her Antwort, und als er dorthin eilte, sah er, wie sein Büblein bereits Schuh und Strümpfe ausgezogen hatte, um durchs Wasser hinüber zu waten. Was machst du denn? wohin denn? rief der Vater. Ich kann nicht anders, sagte das Kind, die weiße Frau hat mir gewunken, daß ich ihr nach mußte. Jetzt erst erinnerte sich der Bauer wieder der unheimlichen Dinge, die von diesem Orte gelten.

---

## 197. 16) Bergmännlein auf Schloß Trostburg.

Vor etwa dreißig Jahren spielten eines Abends zehn- bis vierzehnjährige Kinder, Knaben und Mädchen des Kulmerthales, dicht unter dem Schlosse Trostburg in der Nähe eines Bienenhäuschens. Da trat hinter diesem ein Bergmännlein hervor und schaute sich vorsichtig bald nach der einen, bald nach der andern Seite um. Voll Schrecken stoben die Kinder davon. Die Eltern, denen sie es gleich erzählten, giengen an die Stelle, sogar der Pfarrer gieng des andern Tages frühe den Berg hinauf, um das Bergmännlein wieder zu finden; aber es wird nicht wieder kommen.

---

Digitized by Google

## 198. 17) Betendes Erdmännchen bei Klingnau.

Ein Koblenzer-Mädchen von vierzehn Jahren war von ihrem Dorfe am Aargauer-Rhein ins Städtchen Klingnau an der Aare, geschickt worden, um dorten Brod einzukaufen. Der nächste Fußsteig dahin führt über den Buck im Hardwalde an Abhängen vorbei, welche dorten Im Engel heißen. Dorten ist eine Felswand, das Appelöh genannt, mit einer Höhle, worin Erdmännlein gewohnt haben. So groß der steinerne Tisch ist, der noch drinnen steht, eben so groß sollen die wohlschmeckenden Dünnen (Kuchen) gewesen sein, welche jene Männchen buken. Auf diesem Wege sah das Kind in jener Gegend, wo sich sonst ein Waldbruder aufgehalten hat, ein kleines Männchen mit schwarzem Mantel und rother Mütze aus einem Loche herausschlüpfen. Das Kind entsprang sogleich, und da es sich von Weitem noch einmal umblickte, stand das Männchen mit gefalteten Händen da und flehte ihm nach: Pro me, pro me!

---

## 199. 18) Der Stalljoggeli in Wettingen.

Der Joggeli (kleine Jakob), der auf der Geiswiese hinter dem Dorfe Wettingen wohnte, war allgemein als Herenmeister bekannt. Dies kam aber nur von einem Hausgeiste her, der gerade so hieß wie er selber. Wollte er sein Vieh füttern, so gieng er weder im Sommer grasen, noch stieg er im Winter die Heubrüggi hinauf; sondern er sagte nur das Wörtchen vor sich hin: Joggeli, gieb Heu abe, nid z'viel und nid z'wenig — und sogleich hatten seine Kühe Heu und Futter zu rechtem Maß im Barren. Da er einmal mürrisch und böse in den Stall trat, vergaß er den Beisatz seines Sprüchleins mitzusagen, und augenblicklich hatte sich die Masse des ganzen Heustocks auf ihn herabgelassen, daß er sich und sein Vieh mühselig daraus hervorwühlen mußte.

---

## 200. 19) Kobold Beckli in Kirchleerau.

Im Hause des Alt-Ammanns von Kirchleerau lebte seit langer Zeit ein Hausgeist; aber niemand verwechselte ihn etwa mit einem Gespenste oder mit einer armen Seele, sondern er war eben ein kleines verschrumpftes altes Männchen, das man herkömmlich mit zur Familie rechnete. Täglich erhielt er sein Schüsselchen Milchbrocken, mit jedem Neujahr sein neues Zwilchkleid, es war gerade so groß wie

Digitized by Google

für einen Knaben. Dafür rüstete er aber auch Jahr aus, Jahr ein das Viehfutter, putzte die Küche, zöpfte und flocht den Rossen Mähne und Schwanz, und nie gab's im Stall einen Unfall. Da der alte Gemeindeammann starb und seine aufgeklärten Kinder jenes übliche Neujahrsgeschenk unterließen, blieb auch das Beckli aus.

---

## 201. 20) Der Sennenzwerg in Muri.

Die große Weide oben bei Muri im Freienamte war vordem noch von Sennen bewirthschaftet. Oft, wenn sie ihr Vieh am Morgen füttern wollten, fanden sie alles schon gethan; der Stall war geputzt, der Milchkübel geschwenkt, Richter und Trichter wieder an dem Platz, kurz alles in Ordnung gebracht und schon wieder für den Abend gerüstet. Natürlich suchten sie den unbekannten Helfershelfer kennen zu lernen und lauerten und paßten an allen Zugängen. Es dauerte auch nicht lange, so sahen sie ein Männchen, winzig klein, in die Scheune gehen; dorten kroch es durch's Futterloch in den Viehstall und wenn es drinnen sein Geschäft in aller Stille abgemacht hatte, so nahm es behende denselben Rückweg und war wieder verschwunden. Die Sennen waren nicht wenig darüber erfreut, und da ihnen eine gewisse Empfindung von Ehrfurcht sagte, daß man ihm nicht mündlich danken dürfe, so ließen sie ein niedliches Sennenkleid machen und legten es dem Kleinen in den Stall. Beim nächsten Erscheinen nimmt der Zwerg das neue Sennenhemde vom Bänklein herunter, setzt das Lederkäppchen zurecht und probiert es her und hin; dann beschaut er sich im hingestellten Spiegelein, und stolz auf seine neue Montur ruft er ein- übers andremal, nun mag ich nicht mehr Senn sein!

Seit diesem Vorfall war er in Muri nicht mehr zu finden, sondern verdingte sich im Dorfe Buttwil. Da sagte einmal der Bauer dorten zur Frau: Alle Arbeit in Stall und Scheune ist stets vor Tag schon gethan; das Heu nimmt nicht ab, meine Kühe geben die beste Milch und werfen die feistesten Kälber. Wir müßen doch selbst einmal achtgeben, wie das hergeht; wir wollen uns diese Nacht im Scheunenloch verstecken, wo wir selber ungesehen alles übersehen können. So thaten sie. Bald hörte man ein Rascheln und Rauschen über den Heustock droben herunter, dann trippelte es wie im Schritt eines Kindes, und gleich sprang ein winziges Männchen an dem Steighaken herab, schüttelte sich das Heu aus den Haaren, und stand nun mitten in der Tenne da, aber oweh, splitterfadennackt. Nun

Digitized by Google

fieng's an, Heu zu rupfen, dann striegelte es das Vieh, und das alles gieng so nett und blitzgeschwinde, daß das Männchen im Augenblick fertig und schon wieder verschwunden war. Da ergriff die Bäuerin ein herzliches Bedauern, denn es war ein harter Winter und gerade ums Neujahr. Wir wollen ihm doch Hosen und Wamms machen lassen, sagte sie. Es geschieht, und am Neujahrstag wird das fertige Gewand dem Männchen auf den Heuboden gelegt. Neugekleidet spaziert es sogleich in der Tenne auf und ab, wirft sich in die Brust und ruft gravitätisch: Und ein solcher Mann soll hirten gehen! Damit war es von nun an auch in Buttwil verschwunden.

---

## 202. 21) Die Erdmännlein auf der Stolten bei Leerau.

Die Stolten ist ein Steinbruch beim Dorfe Kirchleerau. Der verstorbene Besitzer desselben stand im Bunde mit den Erdmännchen, die hier ihre Wohnung hatten. Sie thaten ihm allerlei Dienste, sammelten ihm Heilkräuter und gaben ihm in zweifelhaften Fällen guten Rath. Es wollte ihm einmal beim Steinsprengen nicht recht gelingen, verdrießlich ließ er die Arbeit liegen und gieng fort. Da flüstert's ihm daheim im Stalle aus einer Ecke zu: „Nimm numme es Tötzi Spinnhoppe und stoss sie is Loch.“ Der Mann klaubt wirklich gleich Spinneweben fünffingervoll im Stall zusammen, geht damit wieder ans Werk, stößt sie in das vorige Bohrloch, und siehe, diesmal gelingt der Schuß nach Wunsch; das schönste Quaderstück der Steinwand lag im Bruche abgelöst. Ein andermal wollte er einigen Freunden den Gefallen thun und ihnen alle seine Erdmännlein zeigen. Ein ganzer Zug possierlicher Gestalten marschierte durch die Stube, jedoch keinem sichtbar als dem Hausherrn. Wie der letzte und lustigste von allen an ihm vorbeizog, warf er ihm eine ganze Hand voll Sand in die Augen, und der Bauer hatte lange daran zu arznen und zu salben. Von da an hatte er auch die Männlein nimmer in seinem Zwang.

---

## 203. 22) Der Trottengeist zu Gebisdorf.

Zwischen den Ortschaften Gebisdorf und Birmensdorf liegt nicht weit von der Badener-Landstraße rechts ab in einer Wiese die Gebisdorfer Weintrotte, ein altes, halbzerfallenes Gebäude. Sie steht immer offen; kaum hat man sie zugeschlossen, so reißen die Trottengeister die Thüre wieder auf. Einmal traf sich's, daß eine lustige Gesellschaft, am Herbstabend vom Keltern ausruhend, hier um ein flackerndes Feuer

Digitized by Google

faß und ſich beim Moſt gütlich that. Während unſere Geſellen da plaudern und trinken, kommt ein kleines graues Männchen daher, dem eine Kochkelle im nackigen Sitzleder ſteckt, ſchreitet mit komiſchem Ernſt mitten durchs Feuer, und ſo beleuchtet von allen Seiten ſagt's im Verſchwinden: Gueten|Obig, ihr Hêre, es chömed no meh derige, und i bi denn de Choch!

---

## 204. 23) Das Chudermandli in Veltheim.

Eine Frau von Veltheim hatte auf dem Wochenmarkte im Städtchen Brugg gar ſchönen Chuder (Werg) um geringes Geld gekauft. Wie ſie ihn nun heimbrachte und auf den Ofen legte, fieng es plötzlich im Chuder an mit einer abſcheulichen Stimme zu reden und zu höhnen:

Hesch mi nid chauft,
Numme de Chuder,
Bi no nid g'tauft,
Gîtigs Lueder!

Jetzt merkte die Frau, daß ihr mit dieſem Wergbündel ein Spukgeiſt ins Haus gebannt worden ſei, den ſie durch ihr zu eifriges Markten und Abhandeln ſich mit aufgebunden hatte.

---

## 205. 24) Der Herdmännliſtein bei Wohlen.

I. Es giebt im Lande mancherlei einzel liegende Felsblöcke, unter denen die nächſtwohnenden Leute ihren Bedarf an kleinen Kindern hervor holen laſſen. Ein ſolcher Kleinkinderſtein im Freienamte iſt der bei Bünzen im Steinmösli. Der Moorgrund daſelbſt iſt nach ihm benannt, ſo tief ſoll er drinnen verſunken liegen, als er ſelber hoch iſt. Die vielerlei alten Bohr- und Sprenglöcher, die er trägt, giebt man für die Spuren aus, wie oft die Hebamme hier den goldnen Schlüſſel anſetzen und den goldnen Karſt einhauen muß, wenn ſie die Neugeborenen drunter hervornehmen will. Drei ähnliche Felsblöcke, die, gleich einem Hausdache auf ſeinen zwei Grundmauern, an einander geſtützt im Walde zwiſchen Wohlen und Bremgarten liegen, heißen der Herdmännliſtein, weil die Erdmännchen drunter ihre Stuben hatten und weil man auch jetzt noch die kleinen Kinder für Wohlen hier holt. Nach Einigen ſtehen dieſe Steine ſchon ſeit der Sündfluth da, nach Andern haben ſie die Erdmännli ſo hingelegt. Noch ein anderer Stein in der Nähe beim Rothen Waſſer ſcheint ſchief wie ein Dach aus der Erde heraus gewachſen und heißt der Bettlerſtein. Hie-

Digitized by Google

her unternahmen einst die Nonnen des benachbarten Klösterleins Hermetswil einen Ausflug; die betagte Abtissin gab dazu einen ganzen Tag frei und entschloß sich, die Ergötzlichkeit selber mitzumachen. Nun wußte aber der Pfarrer, der sie dabei begleiten mußte, schon im Voraus, wie langsam die gnädige Frau marschiere, und suchte sich gegen die unvermeidliche Langeweile durch einen Scherz schadlos zu halten. Ein Klosterknecht hatte den Frauen einen Tragkorb voll Speisen in den Wald hinaus zu bringen, und gleichfalls sollte der Verwalter den Bedarf an Wein besorgen; hinter diese zwei lustige Käutze machte sich der Pfarrer. Er beredete sie, einige Bursche zu dingen und sie draußen unter den klüftigen Stein zu verstecken, den die Frauen heute mit ihrem Besuche beehren wollten. Die Zwei, die sich durch den Pfarrer wohlgedeckt wußten, brachten eine ganze Schaar kleiner Buben zusammen, verkleideten sie und verbargen sie draußen nach Verabredung. Als die Frauen den Platz erreicht hatten, fühlten sie sich schon ziemlich ermüdet; ihr erstes war also, sich einstweilen zu setzen und den Speiseträger herbei kommen zu lassen. Während sie sich mit dem Rücken an den Fels lehnten und zusammen in seinem Schatten ruhten, hatte der Knecht die Speisen unter das Gestein gestellt; der Verwalter aber gieng mit einer großen Schüssel servierend an den Frauen auf und ab, und wußte dabei allerlei Histörchen von der gefährlichen Raubsucht der Berggeister mit einfließen zu lassen, die ehemals hier gehaust hätten. So wie nun ein Nönnlein nach dem Stück Schinken oder Kuchen langen wollte, das sie sich eben bei Seite ins Gras gelegt hatte, war es verschwunden; das Glas, an dem sie zum zweitenmale nippen wollte, fand sich leer getrunken, und auch die Weinflasche war beim wiederholten Einschenken regelmäßig schon leicht oder gar bis auf den letzten Tropfen trocken, obschon man sie vor einer Minute noch halbvoll zurück gestellt hatte. Wie sollte das zugehen? Nichts war ja der Gesellschaft im Rücken als eben dieser Stein, an den man sich lehnte. Vollends unerklärlich waren einige bedenkliche Töne, ein sonderbares Gewisper, das sich zuweilen aus dem Innern der Kluft vernehmen ließ. Man folgte daher um so bereitwilliger der Einladung des Pfarrers, jetzt den Sitz zu verlassen und den Stein selbst zu besteigen, auf dem sich eine besondere Aussicht ergebe. Die Abtissin ward unter Beihilfe der drei männlichen Begleiter mühsam hinaufgeschoben. Droben sah man freilich nicht viel Anderes, als Baum und Strauch, allein es war jetzt gar nicht mehr Zeit, sich enttäuscht zu finden. Denn auf ein vom Knechte gegebenes Zeichen kamen die Knaben hinter und unter dem Fels hervorgekrochen, lauter kleine in Moos und Tannenzweige gekleidete Bürschchen, und begannen



Digitized by Google

im Wirbel rings um den Fels herum zu springen und zu tanzen. Die Frau Abtissin murmelte ein Gebet ums andere und fand nicht rasch genug von ihrem gefährlichen Höhepunkt hinab. Manche leichtfüßigere Schwester, die früher als sie drunten ankam, wurde sogleich von den Tänzern in Empfang genommen und nach Kräften einigemale im Kreise mit herumgedreht. Dann waren auf einen Wink die Knaben wie in die Erde verschlupft.

Die Gesellschaft war artig genug, hinterher ihren unzeitigen Schrecken selbst zu belachen; doch verfehlte die Mummerei ihre Wirkung so wenig, daß von nun an der Kloster-Spaziergang zum Erdmännlistein unterblieb.

II. Der „Erdmannlistein" liegt in der Mitte des Waldes, der sich von Wohlen nach Bremgarten erstreckt, und wird aus zwei aufrecht stehenden Felsblöcken von mächtiger Grundfläche gebildet, welche wie Spitzsäulen zulaufen und auf ihrem Scheitel eine über sie hergeschobene Felsenplatte von der Größe eines Daches in der Schwebe halten. Die dreifache Steinlast ruht tief in den Sumpfboden eingesenkt, der freie Mittelraum zwischen den beiden Tragsteinen hat sich meist mit Erde angefüllt und den Zugang zur unterirdischen Höhle mit verschüttet, in welcher die Erdmannli sonst ihre Wohnung aufgeschlagen hatten. Ehemals war es eine Gewohnheit der Landleute aus der Umgegend, hieher zu gehen und die Erdmännchen heraus zu rufen. Immer folgten diese dann traulich, und gegen ein kleines Geschenk von Kraut, Kohl und Rüben führten sie allerlei Tänze und possierliche Sprünge auf. Weder wurden sie je von den Menschen beleidigt, noch spielten sie ihnen irgend einen losen Streich. Dies dauerte so lange, bis zwei sittenlose Bursche darauf verfielen, ihren Uebermuth zusammen an den Kleinen auszulassen. Sie riefen nicht, wie es herkömmlich war, in die Höhle, sondern schleuderten gleich mit Steinen hinein, und als die Männchen auch da noch nicht erschienen, schossen Beide ihre Pistolen in die Kluft ab. Sogleich folgte ein arges Winseln und Stöhnen unter der Erde, wie es auch jetzt noch Leute in der Nähe des Steines gehört haben, die des Nachts diesen Weg gegangen sind; aber jegliche andere Spur von den Männchen selbst ist seitdem verschwunden.

Als daher die Hermetschwiler-Nonnen einmal wünschten, die Erdmännchen im Walde ebenfalls zu sehen, war es dafür bereits zu spät. Aber der Klosterknecht, der sie nicht ganz um ihr Vergnügen bringen wollte, beredete ein wunderkleines Männchen von Wohlen, das er gut kannte, hieher zu kommen und verkleidet sich unter den Stein zu setzen.

Digitized by Google

Am bestimmten Tage erschienen die Klosterfrauen, und der kleine Mann tanzte ihnen so niedlich vor, daß die verwunderten Zuschauerinnen ein großes Vergnügen empfanden und ihm einen Freitisch in ihrem Kloster stifteten, der ihm bis zu seinem Tode richtig und ungeschmälert verblieben ist.

---

## 206. 25) Die Tanzplätze.

Tanzplatz und Spielplatz ist ein im Aargau für Wald- und Weideland häufig vorkommender Localname. So heißt die Gemeinde-Almend bei Unter-Entfelden Tanzplatz, Waldhöhlen um Veltheim und um Brugg heißen Rappentanz, einen Zurzacher-Berg bei Rietheim nennt man Rappenschnabel, und der Spielplatz ist die Waldhöhe beim Frickthaler-Stifte Olsberg, wo sonst der Heren-Sabbath abgehalten worden ist; ein Spielweg liegt beim Dorfe Zuffikon; in der Nähe beim Dorfe Augst liegt die Schlossstud, wo man vom Tanz ausruhte. Der Tannenwald bei Seengen grenzt an die Elfliwiese und eine seiner größern Lücken heißt der Tanzplatz, sowie ein benachbart liegender Baumgarten ebenfalls der Tänzler. Gleiches weiß man beim Schlosse Rued. Von manchem dieser Orte meint man noch, es hätten da die Brunnenjungfern und die Waldmännchen mit einander getanzt, und die schwarzen Grasringe, die man so häufig auf den Bergmatten trifft, nennt man desbalb Herentanz. Dies stimmt mit einem Glauben zusammen, welcher im Frickthale und am jenseitigen Schwarzwälder-Rheinufer noch eifrige Anhänger hat. Mädchen, die als Bräute sterben, tanzen auf Kreuzwegen so lange fort, bis ihr Bräutigam ihnen nachgestorben ist. Aber auch untreu gewordene Mädchen müßen nach dem Tode jeden vorüber gehenden Mann, der, die Liebe des Eheweibes verschmähend, wilden Lüsten nachzieht, so lange in ihren Reihen hineinreißen, bis er todt hinsinkt. (Rued in Laufenburg.)

---

## 207. 26) Der Kinzhalden-Joggeli bei Eiken.

Auf der Waldhöhe der Hard zwischen Sisselen und Laufenburg am Rheine kommt man an einer hohen Halde vorbei, die Auf dem Kinz heißt. Oben wird sie klüftig und hat mancherlei Erdlöcher von verrufener Tiefe; namentlich zwei bis drei solcher kennt man jetzt noch als besonders gefährliche und hat es ungerne, daß ein mit dem Berge nicht wohl Vertrauter nach ihnen suche; denn sie sind stark mit Gesträuch umwachsen und man könnte unversehens hinab stürzen. Das

Digitized by Google

sind lauter Erdmännchenlöcher. Sie führen jäh in Abgründe; drunten aber beginnt eine Höhle, die mit vielen Verzweigungen von großer Weite unter dem Rheine hindurch geht und erst auf dem drüben im Badischen liegenden Egghaldenberge wieder mündet. Dorten in der sogen. Halde, einer steilen Anhöhe beim Dorfe Wallbach am Rheine, liegt die Erdmännlisstube, und als man daselbst neulich Georg Büttners Keller grub, traf man in der Tiefe unvermuthet auf einen hübschen Backsteinboden. Wenn daher die Wallbacherkinder nicht aufs Wort folgen wollen, so droht man ihnen heute noch: „Wart, die Erdmännchen holen dich in ihre Stube hinauf!" Früher nun waren die Erdmännchen auf der Kinzhalde beinahe der tägliche Besuch im Dorfe Eiken, sie halfen jeder Magd grasen, jedem Knechte reuten. Später aber sind sie ganz für sich geblieben. Daran soll der Kinzhalden-Joggeli schuld gewesen sein, der jetzt in diesem Hardwalde haust, sich mit ungeheurer Schnelligkeit von einem Orte zum andern bewegen kann und bald als grüner Jäger, mit einem Dreiröhrenhut auf dem Kopfe, die Leute erschreckt, bald gar als ledig umher laufendes Roß sie in die Irre führt. Die einen sagen, er sei ein reicher Bauer von Kaisten gewesen, der seinen Nachbarn Alles abstahl und abzwängte, und nun müße er in seinem alten Hause noch immer das gestohlene Korn hüten. Andere aber erzählen einläßlicher, er habe Winter geheißen und ein gleichnamiger Ortspfarrer von Kaisten, der in diesen Zwanziger-Jahren starb, sei sein Enkel gewesen. Am meisten ist er den Fuhrleuten auffäßig und kann das Kutschieren durchaus nicht leiden. Schon zu den Franzosenzeiten (1798) war dies so seine Art. Ein Frickthaler-Knecht hatte damals wohl mehr als fünfzig Malter Korn schon durch den Hardwald gefahren, und mochte er nun auf jede Seite des Wagens gehen und unten in der Schleife den schärfsten Hund mit sich führen, allemal zog ihm hier der Joggeli den Long (Achsennagel, Lünse) aus den Rädern, und der Wagen warf um.

---

## 208. 27) Der Rainhalden-Joggeli am goldnen Geisweg.

Oberhalb der Rebberge von Hornussen im Frickthale ist auf der Höhe des Weges ein Platz, In der Hand geheißen. Da verführt der gespenstische Rainhalden-Joggeli, welcher an der Rainhalde haust, sein unverständliches Geschrei. Weiter gegen den Berg hinauf hat man schon in alter Zeit ein Kreuz errichtet, um den Geist unschädlich zu machen, und eben deswegen sind auch im tiefer liegenden Finsterhölzli in manche Buchenstämme die Lateinbuchstaben IHS (Jesus) ein-

Digitized by Google

geschnitten. Wenige erinnern sich, ihn in menschlicher Gestalt gesehen zu haben, öfter aber kommt er als kreischender großer Vogel, der zwischen dem dichten Laubholze schwerfällig sich die Flügel zerschlägt. Man beklagt sich dorten auch über einen giftigen Wind, der den Athem steckt und die Glieder lähmt. Dorten herum gilt als Localnamen der Goldne Geisweg, auf dem eine goldne Geis zum goldnen Geisbrunnen geht.

Zwei Zimmergesellen, welche am Feierabend vom jenseits gelegenen Dorfe Ittenthal ihr Werkgeschirre über diesen Bergweg nach Hornussen heim trugen, hörten aus dem Walde her den Jagdschrei Hudada! und fiengen an den Ruf nachzuspotten. Da ließ sich ein grüner Mann in den Gebüschen sehen, dessen Federbusch weit über die Zweige hinaus ragte, eine ganze Schaar von Hunden rannte zugleich daher und schien Lust zu haben, sich den beiden Zimmerleuten in die Hutte zu setzen, worin sie ihr Werkzeug schleppten. Keuchend unter dieser Last entsprangen sie bis zum Kreuze, hier aber verließ sie der Verfolger, denn nur so weit geht sein Revier.

---

## 209. 28) Das Herdmännli von Mellikon.

Zur Zeit als die Grafschaft Baden noch dreiörtlich regiert wurde (von den drei Orten Bern, Zürich und Glarus), lebte im Dörflein Mellikon, das im Zurzacher-Bezirk nah am Rhein liegt, ein Junker aus dem Urnerlande. Die schönsten Matten und fruchtbarsten Aecker waren sein, ein hübsches Herrenhaus mit einer Kapelle daneben war sein Sommersitz. Weil er aber keinem Menschen aus dem Badener- und Aargauerlande genug traute, so hatte er einen Urner zum Verwalter seiner Höfe gemacht, und dieser erwarb sich dermaßen seine Zufriedenheit, daß der Junker gar oft zum Schwarzheinrichbauer sagte, seit er diesen Aufseher habe, regne ihm das Geld in die Kisten zum Dach herein. Nach und nach lernte dieser Schaffner die lustigen Brüder in Mellikon und Reckingen kennen und zahlte ihnen die Zeche, so oft er mit ihnen trank und spielte; aber um den Großhans fortspielen zu können, mußte er endlich den Junker bestehlen. So gab er dem Obermüller von Reckingen manches Viertel Korn um einen Spottpreis. Beide hatten in einer Winternacht wieder einmal einen Schlitten mit gestohlenem Korn geladen und eben wollte der Verwalter noch den letzten Sack hinter das Haus hinab tragen, da stürzte er so unglücklich die Stiege mit hinunter, daß er auf der Stelle todt blieb. Der Müller ließ den Schelm liegen und sprengte mit seiner wohl-

feilen Ladung heim. Am andern Morgen fand ein Schuhmacher von Rümikon den todten Mann unter seiner Last. Aber zu gleicher Zeit hörte man nun droben auf dem Kornboden ein Seufzen und Poltern, daß Niemand mehr hinauf zu steigen wagte. Der Junker wendete sich nun, um des Unholdes los zu werden, an einen Kapuziner im Kloster zu Baden, und dieser bannte ihn glücklich in eine Felshöhle in der Neuburgerhalde. Da zeigt er sich noch von Zeit zu Zeit unter einem Loche des Felsens und verspottet die Leute, die zu ihm hinauf blicken. Das Volk kennt ihn schlechtweg als das Herdmännli.

---

## 210. 29) Der Rueder-Schloß-Riggel.

Gegenüber der Mühle in Rued steht auf der andern Seite der Straße des Junkers Kernenhaus. Der böse Geist, der drinnen wohnt, war da sonst Kernenmesser bei den Junkern von Rued gewesen und hieß Riggeli. Er maß den Kernen noch beim großen Viertel ein und gab ihn dann beim kleinen Viertel aus. Drum sieht man ihn jetzt noch drüben in der Mühle den großen Metzenkübel holen, und wenn er ihn mit Ach und Krach ins Kernenhaus geschleppt hat, so schlägt er da den Viertelsstreicher klappernd hin und her. Dann wissen die Leute schon im Voraus, daß bald schlechte Witterung eintritt.

Während man vor etlichen Jahren das alte Kornhaus zum Wirthshaus umbaute, hörte man vom Riggel fast gar nicht mehr reden. Als aber nun der neue Wirth aufzog und den ersten Tanztag abhalten ließ, da wüthete und tobte der Kobold so abscheulich herum, als reiße eins einen großen Bündel Ketten durch alle Stockwerke hindurch. Dann warf er gröblich ein paar Tänzer um, oder einen Tisch, wenn volle Schüsseln oder eingeschenkte Gläser drauf standen, kurz er trieb die Gäste in einen solchen Schrecken, daß einige geschwollene Beine bekamen und andere drüber ernstlich erkrankten. Man mußte also von Neuem anfangen, Zimmer und Gänge anders umzubauen, und seitdem hat er nicht mehr viel Angst gemacht. Einige meinen, weil er seinen alten Weg nun nicht mehr finde; Andere, weil er sich wirklich gebessert habe, da man für seine Seelenruhe den Armen im Dorfe noch lange Brod ausgetheilt hat. Aeltere Leute aber behaupten, der Riggel sei der vormalige Junker von Rued selbst gewesen und zur Strafe seines Geizes in ein Roß verwandelt worden. In Wahrheit ist Riggel ein in der Gegend noch üblicher Roßname.

---

Digitized by Google

## 211. 30) Der Hauskobold im Roßkummet.

Ein alter Handwerksmann von Schüpfheim im Entlebuch war in meinem älterlichen Hause zu Wettingen oftmalen auf der Stör (Hausarbeit im Taglohn) und erzählte da einmal aus seiner eigenen Familie Folgendes:

Schon viele Jahre hatte in meines Großvaters Hause ein Geist gewohnt, dem man deshalb allerlei nachsah, weil es eine herkömmliche Meinung war, daß er mit zu uns gehöre. Allein mit der Zeit benahm er sich immer boshafter und quälte bald ein Schaf, bald ein Schwein, daß es umstand und Spuren wie von glühenden Zangen am Halse trug. Unser Großvater war deshalb auch schon oft entschlossen gewesen, einen solchen Nachtschaden in die Schorgrube (Miststätte) zu bannen; allein die Frau hielt ihn durch allerlei Vorstellungen immer wieder davon ab. Wenn man, stellte sie ihm vor, mit dir nach deinem Tode auch einmal so verführe? Und wie leicht ist's ihm, uns ein schlimmes Andenken zurück zu lassen, wenn man ihn so plötzlich ausjagt! Aber denk doch auch, ein Bub muß halt gebubet haben. So sagte die Großmutter überhaupt, wenn sie den Kobold benennen wollte. Der Großvater gab nach und so blieb's dann lange wieder beim Alten. Allein der nächste Vorfall änderte Alles. Während nämlich der Großvater einmal draußen an der Scheune mit Jemand zu reden hat, sieht er sein Hündlein vom Kobold dermaßen gequält und gewürgt werden, daß es winselnd zwischen seine Beine heranschlüpft und Schutz sucht. Der Handel selber, über den er gerade hat Auskunft geben müßen, war schon ein verdrießlicher; nun ergreift er die zunächst dastehende Schoßgabel und geht in der Richtung, in welcher das Hündlein hergesprungen kam, so rasch gegen den Kobold vor, daß er ihn fast über die Dachtraufe hinaus drängt. Hier zum erstenmal verfiel der Geist in ein menschenähnliches Weinen und Schluchzen und bat flehentlich um Schonung. Er ließ sich auch sogleich auf einen förmlichen Vertrag ein, um nur nicht über diesen entscheidenden Punkt der Dachtraufe vollends hinausgeworfen zu werden. Unter der Bedingung, weder Knechten, noch Mägden, noch dem Vieh ins Künftige weitern Schaden zufügen zu wollen, erhielt er hier vom mitleidigen und frommen Großvater noch einmal Haus- und Stubenrecht.

Dieses sein Versprechen hielt der Geist in der Folge auch treulich; höchstens erlaubte er sich noch gegen die Söhne kleine Neckereien. Für die Nacht war ihm nämlich in der Schlafkammer der Knaben eine eigene Bettstelle mit einem Laubsack angewiesen. Hatte nun einer der Knaben im Schlafe ein Bedürfniß und mußte aus dem Bette, so

fuhr der Kobold rasch in das alte Roßgeschirr, das ob seinem Bette hieng und klingelte und schetterte in dem Schellengeläute, das daran war, dermaßen herum, daß der Knabe eiligst wieder unter die Decke kroch und bis zum Morgen mit dem St. Vit um ein säuberliches Bette accordierte.

Im Uebrigen war er der beste Wetterprophete, und das gieng so zu. Bei schlechter Witterung lag er in der Wohnstube oben auf dem Steinofen. Sollte gutes Wetter eintreten, so lief er unruhig in Hof und Scheune herum. Kam die Zeit der Heuärnte, so hatte er es beständig mit den Mähern zu thun. Er gieng ihnen in die Matten nach, ohne daß man ihn am Wege bemerkte; aber am nahegelegenen Sulwalde, unterhalb der Lägerenberge, trat er zu ihnen auf Schußweite heran. Da stand er dann stille in der Größe eines Knaben, und sie achteten alle auf die verschiedenen Zeichen, die er ihnen mit seinem Hute gab. Dies waren nämlich eben so viele Witterungsbestimmungen für die nächsten Tage der Heuete. Ließ er seinen Hut am Kopfe sitzen, so folgte beständiges Wetter; schwenkte er den Hut einmal langsam gegen die Erde, so gab's ein wenig Regen; schwenkte er ihn schnell, so konnte man für den folgenden Tag ein Gewitter erwarten; schwenkte er ihn zweimal, so gab's einen ganzen Regentag; dreimal, so durfte man alles Gras nur stehen lassen und gleich wieder heimgehen, denn geschnitten wäre es im unfehlbar kommenden Landregen verfault. Darauf konnte sich der Großvater so bestimmt verlassen, daß er sein Futter und sein Heu beinahe immer im besten Stande heim gebracht hat. Als nach seinem Tode die Söhne das Gut theilten, erschien jener Wetterprophete nicht wieder, und mir selbst hat man nur noch sein altes Roßkummet gezeigt.

---

## 212. I. 31) Der Mumelimann bei Fahrwangen.

Geht man vom rechten Ufer des Hallwiler-Sees aufwärts gegen die Höhen von Fahrwangen, so kommt man an dem Platze vorbei, auf dem die Burg der Freiherren von Fahrwangen gestanden hat, die in der Zeit der sog. Blutrache, verhängt gegen die Mörder des österreichischen Albrecht, nebst andern Burgen dieser Lande gebrochen worden ist. In der Nähe liegt das Wäldchen Flueren und darinnen das Mumeli, eine einsame Stelle, von uralten Tannen umgeben. Man sagt, auf diesem Plätzchen habe vor vielen Jahrhunderten ein Fahrwanger zwei Ritter verscharrt, die er bei einem Gelage auf seinem Schlosse erstochen hatte. Nun muß er noch immer seine Fa-

Digitized by Google

miliengruft verlassen und jede Nacht über die Felder im Sprunge hieher zu dieser Stelle laufen. Bald sieht man ihn weiß, bald schwarz. Er haut dem Holzdieb Nase und Ohren ab und trägt ihn in einem Sacke in den See. Auch in Zwergengestalt läßt er sich blicken. Am meisten erkennt man ihn an seinem Geschrei. Zwischen den Dörfern Meisterschwanden und Sarmensdorf johlt er wie einer, der zur Jagd geht; an dem Seeufer ruft er klagend. Dies nennt das Volk wehweln und wehvern, ihn selbst den Mumeli- oder den Runelima.

Auf dem Fußwege, der von Meisterschwanden über das hohe Seeufer hinab führt zur Fähre, die nach dem jenseitigen Dorfe Birrwil überschifft, liegt ein einzelner steiler Hügel, der Kapf. Dort läßt ein todter Mann seinen Ruf zur Ueberfahrt so oft und deutlich vernehmen, daß die Birrwiler-Schiffsleute lange Zeit nie mehr aufs bloße Rufen drüben vom Ufer abfuhren, sondern erst auf einen Hornstoß erschienen, um die diesseits Wartenden einzunehmen und überzusetzen. Schon oft haben furchtlose Leute und selber Seeanwohner den Versuch angestellt, zu ergründen, woher doch diese Allen vernehmbare Stimme mit ihren gleichmäßigen wehmüthigen Tönen kommen möchte. Wenn sie sich auf den Kapf stellten, so hörten sie den Ruf vom Schleiferhübel her, einem mit Gesträuchen bedeckten Steinhügel, der bei tausend Schritt nördlicher liegt; während die zu gleicher Zeit hier Stehenden glaubten, jene am Kapf hätten ihnen zugerufen. So kommt es, daß auch Nichtgläubige meinen, hierin liege etwas Uebernatürliches. Das Landvolk behauptet, man höre diesen Ruf, so oft als Regenwetter eintreten oder ein heftiges Gewitter losbrechen soll. Am jenseitigen Ufer gilt dieselbe Wetterregel, allein man nennt sie den Schellenpeter und behauptet, man höre ein lebhaftes Klingeln, wie von vielen Schlittengäulen, aus den Waldhöhen des Homberges herunter weit durch die Gegend schallen.

---

## 212. II. Der Schellenpeter am Hallwiler-See.

In einem Aargauer-Dorfe am linken Ufer des Hallwiler-Sees, man weiß es nicht mehr näher zu bestimmen, lebte ein junger Schmied, der Peter Mangold hieß. Es muß dies schon vor gar vielen Jahren gewesen sein, denn ein Geschlecht dieses Namens kommt nun am ganzen Seegestade nirgend mehr vor. Er war ein fleißiger und braver Mensch, der vom Morgen bis in die Nacht an seiner Esse stand. Seine Hände wurden hart, aber sein Herz blieb sanft, er nährte und pflegte die Mutter mit kindlicher Liebe, er verließ das Haus niemals, um für sich einem Vergnügen nachzugehen, das er mit der alten Frau

Digitized by Google

nicht hätte theilen können. Doch wenn die Fasnachtszeit heranrückte, da wurde der Peter regelmäßig unruhig. Er singt ja stundenlang Hopser und Walzer, sagte dann die Mutter, und Hammer und Ambos muß ihm zu seiner Tanzmusik mithelfen! Wenn alsdann im Dorf zum Tanz aufgespielt wurde, war er freilich der Erste am Platze, der Leichteste im Tanze, der Artigste gegen die Tänzerinnen, der Freigebigste gegen die Musikanten. Bei einer solchen Fasnachtsgelegenheit hatte sich der Peter mit Seinesgleichen vermummt. Als sie zusammen den Tanzboden betraten, trug er an Kappe und Wamms eine so unzählige Menge kleiner Glöcklein und Schellen, daß man ihm einmüthig von Stund an den Scherznamen Schellenpeter gab. Die Mädchen wollten diesmal gar nicht von ihm ablassen, er mußte tanzen wie der Wirbelwind, bis er bei der Hitze im übervollen Saale und in dem Gewichte seiner Verkleidung kaum mehr athmen konnte. Er öffnete ein Fenster und kühlte sich in der Winterluft ab, die schneidend hereinzog. Schon nach ein paar Minuten fühlte er sich sehr unwohl, und als man ihm die Maske abnahm, war sein Gesicht so weiß wie der Schnee, der vor dem Fenster lag. Gleichwohl wollte er heute nicht zu den Schwachen gerechnet sein, noch einmal machte er sich mit aller Kraft an den Tanz. Kaum war er zwanzig Schritte weit gesprungen, so riß ihn der Schwindel zusammen, er war auf der Stelle todt. So war er eigentlich tanzend gestorben.

So oft es nun später in Mangolds Dorfe und Nachbarschaft wieder Tanzmusik gab, ließ es ihn im Grabe nicht ruhen, und ein hundertfaches Getöne von Glöckchen und Schellen, wie er an seinem letzten Freudentage damit behangen war, durchzog lustig die ganze Gegend. Und wo ein Tänzer erhitzt sich unvorsichtig in die Zugluft stellen wollte, da erschien Mangold mit warnend erhobenem Zeigefinger, sobald man aber seines Winkes achtete, verschwand er wieder unter hellem Schellenklang. (Vgl. No. 25.)

---

## 213. 32) Der Schwarzwälder-Bläseli, dem me der Stifeli seit.

(Freienämter-Mundart.)

D'Ohre han-i i d'Pelzchappe îe gschopped und d'Nase i d'Hand îe gno — so bin-i im vorige Winter zue-menà alte Freiämterbûr z' Stubete gange. Chind sind ûf de Bänke ume kletteret, si hend nit gwüsst, was afôh. Do ischt Ei's zum Grossätti äne gange, hed ä ume Hals ume gno und em „Aeh“ gmacht. „Aeh“, seit

Digitized by Google

de Grossätti, was möchtist, du chlîni Stinkeri? Nüd, seit s'Nineli, ha ietz ke Hunger, wett lieber, Ihr thætit üs au naümis verzäle; vom Stifeli öppis! isch de Stifeli au nä Ma gsî?

Jo frîli, Chind, ist er ä Ma gsî, aber ke grosse; ä Hals hed er au nur ä chlîne-chlîne gha, und de Chopf au nid gross, hinte-n-am Hals hed er äs Gwächs gha: bald hend's gseit, er heb zwê Chöpf. Er ischt allwäg än arigs Mandli gsî. As ä chlîne Bueb ist er ûs-em Schwarzwald ûe cho zue-m-enä b'kannte Diener im Gottshûs Muri und ûf sî Fürbitt in Chlosterdienst ûfgno worde.

Z'allererst hend se-n-ä zue-m-en-ä Seúhüeter gmacht; ietz hed er afòh d'Seú dressiere, dass si ehm nô glaufe sind wie d'Hündli. Das hend d'Wîber im Gasthûs z'erst g'seh, und wenn sie's nid gseh hättid, so hed er g'jugset, ass sie's ghört hend. Gschwind sin sie denn as Näbetpfeister gstande, hend d'Schîbe mit de Fingere gputzt und ûf's Seúhûs abe gluogt, wie de Schwarzwälder-Bläseli mit sîne Seúe ûsfahri. „Nei, luegid dert doch au, wie de d'Seú dressiere cha! wenn's der Hofbrueder Urbe wüssti, er chäm gwüss au goh luege" — seit Eini zue der Anderä.

S'ist nid lang gangä, de Brueder heds gseh und do natürli au d'Hêre. D'Seú sind ietz gnueg dressiert, seit der Pater Schaffner, me wend ietz au luege, was er mit de Schoofe mache wöll! seit's und macht nä zum Schofhirte. De Stifeli goht zue-ne-nä îe, zählt si, hed si putzt und gsüberet de ganz Tag, und zfresse heder nä gä, Hûd und Lendi voll. Nur es Wörtli zu Eim, so hed's ihm ä Galoppader gmacht, oder es Hûri, oder ist zue-näm zue cho und hed nä gläcket. Hed er wölle ûs- oder îfahre: hed er's Schwebelpfîfli a's Mûl gno und het pfiffe: de sind sie ûfgumpet und putsch! der dwäris noh cho. Hed er vom Gärtner Meie über-cho, se hed er sie ihne ûf d'Chöpfli âbunde, und de hend sie Chöpf ûfg'ha und ä Stolz debî, wie eüsi Soldate, wenn sie Tann-chris a de Hüete hend.

Uf das ist er Chüehirt worde. aber do hed er nid viel Freúd gha, d'Chüe hend nur ûf die grosse Grasbösche und nid ûf e chli Stifel gluogt, ûsg'no, wenn er ihne de Gleck-chübel vor d'Nase gha hed. Uf das ist er Acherbueb worde. aber d'Stiere hend em's au nid chönne; d'Stiere sind halt eistert Stiere, öb's vier odde numme zwöi Bei hebid. Do muess er mit de Rosse fahre. Jetz hed er wieder ä grüsslige Freúd gha. d'Ross sind gar gfölgig, lustig und gschwind, und lönd si gwenne, wie me will. Aber selb Ross, wo-n-er ûfem gritte-n-ist, hed doch eistert

Digitized by Google

s'Prämic gha. Wenn d'Chlosterherre hend wölle ûsrîte, hend se gseit: sattlid mer im Stifeli sî's. Z'erst hed's en gfreüt, ass me sîs Ross nähm; aber wie sîs Thierli eistert ûf de Stross gsî isch, se hed er's em Pater Schaffner g'klaget. Mî liebi Bläsi, seit de, das hed nüt z'bedüte; wegem Ross muesch nid bös sî, d'Hêre hend au lieber die Guete as die Böse. I will di ietz ûf ä andere Poste thue, de muest ietz Meisterchnecht sî, wo de nüd anders z'thue hesch, as âz'ordne und ûf d'Sach z'luoge.

Jetz isch dem Stifel ûf ämol de Cham gross worde: Meisterchnecht, Pockerment! d'Dienstlüt hend gross Auge gmacht, frîli hend's scho lang gmerkt, ass de chlî Stifel s'Unterhömli vom Pater Schaffner seig; drum hend sie si ietz au duckt und g'schmuckt, wenn de Stifeli cho ist goh luege, was sie schaffe. S'meist hed sie gfreút, dass er nümme z'Fuess g'gange-n-und eistert gritten-isch. Wär' er glaufe, se hätt'er sie mengist erwütscht a de leere Haue stande, wie nes Baümli am ä Stecke. Aber wîl er gäng ûf sîm wîsse Ross obe g'hocket isch, wie-n-äs Chämi ûf em Pfarhûs, se hend s'ehn de vo wîtems gseh cho. Gwöhndli hed er sîm Ross d'Spore gae, wenn er wieder furt isch, und de heds hinten und vorn ûfgha, dass sie wol ghört und gschmöcket hend, sîs Ross fressi der best Haber vom ganze Chloster. Wie bî de Rosse, so isch au bî de Lüte gsî. Wo-n-er fründli hi gluegt hed, hed d'Sunne g'schine; wo-n-er es sûr Gsicht gmacht hed, hed's gregnet oder ghaglet. Aber was mache? Wer g're-giert, isch Meister, hed ämol de Landvogt gseit. Und wenn de Vitzlibutzli selber chäm, so chönnt er nit parteiischer sî, as so-ne Stifel, de vor im Chopf de Springer, hintedrinn der Zwinger und zweüerlei Auge hed. Das goht aber gwöhndli so bî dene Lüte, die ûss-em Seüstal i d'Hêrestube chömid. Und das isch au der Grund, worum de Stifeli b'rühmt worden isch sîner Zît, *und worum er ietz noh wandle muess.*

z'Müswangen i Schlattholz obe-n-ists ämol begegnet, ass e gwüsse Wilhelm *) am Rhîseer-Märt (Rhîsee, Kanton Luzern) im Augste ä neue Wullhuet g'kauft und neu ûf en alt ûfg'leit hed. Wie-n-er i Schlatt z'rugg cho ist, se ghört und gseht er ä Herr cho ûf emä wîsse Ross. Er goht gschwind, macht ehm der Gatter ûf und hebt ehm dernô beed Hüet zmol äne. De Herr wirft'm öppis i Huet inä und de Bûr macht selle Gatter zue. Und wu-n-er will das Geld ûssem Huet ûssä neh, do hed er statt Geld

*) Man sagt, Schärer von Muri habe dieser Mann geheissen.

Digitized by Google

i beedo Hüete äs grosses Loch gha. Mi armi Seel, seit er, das het der Stifeli tho! (Volkskalender von Baden im Aargau, 1852).

---

## 214. 33) Stiefelireiter im Maiengrün.

Das Maiengrün ist die südliche Seite eines langen Bergzuges, der an seinem südwestlichen Abhang die großen Steinbrüche von Otmarsingen und Mäggenwil hat, wo man den Geisbergerstein bricht, und nach Nordwest längs dem linken Reußufer durchs ganze Freienamt sich hinzieht. Der Stiefelireiter, welcher in dieser Landschaft überhaupt das bekannteste Gespenst ist und darinnen mehrfache Aufenthaltsorte hat, haust auch auf dem Maiengrün. Man weiß, daß er seinen Weg aus dem Kanton Luzern hernimmt, längs des Lindenberges hinreitet, denselben bei Vilmergen verläßt und ins Bünzthal herab kommt, um auf jene Felder zwischen Dietikon und Dottikon, welche die Platte heißen, hinüber zu gelangen. Hier bei der sogenannten Kronenstüd, einer Staude entweder, oder einem Hochgerichte, von deren keinem heute etwas mehr übrig ist, soll es gewesen sein, wo er als Klostervogt des Stiftes Muri den Meineid beim höchsten Schöpfer und Richter geschworen haben soll, während er dabei den großen Rundkamm (Richter) im langen Haupthaare und den Suppenlöffel (Schöpfer) im Stulphute stecken hatte. Von hier weg reitet er dann beim Dorfe Hägglingen steil bergan zum Maiengrün. Hier trägt eine Fläche Holzland von mehreren Jucharten den Namen Klosterholz. Dies hütet er als eines der Güter, die er seinem Stifte mit erschworen hat. Alte Leute, die ihn hier gesehen haben, beschreiben sein Aussehen übereinstimmend also: Er ist ein kleines mageres Männchen, trägt blaue Hosen, hellgrünen Frack, grauen Filzhut und sehr weite große Reiterstiefel. Seine Stimme ist sehr widerlich und gleicht dem Kreischen der Vögel und dem Wimmern einer Nachteule. Knaben erzählen, wenn sie sich anschickten, hier ihre Bürde Leseholz zum Heimtragen aufzunehmen, so habe sie sich oft wie von selbst auf ihren Rücken gehoben; beim Umsehen aber nach der Ursache einer so unvermutheten Hilfe hätten sie immer noch etwas von dem wieder verschwindenden Stiefeli bemerkt, Pferdewiehern, Hufschläge, oder ein helles Gelächter vernommen. Einer alten Frau hat er ihre Welle Holz sogar auf den Kopf gehoben, und um sein Roß am Brunnen zu tränken, scheut er sich nicht bis zu den Leuten hinab zu reiten, die am Waldsaume herum ihre Wohnhäuser haben. Allein nicht immer zeigt er sich so gefällig; ja Fremden, Betrunkenen und rohen Burschen wird er geradezu gefährlich, wenn sie sich bei Nacht auf jener Höhe

Digitized by Google

finden lassen. Er tritt ihnen in den Weg, versperrt ihnen den Durchpaß und treibt sie bis zum Morgen im Holze herum. Ein Metzgerknecht aus Mäggenwil war bis Abends im Wirthshause sitzen geblieben und wollte erst mit Anbruch der Nacht seinen Weg über das Maiengrün nach Hägglingen hinüber nehmen. Auf der Höhe angekommen traf er einen Reiter quer im Pfade, dem er in keiner Weise auszuweichen wußte. Endlich griff er nach seinem Stock, um sich damit Durchgang zu verschaffen. Da wuchs Roß und Mann zusehends empor und die Augen des Letzteren fiengen an wie glühende Kohlen zu leuchten. Der Metzgerknecht ergriff die Flucht, an Kleid und Haut zerfetzt und ganz verspätet kam er wieder bei Mäggenwil aus der Waldung, um am andern Tage denselben Weg nach Hägglingen abermals, aber diesmal auf der ebenen Landstraße zu machen.

Im Bärenmoos, einem Walde bei Wohlen, traf der Stiefelreiter eine Bettelfrau und hat derselben in einem langen Gespräche von seinem Schimmel herab ganz vertraulich auseinander gesetzt, wie er zu Muri im Kloster das Leibgeding habe, alle sieben Jahre ein frisches Roß aus dem Stalle abholen und alles andere, was ihm da in den Weg komme, schänden und verderben zu dürfen. Man hat im Klostergebäude ein Zimmer, das ihm gehört. Vor Poltern und Lärmen kann es Niemand, der es bewohnen will, darin aushalten. Der Subprior hatte es einmal mit Bannsprüchen zu säubern versucht, ist aber schlimm dabei weggekommen. Kurz vor den Franzosenzeiten (1798) hat der Gnädige Herr das ganze Kloster zum Theil umbauen, zum Theil neu herrichten lassen; die Stube allein, in welcher man den Friedli (Fridolin) Geld zählen hört, ist unverändert geblieben.

## 215. 34) Der Kirchmaier zu Reitnau.

Der Kirchmaier war der reichste Bauer im Dorfe und der geizigste zugleich. Zum Lohne seiner Hartherzigkeit ist er nach dem Tode wieder gekommen, um in seinem eigenen Hause zu rumoren. Die Söhne wußten diesem öfteren Schrecken nicht anders abzuhelfen, als daß sie die Kapuziner im Luzernerlande bestellten und mit dem Geiste unterhandeln ließen. Der hält sich seitdem ruhig, aber es mußte ihm eine besondere Stube im Hause hergerichtet werden. Sie ist unbewohnt, ohne Fenster, ganz schwarz ausgeschlagen, und mitten drinn steht ein schwarz überzogenes Bette. Jeden Morgen muß es frisch zurecht gemacht werden, und immer findet sich eine Vertiefung darinnen nicht größer, als ob eine Katze da gelegen.

Digitized by Google

## 216. 35) Der Verwalter im Schlattholze.

In jenem Theile des Hallwiler-Schlosses, den man den alten nennt, weil Wall und Graben verfallen ist, hört man den Geist eines ungetreuen Verwalters stöhnen. Manchmal aber verwandelt sich das Gewinsel in Rasseln, Klirren und Schellen. Das sind die Ketten, die er noch tragen muß. Im Innern dieses unbewohnten Schloßtheiles soll in einem eigenen Gewölbe ein steinernes Bette sein, zwischen dem er jetzt noch in Ketten hängt. Der Bannwart, der nun freilich auch schon todt ist, wußte wohl, auf welche Weise die Herrschaft um den schönen Wald Schlatt kam, und wie sich gleich darauf der Verwalter der Herren von Hallwil vergiftete. Er hat ihn nach seinem elenden Tode auch herumlaufen sehen, die lange Sichelfeder hinterm Ohr; wollte er aber den Schelm einmal recht ins Auge fassen, so war er wie in den Boden verschlupft.

---

## 217. 36) Die Marienmilch in der Weintrotte zu Döttingen.

In der Döttinger-Trotte, die man nach dem Namen eines neueren Besitzers auch Bachmanns-Trotte heißt, kehrt hin und wieder in den heiligen Nächten ein unbekannter Pilger ein. Er trägt Muschelhut und Stab, sein Reiseränzchen ist mit Marienmilch gefüllt, die er von Loretto aus Italien herbringt, und einige Stücklein davon läßt er nach seiner Nachtruhe gewöhnlich in der Trotte zurück. Wer dann solche Stücklein von der Marienmilch (Mondmilch) finden kann, der bringt damit ein Glück ins Haus; er legt sie zum Gedeihen der Seinigen in Stube und Stall, besonders auf die Himletzi, das Dach des Ehebettes. (himilezi, die Decke, Gramm. 2, 214.)

---

## 218. 37) Der Güggelkopf im Ringgraben unter der Dachtraufe.

Das Strohdach eines Tegerfelder-Bauernhauses reicht hart an die ihm gegenüber stehende Kirchenmauer und läuft mit dieser in gleicher Richtung. Strohdach und Kirchenmauer lassen so den Regen und das Abwasser nach gleicher Seite zusammenfließen, ohne daß die Nässe im schmalen Raume zwischen beiden Mauern wieder auftrocknen kann. Zugleich darf der Nachbar diesen Streifen herrenlosen Landes, welcher die Usmenni (Triebweg) heißt und den Grenzsaum von zweierlei Gütern ausmacht, nicht nach eignem Gutdünken behandeln und

Digitized by Google

trocken legen. Also ist hier an der Rückseite des Strohhauses der Länge nach eine tiefe Kothrinne entstanden und hat sich endlich in eine bleibende Sumpfstelle verwandelt. Hier fährt von Zeit zu Zeit der Kopf eines Güggels in die Höhe, schießt raketenartig in die Luft empor und stürzt dann aus Haushöhe wieder in seine feuchte Wohnstätte zurück. Es ist dies der Geist des alten Hausbesitzers. Die Kapuziner von Baden hatten ihn gegen Stiftung eines bestimmten Quantums Korn, das alljährlich an ihr Kloster abgeliefert werden sollte, in ein Schoppengütterli gebannt und dasselbe in ein Loch irgendwo im Hause vergraben. Damit war der Geist zur Ruhe gebracht. Als aber seine Nachkommen jene Kornlieferung ans Kloster verabsäumten und nicht mehr entrichteten, ließen auch die Kapuziner den Gebannten wieder aus seiner Flasche los; aus einer halben Barmherzigkeit jedoch gegen die künftigen Hausbewohner haben sie ihn aus Stuben und Keller verwiesen und in jene Sumpfstelle unter der Dachtraufe verwünscht. Dies ist jenen Leuten jedoch völlig gleichgiltig, denn der Geist ist ihnen nicht nur ganz unschädlich, er soll ihnen sogar manchen heimlichen Vortheil verschaffen.

---

## 219. 38) Das Männlein in der Gülle zu Tegerfelden.

Vor langen Zeiten, ehe noch die alte Handelsstraße auf die Zurzacher Messe durch Tegerfelden gieng und wieder eingieng, lebte in diesem Dorfe ein wundersames Ehepaar. Es war seit Menschengedenken haushäblich hier angesessen, brave gute Leute von gottesfürchtigem Lebenswandel; aber beide waren so ausnehmend klein und winzig, daß man sie doch nicht wohl mit zur übrigen Bevölkerung zählen konnte. Nun geschah es, daß sich diese zwei kleinen Leutchen noch in ihren alten Tagen gemeinschaftlich in ein Vergehen einließen. Zwar konnten sie es verheimlichen, und da auch die Nachbarschaft aus Schonung schwieg, so wurden die zwei weder damals bei Gericht gebüßt, noch weiß man heute ihre eigentliche That anzugeben; aber sie starben bald darüber hin und müßen dafür seitdem in ihrem eigenen Hause wandeln.

Da die Beiden weder Kinder hinterließen, noch sonst weit und breit einen Verwandten gehabt hatten, so fiel ihr Haus an die Gemeinde Tegerfelden. Man brachte es zur Versteigerung und es stellte sich auch ein annehmbarer Käufer ein, der es unter bestimmten Bedingungen einstweilen bezog. Aber gar bald merkte der neue Besitzer, daß er hier nicht allein wohne, und so muß wohl damals schon der

Digitized by Google

Kauf wieder rückgängig geworden sein. Denn regelmäßig an jedem Abend stellten sich im Hause die beiden kleinen Leutchen ein. Immer kam das Männchen zuerst herein, alsdann das Weiblein, und zusammen traten sie dann an den Herd hin. Beim Weggehen aber entfernte sich allemal das Weiblein zuerst, und mit gemessener Pünktlichkeit verzog hierauf das Männlein noch einen Augenblick länger, bis es sich ebenfalls fort und seinem Weibchen nach machte. Beide thaten dabei gänzlich arglos und blieben, unbekümmert um alle übrigen Anwesenden, ganz allein mit sich beschäftigt; aber zusammen sprechen hat man sie nie gesehen, nicht einen einzigen Laut haben sie je gegeben. Das alles war nun der Frau des neuen Besitzers ganz unerträglich und sie drang fortwährend in ihren Gemahl, diese kleinen Leutchen durch Kapuziner, die sich auf den Bann verstehen, aus dem Hause schaffen zu lassen. Bevor sich nun dieser zu einem solchen Gewaltsmittel entschließen wollte, wendete er sich noch an einen alten, erfahrenen Mann in der Umgegend, an den Bauern Jetzer, der damals auf einem Hofe bei Lengnau saß, dem Erbgute seines sagenberühmten Geschlechtes. Dieser Mann war ein Fronfastenkind und konnte somit alle Geister erblicken und zum Sprechen bringen. Er kam in das verrufene Haus, unterhandelte allein und unbelauscht mit dem Männchen und erklärte hierauf dem Besitzer: das kleine Männlein bitte ihn, es nicht kirchlich aus dem Hause bannen zu lassen, weil dadurch eine endliche Erlösung am meisten verzögert werden würde; um aber doch den hartnäckigen Forderungen der Hausfrau nach Möglichkeit zu gehorsamen, wolle es sich von nun an in die Gülle (Jauche) der Miststätte vors Haus hinaus begeben und darinnen so lange wohnen, als man ihm ein eigenes Häuflein Mist unverrückt drinnen liegen lasse.

Dies Alles ist denn auch pünktlich so geschehen und vor sich gegangen, völlige Ruhe muß aber damit doch nicht geschafft gewesen sein. Denn bald war das Haus wieder herrenlos und kam zum zweitenmale an die Gemeinde. Seither gab man es miethweise armen Leuten zu bewohnen. Auch diese sind der Reihe nach immer wieder ausgezogen, sie fanden es ebenfalls unerträglich, stets in Gesellschaft eines fremden Männleins leben zu sollen. Und doch konnte sich Keins über irgend eine Ungebühr beklagen, die man dabei auszustehen gehabt hätte. Nach und nach ist das Weiblein sogar völlig ausgeblieben, es gilt nun für erlöst. Das Männlein hingegen kommt heute noch regelmäßig ins Haus herein, nimmt seinen Platz wie sonst am Herd und schaut staunend und stumm ins Feuer hinein. Nur ist jetzt sein Besuch an ganz bestimmte Tage des Jahres gebunden, besonders an



Digitized by Google

Weihnachten, Ostern und die vier Quatemberzeiten. Nie erscheint es des Nachts, sondern immer des Abends zwischen Feuer und Licht; wohl aber hört man Nachts zuweilen aus jenem Misthäufchen her in der Gülle eine dünne Stimme, wie die eines schreienden Kindes, und meint, da rühre sich das Männlein. Angst hat niemand vor ihm. Das Kindsmädchen, das früher in jenem Hause wohnte und jetzt bei fremden Leuten dient, betheuerte, das Männlein selber gesehen zu haben, es sei ganz jung und trage ein graues Hütchen auf dem Kopfe; als es beim Feuer gestanden, sei es nur so groß gewesen, daß es mit den Augen eben an die Herdplatte reichen und sie überblicken konnte.

So ist's heute noch in jenem Hause. Es steht neben der Tegerfeldner-Kirche, ein alterthümlicher Holzbau, die Zwischenbacken aus Lehm und Flechtwerk gemacht, und gilt für die größte Strohhütte ringsum. Die Hauptwand steht dem jetzigen Dorfwege entgegengesetzt nach hinten und trägt einen Wahrspruch. Unmittelbar davor sieht man die berufene Gülle und darinnen noch immer unangetastet jenes eigenthümliche Häuflein nie gebrauchten Mistes. Rings um dieses wächst ein Kranz von spanischem Gras, gelb und weiß gestreift. Der jetzige Miethsmann ist ein Schuster. Nicht um vieles würde er dieses Häuflein aus der Gülle nehmen lassen. Befragt man ihn etwas dringlicher um seine Gründe, so pflegt er ablehnend zu sagen: Nicht immer redet man gerne, und manchmal ist's ohnedies besser, man schweige.

---

## 220. 39) Der Lindegiger am Ruckfelde.

Wer vom Städtchen Brugg nach Zurzach geht, trifft auf dem weiten Ruckfelde einen alten Lindenbaum an der Wegscheide, um dessen Stamm Ruhebänke gezimmert sind. Ueber ihn hat man eine Reihe Geschichten, in deren Erzählung die Leute der umliegenden Ortschaften sich so getreu bleiben, daß nicht ein Wörtchen dran zu ändern ist.

Im Dorfe Unter-Endingen lebte eine arme Familie Hauenstein. Unter ihrer Schaar von Kindern mußte der älteste Bube, statt in die Schule, von Haus zu Haus das Brod betteln gehen. Später las er den Mist von den Straßen auf und verhandelte ihn karrenweise; dann gab ihm ein Krämer Schwefelhölzchen zum Verkauf, und während er diese in der Gegend umhertrug, stahl er zugleich den Juden von Ober-Endingen ihre Feldfrüchte und konnte sie unentdeckt auf die Wochenmärkte nach Brugg und Baden bringen. Bei reiferen

Jahren verlangte er von dem Gemeinderathe seines Dorfes einen kleinen Geldvorschuß und betrieb damit einen Nagelhandel. Endlich kam er zu einem alten Tanzgeiger im Siggenthal und bei diesem lernte er das Geigen dafür, daß er im Endinger Walde so viel Holz frevelte, als der Spielmann den Winter über ins Haus brauchte. Hier wurde er nun in kürzester Zeit ein ausgezeichneter Geiger, der bei allen Hochzeiten gesucht war. Namentlich zur Zeit der Zurzacher Messe, wenn die Kaufleute über das Ruckfeld zogen und ihre schweren Geldsäcke ein wenig unter der Linde abstellten, um Rast zu halten, war der junge Geiger bei der Hand, strich die Fidel hinter seinem eigenen Rücken, oder auf seinem Kopfe stehend und machte um ein paar Schillinge unglaubliche Kunststücke. So wanderte er mit dem Nagelsack auf der einen, und der Geige auf der andern Schulter herum, betrieb das eine, wenn das andere gerade nicht gieng, und hielt seine Batzen so gut zu Rathe, daß er bald ein kleines Heimwesen in Endingen pachten konnte. Als er nun gar nicht ungeschickt heiratete und der Frau dann noch eine Erbschaft zufloß, wählte man ihn zum Gemeindeweibel, und da die Leute hieraufhin Kredit gaben, kaufte er das Wirthshaus zu den drei Sternen, ließ die Inschrift darauf setzen:

Laß Neider neiden, Hasser hassen,
Was Gott mir gönnt, muß man mir lassen —

und hieß jetzt der Weidwirth.

Nun erst schrieb er mit doppelter Kreide. Die Gäste, die sonst ihr Schöppchen urchig (pur) zu trinken gewohnt waren, bekamen jetzt nur gewässerten Wein aufgestellt. Die einen, die sein Wirthshaus nicht mehr besuchten, wußte er in Gemeindedingen zu verfolgen und zu bedrücken; und die andern, die schwachherzig genug waren, noch bei ihm einzukehren, machte er trunken, und wenn er dann mit ihnen Händelchen abgeschlossen hatte, die zu ihrem größten Nachtheile ausfielen, hatte er stets einige erkaufte Zeugen an der Hand, welche ihm vor Gericht den Prozeß gewinnen halfen. Besonders hart war er gegen seine Dienstboten; er gönnte ihnen keine ruhige Minute. Frühmorgens um drei Uhr schon lag er ins Fenster und that, wie wenn er mit Vorübergehenden spräche. Da hieß es denn so laut, daß die Knechte nebenan in der Schlafkammer es hören mußten: „Ah, guete Tag, wo ane wennd-er? ehr sind au scho früje; euse Lüt wennd nie ûf, me sott's alle Morge mit em Heulüecher (eiserner Heuhaken) ûssem Bett ûsse schlaike.“ Da meinten dann seine Leute, die kaum seit ein paar Stunden ins Bett gekommen

Digitized by Google

waren, im Dorfe gehe man schon aufs Feld hinaus, und sprangen wie besessen aus den Federn.

Was meinst, Bub, fragte mich jedesmal mein Großvater, wenn er auf diese Geschichte zu reden kam, he, wie lange wohl mußte der Lindegiger wirthen, bis er den Kaufpreis des ganzen Anwesens wieder herausgeschlagen hatte? Gewiß auch seine zwanzig Jahre, sagte ich rathend. Wohl gar gleich ein halb hundert! rief dann der Alte spöttisch; nein, in drei Jahren war er keinen Batzen mehr schuldig. Aber so schlecht gieng es eben damals noch bei der Obrigkeit her. Und wie denn heute noch der Reichste im Dorfe immer auch gleich Gemeinderath sein muß, so wurde unser Sternenwirth nicht nur dies, sondern endlich noch Ammann dazu und konnte jetzt mit seinem Gelde wuchern, das Armengut bestehlen und die Wittwen bedrücken, wie er wollte. Aber der Krug geht so lange zum Brunnen, bis er bricht, und das Leben hat auch noch keiner verlängern können. Seit der Sternenwirth das letztemal in den Keller hinabgegangen ist, hat man weder Weiß noch Schwarz mehr von diesem Säuberling erfahren; herauf ist er einmal nicht wieder gekommen, und so hieß es denn überall: „de Düfel heig e g'no.“

Von jetzt an aber saß sein Geist auf dem großen Faß im Keller drunten und schrie um Mitternacht: „Drü Schöppli Wi und e Schoppe Wasser gend au ne Möss!“ Selbst die Nachtwächter hörten es, es soll wie das Gebrüll eines Stieres gelautet haben. Nun kam das Haus in Verruf und Niemand wollte da mehr zusprechen. Der älteste Sohn, der das Anwesen übernommen hatte, konnte sich keinem Weinfasse mehr im Keller nähern, ohne daß nicht der Spukgeist gerade drauf geritten hätte; ja alle Abende sah man ihn das Wasser büttenweise in den Keller schleppen. Der Sohn wollte ihm seine Wege verlegen und ließ, um den Umbau der dabei nöthig wurde, etwas vor den Leuten zu verbergen, das Haus zuerst von außen herunterputzen. Aber sogleich stürzte dabei der Maurer vom Gerüste. Als man ihn halbtodt in die Stube brachte und den Pfarrer mit dem Sterbsakramente hereinholte, fieng die alte Spieluhr im Zimmer, die schon seit Jahren nicht mehr gieng, wie unermüdlich an zu flöten, zu schnurren und zu walzen, und dann brach ein solches wildes Gelächter los, daß jedes Wort des Kranken und des Priesters unverstanden blieb.

So wollte es nun die Familie nicht länger haben und wandte sich in ihrer Noth an einen Pfarrer von Würenlingen, der an andern Orten schon einem gleichen Uebel abgeholfen hatte. Dieser räumte den ganzen Keller aus bis auf eine große mit Stroh umflochtene

Digitized by Google

Branntweinflasche; er stellte sie in den letzten Winkel zurecht, behielt jedoch ihren Stöpsel wohlweislich noch in der Hand. Dann zündete er ein tüchtiges Feuer an und warf fleißig Weihrauch hinein. Das ward dem Gespenste widerlich, es hustete und stöhnte, es schimpfte endlich, je mehr der Qualm den ganzen Raum füllte; zuletzt kroch es ins letzte Eckchen und gutwillig in die dorten aufgestellte Flasche, die nun der Pfarrer behend verpfropfte. Jetzt meldete er den Verwandten das Gelingen, die indessen oben in der Stube versammelt gewesen waren. Sie gaben sich noch keineswegs damit zufrieden, so lange man die leidige Flasche drunten im Keller haben sollte; allein diese war weder mit Winden, noch mit Spannketten vom Platze zu bringen. Der Pfarrer nahm noch einen Kapuziner von Baden zu Hilfe. Volle vierzehn Tage blieb dieser unten beim Gespenste, dann gelang es die Strohflasche vors Haus und auf einen Wagen zu schaffen. Aber auch jetzt schienen die Achsen unter der Teufelslast wie Halme zu brechen und die Rosse thaten keinen Ruck, bis man den Geist erst befragt hatte, wohin er gebracht sein wolle. Auf die Teufelskanzel, war seine Antwort. Dies ist ein Felsvorsprung am Bergzuge nördlich von Unter-Endingen. Hätte man das Richtschwert eines Henkers vorne auf den Wagen gelegt, so wäre gleich anfangs geholfen gewesen; nun führte man das Gefäß dorten hinaus und schleuderte es von der Teufelskanzel ins Schrännenloch. Mit großem Gekrache versank die Flasche drunten in dem Bächlein, das der nahen Surbe zufließt. Dafür soll nachher dem Würenlinger-Pfarrer, der den Geist zum Keller hinaus gebetet, übel mitgespielt worden sein. Dieser hielt auf strenge Zucht in seinem Dorfe und eiferte besonders heftig gegen den Unfug der Nachtbuben, der damals noch stark im Schwange war. Seit der Banngeschichte nun war alle Nacht ein Höllenlärm rings um sein Pfarrhaus zu hören, das vereinzelt auf einem Hügel liegt; und wenn dann der Herr mit dem Sprachrohr hinunter rief und den vermeintlichen Nachtbuben Ruhe gebot, scholl ihm das frechste Hohngelächter entgegen. Auch in seinen weiteren Exorcismen in der Gemeinde war er nicht mehr glücklich. Bei einem Patienten geschah es ihm einmal, daß ihm der Teufel aus dem Krankenbette entgegen schrie: „Wart aber, wie schlimm wird es erst dir einmal ergehen!“ Wirklich lebte der Pfarrer darnach nicht lange mehr, der fortwährende Verdruß brachte ihn um. Man redet davon, als habe man seine Leiche mit einer Schlinge um den Hals gefunden. Bei seiner Beerdigung soll eine Stimme gesagt haben: „Gell, i ha de au möge!“

Dem Lindegger muß es ebenfalls nicht lange in seiner nassen

Tiefe gefallen haben, denn schon seit Menschengedenken hat er seine bleibende Wohnung auf der Ruckfelder Linde. Am Stamme dieses Baumes ist in Manneshöhe ein mit kräftiger Rinde überwaletes Loch, welches von einem schon vor alter Zeit gekuppten Stammschoß herrührt; da drinnen wohnt er. Denn als einmal der Bannwart von Tegerfelden dieses gefährliche Loch verkeilen wollte, wurde ihm mit den Worten: „Gang du no, i chome doch ûsse“ Zapfen und Art an den Kopf geworfen. Oft auch saß er auf einem Lindenast, den erst in den letzten Jahren ein Sturm gebrochen hat, und je ärger dann im Winter die Schneeflocken über das Ruckfeld stöberten, um so schöner und schärfer geigte er drauf los. Dann soll auch der Wipfel des Baumes zu leuchten begonnen haben, auf Aesten und Zweigen stellten sich Tische zurecht, alle mit Spielleuten besetzt, und er selber strich seine verzauberte Geige dazu, die ihm ein Tegerfelder Pfarrer einst geliehen haben soll. Auch, sagt man, könne ihn nur ein Pfarrer dieser Gemeinde gänzlich erlösen, er müße aber am Fronleichnamstage geboren sein. Da einst ein Tegerfelder-Bauer auf dem Heimwege von Würenlingen Nachts hier vorbeikam, fieng's im Baume so überaus lustig zu geigen an, daß mein guter Bauer augenblicklich dazu hüpfen und forttanzen mußte, bis er erschöpft und besinnungslos zu Boden sank. Man fand ihn des andern Tages in den Gebüschen am Fuße der Teufelskanzel, und von Stund an ist er der unübertrefflichste Tänzer im Lande gewesen.

Ein Luzerner Schweinehändler war mit einer Ladung Schweine eben auf dem Wege zur Zurzacher Messe, und wollte mit seinem Zweigespann bei sinkender Nacht gerade an der Linde vorüber. Hier aber sprang plötzlich ein zwergenhafter wüster Kerl aufs Handroß und schleppte das ganze Fuhrwerk über alle Graben und Löcher querfeldein wie im Blitze nach Unter-Endingen zum Sternen. Beim Wirthshause angekommen, ist der wunderliche Reiter verschwunden, am Fuhrzeug war kein Riemchen zerbrochen, aber dem sprachlosen Schweinehändler blieb für diesmal nichts weiter übrig als im Hause des Lindengeigers zu übernachten. Der Geist ist durchaus harmlos, und Niemand, der seiner jemals ansichtig geworden, hat noch behauptet, daß man darüber Schaden verspürt oder einen geschwollenen Kopf bekommen hätte. Allein wer zur Mitternachtsstunde in sein Revier kommt, der muß, er mag nun nach Tegerfelden oder Zurzach wollen, stets nach Unter-Endingen und dorten im Sternen bei seinen Nachkommen übernachten. Ganz natürlich sind diese schon längst reiche Leute; der Urgroßvater treibt ihnen ja die Kunden mit Roß und Wagen ins Haus, und so ist das Geschäft ein einträglicheres,

Digitized by Google

als wenn ein einzelner Bauer in der Zechstube sitzt und über seinem Schöpplein Wein stundenlang Kalender macht.

---

## 221. 40) Der Geiger Lux von Buttwil.

Der Geiger Lux (Lukas) hatte auf einer Hochzeit im Luzerner Dorfe Hitzkirch bis nach Mitternacht aufgespielt und machte sich nun zurück in sein Heimatsdorf Buttwil im aargauer Freienamte. Die Nacht war schwarz und der dichte Buchenwald am Lindenberge noch finsterer als sonst, über den ihn sein Heimweg führte. Mitten im Holze liegt der Geißenrain, ein Hügel, in welchem ein Zauberschloß sammt allen Schätzen versunken sein soll. Die paar Glas Hochzeits-Wein, die Lux zu viel getrunken hatte, machten ihn in seinen jetzigen Gedanken verwegener, und so sagte er an dieser Waldstelle: Wüßte ich nur da hinein zu kommen, ich wollte mir wohl die Taschen füllen. „Komm nur gleich mit!" war darauf die Antwort eines Zwerges, der hier plötzlich vor ihm stand. „Gerade warten jetzt die Herschaften drinnen, und du mußt aufspielen," fuhr der Zwerg fort, „aber merk dir's ja, daß du keine freche Forderung machst, wenn sie dich darnach ums Trinkgeld befragen!"

Der Lukas ließ sich dies wohl gesagt sein und folgte sogleich seinem kleinen Führer nach. Er hatte in dem ihm wohlbekannten Walde noch nie so schauerliche Pfade gesehen; durchs dichteste Gestäude gieng's mitten hindurch, es bog sich wie bei einem Windstoße auf beiden Seiten aus einander. Zuletzt standen sie vor einem ganz erhellten Thor einer Bergwand. Es that sich vor ihnen auf, um sich rasch hinter ihnen wieder zu schließen. Durch mehrere geschmückte und kerzenhelle Gemächer gelangten sie in einen weiten Saal, der so herrlich strahlte, als wäre er von einer Sonne erleuchtet. Herren und Frauen in alterthümlicher Tracht wandelten gesellig darinnen umher. Auf einen Wink des Führers begann nun Lux zu spielen, die Versammlung ordnete sich zum Tanze und führte ihn in so zierlicher und anstandsvoller Weise durch, wie der Geiger seiner Lebtage nichts Gleiches gesehen hatte. Auch der Ton seines Instrumentes wurde immer herrlicher, eine ganze Unendlichkeit von Tänzen, einer schöner als der andere, fiel ihm ein, er war zuletzt von sich selber entzückt. Da stellte sich mit einemmale ein hoher Knochenmann vor ihn und fragte, was er als Lohn verlange. Wohlweislich gedachte der Geiger der vorhin erhaltenen Warnung; schweigend griff er daher nach seinem Hut und hielt ihn dem Frager still und ehrerbietig hin. Dieser füllte ihn bis an den Rand mit Kohlen, dann stand auch der Zwerg wie-

Digitized by Google

der da und führte sogleich den Geiger zu Saal und Berg hinaus. Draußen war er ganz allein in der Finsterniß und hatte Mühe, seinen alten Fußsteig aufzufinden, ohne seine Geige an den Baumstämmen zu zerschlagen. Endlich erreicht er seine Hütte, und nun erst fühlt er, wie schwer ihm bisher die vermeintlichen Kohlen auf den Kopf gedrückt haben. Er leert sie draußen erbost ins Gras und sucht sein Bette. Spät am andern Tage hat er Ermüdung und Mißvergnügen über die schlechte Bezahlung ausgeschlafen. Nun jagt ihn der Hunger aus dem Neste und er will nach Gewohnheit der nächsten Schenke zu. Wie er seinen Hut aufsetzen will, fällt daraus ein schönes Goldstück klingend auf den Boden, das sich im Hutfutter verschlupft hatte. Jetzt versteht er erst die Bescheerung. Gleich lauft er vors Haus, wo er gestern den Hut fluchend ausgeschüttet; hier liegt noch der ganze Haufen — Kohlen. Er geht in den Wald zurück, noch lange sucht er seinen gestrigen Fußweg; er findet auch diesen wieder, aber nie mehr das Thor und das Schloß.

---

## 222. 41) Tod der sieben Zwerge.

Auf einer der Hochebenen zwischen Brugg und Waldshut am Schwarzwalde wohnten sieben Zwerge zusammen in einem kleinen Häuschen. Da kam einmal spät Abends ein junges nettes Bauernmädchen verirrt und hungrig des Weges und bat um ein Nachtlager. Die Zwerge hatten nur sieben Betten, dennoch stritten sie sich, denn Jeder wollte dem Mädchen sein Bett abtreten; endlich nahm sie der Aelteste von ihnen zu sich in seines, kaum aber gieng's ans Einschlafen, so kam noch eine Bauernfrau vors Häuschen, klopfte und begehrte Einlaß. Das Mädchen stand gleich auf und sagte ihr, wie die sieben Zwerge hier selber nur sieben Betten und sonst keinen Platz mehr für Jemand übrig hätten. Darüber wurde die Frau sehr zornig und schalt in ihrem Argwohn das Mädchen, in welcher sie die Beihälterin von sieben Männern vermuthete, ein Lumpenmaitschi. Unter Drohungen, daß man einer solchen schlechten Wirthschaft bald ein Ende gemacht haben werde, gieng sie grimmig davon; noch in derselben Nacht aber erschien sie mit zwei Männern, die sie vom Rheinufer her geholt hatte, und diese brachen sogleich ins Haus ein, und erschlugen die Zwerge. Man verscharrte die Leichen draußen in dem Gärtchen und verbrannte das Haus. Das Mädchen war darüber den Leuten aus den Augen gekommen.

---

Digitized by Google

## 223. 42) Die Heidenzwerge zu Klein-Döttingen.

Im Dorfe Klein-Döttingen, am linken Aarufer, steht ein altes, schon oft ausgebessertes Haus, nun von der Familie Kalt bewohnt, welches den Namen Heidenhaus hat. Sein Name soll von jenen Zwergen herkommen, welche man schlechtweg Heidenzwerge hieß, und die ehemals hier tagtäglich ihre Besuche abstatteten. Die größten unter ihnen waren bis zwei einen halben Fuß hoch. Sie trugen schwarzgraue Ueberhemden, die ihnen von der Schulter bis auf den Boden reichten, um den Leib einen schwarzen Gurt, statt der Schuhe hölzerne Brettchen, und giengen stets barhaupt. Ihr Besuch galt einem menschenfreundlichen und vergnügten Hausvater, der mit all den Seinigen in fortgesetzter Eintracht lebte. Frühmorgens stellten sie sich bei ihm ein, giengen mit ihm aufs Feld und machten die Arbeit mit; beim Essen allein blieben sie weg, und nahmen nichts, was man ihnen auch vorsetzen mochte. Am Morgen waren sie immer besonders munter und aufgelegt, Abends aber wurden sie zusehends stiller, und wenn dann im Nachbardorfe Leuggern die Betglocke ertönte, so liefen sie eiligst und mit Wehklagen davon. Alle rannten dann einer bestimmten Stelle am Aarufer zu und stürzten sich ins Wasser; ebendorten stiegen sie aber am folgenden Morgen wieder hervor, und begaben sich zu ihrem lieben Bauern. Kam nun der Winter und gab es keine Feldarbeit mehr, so unterhielten sie die Familie mit allerlei Kunststücken. So brannten sie in der Scheune, wo sie ohnedies am liebsten waren, je nachdem man es haben wollte, vier- oder sechseckige, sogar zirkelrunde Löcher mitten durch ein Bund Stroh, ohne daß ein anderer Halm daneben Feuer fieng. Denn sie verstanden es, das Feuer zu bannen. Dieser Künste wegen hieß man sie auch Heidenzwerge; ob sie aber wirklich Heiden gewesen sind, weiß man bis heutigen Tag nicht.

So lange sie nun den Bauern besuchten, nahm sein Wohlstand zu, und der ungenügsame Nachbar beneidete ihn oft darum und wünschte die Zwerge gleichfalls an sich zu ziehen. Allein das half nichts, sie blieben dem Alten getreu, und dieser lebte zufrieden und glücklich mit der ganzen Haushaltung bis zu seinem Tod. Als er aber gestorben war und seine beiden Söhne das Gut erbten, gelang es dem neidischen Nachbar bald, diese in Zwist zu bringen. Um so leider that's den gutmüthigen Zwergen, Zank und Streit in der sonst so friedlichen Familie hören zu müßen, sie erschienen bald nicht mehr täglich, dann nahm ihre Zahl ab, endlich kam nur noch einer. Aber auch dieser gieng zuletzt von den beiden Brüdern unter folgenden Worten

Digitized by Google

hinweg: Unsere Zeit ist nun vorbei, wir werden euch daher nie wieder, vielleicht ewig nicht mehr sehen, aber eurer Wohlthaten wollen wir ewig gedenken, lebet nur einträchtig und in Frieden. Nach diesem Abschiede eilte der Zwerg wie sonst der Aare zu. Als ihm dabei der neidische Nachbar nachschlich, um die Uferstelle zu sehen, wo das Männlein verschwinde, stürzte er darüber selbst in den Fluß und versank; nichts mehr sah man von ihm als sein Blut, das einen Augenblick das Wasser färbte.

So waren nun schon viele Jahre vergangen, und man hatte des Heidenvölkleins beinahe ganz vergessen; da brach zwischen den Fürsten ein großer Krieg aus, und ihre Heere drangen auch in die Schweiz ein. Sie schlugen sich an Limmat und Aare und rückten auch in diese Gegend. Damals versuchten es die Kaiserlichen von Döttingen aus auf das linke Ufer der Aare überzusetzen, die Franzosen aber verwehrten ihnen den Uebergang und ließen sie durch Scharfschützen, welche hinter den Häusern und Bäumen von Klein-Döttingen sicher aufgestellt waren, so erfolgreich beschießen, daß jene mit dem Schlagen der Schiffbrücke nicht zu Stande kamen. Darüber nahmen die Kaiserlichen ihr Geschütz vor und schossen mit glühenden Kugeln das ganze Dorf in Brand. Da stand nun das Heidenhäuslein, welches die Zwerge ehemals besucht hatten, entblößt am Ufer der Aare. Ringsum loderten die Firsten, in Zeit von zwei Stunden war das ganze Dörflein in Asche gesunken; das Heidenhaus allein war noch unversehrt. Die Scharfschützen hielten deswegen hier bis zuletzt aus. Wie die Kaiserlichen das sahen, richteten sie alles ihr Geschütz gegen dieses eine Haus, aber vergebens; sie durchlöcherten es bloß, seine Holzwände brachen nicht zusammen und das Strohdach entzündete sich nicht; ganz allein von allem blieb es übrig. Da wollen nun einige Leute des Dorfes gesehen haben, wie während dieser fürchterlichen Kanonade ein Zwerg aus dem Wasser gestiegen und jenem Hause zugegangen sei. Dankbar gedachten bei dieser Nachricht die beiden Brüder des guten Heidenvölkleins wieder, und ihm schrieben sie jetzt die Rettung ihres Heimwesens zu. Sie bereuten ihren Zank, söhnten sich aus, und da das ganze Dorf neue Häuser zu bauen hatte, machten auch sie zusammen sich daran, ihr altes väterliches zu renovieren. Als man nun das Dach frisch umdeckte, fand man unter einem Hohlziegel der First ein wohlerhaltenes Nuster (Paternoster) neben steckengebliebenen Flintenkugeln.

Diejenigen Erzähler aber, welche nicht an Zwerge glauben, berichten über die Erhaltung des Hauses Folgendes.

Hier war Tags zuvor ein alter Offizier der französischen Armee

Digitized by Google

in Quartier gewesen und freundlich behandelt worden. Als er einige Stunden vor Beginn des Kampfes das Haus verließ, sagte er den Leuten für ihre Gastfreundschaft ausdrücklich Schonung und Erhaltung ihres Eigenthums zu. Auch wenn er selber fallen sollte, bemerkte er ihnen, so habe er für sie gesorgt, und zwar schon vorige Nacht beim Schlafengehen. Die Schlacht war vorüber und der Franzose zeigte sich nicht wieder. Man wurde begierig, ob man nicht an seiner Schlafstelle etwa eine Spur fände, aus der man sich sein so wunderbar erfülltes Versprechen erklären könnte. Man bemerkte am dortigen Bettpfosten nichts anderes als ein frisches Bohrloch, um das ein paar Anfangsbuchstaben eingeschnitten waren.

Dieser Franzose muß also zu den Veteranen der Armee gehört haben, die sich alle auf die Heiden- oder Zigeunerkunst verstanden haben. Mit glühenden Stangen brannten sie runde Löcher durch die Strohgarben und sengten alle Spinnenweben in allen Winkeln des Hauses zumal weg, ohne daß sonst etwas im Hause darüber angieng oder nur rußig wurde. Von solchen Wunderthaten erzählt man noch allenthalben.

Das Kriegsereigniß, das im Vorstehenden gemeint ist, betrifft den Aarübergang, welchen Erzherzog Karl von Oesterreich in der Nacht des 16. August 1799 bei Döttingen mit 50,000 Mann erzwingen wollte. Die französische Armee bestritt ihn und 50 Zürcher-Scharfschützen besonders verhinderten dabei das Schlagen einer Schiffbrücke.

---

## 224. 43) Die Heidenmännchen in Ryken.

In der grauen Heidenzeit war in Ryken, zwischen dem Zofinger Boowald und der Aare (genauer wird die Lokalität nicht bezeichnet) eine Salzquelle. Diese Quelle war der Wohnsitz von Zwergen, die man „Heidemanndli" nannte. Es war ein gutes Volk, das Niemandem etwas zu Leide that; man mochte sie in der ganzen Gegend gar wohl und hatte sie gern, denn sie halfen den Leuten viel in Rath und That. Wenn der Bauer Garben band, so kamen des Nachts die Heidenmannli und trugen sie ihm in die Scheune. So brachten sie Heu und Feldfrüchte ebenfalls ein. Auch wußten sie viel zu rathen, was und wo man pflanzen solle, wann ein gutes Zeichen sei, Flachs und Kraut zu säen, wann man Jauche führen und das Land beschütten müße u. dgl. So traf einmal ein solches Heidemannli einen Bauern an, der mit seinen Feldarbeiten noch sehr im Rückstand war. „Gang numme, liebe Gvatter!" sagte es zu ihm,

„und säj hüt rüebsôme, 's zeichen ist guet, es wird scho öbbis gä!“ Der Bauer kannte das Heidemannli wohl, gieng schnell heim und besäte einen großen Acker mit Rübsamen. Es war schon spät im Herbst und die Leute lachten ihn aus. Allein obgleich nur noch fünf Wochen Zeit für Feld- und Wieswachs war, gedieh der Samen doch, und der Bauer bekam diesmal die schönsten Rüben in der Umgegend. — Daneben verstanden diese Heidemannli viele Hexenkünste. So konnten sie in einer Strohwelle ein Feuer anzünden und darinn kochen. Des Nachts giengen sie dann schaarenweise in die Häuser, und da brauchten sie nur mit einem Hammer dreimal an die Thüren oder Schlösser zu klopfen, und diese sprangen alle auf. Dann giengen sie in die Küche und fiengen an zu kochen und zu braten. Was sie verbrauchten und aßen, war am Morgen nur um so reichlicher da. Mit dem Fleisch machten sie's ebenso; sie giengen nur in den Stall, stachen den Kühen und Ochsen ein schönes Stück heraus und kochten und aßen es. Am Morgen war Alles wieder verwachsen und solche Kühe wurden die fettesten und schönsten im ganzen Lande. So nahmen sie Alles, was sie brauchten, nur das Salz brachten sie aus ihrer Quelle mit. Die Bauern wußten zwar wohl um diese nächtlichen Besuche, allein sie konnten ihnen nur lieb sein, da ja in solchen Häusern immer Glück und Wohlstand herrscht, wo diese Erdmannli hinkommen. Einmal waren sie auch in später Nacht in einem Bauernhause, kochten und brieten und ließen sich's wohl sein. Da kam der Stallknecht, welcher zufällig fort gewesen war, heim, er riecht die aus der Küche herziehenden Bratendämpfe, geht hinein und betrachtet eine Weile das Treiben der fremden Gäste. Dann wässert ihm das Maul nach diesen Speisen und gierig nimmt er ein großes Stück Fleisch vom Feuer weg. Die Heidenmanndli bitten und warnen, sie drohen und eifern, aber vergebens, er läßt sich nicht wehren, und verschlingt's. Nun verschwinden nicht nur die Männlein plötzlich, sondern es fehlt am Morgen Alles, was sie in der Nacht angebraucht hatten; in der Küche das Schmalz, im Schrank Brot und Mehl, im Stalle sogar der schönsten Kuh hinten ein großes Stück Fleisch, gerade ein solches Stück, wie das, welches der gierige Knecht gestern hinabgegessen hat. Seitdem war aus dem ganzen Hause Glück und Segen gewichen, und die Männlein erschienen nicht mehr. Sogar die Salzquelle, die sonst ihren Ausfluß in der Aare hatte, war von nun an versiegt. Die Bauern hatten nun weder für sich, noch für ihr Vieh mehr Salz und mußten es bei der Obrigkeit in Bern um theures Geld kaufen.

Digitized by Google

## 225. 44) Das Lämmlisloch bei Wegenstetten.

Auf der dem Dorfe Wegenstetten zugekehrten Seite des hohen Berges des Frickthaler-Jura, den man Homberg und zur Unterscheidung vor anderen gleichnamigen, den Thiersteinberg nennt, liegt oben in den Flühen eine Höhle, in welcher zu beiden Seiten Sitzbank und Backtrog in Stein ausgehauen sind. Hier hat das Erdmännlein Lämmli gewohnt, das den Bauern bei ihrer Feldarbeit frischgebackene Küchlein und Wähen aufs Pflughaupt gelegt hat. Der jetzige Ortspfarrer hat den schöngelegenen Punkt mit einigen Anlagen versehen, und die Höhle in einen guten Keller umgeschaffen.

---

## B. Zwergensagen aus andern Schweizer-Kantonen.

## 226. 45) Der Sattlerfranz auf der Grimsel.

Ein piemontesischer Säumer brachte einen Zug Saumpferde über die Grimsel (Bern. Oberl.) durchs Haslithal herab und jedes war mit zwei Lägeln guten wälschen Rothweins beladen. Er hatte sich auf seinem beschwerlichen Tagmarsch schon tüchtig bezecht, als ihm auf dem engen Felsensteig bei Guttannen, an jenem steilen Felsen des Zuben, wo das Ausweichen gefährlich wird, das Zwergmännlein Selbthan begegnete. In seiner wilden Trunkenheit war es dem groben Gesellen zu viel, zum Leitroß vorzugehen und es hübschlich auf die Seite zu treiben; von hinten her schwang er sogleich die langgedrehte Riemenpeitsche und hieb dem armen Zwerg die allerdicksten Schwielen. Der Kleine drückte sich in die Bergwand und schrie so jämmerlich, daß alle Zwerge aus dem ganzen Thale zusammenliefen. Dann riefen sie seiner Schwester in die Rothenfluh hinauf:

Lauf, lauf, Rebärben,
Der Vater will sterben!

und zogen von Stund an mit einander aus dem Haslithale fort. Drei Tage und drei Nächte dauerte ihr Zug über den Grimselpaß. Man hörte sie dabei laut schluchzen. Den Säumer erreichte schnell sein Verderben. Bevor er noch den Brienzer-See erreichte, stürzte sein Leitpferd den schlüpfrigen Pfad an der Hellen Platte hinunter und riß die übrigen Saumthiere, mit denen es der faule Kerl zusammengekoppelt hatte, gleichfalls mit in den Abgrund. Als er seine ganze Habe verloren sah, stürzte er sich selbst verzweifelt nach. Aber sein grausamer Geist muß von nun an „säumen" bis an den jüngsten Tag. Die Aelpler, die am Rizlihorn und bei der Handeck wohnen,

kennen alle die unsichtbare Säumerei: ein Geschelle von Rossen und Maulthieren, ein Pfeifen, Rufen und Peitschenknallen des Treibers, das oft Nächte lang in einer Strecke von sieben Wegstunden das Thal erfüllt. Oben am Grimselhospiz hat man den Wälschen gut gekannt; man nennt daher dies Gelärm dorten den Sattlerfranz und den Grimselfuchs.

Vergl. Alpenros. 1827. 310. Wanderer in der Schweiz 1840. 381. Helvetia, Volkskalend. von Reithard 1852. 188. Kohlrusch, Schweiz. Sagb. 1, No. 37.

---

## 227. 46) Die Dialen im Bündner-Münsterthal.

Im bündnerischen Prättigäu nennt man die Bergmännchen Geißler, Gaißer, Küher, Wilde Leute und Waldfänken; im romanischredenden Münsterthale heißt man sie Dialen und denkt sich darunter kleine Männchen, welche scharlachrothe Kleidlein, mit Gold und Spitzen geschmückt, tragen und sie an die Sonne und frische Luft zu hängen pflegen. Diesen Reichthum der Dialen erklärt man sich aus den mancherlei Schmelzöfen und Grubenwerken der Gegend, die jetzt verlassen stehen, ehemals aber auf Gold und Silber gebaut wurden. So nennt man im Münsterthale einen Ofenberg, wo Zwerge wohnen, und zeigt in der Nähe der Cierfer-Alp die Dialenlöcher, las foras dal las Dialas. Von ihrer Gesinnung gegen die Menschen wird nur Gutes gemeldet, und ergötzlich ist die Meinung, daß sie die Gamsthiere melken und Käse zu machen wissen, welche so lange wieder wachsen und ganz werden, als man sie nicht auf den letzten Bissen aufißt.

Ein fünfjähriges Kind war, während seine Eltern droben in den Bergmatten Heu machten, den Erdbeeren nachgegangen und war des Abends nicht mehr aufzufinden. Erst am andern Abend kam es ins Thal heim und erzählte den Seinigen wohlgemuth: Ein Kind in wundersamen Kleidern setzte sich zu mir aufs Moos und gab mir gute Sachen zu essen. Plötzlich war es dann wieder verschwunden. Ich wartete die Nacht und den ganzen folgenden Tag auf seine Wiederkehr, und so lange es auch gieng, so empfand ich doch weder Hunger noch Durst. Als es im Walde zum zweitenmal dunkel zu werden anfieng, kam das Wunderkind wieder, speiste mich, nahm mich bei der Hand und führte mich vorsichtig herunter vom Gebirge zwischen Stock und Stein bis auf die ersten Matten, wo man die Kirche des Dorfes wieder sieht. Es mahnte mich hier, hübsch heim zu gehen, und war nun zum zweitenmale verschwunden.

Auch Bäcker sind die Dialen und helfen den armen Leuten mit

Digitized by Google

Brod aus. Die Münsterthaler-Hausfrauen kaufen Etschroggen und wissen daraus ein sehr schmackhaftes Brod zu machen; allein man backt in jener Gegend höchstens alle Monat nur einmal, und das neubackene Brod mit seinem angenehmen Dufte ist daher ein bekannter Gegenstand der Frauengelüste. Nun gieng ein armes Weib, das noch dazu schwanger war, hungrig und müde durch den Wald zwischen Fuldera und Valcava. Erschöpft ließ sie sich auf einen Fels nieder. Plötzlich stieg ihr ein prächtiger Backgeruch in die Nase, aber unmöglich konnte er von Etschroggenbrod herrühren, denn es roch allzulieblich, und weit und breit war hier rings keine menschliche Wohnung zu vermuthen. Das arme Weib, das jenes Tages gewiß weder Alt- noch Neubackenes gekostet hatte, dachte, wie köstlich solch ein Brod erst schmecken müßte, dessen Duft schon so lockend roch; und da sie sich drüber wieder vom Steine erhob, siehe, da lag neben ihr der schönste Roggenkuchen und dampfte noch.

G. Leonhardi, Rhätische Sitten und Gebräuche. St. Gallen 1844. S. 40. Auszug.

---

## 228. 47) Der Geißler von Klosters.

Das letzte Dorf im Prättigäu in Graubünden ist Klosters. Wer von da nach dem hochgelegenen Thale von Davos gehen will und die alte Straße einschlägt, dem fällt in nicht großer Entfernung vom Dorfe ein Felsblock durch seine besondere Gestalt auf. Dies ist der Geißlerstein. Ueber ihn hat ein Bündner-Bauer von Klosters Folgendes mitgetheilt.

Vor langen Zeiten gab es in diesem Thale noch wilde Menschen. Sie waren gutmüthiger Art, dabei aber, obwohl von sehr kleiner Statur, von außergewöhnlicher Leibesstärke. Ihr ganzer Leib war behaart, um die Lenden trugen sie einen Schurz von Fellen. In der Hand führten sie statt eines Stabes eine mit den Wurzeln ausgerissene junge Tanne. Auch das Dorf Klosters hatte damals die Ehre, einen solchen wilden Menschen in seiner Nachbarschaft zu besitzen. Er hieß überall der Geißler und hatte schon seit vielen Jahren länger als die ältesten Männer damals gedenken konnten, die Ziegen der Gemeinde gegen einen geringen Lohn an Zieger und Käse gehütet. Gern gaben ihm die Leute diesen Lohn, denn die Ziegen kamen alle Abende so gesund heim und gaben so viel Milch, daß man am Ende des Jahres sowohl an Butter als an Käse ganze Wagenladungen fortführen und um schöne Summen verkaufen konnte. Alle Morgen früh trieb man ihm die Dorfziegen bis zum Geißlerstein; da wartete

Digitized by Google

schon das Männlein und trieb sie weiter, man wußte nicht wohin; und Abends zur bestimmten Zeit waren sie alle wieder mit strotzendem Euter beim Steine, daß sie vor Milch kaum gehen konnten. Eins aber war sonderbar. Der Geißler redete wohl mit den Ziegen, sie verstanden ihn und folgten, nur mit den Menschen redete er nie ein einziges Wort. Stumm übernahm er Morgens die Thiere in seine Hut, stumm lieferte er sie Abends wieder ab, stumm kam er jeden Herbst am Zahltage zum Steinblock und nahm Käse und Zieger in Empfang, die man ihm gleichfalls stumm daselbst niederlegen mußte. Dieses ewige Stummthun verdroß nun endlich die Leute, und einige vorwitzige Bursche verabredeten, wie sie ihn in ihre Gewalt bringen und versuchen wollten, ob man ihm denn gar keinerlei Aufklärung über sein räthselhaftes Wesen ablocken könnte. Sie versteckten sich eines Abends hinter dem Geißlerstein und sprangen, als er nahe genug war, vereint auf ihn los. Doch der kleine Mann warf mit ein paar kräftigen Stößen den einen dahin, den andern dorthin, bis sie sämmtlich zu Boden lagen, dann eilte er mit unglaublicher Schnelligkeit dem nahen Walde zu. Auch diese Balgerei hatte er stumm abgemacht. Am folgenden Morgen trieben die Klosterser ihre Ziegen wiederum zum Steine, wer aber heute nicht da war, kann man sich denken. Sie warteten und warteten, aber wer nicht kam, das war der Geißler. Da wurde denn beschlossen, daß diejenigen, welche ihm Gewalt angethan hätten, jetzt an seiner Statt die Ziegen hüten sollten. Und so geschah's. Aber wehe, die Ziegen brachten nicht halb so viel Milch mehr heim. Nach einigen Wochen beschlossen die ältern Bauern, die Gemeinde müße den Geißler eigens zu versöhnen suchen und ihm etliche Käse und Zieger zur außergewöhnlichen Zeit auf den Stein legen. Dies half. Er holte die Ziegen wieder wie sonst, sie waren wieder wohlgeweidet und milchreich, nur mußten die Bauern von nun an stets die doppelte Anzahl Käse und Zieger als Lohn dem Geißler erlegen. Da wuchsen aber nach der Hand wieder so ein paar neugierige Bursche auf, die mit dem Geißler gern in nähere Bekanntschaft gekommen wären. Da sie seine Stärke und Gewandtheit schon kannten, so versuchten sie es diesmal auf eine andere Weise. Er hatte nämlich die Gewohnheit, an jedem Abend aus dem kleinen Brünnlein zu trinken, das zunächst dem Steine ist. Diesen Umstand benutzten sie jetzt. Sie sammelten hinter dem Rücken der Dorfgenossen heimlich manche Maß Kirschenwasser und füllten an einem heißen Sommertage unversehens das ganze Brünnlein damit. Als nun der wilde Mann wie gewöhnlich seinen Durst zu löschen kam, schöpfte er mit der hohlen Hand, aber befremdet durch den

Digitized by Google

Mißgeschmack des vermeintlichen Wassers trank er erst nicht fort wie sonst, sondern versuchte es nur mit einigen Schlücken. Doch mußte ihm endlich der Kirschengeist gleichwohl behagen, denn bald bückte er sich über das Brünnlein hin und trank in vollen Zügen. Jetzt kam die Wirkung des berauschenden Wassers, er verlor das Gleichgewicht und sank machtlos nieder. Schnell sprangen die Bursche aus dem Versteck hervor, banden ihn mit Weiden und Stricken und trugen ihn ins Dorf hinein in eine festverschlossene Kammer. Zwei postierten sich als Wache vor die Thüre und so beschlossen sie, bis zum Morgen zu warten und das Verhör erst zu beginnen, wenn der Geißler seinen Rebel ausgeschlafen hätte. Aber um Mitternacht entstand in der Kammer ein wüthendes Gepolter, man hörte, wie ein ganzer Kreuzstock in Stücke zertrümmert, zum Haus hinaus stürzte, und gleich darauf war der Entsprungene schon außerhalb des Dorfes zu sehen, wie er mit unerhörter Eile, mehr fliegend als gehend, durch die Wiesen hinlief und verschwand. Natürlich saß er am andern Morgen nun nicht auf seinem Stein, als die Bauern ihre Ziegen wieder austrieben, und kam auch nicht mehr, als sie ihm den alten und dann den verdoppelten Lohn an Zieger und Käse hinlegten. Seitdem müßen die Klosterser einen eigenen Hirten halten und ihm beinahe mehr an Hutgeld bezahlen, als der Erlös aus der Milch ist, die alle ihre Ziegen zusammen geben. So ist von ihrem alten Wohlleben und vom Geißler selbst nichts mehr übrig, als am Dorfe der Geißlerstein.

Mündliche Mittheilung aus der Stadt Chur, durch Stud. Meyer.

---

## 229. 48) Die hinkende Kostkuh.

So oft ein Emmenthaler-Senne im Herbste von seiner Alpe zog und heimfahren wollte, mußte er eine Kostkuh droben im Stalle stehen lassen; anders konnte er niemals glücklich das Thal wieder erreichen. Die Kostkuh ist jenes Thier eines ganzen Stoßes, das dem Sennen zu seiner eigenen täglichen Nahrung zusteht, so lange er auf der Alp käset, das also am meisten um ihn ist und besonders vertraut und lieb wird. Von jener preisgegebenen Kuh aber fand man dann im kommenden Jahre, wenn man wieder den Berg befuhr, nichts mehr im Stalle, als das am Baren stehende Gerippe. Nun war der Senne eben wieder heimgekehrt, und wie üblich war auch diesmal das bestimmte Stück, die hübsche Kuh, droben allein zurück geblieben. Aber diesmal konnte sie der Sennknecht nicht vergessen und verschmerzen; sie reute ihn zu sehr. Er ließ mit Bitten nicht ab, bis



Digitized by Google

ihm zuletzt der Meister erlaubte, sie nachholen zu dürfen. Also nimmt er eine Kienfackel, ein Stück Brod und den großen Hund mit auf den Weg, und erreicht spät am Abende die verlassene Hütte. Sogleich schaut er in den Stall. Da steht denn die arme Blumi noch und brüllt ihm freundlich zum Melken entgegen. Ehe er dies thut, will er erst sein Herdfeuer anmachen, damit er sich die frischgemolkene Milch sieden kann; denn draußen bläst der Schneewind und er selber ist tüchtig zusammengefroren. Auch wäre es unmöglich, den weiten Weg bei eintretender Finsterniß und mit dem Thiere heute noch zurück zu machen; also richtet er sich gleich aufs Uebernachten ein. Sein Feuer löscht ihm aber trotz aller Bemühung immer von Neuem aus, das Holz fährt zischend und knallend vom Herde, obschon die Fichtenwedel nicht grün oder naß sind. Aergerlich darüber, daß ihm Alles mißräth, läßt er endlich das Feuer unangemacht, die Kuh ungemolken und also auch die Milch ungetrunken; aus Eigensinn mag er nicht einmal sein Stück Brod aus dem Sacke ziehen, sondern nüchtern steigt er hinauf übers Heu und legt sich in sein Gaster (Kammer) zum Schlafen. Aber auch zum Einschlafen soll's nicht kommen. Denn alsbald entsteht unter ihm in der Hütte ein großes Gepolter. Er hört alle Vorkehrungen machen zum Milchsieden und Käsen. Der Wellkessel mit dem großen Eisenring wird klirrend an den Turner gehangen, dann wird dieser wagrechte Balken über den Herd hergedreht, daß man ihn laut knirschen hört; nun spratzelt auch vernehmlich drunter die Flamme schon. Alsbald kommt Jemand über den Melkgang hergeschritten und herauf zum Sennen; eine unkenntliche Gestalt ist's, die ins Gaster hereintritt und ihn essen und trinken heißt, was sie ihm darreicht. Es ist Alles stockfinster und dem Knechte will's grausen; endlich nach längerem Weigern trinkt er doch und merkt, es ist frische, kuhwarme, herrlichgute Milch. Nun soll er auch essen, was Jener ihm ins Gesicht schiebt. Beim ersten Versuch beißt er auf Fleisch. Aber nun weigert er sich hartnäckig, mehr zu nehmen, und ist schon entschlossen, sich mit Gewalt zu widersetzen. Hierauf verschwindet die Gestalt und drunten scheint es still zu werden. Beim frühesten Morgen steigt der Knecht hinunter, findet das Herdfeuer noch glimmend, zündet daran seine Fackel an und geht mit seinem Hunde in den Stall. Die Kuh ist noch lebendig. Sogleich nimmt er sie am Strick heraus, geht ihr mit der Fackel voran und der Hund muß hart hinterdrein laufen. So kann ihm der Schwarze nichts anhaben, der nun mit entsetzlichem Getöse hervor aus der Hütte bricht und die Dreie über die Alpe bis zur ersten Staffel (oberster Weidezaun) hinunter verfolgt. Glücklich langen sie zu Hause an. Da sieht

Digitized by Google

schon der Meister mit Weib und Kind und schaut ihnen entgegen; alle sehen zugleich, daß die Kuh hinkt. Man untersucht sie, aber nichts fehlt ihr als oben am Hinterfuß ein schon vernarbtes Stücklein, gerade so groß wie jener Bissen Fleisch, den der Knecht in voriger Nacht im Gaster hat essen müssen. (Mündlich von einem jungen Mann aus dem Bernerlande.)

---

## 230. 49) Das Rücken der Kühe.

Sturm und plötzlicher Schneefall auf den Alpenweiden, auch die Nähe wilder Thiere, oder Schwärme von stechenden Insekten machen manchmal eine Kuhheerde auf der Alpe so verwirrt und wild, daß sie die Flucht ergreift und, ohne auf das Locken und Rufen des Hirten mehr zu hören, über die Felswände hinab in den Tod stürzt. Dies nennt man das Rücken der Kühe. Insofern sie zuweilen dabei auf eine unbegreifliche Weise doch erhalten bleiben und wieder aufgefunden werden, ist der Glaube an die Macht behütender Berggeister ein nahe liegender.

Nachfolgende Erzählung aus dem Berner-Oberlande stellt dies dar; in ihrer gegenwärtigen Fassung stammt sie aus Münchenbuchsee aus dem Munde eines jungen Schullehrers, sie weicht von derjenigen ab, welche J. R. Wyß, Schweiz. Idyllen 2, 329 gegeben hat, der zugleich auf die mehrfachen Spielarten hinweist (pag. 414), die darüber bestehen.

Der Hirte Oswald zu Intramen im Grindelwaldthale wollte am kommenden Morgen seine Alpe einen Tag lang verlassen, um seine Leute drunten im Thale zu besuchen, und hatte sich mit aller Vorarbeit für sein Vieh so übermüdet, daß er heute vor der Zeit mit einemmale einschlief, ohne vorher den Abendsegen gesprochen zu haben. Dies geschieht mit singender Stimme durch einen vor den Mund gehaltenen großen Milchtrichter, Volle genannt, und es zu unterlassen ist nicht allein unchristlich, sondern bringt im Gebirge auch mancherlei Schaden. Es dient statt des Schalls der Abendglocke, die in diesen Höhen fehlt, es begrüßt die andern Sennen auf den benachbarten Alpen und hilft besonders den verstiegenen Wanderern und verlaufenen Thieren, die dann bei einbrechender Nacht die verfehlte Richtung wieder gewinnen können. Schon nach etlichen Stunden ward Oswald durch das laute Brüllen seines Viehes wieder aus dem Schlafe geweckt und sah im Mondscheine, wie ein Hirtenmännlein die Heerde mit lautem Ruf zusammenlockte, dem nächsten Felsenborde zutrieb und

Digitized by Google

da sammt ihr am letzten Rande verschwand. Die Kühe waren fort und Oswald hatte das Nachsehen. Tagelang durchkletterte er nun alle Schluchten der Alp, rief, pfiff und lockte, aber nicht eine Spur mehr war aufzufinden. Sieben Häupter waren so auf einmal verloren, es wollte ihm das Herz vor Jammer zerspringen. Aber er lernte sich bemeistern, und ein alter Glaube sagte ihm, es sei das Beste, nun so zu thun, als wäre nichts verloren. Alle Tage gieng er daher wieder zu seinem leeren Stall hinauf und hantierte da herum, als ob die sieben Stücke noch immer siebenfache Melktern Milch ergäben. Er zettete den Mist mit der Gabel und gab frische Streue, er schnallte den Melkstuhl an und setzte sich gegen den leeren Baren, er pfiff und redete wie sonst beim Melken jeder Kuh freundlich zu, nannte sie beim Namen, reichte die Tränke und lockte, als wollte er sie wieder auf die Weide hinausbringen. So trieb er seine unergiebige Wirthschaft fort und wurde dabei geduldiger, frommer und arbeitsamer als je vorher. Es kam der Winter, und auch da gieng er die übereisten Stege zur leeren Hütte hinauf. Alles wüste Reden, mit dem sich das Sennenvolk die mühselige Arbeit zu erleichtern sucht, hatte er sich abgewöhnt, und nur einmal noch, da er auf der abschüssigen Halde ausglitschte und einen harten Fall that, war ihm ein halber Fluch zwischen die Zähne gekommen. Nun ward es wiederum Mai, wieder stieg Oswald den alten Weg; und als er den frischen Jahressegen betrachtete, wie so schön ringsum das junge Gras auf der Weide zu wachsen begann, wurde ihm recht traurig und weh. Mit schweren Gedanken näherte er sich jener Unglücksstelle, wo ihm seine schönste Habe in den Abgrund gestürzt war. Aber da sah er plötzlich sieben Kühe zur Weide herein ziehen und sieben prächtige Kälber liefen ihnen zur Seite, jegliches kugelrund und feißt, daß es vor Lust mit den Vorderfüßen bockte und mit den Hinterfüßen ausschlug. Das waren seine sieben Kühe mit schimmerndem Fell, alle zugleich mit frischen Kalben. Auch das Hirtenmännlein fehlte nicht; es hatte ein Lecktäschlein über die Schulter geschnallt und ein Rüthlein in der Hand. Während es so hertrieb, legte es einen Finger, wie zum Zeichen des Stillschweigens, auf seine Lippen und deutete mit der Gerte auf das Euter der vordersten Kuh. Jetzt erkannte Oswald, wie mild diesmal der liebe Gott seine Verzagtheit hatte büßen wollen. Strotzend und voll war das Euter der Leitkuh, aber eine von den vier Melkzitzen fehlte daran; das allein und nicht mehr hatte er zur Strafe für seinen unbesonnenen Fluch.

---

Digitized by Google

## 231. I. 50) Die Herdmanndli am Pilatusberge.

Die Erdmännchen auf dem Pilatus haben so viele Histörchen als Leute über sie erzählen. Der alte Hansmarti-Jakob am Löchenrain bei Eschenbach behauptet, sie hätten im Eschenbacher-Felsabhange gewohnt, dann bei den Dorfleuten Abends die Milch aufgesucht, die ihnen die Bauernmagd nach dem Melken beiseite stellen mußte, und dafür am Morgen regelmäßig das Vieh gemolken, damit die faule Lene eine Stunde länger schlafen konnte. Aber geredet hätten sie niemals ein Wörtchen, obschon sie das Luzerner-Deutsch gut verstanden haben.

Der alte Luzerner-Stadtschreiber Joh. Leop. Cysat hat in seiner Beschreibung des Vierwaldstätter-Sees mehr das Sonderbare, als das Landesübliche von diesen „Berglütlenen des Pilatus" zu erzählen gesucht. Er schildert sie in allerlei Jagdabenteuern als die Herren und Hüter der Gemsen. Kam ein gerühmter Schütze den Berg herauf, so ließen sie sich mit ihm in einen Accord ein und stellten ihm für eine gewisse Zeit oder eine Anzahl Jahre regelmäßig ein Gemslein schußgerecht zuwege; dafür mußte aber der Schütze geloben, die andern Thiere eben so lange in Ruhe zu lassen. So hat der alte Landammann Heinrich Immlin von Obwalden unserm Cysat selbst erzählt, wie er einmal am Pilatus den Gemsen nachgegangen und ein Bergmanndli dahergekommen sei, das ihm verboten habe, weiter herauf zu steigen. Er habe als starker Mann dieser Warnung spotten wollen, da sei aber das Manndli auf ihn losgesprungen und habe ihn mit großer Gewalt die Felsen hinunter geworfen. Drunten lag er viele Stunden halbtodt, bis ihn die Seinigen fanden, erquickten und heimtrugen. Auch dem Untervogt von Malters, Hans Bucher, ist es nicht viel besser ergangen, er hat es selber dem Stadtpfarrer von Luzern i. J. 1592 auf sein Gewissen als wahr erzählt. Bucher, ein braver und frommer Mann, war ein eifriger Fischer und Jäger und hatte sich oft geäußert, er möchte doch auch einmal so ein Herdmanndli sehen. Eines Tages nun, als er droben auf dem Pilatus im Rümlig nach schmackhaften Forellen fischte, sprang ihm ein solches rücklings auf den Hals und drückte ihn mit solcher Macht in den Bach nieder, daß er meinte, es sei sein Letztes. Du bist auch einer von denen, sagte es, die mir meine Thierlein schon viel geplagt und zerstreut haben! dann verschwand's und ließ ihn liegen. Der Untervogt kam schwach und elend heim und fühlte sich auf einer Seite lahm: „also daß er fürder der Wildi (des Weidwerks) sich enthalten

Digitized by Google

und nun das Haus vergaumen (hüten) müßen". Das ist der sogenannte Hexenschuß und Zwergenschlag, mit dem sie den strafen, der ihrer Warnung nicht folgt.

Die Sennen schildern sie als zwei Fuß hohe Männchen in grünen oder grauen Röcklein. Ihr Bart ist grau und wallend, ihre Locken fallen ihnen auf die Schulter. Sie trugen rothe Käpplein und hatten Gänsefüße. In den Berghöhlen hüteten sie Schätze. Pfeilgeschwind kamen sie aus ihren unterirdischen Gängen hervor, erkletterten Bäume und Klippen und waren eben so schnell wieder verschwunden. Wo sie im Hause zusprachen, da war der Segen Gottes in Allem; wem sie im Sommer heueten, der war mit seinem Viehbestand ein Glückskind. Aber wer sie durch Rohheit erzürnte, der hatte eben so sicher ihre Rache zu fürchten. Bei den Hirten waren sie ganz einheimisch, und so gerne aßen sie das ihnen vorgesetzte Schweinefleisch, daß sie dafür aus Karten und Händen weissagten und mancherlei ärztliche Kunst offenbarten. Bisweilen kamen sie im Hirtenhemde daher, das Lecktäschli mit Viehsalz gefüllt über der Achsel, im Händchen eine lange Gerte. So lockten sie Abends um die Betglockenzeit den Kühen und fuhren dann allmählich mit ihnen durch die Luft davon. Kamen dann nach drei Tagen die Thiere wieder auf die Alpweide zurück, so waren sie ausgemolken und vor Ermüdung halb todt. Bei einer solchen Begebenheit konnte sich der Senn nicht anders schützen, als daß er schnell den Alpsegen sang; damit brachte er die Kühe, wenn sie schon hoch in den Lüften waren, wieder zurück und ganz sanft ließen sie sich auf die Weide herab. Wenn nun heute die Glocken der vielen Ortschaften um den Pilatusberg zum Abendgebete läuten, so vergißt auch der Senne auf der Alp droben nicht, einen kräftigen Abendruf oder Alpsegen mit zu sprechen. Auf Bründlenalp, auf der Frostaffel erheben sich die hohen Felsen des Widderfeldes mit der Höhle des Tomili, auch Dummlin genannt. Der hl. Dominicus soll versteinert in ihr sitzen; auch könne man, heißt es, darinn so weit vordringen, daß man endlich das Geschelle der Weidkühe höre, die auf der entgegengesetzten Seite des Pilatusberges auf der Unterwaldner-Brünnlenalp gehen. Dorten liegt auch das große Mondmilch-Loch und nicht entfernt davon der berüchtigte Pilatus-See. Hier singt der Senne auf Bründlenhütten seinen Kühen den Abendsegen durch die Volle, den Milchtrichter, zu und erhält dafür von Gemeinde oder Weidherrn den eigens bestimmten Rufkäse. Dieser Abendruf, zu dessen Schluß auch die Anfangsverse aus dem Evangelium Johannis gesprochen werden, lautet also:

Digitized by Google

Ho-ho, hoö-hoh, hoh-lowe Amen!
Nehmet alle Tritt in Gottes Namen!
Ho-lowe, Jesu Christi Blut,
Bhüt Aller Leib, Seel, Ehr und Gut,
Was in die Alp ghören thut.
Das walt Gott und unsre herzliebsti Frau,
Das walt der heilig Sant Wendel auch,
's walt Gott und der heilig Sant Antoni,
's walt Gott und der heilig Sant Loy.

Aus Rennwart Cysats Handschriften in Luzern, ausgeschrieben durch Joh. Leop. Cysat: Beschreibung des Vierwaldstätten-Sees. 1659. — Cappeller, hist. mont. Pilati 1767, pag. 178 ff.

---

## 231. II. Der Zwerg auf Kastelenalp.

J. Martin Usteri von Zürich erzählt in seinen Dichtungen (Ausgabe von D. Heß, 1831. 3 Thle.):

In Kriens lag eine Wittwe gichtkrank; ihr Töchterlein Magdalena entschloß sich daher zum reichen Vetter auf die Kastelenalp hinauf zu gehen und von diesem eine Unterstützung für die verdienstlose Frau zu erbitten. Er empfieng sie mit grobem Hohn und jagte sie, trotz des furchtbaren Gewitters, das gerade am Himmel stand, zur Thüre hinaus. Im Unwetter erreichte sie weiter unten am Berge die Hütte des armen Aloys, den sie schon lange herzlich liebte. Er nahm sie auf, tröstete sie und ließ sie, als der Regen vorüber war, nicht ohne das einzige Käslein fortgehen, das er noch besaß. Auf dem nassen Alpengrase glitschte Magdalena aus, und das Käslein, das sie ihrer Mutter mitbringen wollte, fuhr in hohen Sprüngen von Wand zu Wand unaufhaltsam in die Tiefe. Während sie es wieder suchen will, wird es drüber Abend und Nacht. Da fühlt sie sich im Dunkel zu nicht geringem Schrecken an der Hand gefaßt, und wie sie umsieht, steht vor ihr ein Zwerglein, grau und winzig klein, das auf der Schulter ein Stück vom verlornen Käse und in der Hand Kräuter trägt. Fürchte dich nicht, sprach es, ich habe wohl gesehen, wie du heute beim Aloys geweint hast. Diese Kräuter werden deine Mutter heilen, und hier ist ein Stück von deinem Käse wieder; geh achtsam heim und meide die Sprünge. Magdalena kam glücklich heim, die Mutter wurde gesund, das Stückchen Käse aber war zu Gold geworden. Jetzt kaufte sie ihrem Aloys die Bründleralp und wurde seine glückliche Frau. Die Kastelenalp aber war im Ungewitter jenes Tages von einem Felsenrutsch verschüttet worden, der reiche Vetter zog mit einem zerschlagenen Fuße bettelnd im Lande umher.

Digitized by Google

Diese Sage von Aloys und Magdalena ist besungen: Zürcher Neujahrsbl. der Musik-Gesellsch. 1819, 7. Sie gründet sich auf einen am Pilatus 1739 vorgekommenen Bergsturz, der sich vom Tomilishorn ablöste, und die Castelenalp überdeckte. — In Meyers Tirol. Sagenkränzlein 1856, pag. 240 kommt der Nörkelkönig Kruzinigele zum armen Mariannl und schenkt ihr, weil sie in ihrer eigenen Noth Erbarmen zeigt, den Mondthee, durch den ihre kranke Mutter geneset; aber den reichen Sennen, die ihn erbarmungslos abgewiesen, ruft er in ihre stürzenden Hütten: Morgen oder heut kommt die Zahlzeit!

---

## 232. 51) Wildenmannlis-Loch im Toggenburg.

Auf der östlichen Seite des Siluner-Rucks oder des Seln, in der Bergkette der Kuhfirsten (Churfürsten jetzt genannt), liegt zwischen Silun und Breitenalp in einer Felswand eine Höhle, welche der zunächstwohnende Senne das Wildenmannlisloch nennt und so beschreibt: Ihr Thor ist so groß, daß man mit Roß und Wagen hinein fahren kann. Sie führt anderthalb Stunden weit in den Berg hinein und die Gänge drinnen sind so weit, daß mehrere Mann nebeneinander aufrecht gehen können. Vorne haben die Wildmännchen sich Tische und Bänke ausgehauen; eine Viertelstunde weiter innen liegt ein kleiner See, rings von Felsblöcken eingefaßt, die sie sich zu ihren kühlen Ruhesitzen hergewälzt haben; noch weiter nach hinten kommen dann ihre Wohnungen. Sie leben von Wurzeln und Milch. Den benachbarten Sennen helfen sie den Stall schoren (misten), Vieh füttern und den Berg heuen. Einst holten sie die Hebamme aus dem kleinen Orte Starkenbach, bei St. Johann im Toggenburgischen, zu sich hinauf, die einem Wildweiblein in Kindsnöthen helfen mußte. Schließlich erhielt sie dafür eine ganze Schürze voll Erdbrocken. Auf dem weiten Wege aus der Höhle heraus gab sie auf das werthlose Geschenk nicht acht, als sie nun heraus ans Tageslicht kam und den letzten Brocken besah, war er reines Gold. Benachbart liegt auf Silimatt das Rauchloch, eine Erdöffnung, die ähnlich dem Wetterloche des Kamor im obern Rheinthal ist. Hinabgeworfene Steine hört man lang in der Tiefe rollen, oft steigen Dünste aus ihm empor, die Regen bringen. In dieser Gegend wohnt auch das Hinter-Risi-Manndli, das auf dem Käseruck oder Asterkäseren, einem Weidgebirge von mehr als 7000 Fuß Höhe, in einem scharlachrothen Kittelchen und mit großem Schlapphut sich blicken läßt und auf einer Geige aufspielt. (Mündlich von J. Scherrer von Ebnat.)

---

Digitized by Google

## 233. 52) Das Erdmännlein auf der Seeburg, Kt. Luzern.

Eine halbe Stunde vor Luzern auf dem Thurme, den man die Seeburg heißt, führt ein unterirdischer Gang hinunter bis an den Fuß des Hügels, auf dem der Thurm steht. Dort haust ein Erdmännlein und bewahrt ein schwarzes Kästchen, das wahrscheinlich mit Gold gefüllt ist. Ein alter Mann, der mir die Sage erzählte, beschrieb das Männchen, das er gesehen haben will, wie folgt: In den Hundstagen erscheine es alle Jahre, sei kaum 2 Schuh hoch, habe weißen Bart, der weit herabwalle und weiße Locken, auf dem Köpfchen ein rothes Käppchen mit Feder. Auf dem Grase breite es ein grünes Röcklein aus, vermuthlich zum Trocknen, weil es ihm wohl von dem im Gange heruntersickernden Wasser naß werden mag.

Vier herzhafte Luzerner-Studenten hatten sich einst aufgemacht, um diesem Erdmännchen hier nachzuspüren. Als sie nun in die Höhle gekommen waren, ließ der erste die Fackel, mit der er einige Schritte weit vorgeleuchtet hatte, fallen und schrie, er habe ein Thier gesehen mit großen, feurigen Ohren. Nun wollte ein jeder dasselbe gesehen haben, und jeder sprang und kroch so schnell er konnte aus dem Loche heraus. (Durch R. Steiger aus Luzern.)

(Eine ähnliche Erzählung über dieselbe Oertlichkeit findet sich in dem Schweiz. Sagenb. von Kohlrusch 1, pag. 189.)

Digitized by Google

# Anmerkungen zu den Zwergensagen.*)

1) Das Bettelweib in Wil. Auf die Verschüttung der Lorenzoquelle, die durch ein Erdbeben um ihren heißen Sprudel gebracht worden sein soll, scheinen geschichtliche Dokumente hinzudeuten. In einer Urkunde v. J. 1478 hat der Hochmeister des Deutschordens und Commenthur zu Biberstein (Schloß bei Aarau) Johanns von Ow dem Ritter Hannßen Arnoldten Segenser zu Lehen vergabt, die Hofstatt zu sant Laurentzen, daß er das Bad da mög suchen und äufnen, ob er das warm Wasser finden möcht, das Gott wölle u. s. w. — Bronner, Kant. Aargau 2, 349.— Die Quelle selbst hier, die von einem heiligen Wesen unter dem Namen der Frau gehütet wird, und dazu der Ramsfluhbrunnen vergleicht sich in No. 3 dem Heidenbrünnlein und Schellenbrünnlein, sodann dem Brünnlein in der Höhle der Erdweibchen No. 4, dem goldenen Geisbrunnen in No. 27 und der in Gift verwandelten Quelle No. 15; — auch der Stiefelireiter No. 33 und der Geißler No. 47 haben ihr eignes Brünnlein,— die Toggenburger Wildmannli No. 51, die Zwerge der Stiftshalde No. 9 und die der Ramsfluh No. 1 haben ihren eigenen Bergsee. Dies weiset zusammen auf jenen Urdharbrunnen hin, der neben dem Göttersaale steht und von der ältesten Norne Urdhr gehütet wird. Die weitere Ausführung über diese Brünnlein steht Anmerk. No 2 (Gänsewein) und Anmerk. No. 5 (Geisbrunn, Hollabrunn.) „Je minder as b'hebsch: Je minder as hesch. Je minger as bseh'sch: je minger as hesch.“ Dies ist hier der warnende Reimspruch des Erdmännchens; derselbe läuft variirend durch die Mundarten: Je mehr du zerstreust, je mehr du bereust. R. Wyß, Reise ins Bern. Oberl. 2, 414. Wie minder Ihr zettet, wie mehr Ihr hättet. E. Meier, schwäb. Sag. No. 67. Wia meh as da verzötarist, om sa minder host. Vonbun, Voralberg. Sag. S. 5. Je mehr du verzettlest, je mehr du hernach bettlest. Bechstein, DSagb. No. 933.

2) Vo de Erdmändlene ûf der Ramsflue. Das Sprichwort, welches hier dem sich verletzenden Zwergen in den Mund gelegt ist, wiederholt sich vielfach. Hesch's sälber tha, magsch's sälber ha, sagt der Zwerg im Bern. Habkerenthale. Reithard, Volkskal. 1851, pag. 67. Saltthon, saltglitten, sagt der Waldmann in Tirol. Wolf, Zeitschr. 2, pag. 59. Der Schäfer Selberjedan schlägt die Wassernixe, daß die ihrigen alle herbeilaufen. Märk. Sag. in Haupts Ztschr. 4, 393. Sell thaun, sell haun. Schmid, Wb. 628. mhd. ausgedrückt: selbe taete, selbe habe. Myth. 420. 980. Die Zwerge baden hier wie Täubchen; ein Zug, der an die badenden Donauweiber erinnert: si swebten sam die vogele vor im ûf der fluot. Nib. 1476, 1. Ihre geisterhafte Geschwindigkeit liegt

*) Sämmtliche Stücke der vorausstehenden Abthl. V. sind zweifach numeriert. Die erste Zahl giebt die allgemeine Reihenfolge im Buche, die zweitstehende aber die Ordnungsnummer an, nach welcher in den Anmerkungen dieses Abschnittes die einzelnen Zwergensagen citiert werden.

Digitized by Google

darinn ausgedrückt, daß sie hier wie der Schwick verschwinden, in No. 47 im Entspringen durch die Wiesen mehr zu fliegen scheinen als gehen; also erscheinen sie auch äntenfüßig, und in No. 4, 9 gänsefüßig. Deswegen reimt J. Wier De praestig. Daemon. über die äußerliche Beschaffenheit der Zwerge:

es ist ein Zweifel auch derbei,
ob's von Natur ein Vogel sei.

So erscheint der Rainhalden-Joggeli No. 27 als kreischender großer Vogel. Das Venedigermännlein, das Gold schöpft, fliegt auf und davon wie ein Vogel. Vonbun, voralberg. Sag. S. 17. Der ausgesetzte Hauskobold in Straußberg schreit als herrenloser Vogel am Wege. Kuhn, märk. Sag. No. 180. Wie die Zwerge in unserer No. 15 gleich Wachteln singen, so zwitschern sie an der Zürcher-Burg Wädenschwil in der Vogelsprache: Alpenros. 1821, 204. Auf dem Rücken großer Alpenkrähen (pyrrhocorax) ziehen sie auswandernd aus dem Lorenzothale hinweg, No. 1, dagegen in No. 25 sind die Tanz- und Spielplätze nach ihnen als nach Raben benannt. In No. 12 lassen sie von dem allzu genauen Besucher ihrer Höhle nichts übrig als seine Haare und Schuhe: lauter Züge, die gleichfalls auf ihre valkyrenhafte Vogelgestalt hinweisen. Der Rabe Wuotans ist Gottes und ihr Bote; darum ist nach seiner Farbe ihre Tracht schwarzmantlig No. 17, man muß ihnen ein schwarzes Bett aufschlagen, No. 34. Dem Iren heißen seine Hauselben geradezu Raben-Preachan. Grimm, Ir. Elfenm. XIV. Sollte dem Burgherrn von Corbières, Kanton Freiburg, ein Söhnlein geboren werden, so ließ ein Rabe einen Silberring ins Schloß fallen, und einen goldnen brachte er im Schnabel getragen, so oft ein neues Mädchen zur Welt kam. Küenlin, in den Alpenros. 1824, 58. Dies weist auf den heilbringenden Flug des Raben überhaupt hin, der dem Menschen wohlthätig war und weissagend, wie der Zwerge Annahen und Besuch. Die Zwerge sehen ins Verborgene, wie die Raben jene Mörder Meinrads entdecken, welche mit ihrem Raube von Einsiedeln nach Zürich geflohen sind. Dorten soll heute noch der Gasthof zum Raben nach jener Entdeckungsscene Namen und Schild führen. Meyer-Knonau, Kant. Schwyz., pag. 256. So erscheinen diese Zwerge als Schwarzelben, gegenüber jenen Lichtelben, welche, No. 46, Dialen heißen, No. 12 den größten Glanz ausstrahlen, in No. 37 als rothe Hähne raketenartig in die Lüfte fahren, oder wie in No. 35 mindestens mit einer Sichelfeder hinterm Ohre sich zeigen. Allmälich sinkt der Schwarzelbe zum Gespenst herab, und schrumpft der Rabe zum Unheilsboten zusammen: und keineswegs trennen sich alsdann hierin die Anschauungen des Gebildeten von denen des gemeinen Mannes. Denn wie unsere moderne Romanzendichtung jene den Kyffhäuser umfliegenden Raben, die dem schlafenden Kaiser die Rettungsbotschaft bringen sollen, zu schwarzen lichtscheuen Pfaffen allegorisirt hat, so beten jetzt geistigverlassene Sennen und Kinder gegen den Raben als gegen den leibhaftigen Satan. Der Abendsegen der Hirten im Sarganserlande (Kant. St. Gallen) lautet tagtäglich „gegen des Rappen Schnabel" (Henne, Schweiz. Blätt. 1832). Das Kindergebet aus den Sennhöfen von Ormond, Kanton Waat, ist gegen die gelines piquantes gesprochen worden und gegen die ausseka voairon (Grimm in den Altd. Blättern von Hoffmann und Haupt 1, 372) d. i. gegen die pickenden (Galgen) Hühner und die bunten

(grünaugigen) Agalastern, im Patois agazze, azzaque. Vergl. das Gebet der Hirten am Pilatus, No. 50.

Eine Berücksichtigung verdient der Umstand, daß die Zwerge bald änten- und gänsefüßig, bald aber auch ziegenfüßig erscheinen. Das Ober-Aargauer-Volk um Langenthal berichtet von einem dortigen Schlosse Gänsefuß, das im Adelmännliwalde gelegen habe und wo sich jetzt noch Ritter in Federhüten sehen lassen sollen. Jahn, der Kant. Bern, S. 453. Läppisch klingt eine solche Behauptung erst dann, sobald sie sich auf das Gebiet der pragmatischen Historie wichtig thuend übertragen will. So erzählt Lutz, Geschichte des Frickthales, Basel 1801, nach Klosterchroniken von Reichenau und St. Blasien: in dem Aargauer Städtchen Laufenburg am Rhein sei ein gänsefüßiges Kind geboren worden. Die Seligen des Heidenthums erscheinen, da sie geflügelt sind, erst vogelfüßig, dann aber, wenn sich der Glaube an sie verliert, werden sie krüppelfüßig. Dabei stehen Vogel und Vierfüßler in einer alten Verwandtschaft und vertauschen ihre Namen auch sprachlich gegenseitig. Die spätere Volksempfindung, welcher diese Metamorphose unklar geworden ist, dichtet alsdann den Zwergen ein Schamgefühl über solche thierische und verkrüppelte Gliedmaße an, und der symbolisirende Gelehrtenverstand deutet sich das Verhältniß nach Art moderner Reflexionen aus. Deshalb meint nun H. Heine im Romancero, S. 122 diesen Zug der Mythe durch die Bemerkung erklärt zu haben:

Wir alle gleichen jenen Zwergen,
Wir haben ja alle was zu verbergen.

Allein schon am nächsten besten Volksausdrucke kann ein solcher Behelf wieder scheitern. In der Größe einer Gans und Aente erscheint den Stedingern ihr Gott. Stedinger Volkssag. Bremen 1845, S. 336. Der Thüringer hat die Schnepfe Donnerziege genannt. Sommer, thüring. Sag. S. 179. Vogel und Ziege stehen also in einer gegenseitigen Beziehung, wie Bock und Donnergott. Darüber ist Kuhn nordd. Sag. S. 517 zu vergleichen. Kirchhofer verzeichnet S. 299 das Schweizer Sprichwort:

Wer will ein Biedermann heißen,
hüt sich vor Tauben und Geißen.

Noch heute giebt auch der Senne seinen Geisen gerne Vogelnamen: Taube, Specht, Fleugi, Schneevogel und andere, die man bei R. Wyß, Reise ins Bern. Oberl. 2, 563 nachlesen kann. Fuhrgeis nennt er die alte Muttergemse und denkt dabei theils an die Führerin, theils an die Futterbringerin des ganzen Rudels; denn das alamannische hält im ahd. fuora noch die beiden Bedeutungen von Nahrung und Lebensart fest. Allein eine ags. Glosse des 9. Jahrh. bei Mone, Anzeig. 1838, 142 übersetzt ibices (schweizerisch Ybschgeis, Weibchen des Steinbockes) mit firgingaett und firginbucca. Fiörgyn aber ist Thôrs Mutter. Myth. 157. Wie Thôrs Verhältniß zur oben erwähnten Schnepfe und zugleich zum Bocke besteht, so verräth sich sprachlich noch manche andere Beziehung der Geis zum Gewitter, zum Meteor, zum Schützenschuß und zum Zwergenschlag. Der Thuner-Pfarrer Rebmann, Ein lustig Gespräch von Bergen Riesen und Stockhorn, Bern 1620 S. 68 nennt Meteore ebenfalls Geisen und spricht „von Fewrsternen in Geissenweiß". Eben so handelt der Zürcher Scheuchzer, Schweizerlandes Naturgesch. 1, 288 von einer im J. 1629 beobachteten Lufterscheinung als von der springenden Geis. Weitere Belege hiezu: Myth. 168. Dies

Digitized by Google

erinnert an die däniſche Redensart vom geſchäfelten Himmel, Loki treibe ſeine Geiſen aus. Auch die homeriſche Chimaira iſt eine feuerſchnaubende ſchlangenſchwänzige Ziege. Allein auch der alte Schützenbrauch, das Erlegen einer Geis für eine beſondere Sünde anzuſehen, erklärt ſich aus der Heiligkeit dieſes gottgeweihten Thieres; jeder unwaidmänniſche Schuß, jedes Verfehlen des Zieles heißt daher ebenfalls Geis. Heinrich Grob, Lobſpruch der Zürcher-Schützen v. J. 1602 (Haupt, Zeitſchr. 3, 250) reimt von den beim damaligen Freiſchießen gemachten Nieten (sors sine lucro):

Mit Geyſſen kam der dritte auß,
deß bracht er wenig gwinns zu hauß.

Wie Thôrr mit Böcken fährt, wie Loki Geiſen treibt, und in der Edda ſelber ein âlfr genannt wird, Mythol. 413, ſo ſind nach dem Glauben der Gebirgsſchützen die Zwerge die Beſchützer der Gemſen. Wer ſich an dieſen Thieren ungebürlich vergreift, den züchtigen die Zwerge in No. 50 gerade ſo, wie dies Schillers Gedicht „der Alpenjäger" behandelt. Auch hütet nach dem Glauben der Sennen der ziegenfüßige Zwerg einem gutherzigen Aelpler ſeine Kühe, No. 20, drum heißen die Zwerge im deutſchen Theile Graubündens Geißler (No. 47), im Glarnerlande Wilde Gaißer; bei Fiſchart, Gargarntua cap. 3. Geißernopperlein (Geisbohne), und der Stiefeli in No. 32 iſt Schwein-, Schaf- und Kuhhirte nacheinander. Nach landwirthſchaftlichem Brauche ſtellt man einen Bock in den Kuhſtall, denn er hält alle übrigen Thiere mit geſund und wehrt den Einfluß böſer Geiſter ab. Vgl. No. 298: Geisbock im Stall. Heinrich von Oſterdingen legt dem Zwergenkönig Laurin ein Roß zu „als ein geiz", und in Wales glaubt das Volk, den Geiſen würden Freitag Nachts von den Elben die Bärte ausgekämmt. Mythol. 434, 478. Letzteres weiß auch unſere No. 19 vom Kobold Beckli. J. Wier, De praestig. Daemon. erzählt von einem Erdmännlein in Geſtalt einer goldhörnigen Geis; die ſchwed. Sage von Cavallius und Stephens, überſetzt von C. Oberleitner (Wien 48), hat das Märchen vom kleinen Pickel, der zur alten Hexe zieht und da den Bock mit goldnen Hörnern und goldnem Horngeſchelle erbeutet, S. 35. In No. 18 unſrer Sammlung wohnt der Stalljoggeli auf der Geiswieſe; in No. 27 der Rainhalden-Joggeli am Geisweg, auf welchem eine goldne Geis zum goldnen Geisbrunnen geht. In No. 1 kommt ein Geisbock vom Gebirge herab ins Dorf gelaufen, um die Hebamme zu den Zwergen hinauf zu holen. Dieſer letztere Sagenpunkt ſpielt am höchſten Berggipfel des Aarauer Jura, an der ſogenannten Geisfluh. Uebereinſtimmend mit dieſem Localnamen erſcheint es, daß auch das höchſtbewohnte Dorf am Harze Hohengeiß heißt. In Hohengeiß lebt die Frau Wulle und bringt dorten aus dem Kinderteiche die Neugebornen. Wolf Zeitſchr. 1, 196. Der ſagenhafte Heidelberger Wolfsbrunnen iſt am Gaisberge gelegen. Alles Gneisgeſtein führt in der Schweiz den Namen Gaisberger. Röder, Kanton Graubünden 1, 269. Ein Schrättelis- und ein Geißthurm gehörten mit zu den Befeſtigungswerken der Stadt Zürich. Neujahrsbl. der Feuerwerker 1851, 35.

Aus ſolcher Erſcheinungsweiſe der Zwerge bildet ſich ſpäter ihre ſataniſche Seite aus, und wenn die Einmiſchung talmudiſtiſchen Glaubens noch dazu tritt, ſo wird der Bock vollends zum Teufel. Deshalb heißt es in Joh. Prätorius Blockesberg 1668, S. 55: „Wann der Prophet Eſaias

sagt: Drachen werden da wohnen und Böcke da tanzen, der Zihim wird sich da lagern und ihre Häuser werden voll Ohim sein: so haben es die Dolmetscher mit Geißmännlein verdeutschet, Zihim für allerlei Ziegen- und Geisgeschlecht gehalten, die Hohim für allerlei hochfliegende Vögel." In der Aargauer Mundart heißt der Teufel geradezu Geisfuß und Meister Bockfuß, und die Felsen und Schluchten, wo er im Lande vorzugsweise hausen soll, nennt man bald Teufels- bald Geisenkanzel. Vgl. No. 430. Auf einer solchen wird daher der Geist des Lindengeigers ausgesetzt, No. 39. Jene noch immer unbeachteten, zahllosen Gespenster, die man unter dem Namen lokaler Dorfthiere, Gauthiere, Stadtkälber und Gassenrosse allenthalben kennt, haben daraus ihre Erledigung zu schöpfen. So spukt zu Contay, im Walliser Kanton der Bock: Henne, Schweiz. Blätt. 1833; so haust am Zürcher-Uetlisberge die Schachengeis: Rud. Baur, Zürich. Volkssag. 1843, 14. Als die übermüthigen Barone des Berner Oberlandes in das vergletscherte Roththal gebannt wurden, führte sie ein Geisbock dorthin bis in die Suffsteinalp unter die Eislasten der Jungfrau, wo sie heute noch hausen und das Wetterschießen veranlaßen. Luzern. Volkskalender 1851. Das Geisenloch am Wartberge bei Ruhla liegt in der Nähe des Backofenloches und ist mit dem Hinterbein einer Geis versetzt, so daß der drinnen steckende Schatz unsichtbar bleibt. Bechstein, DSagb. No. 482. Knaben, die sich am Seil in die Zwergenhöhle des Teufelloches am Hesselberge im Altmühlthale hinablassen, ziehen statt ihres hinabgelassenen Kameraden zuletzt nur einen Geisfuß wieder empor. Panzer, bayr. Sag. 1, pag. 137. Gleiches bei Meier, schwäb. Sag. No. 112. Der Schneider Nepomuk von Contay, Kant. Wallis, wird von einem ziegenfüßigen Zwerg über den Viezefluß gen Monthey durch die Luft getragen. Reithard, Sag. aus der Schweiz, pag. 487. Auf den Gletschern im Berner Oberlande hausen drei Schwestern: das Gauliwibli sammt ihrem Hündchen auf dem Gauligletscher, das Engstweiblein auf der Engstlenalp, und das Geismaidli am Hasliberg. Während letzteres sich mit den Sennen auf Kiltgängerei einläßt und eben zu einem von ihnen ins Heuhaus einsteigen will, erblickt dieser an ihr die Geisfüße, und sie wird verschmäht. Wyß, bern. Oberl. 715. Die stryx aluco betrachtet der Bayer und der Tyroler als einen Todesboten und nennt sie Habergais. Schmeller, Wb. 2, 74 137. Wolf, Zeitschr. 1, 236 No. 15. In Franken ist Habergaiß Name der langfüßigen Kornspinne, die man in der Schweiz Weberknecht nennt. In Obersteiermark erscheint die Habergeis gemeinsam mit dem St. Nikolaus zu Weihnachten. Sie wird durch vier Männer dargestellt, die sich mit einer weißen Kotze (Wollmantel) zusammen überdecken und einen hölzernen Geiskopf drunter vorstrecken mit beweglicher klappernder Kinnlade. Damit stößt man die Kinder. In Norddeutschland und England ist dasselbe der Klapperbock, der um Weihnachten den St. Martin, den Knecht Ruprecht und Schimmelreiter zu begleiten hat. Weinhold, Weihnachts-Sp. 10. Das Weitere hierüber erklärt sich No. 161. Den Kopf einer Ziege opferten die ital. Langobarden und erschlugen die romanischen Bauern, wenn sie diesem Opferhaupt keine Verehrung erwiesen. Mone, Heidenth. 2, 200.

Dies ist die sinistre Seite am Zwergenvolke und an den zu ihm gehörenden Thieren; dieselbe erfolgt aus der Zwerge Verwandtschaft mit dem Gott Donar, der selber satanisch geworden ist. Vgl. No. 416, Meister

Geisfuß. Aber in stärkeren und noch immer fortdauernden Zügen drückt sich ihre gütige segenbringende Erscheinungsweise aus, vollkommen der Milde heidnischer Glaubenslehre entsprechend und ohne sich doch von diesen vorerwähnten Beziehungen weit zu entfernen. Auch dabei spielt sonach die Geis eine besondere Rolle. Schöppners bayr. Sagb. No. 88 weiß von der Riesengeis, deren strotzende Euter über die Gebirgswand ins Thal hinabhangen; ein Wagen drunten fährt ihr eine Zitze ab, und alsbald fließt ein Milchstrom durchs Land. Dies ist jene Himmelsziege Heidrun vor Heervaters Saal, die nach der jüngern Edda täglich ein so großes Gefäß voll Meth giebt, daß alle Einherier vollauf zu trinken haben. Dem Namen Heidrun entspricht der Ziegenname bayrisch Hetel, schweiz. Hattle und Hatte. Hetz, hitz! ruft man in der Wetterau den Ziegen zu. ein gehürne, daz ein hatel wilunt vf irm havbt truch. Renner 2477, Bamberger-Ausg. Das ehemalige Jahreszeitenfest der Entlebucher ist bis auf das sogenannte Posterlioder Polsterlijagen eingegangen; das Polsterli selbst aber wird heute noch dabei von der Bauernmaskerade als Geis dargestellt. Stalder, Fragmente 1, 104. Diese Polsterligeis verkündet für das Land die Fasnacht, nämlich die Zeit des Schmauses und der Festgelage. Im Aargau pflegt das hungrige Kind, dem die Mittagssuppe nicht schnell genug kühl werden will, beim Umrühren zu sagen: Thalemer-Geis, Mach mer d'Suppe nid ze heiss! Hier ist also das Entlebucher Polsterli zu einer suppenbescheerenden Geis aus Thalheim im Aargauer Jura geworden. Ebenso geht das Reinacher Dorfthier No. 258 als ein junges Böcklein um und wird das Gizzi genannt; man kann aber nach der eignen Erzählung eines Aargauer-Bauern dieses Unthieres nur dann los werden, wenn man es mit Küchlein füttert, also ebenso mit Festbroden, wie die Polsterligeis. Ist so die Ziege Heidrun das Thier göttlichen Segens, so gestalten sich die segenspendenden Zwerge theils ebenfalls ziegenfüßig, theils sind diese Ziegenfüßler gastfreundliche Festgeber und berühmte Brod- und Kuchenbäcker. Sie sind von solcher Milde, daß sie auch noch nach ihrem Tode (No. 29) Brod zu ihrem Andenken austheilen lassen. Die letzte Zwergenfrau, welche im Berner-Haslithale gelebt hat, heißt dorten die gute Frau Ute. Alpenros. 1823, 212. Gute brave Leute wird das Zwergen-Ehepaar in unserer No. 38 genannt. Beim Beaten-Wasserfall am Thuner-See nennt man die Bergmännlein noch die frommen Leute. Jahn, Kant. Bern, 316. Sogar der Herenhammer bezeugt von ihnen, daß sie Seligkeit brachten und besaßen: Dæmones, de nocte venientes, aut ut vetulæ dicunt, die Seligen, — error est: ut debeant omnia consumere ut post abundantius tribuant. Mall. Malef. II. quæst. 2, cap. 8. Ihre Brode, Kuchen, Dünnen, Ramwäben und Etschroggenfladen sind von gerühmter Güte, No. 10, 13, 14, 46. Darum ist in unsrer Sammlung zugleich auch ihrer Backöfen erwähnt, die in der schon verlassenen Zwergenhöhle noch zu sehen seien. Und wo auch hierüber sich die Erinnerung schon verdunkelt, da hat der Hauskobold doch noch seinen herkömmlichen Ruheplatz auf dem Steinofen des Bauernhauses No. 30, oder da übernachten, wie in No. 2, hinter dem Bauernofen die einmal einsprechenden Zwerge. In diesem Sinne nennt Fischart im Gargantua, cap. 3 die Zwerge Backofendrescherlein. Auch die Bachstelze nennt man Backofendrescherlein, franz. semeur, Sämann; man vergleicht die rührige Bewegung ihres Schwanzes, Wippsterz genannt, dem

Pflügen und Dreschen. Grimm, Wb. 1, 174, 1193. Im Backhaus wohnt der Schretel, der den Wasserbären zerkratzt. Haupt, Zeitschr. 6, S. 179, V. 167; und man verkriecht sich vor ihm in den Backofen, V. 264. In der oberbayrischen Mundart heißt Ofen und Ofenloch jede Felsenwildniß, wie die Oefen beim Passe Lueg und der Rothe Ofen im Berchtesgadenschen. Das Lambrechts Ofenloch im Salzburgischen hat eine weit verbreitete Sage von der Schätze hütenden Loferer Jungfrau. Schmeller, Wörtb. 1, 33. Die weite Verbreitung dieses einzelnen Sagenzuges läßt Mone, Gesch. des Heidenth. 2, 84 erkennen, wenn er anführt aus Boltens Ditmarsen Gesch. Flensburg 1781: die sog. Heidenaltäre am Kirchspiele Alversdorf, drei gewaltige auf Felspfeilern ruhende Steinplatten, seien Steinöfen der Unterirdischen, und wer hier in den Gruben des einen großen Altares ein Geldstück opfere, der finde beim Herausgehen ein Brod vor sich. Vgl. Müllenhoff, pag. 281. Das Gleiche weiß unsere No. 46 von dem armen Weibe am Ofenberge. Das Kochen der Opferspeisen, das Verbrennen der Leichen, das an solchen Steinplätzen stattfand, gab zu den Sagen Anlaß, hier seien die letzten Zwerge verbrannt worden, No. 41, man habe mit Pistolen in diese Felslöcher mörderisch hineingefeuert, No. 24, II. Erdmännchen in ihrer Höhle verbrannt, vgl. Meier, schwäb. Sag. No. 76. Als man den Heidenstein umwarf, der im Längenwald stand zwischen Mett und Brügg (Jahn, Kant. Bern), fanden sich in der Grundlage Aschenspuren vor. Bei sechs Fuß Tiefe finden sich im Aargauer- und Zürcher-Lande unter der Ackerkrume uralte Feuerherdstellen, auf deren festgestampftem Lehmboden Asche, Geschirrtrümmer, calcinirte Ofensteine und Schweinsknochen liegen. Dies ist in Anmerk. No. 449 hervorgehoben. Es erzählt daher die Sage bald, wie die Heidenzwerge zu Klein-Döttingen No 42 ein Haus mitten in der allgemeinen Feuersbrunst bewahren, bald wie müßige Hirtenjungen jenen Feldstein, auf welchem die Zwerge auszuruhen pflegen, bis zum Glühen anfeuern; dann verbrennt sich das winzige Völklein das Gesäß und wandert erzürnt aus dem Thale weg. Wyß, Idyll. 1, 320. Solchen Glauben nicht mehr erkennend bemüht sich unsere No. 24, I. nur eine scherzhafte Klosteranekdote daraus zu machen. Sie legen dem Bauern, der seinen Acker pflügt und das erste Furchenende erreicht, das Korn schon gereift und fertig gebacken auf den Pflug: No. 13. Der pflügende Knecht zu Bochum, dem es um die Frühstückszeit schmächtig wird, ruft wîwer herût! und alsbald steht ein reichgedeckter Tisch mit guter Speise auf dem Acker; die weißen Weiber aus der Wittewîwerskûle haben ihn bescheert. A. Kuhn in vdHagens Germania 9, 97. Gebt mir auch einen Waien! ruft der Ackerbube in die Furche hinab, und alsbald lag da auf seinem Linnentuch ein dampfender Kuchen und ein prächtiges Messer dazu. Leberberg-Sage im Kant. Solothurn. Illustrirter Schweiz.-Kalend. 1854, S. 96. So hört auch ein Pflüger in Weingarten eben unter dem Boden eine Backmulde ausscharren und am nächsten Furchenende findet er schon einen Kuchen; Mone, Anzeig. 1838. Diesen gleichen Sagenzug zeigt J. W. Wolf, hess. Sag. Anmerk. S. 193 in Westflandern; ebendenselben trifft Grimm, Myth. 423 bei den Lüneburger Wenden und im preußisch. Samlande. Ja, die dänische Ellekone muß, trotz ihrer verführerischen Wohlgestalt, doch hinten hohl sein wie ein Teigtrog. Mythol. 418. Sie haben in unserer No. 9 lächerlich häßliche Füße, gleichwohl aber

Digitized by Google

essen sie Zibärtli als ihr Leibgericht. Zibärtli bezeichnet mundartlich theils die Cyperpflaume, theils zugleich die körperliche Zierlichkeit und Feinheit, den Stutzer. Die Speisen, die sie im fremden Hause berühren, scheinen unerschöpflich; diejenigen, die sie vertheilen, ergänzen sich wieder. Wie es unsere No. 46, 50, II. erzählt, so verschenken sie auch im Berner Habkerenthale Gemskäschen, die sich über Nacht wieder ersetzen, sobald der Essende noch ein kleines Stückchen davon übrig läßt. Reithard, schweiz. Volkskalend. 1851, 62. Verlangen sie nur Zieger und Käse No. 47, nur ein Näpfchen Milch No. 19, so deutet dies auf ihren ursprünglichen Sennenstand hin. Bringen sie aber Fleisch und Milch dar, No. 48, oder trachten sie besonders nach Schweinefleisch No. 50, so ist damit ihre Beziehung zu den alten Jahresschmäusen gemeint, deren größter und ältester der Weihnachtsschmaus mit der Metzelsuppe ist, wobei jetzt noch dem „Ug'hüerli", einem körperlosen Hauswesen, ein Restchen hinter die Stubenthüre im Katzennapf aufgestellt zu werden pflegt. Nach solchen starkgeschmalzenen, mit Schweinefett = Schmutz bereiteten Speisen hat der Weihnachtskobold Schmutzli, der in der Schweiz an die Stelle des treuen Eckart getreten ist, seinen Namen. Der Lindegger No. 39 bringt eine ganze Fuhre Marktschweine ans Wirthshaus. Das Schretel, im mhd. Märchen vom Wasserbären, Haupt, Zeitschr. 6, 180 brät sich sein Fleisch am Spieße, bis es von Schmalze trieft. Die Lausitzer Zwerge essen auf der Bauernhochzeit tüchtig Schweinebraten. Gräße, sächs. Sagensch. pag. 550. Ein ihm verwandter Zwerg muß der Schmutzbarthel gewesen sein; ihn ruft noch der Aargauer Kinderreim an beim Buttern, wenn die Milch nicht rasch gerinnen will:

Schidi-scheidi Anke,
Im Barthli wèmer danke,
De Barthli isch e brave Ma,
Wenn er den Anke scheide cha.

Der Steirisch-Kärntnische Weihnachtsbescheerer ist gleichfalls der wilde bärenbratzige Bartel, und man ruft ihm zu:

Bartel, Bartel, wilder Bär,
Leg mir ein, was ich begehr;
Reck aus deine wilden Brassen,
Leg mir ein a schön's paar Hosen.

Weinhold, Weihnachts-Sp. 42. Mit diesem Schmutzbarthel muß jener andere Zwerg verwandt sein, von dem es noch heißt „wer weiß, wo Barthel den Most holt". Um Weihnachten nämlich weissagen die Thiere im Stalle und sprudeln die Dorfbrunnen Wein; nur die einzige Minute weiß der Mensch nicht, in der es allein geschieht. Dieser Wein muß jener Gänsewein gewesen sein, unter dem wir jetzt im Scherze das bloße Wasser verstehen. Denn nicht bloß tragen die berühmten Weine des Pfälzer Hardtgebirges den Namen Gänsefüßler, (Compendieuse Staatsbeschreib., Braunschweig, 1719. 2, 81; Gänsefuß ist auch Bonus Heinricus, und Heinz und Heinzelmann ist wiederum Zwergenname), auch die gänsefüßigen Zwerge wohnen allenthalben da wo Weinbau herrscht. Sie verlegen sich No. 13 auf die Rebzucht, haben No. 22 eigene Kelter und Trotten, und wie der Schmutzbarthel um Käse und Butter angerufen wird, so wohl auch dieser, welcher Wein und Most zum Jahresschmause gedeihen lassen mußte.



Digitized by Google

Wenn ferner der Zwerge Brod mit Waldameisen schwarz bestreut ist No. 13, so ist damit nicht bloß ihre körperliche Winzigkeit gemeint, obwohl in einem dänischen Liede der Trolde nur ameisengroß ist, Mythol. 418; sondern da der Saft der Waldameise heute noch heilkräftig ist, so weiset diese so gebackene Speise zugleich auf die Langlebigkeit des Zwerges hin, der deshalb so häufig das Graumännlein genannt wird. Giebt man ihnen aber eine nach neuer Art gekochte Speise, so fühlen sie sich gekränkt und ziehen davon. Brod mit Kümmel bestreut schelten sie gepiptes Brod, wie auch solches, in welches die Hausfrau das Zeichen des Hausschlüssels, oder ihres Daumennagels eingedrückt hat. Vgl. das in Anmerkung 19 über den Zwergennamen Pieperling Bemerkte. Matergabiæ deæ offertur a femina ea placenta, quæ prima e mactra sumta digitoque notata in furno coquitur. Samogitische Götter, v. Grimm in Haupts Zeitschr. 1, 140. Auch das Agathenbrod, das alljährlich am Agathentag mit Weihzetteln beklebt und anisbestreut gebacken wird, um es gegen Feuersgefahr kirchlich einsegnen zu lassen, ist ihnen zuwider. Weder dem bürgerlichkargen Maße, noch der kirchlichen Sitte, noch dem um sich greifenden Handel, der neues Gewürz bringt, mögen sie sich fügen. Es ist noch ein Spielspruch in der Kinderwelt übrig, der dieses Agathenbrod bald als altes Festbrod preist, bald als ein nach neuer Mode gebackenes verwünscht. Die Varianten lauten je nach diesen zwei Rücksichten: Agathenbrod — unser Tod! Rachelbrod in der Noth! Kümmelbrod, unser Tod! vgl. hierüber Oberdeutsches Gebildbrod, No. 40. Wie sich hierin die Mißstimmung der Zwerge über jede um sich greifende Neuerung kund giebt, so erscheinen sie auch stets erst nach dem Läuten der Betglocke No. 12; und sie wandern aus, wenn der Bau der Lorenzokapelle beginnt No. 1; wenn die neue Mühle gebaut wird No. 9; wenn das alte Wohnhaus renovirt wird No. 29, 33; wenn eine neue Straße angelegt wird No. 26; wenn die einheimische Tracht geändert, oder das christliche Neujahr gefeiert wird No. 19, 20; wenn man Wegkreuze errichtet, oder wenn nur Zimmerleute über das Gebirge her steigen No. 27; wenn der Pfarrer kommt No. 16; wenn man Schnaps trinkt No. 47. Lieber gehen sie freiwillig auf die Teufelskanzel in No. 39, oder in die Mistjauche No. 38 zu wohnen, als daß sie sich mit Mönchen einlassen. — Noch manche Beispiele dieser Art bietet Grimm, Mythol. 428. Die Einwohner einer großen Zahl schweizerischer Ortschaften müßen sich bis zur Stunde den Spitznamen Geisen gefallen lassen. Im Kant. Luzern die Bürger von Büron, von Sempach, die Singknaben in der Luzerner Hofstiftskirche; im Aargau die Bürger von Ennet-Baden, von Seengen, von Umiken, von Wolenschwil. Während die meisten dieser Ortschaften den altherkömmlichen Schmützname sehr übel aufnehmen, sind andere, z. B. die Bewohner von Büron stolz darauf. Diese haben die Geis in ihr Dorfwappen gethan, besitzen einen eigens gedichteten Lobspruch auf dies Wappenthier, haben zu dessen Ehre gegen die Nachbargemeinde Knutwil vieljährige Fehden bestanden und beim endlichen Friedensschluß i. J. 1806 ein großartiges Schauspiel in Waffen abgehalten, wobei nicht die mit eingeladenen Knutwiler, sondern eine Geis den ersten Platz eingeräumt bekam. Auch später noch ließen sie denjenigen vor Gericht ziehen und schwer büßen, der eine Geis ihnen zum Trotz an einen Baum aufhieng, an welchem ihre Prozession mit Kreuz und Fahne vorbeizog. Bei so reichen

Digitized by Google

und von der Rinderzucht lebenden Gemeinden kann der Uebername Geis weder auf den Verfall der Bauernwirthschaft, noch etwa gar auf eine Verwandtschaft mit der überall belächelten Schneiderzunft sticheln wollen; er muß sich auf Sagen beziehen, denen gemäß in diesen Ortschaften der Glaube an die geisfüßigen Zwerge und ein ihnen gewidmeter Dienst am längsten oder hartnäckigsten angedauert hat.

3) Die Erdleute bei Oberhof. Kärglicher findet sich das Gleiche erzählt in E. Meiers schwäb. Sag. 8 und bei Vonbun Vorarlberg. Sag. S. 4. Erdweibchen in Geburtsnöthen kennen folgende Schriften: Grimm, DS. No. 41, 49, 304. Kuhn, Märk. Sag. No. 81, und Nordd. Sag. S. 321. Baader, badisch. Sag. No. 88. Firmenich, Völkerstimm. 1, 110 b. aus Preußen. E. Meier, schwäb. Sag. No. 67, 69 (2), 78, 4. Wolf, Götterl. S. 53, 54, 63. Grimm, Mythol. 425 ff. Thiele, dän. Sag. 1, 36. Panzer, bayr. Sag. 1, 88., pag. 368. Schambach-Müller, niedersächs. Sag. No. 150. Zwei schles. Sagen von der in Krötengestalt erscheinenden Wasserlitze finden sich: Weinhold, deutsche Frauen, 46. Müllenhoff, Schlesw.-Holst. Sag. No. 407, 443. Durch diese Gleichartigkeit der Fälle in so weitem geographischen Umfange wird unsere eigne Sage nicht etwa entbehrlicher, sondern wichtiger; die Reichhaltigkeit des Analogischen gedeiht ihr dabei zum Logischen. Das Volk der Zwerge erscheint hier außer den sonstigen wohlthätigen und freundlichen Beziehungen zum Menschengeschlechte als die Hilfe in den Geburtsnöthen; tropologisch wird in der späteren Zeit dieses Verhältniß umgekehrt und den kreisenden Zwerginnen wird dann diese Hilfe von den dankbaren Menschen geleistet; allein die Erdmännchen sind ihrem Namen nach schon Hebammen. Noch gilt dänisch und schwedisch iordgumma Erdgäumerin, iordemodr Erdmutter, für unser Hebamme. So ist auch in unserer Sage hier des einen Mädchens Name Bürgi bedeutsam. Er weist hin auf jene biargrûnas, die Bergungsrunen in der Sigrdrîfa, welche unter Anrufung der Dise, der göttlichen Frauen, bei der Entbindung Gebärender angewendet wurden. So giebt es eine ahd. Wartrûn, parca tutelaris; eine agf. burhrûne, parca; und ein ahd. nom. propr. Purcrun: lauter gleichbedeutende Namen der Nornen und weisen Frauen, welche pflegen und helfen. Es führt also hier unser Namen Bürgi, aus notburg verkürzt, auf die obstetrix, wie auch der hl. Burkhard kirchlich noch gegen Gliederweh angerufen wird. Alte Herrengeschlechter haben Abkunft, Familienruhm und Fortbestand ihres Stammes auf diese den Zwergen einst geleistete Hilfe gegründet. Die Burgfrau des Asseburger Stammes thut Ammendienste bei den Berggeistern, und daher kommen die noch vorhandenen zwei Kristallbecher, Talismane des Asseburger Geschlechts. Spiecker, der Harz, Berlin 52, S. 108. Eine Wöchnerin wird von ihrem Kirchgang weg in die Schönaunkenhöhle geführt und muß da Rüden säugen; aber die Adelsfamilie von Stahl wird ebendaselbst mit einer silbernen Kanne beschenkt, welche die Jahreszahl 1500 tragen soll. A. Kuhn in vdHagens Germania 9, 95. Hamelmanns Oldenburgerchronik kennt den Erbring, der auf das Haus Calbe und ans Alvenslebensche Geschlecht kam, seit die Ahnfrau einst einer kreisenden Zwergin beistand. Monatl. Unterredungen, Leipzig 1698, S. 524. Dadurch bekommt nun jener vom Erdweibchen hergeschenkte Gürtel nebst den Stroh-

Digitized by Google

halmen erst Bedeutung und Sinn; beides ist ein Mittel, die Wehen zu kürzen. Und zugleich klärt sich mit auf, warum in No. 4 die Effinger Erdweibchen einen Umzug halten, jegliche einen Säugling auf dem Arm; oder warum in No. 24 die Hebamme gerade unter dem Hermännlisteine hervor die Neugebornen holen muß. Jener von dem Zwergenweibe dem Mädchen geschenkte Gürtel ist ein Geburtsgürtel; was mittelst seiner hier dem Birnbaum widerfährt, das geschieht in der schwed. Sage der Birke, und wie nachher dieser letztere Baum geborsten in die Lüfte fährt, so wäre es auch dem Marienbilde dorten geschehen, wenn man dasselbe mit dem Gürtel umspannt haben würde, welchen dazu der blinde Riese hergeschenkt hatte. Mythol. 907. Hier giebt ihn die dankbare Elbenwöchnerin einem ihr sich dienstfertig erweisenden Bauernmädchen, warnt aber zugleich vor seiner verderblich magischen Gewalt, wenn man ihn zur Unzeit anwenden, also entweihen würde. Dagegen meint die bayr. Sage (Panzer 1, No. 19. 88), das Erdweibl habe in Eifersucht auf die Bäuerin dem Bauern einen grünen Gürtel für diese mitgegeben; und auch dorten reißt der zur Probe damit umgürtete Apfelbaum sogleich aus dem Boden. Ein altes Receptenbüchlein, handschriftlicher Privatbesitz im aarg. Städtchen Brugg, besagt über solche Gürtel: „kann man einem trächtigen Gewild, Hind u. a., weil es noch lebendig ist, zweier oder dreier Finger breit einen Riemen aus der Haut schälen und ihn, sammt den Haaren einer kreisenden Frau, ungelidert einer andern Kindenden um den Leib binden: der hat solche Tugend, daß er die schwerste Geburt fördert und das Bürdlein Nachgeburt dazu.“ Dies hängt mit den bekannten Schwanengürteln zusammen, von denen noch in Tschudi's Chronik 1, 302 die Rede ist; oder mit dem Garnstrang, dem Seidenfaden und dem Stroh, lauter geburtsfördernden Mitteln, von denen Geilers Ameise, Blatt 46, und Männling, Curiositäten und Albertäten, Frankf. 1712 handeln. Strohhalm, Garnstrang, Seidenfaden und Gürtel sind alte Rechtssymbole der Vindication und Copulation, nachgewiesen für Parsen, Griechen und Germanen, bei Grimm Rechts-Alterth. 182—184, 810; der mit ihnen umschlungene ward, wie die Lex. Salica (ed. Merkel, S. VII.) besagt, adfathimirt, angefädemet, wie wir noch sagen bei Geburt, Taufe und Hochzeit: an- und eingebunden, copuliert. Als daher die finnische Göttin Launawatar dreißig Sommer lang nicht gebären kann, läßt ihr der hl. Georg ein rothes Garn auf den Leib nieder, worauf sie neun so böse Söhne gebärt, daß Christus sich weigert, sie zu taufen. Mone, Gesch. des Heidenth. 1, 56. Männling loc. cit. sagt: da wird in einer Gebärerin Kindelbette ein Kreuz von Stroh gelegt, oder ein Strehn rohes Garn, damit ihr keine Zauberei Gewalt anhabe. — Galium verum, sonst Lab- und Megerkraut genannt, womit der Senne käset, heißt Unser Lieben Frauen Bettstroh. Hagen, Apothekerkunst 1781. Das vorhin erwähnte handschriftl. Brugger Receptbüchlein behauptet zugleich von diesem Megerkraut: „darauß wird auch bereit der Trunkh um der kindenden Frauen Nachwehen zu heilen.“ Dieses Stroh wird im aarg. Kinderspielspruche No. 274 von einer der drei Mareien oder Nornen zu einem um die ganze Landschaft reichenden Schutzfaden versponnen:

Die eint spinnt Side,
Die ander schnetzlet Chride,
Die dritt spinnt Haberstrau:
B'hüt mer Gott mis Chindli au!

Digitized by Google

Ein anderer Sonderzug dieser Sage, welcher der Erklärung bedarf, ist die trächtige Kröte, durch welche den beiden Schnittermädchen jenes Erdweibchen voraus angemeldet wird, bei dessen Entbindung sie Beistand leisten sollen. Diese trächtige Kröte ist das schwangere Erdweibchen selber. Dies rührt daher, daß die Zwerge im Dienste Bertha's, Holla's, Muthanas oder Wuodanas und anderer Göttinnen der Fruchtbarkeit stehen, die selbst wieder Krötengestalt annehmen. Wer die Festzeit dieser Göttinnen durch ungebürliche Hausarbeit, wie durch Waschen oder Spinnen entweiht, der spinnt zur Strafe seines unzeitigen Fleißes Kröten ins Haus. Kuhn, nordd. Sag. (Bräuche). Fürstengeschlechter, Volksstämme und alte Bauwerke leiten Abstammung und Entstehen von solchen Götterkröten her. Die Grafen Spauer führen eine Krötenpracke im Wappen: Wolf, Ztschr. 1, 17. Der in Flandern übliche Spottnamen, der die Franzosen Franzkröten nennt, Crapaux-Franchos, rührt vom Landeswappen des Frankenvolkes her, in dem drei Kröten gewesen sind, „denn die Franzosen führten in jhren Panieren drey Krotten. anjezo drey Lilien." Philo Magiologia 1675, pag. 886. vgl. Schöppner, bayr. Sagb., pag. 308. Kaiser Karl d. Gr. spricht, wohl in diesem Zusammenhange mit der fränkischen Geschichte, einer um ihr Lager Recht suchenden Kröte zu Zürich das Recht. Aus Brennwald, Hdschrft. Chronik, in den Zürcher Neujahrs-Bl. der Stadt-Bibl. 1842, 4. Ein Ring in der Anhalter-Fürstenfamilie ist ein Geschenk der Frau Kröte und wird noch aufbewahrt. Spiecker, der Harz, pag. 52. Der Aussatz der Böhmenherzogin wird geheilt, da man ihr die Hostie reichen läßt, die eine Kröte unter dem Kirchenaltar im Maule trägt. Grimm, KM. 3, pag. 429. Den Eingang des Bamberger Doms bilden zwei steinerne Kröten. Schöppner, bayr. Sagb., Felsthal, Sagenschatz 105. Eine riesige Kröte liegt unter der Ruine Reinstein und regt sich in der Tiefe des dortigen Schloßbrunnens. Spiecker, der Harz, 270. Die vor etlichen Jahren im Waatland auf der Burg La Sarraz ausgegrabene Bildsäule des gleichnamigen Ritters trägt zwei Kröten auf den Wangen ausgehauen und zwei auf dem Rücken; sie soll ehemals in der Burgkapelle gestanden haben. Schweiz. Merkur 1835, 2, 221. An der Kirchenthüre von Lachen, Kant. Schwyz, ist eine Kröte als Kirchenwappen ausgeschnitzt zu sehen. Mehrfache bayrische Kirchen- und Kapellenlegenden erzählen, wie man Kröten in anbetender Stellung auf den Altarstufen gefunden habe. Die Tirolersage weiß von der siebenjährigen Wallfahrt der Kröte zum Marienbilde in Weißenstein. Wolf, Ztschr. 1, 9. Krötenfiguren aus Wachs werden von bayrischen Frauen ex voto in die Kirchen gehängt und heißen Bermutter, weil, sagt Schmeller Wb. 1, 188 die Mutterkrankheit, malum hystericum, sich wie eine umkriechende Kröte empfinde. Das Thier gilt aber dorten für einen verwünschten Prinzen (Panzer, bayr. Sag. 2, No. 333) und im Schwarzwald lebt es in Größe eines Backofens nebst dem Weiberraubenden Wassergeist im Mummelsee, „sonderlich im Schwartzen See gebe es Kröten, so groß als ein Bachofen." Simpliciss. ed. Keller 2, 731. Aus Eisen und in ungewöhnlicher Größe an Eisenketten hängend finden sie sich in den bayr. Kirchen zu Aigen und Nordholz; Panzer 2, pag. 33. In derselben Weise werden eiserne in der Veitskapelle zu Zabern im Elsaß von Schwangern geopfert. Stöber, Neujahrsstollen 1850, 52. Das bezauberte Froschweibchen in der Sage Süd-Smalands schenkt Tischtuch und Becher her

Digitized by Google

und heiratet zur Prinzessin entzaubert den kleinen Hintersassensohn. Oberleitner, Uebersetzung von Cavallius, schwed. Sag. (Wien 48) S. 320. Die Zwerge der Insel Rügen zeigen sich als Kröten. Steinau, Volkssag. (Zeitz 38) S. 292. Als Kröte erscheint die Frau Escher auf der Zürcher-Heidenburg. Meyer, Zürcher Ortsnamen (1849) No. 1753. Kröten, die auf dem Kirchhofe umherhüpfen, hält der Kärntner Volksglaube für arme Seelen. Wolf, Ztschr. 3, 30. Es sind demnach diejenigen Pflanzen zu beachten, die, weil sie nach Kröten benannt sind, Beziehung zu den Zwergen und den an diese geknüpften religiösen Vorstellungen haben. Der großhutige Fliegenschwamm heißt im Elsaß Krötenstuhl, Grimm, DSag. 1, 222, bei den Ditmarschen Pockenstohl, engl. toadsstool = Dasch, Frosch. Claus Groth, Quickborn 1853, S. 279; anderwärts heißt dieser Pilz Hütchen, bekanntlich ein geläufiger Zwergenname, aus der Huttracht der Götter entnommen. Die Krottenblume saxifraga chrysoplenium wächst aus Kröten hervor, wie der Vers beweist (altd. Wäld. 3, 223):

als diu schone bluome hat,
diu ûf einer chroten stat.

Froschdistel ist aarg. Name der Frauendistel oder Mariendistel, carduus marianus. Chrottebösche ist caltha palustris; Chrottechrût ranunculus, ficaria, polygonum; Chrotten- oder Kettemliblume taraxacum pratense. Deren Hohlstengel flechten die Kinder zu Ketten und führen damit ihre Ringeltänze auf, um dabei in eignen Spielreimen Regenwetter und Sonnenschein zu bewirken. Vgl. aarg. Kinder-Spruch No. 309 ꝛc. und das Räthsel darüber, ebenda No. 418.

Es ist also diese Krötenblume Symbol der Jahresfruchtbarkeit. Dies verräth sich in einer großen Reihe von Sagenzügen. Nach Aarg. Sagen, No. 273—279, erscheint das Thier häufig in der Größe eines Milchbeckens, eines Kartoffelkorbes, und es verwandelt sich, wie auch in Bechsteins thüring. Sag. Heft 3, 166, ein Korb voll Kröten in eben so viele Goldstücke. Die Berggeister in den Grubenwerken des Harz erscheinen als Kröten mit thalergroßen Augen. Spiecker, der Harz S. 226. In der Compendieusen Staatsbeschreibung (Braunschweig 1719) 1, 23 und 2, 320 findet sich die altgeläufige Bemerkung: der Niedersachsen Scheltwort „du Kröde" beziehe sich auf ihren Götzen Krodo, derselbe aber sei wie ein Schnitter, die Sichel in der Hand, abgebildet worden. Dies wäre also ein die Kornfluren durchziehender Pilwiz-Schnitter gewesen. Vgl. Mythol. 187. 445, Panzer, bayr. Sag. über den Pilmezschnitt, und aargau. Sag. Abthl. III: Die Schwedenreiter Mattisee No. 130, der Amssupper No 162. Damit erklärt sich auch die Möglichkeit der Anklage, welche Konrad von Marburg i. J. 1232 bei Papst Gregor IX. gegen die Oldenburger-Stedinger erhob, sie hätten eine Kröte ketzerisch angebetet, die ihnen in Gestalt eines Backofens häufig erschienen sei. Stedinger Volkssag. Bremen 45. S. 336. Man vergleiche das in Anmerkung 2 über den Backofen der Zwerge bereits Vorgebrachte. Auch die Anekdote wird etwas Thatsächlicheres, daß ein Schwärmer zu Soissons eine Kröte getauft und ihr den Namen Johannes gegeben habe. Hormayr, histor. Taschenb. 1845. Schon dies erinnert an den einzelnen Zug unserer vorliegenden Jurasage von der Taufe des Zwergenkindes; aber noch erzählt das Aargauer Landvolk, wie im Hungerjahre 1817 die Kinder den Hecken und Gräben nachgegangen seien,

Digitized by Google

eifrig Kröten zu suchen; nicht um sie zu essen, sondern um sich so der geglaubten Segenswirkung derselben zu versichern. In der Aachner- und Eupener-Mundart heißt man die Kröten und die Wucherer gleicherweise Nabrungsunken, Naaronk, Naarünje, Naarhaund. Firmenich, Völkerstimm. 1, 496 a. Nach dieser Wortableitung sind die Schönaunken bei Osnabrück Zwerge, welche den Bauern Brandröste in Form eines sitzenden Hundes schmieden. A. Kuhn in v. d. Hagens Germania 9, 93. Der Schloßberg zu Nordholz, bayr. Landgericht Rothenburg, heißt Krötenberg; alljährlich im Mai ziehen von ihm herab drei Tage lang die Kröten der Mühle des Dorfes zu; je mehr ihrer kommen, um so besser steht's alsdann um die Kornärnte. Bechstein, DSagb. No. 851. Dieselbe Rolle des wuchernden Fruchtsegens spielt das Thier im Auszählspruch der aargau. Kinderwelt:

Goht es Mähl bim Becken ûs,
Goht die Frau is Gloggehûs,
Suecht die dickste Chrotten ûs,
Leit se in es Tüechli
Und frisst sie wie-n-es Chüechli.

Spottreime und Anekdötchen, in denen sich die gegenseitige Rivalität der Nachbarortschaften eines aufzumutzen sucht, erzählen vom Aargauer-Dorfe Beinwil am Hallwiler-See, man heiße dessen Bewohner deshalb „Chrotte und Fröschen", weil sie in der Hungersnoth einst eine Kröte von ihrem Kirchthurm heruntergeholt und als gebackenes Küchlein verzehrt hätten. Ohne Arg aber legt man jetzt noch todte Kröten auf das Spundloch des Fasses, um abgestandenen Wein so wieder aufzufrischen. Nach friesischer Sage von Leeuwarden (Wolf, Zeitschr. f. Mythol. 1, 38) verwandelt sich der von einer Here erhaltene Pfannenkuchen in eine Kröte. Der Türke hört im Froschgeschrei den Ruf Allah; unserer schlesischen und pegnesischen Dichterperiode rief der Frosch ein andachterregendes „Merk's!" zu; noch in Haydns Jahreszeiten spielt er eine musikalische Rolle, und als Wetterprophete steht er auf dem Leiterchen im Glase vor unsern Fenstern. Wie hat sich nun wohl dieses Thier ins Widerwärtige und Satanische verwandeln können, worin es zugleich erscheint? Frühe Unterstützung dazu bot der Apokalyptiker auf Patmos, der die bösen Geister, welche der Drache ausspeit, in Gestalt von Fröschen hervor steigen sah. Wenn daher Nero stirbt, so erzählt unsere gelehrt thuende Kaiserchronik (ed. Diemer 1849) S. 127. V. 14:

durh sînen hals obene brast
ain chrote vil braitiv.

Daher stammen die zahllosen Inquisitionsprozesse über krötenmachende Hexenweiber; Krötenstein hieß man zuletzt sogar den städtischen Pranger. Grimm, RA. 721. Ein Fall, der in dem Archiv der aargau. Stadt Rheinfelden enthalten sein soll und hier nach mündlicher Mittheilung berichtet wird, handelt von einem Manne, der im 17. Jahrh. daselbst wegen Zaubers enthauptet worden. Er hatte nichts bekannt. Sobald sein Haupt zu Boden gefallen, ließ der Kapuziner, welcher ihn aufs Blutgerüste begleitet hatte, eine Kröte aus dem Kuttenärmel auf den Rumpf springen und wies sie dem Volke als des Missethäters Seele vor. Unter dem Butterfasse der Here reißt der Scharfrichter zu Hildesheim die Zauberkröte Düweletgen mit eiserner Zange hervor und wirft sie zur Here in die Flamme des Scheiterhaufens. Müller-Schambach, ndsächs. Sag. No. 185. Aehnliches und do-

cumentirt hat sich 1609 im Labourd, Depart. des Basses-Pyrénées, zugetragen. Als Frau Sabaudine daselbst den Scheiterhaufen bestieg, ließ Gott noch eine große Menge Kröten über den Kopf dieser Hexe wegkriechen, und sogleich stürzte sich das Volk wüthend auf sie los, so daß sie mehr todt gesteinigt als verbrannt wurde. Nur eine schwarze Kröte rettete sich über Flammen, Stöcke und Steine bis an einen Ort, wo man sie nicht weiter mehr finden konnte. Leubuscher, Der Wahnsinn. Nach dem Französ. des Calmeil (Halle 48) S. 142. Bei einer ähnlichen Hexenverbrennung im gleichen Jahrhundert tödtet diese erscheinende Kröte den Henker selbst. Philo, Magiologia 1675. S. 722. Der Koran dagegen erzählt, Frösche hätten wasserspeiend den brennenden Scheiterhaufen gelöscht, auf welchen die Chaldäer den Erzvater Abraham in den Flammentod geworfen.

Daher kommt's, daß in der Sage die Zwerge bald für, bald gegen die Frösche eingenommen erscheinen. Theils sind Kröten ihre Lieblingsspeise, die sie Nachts in den Wohnhäusern am noch glimmenden Herdfeuer verzehren: ranunculas ex sinu projectas prunis impositas comedunt. (Grimm, irisch. Elfenm. CI.). Theils aber necken sie mittelst des ekelgewordenen Thieres, und der Kobold Hütchen wirft daher Kröten in die aufgetragenen Speisen des Hildesheimer-Bischofs. Grimm, DS. 1, 74. Aus dem Munde der neidischen Stiefmutter springen Kröten, aus dem lächelnden der Königstochter muß ein Goldring fallen: Cavallius und Stephens schwed. Sag., übers. von Oberleitner, No. 7 S. 142. Wer Kröten quält, heißt's im aargau. Volksglauben, bekommt Bauchweh; wer nach ihnen schlägt, Rückenweh. Gleichwohl werden sie zu gewissen häuslichen und landwirthschaftlichen Zwecken an Hölzchen todtgespießt, in den Rauch gehängt, gepulvert, von hartherzigen Kindern mittelst der Prelle bis auf den Tod in die Lüfte geschlagen. Derlei ist in Bayern, Tirol und in der Schweiz üblich. Es ist in Tirol die sogen. Dreißigenkröte, welche zwischen Mariä Himmelfahrt und Mariä Geburt, 15. August bis 8 Septbr. also verfolgt wird (Wolf Zeitschrift f. Mythol. 1, 16), in Norddeutschland ist es die Zeit der Zwölften, in der die Kröten gefährlich scheinen.

Schratten- und Krötensteine, Krotten-, Truden- und Alpfüße nennt man die Feldsteine mit einer natürlichen Durchlöcherung, E. Meier, schwäb. Sag. S. 172. Aber eben dieselben deuten zugleich wieder auf Kornfrucht und Spende, denn der Schwede heißt sie Aelfquarnar, Elfenmühlen (W. Grimm, altdän. Heldenl. S. 509), und unser Landvolk nimmt sie gegen das Alpdrücken mit zu Bette. Auf solche Elfenmühlen ist eigens in unsrer No. 13 hingedeutet, wenn da in der Zwergenwirthschaft die Kornähren mittelst Feldsteinen mühselig ausgekörnt werden müßen. Auch heute noch sind wir in unserm naturhistorischen Glauben der Kröte nicht los, welche sich lebend angeblich in geschlossenen Felsstücken hie und da vorgefunden haben soll. Leoprechting, Aus dem Lechrain, pag. 84. Es ist ein Rest des Glaubens, der die krötenhaften Erdmännchen in den Felsen wohnhaft dachte und ewig lebend; da rufen sie: Ich bin so alt wie Berg und Thal!

5) Das schwere Kind. Eine gleichnamige Erzählung in Grimms DS. No. 14 spielt zu Chur und wird dorten gerichtlich deponirt; das wunderbare Kind heißt dorten Kornkind. Flugi Volkssag. aus Graubünden, Chur 43, S. 122. Dasselbe bei Pröhle, unterharz. Sag. No. 183. Auch

Digitized by Google

die kinderraubende Kornmuhme hat den Namen Kornengel: Sommer, thüring. Sag. No. 21. Kuhn, märk. Sag. No. 72. Wolf, ndl. Sag. No. 491. Vgl. aarg. Sag. No. 453, Leidenberg. Hier wird es als engelschön beschrieben, wie Oberon im gleichnamigen Volksbuche nur drei Fuß groß ist, „mais il a un visage angelique.“ Der Franziskanerprediger Berthold aus Augsburg hat im 13. Jahrh. die christlichen Engel als solche kleine langlockige Kinder beschrieben (ed. Kling, S. 184. 238). Ihm gleich sagt der Luzerner Stadtschreiber Rennwart Cysat (vgl. unsere No. 50): die Härdmännlein sehen aus ganz klein, wie Knaben von sieben Jahren. Kas. Pfyffer, Gesch. v. Luzern 1, 320. Im Otnit, Str. 99, 108 liegt Elberich, d. i. Oberon, als ein Kind von vier Jahren unter einer Linde, und Otnit meint ihn wegtragen zu können. Im Duntzenbruche erscheinen noch jetzt zwei hemdärmlige Kinder mit rothem Brustlatze, sie sind geflügelt und reden in einer fremden Sprache. Stöber, elsaß. Sag. No. 208. Das Männlein zu Degerfelden, No. 38 dieser Sammlung, ist ganz jung, reicht nur bis an die Platte des Herdes und hat die dünne Stimme eines schreienden Kindes. In ein kindisches Weinen und Schluchzen bricht auch der aus dem Hause verstoßene Kobold aus, No. 30, er wird der Bub genannt. Auf der Geisalp im Schönenboden hörte man ein Kind unter einer Schirmtanne schreien, ohne es finden zu können; da erklärte der alte Senn, man müße sogleich die Alpe verlassen und mit allem Vieh abfahren, denn alsbald werde die ganze Weidetrift überschneit sein. Henne, schweiz. Blätt. 1833, 310. Es gemahnt dies an das ältere Volkslied, Wunderhorn 2, 205:

Es trieb ein Hirt den Wald hinein,
Er hört ein kleines Kindlein schrei'n;
Ich hör dich rufen und seh dich nicht,
Ich hör, daß du ein Kindlein bist.

Le pliorant, der Greiner, nennt man die Stimme eines Kindes, die im Walde von Le Mont, eine Stunde von Lausanne entfernt, häufig gehört wird. Man glaubt daselbst an gehörnte Männlein und weiße Frauen, Faie. Vulliemin, Kant. Waat 2, Abthl. 2, pag. 124. Eine Magd bei Neudorf in Schlesien, welche Schilf sichelt, geht der Stimme eines schreienden Kindes nach, findet aber darüber eine Kröte, die sich nachher in eine Wasserlisse verwandelt, oben Mädchen, unten Fisch. Weinhold, deutsch. Frau. 46. Dieses Kindlein der Sage wird vom Spielspruche der Kinderwelt noch immer vom Himmel herab als Segen erfleht. Wenn man nämlich den angesungenen Marienkäfer hat auffliegen lassen, so erwartet man, daß dafür unter verdeckter Schüssel dasselbe Kindlein, oder ein Leibgericht, oder die ganze Jahresfruchtbarkeit mit auf den Eßtisch gebracht werde. In bayrisch. Mittelfranken lautet der Spruch:

Herrgottsmoggela, flieg auf,
Flieg mir in den Himmel nauf,
Bring a goldis Schüssela runder
Und a goldis Wickelkindla drunder!

Vgl. unsere No. 75 das Kind und die Blutstropfen.

Wenn nun das Kindergebet im Verlaufe dieser Spielsprüche erfüllt wird und ein solches Himmelskindlein durch das Liebgott-Käferchen herunter gebracht worden ist, so muß der gestiefelte Kater erst darnach an den Kleinkinderbrunnen ausgesendet werden, denn dorten liegt es im Sonnenschein;

Digitized by Google

aber es ist — ein Geislein. So lautet's bei Schottky und Tschischka, österreich. Volksl. S. 12:

Hopp hopp, Hanselmann,
Unsre Katz hat Stiefeln an,
Rennt damit auf Hollabrunn,
Findt a Kinderl in der Sunn.
Wia solls hoassen?
Kitzerl oder Goassen.

Hiemit trifft jenes Geislein wirklich zusammen, das No. 1 unsrer Samml. geboren werden soll, da der Geisbock zur Hebamme ins Juradorf hinunter gelaufen kommt, um sie zum kindenden Erdweibchen in die Berghöhle hinauf abzuholen. „Der Hollabrunn" dieses Reimes ist wörtlich der Kleinkinderbrunnen oder Titisee der Frau Holla, das in Rückerts Gesamm. Ged. 4, 310 bedichtete fränkische Lauerbrünnlein, aus dem man alle Neugebornen schöpft, und zu dem die verstorbenen Irischen Kinder wieder kommen, um da zu spielen und aus kleinen Krüglein sich zu besprützen. Grin 6, Abthl. 2, 450. Das ist denn zugleich der See in der Zwergenhöhle auf Stiftshalde No. 1, 9 „über den noch keiner lebendig gefahren ist"; oder jener altgeschichtliche in der Markbeschreibung des Klosters Salmünster (K. Roth, Kleine Beitr. 1852 1, 231): „ad domum uuildero uuibo usque Delebrunno. Eine ganze Reihe solcher Kinderbrunnen verzeichnet Wolf, hess. Sag. Anmerk. 211. Pröhle, unterharz. Sag. 1856. Westfälische Kinderbrunnen zählt auf Woeste in Wolfs Ztschr. 2, 91. Ebenda 1, 196 gehört ein Kinderteich ausdrücklich der Frau Wulle, also wiederum jener Holla. Vgl. unsere Samml. pag. 17, 29, 50.

6) Erdweibchen in der Hufenfluh. Warum dasselbe Weib aus dem Magddienste in der Thalmühle plötzlich vom Zwerge hinweggeholt wird und alsdann nie mehr wiederkehrt, dies erzählt unsere No. 45, da die Zwerge rufen:

Lauf, lauf, Rebärben,
Der Vater will sterben!

In Vorarlberger Sage bei Vonbun S. 3 ruft der Rutschifengg einem Säumer zu, der über den Arlberg herzieht: Säg, wenn da ga Brotz kunnst, d'Rohrinda söll heem kô, Urhanns sei gstorba! Die Rohrinda aber war ein „Rutschifengga-meiggi", das damals in Brotz ebenfalls als Magd diente, während der Zwergen-Aelteste Urhanns starb. Ebenda. S. 7 No. 4 heißt's bei ähnlichem Begebnisse: Der Muggastutz soll ko, der Urhanns sei tod! Muggastutz ist ein Zwergenmann im Berner-Haslithale (Vgl. Anmerk. No. 10), und wie bei diesem Frau Ute als der Zwerge Ahnfrau vorkommt, so hier der Urhanns, als des Geschlechtes Ahnherr. Rohrinda, die Rerende, Schreiende, d. i. Abberufende, ähnelt dem Namen unserer altsächsischen Dichterin Hruodsuind, Hrosuith, clamor validus. Der Rohraffe war im Straßburger Münster eine schreiende hohe Figur, die mit einem Taktstabe unter der Orgel angebracht war. Stöber, elsaß. Sag. 492. „Stutze-Mutze, die rauh Rind ist gestorben, die Salome ist gestorben!" Panzer, bayr. Sag. 2, 341 No. 63. „Stutze-Mutze, der Mon-Jochtrager (der wilde Mann) ist gestorben!" Wolf, Ztschr. 2, pag. 60. Andere Namen dieser Art ebenda. 1, 461. Rohrrind und Moßkuh war in Luzern die Rohrdommel geheißen; vgl. Joh. Leop. Cysat, Beschreibung des Vierwaldstätten-Sees 1661, S. 80. Also deutet der

Name auf die Todtenklage der Zwerge. Hans Aebli, sag dem Appele, d'Appele sei todt! rufen die Freiburger-Zwerge. Küenlin, Greyerser Volkssag. pag. 95. Torkes Kind ist todt! Kuhn, nordd. Sag. pag. 488, Anmerk. 189. Anton ist todt! rufen die Pyrmonter Zwerge. vdHagen, Germania 9, 99. O große Noth, die alte Mutter Pump ist todt! — Sag der Hübel, daß Habel gestorben! Gräße, sächs. Sagensch. pag. 552. Reich an solcherlei hier zutreffenden Zwergennamen ist Müllenhoffs Samml. pag. 291, 292, 299, 300.

10) Bergmännchen auf der Hagleſtä. Der Zwerg schwebt hier wie ein Schmetterling herzu. Der Grund hiefür ist neben dem mythischen, der des Zwerges Vogelgestalt betrifft (Anmerk. 2), ein sprachlicher; denn beides, Zwerg und Schmetterling, führt in den Mundarten die Namen Schrätteli und Toggeli. Schratta ist in den Sette-Communi (Schmeller Wörtb. 3, 519), und in Schwaben (Schmid, schwäb. Wörtb.) Namen des Schmetterlings. In der Luzerner Mundart ist Toggeli Alpdrücken und Schmetterlingsname zugleich, Stalder 1, 287; im Berner-Oberland ist Roientoggeli, Nachttoggeli Name für Tag- und Nachtfalter. Alpenros. 1827, 353. Es wird dadurch die ahd. Glosse bei Graff 1, 243 wichtiger: brucus, locusta quæ nondum volavit, quam vulgo *albam* vocant. Mythol. 430. Denn Toggeli und Alpdrücken ist sprachlich wiederum identisch. Nicht bloß der Farbenschiller des Schmetterlings und des rothrockigen Zwergleins — der Lichtelbe, — auch ihre und der Nacht-Elbe nächtlich dunkle und dämonischfinstre Erscheinungsweise soll damit umfaßt werden.

In Carpzow's Praxi criminali 1, quæst: 50, No. 66 sind die Urtheile des Leipziger Schöppenstuhles darüber zusammengetragen, in wiefern der Elb ein blaugekleidetes Männlein ohne Füße mit reichem Federbusche ist, der mit den Heren sich vermischend fingerlange Kinder erzeugt, die ein Aussehen haben wie bunte Raupen und grauschwarze Fliegen. Joh. Prätorius Blockesberg 1669, S. 362. Aargauisch heißt daher die große Libelle Tüfelsnodle und näht schreienden Kindern das Maul zu (darnach berichtigt sich das Mythol. 458 über die Donaunadel libellula Gefragte), und auch die Bärenraupe ist das Tüfelschätzli. Der böse Geist erscheint bei Paul. Diacon. 6, 6 als Fliege am Fenster und es wird ihm dabei ein Bein abgehauen. Myth. 951. Aus diesem Doppelverhältniß von Zwerg und Schmetterling scheinen sich auch die Namen der Zauberer entwickelt zu haben in Hildebrands Zauberey, Frankf. 1631, S. 26: Schmiervogel, Schmalzflügel. Sie entsprechen den Zwergennamen Mückenstutz (Alpenros. 1827, 310), Mückenscheißerlein und papilionische Butterfliegen (Fischart, Gargantua cap. 3). Aus dem Grunde, daß die Zwerge Genien der Jahresfruchtbarkeit und die Schmetterlinge als Vorboten des Frühlingssegens begrüßt waren, bleibt letztern der noch in Süddeutschland geltende Namen Buttervogel; und wie die Zwerge berühmte Käser und Bäcker sind, so rufen unsere Kinder den Schmetterling um Anken und Milch, um Geld, Brod und Wein an, oder man nennt ihn geradezu Müller- und Beckenknecht. Reime in Simrocks Kinderb. No. 315 — 318, und bei Firmenich, Völkerstimm. 2, 101 rufen dem Schmetterling:

Miller, Miller, Maohler:
Geab mer n' Sack voll Daoler!

Die Höhlen dieser zwischen Zwerg und Schmetterling schwankenden Erdmännchen heißen im Berner-Oberlande Zwergligtuben und Toggelikirchen; eine dieses Namens liegt am Wallopberge, an der Bern-Freiburger Grenze, und hat ihre eigne Toggelikanzel, einen Stalaktitenfels. Zürcher-Neujahrsblätter zum Schwarzen Garten 1823, 5. Eine andere gleichnamige ist im Simmenthal am Männiggrate im Männigstande und hält 56 Schritt im Umkreise; eine dritte gleichnamige ist am benachbarten Niederhorn. Alpenros. 1825, 347. In eine solche Kirche muß in No. 3 das Taufkind der Zwergin getragen werden. Auch der finnische Aberglaube läßt unter dem Altar einer jeden Kirche eine Art Toggeli wohnen und nennt sie Kirchenvolk. Mythol. 426. Ein ganzes Dorfviertel von Bernisch-Rüderswil heißt Toggelibrunnenwald. Jahn, der Kant. Bern, 512. Geht dieser Begriff eines Glück- und Jahresfruchtbarkeit Verheißenden im Namen oder Wesen des Zwerges verloren, so erscheint an ihm das Häßliche und Grausame späterer zerrütteter Volksvorstellungen. Das Toggeli reitet Schlafende ohnmächtig; das Schrätteli stürzt Jäger, Sennen und Kühe (No. 49, 50) von der Alp herab zu Tode; der Rainhaldenjoggeli fliegt als gefährlicher Vogel mit giftigem Winde, No. 27. Der pestverbreitende Vogel ist ein bloßer Schmetterling: Wöste, Volksüberlieferung aus Westfal., Iserlohn 48, S. 44. Das Sträggele endlich frißt im luzernischen Dorfe Urswel, Gemeinde Hochdorf, ein Kind bis auf die Knochen auf, weil dies seine zwölf Wergristen nicht bis Fraufastenzeit fertig gesponnen hat. Alpenros. 1813, 149. Häfliger, Volksl. in luzern. Mundart 1813, 197. Noch ist der Spruch dieser Sage zu bemerken, unter dem die einmal ausgekundschafteten Zwerge sich auf immer von den Menschen entfernen: „Lauf, Küngi, lauf! die Welt ist falsch und taub!" Der Spruch erinnert an jenen Zwergenruf, mit welchem das Kleine Volk auswandert, wenn man ihm das Zauberkraut Lauch in den Milchnapf wirft: „Lauch, Lauch! wir gehn und das Glück auch!" J. W. Wolf, Götterlehre, 67. Ueber dieses mißbrauchte Geistervertrauen, das in No. 47 und in Anmerk. No. 19 weiter beredet ist, beklagen sich die Zwerge schon in Ruedlieb XVII, 20: Inter vos nemo loquitur nisi corde doloso. O wie ist der Himmel so hoch und die Untreu so groß! rufen die wegwandernden im Berner-Oberlande. Wyß, Idyll. 1, 320. Der feminine Vocativ Küngi, Kunigund, deutet in diesem Spruche zugleich auf das Königreich, das die Zwerge unter sich gegründet haben, wie sie auch in No. 4 gehorsamend unter einer eignen Meisterin stehen. Eine werthvolle Belegstelle dazu vom J. 1335, aus Pez 1, 940, giebt Grimm, Myth. 431: rempublicam inter se gerebant, legem habentes et principem.

11) Eiszapfen zu Böbikon. Aus Zwergenkohlen wird Gold, ein in No. 1, 10, 15, 40 sich vermeldender Sagenzug. Hier verwandeln sich nun Eiszapfen, mitten im Sommer entstandene, in Silber. Derlei wird so vielfältig unter dem Volke erzählt, daß der Rationalismus zuletzt meinte, eine Erklärung dafür auf naturgeschichtlichem Wege aufsuchen zu müßen. Es ist noch nicht lange her, schreibt ein Correspondent dem Morgenblatt 1841, No. 288, daß der Bauer Sebast. Fletscher an den Nettersberg kam und da lange Goldzapfen hängen sah; da sie mit der Hand nicht loszubrechen waren, gieng er heim, eine Hacke zu holen, legte jedoch einen Steinhaufen unter dem Felsen zusammen, um die Stelle nicht mehr zu verfehlen. Beim

Digitized by Google

Zurückkommen fand er den Steinhaufen, nicht aber die Goldzacken. Man will dieſen Glauben mit dem leuchtenden Mooſe erklären, das durch einen von der Refraction der Lichtſtrahlen herrührenden eigenthümlichen Schimmer ſeinen Namen erhalten hat. Nork, Mythol. der Volksſag. 223. -- Aehnliche Sagen ſpielen am Untersberge, L. Steub, bayriſch. Hochland 1850, S. 169. Schöppner, bayr. Sag. S. 13. Vom Rübezahl erzählt's Kern, ſchleſ. Sagenchron. S. 99. Die monatlichen Unterredungen vom Mai 1692 (Leipzig 1692) erzählen S. 437 nach Sachſens Ephemeriden (natur. Curios. ann. 1, pag. 131): wie ein Winzer, von der Arbeit ausruhend, etwas Gelbes aus dem Boden des Weinberges ſchimmern ſieht und einen langen goldnen Zahn hervorgräbt; ein anderer bei Dresden zieht ein ellenlanges Seil von purem Golde aus dem Acker; ein Schnitter erblickt beim Aehren einen goldnen Drath und als er mit Holz zu Markte fährt, wickelt er ihn unbefangen ſeinem Ochſen ums Joch, bis ihm vor des nächſten Goldſchmieds Thüre ſein unbegriffener Fund wieder abgehandelt wird.

12) Erdmännchen zu Leuggern. Mihm, Koburger Sagen 1845 pg. 65 nennt die Zwerge Zinzenmännlein, wie wir die Irrlichter Zünsler und Zeisler. Aus dem Gubelberge bei Mödlitz kamen ſie in die Erbſenfelder herab und pflückten die Schoten für ihre Weiblein in die Lederſchürzen. Den Acker nennt man heute noch Ruthenacker, weil ſie da der geizige Bauer fieng und unbarmherzig ſchlug.

13) Erdmännchen bei Gippingen. Die Erdmännchen müſſen die goldenen Leuchter in ihrer Höhle abſtauben und putzen, auf denen den ganzen Tag acht Kerzen brennen. Warum brennen dieſe den Tag über? Etwa weil das unterirdiſche Volk in lichtloſen Räumen wohnt, wie die Zwergenkönige Schilbunc und Nibelunc im hohlen Berge und weil es dem gemäß heißt Nib. 473: vil kerzen was enzündet? Dies iſt nicht der zureichende Grund; obſchon der zwiſchen den ſtreitenden Zwergenkönigen ſchlichtend und entſcheidend auftretende Nibelungen-Sigfried, der dafür hernach mit Schätzen belohnt wird, die man auf Kanzwagen fortfahren muß, ſehr an unſere vorliegende Sage miterinnert. Die ganz unberechenbare Ausgemachtheit der Sätze unſeres alten Volksglaubens muß viel tiefer liegen, um in unveränderlicher Ueberlieferung und tauſendfacher Zuſammenſtimmung heute unſere poetiſchen Vorſtellungen oder unſere bloß rationaliſtiſchen Erklärungen noch fortwährend übergipfeln zu können. Warum brennt in No. 3 in jedem Hauſe der Erdleute ein Licht, da es dorten doch heller Tag in der Gegend iſt, da dorten ſogar die Hausdächer gläſern, und in No. 13 auch die Hauswände von Glas ſind? Das Hardtmändle in E. Meiers ſchwäb. Sag. No. 99 iſt mit Rundhut und Grünrock bekleidet; dennoch iſt es ſelbſt ein Licht und körperlich ſo durchſichtig, daß man ihm alle Rippen zählen kann. Der norwegiſche Niſſen iſt ein blaues Licht, Mythol. 476; ebenſo jenes Weib, das achtundvierzig Eichenwälder hat aufwachſen und verfaulen ſehen; in Cavallius ſchwed. Sag., überſetzt von Oberleitner, S. 186 und 194. An der Schlüſſelkatherine iſt nichts ſichtbar als ihre Laterne. Kuhn, nordd. Sag. 235. 236. Nicht um etwas Märchenhaftes auszudrücken, ſondern um ein Bekenntniß abzulegen, müſſen der Sage ſolche Züge dienen. Licht, Kerze und Lampe ſind deutſche Sinnbilder der Seele, wie das glimmende Scheit in der Meleagerſage. Ueber dieſe Symbolik des Lichtes er-

klärt sich unsere Anmerk. No. 21, so weit deren Beziehungen reichen. Für jetzt das hier Einschlägige. Wir stehen in No. 3 im Reiche der Seelen; so viele Lichtchen zusammen dorten in den gläsernen Häuschen brennen, so viele Kindlein sollen daselbst noch von den Erdweibchen geboren und in der gläsernen Kirche durch Menschenhände getauft werden. Nornengast ist jenes Kind geheißen, dem die Nornen geweissagt, es werde nicht länger leben, als die neben seiner Wiege angezündete Kerze dauere. Mythol. 380. Im preußischen Batzlow läßt man bei ungetauften Kindern beständig eine Kerze brennen. Kuhn, märk. Sag. No. 183. So viel Lebensjahre das Kind zählt, so viel Lichtlein stellt man ihm auf den Geburtstagskuchen; nur darf man diese nicht ausblasen, sondern läßt sie ruhig zu Ende brennen. Kuhn, nordd. Sag. S. 431. Der Chronist Bernhard Herzog, der die Hochzeit des reichen Bayernherzogs Georg mit der Polin Hedwig erzählt, fügt bei, nach den Altersjahren der Braut habe man ihr beim Kirchgang vierundzwanzig farbige Kerzen voran getragen. Wenn drei Lichter in einer Stube zugleich brennen, so bedeutet's eine Braut; unser Weihnachtsbaum mit seinem Lichterkranz ist uns der eigentliche Geburtsbaum. Wolf, Beitr. 1, Abgl. No. 83. Auf wessen Seite bei der Copulation das Licht trübe brennt, der wird zuerst sterben. ibid. No. 94. Das Alter eines Kindes bestimmt sich rechtskräftig, je nachdem es eine Kerze auszublasen vermag; und das Besthaupt hat jene leibeigensterbende Mutter nicht zu erlegen, deren hinterlassene Tochter eine Ampel auszublasen vermag. Grimm, Rechts-Alterth. 370. 411. Der blühende Löwenzahn, bei uns Lichtblume geheißen, gilt den Kindern als Wettmittel; welches dem andern die Lichtblume in der Hand abbläst, das bringt es einst auch in der Stärke am weitesten. Die kathol. Christmette zur Feier der Geburt Christi heißt man Lichterkirche, weil Jedermann mit einem brennenden Wachsstock zur Messe kommt. Ist dagegen bei der katholischen Seelenmesse nun die letzte Altarkerze mit dem Lichtdämpfer gelöscht, so ist mit dieser Ceremonie auch das Requiem zu Ende und die Kirche erklärt damit, sich nun nicht weiter mit diesem Verstorbenen zu befassen zu haben. Marienbildchen heißt eine Kapelle in Aachen, in der die Kinder drei Kerzen für kranke Geschwister opfern. Letztere sollen genesen, wenn das Weihlicht mit heller Flamme brennt; aber sterben, wenn gar eine der Kerzen vorfrüh erlischt. Firmenich, Völkerstimm. 1, 487. Ein Feuersegen im Munde der Frickthaler-Bevölkerung ruft den Schutz der hl. Katharina an und sagt dabei von deren Enthauptungstode:

Wo das Haupt hinfallt, sind Engeli und singe,
Wo das Bluet hinsprützt, sind Cherzeliechtli und brünne.

Das heißt, die Enthauptete ist in jedem Blutstropfen unsterblich. Das Kindermärchen bei Grimm, No. 44, handelt von einer Höhle, worin manches tausend Lichter brennen, da große leuchtende, dort schon zum Endchen herunter gebrannte: das sind die Leben der Menschen. Mythol. 812. Zahllose Histörchen berichten vom verfallenen Schlosse, Hause, Kirche, sogar von manchem bloßen Schlafzimmer, worin jede Nacht noch ein Licht brenne, ob nun alles noch bewohnt, oder längst unbewohnt ist; nie aber fehlt der Beisatz, daß hier noch ein Geist zu erlösen, oder daß das eigene Leben von Gefahr bedroht sei: No. 184, c. Der Glaube an Feuermänner und „Bründlige Manne", die flackernd und lohend den Ackerfurchen und Marksteinen nachgehen müssen, deutet ebenfalls auf die Feuerbeschaffenheit der

Digitized by Google

Seele, die sich erst nachmals zur Flammenqual der Verdammten umgestaltet hat. Dies erweist sich aus andern gleichzeitig fortdauernden Bräuchen. Schon Lavater, Von Gespänsten, Zürich 1578, Bl. 38, vergleicht den Irrwisch mit dem Fackeltanz beim Fasnachtfeuer: „Etwan sicht man blawe Liechtly, die nachts hin vnd wider gond, oder Zünßler, welche etwan zuosamen, etwan von ein anderen lauffend, wie in vnseren landen die knaben by den faßnacht-fhüren mit den facklen.“ An der Mosel laufen die Jünglinge am Michaelsfeste dem ins Thal gelassenen Feuerrade mit brennenden Fackeln nach, und der soll Glück haben, dem die Fackel dabei nicht erlischt. Wolf, Zeitschr. f. Mythol. 1, 88. Noch trägt ein Haus der Zürcher-Altstadt das Wahrzeichen der Kerze und des Lichtstockes, weil hier ein Hirsch mit brennenden Kerzen im Geweih den Töchtern Ludwigs des Deutschen erschien und so Anlaß bot zur Gründung des dortigen Frauenmünsters. Ein gleicher Hirsch mit leuchtendem Geweih führt zur Erbauung des Klosters Allerheiligen in Schaffhausen. Vergl. aargau. Sag. No. 413a. — In Schweidnitz ward noch im J. 1698 alle Abend eine brennende Kerze vor die Rathhausstube heraus gestellt, und so oft das Licht von selbst erlosch, deutete man es auf den Tod eines Rathsherrn. Monatl. Unterredungen, Leipzig bei Gledisch 1698, S. 572. Stirbt der Fuchs, so gilt der Balg, sagen die Kinder, wenn sie zum Spiele einen brennenden Span herumreichen. Als das gleiche Spiel erklärt's W. Wackernagel (Haupt, Zeitschr. 6, 280), wenn die heutigen Römer am Carneval ihre Moccoli sich auszublasen suchen und dabei ihr fürchterlich klingendes „sia ammazzato!“ rufen. Nicht italienischen Blutdurst, sondern den Glauben hat man in diesem Ruf zu suchen, daß die Menschenseele elementarisches Feuer sei und mit ihrem Erlöschen den Körper in Asche verfallen lasse. In solchen weitgreifenden Zügen liegt jene überraschende Einerleiheit aller Sage aller Völker; sie erscheint dem Einen bewunderungsvoll und tief, während sie den Andern durch ihre Selbstwiederholung zu ermüden droht und ihm oft nur als Phantasterei auffällt, für deren Lösung er irgend einen trockenen Vernunftgrund beibringt. Liebigs chemische Untersuchungen behaupten, neuerlich daran zu sein, allen Irrlichtern das Lebenslicht für immer auszublasen und nachweisen zu können, daß es solche überhaupt nicht gebe. Es müßte dann also der Volksglaube von den Irrlichtern und Brennenden Männern schon deswegen ein vornaturhistorischer Aberglaube sein. Je weniger es jedoch der Aberglaube überhaupt mit nur physikalischen Mißverständnissen zu thun hat, um so wichtiger und tiefer ist sein anthropologischer Inhalt. Darum sind auch manche poetische Gleichnisse, in so ferne sie sich auf solche mit sinnlicher Energie aufgefaßte Wahrnehmungen stützen, weltalt und nicht mehr weiter zu überbieten. In Bouterwecks Sinnsprüchen, übersetzt nach alten Autoren (Vesta 5, 97), heißt es über Licht und Seele:

> Wie die brennenden Lichter sich selbst im Brennen verzehren,
> So erlöschen zuletzt Schmerz und Genuß in sich selbst.

14) Erdmännlein an der Fullhalde. Aargauer Orts- und Localnamen sind Full, Füllihau (bei Bremgarten an der Reuß), Fullerfeld, Follenfohr. Letzteres steht statt Follenfahr (Stromüberfahrt) und ist der ältere Ortsname von Lauffohr am aargauischen Rheinufer. Eine Riesengöttin der Hülle und Fülle, Fulla, ist für die deutsche Mythologie verbürgt;

Digitized by Google

sie ist nach dem Merseburger-Gedichte Schwester der Frûa, die altnordische Fulla hingegen Dienerin der Frigg. Diese Göttin mit dem Füllhorn kann als Mond- und als Stromgöttin zugleich gedacht werden. Vergl. Myth. 285. 843. Als letztere entspricht sie ganz der Oertlichkeit in Follenfohr, welche eine Stromschnelle ist. In gleicher Art wird auch das Dorf Unter-Füllbach, südlich von Koburg, urkundl. bezeichnet: „ab Idasa usque in Fullebah, per rivum ejus usque ad villam.“ Banzer Markbeschreib., 11 Jh. K. Roth, Klein. Beitr. 2, 130.

17) Betendes Erdmännchen bei Klingnau. Die Klingnauer-Gegend, in welcher diese Sage spielt, ist katholisch, die hier eingemischte lateinische Gebetformel kann also im Volksmunde nicht auffallen. Ueberdies giebt Grimm, Mythol. 431, ein besonderes Zeugniß v. J. 1335 über die katholische Confession der Zwerge: legem habentes, fidem catholicam profitentes. Auf den Anruf „Alle guten Geister ꝛc.“ verschwinden sie nicht, wohl aber, wenn man sie mit der katholischen Monstranz wegsegnet. Deswegen sagt man von ihnen: Se gloovten wol an gott, aber se harrn doch keen christendoem. Müllenhoff, Schleswig. Sag., No. 384, pag. 282. Dies berechtigt uns zu dem Schlusse, auch die Erzählungsweise, in der wir heute unsere Zwergensagen noch vorzutragen pflegen, stamme schon aus der vorreformatorischen Zeit her und sei sich also seit langem ganz gleich geblieben. So wird auch die Gottesfürchtigkeit des Männleins in der Gülle, No. 38, besonders betont. Die Sage läßt den Zwerg häufig in der Ordenskleidung der Mönche auftreten, ja benennt ihn auch eigens darnach. In irisch., schott. und dän. Ueberlieferungen weist Grimm, Ir. Elfenm., No. 4, S. 200 und Mythol. 461, die rührende Sehnsucht nach, mit der sich die verwaisten Geister des Heidenthums einen Antheil an christlicher Erkenntniß erwünschen. Das Lied vom Kleinen Männchen, zuerst im Wunderhorn, neuerlich wieder in Simrocks Kinderb. No. 164 abgedruckt, entspricht hierin genau dem Inhalte unserer Zwergensage. Der Zwerg ruft dem Kinde nach, das Brod trägt, pro me! und der Schluß jenes Liedchens besagt:

Wenn ich an mein Bänklein knie, will ein bislein beten,
Steht ein kleines Männlein da, fängt als an zu reden:
Liebes Kindlein, ach ich bitt, bet fürs kleine Männlein mit!

Aus dem Butzenmann und klopfenden Kobold (vgl. bossen, tundere) wird erst ein Schutzgott der Feldmessung, der das Land schuhweise büezt und daher Schuhbüezer, Schuhmacher und Stiefeli heißt (vgl. Anmerkung No. 32); sodann entsteht daraus eine Feld-Scheuche (mhd. winterbuz larvatus, nhd. Hanfbuz, Vogelscheuche), endlich ein Kapuziner. Auf solcherlei Tracht und Geschäft weist der Sagenzug hin, daß dieses Erdmännchen in derjenigen Waldgegend erscheine, wo sonst ein Waldbruder gewohnt hat, und daß es in No. 36 als ein in Pilgertracht von Loretto kommender Wallfahrer in der Weintrotte einkehrt und da Marienmilch zurückläßt. Kapuziner ist im Kinderspiel auch Name des Wassermanns, den man aargauisch Hockemâ (incubus, Hakelberend) nennt. Den spielenden Kindern dient dabei bald das Chabbezinerzipfeli, noli me tangere, das man auch sonst um den Hals hängt gegen Teufelsversuchung, bald das Chabbezinerli, tropaeolum majus, das wetterkündend ist und dessen Blätter sich schließen sollen, wenn es bald regnen wird. Diese Pflanzen wirft man ins Wasser, um damit

Digitized by Google

die Witterung voraus zu bestimmen; oder man schleudert einen Stein hinein in dem Glauben, damit Gewitter hervorzubringen, und singt dazu einen Reim über den ins Wasser plumpenden Kapuziner, gerade so wie in Holland die Nymphäa die Plompenblume genannt und in gleicher Weise verwendet wird.

18) **Stalljoggeli in Wettingen.** Ebenso thut der Kobold Poppeli zu Hohenkrähen, und das Seemännlein in Badisch-Rippoldsau. Mone, Anzeig. 1837, S. 175. Das Schlagwort dieser Sage ist der Rest eines alten Sprichwortes und lebt noch in der Kinderspielsprache zur Bezeichnung des Glockentones und Mühlgeklappers fort, „Gieb aba, gieb aba!“ Kirchhofer, schweiz. Sprichw. S. 224. Der Zwergenname Joggeli kehrt als Rainhalden- und als Kinzhaldenjoggeli No. 26. 27. wieder. Dies ist jener dienstfertige aber verrückte Knecht Joggeli des Kindermärchens, der die Birnen schütteln soll, die nicht fallen wollen. Vgl. aarg. Kindspr. No. 277. Der Name bezeichnet theils den Uebereilten, Ueberhasteten (jogeln, eilig sein, Stalder 2, 77. jagkelschutzen und jächen, fugare. Schmeller 2, 267); theils bedeutet er den Narren (Schmid, schwäb. Wörterb., jockeln, albern thun; Tobler, appenzell. Sprachsch. 286). Wie es einen Schmutzbartli giebt, so zeigt Schmeller 2, 266 einen Schmierjägkel, einen ausgeschoppten Jackel, d. i. einen Fasnachtsbutzen. Schmeller giebt das Lied an, bei dessen Absingung man eine solche Fasnachtspuppe mittelst eines (Fasnacht)Leintuches prellte, in die Luft warf und wieder auffieng. Sie stellte einen Schmiedskobold vor. Jackel heißt daher auch der große Pochhammer bei Schmied und Schlosser, Jackel der große bauchige Krug, und in ditmarscher Mundart ist der Eiszapfen Jisjack, Eisjackel genannt. Claus Groth, Quickborn. Hamburg 1853. S. 270.

19) **Kobold Beckli in Kirchleerau.** Zu den in Grimms Mythol. 453 bereits bemerkten Parallelstellen über Sagen von solchen dienstfertigen Hausgeistern, die, einmal ausgelohnt, sofort auf immer das Haus verlassen, können noch folgende seither neu aufgefundene und neu bedeutsame Sagen gezählt werden: Panzer, bayr. Sag. 1, No. 59. 130. 178. 179. — Wöste, die westfäl. Hollen, in vdHagens Germania 9, 290. Müllenhoff, Schlesw. Sag. No. 445. Vier ähnliche Sagen vom Waldwiesenweiblein bringt L. Steub, Aus dem bayr. Hochlande 1850. Derselbe: Drei Sommer in Tirol. Ebenso Rank, Böhmerwald S. 282. Meier, schwäb. Sag. No. 66—74. Den Hausgeistern wird geopfert, der Tisch gedeckt, das Bett gemacht in unserer Samml. No. 29. 30. 33. 34 (vgl. Grimm, DS. No. 37. 38. 71); will man aber den Hausgeist nur äußerlich nach seinem Pflichttheile ablohnen, so verläßt er gemüthlich gekränkt das Haus, oder wird dem Geizhalse erst zum besondern Hauskreuz (No. 23). Der Koboldsname Beckli (Milchnapf) stammt aus dem Sennenleben. Man stellt dem Freiburger-Alpenzwerg Jean de Bolieta (boule, Napf; Napfhans entspricht dem Flaschengeist S. 42 in Grimms Jr. Elfenm. und unserm No. 39 in die Strohflasche gebannten Geiste) täglich eine Schüssel Milch aufs Dach. Alpenros. 1824. 74. Gleiches geschieht in unserer No. 47; Gleiches dem Kobold in Straußberg: Kuhn, märk. Sag. No. 180. Da man dem Alpengeiste von Ecojolat, bei Albeuve im Freiburger Sanenlande,



Digitized by Google

Unrath statt Rahm ins Näpfchen that, rief er Nachts: Dröles, écorchez! und eilf der schönsten Kühe lagen am Morgen von den Trolden erwürgt. Henne, Schweiz.-Bl. Jahrg. 32. Eine ähnliche deutsche Sage bei Wolf, Götterlehre 67; eine irische in Grimms Elfenm. S. 212. Genau zustimmend ist, was Joh. Lasicz von den litthauischen Hauskobolden erzählt und auf welche Weise man sie ins Wohnhaus zu ziehen pflegt. Die einschlägige Stelle in Haupts Zeitschr. 1, 146. Milchsuppenjägerli heißt der Zwerg auf den Freiburger-Cousinberalpen. Küenlin, Alpenblumen (Sursee 34) S. 99. Da man dem Bündner-Geißler, No. 47 unserer Samml., Schnaps in sein Brünnlein schüttet, hütet er das Vieh nicht mehr. Die Zwerge in No. 13 wollen nur das der Bauernwirthschaft zustehende Essen; sie verlangen aber in No. 9, wie Kinder des Hauses, ihren Antheil von der Zuspeise der Mutter. Sie sind in No. 16 Honigmäuler, denn sie wohnen hinter dem Bienenhäuschen. Desbalb nennen die Aargauer-Kinderspräche, No. 528, den Honig Ebleimänndlidreck. So weiß auch eine Zwergensage bei Osterode (Mythol. 435) von der Honigtonne in der Zwergenhöhle. Bei Festgelagen erscheinen sie ungeladen und stellen sich den Schmausenden ruhmredig selber als Koch vor: No. 22. Bringt man ihnen nicht das Begehrte, so rauben sie's. Drum erscheinen sie so oft als Korndiebe: No. 13. 28. 29. 32; selbst Holz- und Gemüsediebe sind sie, No. 39, gleich dem Mann im Monde. Dies Diebsgelüsten und zugleich die Tanzlust haben sie mit den Fingern gemein, nach dem Kindermärchen, das man über diese erzählt. Wie das neugeborene Zwergenkind nur daumengroß ist, No 3, so daß es, statt auf dem Arme, in der hohlen Hand getragen werden muß, so ist auch der Daumennickel (Myth. 420) als Finger und Zwerg ein Kuchendieb, Obstdieb, ein Tanzkünstler, Wahrsager und Allesbescheerer. Vgl. Oberdeutsches Gebildbrod, No. 11: Hand- und Fingernudel; zugleich aargau. Kindspr.: Abthl. 1 Fingersprache. Zu dem dort Bemerkten ist hier Folgendes noch beizufügen. Der älteste Daumennickel ist Gott Thôr, er versteckt sich im Däumling eines Riesenhandschuhes. cob ist welsch der Daumen, mlatein. cobalus Possenreißer, κόβαλος, Kobold. Hans Däumerling ist gleichfalls der Spaßvogel unserer Märchen. Der fünfte Finger, bei den Griechen der Dieb Kakos, ist der Piephans (in Aachen), der Piepling (im Bergischen) und der tanzende Pieperling, der auf dem Kopfe nach Hause gehen kann. Vgl. aargau. Kindspr., Abthl. Räthsel. Gepiptes Brod, solches, das man noch vor dem Backen mit dem Daumennagel zeichnet, verwünschen die Zwerge. Anmerk. No. 2. Bibberli heißen zugleich die Erdmännchen im Fricktbale, No. 5 b. Der Zwergenkönig selbst heißt Piper, er hat nur ein Bein. Müllenhoff, Schlesw. Sag. No. 392. Der kleine Finger, der Piephans, weissagt, wenn man ihn ans Ohr hält: ich weiz vil wol, waz da geschah, mîn minnester vinger mir's verjach. W. Grimm, Berlin. Akad. Abhandl. 1846. 494. Er ist demnach der sogenannte Meister Hemmerleinsfinger, Teufelsfinger, gleich dem vorhin besprochenen Löwenfinger, dem sogen. Diebsdaumen. Wenn man ihn am Tische hintanzen läßt, sagt man dazu im Berlin. Kindl. (vdHagens Germania 8, pag. 236, No. 57):

Popelmätzchen Sängestört,
Tanz mit mir auf'm Feuerheerd.

Dies Popelmätzchen erinnert an den Schloßzwerg Poppele von Hohenkrähen, der ein Klopfgeist ist und zugleich Stalldienste thut; vgl. Anmerk.

Digitized by Google

No. 18. Sängestêrt vergleicht sich dem Bremer-Zwergennamen Selkenſteert, Anmerk. No. 28.

20) Sennenzwerg in Muri. Der ausgelohnte Zwerg in Vonbuns vorarlberg. Sag. pag. 6 entfernt sich unter dem Ruf: a so an schöne wecha (keck) mâ nömma hüatha ka! Das Fegmännchen im Berner-Simmenthal erhält Schuhe mit safranfarbigen Maschen, Mantel und Filzmütze zum Lohn; darüber spricht's: ig nit me stampfe ma, ig schön chleideli ha, ig jitz tanze ga. Als es in der Oelmühle auf ähnliche Weise beschenkt wird, sagt's: nei, e söttige ma i söttigem chleid putzt kei öhli meh! R. Wyß, Idyll. 2, 341. 415. Der Futtergupel(kobold) erhält neue Schuhe und geht mit ihnen davon: Hab' ich deine Schuh', so hab' ich meine Ruh'! Bechstein, DSagb. No. 552. Mehrfache ähnliche Erzählungen liefern: Panzer, bayr. Sag. 1, pag. 281. Meier, schwäb. Sag. No. 66. 69. 71. 74. Wolf, Ztschr. 1, 458. Studemund, mecklenburg. Sag. pag. 172. Grimm, Myth. 1217, Anmerk. 453. 479. Die Knechte im Schlosse Heldritt hatten ein Dienstmännchen, das außer seiner feuerrothen Weste nur Lumpen anhatte. Als sie ihm aus Erkenntlichkeit für seine fleißige Dienstverrichtung Linnenschöpchen und Linnenhöslein auf den Futterkasten legten, kam das Männlein nie wieder. Fr. Mihm, koburg. Sag. 1845. No. 28. Im Harze pflegt man von einem, der seines Dienstes entlassen werden soll, zu sagen: der bekommt bald ein Paar Schuh. Pröhle, unterharz. Sag. No. 30.

21) Erdmännchen auf der Stolten bei Leerau. Der Zwerg erscheint als sachkundiger Grubenmann und giebt einen Vortheil zum Felsensprengen an. Das Geschlecht, aus welchem der verwünschte Lindegiger stammt, soll daher Hauenstein geheißen haben, No. 39. — Die Heidenmännchen in Roken, No. 43, sind die Besitzer des ältesten Salzwerkes. Hans Donnerstag, ein Zwergenname bei Müllenhoff, Schlesw.-Holst. Sag. XLVIII. zeigt der Elben Verwandtschaft mit dem Gotte Donar. Er ist also ein Meister Hemmerli, wie man mundartlich jeden Tausendkünstler und den Teufel zugleich benennt. In solchem Zusammenhange heißt derjenige, der beim Steinsprengen die Bohrnadel in den umformenden Lehm steckt und zum Abbrennen wieder auszieht, aargauisch „der Tüfel mit der Rüedernadel", und man denkt sich unter letzterm Worte des Teufels Schürhaken, wie man es denn auch als Scheltnamen gegen böse Weiber gebraucht. Der Zwerg räth beim Sprengen Spinnhoppe, Spinneweben, ins Bohrloch zu thun, die man sonst auch Kindern und Thieren auf beschädigte Glieder legt. Dies entspricht jenen spinnenden Zwergen, die, No. 10, mit ihren Kunkeln zu den Dorfleuten gehen, und ihr in No. 25 erwähnter Spielplatz kann wohl auch ihr Spill- oder Spindelplatz sein. So giebt es Spielsteine und das Chriembildenspiel: Mythol. 390. Bertel de las Fadas heißt ein Fels zu St. Hélene im Departement Lozère; d. i. der Wirtel (berticello, Spindel) der Feen. Nork, Mythol. der Sag. 912. In den Bauernstuben der solothurn. Landschaft Leberberg hatten sonst die Bänke, die ringsum an den Wänden laufen, kleine Rundlöcher im Sitzbrette, und man sagte, sie seien für die Erdmännchen eingeschnitten, um ihre Kunkeln drein zu stecken, wenn sie bei den Bauern zu Licht kämen. Illustr. Schweiz.-Kalend. 1854, S. 94. Die Tropologie der Sage verwandelt die Zwerge zuletzt direct in Spinnen, in Arachnen. Dverg ist schwedisch Zwerg und Spinne, dvergsnæt ist Zwergen-

Digitized by Google

netz und Spinnwebe. So ist auch bretagn. korr beiderlei: Marienſommer, in ſo ferne man ſich Marien ſpinnend denkt, und Altweiberſommer, in ſo ferne man ſich der ſpinnenden Ahnfrau und Königsmutter Bertha erinnert; beide ſpinnen die im Herbſte über Ackerfurche und Hag liegenden Spinnenfäden. Mythol. 440. Eine Anmerkung Voſſens zu ſeiner Luiſe ſagt über die fliegenden Herbſtſpinnewеben der aranea obtextrix, der Volksglaube hält ſie für ein Geſpinnſt von Elfen und Zwergen und von der Mutter Maria. Longolius (Curiana, pag. 56) ſchreibt: Wenn die von gewiſſen kleinen Würmern herrührenden Fäden in der Luft ſchweben, ſo ſpricht das Volk: Fraw Here, die flüghet! in der Meinung, daß die Here durch die Luft fliege und den Menſchen Reichthum verleihe. Wurm, Beurtheil. des Grimmſchen Wörterb. 1852. S. 25. Redet die ſchwediſche Sage vom Altweiberſommer, ſo ſtellt ſie drei Zauberweiber dazu, drei häßliche Großmütter: Storfotamôr (Großzehe), Storgumpamôr (Breitgeſäß) und Stortumamôr (Großdaumen) helfen dem gefangenen Mädchen ſpinnen und weben. Cavallius und Stephens, ſchwediſche Sag. (ed. Oberleitner) No. 11, S. 215. In der Tiroler-Sage (Wolf, Zeitſchr. f. Mythol. 1, 10) iſt's eine Kröte, die dem armen Hanſel die Flachsreiſte, ſein einziges Hab und Gut, zum allerſchönſten Gewebe verſpinnt, ihn damit zum Traualtar gehen läßt, da aber zur blühenden Jungfrau entzaubert ſein Weib wird. Handelt ſich's vom Marienſommer, ſo ſpinnen drei Nornen, oder drei Mareien (aargau. Kindſpr. No. 274) jenen langen Glücksfaden, der die ganze Heimat ſchirmend umſpannt:

Es isch e lange Fade,
Er langet bis go Bade,
Vo Bade bis zum Hauestei,
Vo Hauestei bis wiedrum hei.

Dieſe Grenze der Heimat läuft hier von der aargauiſchen Grafſchaft Baden bis zum Hauenſtein (petra pertusa), der alten Grenzmarke in der gleichnamigen Grafſchaft am Schwarzwälder-Rheinufer.

23) Chudermandli in Veltheim. Mone, Anzeig. 1835, 312 erzählt vom Schwarzen Männlein, das mit einer Truhe gekauft worden, ſodann, ſeit dieſe geöffnet worden, herausgewiſcht und nun nicht mehr hinter dem Ofen vorzubringen iſt. Gleicherweiſe wird in Kuhns nordd. Sag. die Flachsjungfer und Flachskröte ins Haus geſchafft. Denn Chuder iſt Flachs und Werg. Das Kutterweible bei Tettnang iſt ein ſpukendes Weib, welches Flachs- und Hanfabfall unter dem Arme ſchleppt; dagegen iſt die Kutterappel (Windappolonia) ein ſpukendes Waldweib, welches chuttet, d. i. Windgetöſe macht, vgl. E. Meier, ſchwäb. Sag. No. 39. 40. Wer einen Kobold im Hauſe hat, darf ſich nicht kämmen, ſagt der Aberglaube; Sommer, thüring. Sag. S. 171; denn auch der Zwerg iſt von verfilztem Haar oder weichſelzöpfig, und jeden ſo behaarten nennt man deshalb Retzel (garidan tortus. Vocab. S. Galli.), dies iſt mundartlich ein Chuderhaar und Heuelhaar. Solches Struppхaar zeigen die Erdweibchen in No. 4. 12; nach ihm hat der Teufel den Namen Kraußhärlin, Cincinnatulus, bei Philo Magiologia S. 494. Weitere Zeugniſſe: Mythol. 433.

24) Herdmännlistein bei Wohlen. In vielen aargauiſchen Dörfern gelten einzelne Feldſteine, Burgfelſen, Bergwände rings im Ge-

Digitized by Google

meindebann als sogenannte Titisteine, unter denen die Hebamme die Neugebornen (Titi) hervorholt. Ist der Name des gewaltigen Berges Titlis nicht etwa rhätischer Abkunft, so wäre dieses Gebirg wohl der allergrößte unserer Kleinkindersteine und der ganze Titisee im Schwarzwalde ein Kleinkinderbrunnen. Dies sind die Geburtsfelsen des Zwergengeschlechtes, aus dessen Ueberschuß an Kinderseelen sich das Menschengeschlecht ergänzt. Vgl. aargau. Sag.: Schlüsseljungfrau zu Tegerfelden; No. 167, und Kleinkindersteine, No. 77. Im Südwesten Deutschlands wohnen die Wildweibchen im Walde unter Felsblöcken, der Wilden Frauen Haus oder Gestühl genannt. Wolf, Götterlehre 60. In Gestalt eines Steines kommt die große Göttermutter den Tiber aufwärts nach Rom gefahren; auf Mühlsteinen überschwimmen unsere bekehrenden Heiligen die hemmenden Ströme des Barbarenlandes (pag. 13). Die Sachsensage läßt den ersten König Askanes beim Harzfelsen hervorwachsen und die Völuspâ nennt die Zwerge die aus den Steinen der Berge Gestiegenen; von steinernen Broden sogar redet die Legende. In diese Felsen zurück fliehet das vom Unglauben der Menschen geschmähte Zwergenvolk (i die Kræche händ se so verschlosse, tief i d'Geissfluch hindere, No. 2); auf den Fels der Teufelskanzel verlangt der Lindegiger selbst ausgesetzt zu werden, da man ihn nicht länger im Hause duldet, No. 39. König Etzel verschliest sich in die Steinwände, Klage, V. 2169. Im Arensteine schlafen die drei Tellen, im hohlen Berge Karl und Barbarossa. Selber ganze Felsenreihen und Gebirgsstöcke nennt man die Männer, und eigene Sagen und Volksbräuche knüpfen sich an sie. Nicht nur nennt der Aelpler die aufgethürmten Steinkegel, die im Schneefeld der Alpenpässe dem Wanderer die Wegerichtung angeben sollen, Mandli (vgl. pag. 73), sondern sogar das Gebirge der Tête blanche am Walliser-Weißhorn, über 11,000 Fuß hoch, heißt dem Deutsch-Walliser „z'Mannje", zum Männlein. Ein Fels in einer Matte zu Grion, zwischen Sitten und Ber, der erst jüngst gesprengt worden ist, heißt der Wildmannsstein, la Pierre du Sauvage. Escher, die Schweiz 1851, 379. Die Dame du Lac, ein Felsenriff hinter Bauveret bei Vevey am Genfersee, ist durch J. J. Rousseau's Beschreibung berühmt geworden; er schildert es als eine mit Hut und Sack über das Gebirg eilende Frau. Ein Felsenvorsprung am Roselauigletscher mit menschlichem Profil heißt Gletscherwächter; im Glarnerlande nennt man die Felsen, welche sich menschlichen oder thierischen Körperverhältnissen vergleichen lassen, schlechtweg Elmer, d. h. die grauen und die elben. Einzelne solcher Felsen müßen herkömmlich bestiegen werden, um zu bestimmten Zeiten droben zu spinnen, zu tanzen, Feuer anzuzünden, zu kochen; andere müßen zur Heilung von Körperleiden bekrochen werden, vgl. No. 477. Mit solcherlei Felsen hängt auch der Zwergenname Schratt, Schratz und Schrätteli zusammen. Der Bohrer Rati, mit welchem Odhinn sich den Weg durchs Hnitgebirge bohrt, und das auf der Welt-Esche wohnende Eichhorn Ratatöskr leitet nach Grimm (Myth. 756. 856) ab von goth. vraton permeare, terebrare. Der Schratt ist der die Felsen durchbohrende Erdgeist, und daher stammen die vielen gleichnamigen Schrattenfluhen der Schweiz, deren sagenberühmteste diejenige im Luzerner-Entlebuch sein wird, in welche alle verwünschten Geister hinein beschworen werden. „Dört am Schatte dur dä Schratte geits dä Rung uf Bänis-Egg;" singt Kuhns Gelsenreihen, Alpenrosen 1820, 234. Ein Schrattweg auch in Niederhessen: Mythol. 447.

Digitized by Google

Bei Paracelsus habe ich gelesen, aber mir die Stelle nicht angemerkt, den Erdmännlein, die im Innern unseres Planeten wohnen, seien die Felsen und Erdwände „ein Nichts, nämlich ein Chaos, durch welches sie unaufgehalten hindurch zu gehen vermöchten." Dadurch ist das Labyrinthische der Schrattenfelder zutreffend bezeichnet. Schrattenwände, Schrattenriffe, -löcher, -felder nennt man in den Alpen die großartig gefurchten Felsverwitterungen der meilenweiten Karrenfelder, die sich in der obersten Höhe der Gebirgswelt als wasserlose brennend heiße Steinwüsten vorfinden. Sie bestehen aus hunderttausenden von Felsen, welche in Form von gigantischen Rinnen, Hohlkehlen, Pfeifenreihen, von Scheiben, Schwertern und Lanzen zum Himmel starren, während eine ebenso zahllose Trichter- und Löchermasse ihre Flächen durchgittert. Stellenweise sehen sie riesenhaften Honigzellen gleich, und der Hirte nennt sie daher auch Steinwaben. Das Gletschereis und Schneewasser, Verwitterung durch Sonne und Frost, Sturm und Erdbeben zusammen bringt diese zerstörten und verdrehten Formen hervor. Hirzel in seinen Alpenwanderungen beschreibt die Karrenfläche des Räderstockes im Kanton Schwyz, und die Kupfertafel des Zürch. Neujahrsbl. der Naturforsch. Gesellsch. 1840 giebt eine Abbildung dazu. Ein bayrisches Geschlecht v. J. 1272 Witigo de Nât-scharat (Nachtschratt) verzeichnen die Mon. Boic. tom. 29, pag. 504. — pilosi, incubi, monstri, i. e. mæræ, scrazza: St. Galler-Glosse des X. Jahrh. in Hattemers Denkmal 1, 243. Schrätzel heißt ein Donaufisch, weil er sich vorzugsweise unter den Felslöchern aufhält. Panzer, bayr. Sag. 1, 111, No. 133. „Das Aertzele, ein wunderschön, hurtig und lustig Fischlein." J. L. Cysat, Beschreib. des Vierwaldst.-Sees 1661, pag. 93. Rettele ist Name eines Dämons. Meier, schwäb. Sag. pag. 173. Die Rätzellöcher im Bern.-Oberlande gelten als Zwergenwohnungen und der Rätzliberg im Bern.-Lenkthale hat seine örtlichen Zwergensagen: Alpenrosf. Jahrg. 13, 192. Das Straßburger-Stadtthier, das sich in einen silberen Schwanz endigt, heißt Rätzel. Stöber, elsäß. Sag. No. 214. Rätzel und Haarhammel nennt man in Elsaß, Schweiz und Bayern Leute mit aneinander stoßenden buschigen Augenbrauen (Göthe, Wahrh. u. Dicht. 25, 228.), man schreibt ihnen Geistersichtigkeit zu: Panzer, ibid. 1, 130, 134; die zauberische Wirkung ihres Blickes ist in Westfalen das Entsehen genannt: Wöste in vdHagens Germania 9, 286 No. 10. Wickram in der Erneuung der Metamorph. des Albrecht von Halberstadt redet von schletzen vnd zwergen, Haupt, Ztschr. 8, 412. Schratz ist im Rothwelsch Name des kleinen Kindes. Anton, Wb. der Gaunersprache, Magdeburg 1843 pag. 62. Die kleinen Kinder, und der Ort, wo sie von den Zwergen in den Felslöchern aufbewahrt werden, heißen schweiz. Chrügeli, Chrügelnägeli, No. 5a, man sucht darin die Bedeutung von geringeltvoll, fruchtschwer behangen; richtiger wird man dabei an die schrundige Wand der Kalk- und Nagelfluhfelsen zu denken haben, und darnach ist kraekeli faltig und runzelig in ditmarschener Mundart. Claus Groth, Quickborn. Hamburg 53, pag. 273. Krügel heißt uns jede krüppelige Pflanze und Person, alter Krügel der altershrumme Greis, Krügeli, das Kind, welches wärmesuchend mit emporgezogenen Beinen im Bette liegt. Stalder, 2, 137. So ist Nörgeli ein kretinenhaftes Kind, Nörgel der Name des Elbs, von dem das Besessensein der Kinder herrührt, als dessen Folge eben der Cretinismus angesehen wird.

Digitized by Google

Nicht zufällig ist der Nebenzug der Erzählung, wornach die unter dem Felsblock versteckten Knaben grün gekleidet und in Laubeinkleidung hervorkommen müßen. Das Berner-Volk nennt die Zwerge Grüne Männchen und läßt sie ebenso im Walde unter erratischen Steinblöcken wohnen. Jahn, Kant. Bern S. 89. Auch dem Iren heißen sie schlechtweg die Grünen, und in Moos gekleidet sind sie: Grimm, DS. 1, 48. Noch immer kleidet man den Wilden Mann bei den Fasnachtzügen und am Pfingstfeste in Laub und Moos. Grün ist der Zwerge Geburtsgürtel, Panzer, bayr. Sag. 1, No. 19. 88; grün das Röckchen, in welchem der von dem Waldweibchen entführte Hirtenknabe einherkommt, J. W. Wolf, Götterlehre S. 61. Grünhändig sind die Hauskobolde Rothmützchen. Wolf, ndl. Sag. No. 474. Unser Rainhaldenjoggeli kommt als grüner Mann, No. 27. Der Stiefelireiter wohnt im Walde Maiengrün, No. 33. Eine grüne Tanne führt der Geißler als Spazierstock, No. 47. Grüne Röcklein haben die Pilatusmännchen, No. 50. Darum geht der Zwergenname aus den Benennungen der Feldsteine in die Namen der Blumenwelt über. Die Hermännchen (Kamille, matricaria) sind verwunschene Soldaten. Schmalfuß, die Deutschen in Böhmen, Prag 51, S. 102. Titti und Dittiblak ist aargau. arum maculatum; man erklärt sich den Namen daraus, daß diese Blume eingewickelt liege in ihre Blätter, wie ein Kind (Titti) in seine Windeln. Allein die Pflanze gehört zu jenen Hermännli- und Titisteinen, sie wird als Schutzmittel gegen Toggeli und Gespenst unter Hausschwelle und Wiege gelegt; und in Kuchen gebacken, den man Aronedotsch nennt, ist sie das wirksamste Mittel gegen unreines Geblüt. Ueber die grüne Tracht der Geister ist gehandelt pag. 213.

25) Tanzplätze. Tanzende Zwerge bedingen musikkundige, dies beweist am schlagendsten der Lindegiger am Ruckfelde No. 39, welcher so ergreifend geigt, daß sich der Würelinger Bauer besinnungslos tanzt und darauf der beste Tänzer im Lande wird. Soll aber sonst Religiöses verhandelt werden, so läßt dieser Kobold in demselben Zimmer eine lärmende Spieluhr los. Die Waldweiber unserer No. 8 singen so schön, daß darüber die Waldthiere schweigen; ein Zug, der an den Sänger Horant im Gudrunliede gemahnt. In No. 15 reden die Waldfrauen, als ob Wachteln schlügen. Ein Zwerg am freiburgischen Sennberge Cousinber erscheint stets mit einer Geige und heißt daher das Spielmännlein. Küenlin, Alpenblum. (Sursee 34.) S. 97. So schlägt auch der schwedische Stromkarl die Harfe, Mythol. 461, und in den irisch. Elfenm. 199 ist sogar die Melodie eines solchen Elbenliedes aufgezeichnet. Im 16. Jahrh. galt in der Schweiz der Glaube, daß die Seelen auf freiem Felde die Harfe schlügen zur Erheiterung der Lebenden. Kas. Pfyffer, Gesch. v. Luzern 1, 320. Ueber die bezaubernde Musik der Wachletä-Jungfrauen, der selbst kleine Kinder blindlings folgen müßen, ist die Rede No. 25, 40. Bezaubernde Sänger läßt das schwed. Lied die Rinde vom Baum, die Hindin aus dem Wald, das Kind aus der Mutter, und das Auge aus dem Nacken spielen. Myth. 1039.

Ferner geht ein deutscher Tanzspruch durch alle Landstriche und Stände: Auf'm Bergel tanzt e Zwergel u. s. w. Die Mutter bezieht ihn auf ihr stolperndes Kind: „Ei, du mei's Büebli, tanz dir d'Füessli nit ab!“ Der Zunftspott wendet ihn auf den Schneider: „da tanzen zwei Schneider

um e Wasserboutell"; — oder auf den Pfarrer: „mit seiner Mamsell"; oder auf den Einsiedler, welcher, so oft der Gugguk schreit, mittanzet „bis ehm d'Chutte verheit". Es ist dies ursprünglich ein Lied vom Elbentanze und solchen Inhaltes, wie es in Grimm's altdän. Heldenl. „Elfenhöh" enthalten, oder in J. Wiers Werk de præstig. dæmon. cap. 16 vom Bunten Pfeifer zu Hameln erzählt, sodann von Göthe im Gedicht Rattenfänger, und als neues Tanzmärchen im Volkstone von Fr. Rückert bedichtet ist „Der Spielmann" Gesam. Gedichte 1, 489. Alles, Lebendes und Todtes, muß dem Reize dieser Tanzweise folgen und mit in dem Reihen fortwirbeln. Daher kommt selbst die Strafe des Todttanzens im Sneewittchen und in der dänischen Sage vor: Grimm, KM. 3, 93. Der Todtentanz, sonst ein häufiges Wandbild in deutschen Städten, jetzt noch eine Göthesche Ballade, ist ein Uebergang davon, so auch der Pesttanz. Das Landschloß Tanzenberg bei Luzern hat eine alte Tanzsage, welche Joh. Leop. Cysat, Beschr. des Vierwaldstätter-Sees 1659, S. 208 berührt. Die erblassende Sage überträgt sich auf die Heren, welche am 1. Mai den Schnee vom Blocksberg und vom Pilatusberge wegtanzen müßen. Cyriac. Spangenberg im Ehespiegel (Nürnb. 1578) erklärt 285: In der alten papistischen Postilla Sermones discipuli stehet: „es sey eyn sonderlicher Teuffel, Schick den Tantz genannt, der alle Täntze anrichte." Ein bayr. und mitteldeutsches Geschlecht des Namens Schickendanz ist bekannt; ein zürcherisches heißt Dentzler. Es sind die von der Tanzwuth mit hingerissenen Zuschauer, wie von ihnen die schwed. Sag. erzählt. Myth. 1009. Die dunkelfarbigen Graskreise in den Wiesen nennt der Schwede ælfdands, wie schon der alte J. H. Voß bemerkt, Lyrische Gedichte, Bd. 2, Anmerkungen. Scheuchzer, Schweizerlands Naturgesch. 1, 462: von den runden verbrannten Creisen im Grase haltet man in unsren Landen gmeinlich dafür: das seyen der Heren und Herenmeister, oder auch kleiner Fro-Teufeln und Bergmännlein Danzplätze. Dieselben Anschauungen reden Jahrhunderte früher in Albrechts von Halberstadt deutschen Metamorphosen; er kennt der Elbinnen fröhliches Kichern beim Waldtanze und im thauigen Gras um einen geheiligten Baum: (nach J. Grimms Tertbesserung in Haupts Zeitschr. 8, 408.)

wan dirre boum heilec was,
bî dem man die waltfrouwen
dicke hat hœren lachen,
ir wilde getemere machen,
singen ir wîse süeze,
man spürte im tou ihr füeze:
wîlen in eins ringes schranc
sungens zesamen ir gesanc.

Der Eddische Zwergenname Haugspori bezeichnet einen solchen über das Gras im Schweben hinstreifenden Tänzer: Mythol. 439; und Dauschlöper ist der nordd. Namen des Siegers beim Pfingst-Wettritt: Kuhn, nordd. Sag. 379, 53. Der Reichthum an landwirthschaftlichen Lokalnamen, die auf diesen Geistertanz hindeuten, ist groß, so in E. Meiers schwäb. Sag. No. 81. Im Bern.-Oberlande nennt man solche Plätze vermeintl. Geisterzusammenkunft: Dorfettänze, Twirgi, Twergis, Simmeler (sinwel, Rundplätze). Jahn, Kant. Bern, S. 339. „Ein simeler Umfang, auf Niederfeld im Grindelwald gelegen, wird Herentanz geheißen" R. Wyß, Reisen

Digitized by Google

im Bern.-Oberl. 2, 612. Die hier in unserer Sammlung genannten Tanzorte in Wald und Wiese sind entschieden heidnischer Abkunft; denn auch noch in später Zeit hat sich auf ihnen das Volk heimlich versammelt. Das Chorgericht des aarg. Dorfes Kirchberg schickte im Sommer 1695 jeden Sonntag den Ortsweibel mit zwei Geschworenen nach Beendigung der Kinderlehre ins Holz, um dorten die Tänzer fangen zu lassen und den Spielleuten die Instrumente an den Waldbäumen zu zerschlagen. Melch. Schuler, Sitten u. That. der Eidgenoss. 3, 365. Ein Zürcher Landmandat v. J. 1631 verbot „ernstlich alles Tanzen bei Nacht in den Wäldern"; aber noch i. J. 1718 muß dasselbe wieder neu eingeschärft werden. Hanbart, Schweiz. Gesch. 4, 362.

Manche Sagenzüge, Kinderreime, Brodgebäcke, endlich auch Ausgrabungen geben Aufschluß über Aussehen und Gestalt dieser tanzlustigen Zwerge. Man dachte sie sich als eine durch Hut und Mantel tief verhüllte Figur, und in solcher Weise macht man auch heute noch Kapuziner- und Nonnenfigürchen aus Pappe und stellt sie als Barometer vors Fenster; oder man schnitzte Figürchen mit verzerrter Grimasse und ausgereckter Zunge, wie man sie als Hampelmännchen, Riechfläschchen und Lichtlöscher auf die Tische stellt, sie als Nußknacker und Papierfalzer, als Thürgriff und Stockknopf braucht. Die Hausgötter waren Schnitzbilder, an sie erinnert noch manche Redensart. Es wäre nicht leicht ein Herrgott aus ihm zu schnitzeln, sagt das Landvolk von einem dummen Jungen; non ex quovis ligno fit Mercurius. So redet auch Luther im Sermon, die Kinder zur Schul zu halten, vom wohlgerathenen Kinde als einem feinen Hölzlein, daraus sich der liebe Gott einst einen Herrn schnitzeln werde. Technischer Name der nord. Götterbilder war skurdgodh, von skera sculpere, skurd sculptura. Myth. 102. Der berühmte Abt Trithemius, aus Trittheim an der Mosel, schnitzte sich aus Holz eine Dienerin, die ihm alle Hausarbeiten that. Moselsage in Wolfs Ztschr. 1, 189. Mühlgötze heißt ein altes Schnitzbild in der Obermühle zu Plauen, das ehemals oft ins Wasser geworfen worden ist, nun aber nicht mehr von seiner Stelle gerückt werden darf. Die Braut von Kynast ist ein stachlichtes Holzbild, welches den Reisenden zum Küssen vorgewiesen wird, damit sie sich durch ein Trinkgeld davon auslösen. Bechstein, DSagb. No. 564, 637. Klevesaal (Klauszagel), des Schimmelreiters Bediente, hat sein Holzbild im Klosteramte Ihleseld, und obschon die Mägde ihren Spaß damit treiben, darf man es ohne Gefahr für das Amt dorten nicht entfernen. Pröhle, Harzsag. 1854, pag. 226. Das Zwerglein Werweiß wird vom jagenden Grafen im Walde betroffen und als Wildmännlein eingefangen. Es war so nett, daß man einen Glaskasten über dasselbe machen ließ und es auf den Schrank stellte. Zingerle, Tirol. Märch. 1, pag. 169. Alles dies entspricht dem bei Saxo Gramm. 327. erwähnten simulacrum quercu factum. Myth. 104. Hau die Liese mit ihrer langen Nase aus, sagen sich die Unterirdischen, als sie des Bauern Weib aus dem Wochenbette stehlen und ein Holzbild an die Stelle legen wollen. Müllenhoff, Schlesw.-Holst. Sag. No. 423, pag. 311. Bis zum J. 1786 war es in Leipzig Sitte am Johannis-Hospital ein kleines hölzernes, schöngeputztes Männchen auszustellen, neben dem eine Vase mit Blumen stand. Dies war das Johannismännchen. Man betrachtete es als das Palladium der Stadt, das Seuchen, Feuerschaden und Blitzschlag ab-

Digitized by Google

halte. Im genannten Jahre verbot der Stadtrath die Ausstellung dieser Puppe, nun wallfahrtete das Volk, anstatt zum Spital, zum Gesundbrunnen am Thonberge. Gräße, sächs. Sagensch. No. 392. Das Palladium des Rittergutes Oberforchheim an der Straße von Freiberg war eine hölzerne, stark vergoldete Statue, die auf dem Oberboden in einem alten Sessel lag, welcher der Frau Mutter Stuhl hieß. Als man es vom Platz rückte, brannte das Schloß ab und alle Bemühung, wenigstens noch das Schnitzbild zu retten, war vergebens. ibid. No. 455. Dieser geschnitzte Gott heißt bald der Pfaffe, bald der Niggel und Joggel. Man redet in der Schweiz, um etwas Unmögliches und Verkehrtes zu bezeichnen „vom buchsbäumige Pfaffen und fim hagebuechige Sigriste, vom hölzige Pfarer und fim Chuster", eine Phrase, welche auch ndd. gilt (Grimm, KM. 3, 230) und ein sehr hohes Alter hat. Von einem papa salignus weiß schon Reinh. Fuchs XCIV.; vom hölzernen Bischof dichtet der Misnære. Das Lügenmärchen von den 18 Wachteln sagt: ein eichîn pfaffe, daz ist wâr, ein büechin messe singet, dieselbe Phrase setzt sich in der Volkspoesie fort und ist noch im Groß. Rosengarten und im Sempacher Schlachtliede (Wackernagel, Lsb. 1, 799, V. 13; 922, V. 1 — 7) poetisch wirksam. Nach Germanenglauben kommt das Menschengeschlecht aus den Waldbäumen, wie wir einen ungeschlachten Menschen einen hölzernen nennen. Vom Nußbaum und vom Dolder heruntergefallen, aus den Stauden geschlagen, vom Eid an die Weißtanne gemacht sein, gilt schweizerisch vom Menschen ungewisser oder schlechter Abkunft. Aehnliche Abkunftsformeln bei Schmeller, Wb. 3, 524. Havamal giebt trêmönnum übersetzt mit hominibus ligneis, Haupt, Ztschr. 3, 402, weil der Wald die Wiege des Germanenvolkes ist, wie man im Weihnachtsmärchen die neugebornen Kinder von den Bäumen schüttelt. So giebt es hölzerne Frauen; eine solche ist die Wasserbütte, die eine hölzerne Jüppe trägt, und das Weinfaß: Aargauer Kinderspr., Räthsel, No. 470, 471. So giebt es auch einen hölzernen Gemahl; er wird folgendermaßen beschrieben:

Du Lügenschelm, du Freismann,
Ich will dich nun beschenken:
Von Tannenholz das Leibstück,
Von Fichtenholz die Aermel,
Von Birkenholz den Kragen,
Von Weidenholz das Kopfband.

Nesselmann, Littauische Volksl. 1853, No. 93. Soll an diesen Figuren zugleich die Tanzlust der Elbe mit ausgedrückt sein, so heißen sie Niggel. Hannickel ist der zum Pfahlspiele aus dem Hag gezogene Pfahl, Feuernickel derjenige mit angebrannter Spitze (Stiefel), mit dem man im Pickelspiele des Gegners Pfahl aus dem Wiesgrunde wirbelnd heraushaut und zugleich den eignen fest einhaut. Pumpernickel, Daumennickel, Biernickel, sind Zwergennamen, die ursprünglich die kreisende Bewegung des Tänzers ausdrücken, dann Namen für klotziges Brodgebäcke, endlich Schimpfnamen geworden sind. Der Rueder Schloßniggel wirft alle Tänzer um, No. 29. Purzinigele heißt das drei Schuh lange Waldnörgelein: Zingerle, Tirol. Märchen 1, 225; niggeln bedeutet im Rothwelsch tanzen; Gauner- und Bettelwesen in Schwaben. Stuttg. 1793, pag. 291. Von einem in Trunkenheit Hinschwankenden sagt man in Silstedt, der ist ein Nickelmann.

Digitized by Google

Pröhle, Unterharz. Sag. No. 253. Nicus ist unser Name für Glühwein (pag. 11). Von der Opferspeise her, die man dem aus Buchsholz geschnitzten Hausgötzen vorsetzte, nennt ein Volkslied aus dem Eichsfelde (Wolf, Ztschr. 1, 83) das Kirmesbrod gleichfalls Buchsbild. Auch aus Leder wird man solche Figürchen verfertigt und bunt bemalt haben, dahin deutet die schwäb. Sag. bei Meier No. 63: das Lederne Männchen, welches das Echo hervorbringe, sei ein Zwerg und werde angebetet. Rothe Strümpfe einem anlegen, ist eine Phrase, welche einem mittelst des Stockes geschwinde Füße zu machen droht; sie entspricht den rothen Strümpfen und Schuhen des Zwergs. Ueber die Lederne Frau vgl. aarg. Sag. Abthl. IX. No. 407, über die Ledernen Brücken ebenda Abthl. X. No. 428. Der Aargauer Kinderspruch reimt über solchen Tanzhabit:

Wenn einer tannig Hose het
Und hagebuechig Strümpf,
So chan er tanze, wie-n-er will,
Es git em keini Rümpf.
Oepfelbäumig Hose und zentnerige Strümpf
Traget die Matrose, drum hent se keine Rümpf.

Auch aus Metall wurden solcherlei Bildchen gegossen und geschmiedet. Die Redensart, mit der man den Fopper abweist, lautet: „wenn d'en Nar will ha, so la dir en isige mache“. Ein solches eisernes Hausgötzchen verwahrt man noch in der Abtei Rheinau, Kant. Zürich, und Mone, Gesch. d. Heidenth. giebt eine Abbildung davon. Ein nordd. Kinderspr. auf die Kornmutter läßt auf die gleiche Eisengestalt der Zwergin und Unholdin schließen, er lautet bei Kuhn, nordd. Sag. pag. 429:

Frau Anne-Marlene Ittchen,
mit ihren eisernen Tittchen.

Noch weiter führen die verschiedenen eisernen Götzen und Votivbilder, deren Auffindung Panzern, bayr. Sag. 2, 390 geglückt ist; es sind rohgegossene Büsten, jede von nahezu drei Zentner, und entsprechen nach Verwendung und Namen ganz jenen mächtigen Holzklötzen, welche das Appenzellervolk am Blochtage (Rüsch, Kant. Appenz. pag. 112) und das bayr. Landvolk am St. Lienhardstage prozessionsweise von einem Dorf ins andere schleppt und ins Wasser wirft. Schmeller, Wb. 2, 473. Ein ähnlicher Metallklumpen von der Größe eines Pferdekopfes wird auch im Rathhause zu Ellenbogen hergezeigt, man nennt ihn den verwünschten Burggrafen, und hat ihn früher ebenfalls mehrfach in den Schloßbrunnen geworfen. Bechstein, DSagb. No. 669. Dr. Ferd. Keller zu Zürich arbeitet an einer Schrift über ein halb Hundert heidnischer von ihm aufgefundener Idole und Götzenfigürchen.

Solcherlei Figuren müßen die Germanen schon zur Zeit ihrer Wanderung im Brauche gehabt und Affen genannt haben, denn schon damals wurde dem Stamme der Gepiden dieser Spitzname beigelegt und aus dem Volksnamen selber abgeleitet. nam lingua eorum pigra „gepanta“ dicitur; hinc factum est, ut paulatim et corrupte nomen eis ex convitio nasceretur. Jornand. cap. 17. Gepiden seien nämlich sagt Jornandes, bei dem gemeinsamen Auszuge der Germanen aus Scanzia mit ihrem einen Schiffe all zu langsam der jenseitigen Küste zugefahren und aus dieser Verspätung sei ihnen der Spottname der Gaffenden, der Maulaffen erwachsen. Grimm,

Digitized by Google

Myth. 831 weist nach, wie das Heerschiff der Gepiden Gepanta geheißen habe, nach jenem gähnenden Schnitzbilde, das es als Schiffshaupt führte. Dieses aber mußte, sobald man sich dem Lande näherte, abgenommen werden, damit man nicht des Landes Schutzgeister damit erschrecke. Das langsame Steuern der überfahrenden Gepiden und das Nichtabnehmen ihres aufgepflanzten Schiffshauptes ist also nach Jornandes Sage namengebend für dieses Volk geworden, die Gepiden wurden zu Geipanden (goth. geipan, tardare, altn. geipa, hiare. Grimm, GDS. 463. Im altn. gapa, gaffen, Skr. kapi simius, hat sich die in altn. api Affe weggefallene Gutturalis erhalten. Grimm, Wb. 1, 182). Und so meint denn Jornandes von ihnen: sunt enim tardioris ingenii, graviores corporum velocitate — also eben dasselbe, was das Volksl. bei Uhland 2, pag. 754 vom Ungeschick des Verliebten sagt „Ich gin und gaff und bin ihr Aff." Wie vielerlei Brodnamen, Speisenamen und städtische Wahrzeichen sich auf dieses affenhafte Aussehen der Zwerge beziehen, ist ausgeführt in Oberdeutsches Gebildbrod, No. 5 Gerissenbrod und Brodaffen No. 6: das Schlaraffenland.

Der Volksglaube um Pforzheim im Badischen behauptete im vorigen Jahrhundert schon und mit einer Theilnahme, die außerdem dem deutschen Bauern nicht eigen sein kann, es seien die Affen von Gott verwünschte Menschen. Journal v. u. f. Deutschl. 1787, 341. So nennt Wier De præstig. dæmon. Frkf. 1586, den Teufel einen Affen Gottes, und Fischart ihn den Stiefgott (Aller Praktik Großmutter). Diese Benennungen weisen auf des Teufels Fall und auf die Verwünschtheit des Affengeschlechts hin. So jagt Filimer, der Gothenkönig, die Aliorunen in die Wildniß, bis sie sich da mit den Waldmännern vermischen und das (halbthierische) Volk der Hunnen erzeugen. Jornandes 24. Der Bauer, der die Zwerge aus seinem Hause verscheucht, ruft ihnen ebenso nach: Flieh, flieh nach Araffenland. Meier, schwäb. Sag. No. 64, 6. Cyklopenhaft ist ihre Geburt, cyklopenhaft ihr Untergang. Ein Spruch von Hans Folz, von wannen die affen komen, Haupt, Ztschr. 8, 537 läßt St. Peter und den Heiland bei einem Schmiede übernachten und da auf ein altes verrunzeltes Männlein stoßen. Als sie um die Verjüngung desselben gebeten werden, wird es in die Schmied-Esse gelegt, in den Löschtrog gesteckt und als ein zwanzigjähriger Jüngling wieder herausgehoben. Nun will der Schmied ebendasselbe an seiner alten zanksüchtigen Schwiegermutter versuchen, doch diese wird darüber zum maulrümpfigen, kumpfnasigen Affen. Und da Schmiedsfrau und Schwägerin bei dieser mißglückenden Umgeburt mit unbezähmbarem Fürwitz zugeschaut haben und gerade allbeide schwanger gehen, so versehen sie sich und kommen nun mit Affen nieder, die man später von den Menschen hinweg in die Wälder treiben mußte. Dies erinnert an die Vertreibung der Riesen in der abd. Weltchronik (Wackernagel, Lesb. 1, 181) nu havit si got van uns virtribin hinnân in daz gewelde hienhalf Jndiâ. Dies ist auch das Schicksal des Wilden Mannes, des humm sulvady in Bünden; ihnen mißt man trotz ihrer Schmiedekunst nur drei Fuß Größe und ihrem Weibchen der Fenka eine noch geringere bei. Neue Schweiz.-Bl. 1850, Heft 1. Sie sind im Engadiner Berninathale durch die vordringenden Gletscher verschüttet, und man hat zu Samaden bis zur Reformationszeit für die unter dem Rossedigletscher Begrabenen noch die Seelenmesse gelesen, la messa di Rossedi. So lange also war

Digitized by Google

diesen Wilden Männern, verwünschten Affen und Gletscherzwergen eine kirchliche Verehrung eigen.

26) Der Kinzhaldenjoggeli. Es wird hier eine Zwergenhöhle erwähnt, welche von der Schweizer-Rheinseite durch das Strombette unterirdisch auf die jenseitige Badische hinüber führe und erst droben im Gebirge des Schwarzwaldes münde. Schon in No. 1 wird ähnlich behauptet, der Höhlengang der Zwerge führe von dem einen Juraberge im Innern des Gebirges fort zu einem andern stundenweit entfernten. Dies erinnert an die Stelle der ahd. Weltchronik (W. Wackernagel, Lesb. 1, 186) über die Weinleitungen, die von der Stadt Trier aus, unter dem Rheine hinweg, nach der Stadt Köln geführt worden sein sollen:

dannin man unter dir erdin
den wîn santi verri
mit steinin rinnin
den herrin al ci minnin,
die ci Kolne wârin sedilhaft.

Daß auch diese von der Weltchronik gemeinten unterirdisch angelegten Weinrinnen sich schon auf ältere Zwergensagen stützen, ergiebt die in Grimms Elfenm. CXI. angezogene Stelle aus dem Monachus Sangallens, der 885 starb; wornach ein Hauskobold den Wein aus dem Keller eines Erzbischofs so lange in den eines Schmiedes hinüberfließen läßt, als dieser ihm mit Hammer und Ambos in der Werkstätte zu spielen vergönnt.

So haben, wie in dieser tausendjährigen Sage, heute noch die Aargauer Zwerge No. 13 ihren Weinkeller, wohnen vielfach in Weinbergen, säumen den Rothwein fässerweise aus Italien her über das Gebirge, No. 45, und der zwergenhafte Lindengiger wird, nachdem er lange mit Schuhnägeln gehandelt hat, ein Weinwirth, welcher noch als Geist die Fässer im Keller reiten muß. No. 39. So leihen auch die Hollen bei Velmede an der Ruhr den Leuten ihre Braupfanne zum Biersieden (A. Kuhn in vdHagens Germania 9, 99), die Feensmännel leihen die ihrige der Stadt Ostritz, die Berggeister auf dem Stromberge ebenso den Weißenbergern. Dafür hat man mit der Braupfanne eine Danksemmel zurückzubringen. Gräße, sächs. Sagensch. No. 706 pag. 532. Da der Bierbrauer zu Wollin in seinem Brauhause einen Brunnen gräbt, stößt er darüber im Grunde auf einen Schornstein, der zum Hause der Unterirdischen gehört. Ndd. Sag. in vdHagens Germania 5, 247. Eine Reihe von Traubensorten und Rebarten verzeichnet Speners Botanik, Freiburg 1834, die am Oberrhein die Namen dieser Zwerge tragen, insoferne letztere theils die geisenfüßigen Weinberghüter, theils die hier wohnenden rußigen Schmiede sind: „Schmiedstoffel, Morendutten (französ. Barbaroux geheißen, der Name von Ch. Corday's Geliebten), Geisdutten, Alben, Elbeln. Die Bedeutung von schweizerisch elb = gelb, und schwedisch alf, Kieserde, entgeht mir dabei keineswegs; allein die Zwerge heißen eben wegen ihrer Lichtfarbe Elbe. Wie hier eine Traubensorte auch Heinsch heißt, (oder sollte man lesen Heunsch? ahd. hûnisc drûbo, Graff, Sprachsch. 4, 960), so nennt man im Harz das bergmännische Oeffnen verschütteter Grubenwerke die Heinzenkunst. Spiecker, der Harz. S. 207. Der Zwerg bei Brackwede beschlägt die Räder, die ihm die Bauern in seine Höhle bringen. Firmenich 1. Unser Zwerg ist

Feuerarbeiter (No. 42, 43), hat seine eignen Oefen, Backsteinstuben (No. 26), in denen er schmiedet, besprochen in Anmerk. No. 2. Er schafft Kohlen aus dem Gebirge, No. 13, 15, 40. Die den Zwergen geweihten und für heilkräftig gehaltenen Belemniten nennt das Aargauer Landvolk ebenfalls Steinkohlen. Er verschenkt sie als Edelgestein und Gold: No. 1, 3, 10, 11. Er versteht sich auf Felsensprengen; No. 21. Er bringt Mondmilch aus Italien her, No. 36. Eine Mondmilchhöhle liegt auf dem Pilatusberge in der Gegend wo unsere No. 50 spielt, und wird nebst dem dortigen Tomililoch mit religiöser Scheu betrachtet. Die Höhle des schmiedenden Zwerges heißt Heidenschmiede, er selbst Erdschmiedli (Maier, schwäb. Sag. Vorrede XX. und 360). Erdschmiedli heißt auch der Holz- und Erdwurm; Panzer, bayer. Sag. 1, S. 257; Goldschmied alemannisch der Frühlingskäfer. Beide Thiere sind den Zwergen geweiht, werden um Käsebrod angerufen (ein Spruch in Simrocks Kindb. No. 316) und in einigen Sprüchen als Teufel „Gauch" hinweg gesegnet. So erscheinen die Zwerge gleich den griech. Kabiren als dienst- und kunstfertige Gehilfen des berühmten Helden und Kunstschmiedes Wieland, dessen Sage selbst noch an der Waylands Höhle in England lebt und durch W. Scotts Roman Kenilworth bekannter geworden ist. Als man unten in Vallorbes die Eisenhämmer errichtete, kamen die Feen aus ihrer doppelten Felsengrotte, der cava di Faie, herab und wärmten sich am Feuer. Sie verschwanden auf immer, als ein unbescheidener Arbeiter sie in ihrem Schlafe betrachtete. Vulliemin, Kant. Waat 2. Abthl. 2, pag. 199. Die Heidenmännchen in Ryken No. 43 sind Salinenleute und Salzsieder. Zwischen Schönholzerswil und Hagenwil im Thurgau ist eine Waldschlucht, das Heidenloch. Noch zu Menschengedenken sollen Zwerge diese Höhle bewohnt haben. Jährlich im Frühling zündet die Jugend drinnen nach Gewohnheit ein Feuer an. Kohlrusch, schweiz. Sagb. 1, 321.

Der Zeugschmied bedingt sprachlich einen Schuhschmied und Suppenschmied (Grimm, altd. Wäld. 1, 76); beides sind die Zwerge. Vom Schuhschmied handelt die Stiefelisage, Anmerk. No. 32. Als Suppenschmied und in Kochstracht erscheint der Zwerg in der Weintrotte, wobei ihm die Kochkelle burlesk am verkehrten Orte steckt, No. 22. Sie tragen anderwärts die dem Koche zustehende weiße Zipfelkappe, legen aber dabei ihre thierische Verkrüppelung nicht ganz ab und heißen dann Geis und Geiser, No. 47. So ruft sie auch das Aargauer Kind an, wenn es beim Umrühren der heiß aufgetragenen Suppe ungeduldig zuwarten soll. Vgl. aarg. Kinderspr. Abthl. IV. Tischzucht:

Thalemer-Geiss,
Mach mer d' Suppe nit ze heiss!

28) **Herdmännli von Mellikon.** Es ist ein gewesener Schloßschaffner, der sich in einen betrügerischen Kornhandel mit dem benachbarten Müller einläßt und mit einem Kornsack beladen darüber sich zu Tode fällt. Dies gemahnt an den Rueder-Schloßniggel No. 29, der ebenfalls einst im Schlosse Kernenmesser gewesen ist und nun noch immer den Kernenmetzen herum zu schleppen hat. In ähnlicher Weise wie diese Sagen deutet der aarg. Spielspr. Abthl. I. Fingersprache, auf den segenbringenden Einfluß der Zwerge hin und läßt sie als Müller auftreten. Als solche tragen sie einen

Digitized by Google

Götterhut, auf dessen ungeheurer Krempe fünfundzwanzig Mann Platz haben; bleiben sie aus dem Orte weg, so kommt an ihrer Stelle der Hunger ins Land. Ihre Mühlen, schwed. ælfquarnar, nennt man zirkelrunde durchlöcherte Feldsteine (Grimm, altdän. Heldl. 509), die Panzer, bayer. Sag. 2, 569 näher beschreibt.

Geht hier der kutschierende und Kornsäcke führende Schloßschaffner unter seinen eignen Schlittengäulen zu Grunde, so deutet dies darauf hin, daß er als göttlicher Zwerg entweder ein eignes Dienstroß besaß, dessen segenverheißender Schellenklang in Anmerkung No. 29, 30 besprochen ist; oder daß er nachher als selbst in dieses Dienstroß verwandelt betrachtet worden ist. Der Lindegiger No. 39 reitet das Zweigespann eines Viehhändlers blitzschnell ins fremde Wirthshaus. Läßt man das ihm geheiligte Roß später abkommen, so dauert doch noch lange Zeit die Zinspflichtigkeit jener Haberäcker und Futterwiesen fort, die dem Gottesroß gestiftet waren und später in Pächterhände und an Lehensleute übergegangen sind. Darüber wird in No. 499 ausführlicher gehandelt. Deswegen seufzt dieser Geist auf dem Kornboden so lange, bis sich das Kapuzinerkloster seiner Seele annimmt; d. h. die alte Kornvergabung geht ans Kloster über. Eben deswegen wird auch No. 29 für die Seelenruhe des in ein Roß verwandelten Schloßschaffners von Rued lange Zeit Brod gebacken und den Armen vertheilt. Der Kirche zu Hagen vergabt der Freiherr von Stahl zwei Wiesen für seine Errettung aus der Zwergenhöhle, und läßt auf seinem Gute von jedem Bäckfel den Armen ein Brod verabreichen. A. Kuhn in vdHagens Germania 9, 94. So muß für den Schloßgeist Poppele zu Hohenkrähen der dortige Lehensbauer auf dem Bruderhofe jedem vorbei kommenden Bettler einen Laib Brod geben, sonst verschwindet ihm selber seine ganze Backete. Meier, schwäb. Sag. No. 85. Wo Segen und Wohlstand ist, da, sagt man, regiert der Niß Puk im Hause, der Hauskobold. Und so heißt auch das Schulkinderfest in Meldorf, wo die Schulstube mit Blumen geziert und der Nachmittag vertanzt wird; da sagen die Kinder, wir haben Neßkuk, wir feiern Neßkuk. Müllenhoff, Schlesw.-Holst. Sag. pag. 318. Das Schloßthor der Katzenburg läßt sich nicht mehr öffnen, erzählt Cavallius und Stephens schwed. Sag. No. 12 (übersetzt v. Oberleitner, S. 232) wegen eines großen Brodlaibes, der hinter dem Schlüsselloch des Thores liegt; und der dorten verwünschte Schloßkater erklärt dazu: „Zuerst kneteten sie mich, so konnten sie mich todtkneten; dann bestreuten sie mich mit Mehl und konnten mich zu Tode bestreuen; dann spießten sie mich und konnten mich todtspießen; sodann bucken sie mich, und so konnten sie mich todtbacken." Das todtgespießte Brod ist dasjenige, das man „gebildet Brod" nennt, alles besonders geformte, namentlich Bretzenbrod. Dieses wird bei örtlichen Festen annoch an Spießstäben geschultert umhergetragen und die Kinder singen, z. B. in Westfalen, an der Fasnacht dazu:

Faselawent häit iek,
giet mi watt in minen spitt.

Wöste, in vdHagens Germania 9, 286. Vgl. oberdeutsches Gebildbrod, No. 15. Auf dieselbe Weise wird auch der Rueder-Schloßniggel No. 29 dieser Samml. „zur Ruhe seiner Seele todtgebacken" und lärmt dann nicht mehr im Kernenhaus; der Kirchmaier zu Reitnau dagegen, No. 34, bleibt als Katze im Hause liegen und muß täglich neu gebettet werden, und der

Digitized by Google

Güggelkopf in No. 37 spukt im Rinngraben fort, weil die für sie stipulirt gewesene Kornstiftung bei den Nachkommen in Vergessenheit gerieth und nicht mehr gespendet wird. Die Nonnen des Petersklosters zu Kreuzburg an der Werra luden den im dortigen Spatenberg wohnenden Zwerg, schon als er ihnen zum erstenmale begegnete, in ihr Kloster ein und zwar auf Eier, Milch, Butter, Kuchen und Semmeln. Die Erzählung vom J. 1334 steht in Haupts Zeitschr. 6, 320. Die Nonnen von Hermetschwil stifteten ihrem Kleinen Tanzmännchen einen Freitisch, No. 24, II. Noch jetzt stellt man beim Seelenamt einen Seelnapf, d. i. eine Schüssel mit Mehl und Eiern, nebst einem Brodlaib, als kirchliches Opfer auf die Bahre. Schmeller, Wörterbuch 3, 226; und der Seelzopf, ein Eierbrod in Form der Haarflechte, wird in Bayern am Allerseelentage (2. Nov.) gebacken. Ausführlicheres hierüber vgl. in Oberdeutsch. Gebildbrod, No. 12, 13. Den Wichtel- und Weichselzopf aber nennt man in Thüringen saellocke, um Bremen selkensteert, sellentost (Mythol. 433), und bezieht ihn auf Sterz, Schwanz und Locke der Elben, auf den Hollenzopf. Alpschwanz ist daher in Schlesien zum Scheltwort geworden. Weinhold, Dialektforschung 1853. So lang und zähe hat sich in Brauch und Sage ein Zug des deutschen Heidenthums erhalten, der schon im Jahre 742 mit auf den Indiculus paganiarum als sechsundzwanzigster Punkt gesetzt und verpönt worden war: de simulacro de consparsa farina. Der heute noch in Westfalen übliche Kinder- und Reihenspruch, den Wöste verzeichnet in vdHagens Germania 9, 292, faßt dieses und alles voraus Bemerkte zusammen; das kleine Männchen ist zwar gestorben, aber gleichwohl hört es nicht auf Brod zu essen:

Te raen im stocke
ies en klëin männken daut,
ett so gern bëir-un braut.

29) Der Rueder-Schloßniggel. Hier ist wiederholt von Ueberbleibseln alter Opfermahle die Rede, insoferne sie von heidnischen Tempeln und Lehen übergegangen sind auf Klostergüter, kirchliche Pfrundhäuser und Bauernhöfe. Eben deshalb haben die auf diesen Gütern spukenden Geister auch noch ihre eigenen Dienstrosse bei sich, oder sie selber sind in solche verwandelt. Unser Niggel ist selbst ein Roß. Oben erwähnter Poppele (Meier, schwäb. Sag. S. 80) fährt mit vier Rappen; der Lindegiger in unser No. 39 zweispännig. Die Mönche im Kloster Ilsenburg waren Quarge (Zwerge); sie wohnten in der Kirche, stachen da einst einander todt, daß im jetzigen Kirchenstuhl der Frau Erbgräfin noch das Blut zu sehen ist, doch hatten sie auch kleine Pferde und wurden für Husaren gehalten. Pröhle, unterharz. Sag. No. 294. Joh. Wier (de praestig. daemon.) weiß in der Grube Rosenberg zu St. Annaberg ein Erdmännchen in Gestalt eines Rosses. Der Kinzhaldenjoggeli No. 26 hantiert gegen alle Fuhrmannsrosse. Das Herdmänndli von Mellikon No. 28 geht kutschierend unter den Schlittengäulen zu Grunde. Der Hauskobold No. 30 wohnt in einem Roßkummet. Der Schwarzwälder-Bläseli No. 32 und der Stifelireiter No. 33 reiten einen Schimmel, und alle sieben Jahre hat ihnen die Klosterstallung zu Muri ein solches Thier frisch zu stellen. Deswegen nennt man heute noch den Stiefeli im Freienämter-Dorfe Hegglingen den Marstaller von Muri, No. 339. Der Sattlerfranz No. 45 führt einen ganzen

Digitized by Google

Trupp gespenstischer Saumrosse durchs Haslithal nach Italien. In diesen Gespensterrossen verrathen sich noch die ursprünglichen Rosse Gottes. Bruno, der Erzbischof von Köln, vermachte Anno 965 dem hl. Pantaleon „alle seine Stuten mit Ausnahme derer, welche in der Kirche selbst schon vor dem Stifter waren." Ruotger, cap. 49. Geschichtschreiber deutscher Vorzeit. 3. Bd. S. 51. Das Stift St. Gallen processirt schon Anno 854 mit Konstanz über die Atzungskosten für ein solches Kirchenroß. Zellweger, Appenzeller Geschichte 1, 60. Ein solches Kirchenroß nebst einer bodenzinsfreien Futterwiese hat zur aargau. Pfarrpfründe Dietikon bis in unsere Dreißiger Jahre gehört und manches amtliche Schreiben veranlaßt, bis es vor etlicher Zeit zwischen der Aargauer- und Zürcher-Kantonsregierung zur gegenseitigen Ablösung für die beiden Theile dieser paretätischen Grenzgemeinde gebracht worden ist. Ein ähnliches Roß mußten die Aargauer Gemeinden Mönthal (dieses gleichfalls bis auf die Neuzeit; Bronner, der Kant. Aargau 1, 187) und Ennetbaden für das Kloster Wettingen halten (aargau. Beiträge 1846 S. 571). Aus einem solchen Gottesrosse entwickelt sich die Sage vom Grafen Rudolf von Habsburg und dem Priester, welche Schillers Romanze besingt, vgl. Anmerk. zu No. 499. So vererbt sich dieses Roß des heidnischen Cultus „schneeweiß in heiligen Wäldern und Hainen gehalten" Tacit. Germ. 9, 10 — jener Schimmel also, von welchem unsere No. 32, 33 weiß und welchen der Sieges- und Freudengott Wuotan reitet. Dies Pferd war übrigens Slaven und Germanen gleichheilig; San Marte in vdHagens Germania 8, 60 giebt dafür neben andern slavischen Quellenstellen das altpolnische Sprichwort aus Rysinski's poln. Wörterb. „Wer nie auf einem Schimmel gesessen, saß nie auf einem guten Roß." Deshalb knüpfen sich an dieses Thier allenthalben besondere Züge aus der ältern Geschichte der Landschaften und Ortschaften. Die Königin Bertha gilt so für vielerlei Schweizerstädte, Abteien und Kirchen als eine angeblich geschichtliche Schimmelreiterin, und noch lange Zeit hieng ihr Sattel an der Kirche von Payerne (Peterlingen), ihr Zaum am dortigen Rathhause. Lindinner, Index Memorab. Helvet., Zürich 1684. An den Schimmel des hl. Ulrich, Bischofs von Augsburg, knüpft die Augsburger Stadtgeschichte Otto's Sieg über die Hunnen am Lechfelde, und noch im J. 1829 ward das Thier sammt einem dazu gehörenden Sattel aus dem Siegesjahre 955 in einem städtischen Festaufzuge von der Weberzunft umgeführt. Ein ähnliches Roß steht als angeblicher Schwedenschimmel des Königs Gustav Adolf im Ingolstädter Zeughaus ausgestopft. Andere Schimmel sind einzelnen Gemeinden zum Spitznamen geworden; und man kann im bayerischen Dorfe Geisenfeld, bei Pfaffenhofen, nur unter persönlicher Gefahr die Leute nach jenem alten Kirchenschimmel befragen, der ihnen ihr ewiges Licht in der Kapelle weggesoffen habe. Panzer, bayer. Sag. 2, pg. 567. Wie solche Rosse an die Kirche gekommen sind, zeigt neuerlich Wolf, Götterlehre 144: In Friedberg wurde das schönste Roß aus der Kriegsbeute verkauft und der Erlös an die St. Georgenkirche vergabt. Dies Faktum besagt also, daß man das Roß dem Gotte Wuotan, welcher der Schlacht vorstand, weihte und es dann auf den Christengott vererbte. Wie dann solche Rosse kirchlich wieder abgeschafft werden, dies drückt die Sage mit dem Unmuthe aus, den die Hausgeister über plötzliche Neuerungen empfinden. Unser Rueder Schloßniggel No. 29 wirft die Tänzer und die

Zechtische um; der Hauskobold No. 30 zwickt die Hausthiere wie mit Zangen; der Stiefelreiter No. 33 schändet nach vertragsmäßigem Rechte alle sieben Jahre, was er im Kloster betrifft. Ein Beiname, den der Teufel im welschen Patois führt, ist lo Cassaron, der Alleszerbrecher. Vulliemin, Kant. Waat 2, 31. Mit diesen tobsüchtigen Geistern müßen daher Verträge abgeschlossen werden, wie No. 38 mit dem Männlein in der Gülle, in No. 39 mit dem Lindegiger, No. 47 mit dem Geißler, No. 50 mit den Pilatuszwergen. Hat ein Bauer zum andernmal gefreit und darüber des alten Hausgeistes vergessen, so wirft sich dieser auf den Bauernschimmel und schleudert ihn, wie der Kobold zu Jänickendorf, in den Mistpfuhl. Kuhn, märk. Sag. No. 98. Diese in ihrem Hausrechte verabsäumten Geister benehmen sich dann unwirsch, so wie das mhd. Märchen vom Schretel und dem Wasserbären in Haupts Zeitschr. 6, 177 erzählt:

tische stüele und benke
die sint im ringe als ein bal.
ez wirfet ûf und ze tal
die schüzzeln und die töpfe gar.
ez rumpelt staete für sich dar.
ovenbret und ovensteine,
körbe kisten algemeine,
die wirfet ez hin unde her,
ez gêt ôt allez daz entwer,
swaz ist in dem hove mîn.

That's in den Häusern zu Annaberg einen plötzlichen und durch keinerlei Ursache erklärbaren Fall, so dachte man an den Hauskobold, und die Magd pflegte dann zur Abwehr zu sprechen: Gütchen, ich geb dir mein Hütchen; willst du den Mann, ich geb dir den Hahn! Willst du die Frau, nimm hin die Sau! willst du mich, nimm die Zieg! willst du unsere Kinder lassen leben, will ich dir alle Hühner geben! Man opferte alsdann eine Henne; fand sie sich hernach etwa auf dem Oberboden wieder, so sah sie aus als wie mit einer Presse zerquetscht. Gräße, sächs. Sagensch. No. 491.

30) Der Hauskobold im Roßkummet. Die verschiedenartigen Schwenkungen, die der Hauskobold mit seinem Hute macht, um dadurch die Witterung zu bestimmen, gehören dem Sagenkreise der Witterungsgottheiten an, von deren Huttracht in Anmerk. No. 110 gesprochen ist; es ist der Geist, der unter dem Hütchen spielt, der Geist der Luft, welche nach alamannischer Redeweise spielt, statt umschlägt, wie auch Windspiel und Gelle Herennamen sind: No. 411, 412. Ein solcher Wetterhut kommt auch in No. 32 vor; nur trägt ihn da der habsüchtige Bauer, der den wetterkundigen Stiefelreiter versuchen will, und dieser brennt ihm dafür ein Loch in den alten Hut und zugleich in den neugekauften, welchen der Bauer über den alten hergestülpt eben vom Markte heimträgt. In gegenwärtiger Sage hat der Wetterverkündiger zum wolkensammelnden und regenverjagenden Sturmhut auch noch ein klingendes Roßkummet. Daß die Kobolde in Roßgestalt umherjagen, ist in der vorigen Anmerkung bereits erläutert; mit dieser Erscheinungsweise hängt aber das Schellengeläute zusammen, No. 212, II, durch das sie sich vernehmlich machen. Der Zwergenkönig Antilois reitet ein Roß von Rehes Größe, Zaum und Sattel erklingen von Schellen. Wackernagel, Basler Handschriften 28 ff. Der Mecklenburger Pück bedingt sich für seine Klosterdienste, nach einer Aufzeichnung v. J. 1559,

Digitized by Google

tunicam diversis coloribus et tintinnabulis plenam; dafür weckt er die Mönche schellend zu der Mette. Studemund, mecklenb. Sag. pg. 172. Von einem gleichen Schellenkleid hat ein schottischer Kobold seinen Namen Shellycoat. Myth. 479. Eine Schelle wird und eine rothe Mütze voll klingender Glöcklein auf einem verzauberten Hügel gefunden und bis heute aufbewahrt. Cavall. und Stephens schwed. Sag. ed. Oberleitner, Wien 48, S. 124. Da der Teufel Dienste im Kloster sucht, stellt ihn der Guardian in den Küchenwinkel, setzt ihm eine Kapuze auf und bindet ihm, damit man ihn wieder erkenne, ein Glöcklein um den Hals. Luther, Tischred. 1569, pg. 211 b. — Die Festschelle findet sich wieder an dem elsäßischen Hanstrapp (Stöber), am schwäbischen Pelzmärtel, am schwarzwälder Pfingstlümmel (Meier 403), am thüringer Maikönig, am märkischen Kauderneſt (Kuhn, nordd. Sag. 384 — 85), an der Salzburger- und Steierer-Perchtel (Weinhold, Weihn.-Sp. 20, 21), bei dem Perchtenspringen in den Alpen (Grimm, Myth. 256, Meier Sag. 464), bei der Gräuflete im Muotathale (Meyer-Knonau, Kant. Schwyz, pg. 289). Gleich dem Schellenpeter No. 212, II. schreckt auch der Klimperhund die Leute, Schambach-Müller, ndsächs. Sag. No. 211. Der Rollegaul zieht um, sagt man am bayerischen Main vom Schimmel der Frau Hulda, dessen Decke mit silbernen Glöckchen besetzt ist. Wolf, Zeitschr. für Mythol. 1, 28. Von den Zwergen des Pilatusberges und des Rigi erzählt der Luzerner-Stadtschreiber Rennwart Cysat: dieselben reiten oder rennen in vollem Roßlauf, als ob's etlich hundert Pferd wären, mit Tosen, daß das ganze Gebirg erzittert. Kas. Pfyffer, Gesch. v. Luzern 1, 320. Vom Gebirge bei Thun reimt der dortige Pfarrer Rebmann in seinem „Lustig Gespräch zwischen Bergen Riesen und Stockhorn" (Bern 1620 S. 188): Da hört man rings vmbhar, als ob der Berg voll Teufel gahr, mit schwegeln, pfeiffen, Cymbalen als in dem tantz wild klingelen. — Bei der Herrschaft Sax, erzählt Scheuchzer, Schweiz. Naturgesch. 1, 118, haben die Reisenden in der hellen Witterung der Sommermonate oft einen klingenden Ton wahrgenommen, gleich dem Schlittengeschelle; man nannte es das Bergklingeln und hielt's für die Musik der unterirdischen Bergmännlein. In unserer No. 31 heißt dieses Klingeln Schellenpeter und kündet gutes Wetter. Der von allen Fußgängern besuchte Bergbrunnen auf der Staffel-Egg, einem Jurapasse bei Aarau, heißt Schellebrünneli, pg. 270. Um Wertheim im Badischen heißt's Schellengäule und deutet auf ein gutes Weinjahr. Mone, Anzeig. Jahrg. 38. Schellenmännlein heißt's unter gleicher Deutung im Elsaß, und der helle Schall seines Silberglöckleins verheißt dem Rebgelände von Ettendorf guten Wein. Stöber, elsaß. Sag. No. 202. Schellenmoriz hat es in Sachsen geheißen, und der hl. Moritz, der als Erbauer der Kirche zu Halle galt, war daselbst schon Anno 1411 mit einem schellenbesetzten Gewande abgebildet. Sommer, thüring. Sag. 74, 154, 180. Germanische Elementargottheiten haben sich äußerlich in Kirchenheilige umgestaltet. Noch klingelt und schellt der Aargauer Wilde Jäger, pag. 109, und alsdann schließt der Bauer die Feldbestellung, weil Regenwetter eintreten wird. Die Frau Gode in Kuhns märk. Sag. No. 217 jagt mit Hündchen, deren Schellen klingen. Die Geisterſäumerei in No. 45 unsrer Sammlung klingelt durch das Haslithal bis über die Grimsel fort. Wie hübsch erinnert dies sogleich an Uhlands Verlorne Kirche:

Man höret oft im dunkeln Wald
Von oben her ein fernes Läuten,
Doch niemand weiß, woher es schallt,
Und kaum die Sage kann es deuten.

Heute kommt die Sage allmälich dazu, wirklich die verlorene Kirche des Heidenthums in solchem Geläute wieder zu erkennen. Denn so haben ehemals die Rollen am Götterwagen und an dessen Rosse- und Stiergespann geschellt, wenn der Umzug im heiligen Hain oder der segnende Feldumgang abgehalten wurde. Jene zahllosen Volksmeinungen alle von den umziehenden Wagen und Geisterkutschen gehören hieher; auch aus letzteren tönt oft wunderbare Musik: Stöber, Elsaß. Sag. No. 206; oft ist's eine Prachtkutsche, deren Räder und Felgen aus Weckenbrod gebacken sind: Firmenich, Völkerstimm. 1, Sage von Altenburg im Sieglande; oft aber poltert's und rasselt's mit eiserner Last, und wie dann der Schwede sagt, Odin fahre vorüber (Geijer, Gesch. v. Schweden 1, 110), so sagt unser Landvolk: der junker Oberherr rot't se, pag. 112. Es wird sogar noch ein kleiner eiserner Leiterwagen dieser Art, ein ex voto-Modell eines wirklichen, alt und roh geschmiedet, in der Kirche von bayrisch Pielenhofen aufbewahrt. Panzer, bayr. Sag. 1, No. 140. Notker nennt das Sternbild des Bären den Wagen und sagt, er sei „nâh einemo gloccunjoche gescaffen", d. h. er sehe aus wie jener schellende Wagen, auf dessen Umfahrt Frieden und Fruchtbarkeit folgt. Dieses tönende Glockenjoch am Bärensternbild erklärt sich aus einer Stelle der Chronik, die im piemontesischen Kloster Novalesa um Mitte des 11. Jahrh. verfaßt worden. Dorten verwahrte man einen hölzernen Wagen, überaus schön gearbeitet, auf welchen man nichts anderes legte als eine große, oben mit einer hellklingenden Schelle versehene Stan (den Wis- und Raitelbaum). Wurde diese Stange aufgesteckt, so daß sie Jedermann schauen und hören konnte, so brachten alle Höfe, Dörfer und Dienstleute des Klosters ihre wein- und kornbeladenen Wagen herbeigefahren, der Stangenwagen zog ihnen voraus und hundert oder anderthalb hundert andere Wagen folgten nach. Und da war kein Herzog, Graf, Herr oder Bauer, der es gewagt hätte, diesen Zug zu schädigen; ja die Kaufleute auf den Jahrmärkten sollen ihren Handel nicht eher eröffnet haben, als bis sie den Schellenwagen heranfahren sahen. Grimm und Schmeller, latein. Ged. des X. u. XI. Jh. S. 105. Von einem ähnlichen Wagen und einem gleichen seinen Umzug begleitenden Gottesfrieden weiß Tacitus Germ. 40. Uebereinstimmend mit Notker übersetzt daher die Schlettstädter Glosse triones mit wagana (Haupt, Ztschr. 5, 326 a.) und die ahd. Glosse (Diutisca 3, 245) hesperus mit stelbôm, das ist Wis-, Bind-, oder Raitelbaum. In diesem Zusammenhange gilt die Appenzeller Bauernregel, bei Tobler Sprachsch. 264 a.: steht der Herrawaga nieder, so giebts wohlfeiles Brod; drum ist auf Baltrum der Name der Milchstraße Waogenpat, und friesisch im Gröningerlande Kaupat, Wagengleise und Kuhweg. Kuhn, nordd. Sag. 457; ja ebenda S. 519 erscheint gegenüber dem fahrenden Gotte Wodan eine noch dem Volke geltende frû Waogen. So kommt es, daß noch allenthalben die Winter- und Sommerfeste mittelst eines umziehenden Festwagens, ja sogar durch Wagenwettrennen gefeiert werden, vgl. Schmeller, Wb. 2, 473. Hier die Beschreibung eines solchen aus neuester Zeit: Bei der Leonhardskapelle am bayr. Schlierse ist alle

Digitized by Google

Jahre im Juni eine große Wallfahrt, nicht zu Fuß, sondern zu Wagen und zu Roß, denn die Thiere sollen hinziehen zur Feier ihres Patrons. Die Wägelein sind laubbekränzt, ein geschnitztes Bild des Heiligen darauf hält eine Kette sammt Schloß in der Hand und hat zum Wappenthiere eine wiederkäuende Kuh; andere Fuhrwerke bringen Musikanten mit herbei, wieder andere sind als Bierschenke und Wurstladen eingerichtet. Nach beendigter Messe beginnt die Umfahrt um die Kapelle. Dreimal fährt alles mit entblößtem Haupte und lautbetend um die Kirche, dann schwenken die Fuhrwerke mitten aus dem Zuge ab, jedes nach seiner Heimat zu. „Aus dem bayr. Hochlande", Allg. Augsb. Ztg. 1855. 12. Aug. Mit welch besondern Verumständungen und Benennungen dasselbe in der Schweiz geschieht, bleibt einer eigenen Darstellung schweizerischer Volksbräuche vorbehalten, Abthl. Fasnacht. Doch muß mindestens hingewiesen werden auf das Schellengerassel der Fasnachtsnarren; auf das Geschelle der Schlittengäule beim Polsterli- und Stregelijagen im Luzernergebiete; auf Glockenlärm, Peitschengeknall und sonstiges „Gekessel" in der Neujahrsnacht, das gleichfalls beim Feste der Alpfahrt, und bei den Maienzügen, Kinder- und Kadettenfesten üblich ist. Nicht blos die Weidkühe behängt man alsdann mit Heerdenglocken von abnormer Größe, auch die Jugend im Gebirge schmückt sich alles Ernstes mit solchen. So erzählt der Bündner-Pfarrer Leonhardi (Rhätische Sitten. St. Gallen 1844) von einem Kadettenfeste, das er im Frühjahr 1839 im Bergell mit angesehen: Unter Trommelschlag und Hörnerschall schritten sämmtliche Knaben der Gemeinde mit Offiziershüten und Waffen einher, aber alle, außer dem Tambour und dem Hornisten, waren mit Kuhschellen behangen, die sie tüchtig schüttelten. Die darüber um Auskunft befragten Burschen erwiederten: „Wir machen, daß das Gras wächst." Dem Götter- und Aerntewagen mit der klingenden Schellenstange entspricht es, daß die Engel und die Zwerge ein schellenbesetztes Kleid tragen. Das ältere Kirchenlied In dulci jubilo (Leibnitz, Unvorgreifliche Gedanken, betreffend die deutsche Sprache, §. 85) stützt sich noch darauf, daß solche Tracht im Himmel gelte:

da die engel singen nova cantica
und die schellen klingen in regis curia.

Dieselbe Tracht hat der kinderhütende Hauskobold Habermann, er wird im Kinderreim, vgl. Liederfibel, Eßlingen 1841, pag. 16 also angerufen:

Habermann hat einen bunten Rock an,
Hinten und vorn mit Schellen;
Und als er auf die Straße kam,
Fieng der Hund an zu bellen.
Habermann, komm und wirf nicht um,
Fahr unsern Buben im Wagen herum.

Der Zwergenname Heinz geht dann auf den Narren über; Kobold Heinzelmann erscheint mit der Narrenkolbe: Myth. 471; mit Kolbe und Schellenkappe abgebildet ist der Hofnarr Heini von Uri abgemalt zu sehen in der österreichisch. Grabstätte des aarg. Klosters Königsfelden. Schelt- und Narrennamen sind Schellhorn, Glöckleingöl. Der Glücksball trug ehedem Schellen; so sah ihn Poggio zur Zeit des Costnitzer Conciliums in den Bädern zu Baden schlagen; heut zu Tage ist der Glücksstich im Kartenspiele, die Eichelaß, beschellt und heißt Schellebelli. In Lichtwers

bekannter Kinderfabel wird Kater Hinz der Schwiegervater Murners genannt, und im Sprichwort ist davon die Rede, der Katze die Schelle anzuhängen. So tritt der Hausgeist Heinz zusammen mit der Katze; Freyja, die Göttin des häuslichen Glückes, legt das tönende Festgeschelle ihrem Lieblingsthiere an und spannt es vor den Wagen, auf dem sie zum Besuche der Menschen ausfährt. Ueber den gestiefelten Kater erklärt sich Anmerk. No. 32; über den Hausgeist Katzenveit und Katermann vergl. Mythol. 448, 471.

31) Der Mumelima bei Fahrwangen. Die Ruine Fahrwangen war einst das Schloß, welches dem bei Albrechts Ermordung betheiligt gewesenen Ritter von Palm zugehört hatte und das dann bei Vollziehung der Blutrache von Agnes, Albrechts Tochter, eingenommen und geschleift worden ist. Die drei und sechzig Mann der Besatzung ließ sie enthaupten. Es geschah dies, wird erzählt, an einem gemauerten Bildhäuslein (Marterſäule), das ehemals vor dem Walde im Fahr stand, zwischen zwei Felsstücken; und man sagt, die Unglücklichen hätten im Tode den Feldstein entzwei gekniet. Der fleißige und gelehrte Chronist Heinrich Bullinger erzählt zwar, aber ausdrücklich als nur von einer Sage, Agnes sei bei dieser Hinrichtung zugegen gewesen und habe ausgetufen: „Jetzund bad ich in Maienthau!"; und sogleich fügt er hinzu, daß schon seine Zeit ungewiß gewesen sei, von welcher der verschiedenen Agnesen diese Grausamkeit gelten solle. Bullinger, aus dem Aargau, geb. 1504 in Bremgarten, gest. 1575, zeigt in seinem großen Geschichtswerke allenthalben Ehrfurcht und schonende Behutsamkeit gegenüber der Volkstradition. Gleichwohl aber weiß er von einer Agnesen-Sage nichts, welche sich an das seinem Geburtsorte so nahe liegende Fahrwangen geknüpft hätte. „So dieße thaat — schreibt er Chronicon Tigurin. I. lib. 6, cap. 9, Msc. — also wie man sagt, beschähen sige, so muß es beschehen sein eintweder von der Königin Elßbetthen, der wittiben Alberti, oder von der Königin Agneßen von Hungarn: wellicher gemahel, König Andreas, des ersten February todts verscheiden ist i. J. 1310, daruff sie ohn verzug haruff zu den Ihren, insonders zu jrer verkümmerten Frauen Mutter geraißet vndt in dieße lande komen ist; von deren auch die Sag ist, daß Sie vast ruch vndt grimmig in der Raach jres Vatters gewäßen sige."

Recht übereinstimmend mit dem wahrheitsgetreuen Bullinger ist es, daß auch unsere vorliegende Sage nichts von der historisch so oft erzählten Metzelei weiß. Zwar der schweiz. Merkur 1835, 52 will von einer spukenden Nonne in Fahrwangen wissen, welche das Nunneli heiße und deren nächtliche Klage beim Volke am Hallwiler-See Agnesgeschrei genannt werde. Eingezogene Erkundigungen an Ort und Stelle ergeben nichts anderes als das von unserer No. 31 Berichtete. Ein Wortcompositum Agnesgeschrei würde in dortiger Landesmundart, wäre es nicht unerhört, mehr eine Fleischspeise als ein Gespenst bezeichnen, wie man Säugeschrei in Zürich abgeröstete Fleischschnitten nennt und ein darnach scherzhaft benanntes Café Säugeschrei hinter der dortigen Stadtmetzge hat. Vgl. Katzengeschrei, Gansgeräusch, Ingeräusch, intestina. Schmeller, Wb. 3, 140. Zudem begegnet der Name des Aargauer Mumeli von Fahrwangen dem Namen des Luzernischen Bibbernmumeli von Fahrwangen. Letzteres ist der Name eines Berges bei Hasle

Digitized by Google

im Entlebuch, an welchem einst das Bauernhaus jenes Mädchens gestanden hat, die nun als Kindesmörderin daselbst umgehen und Klagetöne ausstoßen muß. Reithard Helvetia, Volkskalend. 1853, 143. mumeln, mumenzen bedeutet in der Mundart, leise sprechen und heimliches thun; damit hängt die zweifache Behauptung zusammen, daß unser Mumelimann jedem Holzdieb zu Leibe geht und ihn verstümmelt in den See trägt, und daß er selbst wehwelet und weveret, undeutlich klaget. Das Feldgespenst, das im Elsaß Butzmumel, in der Altmark Erbsenmuhme und Roggenmuhme, in Westfalen Watermöme, im Osnabrückschen Tremsenmutter heißt, nennt der Lausitzer Wende die Wehklage Gottes und denkt sich darunter einen Mittagsgeist, der als schönes weißgekleidetes Kind die nahe Gefahr durch Weinen anzeigt. Wolf, Ztschr. 3, 114. Dies gleicht ganz unserer No. 186 a, wo das schwere Kind engelschön aber weinend im Kleefelde liegt. Zugleich heißen die Nymphäen bei uns und auf den Seen des Schwarzwaldes Mümeli, nhd. Nixblume, dän. Nökkerose; und ebenso wird die den Zwergen verwandte Kröte (Anmerk. 3) Mümlein genannt: „Ich fieng eine Art Krotten, die man Reling oder Möhmlein nennt." Simpliciss. ed. Keller, pag. 568.

32) Der Schwarzwälder Bläseli. Die Aargauer Stiefelireiters Sage ist hier nur in ihrer elbischen Seite mitgetheilt; sie hat sich noch in zwei andere besonders reiche Spielarten entwickelt, in die des Odhinischen Schimmelreiters und in die des einwandernden Bann- und Landräubers. Diese Sagen folgen von No. 338 bis 345. Beide Auffassungen haben auch auf die Färbung vorliegender Zwergensage mit eingewirkt und diesen Schwarzwälder Bläseli zum schlauen Räuber am Gemeindegut gemacht. Solcherlei Landschaften nämlich, in denen die Gemeinden ihr Selbstverwaltungsrecht ausgedehnt zu behaupten vermocht haben, zeichnen sich durch ein historisch scharfes Volksgedächtniß aus für alle an dem Communaleigenthum je erlittenen Einbußen. Räuberische und habsüchtige Vögte sind auf solche Weise von der Sage unter die unseligen, des Himmels unfähigen Zwerge versetzt worden, und hören dabei nicht auf, auch als Zwerge noch den bürgerlichen Namen fortzuführen, unter dem sie vormals gegolten haben. Der Kinzhaldenjoggeli No. 26 ist eines Pfarrers Ahnherr und heißt Winter. Das Herdmännli von Mellikon No. 28 ist zur Zeit, da die VIII. Alten Orte in den schweizerischen Unterthanenländern und die drei Orte in der Grafschaft Baden regieren, ein Herrenschaffner, aus Uri gebürtig. Der Schloßniggel in No. 29 ist ein vormaliger Junker von Rued, und würde demnach den Familiennamen eines bekannten Berner-Patriziergeschlechtes führen. Der Lindegiger, obschon ein Zwerg, stammt aus dem Bauerngeschlechte der Hauensteine von Endingen, No. 39. Der Kirchmaier zu Reitnau, No. 34 ist ein unredlicher Kirchengutsverwalter und bezieht sich auf ein noch vorhandenes ausgebreitetes Geschlecht seines Namens. Der Stiefelireiter endlich in No. 33 ist Klosterschaffner in Muri gewesen, stammt aus St. Blasien im Schwarzwalde, hat mit seinem Vornamen Friedli (Fridolin, Name des Schwarzwälder Schutzpatrons, No. 472) geheißen, und die Volkstradition setzt mit eigensinniger Genauigkeit hinzu, seine Nachkommen seien aus dem Freienamte ausgewandert, aber heute noch im Toggenburger Lande seßhaft. So ist das Volksgedächtniß in sich selbst verwaltenden Landschaften die Hölle, in welcher die kleinen Ortstyrannen die

Digitized by Google

Ewigkeit der Verdammniß einsehen lernen müßen. Und in so ferne hat man auch aus dem Stifelireiter der Sage längst schon einen historischen Vogt des Stiftes Muri gemacht, an dessen wirklicher Existenz Niemand in den Gegenden der Freienämter zweifeln wird. Da das aargauische Fricktal in vielfachen Beziehungen, ja in einzelnen Unterthänigkeitsverhältnissen zu den Schwarzwälder-Abteien Säckingen und St. Blasien stand; da sich ähnliche Verhältnisse auch in dem Aargauer Freienamte wiederholten und durch das dortige Stift Muri belästigend sich fortsetzten; da ferner Muri schon im 11. Jahrhundert einmal sich durch St. Blasiens Hilfe wieder aus Verschuldung und Sittenverfall rettete, als es den Blasianer Mönch Rupert zum Abte berief, der es zwar emporhob, aber zugleich die um Muri wohnenden Zinsbauern des Freienamtes um so härter bedrückte: so hat sich dessen die Sage halb bemächtiget und aus dem anblasenden Zwerg einen Schwarzwälder Bläseli von St. Blasien, aus dem reitenden Zwerge einen die Klostergüter umreitenden mißgeschaffenen Verwalter gemacht. Die geschichtlichen Verhältnisse, die durch diese Sage gehen, sind durch Tschudi's Darstellung (Chronik 1, 5) in große Verwirrung gebracht worden; neuerlich sind sie wenigstens überschaulicher vorgelegt in Melchior Schulers Sitten und Thaten der Eidgenossen 1, 30.

Bläseli heißt in unserer Sage der Dämon, weil Zwergengeister blasende (spiritus) sind, wie ja noch bei Freidank die Seele ein blas genannt wird. Die vier Hauptwinde, deren Namen uns zu denen der Himmelsgegenden geworden sind, waren die vier Himmelszwerge. Ihr Ahnherr mag der nordische Windalfr gewesen sein, ihre Ahnfrau nennen wir noch die Windsbraut. Deßhalb weiß man vom Anhauch böser Geister, und wer in einen bösen Wind geräth, dem schwillt der Kopf auf. Die Meerminne kommt bei Ulrich von Zazichoven 181 mit eime dunste als ein wint. Frau Berchta bläst eine spottende Spinnerin an, daß diese erblindet; und nach der Rockenphilosophie 6, 353 blasen die Weihnachtsgeister unartigen Kindern die Augen aus. Mythol. 254. Der Rainhaldenjoggeli in unserer No. 27 belästiget den Wanderer als ein giftiger Wind. Ein deutscher Hausgeist, bei Mone, Anz. 34, 260, heißt Blaserle. Von der Bläsjungfer im Kloster St. Blasii erzählt Gottschalk, Sag. 300. Wohl erst aus diesen Theilen der etymologisirenden Sage scheint die Sitte gekommen, sich am St. Blasiustag den Hals besegnen, „sich bläseln" zu lassen. „In der ehr St. Blasij bindt er vmb sin Halß vnd keelen ein geweibet licht", so schlägt Geiler von Keisersberg dem Kranken vor. Ameise, Blatt 53. Daß der Bläseli unserer Sage die Schweine hütet, dies weist selbst wieder auf eine sehr alte Tradition zurück, wornach der Teufel ein Schweinehirt gewesen ist. Simon Majolus Colloq. de Sagis, pag. 469 erzählt: Ein Schweinehirte habe um seinen Stecken einen Zettel mit dem Namen St. Blasius gewunden und denselben aufs Feld gesteckt. Hierauf habe der Teufel die Heerde vor den Wölfen hüten müßen. Philo (Schweizerpfarrer Bartbol. Anhorn) Magiologia. Augusta Rauracorum (Baselaugst) 1675. S. 787. In gleicher Weise, wie alsdann der Zwerg Bläseli Kuhhirte wird, so schilt der Schlesier eine schlechte Kuh einen Alp. Haupt, Zeitschr. 7, 13. Das Loch, das Stiefeli mittelst eines Geldstücks dem Bauern durch dessen zwei in einander gestülpte Hüte brennt, findet sein Gleichniß in Müller-Schambach, niedersächs. Sag. pag. 422; dorten thut es der W. Jäger Hackelberg

Digitized by Google

mittelst seines glühenden Fingerrings, den er seinem Bruder in den Hut wirft. Ueberraschend ist eine Stelle dazu aus Simplicissimus, ed. Keller 1, 382, 617: Man muß, wo man einem verschlossenen Orte nicht trauen kann, erst den Hut an den Degen gespießt hinein stoßen: ob Bläsy zu hauss sey oder nicht, damit wenn Bläsy an einem andern ort zu hauss wäre, er ihn am andern finden könnte.

Seine zwergenhafte Weise verräth der Bläseli ferner durch seinen Beinamen Stiefeli. Ein fliegend. Blatt aus den Dreißiger Jahren, das von dieser Sage mundartlich erzählt, sagt darüber: Er ist i grossmächtige Stiefle ûf sîm Schimmel derhär cho, wo-n-em alle siebe Johr sîne Herre verehrt händ, dass er gschwinder und bass dene Chlostergüetere mög noh-cho.“ Also liegt in diesem Stiefel des Geistes Geschwindigkeit, er gehört zur Botentracht eines fußgeflügelten Hermes. Zwei Widderhautsstiefel verheißen Erlkönigs Töchter dem Olaf; bockslederne legt Plog an und kann alsdann verschwinden. Altdän. Heldenl. v. Grimm 91, 320. — Der irische Cluricaun beschäftigt sich mit Verfertigung von Schuhen. Irische Elfenm. XV. Wer bei den Zwergen einen Goldschuh mit fortnimmt, dem brennt das Haus ab. Thiele, dän. Sag. 3, 48. Von Pelias, der sich gewaltsam Jasons väterlichen Erbes bemächtigt hatte, singt Pindar, 4. Pyth. Vers 132: dem Pelias kam ein schauerlicher Ausspruch von der heiligen Jungfrau und warnte ihn vor dem einschuhigen Mann. Das Kätherle von Wertheim liegt mit nur einem Pantoffel in der Gruft. Wolf, Ztschr. 3, 64. — Der Schuh verwandelt sich daher frühe in ein Rechtssymbol für Auflassung von Gut und Erbe. (Grimm, Rechtsalterth. 156, 379); und der bei diesen Rechtshandlungen Uebervortheilende bekommt eben deßwegen wiederum den Namen Stiefel, insoferne er mittelst dieses symbolum traditionis betrügt. Nach der Appenzeller-Sage in Toblers Sprachschatz S. 214 trägt Jemand Stiefel, weil er Geisfüße hat; aber jene zieht ihm der Teufel aus und holt ihn. Nach Schottkys östreich. Volksl., pag. 12, das in unserer Anmerk. No. 5 besprochen ist, hat der Zwergenhans Stiefel angezogen, um beim Brunnen der Frau Holla ein kleines Geisenkindlein holen zu können. Fischart, Gargantua, cap. 3 redet von Zwerglein, die auf den Meulen oder Pantofflen herschlappen. Die Siebenmeilenstiefel Däumchens und der Pflanzenname Frauenschühlein, Muttergottespantöffelchen treffen darin zusammen, daß sie auf einen hilfreichen Geist hinweisen. Myth. 471. Im Schloß Calenberg haust der gespenstige Stiefel und trägt einen so großen Stulpen, daß er ihm das ganze Bein überschlappt. Grimm, DS. No. 77. Der Ewigjäger Hackelberg heißt bei Kuhn, nordd. Sag. 265, 5 Schlorfhacker, ein Hackelberg in Schlappschuhen. Der Niß Puk hat gar gern auch ein Paar weiche Pantoffeln und wenn er's recht gut hat, kann man ihn Nachts darin auf dem Boden flink herum schlurren hören. Müllenhoff, schlesw. holst. Sag. pag. 319 und No. 446, pag. 333. Dreierlei Schneeschuhe, sagt das finnische Sprichwort, muß ein tüchtiger Rennthierjäger dem Waldgotte Tapio machen, bis diesem ein Paar ansteht. Bertram, finnische VolksM. 1854, 32. Der Hildesheimer Sigrist erhält für das Läuten der Glocke Kehre-wieder jährlich einen Thaler und einen Schuh. Schambach-Müller, ndsächs. Sag. No. 26. Am Grauschimmel reitet im Dresdner Walde der Stiefelreiter. Grimm, DS. No. 309. Als Ritter Rochus von Staffelfelden auf einem ledigen Schimmel von der

Digitized by Google

Erde verschlungen wird, bleiben seine Reiterstiefel allein übrig. Rothacker, südd. Sag., Reutlingen 37, S. 44. Der gestiefelte Kater im Märchen ist ein unsichtbar werdender Heinzelmann, und letzterer selbst wird umgekehrt wieder Stiefelchen in der Sage geheißen. Zwergen stellte man Schuhe zum Opfer hin. Im Gewissensspiegel des Predigers Martin von Amberg (vdHag. Germania 2, 65) versündigen sich diejenigen, dy der Percht speizz opfernt, vnd dem schretlein vnd der trut rotte schüechel. Solche Schuhe lassen die Zwerge auch zurück; der liedersingende Vater verspricht sie dem zuhorchenden Kinde noch in dem bekannten Spruche:

Buko von Halberstadt,
Bring doch unserm Kinde was!
Was soll ich ihm bringen?
Rothe Schuh mit Ringen,
Rothe Schuh mit Gold beschlagen,
Die soll unser Kindlein tragen.

Noch in unserer Zeit, versichert Grimm in den Jr. Elfenm. CXIII. und S. 219, wurden derlei Zwergenschuhe in einer englischen Zeitung zum Verkaufe ausgeboten, während schon Notker in seinem Marcian. Capella ihrer erwähnt. So geht auch von manchem Schweizer Gastwirthe allenthalben die Rede, er habe einmal mit noch mehr habsüchtiger als blos knechtischer Dienstbeflissenheit einem durchreisenden Engländer eigenhändig den Stiefel ausziehen müßen und sei seit dieser Stunde zum reichen Mann geworden. Der Zwerg wird ein Schustergeselle und verfertigt seinem Meister wöchentlich 24 Reiterstiefel. Müller-Schambach, ndsächs. Sag. No. 152. Der Schustergeselle verfertigt der gespenstischen Schlüsseljungfrau ein Paar rothe Laschenschuhe: No. 167 unserer Sammlung. Im Kusterdinger Walde bei Tübingen spukt der Eintöffler, der nur an dem einen Fuße einen Pantoffel trägt und damit blitzschnell erscheint und verschwindet. Meier, schwäb. Sag. 1. Zwei eiserne Pantoffel legt das verwünschte Fräulein im Rachelsee (bayrisch-böhmischer Wald) auf einen Granitfelsen aus. Panzer, bayr. Sag. 1, No. 105. Der Appenzeller nennt die Felswand des Säntis auf der Widderalp, welche das Säntisthal vom Fählenthal scheidet, den Stiefel. Nach einer alten Sage soll ein betrügerischer rheinthalischer Ammann, der sogenannte Stiefelhans, hier nach seinem Tode argen Spuk getrieben haben. Rüsch, Kant. Appenz., pag. 218. Scholla dei Bottés, Stiefelacker, ist romanischer Name einer Gebirgshöhe am freiburgischen Moléson. Alpenros. 1824, 46. Die ganze Hochebene im Banne von aargau. Birmensdorf heißt Stiefel. Im Glarnerlande führen alle Berggeister den dreifachen Namen Faijer, Füchse und Schuhmacher. Faijer (gallisch fairys, Myth. 421) heißen sie in Folge der Feen, womit die benachbarten romanischredenden Graubündner die Berggeister bezeichnen. Füchse nennt man die Berggeister, weil der rothschnauzige Fuchs dem rothbärtigen Donar entspricht. Schuhmacher nennt man sie, in so ferne von ihrer Beihilfe der Zuwachs und der Fruchtertrag der Schupoßen abhängt. Schupoße, ahd. scuopuoza, bezeichnet das kleine Grundstück gegenüber der größeren Hube und der gesammten Gemeindeflur, wie ein Theil der Hube auch noch Schuhkauf und Enkelein genannt wird. Der Schuehbüezer, ahd. scuohbuozari calcearius, und der Halbsuter steht schweizerisch dem Sutermeister und Stiefelschuster entgegen. Grimm, in Haupts Ztschr. 8, 396. Auch der Ewige Jude

Digitized by Google

gab sich, da er 1547 zu Hamburg auftrat, für einen gewesenen Schuhmacher von Jerusalem aus (Dudulaeus Relation, in Welte's Kirchenlexikon, Heft 34, pag. 806), und im Berner Stadt-Archiv bewahrt man seine aus Lederriemen geflochtenen Schuhe auf; vgl. No. 489. Wie die Berggeister und Zwerge Schuhmacher heißen, so nennt man auch das Irrlicht und den Nachtfalter, beides elbische Wesen, Landmesser (Myth. 870, 1027), und den den Elben geweihten Schmetterling und Buttervogel nennt der Ditmarsche gleichfalls Schômaker. Müllenhoff, schlesw. Sag. pag. 509. Mit den Attributen die ihnen zukommen, dem Hut und Stiefel, scherzt das Volkslied vom betrogenen Ehemann (Simrock, VL. No. 241); er will wissen, was die vielen Reiterstiefel und Männerhüte an seiner Frau Ehebette bedeuten, und sie erklärt sie ihm als ebenso viele Bierkrüge und Milchmannen, mithin als große Geschenke der kleinen Zwerge. Hab ich deine Schuh, so hab ich meine Ruh! ruft der ausgelohnte Dienstzwerg. Bechstein, DSagb. No. 552. bring' my een paer schô! bettelt der verwünschte Schwertmann die Menschen an. Müllenhoff, schlesw.-holst. Sag. No. 350. Wie hier Fuß und Schuh des Zwergen das Landmaß bestimmt, so erklärt sich Anmerk. No. 39 auch über den Maßdaumen der Zwerge.

34) Kirchmaier zu Reitnau. In No. 30 schläft der Hauskobold mit in der Schlafkammer der Knaben und hat da seinen eigenen Laubsack. Heinzelmann, Grimm DS. No. 75, und Geist Heinzlein, in Luthers Tischreden, lassen ein Grübchen im Bette zurück gleich einer Katze (Myth. 471), dasselbe gilt vom Markgrafen Hans aus der Uckermark: Kuhn, nordd. Sag. No. 38, 7. Im Thurm zu Wyl, Kant. Bern, muß jeden Abend ein Bett in einem abgelegenen Zimmer zurecht gemacht werden, an jedem Morgen ist dasselbe zerlegen und unter dem Kopfkissen finden sich einige Batzen Schlafgeld hinterlegt. Kohlrusch, schweiz. Sagb. 1, No. 16. Gleiches von Günnã zu Brugg: unsere No. 361. Vom Kaiser Rothbart erzählt Hertzog, Elsaß. Chron., „der gemeine Mann ist beredt worden, man müße alle nacht disem keyser Friderico zu Triefeld, auch zu Keyserslautern ein Bett machen, darinn er ruhe, denn er sey zu Hagenaw in der burg lebendig verzucket worden." Die mündliche Ueberlieferung fügt bei, der Kaiser habe eine eiserne Bettstelle. Schlafende und entrückte Helden verzeichnet Grimm, Myth. 903. Menzel, Odin 340. Das Bette, das ihnen dabei dienen muß, ist ihr gewesener Altar; ahd. petti, gotapetti: lectisternium, altare. Myth. 59. Ein solcher Opferaltar ist noch das Loßbette, jener lange Schnitterkuchen in Bayern, auf dessen Unterlage die große Aerntenudel, Loß genannt, ruhet, die zum Aernteopfer bestimmt ist. Vgl. Oberdeutsches Gebildbrod, No. 30. Hängt aber des Geistes Bette in Ketten, wie vom Selbstmörder hier in No. 35 behauptet wird, so deutet dies auf den Zauberer, den man in Ketten schwebend gefangen setzt, damit er die Erde nicht mehr zu berühren und neue Kraft dadurch zu schöpfen vermöge. Beispiele hiefür bietet Gräße, sächs. Sagensch. pag. 518.

36) Güggelkopf im Rinngraben. In No. 30 soll der Hauskobold in die Schorgrube, in jenes Senkloch der Düngerstätte gebannt werden, das als Jaucheſammler dient; allein weil er zugleich ein untrüglicher Wetterprophete ist, läßt man ihn im Hause wieder mitwohnen. In No. 38

dagegen hat sich das verwünschte Männlein vertragsgemäß wirklich in die Gülle bannen lassen, wohnt da unter seinem Schöpfchen Spanischgras und schreit die Witterung an, zwar mit der Stimme eines Kindes, aber nach Art des Wetterfrosches. Letzterer heißt aargauisch Heinimüggel, Güllemüggel, Muggeheini; wie in der schlettstädt. Glosse bei Haupt, Zeitschr. 5, 359 grellus mucheimo: Heini ist aber zugleich als Zwergenname nachgewiesen in Anmerk. No. 30, und die Froschgestalt der Zwerge erklärt in Anmerk. No. 3. Der Güggelkopf im Ringgraben und unter der Dachtraufe bewohnt ein Plätzchen, das nicht trocken gelegt werden darf und Menni heißt. Das ist der Menniweg (bei Stalder 2, 208), ein Fuhr- und Triebweg, der als herrenloses Gut unantastbar, hier aber heilig ist, in so ferne er mit der Kirchenmauer gleichläuft. Unter den Zinsgütern von Dorf Endingen verzeichnet der Zinsrodel der Klingnauer-Probstei vom J. 1664, pag. 68. Hdschr. „eine halbe Tauwen (Tagwan) auf der Underwiese, die Vsmänni genannt, stoßt oben an Hans Hauwenstein, vnden an den prüel (Dorfbrühl), neben an die Vsmänni." Der Güggelkopf, der aus dem Menniwege emporfährt, gleicht dem Namen des Geistes Hahnemann. Schmeller, Wb. 2, 589 giebt eine reichhaltige Geschichte dieses Wortes, vergißt aber den noch lebenden Ausdruck „eine Mene Brod", eine Tracht, eine ganze Backete. Gerade dieser Ausdruck ist höchst bezeichnend für den Zug unserer Sage, wornach der Geist gegen eine der Kirche zu entrichtende Kornstiftung besänftigt und gebannt, dann aber, als diese Stiftung vergessen wird, ebenfalls wieder losgelassen wird. Dadurch bestätiget sich die Verwandtschaft unserer Zwergennamen und unserer Brodnamen, die Mißgestalt, welche den Zwergen eigen ist und wir absichtlich unserm Gebildbrode geben. Brod in Vogelgestalt gebacken bespricht die Schrift Oberdeutsches Gebildbrod No. 28.

39) Der Lindegiger am Ruckfelde. Der Lindenbaum, in welchen der aus dem Weinkeller gebannte Geist vom Bannwart „transplantirt" werden soll, ist bereits besprochen pag. 64. Als Tanzlinde des Dorfes erscheint sie auch als der sagenhafte Baum, welcher zugleich leuchtet und tönt; denn in älterer Zeit tanzte man zugleich unter ihr, auf und in ihr, während Musik und Beleuchtung bis in die späte Nacht hinein nicht fehlte. Die Linde, die einst beim Bogenschützenhaus in Schaffhausen stand, breitete ihre Aeste 36 Fuß weit aus. Ueber den untersten war ein Springbrunnen angebracht und ein Fußboden, auf welchem achtzehn Tische standen. Der bereits überalte und nur noch künstlich unterhaltene Baum wurde 1738 durch einen Sturm zerrissen. Meyer-Knonau, Erdk. 1, 507. Beim Zofinger-Schützenhause stehen ebenfalls zwei Linden, die durch die Verschlingungen ihrer Aeste zwei überbretterte Säle bilden, in welchen getanzt wird. ibid. 2, 165. Daraus entwickelte sich der Glaube, daß der Teufel, der von solchen Tanzbäumen seine schönen Namen Lindenzweig, Lindenlaub, Lindenschmied hat, aus den Zweigen herab seiner Schaar aufspiele; und es erzählt der Sammler für Bünden, Chur 1808, Heft 2, 137, wie im Schamserthale ein Liebhaber sich dieses Glaubens bediente, um sich seines Nebenbuhlers zu entledigen. Beide führte der Weg zum Hause des begehrten Mädchens an einer Waldtanne vorüber. Mit einem Lichte und einer Geige versehen kletterte der eine Kiltgänger hinauf und fängt, da der

Digitized by Google

andere erscheint, zu fideln an. Der hierauf Unvorbereitete entflieht und wird vor Schrecken lange bettlägrig, währenddem der Gegner nun Zeit hat, die Braut zu erobern. So soll auch die Irmensäule, nachdem man sie von Paderborn in die Hildesheimerkirche gethan und da als Leuchter gebraucht habe, beim Anschlagen noch einen recht schönen Klang von sich gegeben haben. Compendieuse Staatsbeschreib. Braunschweig 1719 1, 24. So ruft auch ein leuchtender Eichbaum bei Brüssel dem Wanderer zu. J. W. Wolf, ndl. Sag. No. 421; ein umgehauener Baum brüllt wie ein tollgewordener Ochse, Jr. Elsenm. 215; und der von den Sachsen verehrte Weidenstock ruft während der Schlacht Jodutte! Bechstein, thüring. Sag. 4, 84. — Das Schlagwort, das der Geist des Wirthes im Keller ruft: drei Schöppli Wî und e Schoppe Wasser gänd au ne Moss," wiederholt sich bei Schnezler, bad. Sagenb. 2, 360: die milchverfälschende Paulwirthin in Durlach; ebenso bei Weyden, Cölns Vorzeit (1826) 199: die Milchfrau auf der Burgmauer. Drei Quart für eine Kanne, drei Viertel für ein Pfund, ruft die Wandlerin bei Mehlis; voll Maß, voll Maß, ruft die Frau Holle, welche die Bierperchte heißt. Bechstein, DSagb. No. 510. 588. Diese Geister sprechen dabei von dem Maßdaumen, der dem Gotte Wutan geheiligt war und deshalb Alahthuma, Gottesfinger, in der Lex Salica (ed. J. Merkel) genannt wird. Die Luzerner-Maßstange hielt zwölf Daumen-Ellen. Segesser, luzern. Rechtsgesch. 1, 81. Daher heißt's in Caspar Stielers teutsch. Sprachsch., Nürnb. 1691, S. 283: Wenn der Wirth den Diebsdaumen in Wein oder Bier steckt, so werden damit die Käufer herbei gelockt. Den dûmen wiegt man zuo dem fleisch. Seb. Brant, Narrenschiff, cap. 102, von falsch und beschiss. macellarii et lanii digitum vendunt. Geiler v. Keisersberg. Der Lindengeiger wird ins Schränmenloch versenkt, d. h. ins Hagelloch. Bayerisch ist schräen hageln (Schmeller 3, 502), schweizerisch Schrann, Schränne, die Berglücke; verschränzen ist zerreißen, ein zerrissenes Kleid und Werkzeug ist zugleich „verhaglet". Das Vocabular des hl. Gallus übersetzt nubes scrauunc. Scharfsinnig erkennt W. Wackernagel (Zeitschr. f. d. Alterth. 6, 290) in diesem Worte den Eigennamen Scrâwunc. Um so zutreffender wird also aus unserm Zwerg Hauenstein ein Steine (Schloßen) hagelnder Zwerg. Das Copeienbuch der Klingnauer-Probstei, scripsit Sebast. Ziegler, Probst 1657, zwei Theile, handschriftlicher Besitz des Gemeindeschreibers Stäuble zu Frick, verzeichnet unter den Lehensleuten und Zinsbauern zu Endingen und Tegerfelden am öftesten das Geschlecht Hauenstein. Unter dreizehn dieses Namens erscheint da Hans Hauwenstein, der Wirth zu Unter-Endingen als Trager, d. h. als Steuerbote der Probstei (pag. 44). Seine Lehensgüter liegen „in der Zelg zur Linden vff dem Ruggfeldt", „vff der Zelg im Legerenberg bei den Geigenäckhern und der Stregeliswiß" (pag. 100). Ein anderer dieses Namens ist Wirth zu Tegerfelden, 1, pag. 117, „wir Räth und Gemeindt des Dorffs Tegerfelden thuon kundt daz wir für vnß vnd Andreä Hauwenstein allen seinen Erben die taver zu Tegerfelden zu einem rechten Erblehen geliehen haben, daz er würthe. wann er den wein nit gibt, daz recht, sollen die geschworenen solchen schetzen. Besiglet von Caspar von Graffenrieth deß Rathß der Statt Bern, Landvogt Anno 1616."

Digitized by Google

40) Der Geiger Lur von Buttwil. Aargauer-Sagen geben nähern Aufschluß über die Schloßmusik pag. 131, das Bergsingen pag. 275. 283, und über den Berggeiger No. 102. Wolf, Märchen No. 26, erzählt von der Zaubergeige, deren erster Strich alles entseelt, deren letzter alles wieder lebendig macht. Menzel, Odin pag. 232, macht mit Grund auf den süddeutschen Geschlechtsnamen Butzengeiger aufmerksam; es ist der Spielmann, welcher den Butzen, vermummten Geistern, zum Tanze aufspielen muß. Vgl. Rückerts Versmärchen, der Spielmann: Gesamm. Gedichte 1, 489. Je besser das Weinjahr wird, um so lustiger hört man das Weingeigerlein am Brunnstadter-Rebhügel fideln. Stöber, elsaß. Sag. No. 8. Aehnliches von einem Danziger-Schäfer: Bechstein, DSagb. No. 244, pag. 216. Vom flötenden Hauskobold: Müllenhoff, Schlesw. Sag. No. 450. Vom Zauberschloß im Windberge: Gräße, sächs. Sagensch. No. 235.

41) Um der Zwerge los zu werden, verbrennt man das eigene Wohnhaus, stellt aber vor jede Thüre ein Wagenrad, dann können sie durch die Speichen nicht entkommen. Müllenhoff, Schlesw. Sag pag. 338. Vergl. unsere Abthl. I, No. 30.

42) Heidenzwerge zu Klein-Döttingen. Der Zwerge Schmiede- und Bergbaukunst ist vorausgehend besprochen. Als Feuerarbeiter schaffen sie im Dienste Donars. Daher erhalten sie ihren Namen Heiden, wie sie auch noch in Schleswig-Holstein (bei Müllenhoff XLVIII.) geradezu für Heiden gelten.

44) Lämmlisloch bei Wegenstetten. Eine umfassende Erklärung über den Namen dieses Elben und seines Backwerkes findet sich: Oberdeutsches Gebildbrod No. 27: Lamm. Die umgekehrte Sage bei Müllenhoff No. 464: die verwünschte Prinzessin hat in ihrer Burg eine große Menge Bier in großen Fässern liegen, und der Bauer, der sich am Johannistag hier so viel Bier holt, als er mag, giebt ihr nichts dafür als ein kleines weißes Lämmchen.

46) Die Dialen im Bündner-Münsterthale. Die Dialen tragen scharlachrothe Kleidchen und trocknen sie im Sonnenschein. Damit erklärt sich auch ihr rhätischer Name, der nicht von diable ableitet, sondern von dia; sie sind nicht etwa diavoli, sondern Tag- (und Nacht-) Elbe, abd. Tacprehte. Im Glarnerlande hört man sie Faier nennen; das entspricht dem altbayrischen Fei (Schmeller, Wb. 1, 518), mhd. veh multicolor. Im Prättigäu ist ihr Name Waldfänken, in Vorarlberg Rutschifenggen (bei Vonbun); dort sind's die im Walde, hier die am Erdrutsch wohnenden Zündrothen. Vgl. vanke, Nib. 1990, der Feuerfunken. Fankel, im Bayrischen, der böse Feind; Finken, schweizerisch, die aus farbigen Tuch-Enden geflochtenen Fleckchenschuhe. Diese Lichtzwerge erscheinen stets in derselben rothen Tracht, wie der rothbartige Wilde Jäger; beider Aufenthaltsorte schon deuten darauf. Der Berner Wilde Jäger wohnt im Roththale und heißt darnach; die Zwerge No. 45 wohnen in der Rothenfluh. Gewöhnlich haben die Zwerge irgend etwas Rothes an sich. An der Hochfluh im Bachserthal, Kant. Zürich, ist das Erdmännliloch, wo die Zwerge noch nach alter Zürchertracht gehen in blutrothem Brustlatze. Reithard, schweiz. Volks-

Digitized by Google

kalend. 51, 179. Rothes buschiges Haar unter grüner Mütze trägt der Freiburger-Sennenzwerg am Cousinber. Küenlin, Alpenblumen aus dem Greyerzerland, Sursee 34, S. 97. Ein Rothkäppchen trägt das Sennenschrättelein auf Riedera-Alp. Ebenda 104. Beim Toggenburger-Dorfe Wildhaus zeigt sich im Gebirge am Käseruck das Hinterrisi-Mandli in Scharlachkittel und Lampithut. Illustrirt. Schweiz.-Kalend. 51, S. 153. In unserer Sammlung tragen die Erdmännchen ein Scharlachmäntelchen, in No. 2. 13. 17. 46; ihr Erscheinen verbreitet augenblicklich Lichtglanz in der Gegend, No. 12. Eine altbesungene Anekdote aus dem Berner-Oberlande, die sich aber auch im Glarner- und Walliserlande mehrfach localisiert, erzählt vom Schmerz einer Mutter, welcher ein Lämmergeier das Knäblein entführt und auf die unzugängliche Felswand in den Horst hinauf geschleppt hat; nun sehe man noch des Kindes rothes Röcklein droben an der Minderen-Jungfrau im Winde flattern, an einer Stelle, der Speispfad genannt. (Meyer-Knonau, schweiz. Erdkunde 1, 166.) Auch dies sind Reste älterer Sagen von kinderraubenden Zwergen. Andere Zeugnisse: Mythol. 420. 431.

48) Die hinkende Kostkuh. Die Mythe von dem Raube der göttlichen Rinder hat A. Kuhn in Haupts Ztschr. 6, 117 ausführlich entwickelt; gegenwärtige Nummer ist nur ein weiterer Beleg zu jenem Aufsatze. Mittlerweile ist es der lebhaft beschäftigten Sagenforschung geglückt, neue ergänzende Züge zu dieser Mythe aufzufinden, und so kann hier gleich der frische Gewinnst nachgetragen werden.

In der griechischen Sage ist's Apollon, der die Götterkühe weidet, und Hermes mit dem ihm zustehenden Kerberos entführt sie; in der römischen entsprechen Hercules und Cacus. In den Veden rauben die kriegerischen Panis dem Gotte Indra die Himmelskühe und verbergen sie in einer Höhle, und die Götterhündin Sarama wird ausgesendet, sie zu suchen. Allein Sarama kommt ohne sie zurück, sie hat sich nach gieriger Hunde Art mit der Milch der Kühe, ohne diese gesehen zu haben, abspeisen lassen. Der erzürnte Indra stößt nach ihr mit dem Fuße, daß sie die geleckte Milch wieder ausspeien muß, und geht dann selbst die Kühe zu holen. Diese indische Hündin Sarama entspricht dem Hundegefolge Wuotans und dem Sennenhunde, mit welchem in unserer vorstehenden Sage der Sennknecht die Alpe besteigt, um die ausgesetzte Kuh wieder vom Berge heimzuholen. In der westfälischen Sage (Myth. 873) läßt der W. Jäger Hackelbärend seinen eigenen Hund in einer Fehrmannsscheune bis zum nächsten Jahre zurück; ebenso die Frau Gauden eine ihrer in Hündinnen verwandelten 24 Töchter. Da liegt alsdann das Gottesthier ein Jahr lang im Hauswinkel, nichts als Asche fressend, zu Stein werdend, bis im nächsten Jahre der Heljäger wieder vorüberzieht. Man muß demselben in dem Helhause zu hannoverisch Ostenholz an jedem Christabend eine Kuh hinauslassen und erkennt jenes Stück der Heerde, das dafür an die Reihe kommen soll, schon vorher daran, daß es bis Michaelis oder Martini vor allen andern glatt wird und zunimmt. Vergißt man aber am Christtage die Stallthüre zu verschließen, so läuft des Heljägers Hund hinein und ist vor Jahresfrist nicht wieder heraus zu bringen. So weit A. Kuhn.

Durch den Zuwachs an neuen Sagen verdeutlichen sich diese Züge im Einzelnen. Es soll damit die unversiegbare Nährkraft der gottgeweihten

Digitized by Google

Kuh, zugleich aber auch der Frevel herausgestellt werden, den es auf sich hat, sie zu schlachten und zu verspeisen. Dies ist wohl der ursprüngliche Inhalt der indischen Mythe. In der deutschen Mythe dagegen ist das Rinderopfer gestattet, es gehört Wuotan an, dem Gott der Aernte, des Ackerbaues und der Viehzucht, und ein Nachklang davon liegt noch in den Umzügen der Pfingstochsen und Fasnachtochsen, des Mardi-gras. Beide Religionssysteme, das eine, welches unblutige Opfer, und dasjenige, welches blutige brachte, haben unstreitig lange im Kampfe mit einander gelegen, und die daraus entsprungenen Widersprüche trägt die Sage fühlbar an sich. Bald sind es die Zwerge, welche Kühe sowohl stehlen als auch dienstlich hüten; bald nährt die Milch solcher Kühe wunderbar, und bald bestraft es sich, von ihrem Fleische auch nur einmal gekostet zu haben; bald darf auch die ganze Kuh geschlachtet und bis auf die Knochen verspeist werden; bleiben diese nur geschont, so läßt sich das aufgegessene Thier alsbald wieder herstellen. Hierüber folgen hier einige Belege.

Zu des Verfassers Jugenderinnerungen gehört eine Ansbacher-Sage. Im dortigen Stadtwalde Veitlach hat sich ein vor den Schweden entflohener Pfarrer, dessen Name besonders angegeben wird, sammt seiner zahlreichen Familie in eine noch nach ihm benannte Höhle verborgen und überdauert darinnen mit der Milch einer einzigen Kuh den ganzen dreißigjährigen Krieg. Die Nährkraft des Thieres ist also unerschöpflich, da man es in seinem Knochenbau schont. In der St. Galler-Alpe Bardiel bei Ragatz und in der Alpe Weißtannen kommen die Geister des Nachts in die Alphütten, und wenn sie da gekäst haben, rufen sie dem droben im Heu schlafenden Sennen: Christen Küng, chumm mit is gê schotten essen! Henne, schweiz. Merkur 1832, 68. Die Sennen auf den Tiroler-Hochalpen Stilluppe und Floiten lassen vor ihrer Abfahrt vom Berge nach altem Brauche Käse und Brod (auch Schnaps dazu) in der Sennerei zurück, damit der Alte ihnen gut bleibe, wenn er im Winter vom Kössgletscher des Löffelkopfes herabkommt. Meyer, Sagenkränz. aus Tirol 1856, pag. 53. Dieser Alte in Tirol wird im Berner-Oberlande der alte Freiherr von Weißenburg genannt. Er war einer der ursprünglichen Landesbarone und vermachte seinen Bauern hundert Kühe. Nun geht er Nachts auf der Almend umher und giebt dem Weidevieh der Armen aus seiner Salztasche zu lecken. Alpenros. 1815, 282. Um Guttannen im Haslithale gilt derselbe als Zwerg, der den Leuten das Weidevieh entführt, es im Herbste aber wohlgesömmert und verdoppelt an Zahl wieder vor die Ställe führt; daher soll noch folgender Spielreim der Kinder stammen:

Guter Hans von Weißenfluh,
Nimm da wieder deine Kuh
Und ihr fettes Kalb dazu!

Alpenrosen 1827, 311. Der gute Johann ist ein den Reichthum und das Glück verursachender Hauskobold: Müllenhoff, Schlesw.-Holst. Sag. No. 436.

Von schlachtenden und metzelnden Berggeistern, deren Mahlzeiten der Mensch nicht straflos mitmachen kann, ist in dem Folgenden die Rede. Unweit Gutbrunnen, beim Bernerschlosse Rümlingen, ist das Pfaffenloch; drinnen in siebenfacher Höhle wohnen die Erdmännchen und nähren sich von einer einzigen Kuh; aber das ihr zum Verzehren täglich ausgeschnittene Fleisch wächst ihr allnächtlich frisch nach. Jahn, Kanton Bern, 243.

Digitized by Google

Bridel, Conservateur Suisse 1825, No. 43 erzählt vom Jäger, der sich Abends auf dem Freiburger-Moléson in eine schon verlassene Sennhütte begiebt, hier aber den unerwarteten Klang der Heerdeglocken vernimmt und drinnen vier verwünscht aussehende Sennen über dem Geschäfte des Käsens betrifft. Ihre Rede lautet wie Gekrächze der Raben. Sie bieten ihm ein Stück Kuhfleisch an, er schneidet sich aber mit seinem Taschenmesser nur in der Größe einer Fingerspitze ein Stückchen ab. Er kann auch mehr nicht davon essen, denn es fehlt Salz. So entschläft er. Beim Erwachen am Morgen findet er sich statt in einer Hütte auf einem Aschenhaufen. Auf dem Heimwege kommt ihm sein Knabe mit der Meldung entgegen, daheim fehle seit heutiger Nacht der Miroir (Spiegel ist ein üblicher Kuhname) ein Stückchen Fleisch am linken Schenkel in der Größe einer Fingerspitze. Ein Tiroler-Jäger sieht Nachts in eine Sennhütte durchs Fenster hinein und erblickt drinnen großmächtige Männer um ein Feuer. Sie haben ein ganzes Rind vor sich, schneiden ihm Fett und Fleisch heraus, stecken dann die geschundenen Beine zusammen und lassen das Vieh wieder laufen. So macht desgleichen die W. Jagd im Kärntner-Lesachthale ein Feuer an, führt einen Ochsen aus dem nächsten Stall, bratet und verzehrt ihn; die Knochen legen sie aber in die Haut zusammen, peitschen dieselbe mit Ruthen und führen den nun wieder entstandenen Ochsen in seinen Stall zurück. Wolf, Ztschr. 2, 177. 3, 34. Der Röhrknochen ist ein Sinnbild der Fortdauer. So schlachtet der beim Bauern übernachtende Gott Thôrr das Gespann seiner Böcke zum Abendessen und läßt die abgenagten Knochen auf die Bocksfelle zusammen werfen. Diese segnet er am Morgen darauf mit seinem Hammer, wiederbelebt erstehen seine zwei Böcke, aber einer hinkt jetzt. Denn des Bauern Sohn Thialf hat ihm gestern beim Essen das Schenkelbein zerschabt, um den Markknochen auszuschlürfen. Auf ähnliche Weise wiederholt sich bei uns das Hinken einer Kuh, No. 48; das Fehlen der Melkzitze und des Rückenstückes, No. 43. 49. Aehnliches erzählt Vonbun, vorarlberg. Sag. No. 22. 25. Steub, drei Sommer in Tirol, pag. 82. Zingerle, Tirol. Sag. pag. 202. Wolf, Beitr. 1, 88, aus der Legende vom hl. Germanus.

Die Mittel, welche der Sennenknecht gebrauchen muß, um die ausgesetzt gewesene Kuh unangefochten wieder von der verlassenen Sennhütte heimführen zu können, sind Kienfackel, Brod und Hund. Mit Feuerstahl und Agathenbrod versehen und von seinem Hunde begleitet, betritt ein Melseralpler die verwünschte Alphütte, um gleichfalls eine stehen gebliebene Geis hier wegzuholen. Da ruft der Alpgeist:

hättist du nit Fü'rli heiss,
nit Hundeli beiss
und Messerli spitz:
i wött der helfe go günne 's Gitz!

Aehnlich spricht der Geist in der bad. Sag. (Mone, Anzeig. 1838, 53): hättest du deinen rinkenden Rank (Brodkrume), deinen wetzenden Wetz und den schwarzen Kater (Hund) nicht! „So seind siben stuck, förchtet der tüffel auch, feuer, kirrenden karren und ein geschlagnen hund". Geiler, Brösamlin Bl. 78.

49) Das Rücken der Kühe. Viehhütende Zwerge müßen auch heilkundige sein; doch liegt neben dem Brauch auch der Mißbrauch, sie

heilen und schädigen zugleich. Wünschelruthe und Hirtenstab verkehren sich in eine züchtigende Gerte, Schäfer und Schinder sind Geschwisterkinder, sagt das Sprichwort. Das Erdmännlein verkauet Wiesenkräuter und legt sie auf die Verletzung (No. 2. 7.), aber es wirft dem Fürwitz auch Sand in die Augen, No. 21. Es heilt zwar fußkranke Thiere und heißt deshalb beim Iren noch der Doktor (Grin 4, Abth. 2, 462); allein schottisch elfshot gilt vom kranken Vieh, wie unser Hexenschuß von Rheumatismus. Die Hidere-hädere-Holdereberge, auf denen das Weidevieh die Hünsche (Milzbrand) bekommt, sind die Berge der Holderken und Elben (Mone, Anzeig. 1837, 465). Der Zwerg führt, No. 49. 50 eine Gerte und schlägt zugleich mit dem Alpschoß drein. Das Graumännchen führt eine Peitsche, Sommer, thüring. Sag. pag. 110; der Tod eine viersträngige Geißel, Myth. 806. Der Zwergenkönig Antilois giebt dem Macedonierkönig Alexander und seinem Gefolge ein großes Fest; trifft aber die Mundschenken mit dem unsichtbaren Schlag seines Zepters so auf die Hände, daß sie die Weinbecher lächerlich fallen lassen. Wackernagel, Basl. Handschriften 28 ff. Der Gemsenkönig auf Zweilütschinen im Berner-Oberlande stürzt den eidbrüchigen Gemsjäger, der den Gratthieren abermals nachsteigt, zur Strafe über die Fluh, und man schreibt dies Zutodfallen im Gebirge dem Zwergenschlag zu. Wyß, Idyll. 1, 312. Im mhd. Märchen vom Wasserbären (Haupt, Zeitschr. 6, 177) wird erzählt, wie das erzürnte Schretel straft:

sîn hant ist swær alsam ein bll,
swen ez erreichet mit dem slage,
ez sleht in, daz er vellet nider.

In unserer No. 45 wechselt dies Verhältniß; statt daß der Zwerge seine Geißel schwänge, geißelt ihn der Maulthiertreiber; ein Gleiches thut der Tambour dem Graumännchen in Sommers thüring. Sag. S. 110; ein Gleiches thut Sîfrit dem starken getwerc, Nib. 96, und dem Alberich, trotz dessen siebenknöpfiger Geißel, Nib. 463. Daß man das Elfengeschoß fürchtete und deshalb den Zwergen Pfeile und Bogen opferte, belegt Grimm, Jr. Elfenm. CXIII, aus einem Pönitentiale des 12. Jahrh. Eine Symbolisirung des Zwergenschlags sieht das Volk in den Belemniten, die man aargauisch, pag. 193, Stechehörndli (Hörndlimâ-diabolus) und Chalützelstein nennt, zugleich zu Pulver verrieben als Heiltrank braucht. Belemnites, a sagitta sic dictus, nonnullis Alpschoß, h. e. sagitta Incubi dicitur. Wagner hist. natur. helvet. Tiguri 1680. S. 305. Noch gilt dafür der Name Donnerstein, Donnerhammer; im Elsaß (Stöber, Neujahrsstoll. 1850, 43) auch Teufelsfinger. Diese verschiedenen Namensformen finden ihre fortgesetzte Erklärung und Anwendung No. 418, Meister Hämmerli.

50) Herdmandli am Pilatusberge. Die meisten Punkte dieser Nummer stammen aus den Handschriften des Luzerner-Stadtschreibers Rennwart Cysat, welche auf der Luzerner-Stadtbibliothek liegen; dieselben sind von seinem Enkel reichlich ausgezogen, dem gleichnamigen Stadtschreiber Joh. Leop. Cysat. Letzterer hat als Verfasser der „Beschreibung deß Berühmbten vier Waldstätten Sees", Lucern 1661, daselbst auf S. 254 eine „seinem geliebten Herrn Großvatter seeliger Gedächtnus" höchst widersprechende Meinung über dessen so reichlich erzählte Zwergensagen und deren

Werth geäußert. Als Testimonium, wie in damaliger Zopfperiode die Obrigkeit und ihre Diener angefangen, dem Volke eine rationalistisch-confuse Verurtheilung seiner eigenen Bräuche und Meinungen zu dictiren, folge hier des jüngern Cysat Ausspruch über die Zwergensagen des Pilatus: „Vor Jahren seyndt auch vil abenthewrige vnd wunderliche Dinge von Erdmännlin oder Zwergen, so in disem Berg vnd dessen vilfältigen Klüfften vnd verborgnen Gängen jhr Wohnung gehabt vnd zu Zeiten seltzame Sachen mit den Sennen und Bergleüthen sollen verübt, guts, auch böses gethan, etwann etlichen Gold geben, andere aber, die sie bevnrühiget, geplagt oder verachtet, vber die Felsen vnd Flüe hinab gestürtzt haben, welches alles diser Zeit für fabulos gehalten, mehrers aber geglaubt wirdt, da dergleichen etwas vorgangen, lauter Illusiones vnd Betrug der bösen Geisteren gewesen seyent."

Der mitgetheilte Alpsegen ist von Capeller, hist. mont. Pilati 1767, pag. 11, aus dem Munde der Pilatus-Sennen auf der Frostaffel aufgezeichnet, die darinnen angerufenen Heiligen sind Antonius, der gegen die Entzündungskrankheiten des Viehes gilt, daher italienisch ein San Antonio del porco; sodann der hl. Wendel, welcher die Schafe beschützt, endlich St. Loy. Dieser Elogius, Schutzpatron der Schmiede, hat an der Donau seine „Lutkapellen". Meier, schwäb. Sag. No. 330. Er ist derjenige Goldschmied, bei dem einst Jesus sein Pferd beschlagen hat lassen, und dient der Wuotanssage zur Unterlage. Wolf, Beitr. 1, 28. Sein Kirchenfest fällt nach dem deutschen Calendarium des 15. Jahrh. (Haupt, Ztschr. 6, 365) auf den ersten des Wintermonats; nach Schnellers altd. Calender, Luzern 1834, auf den 25. Juni. Letzteres ist der Tag nach dem Johannisfeuer und dem Umtragen des Sonnenrades. Die Sennenbruderschaft in Stansstad hat ihn zum Schutzpatron und nennt ihn Loys. Businger, Kant. Unterwalden pag. 185. Man feiert ihn durch Zunftschmäuse, bei denen man sich als Wilde Männer und Wilde Weiber in Tanngroz (Tannenzweige) kleidet. Musik und Tanz fehlt dabei nicht. Bayrische Fahrtlieder, zu seinen Ehren gesungen, führt Panzer, bayr. Sag. 2, 24 ꝛc. an, darinnen heißt es übereinstimmend mit dem von unserer Nummer mitgetheilten Alpsegen der Sennen:

Ihm opfern ihre Güeter
noch jährlich gar viel Hüeter,
es loben ihn mit Hörnerschall
dreihundert Hirten manichmal,
ein Jeder blast sein Horen,
durchtringen Hertz und Ohren.

Ein Mandat Herzogs Maximilian von 1611 verbietet, seine Statue herum zu tragen, weil man sie, wenn es nicht schön Wetter werde, ins Wasser zu werfen pflege (Panzer, ibid. pag. 282; Schmeller, Wb. 2, 463. 473). Vgl. was über den Lindengiger, No. 39, gesagt ist, der gleichfalls ins Wasser gestürzt wird. Ein Mirakelbuch v. J. 1659 weiß, daß man ihm Ketten von 242 Pfund opferte, eiserne Gürtel und Ringe, eiserne Kühe und sonstige Stallthiere, eiserne Hosen mit Korn gefüllt. Das größte gußeiserne Votivbild, das er in Bayern hat, ist 280 Pfund schwer und heißt Wirtinger, „der in den Wasserwirbel Geworfene." Panzer, ibid. 2, 390. Kleinere nennt man Männer-, Weiber-Leonhard, Lienel, Leonhardsnagel, Raunagel. Als den Befreier der Gefangenen kennt ihn

Digitized by Google

Seb. Brant, Narrenschiff cap. 4 (ed. Zarncke, pag. 7. 307); manche der neumodisch gekleideten Menschen, sagt Brant, haben

vil ring und grosse ketten dran,
als ob sie vor sant Lienhart stan,
der menschen bald duot entbinden,
das er sin ketten nym kan finden.

B. Hertzog, die Schiltwacht (zu Ende des 16. Jahrh.) erzählt, den St. Leonhart haben die Bauern zu einem Gott gemacht und tragen ihm noch heute Hufeisen, Schienen und Wagenketten zu, daß er sich ihrer und sonderlich der Kärrner, die nur mit einem Roß fahren, erbarme.

Die Alpensitte, das Abendgebet durch einen Ruf ins Thal zu künden oder durch das Blasen des Kuhhornes, stammt aus dem Mangel an Kirchenglocken, war aber auch den flächern Landstrecken noch lange eigen. Die Gemeinde Winterthur wurde 1698 von dem Zürcher-Kirchenrathe angemahnt, ihrer Collatur-Gemeinde Gundetschwil das zum Abendgebet benöthigte Glöcklein nun einmal machen zu lassen, „damit man das bisher gebrauchte unanständige Blasen mit dem Kuhhorn" abschaffen könne. Winterthurer-Neujahrsbl. 1847, 184. Bekanntlich blies man im Mittelalter den Tag an, wie man zu Zürich beim sogenannten Sechseläuten den Frühling und das Erscheinen des ersten Storches noch in unserm Jahrhundert durch den Thürmer angeblasen hat.

52) Erdmännlein auf Seeburg. Diese unscheinbare Erzählung steht nur wegen des einen Zuges hier, wornach die Zwerge ihre Mäntelchen zum Trocknen ins Gras breiten. Was hier die einzelne Erzählung nicht mehr versteht, erklärt sich um so vollständiger als die Geisterwäsche in No. 115. 128.

---

# Nachträge.

Pag. 52. Der hl. Werenfrid wird dargestellt mit einem Schiff in der Hand. Er hatte zuerst in Elste, auf einer Rheininsel sein Predigeramt begonnen, war aber nachmals an die Kirche in Westerfort gegangen. Nach seinem Tode stritten sich beide Kirchen um den Leichnam. Man beschloß endlich ihn in ein Schiff zu legen und da zu lassen, wohin das Schiff treiben werde. Selbiges gieng nach Elste. Attribute der Heiligen. Hannover 1843, 152.

Pag. 59. Die Barakenfrau hat ihren Namen, wie es scheint, von der älteren Benennung der im Klosterwalde gelegenen Heuhäuser; solcherlei Nothscheunen und Schuppen nennt das Testament des Bischofs Tello von Chur, v. J. 766, tabulatas cum bareca.

Pag. 79. Den Glauben, daß man Obstdiebe auf dem von ihnen beraubten Baum am hellen Tage festgebannt sieht, bewährt für die Lausitz: Gräße, sächs. Sagensch. No. 667.

Pag. 91. Dem Glücksheer, an dessen Spitze der W. Jäger zieht, muß ein mytholog. Glücksjäger entsprechen, wie dem Gutesheer ein Gutherr (pag. 220). Einen Wilden und verwünschten Unglücksjäger macht schon die ältere Dichtung daraus. In A. von Kellers altd. Erzähl. 157, 10 heißt es vom erkrankten Fräulein:

sie hot des vngelucks yeger
mit seynen henden umbfangen gar.

Pag. 100. No. 90. Schweinereiter auf Thierstein. Der Waatländer Geisterkönig Grebelhou kommt mit seiner Schaar um Weihnachten auf kleinen weißen Schweinen geritten. Im Jourthale hört man dann aus dem Schweinegetrappel, das über die Landstraße herzieht, daß es ihrer viele Tausende sind. Vulliemin, Kant. Waat. 1.

Pag. 111. Gufenstädtli ist der Name der untergegangenen Heidenstadt, und mit demselben Namen wird dorten auf die Berghöhe bei der Stadt Lenzburg verwiesen, genannt Gofisberg. goffe und guffe ist inclinatio dorsi. a Kuffihoug in flumen usque Hunam. urkund. 1093. K. Roth, Klein. Beitr. Hft. 1, pag. 19, houg ist hier Berg, Hügel, Kuffihoug also unser Gofisberg. Bucephalus, heißt's im Liede von Alexander (ed. Diemer, deutsch. Gedicht. 1849, pag. 190) hatte am Rücken Rindshaare, an der Seite Leopardenflecken: uf den goffen rinder har, an sinen siten liebartes mal. Schmeller, Wb. 2, 18 bemerkt, daß man das bayr. Eierwecklein und Nonnenkräpflein Goff, und die Höhlung in der Felswand Gufel nenne; beides wohl wegen ihrer eingedrückten Mitte. Der Wortstamm scheint zu sein gap foramen, cava, ostia. An der Stockhornkette am Thunersee liegt die Ruine des geschichtlich ganz unbekannten Schlosses Gaffertschinken, Schinken in der Bedeutung von Bergschenkel. Alpenros. 1825, 309. Ein Berg des Wallenstattersees heißt Goffelstalden. Scheuchzer, Nat.-Gesch. 1, 57. Churwelsche, lechthaler und vorarlbergische Lokal- und Ortsnamen gleichen Stammes sind: Gufel, Chafuoll, Gafluna, Kaplon, Gflaun, Kafier, Tschifernaun, Cafatuna, Gufidaun. Steub, Rhät. Ethnologie, pag. 179 — 181 zählt diese und noch viele verwandte Namen auf, ihre entsprechende Wortform liegt im churwelschen cuvel (Höhle, cavus) und im deutschen Lokalausdruck Gufer, womit man in den deutschen Gebirgskantonen Schuttkegel und Gletschergerölle bezeichnet.

Pag. 154. Wie hier das Matthisenthier als ein Herenweib erkannt und vom Landvogt auf dem Holzstoß verbrannt wird, so heißt die Alte, welche zu Großenhain als Hexe verbrannt wird, die schwarze Matthesin. Gräße, sächs. Sagensch. No. 88.

Pag. 158. Zu den Beispielen, in denen anlautendes w wechselt mit anlautendem m, reihet sich eines aus der Odenwälder Mundart (bei Firmenich 2, 31): e manne voll hallebeier, eine Wanne Heidelbeeren.

Pag. 161. Der mit der Goldsichel einherreitende Schwedenkönig, (pag. 202) gemahnt an das böhmische Mittagsgespenst. Die Pschipolnitza, eine weiße Frau, geht mit der Sichel in der Hand über Feld, befragt die Arbeiter über Flachsbau und Webkunst und schneidet denen, die in der Antwort stocken, mit der Sichel den Kopf ab. Gräße, sächs. Sagensch. No. 656.

Digitized by Google

Pag. 177. Zu den Namen von Türst und seinem durstigen Heer steht eine Erscheinung, die auf den Waldwiesen um Wilthen, bei Bautzen, als Weiße Frau kommt und der Ewige Durst heißt. Gräße, sächs. Sagensch. No. 655.

Pag. 202. Durchlöcherte Steine an einen dorrenden Baum gethan, kranken Stallthieren in die Krippe gelegt, machen jenen fruchtbar, diese gesund und milchreich (pag. 344). Man hängt sie auch an Wiege und Wochenbett gegen die Trud. Einen solchen Stein besitzt die Hebamme in Stoffeln, es hat ihn ihr Mann aus dem russischen Feldzug mit heim gebracht. Leoprechting, Aus dem Lechrain, pag. 93.

Pag. 349. Zur Symbolik von Licht und Kerze gehört die Kinderrede vom verglimmenden Papierstückchen „die Leute laufen aus der Kirche heim"; das letzte ausgehende Fünkchen ist der Meßmer und Sigrist.

Pag. 353. Zum Joggeli, der alle Stallarbeit aufs Stichwort verrichtet, gehört der Brauch bayerischer Bauern, am St. Jakobstag je einen Gulden Trinkgeld an Knecht und Magd zu geben, damit diese sich die Jackelsstärke trinken und beim bevorstehenden Kornschnitt nicht in den Halmen stecken bleiben. Leoprechting, Aus dem Lechrain, pag. 189.

Digitized by Google

# Sachregister

## zu den Aargauer-Sagen.

Die nebenstehende Nummer giebt die Seitenzahl an. die reicher ausgestatteten Züge und Begriffe der Sage sind Baum, Brod, Grün, Hund, Hut, Mut, Budh und Wut, Jagd, Roth, Scheckig, Schwarz, Stein, Wasser u. s. w. diese sind in dem Register als Leitwörter heraus gestellt und die nächstverwandten Begriffe ihnen beigeordnet. der Leser hat also Brunnen unter Wasser, Mondmilch unter Stein zu suchen.


Abbizüs 197. — No. 514.
Aegypter 127.
ænlenfüssig 268. 332.
affen 364.
Agathenbrod 338. 385.
alpenpfeifer 199.
alpenrabe 266.
alpsegen 327. 387.
alter, dreihundertjähriges 210.
Alvmatt 56.
ameisenkuchen 282. 338.
ammenkarst 288.
ammenschlüssel 288.
Amsbuck 201.
amselblümli 201.
Amselmoos 201.
Amsupper 201.
apfelbauum, wunderthätig 81.
augenlieder rothe 82.
augen, tellergross 259.
aussatz 23.
axt gottes 69. 179.

badende frauen 3. 240.
badende zwerge 267.
baldrian 239.
balkengeister 74. 75. 76. 77.
bannen an bäume 79.
„ in flaschen 186.
„ in schachteln 187.
Barakenfrau 59. 388.
Barthli 337.
bauch, darin die Füsse wärmen 187. 188.
Bauernweh, schloss 7.
Bechtelistag 200. 236.
Beckli 285. 353.
beinhaus 105.
belemniten 193. 386.
Berchtoldenstaude 66.
Bergfriedli 150. 302.
bergklingeln 371.
Bertha 2. 3. 242.
Berthas Sattel 200. 369.
bette des geistes 295. 379.
„ schwarzes 302.
„ steinernes in ketten 303. 379.
„ sieben betten 312.
betrübte 262.
Bibberli 274.
Bibbernmumeli 374.
Bläseli 298. 376.
blaubart 22.
blaue flamme 151. 233.
„ hemde 282.
„ hose 301.
blaue räuchlein 78. 104. 137. 282. 328.
„ zipfelkappe 276.
blutstrahl in der Aare 314.
blutstropfen drei 92.
Boddemaidschi goldnes 149.
Boddeschloss 149.
Boddesee 35. 36.
Bodematt 121.
Bödelmergeist 148.
Bödhli, Budhli, Wuotan 159.
bohnen 110. 225. 243.
bohrloch 315.
Botenstein 119. 219.
bub 295. 345.
Buddhadeus No. 489.
Buddlergräufle, Wuotansbeere 213.
pudel 152. 159. 167.
Pudelmutter 159.
bündelimaidli 150.
Bürgi 339.
Burkhardsloch 30.
butzenmann 352.
butzengeiger 382.
butzmumel 375.
brautlauf des W. heeres 132. 135.
brennender handgriff 45. 47.
brennendes gesüsse 49.
brennende lunte des geistes 166.
brennender mann der Reuss 46.


Digitized by Google

bruchmattmaidli 262.
brücke beim gericht 55. 57.
**Baum.**
apfelbaum 81.
baum gebannt 78. 79. 389.
baumstamm, erlöst 45.
Berchtoldenstaude 66.
birnbaum 80. 270.
blutender baum 70. 71. 72. 73.
buchsbäumiger pfaff 362. 363.
bücklieich 262.
chappelibäumli 234.
dolder 86.
in dornen begraben 262.
dornstrauch 60. 61. 63.
in dorngestalt spukend 81.
eiche 23. 60. 73.
eichmann 80.
baum als gäule 86.
geburtsbaum 88. 90.
geistbannender 292.
hasel 66.
heiligföhre 59. 85.
hohler baum der zwerge 89.
hölzerne frau 362.
hölzerner mann 362.
honigtriefender 240. 245.
kinderbaum 87.
kindlibirnbaum 87.
kirschbaum 80. 83.
lebensbaum 65.
leuchtend und tönend 310. 380.
linde des jüngst. gerichtes 63. 65. 83.
linde, verkeilt 64. 310.
mordbaum 23.
nussbaum 80. 140. 180.
pestbaum 64. 78.
pfaffenkäppchenstrauch 234. 243.
schlofstûd 291.
spindelbaum 241.
tannchris 299.
tanne 26. 88. 90.
tanne, als spazierstöcklein 319.
tannligrotze 39. 89. 387.
tannliwätter 89.
tanzlinden 380.
weidenbaum 233.
weidenröschen 239.
weidenzweig 237.
wunschbaum 82.
**Brod.**
Agathenbrod 338. 385.
backofen der geister 335.
brodessen 173.
brodfressende hunde der w. jagd 112.
brodlaib 136. 278. 285.
brodspenden der geister 246. 294. 335. 352. 367. 368.
brosamen 143. 226. 240.
eierring 236. 246.
Etschroggenbrod 319.
gebildbrod 246. 247.
gepiptes brod 338.

Cassaron 370.
chabbeziner-zipfel 352.
Cheibengraben 232. 259.
Chriemhildengraben 9.
chrügeli 274. 358.
chrügelinägeli 274.
chrungeli 155.
chrützis-chretzis 193. 194.
chudermanndli 288. 356.

dachtraufe 295.
daumen 381.
daumengross 269. 354.
Dialen 318. 382.
Dieter 179.
Dietrich 220.
Dietrichswarte 220.
Ditti 359.
dohle, weissagend 30.
Donner! 7.
donnerhammer 386.
Donnnersketzer 96.
donnersschleifen 108. 133. 202.
donnerstein 386.
dorflôss 99.
drache 257.
dreibeiniger hase 70.
dreihundertjähriger 210.
dreijahrgarn 270.
drei schwestern 3. 258.
Duris 178.
Durstgraben 177.
Dürst und durstig heer 177. 390.

Ebermann 101.
Egel 10.
eichentrog 235.
eichhörnchen Donars, städte gründend 213.
einsteigen in steinsärge 30.
eisenhag 136.
eisentrog 235.
eisenthor 238.
eiszapfen 279.
elendskreuz 261.
Elfliwiese 291.
ellenstab 60. 148. 151.
engelsüss-stöckchen 228.
ente und schwan 143. 144.
entenfüssig 268. 332.
Enzegraben 121.
Enziloch 123.
erdbibberli 274.
erdmännlistube 292.
erdweibchen 273.
Erlacher 189.
erle 240.

Digitized by Google

erlenhonig 240. 245.
esel 141. 145. 200. 284.
Etelmutter 59.
eule 265. 301.
Ewigjäger 179.

Faie 345. 378. 382.
Fankel, Fängg 364. 382.
farnsamen 79.
federhut 332.
federbusch 191. 293. 329.
sichelfeder 303.
feuermänner 47.
„ fechtende 113.
feuerherd unterirdisch 263. 272.
feuersegen 350.
Finkenstein 219.
fisch mit goldring 14. 228.
„ „ rothfaden 8.
„ verwünscht 10.
flaschenbäche 186.
flaschengeist 118. 183. 187. 206. 309.
forelle der zwerge 325.
Frau 265.
freitisch für geister 291.
Frene, dorra weg! 14. 243.
Friedli 150. 302.
friesen. Westfriesen 171.
Froteufel 360.
fuchs 123. 148. 213.
goldener fuchs 101.
grimselfuchs 318.
fuchsloch 236.
Full 351.

gänsefüsse 241. 273. 277. 332.
gänsewein 337.
garten auf dem gletscher 16. 243.
garten auf der schneeschmelze 142.
Gast, bürgermeister 204.
du wüster gast! 206. 208.
Gausserwibli 135.
geburtsgürtel 340.
geigen, der himmel hängt voll, 134.
geiger 307. 310. 311. 328. 382.
geisberge 268. 333.
geisbergerstein 301.
geisbock in kindsnöthen 266. 346.
geisbrunnen goldner 293.
geisfüssig 268. 270. 280. 332. 334.
geis goldne 293.
geissenkanzel 334.
geissenrain 311.
geissler 319.
geiss der Polsterlen 335.
geiss als sobriquet 338.
geissweg goldner 293.
geisterheer 152.
geisterheerde und geisterhirte 212.
geisterkutsche 120. 215. 219.
geistermauer 174.
geistersteg 57.
geisterwäsche 135.
geistmüller am geistwegli 202.
geldstücke in todtenschädeln 48.
Gessler, Gessner, Grissler 187. 189. 226.
Gesslerin 188.
Gigeli-spanner 116. 117.
glas- und gütterligeist 183. 186. 187. 206. 304.
gläserne häuser 280.
glaskrone 230.
Glücksheer 91.
Glücksjäger 389.
glühende augen 302.
Gnut 153.
goldene jungfrau 149.
goldhaar 229.
goldner wagen 216. 218. 349.
goldnes thor der quellen 149.
götzenbilder 207. 361.
Grebel 101.
Grebelhou 101. 389.
grebelistrugge 101.
Guenisheerwagen 95.
Guenishirt 91. 215.
Guetigsg'heer 91.
Guetis- u. Gwodanisheer 165. 220.
Gufenstädtlein 111. 389.
güggelkopf 304.
guggenrain-Babeli 136.
guggernül-Anneli 135.
güllenmännlein 304. 305.
Gundisheer 92. 162.
Gunisheer als wildgänse 92.
Gütchen 370.
gütterlib'schauer. 187.
Gutis-ee 95.
gutschenberg 218.
Gutwetter 122.
Grün.
grünfrackig und rothwestig 71. 179.
grüne gestalt 203.
grünhütler 213.
grüner jäger 178. 210. 292. 293.
grünes loosseil 21.
grüner mann 71. 104.
grünes männchen 182. 326. 359.
grünrock 213. 261. 329.
grünrockiger Töst 176.
grüner schuh 214.
grüne schürze 150. 214.
grünes schwein 212.
grüne zwerge 214.

Haare, drei ausziehen 238.
haarflechte 228.
haarhammel 358.
haarringlein 228. 244.
behaarter leib 319.
haberfutter für die todesrosse 114.
hafen- u. kruggeister 55.

Digitized by Google

Häfniloch 112.
Hag 93. Hagöhrli 92.
Hag, Hägling, Häggele 10.
hag u. heerweg des W. Heeres 131. 173.
hahnenkopf im rinngraben 380.
hahn der Hel 140. 141. 167.
hahnenschritt 185. 206.
hahn mit feuerkamm 167.
hase dreibeinig 70.
haupt im wellenschaum 38.
hauptlose gestalten 166. 201. 219.
haus, obrigkeitlich niedergebrannt 44. 382.
Hermännchen 359.
heerschaaren der geister 170. 171.
hechtköpfe 11.
hecht mit rothem halsband 8.
Hegnau untergegangen 61.
heidenbad 17. 22.
heidenburg 248. 249.
heidenbrunnen 29. 40.
heidenfeuer 127. 313. 316. 382.
heidengalgen 108.
heidengraben 113.
heidenhubel 176.
heidenloch 103. 254.
heidenkunst 315.
heidenschiff 53.
heidentschopen 212.
heidewîblibrünnli 258. 270.
heidewîbli-wî 258.
heidenzwerge 313.
heilkräuter 267. 275.
heiliggeistloch 169. 170.
heiliggraben 114.
Heini, Heinz 373.
Heiterechsee 31.
heiterlöcher 169. 170.
Hell 126.
Hellreiter 126. 128.
hembrunn 29.
Hêrewagen, Cherwagen 215.
herrenstrass 141. 169.
heuwagen 99. 105. 106. 215.
hexenringe 196. 360.
hexenwiese 217.
hexe, wetter siedend 123.
hirschbock 86.
hirsch mit laternen 159. 239. 242.
hochstûd 74.
hodenscheuer 121.
hohle gasse 161. 189.
Holda 242. 245.
hölzerne frau 362.
hölzerner mann 362.
hölzerner pfaffe 362.
Hörwagen 215.
hudelwetter 123. 177.
Hudikreuz 261.
hühnergitter, geister bannend 173.
Hulm 111.
hungerbach 29.
hungerberge-, quellen 40. 113.
hungertuch 154.
Hunna 153.
hunnenbrunnen 153.
hunnenwiesen 153.
**Hund.**
hunde 293.
hundsbach 137.
brod aus der tasche fressend 112.
dorfpudel 106. 138. 159.
geisterscheuchend 322. 385.
glöckchen tragend 109. 178.
feueräugig 105. 251.
feuriger 176.
hundert hundsmägde des Türst 177.
hundsjunge 203.
als kaplan murmelnd 106.
hundsloch 109. 137.
nahrungshund 343.
pudel 167. 209. 253.
pudelmutter 159.
Reusshund 58.
12 hunde Rudolfs von Habsb. 199.
Schlosshund 3.
schwarzer rothzüngelnd 226. 234. 235.
hundssuppe 203.
Valeishund 137.
Walti da! 126. 159. 179.
windhunde 145.
hund als zahlwort 137.
**Hut der Geister.**
Breithut 122.
dreiröhrenhut 126. 185. 292.
dreischnöri 210.
filzhut, eine kanone 122.
grünhütler 213.
hutberge 125.
hut, mantel und degen der berge 125.
hut, ranzen und stab 303.
hut und sack 53.
kaplansbaret 106.
lampihut 124.
nebelspalter 71. 210.
regenhut 125. 296.
rothhut 114. 210.
russpfanne als hut 126.
schinnhut 122.
schlapphut 328.
wachstuchhut 176.
wollhut 300.

**Jagd W., ihr stichwort:**
dass dich keins schänd! 194.
drei schritt abweg! 177. 262.
er will uns auch! 92.
hagöhrlein, wo bist? 92.
hoppedihop! 197.
ich will's halb! 198.
knochen nagen, 175. 194.
mitstreiten, mitreiten! 182.

Digitized by Google

verbind mir's! 96.
Walti, da! 126. 179.
wehr unten, wehr oben! 174. 175.
Jetzer 305.
Jglisten 111.
Brugg-Joggeli 196.
Kinzhalden-Joggeli 183. 291.
Rainhalden-Joggeli 292.
stalljoggeli 285. 353. 390.
irdene frau 59.
Isen, homisen 4.
jungfrau, feuerspeiend 250.
„ schlangenleibig 251.
„ schatzhütend 9. 261.
jungferngraben 283.
junker Oberherr 112.

kalb goldenes 102. 103.
kamm 14. 16. 240.
kanonieren der Rothenburger 220.
todt-kardetschen 143. vgl. No. 508.
karren des teufels 216.
katze der Frau 152. 259.
katzenbrennen 159.
katzenhageln 157.
katzenküsser 157.
katzenrecht 156.
katzentischchen 156.
katze wetterkündend 157.
käsende geister 322. 384. 385.
käse in gold verwandelt 327.
kantz 265.
kegelbahn 129. 163.
kegelspiel 129. 130.
keigelrees 129.
keigelfall, ursa major. 129.
kerze 351.
kette um die stadt 20.
kinderbaum 87.
kind und drei blutstropfen 86.
kindende erdweibchen 266. 325. 339.
kind der geister 271. 273.
kinderhonig 228.
kinderstimme 306.
kindertrog 87. 228.
kleffler 23.
koch 127. 145. 196. 288.
kochen 137. 196. 260. 384.
köchin, alte 152.
kochkelle 288.
kohle 278.
kohlen 266. 281. 284. 311.
kornhütende geister 183. 292.
kornstehlende geister 292. 294.
kornstiftung 204.
kornweg 174. 218. 253.
knochenmann 311.
knochenopfer 105. 194. 195. 265.
kredenzstauf 261.
kristallhaus und kristallkirche 269.
kröte 235. 244. 341 — 345.
krötenalter 344.
kröte wie eine bütte 235.
„ kindende 268.
„ als sobriquet 343.
„ im sodbrunnen 110.
kuchenblümlein 228.
küchlein an haselstauden 127.
kuchen der zwerge 276. 281. 336.
küche der geister 166. 316.
geistermahlzeit 166.
kupferkessel 233.
milchkessel 152.
silberner krug 143.
wasserkrug 148.
brunnenzüber 151.
kuh im Schwedenkrieg 205. 209.
kuh sich wieder ergänzende 316. 323. 324. 384. 385.
kuhhaut sammt den hörnern umgethan 219.
Küngi 278. 348.
kuss erlösender 243. 248. 249.
kutsche feurige 119.
„ ohne geleise 108. 109. 217. 219.
„ gläserne 216.
„ auf den felsspitzen 120. 132. 145. 163.
„ mit laternen 145.
„ mit processionstüchern 136. 138.
„ rasselnde 217. 218.
„ über den wäldern 121.

Lälle 204.
Lällenkönig 207.
löllein 207.
„ hanf-, ofenlöhli 208.
lamm goldenes 103.
„ Mariens 218.
Lämmli, zwerg 317. 382.
Landluegi 179. 219.
lederne brücke 142. 363.
„ frau 363.
„ männchen 363.
Lenz, römerstadt 108.
licht, lebenslicht 36. 37. 280. 349. 390.
einem das licht ausblasen 37.
hinters licht führen 132.
zu licht gehen 33.
liedform, frühere der sage 14. 15. 140.
liedvers erlösend 259.
Lochluegi 104.
Lorenz, heidenstadt 111.
Loy 327. 387.
lugibach 29.

maddänneli, schlüsselblume 140.
Mandlenejäger mit weidenbündel 182. 183.
malazie 23.
Malzengasse 23.
massdaumen 381.

Digitized by Google

Mattis-ee 155. 159. 160. 162.
Matthisennacht 155. 156. 162.
Mattisethier 154. 389.
menniweg 380.
menschenbäckerei 167. 168.
Metteli, rîcher 163. 164. 165.
milchbecken, augen wie, 235.
misthäufchen, geisterwohnung 305. 379.
moor Moritz 93. 97. 99.
mondmilch 326.
moosmann 192. 289.
moosweib 152.
moospferd 192.
mordnacht 156.
most der zwerge 281.
Muet 122. 159.
Muetis 158.
Muet und Wuet 158. 389.
Mumelimann 297. 375.
musik der geister 127. 129. 134. 135. 170. 255. 380.
Müseli u. müselifräuli 151.
Müseri u. müserigeist 152.
musterung (revue) der geister 171.
frau u. her Mut 159.
Mutterees 158.
Mutterloch 159.
Mutti 128.

nachtigall, abberufend 231.
Nägelistadt 8.
nahrungshund 343.
Nickel 362.
Niggel 294.
Biernickel, Daumen-, Hanniggel, Pumpernickel 362.
Niko 7.
Nikus 11.
niessen 283.
nobiskratten 245.
nothdach für geister 39.
grabnuss 171.
nuss und kröte 235.

Oberherr, junker 112.
in œl sieden 205.
Ofenberg 318.
hinterm ofen 112. 268. 288. 296.
ofen unterirdisch 263. 272. 273. 318. 336.
opfer 370. 378.
orchiden 243.

pantoffel 378.
pest verkeilt 64. 78.
pfad leuchtender 1.
Pfaffengällere 177.
pfaffenkäppchen 234.
pfanne als weiberhaube 260.
pfeifchen 231. 239. 244. 299.
alpenpfeifer 199.
pflugsech 128.
Pilatus 325. 386. No. 252.
le Pliorant 345.
prisnestel 152. 243.
pudel 159. 167. 253.
pudelmutter 159.

Quäcki 115.
quecksilber 43. 110. 111.

rabe 331.
rabe auf der schulter 227.
rad feuriges 177. 217.
ins rad geflochten 180.
radspeiche ausbrechen 197.
radspur auf dem hochgebirge 217.
rappenschnabel 291. 331.
rappentanz 291.
rathsherren wandelnde 168.
Rätzel 356. 358.
raubschiff der geister 49.
Rauchloch 328.
regenschirm der geister 124.
reingekehrte höhle 59. 249. 258.
reiterei nächtliche 171. 172. 177.
reiten um die burgzacken 238. 239.
reiterspiel 191.
reitweg 9.
riese fauler 195.
Rindelmoore 100.
ring im Rheinsalm 14.
Rochelmoore 93. 100.
ross 292. 294.
„ anschwellendes 184. 259.
„ achtfüssiges 198.
„ feuriges 181.
„ als glutofen 195.
„ gottes 369.
„ halbes 161. 196. 201.
„ zwölffüssiges 199.
rossknochen 219.
rosskummet 295.
rossmist im hausgange 194.
rübe, gelbe der geister 50.
Ruedelis-hûs 63.
die Ruesse 109.
Ruesserain 126.
russpfanne als hut 126.
Ruthenzug 85.
rothe augenlieder 82.
rothes bahrtuch 114. 136. 212.
rother baumsaft 70.
rothe blüthenkapseln 243.
rothe und weisse bohnen 225.
rother brustlatz 150. 382.
röthelbürste 231.
Rötheli 213.
Rothenburger 179. 185. 212.
Rothenburgerin 213.
Rothenburger Maria 212.
rother faden 8. 340.
„ federbusch 194.

Digitized by Google

rother helmfedern 260.
Rothforelle, chevalier 10.
Rothenfluher 179. 317.
rothe frau 85.
rother fuchs 148.
rothes fürtuch 212. 213. 261.
„ garn 340.
rother hauch 239.
rother hund dreibeinig 212.
rothes hündchen mit rothem halsbande 152. 234.
„ mit rother zunge 235.
rothstrümpfiger strassenhund 212.
rothstrümpfig 56. 85. 114. 210. 212.
rothes Hüsli 4. 219.
rothhutig 114. 210. 326.
rothkammig 212.
rothe kuh 67. 212.
„ leute siebenhäutig 213.
„ maddänneli 140.
rothmantel 10. 162.
rothmützig 29. 285. 329.
scharlachkittel 124. 318. 328.
rothes röcklein 59. 281. 383.
rothe laschenschuhe 163. 230.
zum Rothenschuh 213.
Roththaler 171. 179. 212.
rothe tracht 210. 212.
rother tschopen 59. 85.
rothe quelle 24.
rothfüssiges vögelein 25. 213.
Röthlerwald 121. 212.
rother wamms u. weste 71. 104. 212.
rothes watsäcklein 86.
Rothwasser 288.
rothwein, claret, nikus 11. 317.
Rothenrain 259.
rüefenbart 24.
rüefegüggis 22.
rübehwamms 214.

saal der greise, jünglinge u. kinder 235.
saatfeld des W. jägers 177. No. 440.
sack 297.
Säli 40.
Säligasse 141.
Sälischlösser 136.
sandmann 287.
sandwerfende geister 287.
Sattlerfranz 318.
sau, über Rhein fahrend 100.
säumerei, gespenstige 318.
Schaidos 163.
schäppeli 148.
schatzgitter, schatzhaus, schatzkiste 9. 144. 254. 255. 256. 262. 263.
schatzhügel 32.
schatzschlüssel 120. 137. 167. 228. 230. 234. 259. 261. 262. 283.
schatzsümpfe 32.
Schautairo, Schauterels 163.
Schellenbrünnlein 270.
schellengeläute 296. 318. 371.
schellenkleid 373.
Schellenpeter 38. 297.
schiff der geister 50. 57. 388.
„ versteinertes 53.
„ als trinkgefäss 51.
schiessen gegen geister 290.
schimmel 196. 369.
„ kopfloser 130.
„ viergespann 126. 136. 163.
„ zwölfe Rudolfs v. Habsb. 199.
Schimmelreiter 3. 101. 111. 126. 145. 176. 195—200. 214. 300.
schinkenbein 194. No. 260.
schlange wie ein tau 235.
„ gekrönte 113.
„ glühende 235. 332.
„ als quell 5.
schlangenjungfrau 249. 251.
„ als schlüssel 232.
schleifsteine 108. 133. 202.
schlôfstûd 291.
Schlossmusik 131.
schlüsselblume 140. 243. 257.
schlüssel in der krone 230.
„ als glühende schlange 232.
schmied 364. 366.
erdschmiedli 366.
goldschmiedli 366.
Jetzerschmied 305.
nagelschmied 307.
Peter Mangold 297.
zeugschmied 366.
schmetterling 347.
Schmutzli 337.
schnaps der geister 46. 320.
schneiderhaft reiten 181. 182.
schrännenloch 307. 381.
schratt, ein schmetterling 347.
Schrattenfluh 357. 358.
schrattenstein 344.
schrättelizopf 286.
schuh, ein paar durchlaufen 231.
schuhbüezer 352. 378.
Schuhmacher u. Landmesser 378. 379.
todtenschuh 244.
schüsselchen 143.
schurzfell, hebt schätze 167.
schwan des W. heeres 144.
Schwedenhaus 160. 162.
Schwedenholz, -loch 160.
Schwedenkönig enthauptet 161.
Schwedenreiter mit der sichel 161. 162.
Schwedentrunk 161. 162.
schwein Hagöhrli 92.
schweinefleisch, zwergenspeise 337.
schwein goldnes, silbernes 101.
schweinehändler 310.
schweineheerde in flaschen 206.
„ endlose 211. 389.

Digitized by Google

schweinereiter 100. 389.
Schwetti 161.
Scrâwunc 381.
seelbad 24.
selbstmörder 169.
Selbthan 317.
sichelführende reiter 133. 161. 162. 201. 202. 389.
siebenfach 93. 165. 213. 312. 884.
silbermesser 282.
Simmeler 360.
singende erdweibchen 275. 283.
Sodbrunnen 110. 118. 146.
Sodbaschi 112.
sommervogel 277.
speckessende zwerge 337.
Speck, ein sobriquet 99.
spinne 187.
Spinnmütterli 151.
spinnrad Berthas 200.
spinnende zwerge 270. 274. 277. 355.
spinnen u. weben 243. 315.
spinneweben 287.
stab der geister 183. 185. 199. 230. 283. 303. 324. 386.
Stiefel 301. 377.
Stiefeli 298.
Stiefelis brünnlein 301.
„ leibgeding 302.
„ weidbahn 301.
„ zinsross 302.
Stierengarten 126.
stimmen der W. jagd 192. 219.
stirnband 240.
Strählanneli 151.
Sträggelenjagen 94.
Strohbartel 200.
strohgarbe 206.
strohhalme 269.
bettstroh, galium verum 340.
strohseil 96. 97.
strohwelle 119. 206.
strüdelenhexen 212.
stummer Geissler 320.
stute graue 198.
Susanna Schännis 19.
**scheckige geister.**
graubart u. baumbart 191. 244. 326.
graugurtig mit weissem handschuh 196.
grau und grün 326.
grauhütchen 306.
graurock, weissmützig 214.
graue stute 198.
graues überhemde 313.
scheckige Moritzferkel 97.
schwarze florhaube, weisses goller 152.
schwarze katze weisshaubig 259.
schwarzmanteliger schimmelreiter 214.
schwarzer, mit weisser hemdkrause 214.
schwarzer pfaffe mit weissem gesicht 214.
weisshosig, schwarzrockig 132. 214. 282.
weiss und schwarze katzen 99.
weissröckig, schwarzverschleiert 257.
weisses kleid in schwarzes verwandelt 235.
**schwarz.**
schwarzer bock 103.
schwarze bohnen 243.
„ brustflecken der kühe 76.
„ hände 173.
„ haube 152.
schwarzer hund 58. 105. 109. 136. 140. 143. 144. 206. 226. 229. 234. 251.
schwarzer schatzpudel 235.
schwarze windhunde 145.
schwarzer hut, wachstuch überzogen 176.
„ strohhut 104. 105.
„ leichnam 185.
„ waldlaub 185.
„ bemantelte 132.
„ männer 54. 55. 69. 77. 80. 81. 113. 183. 185. 219.
schwarze mauer 173.
„ kutsche, rappenbespannt 216.
„ russpfanne über den kopf 126.
„ reifröcke 108.
„ ross 199.
„ gesichtstücher 114.
schwarzes jüpplein 152.
**stein.**
Alter Weiber morgengabe 88.
backsteinboden 292. 336.
backtrog 273.
bette steinen 303.
chalützelstein 386.
Chrügelnägeli 274.
donnerstein 386.
Elendskreuz 261. No. 263.
Elmer 357.
fels am zwirnfaden 144. 255.
felsgriff 11.
Finkenstein 219.
Fischbank 107.
feuerherd unterirdisch 263. 272. 273.
geisbergerstein 301.
Geisslerstein 319.
Haglestä 277.
Hauenstein 306. 381.
Iglisten 111.
kinderstein 87. 88. 245. 288. 357.
lamm 103. 317. 382.
Mannje 73. 357.
Marron 73.
Marienmilch 303.
mauer der geister 173. 174.
vermauert 279.
milchmörtel 141.
mondmilch 303.
mühlstein schwimmend 11.
„ in kirchen 13.
Mutterloch 159.
ringe an felsen 6. 7.

Digitized by Google

schiff versteinert 53.
schleifsteine 133. 202.
stechehörndli 193.
steine gelegt 62. 64. 70. 72.
steinköpfe 207.
steinkrüglein 13. 14.
„ ringe 4. 5.
„ särge 30.
„ schleudernde geister 54.
„ tisch 179. 273. 285.
„ waben 358.
stüstein 357.
wetzstein 202.
wirtel 355.
zwergenmühlen 202, 281, 344, 390.

tabakrauchen der geister 137.
tagloch, heiterloch für geister 39.
thalgeist 190.
Thalherren 123.
tanne der geburt 88. 90.
tannenwipfel der ertrunkenen 38.
tanngrotz 289. 387.
Tannligrotze 89.
Tannliwatter 89.
tanzende zwerge 290. 291. 311. 359.
tanzfeindliche geister 294.
Tanzler 291.
tanzplatz 291. 310.
todttanzen 291. 298.
tellergross 259.
teufel ein sauhirte 94.
teufels chätzli 347.
„ griff im fels 11.
„ kanzel 309.
„ karrweg 218.
teufel als kröte 268.
teufelsloch 9. 258.
teufelsnadel 347.
„ rossstall 110. 112.
„ tanzplatz 112. 310.
Thiergarten 126. 127.
„ häupter mit aufgespreiztem rachen 11.
thüre unverschliessbare 95. 98. 168. 169. 176. 219.
todtengässlein 179.
todten- und gottesheere 171.
„ schiffe 53. 388.
„ seen 272. 277.
Toggelikanzel 348.
Toggelikirche 348.
Tomili, Tummlin 326. 328.
Töst 175.
trog 198.
trottengeist 194.
Türst 176. 390.
Türstengjaid 176. 177.
Toustain, Turstinus 178.
Twergis, Twirgi 360.

ungetaufte kinder 228.
unterirdischer gang 265.
ûsmänni 303.

Valeishund 137.
verbind mirs! 96.
Verenabrünnchen 12. 14.
„ krüglein 13. 14.
„ loch 15.
„ segen 14.
„ witterung 14.
vogel, gottesbote 331.
„ lebens- u. todesbote 68. 245. 284.
„ riesiger 256. 293.
„ -artig schwebend 284.
„ stimme 301.

Wachletæ 283.
wähen 265. 270. 276. 281.
wagen, goldner 218.
„ voll gold 281.
wagen, eiserner 95. 372.
„ des W. heeres 215. 372.
„ wettrennen 373.
Wagenlücke 218.
Wali 158.
waldfänken 318.
wälderbube 237.
wanne 143. 145.
wege des W. heeres 141. 169. 217.
wegluege 104.
weidenbaum 238.
weidenröschen 239.
weidenzweig 237.
Wetterherren 123.
wetzstein 202.
wildermann 182. 318. 387.
wildgänse 92.
Wildhans 73.
Willisau 92.
wind böser 293.
Winter, zwerg 184. 292.
wolfsbälge 211.
Wuetis- u. Wôdaneshêr 158. 161. 242.
wasser.
Aescherbrünnli 271.
Bachmaidschi 151.
Bachthal-Anneli 136. 147.
Bornjungfrau 119.
Breitseemaidli 149.
brennender bach 21.
Bruchmattbrunnen 210.
brunnenbube 240.
Brunnenmädchen 151.
brunnen des schimmelreiters 176. 198.
Burkhardsbrunnen 30.
Durstigheer 177. 390.
Elftausendmägdebrunnen 22.
flaschenbäche 186.
Geisslerbrünnlein 320.
goldenes thor der quelle 149.

goldwagen im brunnen 218.
Gondelisee 6.
Guggibad 22.
Güllenmännlein 304.
Häglerstrom 6.
haupt in wellenschaum 38.
heidenbad 22.
heidenbrunnen 29. 40.
heidenwîbli-brünnli 258. 270.
Heiterechsee 31.
Hollabrunn 346.
Homisen 4. 5.
hundsbach 137.
hungerquellen 40. 113.
hunnenbrunnen 153.
kinderbrunnen 17.
lugibach 29.
Niko und Nikus 7. 11.
quecksilberbrunnen 43. 110. 111.
Ramsfluhbrunn 265. 330.
Salibrunnen 40. 197. 198.
salzquelle der zwerge 315.
Schellenbrünnli 270.
schonbrünnlein 29.
Schwetti 161.
see unterirdischer 265. 272. 277. 328. 346.
Silberbrünnlein 56.
sodbrunnen 110. 118. 146.
Stiefelisbrünnlein 301.
Susbach u. goldkette 19. 21.
Verenabrünnchen 12. 14.
wäsche am hochgebirg 135. 152. 211. 388.
waschende Schweden 153. 162.
waschen des alraun. 152.
Wäscherli 150.
wassergeist 10. 57. 187. 273.
wasserkrug goldgefüllt 148.
wasser der stubendecke 43.
„ sündfluthliche 1. 2.
ins wasser stürzen der bilder 387.
wein- u. kornströmender brunn 41.
Wiborades badstande 16.
zwergenbrünnlein 346.

**weiss.**

weisse und gelbe bohnen 110. 225.
linnenbedecktes gebirge 211.
weisse ferkel 97. 101. 389.
weisshaariger geistmüller 204.
weisse gestalt hauptlos 121.
weisse haube 85.
„ sechs neue hemden 50.
weisses hirtenhemde 326.
weisser hirsch 239.
weisse hunde 152. 219.
„ jungfrauen 62. 76. 96. 97. 132. 143. 149. 151. 166. 202. 224. 248. 249.
„ reiteruniform 172.
neunzehn weisse rosen 233.
weisser stein im hahnenkopf 202.
weisse schürze, gelbe haarschnur 148. 150.
„ tücher 143. 225.
„ wehende tücher 153.
„ wölklein 239.
„ zipfelkappe 126. 145.
leichenweisser zwingherr 126.

Zavoudzavou 194.
zeine 233.
zenne, drath 259.
Ziegler 178.
ziegelgässchen, -hütte, -matte 151.
zigeuner 127.
zinnkannen 198.
Zipärtli 276.
zipfelkappe 145.
züseli, zibüseli 157.
zwergengeissel 386.
„ haus 312.
„ heilkunde 385.
„ honig 354. 358.
„ kind 273. 345.
„ knoten 280.
„ küngi 278.
„ krieg 281.
„ most 281. 337. 365.
„ mühle 281. 367.
„ ross 367. 368.
„ geschenk 339.
„ schlag 386.
„ schuh 378.
„ speise 337. 344.
„ sprache u. stummheit 176. 261. 305. 325. 345. 385.
„ sprüche 266. 267. 278. 288. 308. 317. 325. 330. 346. 348. 355.
„ wagen 281. 349.
„ wanderung 338.

Druck und Verlag von H. R. Sauerländer in Aarau.

Digitized by Google

# Schweizersagen

# aus dem Aargau.

---

Gesammelt und erläutert

von

Ernst Ludwig Rochholz.

Zweiter Band.

Aarau.
Druck und Verlag von H. R. Sauerländer.

1856.

# Inhaltsverzeichniß

## des zweiten Bandes.


pag.

Einleitung, der Sagenkreis vom Stiefelreiter . . . . . XI

### VI. Zauberthiere.

No.

**Drache und Schlange.**

234. Drachenstein von Rohrdorf . . . . . 1
235. Wurm bei Merenschwanden . . . . . 2
236. Wettinger-Drache . . . . . 2
237. Taufstein der Kirche von Rein . . . . . 3
238. Reußschlange und Drachenloch . . . . . 3
239. Stollenwurm bei Wölfliswil . . . . . 4
240. Schlange im Galgenhölzli . . . . . 4
241. Wißmaidlitanne bei Oberflachs . . . . . 5
242. Beraubte Schlange zu Veltheim . . . . . 6
243. Der Freihof von Aarau . . . . . 7
244. Haldenthier in Aarau . . . . . 9
245. Bachthier in Entfelden . . . . . 11

**Stier.**

246. Uristier an der Reuß . . . . . 14
247. Der Gontenschwiler Muni . . . . . 17
248. Nächtlicher Stier bei Mettau . . . . . 18
249. Blitzabwehrende Stierhäupter . . . . . 18

**Roß.**

250. Härdlimann bei Klingnau . . . . . 20
251. Sandgrubengeist bei Frick . . . . . 22
252. Bachplätschi in Leugnau . . . . . 22
253. Kaibenrain bei Oberflachs . . . . . 24
254. Schimmel auf der Gislifluh . . . . . 26
255. Spukende Rosse . . . . . 27

**Hund.**

256. Krümbihund bei Siggingen . . . . . 27
257. Wäldermä bei Kaiserstuhl . . . . . 27
258. Reinacher Dorfthier . . . . . 28
259. Dusseli bei Moosleerau . . . . . 29
260. Trottengeist in Frick . . . . . 30
261. Dorfpudel in Wettingen . . . . . 32


Digitized by Google

| No. | | pag. |
|---|---|---|
| 262. | Bergschwarz zu Birrwil | 32 |
| 263. | Höhlenthier bei Oberfrick | 32 |
| 264. | Lädligugger=Xaveri | 34 |
| 265. | Verschiedene Dorfhunde a — s | 36 |
| | **Vogel.** | |
| 266. | Störche zu Veltheim | 38 |
| 267. | Alrune und Schneider | 42 |
| 268. | Alrune zu Bukten | 43 |
| 269. | Bauer Riesli | 43 |
| 270. | Das Elsterngeschrei | 45 |
| 271. | Das Erhängen spielen | 46 |
| 272. | Untreue Magd zu Laufenburg | 47 |
| | **Kröte.** | |
| 273. | Die Krötenthaler zu Veltheim | 47 |
| 274. | Kröten als Goldstücke | 48 |
| 275. | Schneckenhäuser und Kronenthaler | 49 |
| 276. | Schatzhütende Kröte | 49 |
| 277. | Dorfthier zu Seengen | 50 |
| 278. | Ringgenberger Schloßkröte | 50 |
| 279. | Schatzkröte in Kirchdorf | 50 |
| | **Hirsch.** | |
| 280. | Hirschbock im Ramhölzli | 51 |
| 281. | Der Hirsch und der Jägerhans | 51 |
| | **Katze.** | |
| 282. | Katze auf der Freudenau | 51 |
| 283. | Die Näherin | 52 |
| 284. | Müllersfrau als Katze | 52 |
| 285. | Der unerfüllte Traum | 53 |
| 286. | Spukende Katzen a — g | 54 |
| | **Hase.** | |
| 287. | Erhängen am Strohhalm | 56 |
| 288. | Dietrich von Muridorf | 56 |
| 289. | Der Ronijäger | 58 |
| 290. | Sigristin von Bremgarten | 58 |
| 291. | Zofinger Hasenfrau | 59 |
| 292. | Hannele von Eggwil | 59 |
| 293. | Fraufastenkind und Hasenpfoten | 61 |
| 294. | Hase bei Remetschwil | 62 |
| 295. | Das Regiment am Marsch | 62 |
| 296. | Tegerfelder Schloßhase | 63 |
| 297. | Verschiedene Hasenfrauen a — c | 63 |
| | **Bock.** | |
| 298. | Der Geisbock im Stall | 64 |
| 298a. | Der Esel in der Tenne | 65 |
| | **Unthiere.** | |
| 299. | Oerkenthier im Frickthal | 66 |
| 300. | Trottenthier zu Oberflachs | 68 |
| 301. | Bachthier am Solenbach | 69 |
| 302. | Dorfthier in Suhr | 69 |


Digitized by Google

| No. | | pag. |
|---|---|---|
| 303. | Ungeheuer in Uefen | 70 |
| 304. | Unthier bei der Kaiſtnerbrücke | 71 |


## VII. Brennende Männer.


| | | |
|---|---|---|
| 305. | Die beiden Wartburger | 74 |
| 306. | Der brennende Bräutigam | 75 |
| 307. | Schatzgräber im Adlisberg | 76 |
| 308. | Grenzfrevler im Siggenthal | 77 |
| 309. | Erlöster Götti in Vilmergen | 78 |
| 310. | Verwünſchter Feuermann erlöst | 78 |
| 311. | Die Marcheversetzer z'Rinach | 80 |
| 312. | Der Brünnlige bei Wohlen | 80 |
| 313. | Der Riedlinger-Brünnling | 81 |
| 314. | Handſpur des Brünnlings a — b | 81 |
| 315. | Der Kahlofenbauer | 82 |
| 316. | Der Hölderli-Jokeb | 82 |
| 317. | Der Feuermann bei Ehrendingen | 82 |
| 318. | Feuermann bei Lengnau | 82 |
| 319. | Hackengeſpenſt in Tegerfelden | 83 |
| 320. | Irrlicht am Lorenzobad | 83 |


## VIII. Rechtsſagen.


| | | |
|---|---|---|
| 321. | Freiheiten um die Homburg | 87 |
| 322. | Reichthum der Grafen von Froburg | 89 |
| 323. | Ende des letzten Froburgers | 90 |
| 324. | Das Butterbrod der Wittwe | 91 |
| 325. | Eliſe Pagan in Caſteln | 92 |
| 326. | Schaffner im Schloſſe Caſteln | 94 |
| 327. | Wildi-Küfer in Oberflachs | 94 |
| 328. | Trog im Binzenhof bei Aarau | 96 |
| 329. | Ammannsmatte in Würenlingen | 97 |
| 330. | Der Giſiſchmied von Mörikon | 98 |
| 331. | Der Buchlisberg bei Schöftland | 98 |
| 332. | Der Choblezer im Ebbenlöh | 98 |
| 333. | Gleichaufshöhle bei Maiſprach | 101 |
| 334. | Bremgarten und der Fiſchbacher Wald | 103 |
| 335. | Hieno am Katzenſtriegel | 106 |
| 336. | Hünemauch bei Zurzach | 107 |
| 337. | Wie die Freienämter unfrei wurden | 108 |
| 338. | Stiefeliſchreiber von Muri | 110 |
| 339. | Stiefelirüter v. J. 1740 | 111 |
| 340. | Stiefelireiter am Schongauer Hof | 112 |
| 341. | Der Ring von Halwil | 114 |
| 342. | Schimmelrüter im Gättibuch | 116 |
| 343. | Schimmelreiter von Homburg | 117 |
| 344. | Schimmelritter von Lieſtal | 118 |


Digitized by Google

| No. | | pag. |
|---|---|---|
| 345. | Müſerngeiſt von Gäbisdorf | 118 |
| 346. | Der ſchwarze Pfaff in Wettingen | 120 |
| 347. | Der Banntheiler als Hund | 120 |
| 348. | Der Bowäldler von Wittnau | 121 |
| 349. | Blutender Knochen bei Baden | 122 |
| 350. | Ausgebrochener Knochen vor Gericht | 122 |
| 351. | Zürich-Heirl von Zurzach | 123 |
| 352. | Die Fährenthaler Brüder | 125 |
| 353. | 's Todtebeindli | 126 |
| 354. | Blutender Chriſtus in Döttingen | 127 |
| 355. | Der enthauptete Hausvater | 128 |
| 356. | Der todte Mann im Fußweg | 128 |
| 357. | In Spreuer begraben | 129 |
| 358. | Joggeligeiſt in Sarmensdorf | 130 |
| 359. | Wolfgrabengeiſt zu Leidikon | 131 |
| 360. | Geiſterbett am Steinerntiſch | 134 |
| 361. | Der Günnä zu Brugg | 135 |
| 362. | Die Mutter auf dem Schweinekoben | 136 |
| 363. | Fritze Böhni in Möhlin | 137 |
| 364. | Beſchworner Lehrer an der Reppiſch | 138 |
| 365. | Flaſchengeiſt im Habsburgerwald | 139 |
| 366. | Strohflaſche im Eiet | 140 |
| 367. | Flaſchengeiſt bei Brugg | 140 |
| 368. | Kruggeiſt im Gnadenthal | 141 |
| 369. | Hausgeiſt in Hornußen | 142 |
| 370. | Der Gebannte in Gränichen | 143 |
| 370 a. | Die zwölf Weinverfälſcher | 144 |
| 370 b. | Der Choll im Sennhof | 144 |


## IX. Zauberer und Hexen.


| | Zauberer. | |
|---|---|---|
| 371. | Hans Koſchewitz zu Helliken | 146 |
| 372. | Vom Schalemê z'Wölfliswil | 148 |
| 373. | Der General zu Caſtelen | 149 |
| 374. | Suhrer-Zauberkugeln | 149 |
| 375. | Der Lenzburger-Schmied | 150 |
| 376. | Der Meiter von Uerkheim | 150 |
| 377. | Wanzenſchneider in Obermumpf | 151 |
| 378. | Thiſeheiri von Schneißingen | 152 |
| 379. | Horenbauer von Asp | 153 |
| 380. | Geiſerfriedel von Unterkulm | 156 |
| 381. | Salzheiri und Ueribernet | 157 |
| 382. | Düri-Joggeli von Teufenthal | 157 |
| 383. | Der Mauſer von Lupfig | 158 |
| 384. | Der Giger-Jokeb | 158 |
| 385. | Der Tübeſlütze von Entfelden | 159 |
| 386. | Rechts und Links | 161 |


Digitized by Google

| No. | | pag. |
|---|---|---|
| 387. | Das Haupt des Schwiegervaters | 162 |
| 388. | Histörchen vom Wechselthaler a—c | 163 |
| | **Hexen.** | |
| 389. | Die Heuelschneiderin in Wallbach | 165 |
| 390. | Gebannte Hexe von Birmensdorf | 166 |
| 391. | Die Bodere von Zurzach | 167 |
| 392. | Milchstellerin zu Tegerfelden | 167 |
| 393. | Butterhexe und Schneider zu Tegerfelden | 169 |
| 394. | Die entlarvte Hexe | 170 |
| 395. | Hexe von Aristau | 170 |
| 396. | Krötenmacherin von Rietheim | 172 |
| 397. | Das Tschofeld bei Waltenschwil | 173 |
| 398. | Hexenrache | 173 |
| 399. | Die fallende Lichtscheere | 174 |
| 400. | Hexentanz im Widacher | 175 |
| 401. | Hexentanz im Mooswalde | 176 |
| 402. | Das getödtete Hexenweib | 176 |
| 402 a. | Die Hagelmachende Pfarrerin | 177 |
| 403. | Der Nachtschaden | 178 |
| | **Unholde.** | |
| 404. | Die Glunggeri | 179 |
| 405. | Frau Itte | 180 |
| 406. | Holle und Heuel | 180 |
| 407. | Leverne Frau | 181 |
| 408. | Die Frau Luz | 182 |
| 409. | Tannligrotze, Tannliwatter | 183 |
| 410. | Frau Zipperine | 184 |
| 411. | Windspiel | 184 |
| 412. | Weibliche Scheltnamen | 187 |
| | **Teufel.** | |
| 413 a. | Alahirzi | 189 |
| 413 b. | Bölimann | 198 |
| 414. | Böggel | 199 |
| 415. | Donner | 201 |
| 416. | Meister Geißfueß | 203 |
| 417. | Der Grüne | 203 |
| 418. | Meister Hämmerli | 204 |
| 419. | Hoggemä und Häggele | 207 |
| 419 a. | Das Häggele | 209 |
| 420. | Kindlisfresser | 209 |
| 421. | Euphemismen statt Teufel | 209 |
| 422. | Der Tilder und Teller | 210 |
| 423. | Stäbli und Stabi | 210 |
| 424. | Unterschiedliche Namen des Teufels | 211 |
| 425. | Wouwou | 211 |


## X. Heiden- und Römerbauten.


| | | |
|---|---|---|
| 426. | Die Heiden auf den Bilgerhöfen | 213 |
| 427. | Die Heidenhäuser | 215 |


Digitized by Google

| No. | | pag. |
|---|---|---|
| 428. | Die ledernen Brücken | 216 |
| 429. | Klosterfrau im Morenthal | 218 |
| 430. | Des Teufels Wohnorte | 219 |
| 431. | Teufelskeller am Kreuzliberge | 220 |
| 432. | Schnellert am Bötzberge | 220 |
| 433. | Die Teufelsburdi | 221 |
| 434. | Teufelsbeschwörung | 222 |
| 435. | Der Wirtel in der Aare | 223 |
| 436. | 's Tüfels Erbsmuess | 224 |
| 437. | Schmied Jetzer bei Lengnau | 229 |
| | **Flur- und Ortsnamen.** | |
| 438. | Die drei Schlösser in Aarau | 230 |
| 439. | Der Gewappnete am Stättlein | 231 |
| 440. | Die Bärlisgrube | 232 |
| 441. | Ruine Besserstein | 233 |
| 442. | Stadt Bremgarten | 234 |
| 443. | Dottikon | 235 |
| 444. | Eicken | 236 |
| 445. | Schloß Hallwil | 236 |
| 445a. | Seengen | 237 |
| 446. | Hermetschwil | 237 |
| 447. | Hornussen | 238 |
| 448. | Klingnau | 239 |
| 449. | Kronweißenburg zu Tegerfelden | 241 |
| 450. | Ritterschwert zu Tegerfelden | 242 |
| 451. | Kulmerau | 242 |
| 452. | Leibstadt | 243 |
| 453. | Leidenberg | 243 |
| 454. | Löhren | 245 |
| 455. | Römerstadt Muheim | 245 |
| 456. | Der Hune zu Niederwil | 248 |
| 457. | Kloster Olsberg | 249 |
| 458. | Hunnenschlacht, und Gründung Olsbergs | 249 |
| 459. | Graf Irminger in Hermenstal | 252 |
| 460. | Heidenhügel in Sarmensdorf | 256 |
| 461. | Reitnau und der Suhrenthaler-See | 256 |
| 462. | Vilmergen | 257 |
| 462a. | Stadt Brünis bei Wohlen | 257 |
| 463. | Die Waglithaler | 257 |
| 464. | Würfelwiese zu Baden | 259 |
| 464a. | Wehklage beim Zofinger Brennhaus | 260 |
| 465. | Zurzach | 262 |
| 466. | Uebernamen der Alt-Aargauer Städte | 262 |
| 467. | Die Esel gescholtenen Ortschaften | 265 |
| 468. | Der Esel von Baden | 272 |


## XI. Legenden und Märchen.


**Legenden.**

| | | |
|---|---|---|
| 469. | Bekehrer auf der Heidenburg | 275 |

| No. | | pag. |
|---|---|---|
| 470. | Staufberger Kirchenglocke | 275 |
| 471. | Das wirksame Stroh | 277 |
| 471 a. | Das Strohverbrennen | 278 |
| 472. | Vom Frickthaler-Patron Fridolin | 279 |
| 473. | Fünf Finger im Olsberger-Portal | 280 |
| 474. | Die drei Angelsachsen in Sarmensdorf | 282 |
| 475. | Wandernde Kirchenbauten | 286 |
| 476. | Heidenhütte von Uerkheim | 287 |
| 477. | Die Gislikirche | 289 |
| 478. | Kirchenbau in Schneisingen | 292 |
| 479. | Entstehung der Kirche zu Niederwil | 294 |
| 480. | Lengnauer-Kirchenbau | 295 |
| 481. | Die Reinacherkirche kommt vors Dorf | 296 |
| 482. | Kirchengründung im Jonenthal | 297 |
| 483. | Kirchenbau zu Wölfliswil | 299 |
| 484. | Tempel auf dem Isenberge | 299 |
| 485. | Hl. Mathilde zu Hochsol | 301 |
| 486. | Die fromme Zofingerin | 301 |
| 487. | Der Höllhafen | 303 |
| 488. | Es Mærli vom-æ Schniderli | 305 |
| 489. | Die Schuhe des Ew. Juden | 306 |
| 490. | St. Petrus mit der Geige | 309 |
| 491. | Brod und Wein der hl. Verena | 314 |
| 492. | Das Abhandeln | 315 |
| 493. | Der Heiland weiß nichts von Leiden | 315 |
| 494. | Der Faulpelz unter Räubern | 317 |
| 495. | Das Geschichtchen vom Brodessen | 318 |
| 496. | Geschichten vom Rheinfall in Laufenburg | 319 |


## XII. Geschichtliche Sagen.


| | | |
|---|---|---|
| | **Kaiserzeit.** | |
| 497. | Erbauung der Habsburg | 342 |
| 498. | Goldkette zu Habsburg | 344 |
| 499. | Rudolf v. Habsburg auf der Jagd | 344 |
| 500. | Vor und nach Albrechts Ermordung | 347 |
| 501. | Bruderhöhle bei Brugg | 349 |
| 502. | Reinacher Barone und die Eichenberger Bauern | 350 |
| | **Mordnächte.** | |
| 503. | Thomas Falkenstein verbrennt Brugg | 355 |
| 504. | Burgermeister Gast vo Rhifelde | 362 |
| 505. | Dohar-goht-er in Zofingen | 368 |
| 506. | Mordnacht in Aarau | 373 |
| 507. | Buboo auf Muniwolf | 374 |
| | **Schwedenzeit.** | |
| 508. | Schwertlimann in Laufenburg | 374 |
| 509. | Die große Glocke zu Frick | 378 |
| 510. | Entstehung von Ober-Mumpf | 378 |


Digitized by Google

| No. | | pag. |
|---|---|---|
| 511. | Wo der Schwedi isch chô | 379 |
| 512. | Das grüne Schwedenroß | 380 |
| | **Pestzeit.** | |
| 513. | Die zwölf Rheinfelder Rathsherren | 385 |
| 514. | Das ausgestorbene Abbizüs | 387 |
| 515. | Achenberg bei Zurzach | 388 |
| 516. | Der Schwarze Tod in Wettingen | 390 |
| 517. | Das Geschlecht Oelhafen | 390 |
| | Nachträge | 392 |
| | Sachregister | 398 |


Digitized by Google

# Einleitung.

## Der ſchweizeriſche Sagenkreis vom Bannräuber Stiefeli.

Mit dieſem zweiten Bande ſoll vorliegende Sammlung der Aargauer Sagen für einſtweilen abgeſchloſſen ſein.

Alle Sage bezieht ſich auf die Vergangenheit; mithin haben die Erzählungen dieſes Buches wenig mit der jetzigen Zeitrichtung und nichts mit den Perſonen der Gegenwart zu thun. Die Zeit, nach welcher das Werk ſeine Begebenheiten anberaumt, liegt faſt durchgängig im vorigen Jahrhundert, es datirt ſein letztes großes Weltereigniß vom Jahre 1798 an (1, pag. 302. 314). Dies nennt es das Jeſuiten- und Franzoſenjahr (1, pag. 302. 2, 364), und nach dieſem Jahrgang berechnet es nicht bloß das Alter ſeiner Leute, ſondern ſogar dasjenige der Wohnhäuſer, der Dachungen und der Straßenzüge (1, 98. 101). Da gilt mithin überall noch die Schweiz von ehedem; die Tagſatzung verſammelt ſich da noch zu Baden (No. 69). Die gnädigen Herren von Bern herrſchen noch als Vögte und Schloßjunker im Lande (No. 95). Dieſes gehört noch ins Konſtanzer Bisthum (No. 69), die Kloſtervögte bereichern ihr Stift noch auf Koſten der Gemeinden (No. 333. 346). Die Kapuziner von Baden ſind's, die dem Bauern herkömmlich noch das Stallvieh beſegnen und die Hausgeſpenſter (1, pag. 294. 304) wegbeſchwören.

Die Klöſter ſind alſo noch nicht aufgehoben, die Staatsdomänen ſind noch nicht verkauft (No. 326), die Almenden noch nicht vertheilt, die Städter treiben ſelber noch die Viehzucht und den Weidetrieb (No. 80. 104); ſogar jene alten Stadtweibel, die einſt den Kanton conſtituiren ſahen, oder die ſich gegen Bonaparte zur Zeit der Helvetik wehren wollten (1, pag. 120), ſind hier als noch Lebende betrachtet (2, pag. 391). Solcherlei Leute haben alle noch etwas Patriarchaliſches in Rede und Ausdruck, ſie kennen die geſchämige Bedenklichkeit nicht, daß ſich das Erzählte wenig zu der neu erworbenen Bildung ſchicken möchte, der Eifer für das für wahr gehaltene Alte und der Eifer für die neuzeitige Ortsehre iſt in dieſen rechtſchaffenen Menſchen noch nicht in einen leidigen Zwieſpalt gerathen. Wenn daher öfters ſolche Großväter Erzähler in dieſem Buche ſind, ſo z. B. in No. 464 a., ſo weiſet es damit nach, daß es ſelber ſchon vor langer Zeit zur

Digitized by Google

Aufzeichnung gekommen ſein muß. Es ſtammt aus einem jetzt bereits wieder veralteten Denken, das jetzt aufgeſchulte Begriffsweſen iſt ihm beinahe eben ſo fremd, wie jene kleinen Zopfmunicipalitäten, jene fürſtäbtiſchen Kloſterherrſchaften und Bauernariſtokratien des vorigen Jahrhunderts unſerm heutigen Kantonalzuſtand fremd und unvorſtellbar geworden ſind. Es kommt daher dem jetzigen hierländiſchen Leſer auch kein Recht zu, das in dieſem Buch Erzählte auf ſeine Familie und ſein Anweſen beziehen zu dürfen, ſelbſt dann nicht, wenn gerade dieſes ſein einzelnes Haus und Grundeigenthum in einer namentlichen Geſchichte hier mit aufgeführt wäre. Denn wer jetzt eben ſein Heu auf jenem Hügel mähen wird, unter welchem die Sage in ihren großen Gewölben noch immer forthauſet, ob derſelbe als neu eingewanderter Fremder, oder als guter echter Altburger zu dieſem Beſitze gekommen ſei, darnach fragt die Sage überhaupt nichts. Ihr gilt in dieſen haſtenden ſchnellgehenden Tagen mehr als jemals der Spruch, daß der Menſch nur von heute, und morgen ſelbſt wieder dürres Gras ſei. Sie hat für dieſen Neuling noch kein Gedächtniß; mit gewendetem Haupte ſchaut ſie rückwärts in die Zeiten, nicht aber nach dem neu abgezirkelten Gutszaun, auf welchem man jetzt die jüngſten Windeln trocknet. Ihre Urkunden ſind kein Notariats-Inſtrument, ihr ſpekulativer Gedankengehalt iſt keine Geldſpekulation; ein grauer Nagelfluhblock, am Waldſaume liegend, iſt ihr weit wichtiger, als das nagelneue Sommerhäuschen, das der Städter ſich eben dahin gebaut hat. Sie will alſo dem guten Manne den Kaufpreis ſeines Gütchens gewiß nicht entwerthen, wenn ſie den Lärm ihrer W. Jagd daran vorbei führt; allein warum war er ſo unerfahren, gerade dorthin zu bauen. Nun iſt er naiv genug, ihr das Gaſtrecht aufzukünden, und ſie mit polizeilicher Ausweiſung zu bedrohen. Dafür aber muß er ſie in dem Neubau dieſes Buches fortwohnen laſſen. Hier trifft ſie auf keinen Gensdarmen, ſie hat auch ihr altes Heimatrecht nicht verloren, ſie hat nur einſtweilen die Miethe gewechſelt. Mit Lächeln erinnert ſie ſich nun an jenes Wort ihres Vetters, des Hausgeiſtes, den man gleichfalls im Bauernhauſe nicht mehr haben wollte. Da er nicht gieng, ſuchte man ihn im angezündeten Wohnhauſe mit zu verbrennen. Es war Zeit, daß wir herauskamen! ſagte er, die Hände ſich reibend, und ſaß hinten auf dem beladenen Wagen, den der Bauer aus der brennenden Scheune eben noch herausgeſchoben hatte.

Die gegenwärtige Sammlung iſt 536 Nummern ſtark, von denen 242 auf den erſten Band und 294 weitere auf dieſen kommen. Die im Werke ſelbſt eingehaltene Nummernzählung beläuft ſich nicht gleich hoch, ſie ſchreibt ſich aus einer vor Jahren ſchon hiefür gewählten Anordnung her und konnte, ohne den innern Zuſammenhang der Theile zu ſtören und ohne deren gegenſeitiges Verweiſen auf einander wieder aufzuheben, nachher nicht mehr abgeändert werden. Mit der jetzigen Beendigung des Buches ſoll indeß keines-

Digitized by Google

wegs erklärt sein, als ob zugleich die Gesammtsage unserer Landschaft ebenfalls zu Ende erzählt sei. Nur dasjenige Material geht auf die Neige, das dem Sammler für die von ihm aufgestellten Abschnitte verfügbar gewesen ist, nicht aber das Material überhaupt; denn dessen ist noch immer genug vorräthig. Noch ist nämlich in diesem Werke unbesprochen die ganze reiche Anschauungsweise eines landwirthschaftlich lebenden Volksschlages über Element und Gestirn, über Jahreslauf und Witterung, über Thier, Baum und Strauch. Noch ist von beiden Bänden ausgeschlossen geblieben Brauch und Sitte unseres Volksschlages in Haus und Heim, sein Familien- und Gemeindefest, sein Sprichwort und Lied, sein Schwank und Märchen, endlich die ganze große Summe alles dessen, was man gemeinhin mit dem Namen Aberglauben umfaßt. Wer wird aber zweifeln wollen, daß so reichhaltige, sittengeschichtlich so wichtige Lebensseiten, wie diese ebengenannten, nicht gleichfalls einen dichten Kreis von Volkstraditionen um sich her gezogen haben müßen, welcher es nicht minder werth sein wird, den Freund des Vaterländischen in höchste Aufmerksamkeit zu versetzen. Solcherlei Traditionen treten heut zu Tage zwar nur ganz vereinzelt mehr auf, denn sie sind nun zu Linien und Seitenlinien geworden in dem ausgedehnten Adelsgeschlechte des Mythus, gleichsam nachgeborene und von der Erbfolge ausgeschlossene Prinzen; aber sie leben fort in einer geheimnißvollen Stetigkeit, und beherrschen die Gemüther der Generationen durch eine ungebrochene wunderbare Glaubensmacht. Ohne mehr die Körperlichkeit und Rundung der Sage an sich zu haben, ja fast zu Wesen abgeblaßt, die im Tageslichte keinen Schatten mehr werfen und auf Vernunftfragen verstummen, dauern diese Schweigsamen dennoch fort, meist ignorirt von der Bildung unserer Gegenwart, aber dieselbe gleichfalls nicht minder ignorirend. Sie weisen sich damit als die ältesten Potenzen eines Glaubens aus, der nichts nach Gründen fragt und keiner bedarf, sie sind unzerstörbare Trümmer eines schon vor unserer Distinction dagewesenen wirklichen Glaubens, welcher der Vorglaube, nicht der ihm erst nachgewachsene Aberglaube geheißen werden sollte. Letzterer gehört unsern Mittelklassen, in krankhaften Zeiten auch unsern obersten Ständen an, denn er ist nur ein Ableger, ein Wildschößling kirchlicher oder weltlicher Scienzen; hündisch lauft er hinter den Entdeckungen drein, bald ihnen schmeichelnd, bald sie anbellend, gänzlich der Pudel des Dr. Faust, ein komisch-häßliches Thier. Jener volksmythologische Aberglaube dagegen ist modernen Begriffen vollkommen unzugänglich, er glaubt ohne eine uns sichtbar werdende Benöthigung und ohne äußerliche Erfolge. Er darf nicht Vorurtheil oder Unwissenheit gescholten werden, denn er sucht nicht erst hinter den Dingen herum nach Wahrzeichen und Symbolen, sondern die Dinge sind ihm bereits das seiner religiösen Idee Verwandte, sie sind ihm diese Idee selbst. Es ist dies also der heidnische

Digitized by Google

und nationelle Aberglaube, welcher so lange ausdauert, so lange die einer ganzen Race angeborene Anschauung und Vorstellung noch ihre weltenverbindende Attractionskraft besitzt. Ein Volksbewußtsein aber wird nie völlig umgewandelt. So lange bleiben sich auch seine Sätze wahlverwandt und können aus diesem Grunde eines systematischen Lehrgebäudes entbehren. Von ihm gilt das Wallensteinische Wort:

Eng ist die Welt und das Gehirn ist weit,
Leicht bei einander wohnen die Gedanken,
Doch hart im Raume stoßen sich die Sachen.

Erst wenn ihm der spätere kirchliche Aberglaube in seine Atmosphäre hineingeräth, verwildert er mit, wird an sich selbst irre und macht alsdann diesem subtilisirenden Dr. Faust seine chemisch-physikalischen Absurditäten in der Hexenküche gleichfalls nach. Dann läßt er z. B. mit christlichen Glocken gegen heidnische Wetterteufel läuten.

Es lag mit im Wesen dieses Buches, daß der Verfasser gerade solcherlei Bildungsphasen unseres Volksgeistes in eine anhaltende Betrachtung nahm. Der darüber gesammelte Stoff ist ihm hoch angewachsen. Wenn er denselben einmal in ein geschlossenes Verhältniß gebracht haben wird, so käme damit zugleich die Gelegenheit, das Aargauer Sagenbuch um einen dritten Band zu vermehren, der dann eben diesen Glauben und Brauch des Volkes zum Inhalt haben würde. Der Verfasser macht dieses von nichts Anderm weiter abhängig, als allein von der fortdauernden Theilnahme seiner Leser. Dieselben haben sein Werk mit liebevoller Aufmerksamkeit beehrt, auch die Kritik hier zu Lande und außer Landes hat ein ebenso freundliches als einläßliches Urtheil darüber abgegeben. Er fühlt sich durch Beides zu wahrer Freude und Dankempfindung gestimmt und überläßt sich nun einer zweifachen Hoffnung. Er bestrebt sich nicht bloß, solcher Anerkennung werth zu sein durch ausdauernden Eifer in Verfolgung seines Zieles; sondern er möchte nach seinem bescheidenen Maße nun der vaterländischen Ueberlieferung noch neue Freunde erwerben. Eine Bitte, die ihm schon lange auf der Lippe sitzt, wagt er daher am heutigen Tage seinen verehrten Heimatgenossen zutraulich vorzulegen. Er wünscht seinem Unternehmen rüstige Sammler, regsame Berichterstatter, werkthätige Mehr- und Besserwisser. Er wünscht durch Männer und Frauen, durch ihre Landes- und Ortskunde, durch den Umfang ihrer Menschenkenntniß und ihres Ideenkreises Ende und Schluß für dasjenige zu gewinnen, was in diesem Buche noch so oft Stückwerk und Fragment hat bleiben müßen. Er hatte den Muth, unaufgefordert diese Sammlung zu beginnen, durch nichts unterstützt und gehalten, als durch den Werth und Reiz des Gegenstandes; man soll ihm nun auch den zweiten kühnern Schritt nicht mißdeuten, wenn er unangemeldet kommt und Alle zu einer vielfältigen Theilnahme einladet. Daß Er, das Werk-

Digitized by Google

zeug, dabei kein Haupt werden, nicht an eine Spitze treten will, weiß man schon; lasse man ihn, wie bisher, den arbeitsbemühten Verwalter dessen sein, was ihm seine einheimischen Freunde weiter mittheilen und anvertrauen werden.

Man beurtheile diesen Wunsch nach der Lage, in welcher sich ein Sammler der Volkstraditionen überhaupt befindet. Es hat bisher noch jedes Sagenbuch dem Leser dasselbe Endbekenntniß abzulegen gehabt: daß des aufgreifbaren Stoffes hier noch viel mangle, wie sehr man der Beihilfe, der fortdauernden Vervollständigung und Berichtigung durch Andere fernerhin bedürfe, verlangend ihr entgegensehe. Darinnen liegt der doppelte Beweis, wie viel Wissenswerthes noch immer unbenutzt vorhanden ist, da es eingestandener Maßen auch die vollständigste Sammlung immer noch empfindlich entbehrt; und wie sehr sich der Autor in diesem Fache auf die Mitthätigkeit seiner Leser stützen muß, anstatt diese glauben zu lassen, er sei der Gesammtbesitzer und sie hätten nur die Genießenden zu sein. Gerade vom Gegentheil muß er sie überzeugen. Kein Forscher will daher ein sein Wissen überflügelndes Besserwissen Anderer jemals abweisen, keiner kennt jenen gelehrten Eigensinn, auf seinem einmal gedruckten Satze steif zu verharren. Vielmehr bewahrt er warmen Freundesdank einem Jeglichen, der ihm zu dem schon Erzählten noch deutlichere Verumständungen weiß, der ihm die Stätten, die Gestalten, die Namen für eine schon gedruckte Sage noch näher angiebt, der ihm ein landschaftlich oder ein nur örtlich geltendes Geisterthier weiter schildert, bestimmter nennt. Auch für das Unscheinbare, selbst für das Absurdlautende, dessen sich ein Vernünftiger wohl eher schämen möchte, das man wie etwas Widerwärtiges aus Anstandsgefühl lieber ganz verschweigt — selbst für Angabe solcher herrenlosen Formeln, solcher meisterlos redenden Ausdrücke wird jeder Sagenforscher froh sein und seinen braven Gewährsmann willkommen heißen. Wer weiß, wozu es gut ist! pflegt der Fuhrmann zu sagen und wirft das Stückchen altes Eisen, das er auf der Landstraße findet, in die Schleife seines Wagens. Nicht anders ist es mit dem Verständniß der Dinge überhaupt; sammeln wir sie nur — die zerstreuten Theile können wieder ein Stück werden, die einzeln erlesenen Trauben geben uns den Edelwein. Was davon dem Einen unter uns nicht mehr begreiflich lautet, das wird oft einem Andern in weitentlegener Gegend plötzlich deutlich und kann zu wichtigsten Erkenntnissen führen. Wer hätte vermuthen sollen, daß aus unserm jetzt begriffslos gewordenen Namen der Wolblume (verbascum thapsus) Gestalt und Namen des Germanengottes Wol wieder entdeckt werden würde, nachdem dieser Göttername im deutschen Norden zum Namen des bellenden Haushundes und in unserm Süden zum Kindergespenst Wauwau herabgesunken war (2, pag. 212). Nun da wir dies wissen, erkennen wir auch erst die Bedeutsamkeit der übrigen Namen, die man derselben Wolblume bei uns giebt: Himmelskerze,

Digitized by Google

Königskerze, Gottesbrod, Himmelbrand und Hildebrand, im Kanton Wallis Bounhomo; und mit alterthümlicher Ehrfurcht vor der ſpinnenden Göttin Wolla und Holla (vgl. 2, 180 — 185) ſagt daher das Sprichwort (bei Eiſelein pag. 649): Vor der Wolblume ſollte ſich jedes Weib verneigen.

Aber ſchon zur Gewinnung ſolcher Einſicht bedarf es ſtets der Vielen, es braucht der Achtſamkeit, mit welcher Mehrere zugleich und an mehrern Orten dieſelbe Sache ins Augenmerk nehmen. Ein einzelner Sammler thut ſich niemals genug. Er iſt von Geſtern, die Sage aber iſt ſteinalt; ſie hat Hirſchenſchnelle, er nichts als die zögernde Erfahrung; ihre unterirdiſchen Gänge ſind endlos, hinter jedem Buſch und Feldweg hat ſie ein tauſendfaches Verſteck; wie ſoll ihr der kurzſichtige, kurzathmige Menſch der Amts- und Studierſtube nachkommen? Sie mißt ihre geringſten Zeitfriſten nach Zaunaltern und nach Rabenaltern, ſie iſt tagtäglich neu und fremd; was vermag dagegen der Ameiſenfleiß eines kurz dauernden Gelehrtenlebens, das ſich ja höchſtens nach ein paar Büchern zweiter Auflage berechnen darf? Mit grämiſcher Wißbegier, gleich einem der Landesſprache Unkundigen, ſteht er oft auf dem eigenen Grund und Boden herum. Er erklettert Schutthalden voll Sonnenbrand, gräbt Ziegelſcherben in Burgſtällen und Heidenſchanzen hervor, unermüdlich in antiquariſchen Geduldproben erſchöpft er den geizigſten Boden. Aber die Menſchen, die hier wohnen, muß er verabſäumen, ihre weit reichern Schätze muß er verſinken laſſen, daß ſie kein Hahn mehr erkrähen kann. Wie ſoll er ſie alle kennen lernen, in welcher Zeit mit ihnen allen verkehren, mit ihnen ſo nahe befreundet werden, daß ſie kameradſchaftlich Stimmung, Glauben und Ueberzeugung mit ihm austauſchen? Dies iſt ihm unmöglich, dies gelingt nur Vielen zuſammen. Ein Verein einträchtig bemühter Kräfte hat hier das ſchönſte Feld zur Aernte vor ſich. Die Aſſociation hat uns neue Quellen des Wohlſtandes geöffnet; der Wahlſpruch viribus unitis verſpricht einem Reiche neue Machtentwicklung; das Zuſammenhalten der Vielen zur Erforſchung unſerer eigenen Volksſeele wird ebenſo dieſe Volksſeele vergrößern und ihr die Selbſtachtung wieder zum Rang einer Nationaltugend erheben, jene Selbſtachtung, welche das Göthesche Wort zum Wahlſpruch nimmt:

Dies iſt unſer! ſo laß uns ſagen und ſo es behaupten!

Dieſe Bauernfrau da, alten Schlages, die ihre Kinder überlebt hat, dieſer alte Knecht, der ihr auf dem noch nicht zertheilten Hofe die Wirthſchaft weiter führt, auch das Hirtenbüblein, das ihr da die Geißen zu treiben hat — eine jede dieſer ſelbſtgewachſenen Seelen nimmt uns ein nie mehr beſchreibbares Stück unſerer echten Geſchichte mit ins Grab, wenn wir Eins ums Andere unbefragt abſterben laſſen. Unſer allererſtes Wiſſen ſchütten wir damit zu, das Wiſſen über uns ſelbſt laſſen wir uns entſeelen, uns das Vaterländiſche zur Leiche machen.

Digitized by Google

Das Einheimische ist unsere gemeinsame Großmutter, sie hat uns alle genährt und auferzogen, an ihrer Rede und Vorstellung sind wir Alle gleichmäßig zum Bewußtsein gekommen; jetzt nun, wenn sie hochbetagt abstirbt, hinterläßt sie uns noch ein reichliches Erbtheil, das ganze Baarvermögen unseres Kindheits- und Heimats-Angedenkens. Dürfen wir nun etwa schmollen, wenn sich darunter auch ein paar ganz curiose verrostete Dinge mit vorfänden? Wollen wir nun das Bildniß der Ahnfrau deswegen von der Zimmerwand wegthun, weil seine steiffreundliche Wunderlichkeit und seine altmodische Umrahmung nicht mehr zu den modernen Meubeln paßt? Entspricht unsere Erinnerung an die gute alte Frau nicht gerade diesem Portrait mit der fingerspitzenden Hand und dem gemalten Canarienvogel drauf, und soll es nun deshalb fort in die Rumpelkammer? Dahin wird es freilich auch einmal kommen müßen, wenn wir uns selber daran abgelebt haben; aber jene veränderte Zeit, der auch wir entgegen gehen, um ihr selbst wieder auf Kosten unserer eigenen Person Platz zu machen, soll ja erst aus solcherlei Fruchtkernen unserer eigenen Pietät großwachsen; aus solcherlei Liebeskeimen, die wir in unserem Felde gepflegt und nicht zertreten haben. Alsdann erst vermag der später kommende Weltmensch den früher dagewesenen Hausmenschen gleichfalls wieder mit bürgerlichem Wohlbehagen und berechtigtem Ahnenstolze zu betrachten. Beiden ist dann das genetische Bewußtsein ihrer Verhältnisse lebendig geblieben, und statt des einseitigen Dünkels, den das Neue immer verbreitet, schaut der Enkel mit demselben tapfern Nationalgefühl auf seine Vorzeit hin, mit welchem diese selbst ihre geharnischten Thaten verrichtet hat. Wer aber anders thut, gleicht jenen Knaben, die dem Propheten nachschrieen Kahlkopf, und darüber von Wölfen gefressen wurden; gleicht jenen Völkern, die mit ihrer eigenen Vorzeit über Nacht gebrochen haben. Jetzt, da auch sie das verworfene Erbgut wieder unter der Bank hervorziehen müßen, gestehen sie mit Selbstbeschämung zu, daß alle Pariser Köche, alle Londoner Nähermädchen und californischen Goldgräber zusammen weder einen Staat gründen noch einen erhalten werden. Die Liebe zur leiblichen Mutter, zur Muttererde und zur Muttersprache sind deutsche Göttinnen; alle drei haben ihren Tempel zusammen in der Vorzeit; Erinnerung und Andenken sind ihre Priesterinnen, Familienglück und religiöse Wärme sind ihre Zwillingssöhne. Religion und Vaterland haben daher immer dieses mit einander gemeinsam, daß Beiden die Vergangenheit heilig ist. Beide geben uns so die Lehre: es dürfe nur dasjenige Volk glauben, des Glückes einer nationellen Zukunft theilhaftig zu werden, das seine Vorzeit treu und weise verehrt hat.

Wenn ich nun der heimatlichen Sage so vertrauensvolle und bereitwillige Herzen erwecken will, wie ich sie mir zu Helfern und Vervollstän



Digitized by Google

digern der begonnenen Sammlung erbitte, was bleibt mir da anderes übrig, als Allen vor mir, die je an den Erfolg einer guten Sache voraus geglaubt haben; ich muß versuchen, für dieselbe mit meinen kleinen Mitteln zu wirken.

Ich wähle mir daher für mein Vorhaben nun eine recht landläufige Aargauer Sage aus, eine solche, die eben durch ihre Abgegriffenheit zu den bereits werthlos gewordenen Erzählungen bei uns gehört. Wenn ich es von dieser Sage selbst beweisen lasse, wie weit ihre geistige Wahrheit über die bloß geschichtliche Thatsache hinausreicht; wenn diese Ortssage uns erklärt, wie sie sich der Localgeschichte nur als einer letzten Freistatt bedient hat, in welche sie den Rest ihres nicht mehr verstandenen Glaubensinhaltes hinein flüchtete; wenn sie uns damit selber zeigt, daß ihr weitreichender Ernst tiefer gründet als jede älteste oder von den Menschen zu höchst aufgenommene Begebenheit der Geschichte, so darf ich wohl hoffen, meine Leser damit in jenes achtungsvolle Erstaunen versetzen zu können, das alle großen und wichtigen Fragen unserem Verstande abgewinnen und das dann also auch jener abgegriffensten Tradition zukäme. Denn man hätte ja daran die Einsicht erworben, daß die Sage vor der Geschichte liegt, daß sie ernster, wahrer und heiliger als deren Partikularitäten sein muß, daß sie aus dem unerschütterten Religionsglauben eines ganzen Volkskörpers hervorgegangen und deswegen von Allen geglaubt und gewußt ist, nicht aber daß sie auf dem Zufall einer landschaftlichen Begebenheit beruht, die von der einen Generation gewußt und von der darauf folgenden wieder vergessen werden kann. Ich meine, mit einer solchen Darlegung zugleich einem wirklichen Verlangen meines nächsten Leserkreises schicklich entsprechen zu können. Denn schon bei Ausgabe des ersten Bandes dieser Sammlung hatte man dem Verfasser mündlich und schriftlich die Anfrage gestellt, was denn nun das ernstlich Wahre, was der bleibende Vernunftgehalt an diesen hundertfältigen bunten Geschichten sein solle? Der Herausgeber hätte damals erwiedern müßen, die Gottesfurcht ist's; und jetzt wiederholt er ebendasselbe nachdrücklicher.

Diejenige Gottesfurcht ist's bei Heiden und Christen, welche die tausendjährige Aufgabe vor sich sieht, in den tiefsten Quellen menschlichen Elends die Hand göttlicher Liebe, und in dem blindwüthenden Geschick den Plan ewiger Weisheit erkennen zu sollen. Diese Frage ist's, an welcher die Sage rathet, und wir Alle rathen von der Zeit unseres frühesten Geschichtsschreibers an bis auf die Zeit unseres neuesten Denkens und Dichtens daran fort. „Es seufzt unter dir, schwermüthige Wucht, Gedanke, mein Nacken tief gebeugt!" klagt Platen in einer seiner Oden (Morgenklage). Aber dasselbe starrende Hineinforschen in die letzten Dinge und Fragen erkennt auch Tacitus bereits an den Germanen seiner Zeit; und eben daher, sagt er, habe der Deutsche seine Ideenmühsal, dasjenige erforschen zu wollen, was doch nur Sterbenden zu schauen vergönnt sei: **hinc terror sanctaque igno-**

Digitized by Google

rantia — quid sit illud, quod tantum perituri vident. Diese Mannesluſt, ſich in den unbekannten Gott zu verſenken, und dieſe Kinderangſt, vor dem Erſcheinenden zu erſchrecken, iſt der von aller Sage tauſendfältig erzählte Inhalt; jede einzelne weiß alſo nach ihrem Maße davon.

Einen ſolchen Einzelfall hebt nun der Verfaſſer aus der Kantonalſage hervor und hofft an ihm des Leſers vorhin erwähnte Frage einläßlich beantworten zu können; er will vorher aber auch den Grund noch angeben, warum eben nur dieſe hier folgende Sage und keine andere zur Beweisführung ausgehoben hat werden ſollen.

Es hat nämlich bisher jede unſerer ſelbſtändigen Sagenſammlungen einen ihr eigenen Sagenkreis zum Vorſchein gebracht, der von der ſonſtigen Fülle ihrer andern Erzählungen mehr unabhängig erſcheint und an dem ſich die älteſte Glaubensrichtung dieſer Landſchaft, alſo auch der ihr eigenthümlich geweſene religiöſe Mythus, am eheſten erkennen läßt. Unſere neueſten Sammlungen aus Süddeutſchland allein ſchon reichen hin, dies nachzuweiſen. Zingerles Tiroler- und Vonbuns Vorarlberger-Sagen beſitzen die ausführliche Mythe von den Rutſchifenggen oder Bergmännlein. E. Meiers Schwäb. Sagen legen ihren beſondern Nachdruck auf das Wuotes- und Muetisheer, das aus den Einheriar Wuotans beſteht. L. Uhland hat gegenwärtig einen ſchönen Reſt unſerer Heroenſage, den Dietrich von Bern, als für das Schwabenland fortbeſtehend, aus Urkunden und lebenden Traditionen nachgewieſen in Pfeiffers Germania 1856, 304. Wolfs Heſſiſche Sagen ſind ihrem Mehrtheil nach mit dem Rodenſteiner und Schnellerts beſchäftigt, zeigen alſo für Heſſen den geltend geweſenen doppelten Götterdienſt des Donar und des Wuotan. Fr. Panzer war ſo glücklich, für Bayern den überreich lautenden Mythus von den drei Nornen oder Schickſalsſchweſtern in weitreichender Fülle aufzufinden. Unſere Sammlung nun beſitzt das ihr eigenthümliche Element in der Rechtsſage, und in dieſer iſt es die ausgeprägte Figur des Schimmel- oder Stiefelreiters, welche unter unſerer Landesbevölkerung als die berufenſte noch immer fort gilt. Dieſer Sage wendet ſich alſo die folgende Erklärung zu.

Nach der am reinſten lautenden, alſo urſprünglichſten Erzählung iſt der Stiefeli ein landwirthſchaftlich bethätigter Zwerg, welcher unter der früheſten Sennenbevölkerung dieſer Landſtriche als eine freundliche Gottheit der Feld- und Hausgrenze gegolten hat (1, No. 201). Mit dem erſten Auftreten clerikalen Einfluſſes hier zu Lande verändert ſich der allgemeine Beſitzſtand; Vergabung, Opfer und Zehnten vergrößern alsbald die hier errichtete Abtei Muri; dieſe bereichert ſich mit Ländereien, dagegen aber ſchrumpft der Gemeindebeſitz zuſammen. Soll nun der früher geglaubte Flurgott neben ſolchen ſich ändernden Werthverhältniſſen und bei den in ihrem Grundbeſitze geſchmälerten Leuten ſeine Geltung noch eine Weile beibehalten, ſo

Digitized by Google

kann es nur unter der Mitwirkung des Klosters selbst geschehen. Noch ist diese neue Cultusstätte durchaus des gehorsamenden Glaubens von Seite der umwohnenden Heiden und Neubekehrten bedürftig, man schont und fristet daher auch deren unschädlichste Vorurtheile, und darunter gehört eben jener Sennenzwerg und Flurgott. Das Kloster, selber auf den Trümmern eines frühern Heidengemäuers erst erbaut, widmet ihm daher eine Art apokryphen, legendarischen Andenkens. Wie die Zwerge, nach der Lehre der Edda, den Göttern einst als Aschenbrödel dienten, ihnen aber zugleich den Goldeber und den Wunschring verfertigten (dies thut der Zwerg Sindri, der Feuerstein, dem dabei der Bruder Brok den Blasbalg treibt), so geschieht es, daß unser Sennenzwerg scheinbar selbst ein Klösterling, mindestens ein Laienbruder und Klosterdiener wird, alsdann aber des Klosters Macht und Reichthum ins Unermeßliche vermehrt (1, pag. 291). Aus einem viehzüchtenden und landbautreibenden Oberknechte gestaltet er sich da zum Klosterschaffner, dann mit des Stiftes wachsender Habsucht und Ländergier steigert er sich zum proceßsüchtigen Klostervogt, der nun durch Ränkesucht, Meineid und Gewaltthat den benachbarten Ortschaften Wunn und Weid raubt, die Urkunden stiehlt und fälscht, die Frohnden unerträglich steigert. Wenn dann nachmals die Gemeindegüter zum besten Theile Klostergüter geworden, und die freien Leute zu Eigenhörigen und Landsaßen herabgebracht sind, bleibt im Gedenken dieser geknechteten Menschen nichts Deutlicheres mehr über, als die nun unbestreitbare Uebergewalt der besitzenden Mönche und der ohnmächtige Haß der unterdrückten Bauern. Letztere kehren ihre stumme Rache, anstatt gegen den unerreichbaren Oberherrn, gegen sein Werkzeug, dies ist der ihnen zunächst stehende, Zinsen eintreibende Schaffner. Der Sennenzwerg, schon einmal in einen wirthschaftenden Gutsverwalter, dann in einen rechtsverdrehenden Vogt verwandelt, macht daher den Sprung aus dem Menschlichen ins Geisterreich zurück, der bürgerliche Uebelthäter wird ein gespenstischer Schadenfroh, der am Jagd- und Weiderecht gewaltthätig Frevelnde wird zum übergewaltigen Wilden Jäger. So oft er die geraubten Almenden und Forsten lärmend durchreitet, entfliehen mit Angst und Zittern die Bauern daraus; dann hat ihr Stall abermals keine Streue, ihr Ofen wiederum kein Holz, und nur ihr Schrecken vor dem alten Dränger hat neue Nahrung. Die Sache sehen sie noch, aber nicht mehr die Ursache. Um der Furcht vor ihm los zu werden, lassen sie ihn zuletzt durch eben jenen Clerus, für welchen ihnen der Vogt einst ihre Güter abgestohlen hatte, aus der Landschaft ganz hinweg und in eine entfernte Gebirgswüste hinein beschwören.

So ist es das Schicksal verwildernder Volkssagen. Das Volk, in seinem Glauben irre gemacht, hat den Grenzgott, welcher ihm Besitz und Recht mit der Macht des Eides beschützte, mitverbannen helfen, und geborcht

Digitized by Google

dafür in kirchlicher Demuth nun jenem Bannräuber selber, der in geschichtlich deutlicher Zeit fremdes Besitzthum meineidig sich zugeeignet hatte. Und um dem schreienden Vernunftwiderspruch dabei zu entkommen, verdreht es diesen Gott, der aus dem alten abgeschworenen Glauben stammt, in einen dem neuen Glauben widersagenden Unhold. Deshalb wird unser Stiefelreiter (No. 340) zum erfrechten Freigeist, der zwar eifrig für sein christkatholisches Kloster arbeitet, aber zugleich die von der Frömmigkeit des Volkes ringsum errichteten Feldkreuze anspeit, oder der als eingefleischter Teufel diejenigen Bauernbursche hart zurichtet, welche an der Existenz des Teufels zu zweifeln sich erkühnen (2, pag. 119). Schon dafür hat er dann nach christlichem Glauben jene ewigen Qualen der Hölle zu erleiden, in die ihn vorher bereits die heidnische Volksjustiz als einen Markenfrevler verstoßen hatte.

Nach solchem allgemeinen Umrisse ist nun die Sage selber in ihren Einzelheiten darzustellen, jedoch hier nur so weit, als dies nicht bereits im Buche und von den dortigen Anmerkungen schon geschehen ist.

Als ein kleiner Knabe ist dieser Stiefelreiter aus dem Schwarzwalde der einst fremd ins Freienamt gekommen. Wegen seiner Kleinheit hieß er der Stiefeli, wegen seiner Abkunft aus St. Blasien im Schwarzwalde hieß er Bläseli. Barmherzig nahm ihn das Kloster Muri als Hirtenjungen an. Da dressirte er seine Schweineheerde, daß sie ihm gleich Hündlein nachlief, er band seiner Schafheerde Maienkränze auf, daß sie stolz die Köpfe trug, wie Soldaten, welche das Feldzeichen des Tannenzweigs aufgesteckt haben, und blies ihr dazu die Schwegelpfeife, bis sie Galopaden tanzte. Nur die Kühe und Stiere folgten ihm noch nicht, sie liefen lieber den hohen Grasbüscheln nach und sahen dahinter nicht mehr auf den winzigen Weidbuben. Als er hernach zum Roßknecht vorrückte, war er schon mehr am Platze. Da waren sein Dienstlohn ein Paar großmächtige Stiefel, die ihm das Kloster alle sieben Jahre neu machen ließ (1, 377), und ein eigener Schimmel, der so den Preis vor allen Thieren hatte, daß sich Abt und Conventualen um den Vorzug stritten, ihn reiten zu dürfen. So umritt nun Stiefeli als Schaffner die Güter der Abtei, beaufsichtigte die Dienstleute auf dem Felde und achtete mit der Eifersucht eines rechtsverständigen Vogtes auf die Wald- und Weidegrenzen der Abtei. Wo er ein saures Gesicht hin machte, gab's Regen- und Hagelwetter, wo er freundlich blickte, war Sonnenschein, sogar wo nur sein Roß fallen ließ, gab's schon besten Haber (1, pag. 300). Geschildert wird er von Person (1, 299) als ein kleines Männlein von kurzem Hals und winzigem Köpfchen. Doch hat er am Hinterhaupte ein unförmliches Gewächs, das aussieht, als habe er zwei Köpfe. Ueberfluß wie Mangel an Gliedern ist ein Zeichen der Göttlichkeit; der vielthätige Geist kann vielgliedrig und mehrhäuptig sein, wie der kampf-

Digitized by Google

blinde Siegvater Odhinn auch einäugig ist und zugleich auf dem achtfüßigen Rosse Sleipnir reitet. Dies kleine magere Männlein trägt blaue Hosen, hellgrünen Frack, grauen Filzhut mit weit herabgelitztem Rande und sehr große bespornte Stulpstiefel (1, 301). Seine Stimme gleicht dem Kreischen eines Vogels, dem widerlichen Wimmern einer Nachteule. Wenn er an der Grenze des Bünznerwaldes das Rothwasser (1, 288) herauf reitet, sitzt er droben auf seinem hohen Gaule so außer allem Verhältnisse, daß er sich ausnimmt, wie ein vereinzelter Schornstein auf der Dachbreite eines großen Pfarrhauses (1, 300). Vertritt ihm da aber ein Erfrechter den Weg, so durchlöchert er ihm mit einem brennenden Geldstücke den dargehaltenen Hut, Roß und Mann wächst ins Riesige, des Reiters Augen funkeln wie glühende Kohlen (1, 302), er speit Feuer aus dem Rachen, mit einer flammenden Peitsche haut er den Wanderer aus dem Walde (2, pag. 111). Daß unter allen diesen Charakterzügen und Beschäftigungen Stiefeli's das Wesen des erfahrenen Licht-Elben und Götterzwergs gemeint ist, dies ist von beiden Bänden unseres Buches für jede hier einschlägige Sage schon gezeigt. Der hiefür deutlich redenden Einzelheiten sind so viele, daß dorten sogar einige hauptsächliche hervorzuheben vergessen wurden. So z. B. gleicht Stiefeli's feurige Peitsche der siebensträngigen Geißel, welche der Zwergenkönig Alberich gegen den Nibelungen-Siegfried schwingt, und sein breiträndriger Hut entspricht der unsichtbar machenden Tarnkappe Alberichs. Die Liebe der Elben zu Musik und Tanz liegt darin, daß Stiefeli den Schafen die Schwegelpfeife spielt, bis sie ihm Galopaden tanzen. Des Zwerges Schmiede- und Kochkunst kommt damit zum indirecten Ausdrucke, daß Stiefeli's Figur dem Kamin auf dem breiten Dache des Pfarrhauses verglichen wird. Blau sind seine Höslein, denn blau ist auch Odhinns alle Geister einhüllender Mantel, der Aether; hellgrün ist sein Fräcklein, nicht bloß weil dies die Kleiderfarbe von Waldvogt und Jäger ist, sondern weil dieser Bauerngott die Sonne scheinen, den Rothbach strömen und das Haberfeld keimen lassen muß.

So rückt der Zwerg aus den untersten Stufen des Sennenlebens zu den Anfängen des Ackerbaues und dann zu dem feiner gegliederten Geschäfte der rationellen Landwirthschaft empor; das Ziel des Gedankens ist der durch Speculation erstrebte Wohlstand, dessen Mißbrauch aber ist auch hier der weltverschrieene Wucher. Als Hirtenjunge hat Stiefeli mit der Zucht des armseligen Schmalviehes begonnen; denn das Schaf- und Ziegenhüten ist eben das Geschäft jenes Riesen- und Zwergenvolkes, welches in dem noch menschenleeren Gebirge roh und entbehrend dahin lebt. Der Strebsamere rückt zum Rinder- und Roßhirten vor. Da lernt er den Eifer und die Geduld des Ackerbauers kennen und achtet vorsichtig auf den Wechsel der Witterung, auf das Wehen der Winde, und von ihrem Blasen her hat

Digitized by Google

er selbst den Hirtennamen Bläseli (1, 376). Nun braucht es der Stand seiner Saaten, daß es heute regne und daß morgen die Sonne wieder scheine; daher wird er selber zum Gott der Jahreszeiten, der vor sich den Sommer, hinter sich den Winter, mit seinem jedesmaligen Erscheinen Schneesturm oder Maienfrische ins Land bringt. Aus diesem vorsichtig nach der Witterung sich Umblickenden wird erstlich ein Reiter mit doppeltem, alsdann einer mit verdrehtem Haupte (2, pag. 113). Schon hier ist sein Wesen einer Verwechslung ausgesetzt mit dem W. Jäger, auch wenn die neckische, wetterlaunische Natur der Elben und Zwerge es nicht selber schon mit sich brächte, daß sie zu Lug und Trug geneigt, erst schadenfroh und diebisch, und dann als die Bösen gedacht werden konnten. Die Entwicklung vom beutegierigen Jäger- und Fischerleben an zum geregeltern Hirtenstande mit seinem methodischen Butter- und Käsegewinn wird nämlich in ihrer natürlichen Folge dadurch gekreuzt, daß dieser reitende Klostervogt zugleich ein umreitender scharfer Waldvogt sein muß, der da die Holzfrevler verjagt, im übertriebenen Amtseifer aber sich selber an fremdem Gute vergreift, oder seine Waldung ausdehnt auf Kosten der Kornflur. Ist der Zwerg früher der Förderer der Fruchtbarkeit in Wald und Wiese gewesen, ein bereitwilliger Arbeiter im Dienste der obern Gottheiten, so wird nun der an seine Stelle tretende Klosterknecht und Schaffner ein gemeiner Wohldiener, welcher den Armen das Ihrige abknickert, um es nur zum unnützen Haufen seines Millionärs zu legen. Deswegen heißt es in No. 340, er habe den Landleuten Nachts die Heuschober gestohlen, das Obst im Baumgarten aus den Zweigen herunter geholt, ihnen die Scheiterbeugen abgehoben. Was diese Behauptung den Geistern gegenüber auf sich hat, zeigt das Sachregister Bd. 1 und 2 unter dem Artikel Baum. Und daraus ergiebt sich das gerade Gegentheil solcher Angaben; denn da muß der Zwerg dem Mäher das Heuwetter kochen, daß die Schober trocken herein kommen (2, 54), er hütet ihm die tragenden Birnbäume gegen den Obstdieb (2, 68. 148), und sogar für einen jeden aus der Scheiterbeuge gezogenen Stecken zwingt er den Schelm zur schleunigen Umkehr (2, No. 376).

Da also die Mildthätigkeit der früher geglaubten Genien stets dem spätern Mißverständnisse ausgesetzt bleibt, so ist es eine Folge, daß sich des Zwerges Wesen ins Dämonische verzerrt und daß er dann ebenso ein Uebelthäter im Großen werden kann, wie er vorher der zu allen Dienstleistungen im Haus- und Sonderleben aufgelegte Kleingeist war. Höhere und niedere Gottheiten theilen hierin das gleiche Schicksal. Alle Mythen halten auf ihrem Wege aus der Vorzeit bis zu uns her diesen charakteristischen Gang der Verschlechterung ein. Die verkommenden Götter geberden sich so toll, wie herunter gekommene Edelleute. Sprossen die Saaten nicht mehr unter dem Huftritte zwiefältig empor, welchen Wuotans Roß in der Flur zurück-

Digitized by Google

läßt, so wird auch Wuotan zum Wüthenden Jäger, der eben diese Fluren durchreitet, um die Saaten zu zerstampfen; kann der W. Jäger das gute Wetter nicht selbst mehr machen, so muß er mindestens dafür alles Unwetter selbst erleiden, wie es im Bürgerschen Gedichte von ihm heißt:

Entgegen weht ihm kaltes Grausen,
Dem Nacken folgt Gewittersausen.

Es wird hier angenommen, der Leser habe bereits von denjenigen Erläuterungen Einsicht genommen, welche im 1. Bd., pag. 375—379 über die elbische Natur des Schwarzwälder Bläseli, und die über die Beschaffenheit des Stiefelreiters als des W. Jägers mitgetheilt sind Bd. 2, 119. 307. Unter Bezugnahme auf die dorten eröffneten Gesichtspunkte ist nun die Sage nach ihrem Wachsthum zu betrachten, den sie in die bürgerlichen und geschichtlichen Verhältnisse der Landschaft herein genommen hat.

Kann die Sage einen Sennen- und Wetterzwerg Stiefeli nicht mehr glaubhaft finden, so gestaltet sie aus ihm einen zwergenhaft häßlichen Guteverwalter und stattet ihn mit allen boshaften Launen eines kleinlichen Dorftyrannen aus. Als solcher muß alsdann der Stiefeli von gemeiner Abkunft sein, und aus der Fremde her bettelhaft ins Land kommen. Nicht beim Eingeborenen sucht er sich da durch unverdrossenen Fleiß nützlich zu machen; er wählt den kürzern und leichtern Weg des Schmarozers. Bei den Klösterlingen, selber nur lauter zusammengewürfelte Landesfremde, welche für die ihnen untergebene Bauernsame kein Herz haben und kein Rechtsgefühl, nimmt er Dienste, bei diesen schmeichelt er sich ein, und die Gunst, auf die es im Convent allein ankommt, entscheidet bald für sein Glück. Aus dem Klosterknecht wird endlich ein Klostervogt, aus dem Schweinehirten ein Anwalt, aus dem das Gesinde plagenden Stiefelreiter wird ein Federfuchser, ein Zinsenzähler, ein Bauern schindender Stiefelschreiber. Alle neuen Besen kehren gut; und nun beginnt der Emporkömmling jene Reihe von Erbschleichereien, Rechtsverdrehungen und Meineiden, wodurch er und sein Kloster zur Landesanekdote geworden sind. Der Gemeinde Meerenschwanden machte er den Besitz des schönen Maiholzes bei Muri streitig, der Gemeinde Müswangen das Recht auf die Waldung Schlatt. Der Stadt Bremgarten spielte er das gleiche Stücklein, und wieder umgekehrt soll er als Bremgartens Advokat die Gemeinde Wohlen um ihren Wald betrogen haben; immer und überall mit Glück. Denn da die Bauern unter des Klosters Gerichtsbarkeit gehörten, so fiel der Rechtsspruch nicht bloß regelmäßig zu ihrem Nachtheil aus, sondern sie mußten zum Verlust ihres Gemeindegutes auch noch die hoch aufgelaufenen Gerichtssporteln bezahlen.

Auch solche Testamente, wie dasjenige der Schongauer Bäuerin, in welchem das Stift zum alleinigen Erben des ganzen Bauernhofes eingesetzt

Digitized by Google

war, dünkten ihm nie bindend und strikt genug, sobald nur eine einzige Clausel und nicht das unbedingteste Erbrecht des Klosters darinnen ausgesprochen war. Daher verfälscht er dasselbe wegen ein paar Gutsäcker, welche darinnen die Bäuerin für den Lebensbedarf einer verlassenen Base sich vorbehalten hatte. Anstatt daß nun Abt und Convent einen so widrigen Händelstifter beschränkt hätten, mußten sie ihm vielmehr nachgeben und ihm noch schön thun, denn jeder Vollmacht gebende Tiberius fürchtet sich zuletzt vor seinem vollziehenden Sejan. Der feine Verstand der Sage hat nicht vergessen, hier ein noch überzeugenderes Motiv beizubringen. Der Stiefelschreiber ist nämlich ein Laie und bleibt es auch darin, daß er bei jeder Gelegenheit, wo ihm das Kloster nicht bis zum Ende behilflich sein will, bereit ist, die Staatsgewalt herbeizurufen, diese den Mönchen so unerträglich scheinende Gewalt, die sie so unsanft erinnert, ihr Reich sei nicht von dieser Welt. Dann schleppt der processirende Verwalter den ganzen weltlichen Gerichtslärmen ins Kloster herein, ein Troß von Falkenieren mit Stoßvogel, Roß und Hund nimmt Einlager im Sünderfrieden dieser Clausur; neben der Pfaueneitelkeit des seiderauschenden Prälaten macht sich der schwertklirrende Hochmuth des Landvogtes breit. Da drängt sich der Klostervogt mit der Zudringlichkeit einer Sommerfliege vor die weltliche Justiz, um die in Vorrath geschmiedeten Donnerkeile des Junkerregimentes auf die unruhigen Köpfe der Bauern herunter zu locken, und ein jeder Gemeindewald, in der Nähe des Klosterbesitzes gelegen, giebt dem Instanzenjäger Anlaß dazu. Als die Gemeinde Bütikon Mann für Mann beschlossen hatte, es müße der Wald Bärholz, seit uralter Zeit ihr unangetastetes Eigenthum, ihren Enkeln erhalten bleiben und dürfe nie und nimmermehr an das Stift Muri abgetreten werden, zauderte zwar der Landvogt, zu entscheiden, ob dieser fragliche Wald jemals unter kirchlichen Ansprüchen gestanden habe und demnach wiederum unter dieselben fallen könne, allein zum Eide über die unerweisbare Sache ließ er den Schaffner gleichwohl zu. Nun füllte der Stiefelschreiber seine Stiefel mit Erde aus dem Klostergarten, steckte unter seinen Hut die Milchkelle, welche die Sennen den Schöpfer oder Richter nennen, und schwur mit aufgehobenen Fingern, daß das Bärholz so gewiß des Klosters sei, so gewiß als er selbst auf des Herrn Grund und Boden stehe und ein Schöpfer oder Richter über ihm sei. Den Ausgang kann man sich denken. Der Wald kam ans Kloster und ist ihm verblieben, obschon der falsche Schwur dem meineidigen Verwalter damals den Hals brach.

Noch jetzt erzählt fast ein jedes Kind in den Freienämtern mit einer an persönlichen Haß grenzenden Lebhaftigkeit von diesem ränkesüchtigen Klostervogt. Stadt, Dorf und Bauernhof wissen, jedes für sich, die Einbußen einzeln und örtlich noch herzuzeigen, welche sie an Grundbesitz und

Digitized by Google

Rechtstiteln durch ihn zu erleiden gehabt haben. Noch bis auf den heutigen Tag dauert im Glauben der Leute auch die Verdammniß fort, die dem armen Sünder dafür zu Theil geworden ist, und im Umkreis weniger Stunden nennt man mancherlei einst streitig gewesene Berge und Wälder, die er zur Strafe als Gespenst durchirren muß. Hat man doch sogar seinem Geschlechte nachgeforscht, um zu erfahren, wo dieses nun den Wohnort aufgeschlagen habe, um dann wenigstens noch an des Betrügers Nachkommen etwa Rache nehmen zu können (2, 112). Und selbst wenn sein Geist auch nicht gerade mehr in allen heutigen Köpfen spukt, so wird es doch jedenfalls immer noch überschüssig viele Leute geben, denen es nicht einfällt, an der historischen Wahrheit dieser Begebenheiten und an der wirklichen Persönlichkeit dieses Stiefeli selbst zweifeln zu sollen. Auch sie also könnten urtheilen, wie einst der Turner Jahn (Merke zum Volksthum, 328) gesagt hat: „An jeder Sage ist auch eine Sache.“ Sie könnten daher verlangen, man möchte ihnen statt der Sage lieber die von dem Fabelhaften gereinigte wirkliche Geschichte einliefern. Eine solche Forderung scheint ganz vernünftig zu lauten, und dennoch schließt sie ganz Unmögliches in sich. In dem vorliegenden Falle z. B. wünscht man die älteste Geschichte des Freienamtes, welche mit der Stiftung des Klosters Muri beginnt, ohne den Schmuck der Sage zu vernehmen, d. h. man verlangt eine Urgeschichte ohne Mythen. Nun aber beginnt jede Landesgeschichte mit Mythen; ist diese Landesgeschichte deswegen ein bloßes Märchen? Und wenn nicht, müßen also jene Mythen wahre Facta sein? Aber auch jede Religion hat ihren Mythus; hat also dann Gott Odhinn wirklich einmal gelebt? Die zeitweilige Religion verbittet sich eine solche Untersuchung gewöhnlich ganz. Ja sogar die Landeshistorien verfallen zuweilen in eine ähnliche heilige Scheu. So hat z. B. Joh. Casp. Zellweger gemeint (Archiv der Schweiz. Gesch. I, XIII), die Mythe, die überall an den Anfängen der Volksgeschichte hängt, würde in ihrer Geltung zerstört werden, wenn man sie als Mythe behandeln und nicht fernerhin ebenso fort erzählen wollte, wie sie uns selber ursprünglich erzählt worden ist. Zellweger warnt daher die Schweizerhistoriker vor einem solchen Wagniß, das Ursprüngliche im Mythus analysiren zu wollen. Was ist denn aber dieses, was Zellweger das Ursprüngliche in Mythus und Urgeschichte nennt? Einzig und allein das Religiöse ist's, welches eben darin besteht, das Anfangslose, mithin das Unhistorische zu sein.

Um nun unsere nächsten Leser aus diesem Cirkel zu befreien, in dem man sich befindet zwischen sagenhafter Geschichte und geschichtlicher Sage, zwischen der mythischen Historie und zwischen der historischen Rechtssage, erzählen wir ihnen die eben vorgetragene Rechtssage vom Freienämter Stiefeli in einer ganzen Reihe von Spielarten aus andern Schweizerkantonen. Wenn diese Landstriche weder selbst ein Freienamt haben, noch jemals vom alten

Digitized by Google

Kloſter Muri und ſeinen proceßführenden Vögten viel gehört haben mögen, gleichwohl aber uns dieſelben Sagenzüge als die Urgeſchichte ihres eigenen Landes mittheilen, ſo läßt ſich dabei deutlicher erkennen, daß eben dieſe Sagenzüge in der Geſchichte nur ihren Haltungspunkt (Einkleidung), nicht aber ihren Urſprung (Weſen) haben, daß alſo die echte Sage nicht eine geſchichtliche, ſondern eine religiöſe iſt, und daß vor Allem hier Mone's Wort (Geſch. des Heidenth. 2, 302) zur Geltung kommt: „Ohne Einſicht in dieſen Satz iſt eine Einſicht in die Sage ſelbſt unmöglich.“ Hier folgen dieſe Erzählungen:

1. *Des Stiefelirüters Eidschwur.* (Auszug aus einem fliegenden Blatt, ohne Druckort und Jahreszahl, aus den Dreissiger-Jahren. In der Mundart des Lenzburger Amtes.)

Also vo Muri isch d'Red und vo sim prächtige Chloster.
Das ist nid allewil, wie jetz, so herrlich und gross gsi,
Nei, 's het au chli agfange und lang müesse sorge-n-und hûse;
Selbmol händ sie en Vogt dert gha, oder wie me-n-em gsäit het,
Grad glîch: sî Name-n-ist nid so verrüeft, wie sî Handel und Wandel.
Dæ het 'ne Hûs und Hei besorgit und Alles verwaltet.
Stiefelirüter het me-n-em gsäit, worum? wil er immer
I grossmächtige Stiefle derher cho ist ûf sim Schimmel,
Wo-n-em alle siebe Johr sîne Herre verehrt händ,
Dass er gschwinder und bass dene Chlostergüetre mög nôh-cho.
Z'Fuess het me'n numme deheimene gseh, doch nie ohne Stiefel;
Chli und b'ring isch das Mannli jo gsi, aber frili au gföhrlich,
Denn was er selber am gwöhnliche Mäss nid het mögen erlänge,
Do ist sî List und Gwalt denn derfür vil z'wît drüber ûs gsî.
Oder isch nid eso? I meine, das chönnten am beste
Selbe säge, wo sîner Zit das Uegfäll au b'reicht hät,
Sine Nochbere z'sî, grad glîch, eb am Hûs oder Acher.
Jä, s'ist aber au wohr, was de Vogt heig möge-n-erlänge,
Das seig nit sicher gsî vor sîne chlebrige Hände,
Säge no jetze d'Lüt: vor de Fenstren ewegg ab der Bîge
Sei mängs Schîtli Holz furtcho in en andere Chuchi;
's Gras ûf der Matt und 's Heu im Tenn heig öppede g'schwinne,
Aber das Veh im eigene Stal desswege nit gfaisset.
Au bîm Chlosterzehnte sei gern er veriret im Zähle
Und heig öppe die nünt oder elft Garb au no ewegg gno.
Und vo de Marchstei dûssen im Feld verzählt me jo Wunder,
Wie sie au ohne Bei z'Nacht heige chönne spaziere
Ueber die Forhe-n-ewegg, und Mänge am Morge verstûnt sei,
Dass s'Vogts Acher so gwachse und ihre dernebe so abgno.

Digitized by Google

Todte Hand nimmt Hüser und Land — heisst ebe-n-es Sprüchli
Und es anders derzue, en Pfaffesack heig ekei Bode.

Nu, do het denn mîm Vogt es Stückli Land im Luzern-Biet
Einischt g'falle gar wohl und es schînt, er hät's möge fürs Chloster.
Aber 's het ebe sîn Meister scho gha und dem isch's nid feil gsi.
Zwor het au do mî Vogt wieder gmeint: was sött i lang märte?
Brûch i mî Vorthel wie sust! — und würkli seige die Marche
Amene Morge scho nümme gsî, wo am Obed vorher no.
Aber so gschwind, wie im Freienamt, ist de Handel nid fertig,
Denn de Luzerner het gmeint, wer recht het, brûcht si nid z'förchte,
Und verchlagt do mî Vogt wege sîm uetrüliche Marche.
Aber das ist em glîch; wer wett si au grad goge förchte
Voreme blosse Bot und selber au vor'me Prozessli,
Domit erschreckt me de Vogt no nid, ass er's ûf und verspielt gäb!
Und 's ist bî Gott eso, de Vogt schloht gradewegs Recht dar.
So chunnt's halt denn vor Gricht, wie's ebe mî Vögtli het welle.
Was ihm die Andere-n-au do îgredt heige und vorgstellt:
„Aber au Vogt, was denked-er au, so bodelos z'rede
Und no z'säge derzue, er welled's eidlich bethüre!
Händ er kes Gwüsse denn meh und denked-er nid au as Sterbe?
Bhüet is! sinned doch au as End und löhnd's jetz lo gelte.“ —
Aber de Vogt säit troch: „das soll mî Sach sî und blîbe,
Richter, es blîbt bî mîm Wort: i begehre der Eid und denn s'Urthel.“
Jetz stoht selber der Obme no ûf und git ehm en Zuespruch:
„Denket jetz au, was erfolge muess, wenn ehr wüssentlich lätz händ.
Und drum näben üch selber de Herrgott no mached zum Lugner!“
Aber de Vogt fahrt spöttisch ehm drî und schnauzt ehn gar churz ab.
„I ha gmeint, i sei do vor Gricht und nid i der Chille,
Aber der Predig nô schînt's doch, i heig mi veriret.
Isch es, so bin i do lätz; und het mer de Richter e Predig,
Hä, so muess i mîs Urthel, denk, bîm Pfarer go hole.
Hätt i das früecher gwüsst, so wär i gar nid doher cho,
Denn die geistliche Herre, die han-i ganz i der Nöchi.
Bhüet' ech Gott, Herr Pfarer, i muess jetz zumene Richter.“

Was hätt s'Gricht mit dem uewirsche Burscht no welle verchere?
Drum seit der Obme-n-au z'letzt: „Nu Vogt, so mached ech fertig.
Morn am Morge de Eid denn z'thue, für jetz heb i's Gricht ûf,
S'ist scho spôt am Tag, und ihr händ Zît no, ech z'bsinne!“

Het er si bsinnt no, de Vogt? Jo, doch ûf es Vörtheli het er.
Was für eis? Ihr chömed nid drûf, drum will ech's denn säge.

Digitized by Google

Was er z'beschwöre heig, das het er jo gwüsst scho zum Vorûs,
Und drum het er si au no grad ordli chönne drûf rüste.
So het er's würkli au gmacht; vor Tag scho ist er vorûse,
Vo sim rechte Land goge Herd i d'Schueh îne z'hole,
Zwüsche sîm Huet und der Huetgüpf — er het en bîm Schwöre nid abgnoh, —
Do isch en grosse Löffel drinn gsi, me heisst ne de Schöpfer,
Und no en Strähl, wît zähndet und grob, me säit em de Richter.

Also am Morge do chunnt z'erst s'Gricht und denn die Parteie.
Fierli zieht me-n-an Ort und Stell ûf das strîtige Plätzli
Underem freie Himmel und under de rûschende Bäume,
Vorûs de heilig Eid abznäh und s'Urthel denn z'spreche.
Und mî Vogt stoht, wo me ne wîst, loht aber de Huet ûf,
„Wil er's sust nid möcht erlide-n-im Luft wege üblige Hauptflüss,"
Het sîne Finger denn ûf und schwört chäch, wie me-n-ihms vorsäit:
„So wahrhaftig er ob ehm heig sîn Schöpfer und Richter,
„So wahrhaftig seig au das Land, worûf er jetz stande,
„Si freieigene Boden und Grund, ohn alles Gefährde."

Jetz ist frîli de Handel ûs, geb wohl oder übel.
Derige Streiche het z'Dotzede-Wîs mî Stiefelirüter
Usgüebt währed sîm Lebe, me chönnt ech z'Tagen verzäle.

2. Der Bannhölzler in Schwyz und Zug. Die Gemeinde Aegeri im Kanton Zug ist zu ihrer Almende, welche sich in den ursprünglichen Bannbezirk von Wollerau im Kant. Schwyz unverhältnißmäßig weit hinein erstreckt, auf folgende Weise gekommen. Die ältern, der Gemeindegrenzen kundigen Männer waren während einer Pestzeit alle weggestorben. Um aber das Triebrecht wieder festzusetzen, sollten zwei Männer aus beiden Gemeinden von zwei vorher bestimmten Punkten zur nämlichen Zeit ausgehen und da, wo sie zusammenträfen, sollte der bleibende Scheidepunkt des Bannes sein. Der Mann von Aegeri machte heimlich seinen Weg zu Roß. Diese Täuschung erkennend drangen die Wollerauer auf eidliche Bestätigung; bei der Erde und beim Himmel sollte das Anrecht auf den einzelnen Weidetheil beschworen werden. Da hatte aber der aus Aegeri bereits Erde aus seinem Garten in den Schuhen, noch dazu hatte er sowohl den Holzlöffel (Schöpfer), mit dem man beim Käsen die Milch kellenweise in den Kessel schöpft, wie auch den Kamm (Richter), mit dem man das Haupthaar „richtet", in seinen Hut gesteckt und schwur, so wahr er seinen Schöpfer und Richter über sich habe, stehe er hier auf seinem Grund und Boden. Hierauf entschieden die Zeugen für die Ansprüche deren von Aegeri. Bald nach seinem Tode mußte jener Mann auf dem Schimmel, den er bei

Digitized by Google

seinem Grenzlauf geritten, tobend und lärmend des Nachts auf der erschworenen Almende umgehen. Er heißt daher der Bannhölzler. An allen Fronfasten hört man ihn jetzt noch reiten und schreien, trotz des gegen ihn von frommen Priestern ausgesprochenen Bannes. Meyer-Knonau, Kt. Schwyz 184. Er trägt einen Mantel, und einen Hut mit breit herabgelitzten Krempen. An einer Felsgrotte am untern Roßberg, die man das Bannhölzlerthor nennt, gewahrt man im Fels den Hufschlag seines Rosses; dorten holt er den Schimmel des Nachts heraus und umreitet die ganze Walchwyler Almend, die er gleichfalls einst durch Meineid von dieser Gemeinde an die Stadt Zug gebracht hat. Sein Ritt geht von dem Gewässer der Lorze bis zur Sihl, von Küßnacht am Vierwaldstätterse bis Immensee, und vorbei am Kappelbusche wieder zum Zugersee, da tränkt und schwemmt er das Roß. Dann kegelt er, daß die Kugel in einer Spalte am Kaisersberge stecken bleibt, ein Berg, der zwischen dem Zuger- und dem Aegeri-See liegt. Schweiz. Merkur 1835, 189. Reithard, Sag. der Schweiz 303.

3. Der Grindelwalder im Hasli. Die Haslithaler im Berner Oberlande erzählen, wie jene auf ihrer Thalseite gelegenen zwei Weidestaffeln auf der Alpe Scheidegg von ihrer Almende betrügerisch abgetrennt und an die Gemeinde Grindelwald gebracht worden seien. Ein Grindelwalder Senne kam ins Hasli vor das versammelte Alpgericht gelaufen, so eilfertig, als ob er eben vom Melkkübel herkomme, und trug sogar noch seinen Milchschöpfer oben am Hute. Aber listig hatte er sich daheim die Schuhe mit Erde aus seinem Gute angefüllt. So rief er hier das Recht an um jene zwei Weidestaffeln, that dafür den bekannten Schwur und gewann sie. Jetzt noch muß er des Nachts als ein Gespenst, wehklagend und verkehrt auf einem Rosse sitzend, das Thal durchreiten bis hinab an das Zwirgi gegen Meiringen. Und so bestimmt gilt dieser Reiter als der verhaßte meineidige Räuber aus Grindelwald, daß ein Haslithaler, dessen Name noch genannt wird, bei Mannsgedenken erst mit ihm handgemein geworden sein soll. Wyß, Bern. Oberl. 2, 640.

4. Der Stiefelreiter in Mezzaselva bei Saas am Rhätikon. Eine geringe Häusergruppe, welche abseits vom Prättigäuer Dorfe Saas liegt, heißt Mühletobel. Hinter ihr beginnt eine von Erdschlipfen und Felsstürzen zerrissene Gegend, die bis Mezzaselva (Mittenwald) reicht. Nur ein Brunnen, der jetzt ebenfalls verschüttet ist und Herenbrunnen genannt wird, deutet an, daß dieser Landstrich vormals bewohnt gewesen. Hier zeigt man eine Wiese, die ein Bauer ungerechter Weise einst ansprach. Als er an Ort und Stelle eidlich darthun mußte, daß diese Wiese sein rechtliches Eigenthum sei, sprach er zum Gerichte: der Boden, auf dem ich stehe, ist mein, so gewiß als der Schöpfer über mir ist! Er hatte aber in der Mütze, welche er gelüpft über dem Haupte hielt, als ob er sich damit gegen den

Digitized by Google

ſtechenden Sonnenſtrahl ſchützen wolle, ſeinen Sennenlöffel verborgen, den man Schöpfer zu nennen pflegt. Leonhardi, Bündner Vierteljahrsſchrift 1849, 95.

5. Der Unter-Vatzer auf Solatz. Die Bündnerdörfer Unter-Vatz und Haldenſtein ſtritten ſich um den Beſitz der Alpe Solatz, bis ein Unter-Vatzer durch einen Eidſchwur, den er auf ſein verſteckt gehaltenes Sennengeſchirr that, dieſelbe ſeinen Dorfgenoſſen zubrachte. Nächte lang muß er nun auf jener Alpe ſeine falſche Eidformel ausſchreien. Flugi, Volksſag. aus Bünden 1843, 108.

6. Der Steinsberger Schimmelreiter im Urſchai. Im Urſchaithale im Unter-Engadin ſteht auf einer Berghöhe ein geſattelter Schimmel. Ein kohlſchwarzer Ritter muß ihn Nachts beſteigen und damit über die alte Mauer ſetzen, welche zugleich die Grenze macht zwiſchen den beiderſeitigen Alpweiden von Fettan und von Steinsberg. Wenn er dann ans Ende jener Weiden gekommen iſt, da wo die Alpgrenze eine auffallend gewaltſame Einbiegung macht, öffnet ſich die Erde und verſchlingt Roß und Reiter. Auf dieſer Stelle hat er einſt die Gemeinde Fettan durch einen falſchen Rechtsſpruch verkürzt. Schweiz. Merkur 1835, 234.

7. Das Heiligſtüdli am Zürich-See. Am Zürich-See, oberhalb der Mündung des Wampisbaches, ſteht ein alter Kreuzesſtamm, den man das Heiligſtüdli nennt, statumen sanctum. Hier ſchwuren einſt zwei Brüder bei ihrem Schöpfer und Richter (dem Schöpflöffel und dem Milchrichter) einer armen Wittwe ihr Gut ab. Ein Blitzſtrahl hat ihnen darauf die falſchen Schwörfinger abgeſchlagen. Alpenroſ. 1850, 268.

8. Der Dreifingerſtein, der zwiſchen den Ländern Zürich, Zug und Schwyz die alte Grenzmarke geweſen iſt, hat einen Sennen in dem Augenblick verſchlungen, da dieſer auf ihn die Finger legte, um zu beſchwören, daß ſeine räuberiſch gewonnenen Weideländer rechtlich erworbene ſeien. Vgl. Reithard, Sag. d. Schweiz 152.

9. Der Stiefelhans auf der Sämtisalpe. Auf dem Appenzellerberge Siegel gilt die Sage vom Stiefelhanſen. Er ſoll hier noch vor vierzig Jahren geſpukt haben. Er war Rheinthaler Ammann geweſen und hatte Wucher und Betrug auf allen erdenklichen Wegen getrieben. Lag jemand im Sterben bereits ſprachlos, ſo kam der Stiefelhans ans Bette herbei, hielt dem Verſcheidenden eine Schuldforderung vors Geſicht und brachte ihm mit einer Handbewegung den Kopf zum Nicken. So erpreßte er alle Erbſchaften. Zuletzt, da er ſelber ſtarb, beſchwor man ſeinen Geiſt hin in die Alpe Sämtis, die ſonſt den Rheinthalern zugehörte. Da hielt er ſich oben in der Berghöhe, welche man den Stiefel heißt, als Ungeheuer auf, jagte dem Hirten die Weidkühe in den Stall und fraß mit deſſen Schweinen aus dem Trog. T. Tobler im Appenzell. Monatsblatt 1829, pag. 100.

Digitized by Google

10. Der Valeishund im Sarganſerlande. Der Valeishund ſpukt im Sarganſerlande zwiſchen den Dörfern Filters und Wangs in dem tiefen Valeisthal, über deſſen geſetzlich giltige Waldgrenzen die beiden Gemeinden noch jetzt nicht einig geworden ſind. Bei einem Augenſcheine, welchen Graf Wilhelm von Sargans in J. 1459 über dieſe Waldung aufnehmen ließ, betheuerte ein als Zeuge aufgerufener Wangser: die Theilungsmarke liege ſo, wie er ſie bezeichne, ſo wahr der Schöpfer ob ihm ſei. Der Mann hatte aber ſeinen hölzernen Löffel im Hut ſtecken, und Wangs gewann. Nun trägt der einäugige Valeishund von jener falſchen Gemarkungsſtelle weg bis vor das Rathhaus in Mels einen Schlüſſelbund im Rachen. Viele, die dieſen verzauberten Wangser geſehen haben, verzweifeln an ſeiner Erlöſung, weil er in Thiergeſtalt erſcheine. Erzählt jedoch ein Bürger von Wangs dieſe Begebenheit, ſo muß der Schuldige ein Bürger von Filters geweſen ſein. Das ſtreitige Grundſtück heißt in Wangs die Kälberweide, in Filters der geſtohlene Boden. Henne, in den Ritterburg. d. Schweiz, und Schweiz.-Bl. Jahrg. 1832.

Der Name Valeishund gehört, wie gleich gezeigt werden ſoll, zur Hälfte der rhätiſchen Sprache an. Seit das Sarganſerland ſich ſprachlich germaniſirt hat, verwandelt es dieſen Namen gleichfalls nach deutſchem Wortlaute in einen Vals-eids-hund. Daß er aber mit dem falſchen Eide urſprünglich nichts zu thun hatte, zeigt folgende Localſage vom Val di Lei in Chiavenna.

11. Lange war es im Wurfe geweſen, die Grafſchaft Cleven (Chiavenna) dem Bündnerlande einzuverleiben und ſo die Schweiz um einen fruchtbaren Landſtrich reicher zu machen. Allein welſche Liſt hintertrieb es. Die Lombarden beſtachen einen Bewohner der Clevner Thalſchaft Val di Lei; er mußte einen Sack lombardiſcher Erde übers Gebirge heimtragen, ſich darauf ſetzen und eidlich erklären, hier ſitze er nicht auf Bündner, ſondern auf lombardiſchem Grund und Boden. Eſcher, die Schweiz 1851, 527.

Dieſes Chiavenner-Thal Val di Lei und jenes Sarganſerthal Valeis gehören im Namen unwiderſprechlich zuſammen, ſie haben Beide erſt aus dem Namens-Mißverſtändniſſe ſich ihre örtliche Sage gebildet. Diejenige Felskluft, die den Zürcher Uetliberg ſenkrecht in ſeiner ganzen Höhe durchriſſen hat, heißt Faletſche. Der gleiche Name für ähnliche Zerklüftungen wiederholt ſich in der nordöſtlichen Schweiz (Meyer-Knonau, Erdkunde 1, 113), im Berner Oberlande wandelt er ſich in Fältſchen, im Waatlande gilt dafür Falaise, in Vorarlberg und Tirol kehrt derſelbe Name wieder als Faletſche, Valetſchinen und Flatſch. L. Steub zählt in der Rhätiſchen Ethnologie No. 168. 265. 1072 reichlich ſolcherlei Namen von Bergweiden auf; den unſrigen erklärt er entſtanden aus val d'auas, Waſſerthal und Waſſerſammler. Im Val di Lei ſitzt der Meineidige als Hund auf

Digitized by Google

Erdſäcken; unter der Waſſerrunſe von Valeis ſpukt der Valeishund, und bei der Faletſche am Zürcher Uetliberge lauft der geſpenſtiſche Dorfhund Heiggel mit zerbrochener Kette umher. Solcherlei tiefe Erdrunſen ſind zugleich Schnee und Waſſer ſammelnde Becken (vgl. Bd. 1, 137. Bd. 2, 120. 392), die entweder Hundsbach heißen, oder an denen, wenn die Wildwaſſer ſich tobend herabſtürzen, wenigſtens der Rufelihund wohnt, ein über die Gebirgswand herabſpringendes Unthier, das zerriſſene Ketten hinter ſich herſchleppt (2, 38). Dem Schimmelreiter, deſſen Erſcheinen dem Landmann ſtets die Witterung beſtimmen hilft, lauft ebenſo ein ſchneeweißes Hündchen nach, wenn er verzaubert den falſch erſchworenen Wald Gättibuch durchreiten muß (2, 117. 118). Ja ein anderer trügeriſcher Banntheiler, welcher ſtatt der alten hundert Almend-Anrechte nur neun und neunzig für ſeine Almendgenoſſen angeſetzt hat, wird dafür ſelber in einen Hund verwandelt (2, 120). Daß hier der Thiername Hund zuſammenfällt mit dem allgemeinen Zahlworte Hundert geht aus der rechtsgeſchichtlichen Benennung Huntari hervor, welche den einſt hunderttheilig geweſenen Gau bezeichnet, wie unſer ähnlich bedeutſames Wort Kanton auf centum führt, oder wie der Zentgraf auf den huntari zurückweist, der beides bezeichnet, ſowohl pagus als auch centurio. Grimm, GDSpr. 491. Die Mundarten geben dazu eine ſchöne Reihe von beſtätigenden Ausdrücken. Von einer gar zu großen Wegſtrecke pflegt man zu ſagen, der Fuchs oder der Hund habe ſie gemeſſen und ſeinen Schwanz drein gegeben. Oberdeutſch gilt Windhund für Windfang, Räderhund für Karren. In der Schweiz gilt Stiefelhund für Stiefelzieher, Maushund für Katze, Saufhund für Zechbruder. Bluthund heißt uns die größte Wurſt der Metzelſuppe, die anderwärts Blunze und Sauſack (botulus) genannt wird. Zeithund wird die Glocke genannt, welche auf den Schulgebäuden die Lehrſtunden ſchlägt. Stalder. Erſt einen naturwidrig lebenden Menſchen nennt der Berner einen Unhund. Alpenroſ. 1811, 242. Bierhund iſt Name eines ſcharfen Käſes, daſſelbe was man ſchleſiſch den Bierigel nennt. Kuhn, Ztſchr. f. Sprachforſch. 4, 265. Nahe genug lag es alſo ſprachlich, dieſen maximalen Zahlenbegriff Hund in ein wirkliches Geſchöpf zu verwandeln; aber es gab noch einen ganz beſonders nöthigenden andern Grund, dieſes Geſchöpf gerade demjenigen Gott zum Begleiter zu leihen, deſſen Weſen die Hülle und Fülle, das Wachsthum und Gedeihen ſelber iſt. War nämlich die Aernte eingeheimst, ſo begannen dem beſcheerenden Gotte zum Dank die Wuotansfeſte, bei denen er ſelbſt erſcheinend und jedes Hundred, jede Hundertſchaft des Gaues fröhlich durchziehend gedacht wurde. Nahrungshund gilt am Ober- und Mittelrhein für jeden geheimnißvoll ins Haus gekommenen Wohlſtand; in dieſem Hauſe ſteckt noch ein alter Hund, liegt der Hund begraben, ſagt man von einem noch unberührt vorhandenen Spargute der Vorältern. Schmeller 2, 210. Um-



Digitized by Google

gekehrt ſagen die Aelpler im Rheinthale, es habe derjenige Senne den Hund, der am Tage des Milchmeſſens nicht den allergrößten Butter- und Käſegewinn aufzuweiſen vermag. Bd. 2, 392. Hunde, heißt es, ſeien in ſeine Sennhütte eingebrochen und hätten ihm Alles weggefreſſen; ein höhnendes Hundegeheul erheben dann die Kinder eines jeden Dorfes, durch welches dieſer Senne von der Alpe heimzieht. Gott Wuotan, der die zur Feſtzeit fröhlich verſammelten Menſchen beſucht, nimmt dann die Geſtalt eines von Hunden begleiteten Reiters an, der jagend durch das Land zieht. Weltjäger iſt dann ſein Name in Nord- und Süddeutſchland (Kuhn, nordd. Sag. No. 287. Meier, ſchwäb. Sag. No. 125) und ſein Hund heißt Welthund. Der Welthund, ſagt man in Weſtfalen, iſt überall. Wolf, Ztſchr. 2. 99. An die Stelle dieſes bemantelt und ſchwertführend auftretenden, auf dem Schimmel reitenden Aerntegottes Wuotan ward kirchlich der hl. Martinus geſetzt. Auch er iſt bemantelt, ſchwertführend, ſchimmelreitend; in der höchſten Noth der belagerten Burg ſetzt er mit ſeinem Roſſe vom Rande des Burgwalles über die Belagerer hinweg bis auf den jenſeits gelegenen Berg, fällt dem Feinde in den Rücken, vernichtet ihn und befreit das Land. Dieſer Boden iſt dann abgabenfrei oder beſitzt Ewiggelder. 2, No. 343. Und daß ihm dieſelben Hunde Gottes, wie Hans Sachs ſie nennt, nicht gemangelt haben, dies erweist das franzöſiſche Sprichwort: qui aime Martin, aime son chien. Dieſer Hund des hl. Martinus erklärt ſich aber wiederum auf die vorige Weiſe; denn an des Heiligen Feſt geſchieht es zur Feier der glücklich beendigten Aernte, daß man Becher und Trinkhorn mit Wein füllte (Martinstrunk), daß man Brod von neuem Korn buk (Martinshörnlein), daß man die gemäſteten Thiere briet und aus ihrem Schulterblatt oder Bruſtbein weiſſagte (Martinsgans, Lichtbraten), daß man die Mehlſpeiſen der Knöpflein und Spätzlein ſott und ſchmorte, die man in Bayern noch die Nacketen oder Gebackenen Hündlein nennt. Schmeller 2, 210. Panzer, bayr. Sag. 2, 472. 516. 527.

Aus demſelben Grunde behauptet die Sage und Sprache, der Gott ſei ein Hund und Pudel. Jener ſchwäbiſche Schimmelreiter, welcher der W. Jäger iſt, erſcheint als Pudel. Meier, Sag. No. 121. Jene durchs Land ziehende Göttliche Frau, die bei uns die Frau Berchta und Precht heißt, eine alle Weihnachtsfreuden den Kindern beſcheerende Mutter, heißt in Steier die Pudelmutter. Weinhold, Weihnachts-Sp. pag. 11. Auch hier hat der altſinnliche Wortbegriff, nicht aber der unedel und verächtlich redende von heute, den Namen gegeben. Pudel iſt dem Bern. Oberländer das Milchgefäß, Milch pudeln iſt ihm Milch eſſen oder trinken. Er het e groſsa Pudl, einen vollgegeſſenen Bauch. Zyro in Kuhns Ztſchr. f. Sprachforſch. 2, 308. So iſt ndd. pûdel und paudel die Schachtel, paudel in Königsberg der Feuereimer, in Pommern die Gewürzdoſe, theerpudel in

Digitized by Google

Westpreußen die Wagenschmierbüchse des Fuhrmanns, salzpudel das Salzfaß in der Küche. Förstemann in Kuhns Ztschr. f. Sprachforsch. 1, 423. Wie man dann mißverständlich dem Sennen, welcher im Buttergewinn zu kurz gekommen ist, nachsagt, er habe den Hund, und dem um all sein Geld Gekommenen, er sei auf dem Hund; ebenso verdreht man das Wort Pudel und nennt jeden Fehlwurf im Kegelspiel einen Pudel und Saunagel. Aus dem ndd. Putt, Topf, und dem obd. Buddel, Bouteille, sind diese Formeln nicht zu erklären; sondern es blickt aus unsern vulgären Ausdrücken budelwohl (kerngesund), bödeln (zechen) noch der alte Name des Buddhadeus und Wuotan hervor, wie ich Bd. 1, 159 angemerkt habe, so daß eben deswegen derselbe spukende Dorfhund zugleich in der Tracht eines Kaplans (1, 106) und in der Person eines Clerikers (2, 33) erscheint, auf den priesterlich verehrten Gott damit hindeutet und die Wanderwege zu dessen alten Heiligthümern in unveränderter Richtung ablauft.

Nachfolgende Erzählung legt daher ihren Nachdruck nicht mehr auf die in einen Hund verwandelte Seele des Missethäters, oder wie dieser als Landesgespenst auf dem Schimmel herumreiten müße; sondern sie knüpft an sein böses Andenken die Entstehungsgeschichte der schönsten Landeskirche.

12. Der Bauer Stockalper im Oberwallis war im 17. Jahrhundert zu einem alle seine Mitbürger weit überbietenden Reichthum gekommen. Von der Stadt Sitten aus bis nach Mailand konnte er auf seinen Gütern reisen und auf eigenem Grund und Boden übernachten; sechstausend Männer soll er zur Bebauung dieser Ländereien nothwendig gehabt, dieselben aber zugleich mit lauter Gold ausbezahlt haben, das er aus einer im Wilden Gebirge entdeckten Mine heimlich gewann. Niemand sah den Beginn solches fürstlichen Wohlstandes ein, niemand wußte seinen Umfang zu bemessen, niemand mehr anzugeben, nach welchem Steuerfuß nun ein so großes Vermögen an die bescheidene Kasse der Landschaft verzinst werden sollte. Man befahl daher, Stockalper solle alles sein Gut, soweit es in Baarschaft, Kostbarkeiten, Verschreibungen und Kaufbriefen bestehe, auf den Altar bringen und vor der Gemeinde den Eid darauf ablegen, daß dieses sein steuerpflichtiges Gesammtvermögen sei. Die Jesuiten öffneten ihm jedoch vorher eine Höhlung des Altares, in diese versenkte er die gewichtigsten Schätze und nur einen kleinern Theil legte er frei aus. So konnte er alsdann beschwören, dieses, was hier unter seiner Hand liege, sei sein ganzes Vermögen. Aber der Gemeinde erschien schon diese geringe Vorlage so unverhältnißmäßig groß, daß sie ihn in eine nicht geringe Geldbuße verfällte. Er mußte auf jeden steuerbaren Kopf des Zehnten Briegg sechs Livres Steuer nachzahlen; denn um eben so viel, berechnete man, sei bisher seinetwegen ein jeder Mitbürger zu hoch im Steuerrodel angesetzt gewesen. Stockalper bezahlte wirklich diese Buße gehorsam; den Jesuiten aber erbaute er

zum Danke für die ihm eingegebene Mental-Reservation die große Kirche zu Briegg, schmückte sie mit Gemälden und Bildsäulen und versah sie mit reichen Gütern und Einkünften. Dadurch ist er nun zwar kein Gegenstand der Sage mehr, aber statt dessen ist er in die Landesgeschichte selbst übergegangen, und so erzählen denn über ihn das Schweizer-Museum 1793, 567 und Melch. Schuler, Sitt. u. That. der Eidgenossen 3, 621 im Tone einer unbezweifelbaren Pragmatik. Ob dies mit Recht geschieht, mögen die heutigen Oberwalliser entscheiden, vor allem die Bewohner von Briegg. Letztere wenigstens waren in diesen Dreißiger-Jahren mit der Historie von Stockalpers Schwur noch keineswegs zu Ende gekommen, sie weissagten vielmehr damals das Ende der von diesem Meineidigen erbauten Briegger Jesuitenkirche. Nur das andauernde Gebet eines alten Clerikers, sagten sie, halte noch die am Orte zunächst stehende Felswand aufrecht; sterbe dieser, so werde auch der Berg durch ein Erdbeben herabgeworfen werden und in seinem Sturze die prächtige Kirche mit begraben.

Die bis jetzt genannten Bannräuber und Meineidigen sind Verwünschte; sie müßen bis zu ihrer Erlösung in dem entwürdigenden Zustande eines Thieres oder in dem des unseligen wilden Reiters verharren. Ein höheres Vermögen der Geister und Götter ist dagegen ihre Entrückung. Der Oberwalliser Stockalper ist in das wilde Hochgebirge entrückt, er wohnt in den Briegger Felswänden, gleich den drei im Arenberge schlafenden Tellen, gleich den im Kyffhäuser und Untersberge schlafenden deutschen Kaisern, oder gleich dem Imam Muhamed, der, in einen Berg zurückgezogen, das Ende der Zeit erwartet, um zurückkehrend dann die Welt mit Gerechtigkeit zu erfüllen. Deswegen nennen ihn die Schiiten den Erwarteten und führen alle Nacht ihm ein Pferd an den Berg, ihn bittend, er möge herauskommen. Menzel, Odin 329. Diese Berge, altheilige Lieblingssitze der Götter, öffnen sich zu bestimmten altheiligen Zeiten, dann ist dem einzelnen bevorzugten Menschen der Zutritt gestattet, dann ist auch der ungeheure Hort erhebbar, der hier mit den Helden versenkt und von scheußlichen Schlangen, Drachen und Hunden bewacht ist. Da beginnt ein fröhlich rühriges Leben, man tafelt an langen Tischen voll von silbernem Geräthe, jede Kegelkugel, mit der die Männer spielen, ist aus Gold, und wenn ein neuer Gast von der Erde her einkehrt, dann wird ihm ein prächtiger Sitz bereitet, alle empfangen ihn mit Jubel, er gehört nun unter das große Heer, er ist in Walhalla. Vgl. Wolf, Götterlehre 121. Grimm, Myth. 807.

Unsere Sammlung macht auf solcherlei kochende und tafelnde Geisterschaaren mehrfach aufmerksam: 1, 166. 316. 2, 85. 145. 148. Dahin also gehört es nun, daß gerade in den Fronfasten, also in den vorzugsweise heiligen Zeiten, der Bann der Priester nichts verfängt gegen den umherreitenden Bannhölzler, wenn dieser da sein Roß aus der Felsgrotte des

Digitized by Google

Roßberges herausholt, es in zwei Flüssen und drei Seen schwemmt und dann mit der Kegelkugel gegen den Kaisersberg wirft, als wäre dieser ein Kegelries. Eben dahin gehört es, daß des Haslithalers Geist aus den Grindelwaldgletschern bis zum Brienzersee hinab reitet; daß der Stiefelreiter von Mezzaselva zwischen Erdschlipfen und Felsstürzen am verschütteten Herenbrunnen wohnt; daß der Ritter im Urschai von der Erde, der Schwyzer Senne vom Dreifingerstein verschlungen wird; daß der Ammann Stiefelhans in die Alpe Sämtis hinein und auf die Berghöhe Stiefel hinauf beschworen wird; daß der Valeishund in der Oedung des Valeisschlundes, der Stockalper in der Briegger Felsenwand wohnen muß, bis er sie einst zerreißen und sich befreien wird. So ist denn auch der Aargauer Stiefeli ins berüchtigte Enziloch im Entlebuch beschworen, in eine Höhle, die ewig rein gekehrt, aber auch versperrt ist durch einen am Seidenfaden herabhängenden Fels. Ein vier Ellen dicker Hag schließt jenen Platz ein. Hören wir nun schließlich, wie sich unsere Landessage den weitern Beruf derjenigen ausgedacht hat, von deren Leben und Ende im Vorausgehenden erzählt worden ist.

13. Das Sentisloch an der Enzifluh. Ein Bergzug des Entlebuchs endigt in die schaurigen Steinwüsten der Schrattenfluh, der Bölifluh, des Heidenloches und des Enziloches. Schnider, Beschreib. des Entlebuchs 1783, 1, 13. Kaum wird schon ein menschlicher Fuß diese ewig wasserleeren und unübersehbaren Felseinöden in ihren tausend Trichtern und Schlünden und in ihren abertausend Felszinken betreten haben. Es ist grausenhaft, sie von einer Berghöhe von weitem anzuschauen. Ein unterirdisches Getöse bricht aus ihnen herüber, oft mit solcher Macht, daß man meint, es müße bis von dem jenseits des Gebirges liegenden Gurniggelbade im Berner Oberlande herkommen. Unter die Vorberge dieser Enzifluh gehört der Napf; die Sennen, die ihn beweiden, geben seinen einzelnen Theilen die auffallenden Namen Klaushüttenhengst, Klaushütteneſel. Eine große Höhle an seinem Abhange heißt Sentisloch und Enziloch. Der erstere Name bezieht sich auf die Sente, welche 50 Kühe stark hier den Vorberg beweidet; der andere Name deutet auf die in den Felsschluchten hausenden Riesen. In die Abgeschiedenheit dieser Wüstung sind nach dem Glauben der Emmenthaler und Entlebucher Aelpler alle Seelen der Wucherer, der schlimmen Vögte und Rathsherren hinabgeschleudert. Wo im Lande ein übler Hausgeist spukt und mit seinem Nachtlärm die Leute im Schlafe stört; wo die Arzeneien einem Kranken nicht anschlagen wollen, sondern gar entgegengesetzte Wirkungen hervorbringen, da wendet man sich gegen den Ungeist an fromme Barfüßermönche. Diese kommen alsdann und schaffen mit Gewalt und Macht der Kirche den Nachtschaden aus dem Hause. Um die Geisterstunde führen sie ihn von dannen und weisen ihm das Sentisloch zum Wandeln an. So hat man den reichen Bauern von Krummbach in

Digitized by Google

ein Gänterli (Schränklein) beſchworen und ihn zum verwünſchten Landvogt von Williſau hieher ins Enziloch gebracht. Luzerner Kalender 1851. Da kann er dann mit ſeinem nächtlichen Poltern und Schreien niemanden mehr aus der Rube ſchrecken. Um ſo größer iſt daher der Lärmen in jener Wüſte. Hunderte von Geiſtern ſitzen dorten zuſammen, ihre Rufe gleichen Kanonenſchüſſen. Alle Donnerwetter und Blitze, alle Gewitterwolken und Regengüſſe des ganzen Gebirges müßen ſie auf den Firſten oben ſammeln und in die Ebene herausſchicken. Daher heißen ſie auch Thalherren und ihr Geſchäft heißt das Wetter-Schießen. Die Felsblöcke, die ſie in ihrem böſen Willen mit herunter ſchleudern, gehen ſchadlos in die Tiefe und machen ihnen nur ihre eigene Höhle noch unwegſamer. Hirtenknaben haben einſt zugeſehen, wie ein Geiſt eine Menge Purpurſeſſel im Halbkreis vor die Höhle ſtellte; dann nahmen alle Geiſter in einer Reihe Platz und hielten eine ſo lange Berathung, daß ihnen der graue, alles überziehende Dunſt aus der Haut brach. (Erzählt von K. Ritter aus Altſtätten im Rheinthal.)

Damit hat der Kreis dieſer Unterſuchung zum Anfangspunkt zurückgefunden, von dem er ausgegangen war. Der alte Heidengott hat die Erniedrigungen ſeines Exils alle durchgemacht und iſt zum Ende wieder auf ſeinen Thron zurückgekehrt; wiederum wie ſonſt ſteht dieſer im menſchenleeren Hochgebirge, außerhalb der Grenzen der bewohnten Welt; außer dem Geſichtskreiſe des Menſchen. So weit reicht das uns bekannt gewordene Material dieſer Schweizerſage vom Stiefelreiter. Faſt jeder Kanton ſteuert ſein Einzelhiſtörchen dazu, und daß auch da wieder nach Landſchaft und Gemeinde fernere Spielarten deſſelben Themas ſich vorfinden laſſen, dies hat die Abthl. VIII unſerer Sammlung bereits an ſich erwieſen. Allein auch den deutſchen Ländern iſt dieſelbe Sage im weiteſten Kreiſe geläufig. Der betrügeriſche Richter Pohlmann in Mellin hat einſt Erde des fremden Gebietes zum Eidſchwur in ſeine Stiefel gefüllt und muß dafür hauptlos auf einem Schimmel die Grenzen umreiten; oder man hat in der dortigen Kloſterſtallung einen eigenen Schimmel für den verzauberten Mönch zu halten, der auf ihm den nächtlichen Grenzritt thun muß. Kuhn, nordd. Sag. No. 132. 157. 228. Oder es iſt der W. Jäger Hackelnberg, der von ſeinem Schimmel ins Grab gezogen worden, jetzt aber wieder aufrecht auf ihm ſitzend im Moosberge wohnt und da der Schlorfhacker heißt, weil er auch in Schlarfſchuhen herumſchlirpet. Kuhn, No. 265. In Bayern iſt es der geſpenſtiſche Forſtgehilfe mit Einem Pantoffel. Leoprechting, Lechrainſagen pag. 60. In Schwaben iſt es ebenſo der Eintöffler, der Waldvogt Ranzenpuffer, der die Flur auf einem Meerſchimmel umritt, ſeinen breitrandigen ſchwarzen Bauernhut dorten im Walde Bärloch hat liegen laſſen und in die Schweiz ausgewandert iſt. Meier, No. 105. 124. Im Klettgau auf der Alp bei Schaffhauſen iſt es das Geſpenſt des Alp-

pfeifers auf dem dreibeinigen Schimmel. · Schnezler, bad. Sagb. 1, 114. Wir betrachten zuerſt nun Alter und Heiligung des Roſſes, das dieſen Schimmelreitern eigen iſt.

Das Himmelsroß Kalighi der indiſchen Mythologie, auf dem Viſchnu am Ende der Tage geritten kommt, iſt weiß, gleich dem Schimmel des Reiters in der Apokalypſe (c. 19, 11 — 16), der zum Jüngſten Gerichte erſcheint. In der helleniſchen Mythe ſind die Leucippen Schimmel, und die Menalippen Rappen, denn ſie ſind die Perſonificationen des Sommers und Winters; in demſelben Sinne nennt der Skandinavier das Roß des Tages das Glanzmähnige, das der Nacht das Thaumähnige. Der iriſche Gott O'Donoghue verſchwand gehend auf dem See von Killarney vor den Seinigen. An jedem erſten Mai aber ſteigt er wieder empor, ſitzend auf einem milchweißen Roſſe mit hochſtehender Mähne, eine Schaar ſingender, bekränzter Mädchen und Jünglinge zieht ihm in den Wald nach. Alsdann folgt ein fruchtbares Jahr. Grimm, Ir. Elfm. 191. Unſer Gott Odhinn reitet den achtfüßigen Schimmel Sleipnir, welchem man zum Dank für den Aerntеſegen allenthalben von Bayern an bis Meklenburg einen Aehrenbüſchel auf dem geſchnittenen Kornfelde ſtehen läßt. St. Nikolaus, am Schimmel reitend, beſcheert unſern Kindern den kerzenhellen Weihnachtsbaum, der ſchimmelreitende Berchtold führt ſie ins Wirthshaus zum Gaſtmahl, welches ſelber wieder Berchtold genannt wird. Die Nürnberger Weinausrufer mußten am St. Urbanstage auf Schimmeln den Umritt halten (Roth, Nürnb. Taſchb. 1, 232). Auf gleichen geſchehen die Wettritte, die das Landvolk zu Oſtern beim Eierleſen veranſtaltet und zu Pfingſten beim Mairitt; dies beſagt ſelbſt der Kinderreim: Pfingſtſchimmel, Pfingſtlümmel! Die Kirchenheiligen Georg, Michael, Martin werden auf einem Schimmel reitend dargeſtellt, die preußiſchen Wenden haben ihrem Biſchof Adalbert, die Augsburger ihrem Biſchof, dem hl. Ulrich, gleichfalls einen ſolchen zugeſchrieben; weiße Roſſe waren noch in chriſtlicher Zeit zum Profangebrauch verboten, wie ſie es in heidniſcher waren bei den Germanen; alſo ſehen wir daraus, wie andauernd ſolch ein Brauch ſich erhält, der einſt ſchon dem Tacitus bekannt geworden war: publice aluntur iisdem nemoribus ac lucis candidi et nullo mortali opere contacti equi. Germ. c. 10. Daher die mancherlei geheiligten Kirchen- und Kloſterroſſe, die mit eigenen Stiftungen begabt, ſich noch in geſchichtlich ſpäter Zeit betreffen laſſen. Ein Schimmelreiter iſt das Wahrzeichen des Straßburger Münſters. Stöber, elſäß. Sag. pag. 475. Kapellen und Abteien beſitzen entweder dieſes Gottesroß oder die ihm geſtifteten Futterwieſen: 2, pag. 346. 347 unſerer Sammlung. Daher geſchieht's auch, daß in den örtlichen Geſpenſtergeſchichten ſo oft ein Prieſter ſchimmelreitend vorkommt. Ein Pfaffe wird vom Schimmel herabgeriſſen und in den Weiher geworfen; aber alle Bauern

Digitized by Google

ertrinken zusammen darinnen, die da sein Roß suchen wollen. Panzer, bayr. Sag. 1, No. 110. Der Schimmelreiter in der Stadt Würzburg ist ein gespenstischer Mönch, der den Kopf unterm Arme tragend von der Marienburg herunter durch die Straßen sprengt. Felsthal, Sagenschatz pag. 116. In Kerns schles. Sagen-Chron. 1840, 138 ist der verfluchte Schimmelreiter ein mit dem Ciborium zum Sterbenden reitender Priester; wer ihm zuruft, steig ab und laß mich reiten, der muß bis zum Jüngsten Tage fortreiten. Petrus und Pilatus im Kinderliede (bei Simrock, Kinderb. No. 450) streiten sich um diesen Ritt: „Jetzt kommst du nicht in den Himmel hinein, sprach Petrus. So reit ich auf einem Schimmel hinein! sprach Pilatus." Selbst Dr. Luther ist in solchem Zusammenhange zum Schimmelreiter geworden und dabei wird ihm, gleichwie vorhin dem Pilatus, die Seligkeit ebenfalls bestritten (1, pag. 199):

Martin Luther am Schimmel
Chunt i d'Höll und nit in Himmel.

Im Tempel zu slavisch Arkona auf Rügen hatte Gott Swantovit einen Schimmel, den niemand besteigen und nur der Priester füttern durfte. Auf demselben, erzählt Saxo Gramm. pag. 321, zog Swantovit alle Nacht aus, dann stand das Roß Morgens mit Staub und Schweiß bedeckt im Stalle, als hätte es gewaltig weite Strecken durchlaufen. Dieselbe Angabe findet sich merkwürdiger Weise auch schon bei Tacitus, Annal. XII, 13. Da ist es Herkules, der beim Berge Sambulos die Schimmel Nachts aus der Tempelstallung entführt und sie in die Wälder schleppt. Nach Tagen erst kommen sie ermüdet zurück; in den Wäldern aber findet man alles Gewild getödtet. Swantovit in Arkona reitet aus gegen die Feinde seines Glaubens, Herkules in Persien aber, um die Waldthiere zu erlegen. Letzteres ist eine der ältesten Spuren, wie sich unser Schimmelreiter in den W. Jäger verwandelt hat. W. Menzel in seiner Schrift Odin, 92 weiset das tiefere sittliche Motiv nach, das in diesen Sagen vom reitenden, jagenden und pferdebändigenden Gotte liegt. Ahmt der Gott die Winterarbeit der Männer nach, die darin bestand, im Stall die Pferde zu pflegen, im Keller das Getränk zu besorgen, am Feuer Waffen und Arbeitsgeräthe zu schmieden; erniedrigt sich der Naturgott im winterlichen Banne zum Pferdeknecht, zum Kellner, sogar zum Koch und Schneider, zum rußigen Schmied — (auch beim Griechen galt die Drohung der Aeltern gegen Kinder, der rußige Hermes werde aus dem Kamin heraus kommen) — so sind diese niedern Arbeiten nicht nur Vorbilder des menschlichen Thuns, sondern auch Sinnbilder der viel großartigern Arbeit, welche die niemals ruhende Natur im Winter verrichtet. Die Pferde, welche der göttliche Knecht hütet, sind dann die Sonnenrosse. Die Waffen, die er schmiedet, sind die Pfeile der Sonne, die Blitze des Donnergottes. Und wenn der mythische Humor den Gott

Digitized by Google

zuweilen zu einem ſchalkhaften Schneider macht (vgl. No. 488), ſo iſt es das künftige Kleid der Erde, die Pflanzenwelt, die er zuſchneidet.

Dieſem thätigen Gotte zu Ehren wurde als das heiligſte Opfer das dem Krieger zugleich theuerſte Gut, das Roß geſchlachtet. Pferdehäupter haben, einem indiſchen Hymnus zu Folge, bereits drei Hinduſtämme dem Gotte Indras auf dem Schlachtfelde geopfert (Kuhn, nordd. Sag. 490); nicht anders thaten die Germanen, die auf der Teutoburger Walſtatt die abgeſchlagenen Häupter der Beuteroſſe an die Bäume nagelten. Ein ſolches Roßhaupt mit gähnend aufgeſpreiztem Rachen, auf eine Stange geſteckt oder ans Gebäude befeſtigt, nannte unſer Mittelalter Neidſtange und caput caballinum; die Mönche bewahrten es zur Abwehr der Feinde in ihren Klöſtern (Reinardus 3, 2032. 2153); die Ortſchaften Roßhaupten, Thierhaupten tragen davon ihre Namen, unſere vielen Roßberge und Roßfelder ſind alte Opferplätze ſolcher Art (2, pag. 24. 26. 246). Noch ſind ſolcherlei Pferdehäupter im romaniſchen Bünden häufig auf Dachgiebeln und Brunnſtöcken zu ſehen, ebenſo wie ſie bei uns unter den Strohfirſten alter Bauernhäuſer aufbewahrt werden: 2, pag. 19. Ueberall aber verzieren ſie noch unſere Thurmfähnchen, Wirthsſchilde, Spielwaaren und Lebkuchen. Daß nun Roß und Roßhaupt im Heidenthum vorzugsweiſe dem Gotte Wuotan geweiht war, daß dem Schimmelreiter Wuotans Roß und übrige Symbole eigen ſind, daß er ebenſo wie dieſer zum Führer des Wüthenden Heeres geworden, dies iſt überhaupt bekannt und ſchon im Vorausgehenden im Einzelnen gezeigt.

Allein bei den ſich gegenſeitig ergänzenden Göttern gilt die menſchliche Familien-Aehnlichkeit ebenfalls, einer muß dem andern gleich ſehen. So ſieht Wuotan dem Donar ähnlich; alſo unſer Schimmelreiter dieſen beiden. Wuotan, der Gott des Wolkenhimmels, reitet auf dem ſchwarzen oder weißen Wolkenroſſe. Sein Sohn Donar, der Gott der Vegetation und Witterung, fährt im rollenden Wagen des Gewitters (1, No. 84). Wuotan bleibt im Himmel als Heldenvater, Donar bewohnt die Erde als Bauerngott (2, No. 415). Da iſt es ihm keine Schande, mit einem Geſpann von Böcken zu fahren (1, No. 146). Auch St. Petrus im H. Sachſiſchen Gedichte, der die Welt regieren will, muß zur Probe einen Tag lang einer Geiß nachlaufen. Dieſes Thier hat es mit dem Wetter zu thun, gleichwie St. Petrus ein Witterungsheiliger geworden iſt. Ein Meteor, in dem die Blitze büſchelweiſe erſcheinen, nennen wir Gewittergeiß, capra saltans (1, 332). Ebenſo hütet Stiefeli die Kloſtergeißen, ebenſo hütet des Rathsherrn Geiſt als Geiß den Bannwald (2, pag. 99), der Wettergott ſelber iſt deutſch Meiſter Bocks- und Geißfuß genannt, welſch lo Bocan (2, pag. 203). Und wie man das auf dem Acker zurückbleibende Aehrengebund Wuotans Roſſen liegen ließ, ſo that man auch daſſelbe für Donars Böcke, man

Digitized by Google

nennt daher dieſe von den Schnittern geheiligten Aehrenbüſchel bei uns Glückskorn, im Norden Vogelzehent, an der Bergſtraße aber den Bock (Wolf, Beitr. 1, 71), ein Name, dem unſere Hanfbrecherinnen heute jenem Werghaufen geben, der zum Arbeitsende angezündet und umtanzt wird. So hieß auch das dem Donar gewidmete Oſterfeuer Bocksthorn (Mythol. 583). Von Petrus, als dem Gewittergotte, ſagt man, er kegle, die gewittermachenden Thalherren im Enziloche ſchleudern Felskegel, der Bannhölzler wirft ſeine Kegelkugel in den Kaiſersberg. So kommen die drei Brüder Donner, Blitz und Wetter zum König gereist, der ſich mit ihnen im Kegelſpiel die Zeit vertreibt. Die Kegelbahn war eine Stunde lang (wie in unſerer No. 113). Dabei hatte die Kugel die merkwürdige Eigenſchaft, daß ſie immer von ſelbſt wieder zurückkam, und dazu brauchte ſie jedesmal zwei volle Stunden. Warf aber der Bruder Blitz, ſo gieng die Kugel weit über das Ziel hinaus und drang tief in einen Felſen ein. Meier, ſchwäb. Märch. No. 6. — Stiefeli und Bläſeli hütet die Säue des Kloſters (1, pag. 376), und dieſe Säue ſtellen ſich zugleich wieder als die vom Teufel geſendeten Wirbelwinde heraus, die mit ihren Namens-Perſonificationen No. 411 verzeichnet ſtehen. Der Eber zerwühlt aber nicht bloß die Saat, er iſt zugleich das Vorbild des ackeraufwühlenden Pfluges, auf den man Gotteseide ablegte. Donars Blitz ſelber erſcheint als Thal und Gebirg pflügend. Mit dem Wurf ſeines Hammers beſtimmt Donar die Feld- und Waldgrenzen (No. 55), gleichwie beim gerichtlichen Güterverkauf der Richter den Zuſchlag mit einem Hammer thut (RA. 162). Da aber dieſer Hammer zugleich der Donnerkeil wird, heißt Donar auch Meiſter Hämmerli (2, No. 418). Mit der feurigen Peitſche haut Stiefeli die Holzfrevler aus dem Walde und ſpeit ſelbſt Feuer (1, 111. 155). Dies iſt Donars Blitz und Wetterleuchten, von dem man im Preußiſchen ſagt, der mit der blauen Peitſche verfolgt den Teufel. Myth. 162. Das Blaufeuer und Heiligfeuer iſt der Rothlauf und Umlauf, die von Gott kommende Heimſuchung. Donars Böcke ſtinken wie Stiefelis Reitgaul, von dem es naiv heißt, er habe beim Wegreiten von den Ackerknechten jedesmal vornen und hinten dermaßen aufgehoben, „dass die Dienstlüt wol g'hört und g'schmöcket hend, sis Ross fressi de best Haber“ (1, 300). Dies iſt der Schwefelqualm des Blitzes, und in dieſe figürliche Anſchauung gehört es, daß der umziehende Geiſt mit ſo mancherlei ſtinkenden Sachen zu thun hat und endlich zum Teufel wird, der ſich nur unter Geſtank entfernt. „Der Alb feist also“, ſagt man von den mephitiſchen Dünſten an faulen Sümpfen. Wolf, heſſ. Sag. No. 79. Nicht bloß ſchlägt er den ungläubigen Schneider mit dem branſtenden Elbengeſchoß, ſchleudert dem Spötter ein faulendes Roßviertel an die Hausthüre, oder durchſengt ihm mit einem dargeworfenen Geldſtücke den neuen Hut: lauter Abzeichen von den Wirkungen

Digitized by Google

des Blitzes; sondern schon die gelbe Rübe stinkt tödtlich, die er verschenkt (2, 85), er trichtert den Gefangenen Mistjauche ein (No. 130), er ist ein sistendes Irrlicht, dem die Kinder nachspotten, es solle ihnen den Hintern wischen (2, 81), als Wetterdunst hängt er um den Berg, als Bergpfarrer schmaucht er hinter dem Bergnebel droben Tabak (2, 85), als Burggeist wälzt er seine schwefelgelb brennende Strohgarbe zu Thal (No. 100). So wird der Dunst verbreitende Blitz zum verfluchten Blaufeuer, endlich gar zu jenen Verwünschten der Clausur, welche bei Fischart (Immenkorb, ed. Eiselein 1, cap. 2) Gaißiten heißen und des Teufels letzter Krach, damit er lang schwanger gangen. Im schwäb. Märchen (E. Meier No. 31) ist es der Mann, der einen großen Zapfen in der Hinterthür stecken hat; wenn ich den Zapfen herauszöge, sagt er, könnt' ich ein ganzes Königreich vollmachen, es gienge wie aus einer Feuerspritze! Diese die Gottheit scheinbar so tief entwerthenden Züge sind nur nicht zu mißdeuten. Donner und Blitz entsteht, wenn der Gott in seinen rothen Bart pustet, der Donnerkrach heißt Thôrrs Bartruf (Myth. 161). Rothenburger, Roththaler und Rothensluher heißt er von der Haarfarbe her, seine Wohnstatt ist am Rothenrain und Rothwasser; vgl. im Sachregister beider Bände den Artikel Roth. Das die Häuser gegen den Blitz schützende Rothkehlchen ist sein, an seinen Festtagen jagt man das Eichhörnchen (2, 217), fängt den Eichschröter, den wir Donnerkäfer nennen, und den Fuchs, der in Island noch der Holz-Thôrr heißt. Daher lauft der Bödelmer-Geist als Fuchs vor jedem Ungewitter durchs Dorf (No. 125), daher schweift der Richter Gleichauf (No. 333) als ein doppelter Fuchs und feuerspeiend um alle Grenzsteine des Bannwaldes. Sein ist der Donnerstag und dessen für Hochzeiten und landwirthschaftliche Dinge noch immer andauernde Heiligung, ja der Gott selber heißt nun Donnerstag (2, 202). Am Unsinnigen Donnerstag baut man ihm zu Ehren den Maiwagen, führt darauf die alten Jungfern aufs Girizenmoos hinaus, um sie da zu begraben, und dann ins Wirthshaus zurück, um ihnen da den Wein in die Schürze zu gießen. Dies deutet auf das bei seinem Namen üblich gewesene Minnetrinken der Geschlechter; Thôrrs-Minni wurde aber nicht nur für das Gedeihen der Aecker getrunken (Myth. 161), sondern auch zum Heil des Ehebündnisses, denn Donar ist der Ehegott und haßt die Hagestolzen, er erfreut sich an Schmaus, Trunk und Tanz, und besteht daher im Nothfall selbst eine Bauernprügelei mit (No. 490). Bestimmte Bäume, Berge und Wälder sind seine geheiligten Sitze; so die Donnereiche bei Magden im Frickthal, mit ihrer noch nicht genau erhobenen Einzelsage; so der Donnerbühl bei Bern (2, 202. 203), so das Maiengrün, die Gleichaufshöhle, der Herrlichkeitsstein (2, 102. 202), der Fuchsstein, No. 113. Dorten entzündete man ihm die Opferfeuer am Funkentag und Gründonnerstag, die Mai-, Oster- und Johannisfeuer, an denen

man ein Eichenrad verbrennt, glühende Holzscheiben schlägt, brennende Schiffchen in den Bach läßt, oder den Alten, den Mann, den rothbärtigen Judas, den Strohmann mit verbrennt. Das Scheit aus solchem Feuer bewahrt man daheim im Hause gegen den Blitzschlag; Kohle und Asche davon streut man zur Befruchtung ins Saatfeld. Und weil er für alle Bauern auf Erden sorgt und alle Ehen stiftet, so braucht er selbst den größten aller Götterpaläste im Himmel, der nicht weniger als 540 Räume hat. Unter den Hallen, sagt Odhinn, die ich erbaut weiß, ist die meines Sohnes die größte. So ist auch das vorhin erwähnte Enziloch von solcher Größe, daß es die Seelen Aller in sich aufnimmt, für die in unseren Gauen sonst kein Platz mehr vorhanden ist.

Sämmtliche eben entwickelte Einzelheiten finden sich zusammen angewendet in dem verbreitetsten deutschen Märchen: Sechse kommen durch die ganze Welt. Ein Reisender, der die Königstochter freien will, sucht sich Helfershelfer. Der erste Diener, den er dazu am Wege findet, ist der starke Marksbein, sechs Bäume rupft er aus wie Grashalme, dann wickelt er den einen um die fünf andern und trägt sie als Reiswelle auf der Schulter hinweg. Sein zweiter Diener wird Blasius; dieser hält sich das eine Nasenloch zu und bläst aus dem andern die Flügel von sieben Windmühlen in Gang. Der dritte ist der Läufer Vogelschnell; er muß sich das eine Bein entweder abschnallen, oder sich eine Kanone (d. h. Stiefel 2, 217) dran binden, um nicht allzuschnell alles zu überspringen. Der vierte ist der Winter (1, 184. 292); wenn der seinen Hut gerad setzt (No. 211), so kommt ein so entsetzlicher Frost, daß die Speisen in den Kochschüsseln einfrieren und die Vögel todt vom Himmel fallen. Der fünfte ist Scharfschütz, er schießt dem Läufer Vogelschnell einen Pferdeschädel unter dem eigenen Kopfe weg. Der sechste heißt Vielfraß und Saufaus, er kann viele tausend Brode auf einmal wegessen und dazu einen Bach austrinken. Die Thaten dieser sechs Diener sind die Werke, welche Gott Thôr auf seinen Wanderungen allein verrichtet hat, das Volksmärchen ist hierin nur das Echo des eddaischen Göttermythus. So haben Wolf, Beitr. 1, 90 und Grimm, KM. 3, No. 71 dasselbe erklärt, und hier genügt es, auf diese Schriften hinzuweisen. Es ist einleuchtend, daß diese eben genannten Herenmeister nur die vereinzelten Fähigkeiten sind, die sich bei Stiefeli vereinigt vorfinden, dieses ist sein durch den Götterschuh erlangtes Vermögen hilfreicher Allgegenwärtigkeit. Im schwäb. Märchen (bei Meier, No. 31) kann der Mann, der die gewaltig großen Stiefel anhat, schneller laufen als die Eisenbahn; bei Wolf, DM. pag. 198 sind's Eisenstiefel; bei Kuhn, nordd. Sag. No. 234 werden solche Eisenschuhe und ein Kessel in einer eigenen Wallfahrtskirche aufbewahrt; bei Haltrich, Siebenbürger Märchen No. 15 tragen die Ritter Eisenschuhe, aber ihr Küchenjunge hat seine Goldfüße in

Stiefel gesteckt und kommt ihnen allen im Wettlauf zuvor. Kessel darf man zur Zeit der Zwölften nicht scheuern, Schuhe nicht schmieren und Erbsen nicht essen, sagt der Aberglauben (Kuhn, nordd. Sag. pag. 411). Das heißt, sie alle zusammen sind Donars.

Hiemit wäre nun gezeigt, wie die zwei nächst verwandten Götter Wuotan und Donar unserem Alterthum schon in Einer Person als ein Jupiter Tonans erschienen sind, wie sodann der Donnergott, dem die Zwerge seinen Hammer Miölnir geschmiedet haben, einst in einem nahen Verhältnisse zum Elbengeschlechte überhaupt gestanden hat, und warum sich daher seine Götter-Eigenthümlichkeiten der Reihe nach in unseren Aargauer Zwergensagen, namentlich aber an der Figur des Sennenzwergs Stiefeli zu wiederholen vermögen. Das Vorhandensein allmächtig geglaubter ältester Gottheiten selbst noch in der herabgekommenen Sage eines geringen Landstriches nachzuweisen, ist eine umständliche Aufgabe, und dem Leser zu Liebe, den man als einen darauf unvorbereiteten anzunehmen hat, geht sie in eine unerläßliche Breite ein. Die Arbeit gelangt nun auf den Inhalt der Rechtssage, zeigt wie Donar-Stiefeli der Gott des Grenzrechtes und Grundbesitzes ist, wie er als solcher dann in sein Gegentheil umschlägt und mit dem zusammenbrechenden Glauben der böse Feldfrevler, der meineidige Marchenversetzer und proceßsüchtige Klostervogt wird. Ueber diese Wandlung des Gottes, von der wir nun beginnen, äußert Grimm, Myth. 169. 171: „Donar ist Grenzgott und heißt daher vorzugsweise die Landesgottheit, der Landâs. Auswandernden weist er die neue Wohnstelle an. Die Ansiedler auf Island heiligten ihm einen Bezirk und nannten denselben Thôrrsmörk, ein Name, der an das schlesische Geschlecht der Henkel von Donnersmark erinnert. Seine Tempel und Bildsäulen waren in Schweden und Norwegen die häufigsten. Eben darum suchen Ueberlieferungen, die noch zur christlichen Zeit haften, alles Gehässige auf ihn zu werfen und ihn als teuflisches Wesen darzustellen." Die Rechtsgeschichte sowohl wie die Rechtssage, beide geben über diese Umwandlung deutlichen Nachweis, beide unterstützen und bewahrheiten sich hierin gegenseitig. Denn an der geschichtlichen Thatsächlichkeit solcher in den Rechtssagen erzählten Fälle von Landraub ist durchaus nicht zu zweifeln; nur muß man sie nicht für das Ursprüngliche der Sage halten wollen. Jeder, der sich zum Gewalthaber aufwarf, mußte die zu Unterwerfenden vorerst in ihrem Besitzstand schwächen, um sodann ihren Widerstand gewisser brechen zu können. Nahm man ihnen Wunn und Weid, so waren sie wehrlos genug. Daß und wie dies geschah, zeigen die deutschen Geschichtsquellen, wenn sie über das Nutzungsrecht der Gauwälder reden. Unter den Karolingern nahm man dreierlei Arten Wälder an: foresta, sylvas et boscas. Nur die beiden letztern Klassen wurden zu den curtes gerechnet, waren das Eigenthum der Maierhöfe und dienten diesen

Digitized by Google

zur Beholzung; die Forsten dagegen gehörten dem Gau, der Gaugrafschaft. Allein die Gaugrafen nahmen nicht nur diese Forsten zu des Königs Handen, sondern sie machten auch aus den Hölzern (sylvae) noch Forsten und schlugen dieselben zur königlichen oder grafschaftlichen Domäne. Dieser Mißbrauch bekam die urkundliche Bezeichnung Sylvam forestare, und schon Ludwig der Fromme ließ 819 einen Befehl dagegen ergehen: ut Comitibus denuntient. ne ullam Forestam novam instituant, et ubi noviter institutas, sine lussione nostra, invenerint, dimittere praeripiant. Joh. Conr. Füßlin, Neue Samml. Verm. Schriften. Zürich 1757 3, 337. Nach einem Aufsatze J. Grimms in den Wiener Jahrb. XLV. 121 beschweren sich die Sachsen gegen König Heinrich über dieselbe Beraubung, daß ihnen Kirche und Kloster das Gemeinderecht in Wunn und Weid beschränke. Auch die Freienämter haben angeblich im Hornung des Jahres 1045 bei König Heinrich III, da sich dieser eben zu Solothurn aufgehalten, Klage geführt gegen den für die Nutzung ihrer Wälder ihnen vom Grafen Guntram auferlegten Zins, die Klage soll aber nicht zum Spruche gekommen sein. Brugger Neuj.-Bl. 1825. Die Lateindichtung des 11. Jahrh. legt ebenso den klageführenden Sachsen die Worte in den Mund: pupillus et advena quivis indigenas prohibent silvis communibus uti, pascua praeripiunt, vi praedia tollunt. Wer nun aber solche Güter den rechtlichen Besitzern entfremden wollte, ohne daß ihm die Uebergewalt zustand, der mußte den Weg des Betruges und der List einschlagen; er mußte die dem Gotte geheiligten Gemarkungszeichen versetzen oder tilgen. Diese sind die bei uns so geheißenen Donnerseichen, Blitzibuchen, die Loch- und Lachbäume (von ahd. lâh, incisio), die man zu beiden Seiten mit drei Arthieben zeichnet; per nostra signa, id est laha. Markbeschreib. von Rasdorf ad a. 783. K. Roth, Kl. Beitr. Heft 8, 142. „Lach, Loch, Loher, buchen oder eychen, bedeutet ein March, lochern ist marchen." H. R. Grimm, Neuvermehrte Schweitz. Cronica 1786, 26. Oder es sind regelrecht behauene Stöcke, welche eine verfeinerte Limitation an die Stelle des ältern Gemarkungsbannes und unter Wuotans Schutz aufstellte, wie der agf. dafür giltige Gerichtsausdruck Vôdenstoc besagt. Diese heißen bei uns Lochstein, Heiligstud, Hagmutter, Hagstelli, Zeugen, Schwirre, und ihr zugespitzter Fuß ist der Stiefel. Die härteste Strafe traf den Frevler, der diese Zeichen antastete. Vgl. J. Grimm, Grenz-Alterthümer. Abhandl. der Berlin. Akad. 1845, 129.

Nun nennt die Sage von dem mit Lüge und Vorbehalt geschworenen Eid, durch welchen dann eine Gemeinde Wunn und Weid an die Nachbargemeinde auf ewige Zeiten einbüßt, unter den betrügerischen Hilfsmitteln wechselweise den Stiefel und die Erde, den Hut und den Waldzweig, den Löffel und den Kamm. Das sind also diejenigen Symbole, auf die der falsche Eid abgelegt und mittelst welcher die Streitfrage zu Gunsten des Mein-

Digitized by Google

eidigen entſchieden wird. Betrachten wir die Rechtskräftigkeit dieſer Symbole. Durch Scholle und Zweig des beſtrittenen Bodens ſtellt die Partei ihre Rechtsanſprüche vor dem Richter dar. Lex Alam. tit. 84: tollant de ipsa terra, quod Alamanni zurfodi (Turbe) dicunt, et ramos de ipsis arboribus infigant in ipsam terram quam tollunt. Kam's darüber zum Eidſchwur, ſo ſtach man den Raſen des beſtrittenen Landſtückes auf, trat darunter in den Boden und ſchwur bei der Erde, denn dieſe konnte den Meineidigen verſchlingen. Grimm, RA. 110. 115. Gewohnheitsrecht, Rechtsglaube, Aberglauben und Kinderſpiel zeigen uns dieſe Art der Beſitzergreifung und des Rechtsnachweiſes heute noch in einer gleichſam ſtumm fortdauernden Giltigkeit. Das Kinderſpiel Aeckerles (Meier, ſchwäb. Kinderreim No. 394) geht alſo vor ſich: Zwei Knaben ſtecken ſich jeder auf einem Grasplatze ein gleich großes Viereck ab. Ein Meſſer wird in die Luft geworfen, und ſo tief, als es im Herabfallen in den Boden eindringt, ſchneiden die Beiden wechſelweiſe ein viereckiges Stück Raſen aus ihrem abgeſteckten Felde. Damit fahren ſie fort, bis das Feld ganz ausgeſchnitten iſt. Wem das zuerſt gelingt, der hat gewonnen. Der Zwerg wacht über der Untheilbarkeit der Almende, daher haßt er auch dieſes Kinderſpiel. Als vorigen Sommer Bauernkinder auf der Wieſe „Meſſerl, Meſſerl, thu' dich kehren" ſpielten, kam einmal das in die Luft geworfene Meſſer nicht mehr herunter, ſondern hinter ihnen ſtand ein winzig kleines grünes Hojemännl, der, das Meſſer zwiſchen den Zähnen, die Kinder angrinste, daß ſie entliefen. Leoprechting, Lechrain-Sag. 34. In der Weiſe dieſes Spieles nun geſchah nach ſkandinaviſcher Sitte die Bundesverbrüderung, nur traten die ſich Verbrüdernden dabei unter den ausgeſchnittenen Waſen, der durch einen darunter geſtellten Spieß in die Höhe gehoben war, und riefen die Götter zu Zeugen ihres Bundes an. Die Angelſachſen ſchnitten aus einem durch Zauber unfruchtbar gemachten Felde vier Raſenſtücke von den vier Feldwinkeln aus, beſprengten und beſtreuten Waſen und Erdſchurf mit eingeſegneten Dingen und Zweigen, hierauf pflanzten ſie vier Kreuze in dieſe Winkel und überlegten dieſelben wieder mit dem Waſenſtücke. Myth. 1185. So erſcheint Speer, Zweig und Kreuz als Sinnbild der erſten rechtlichen Bepflanzung, die der Eigenthümer auf dem neu zu bewirthſchaftenden Felde vornimmt, und bei Laub und Gras ſchwört ebenſo der Freund die Treue. Darum ſind ausgeſtochene Raſenſtücke ein Mittel, jenen Feldverſegner zu entdecken, welcher Bilſchneider heißt. Der Bil- und Bilmezſchnitt iſt nämlich ein durch die noch junge Kornſaat in die Quere fortlaufender ſchuhbreiter Schnitt, vermöge deſſen alle Halme ein bis zwei Schuh ob der Erde abgeſchnitten ſind. Da dieſer Schnitt für die Haſen meiſt zu hoch iſt und auch in Gegenden vorkommt, wo kein Rehbeſtand mehr iſt, da außerdem auch niemals Wildfährten ſich dabei gewahren laſſen, ſo iſt es

Digitized by Google

ein gewiſſer Glaube, daß es Zauberwerk des böſen Gutsnachbarn ſei, der an den linken Fuß eine Sichel gebunden, auf einem Bocke in drei Freinächten die Getreideäcker durchreitet. Leoprechting, Aus dem Lechrain 20. Einem Manne, der vielen Verluſt durch den Bilmersſchnitt zu erleiden hatte, wurde gerathen, die Raſendecke eines Maulwurfshaufens auszuſchneiden und verkehrt auf den Kopf zu ſetzen, ſo daß die Wurzel des Graſes aufwärts, der Halm abwärts ſtünde. Als er ſo den Bockreiter gewahrte, rief er, Nachbar, thuſt du das? Dieſer ſchwoll darüber und ſtarb am dritten Tage. Ein anderer gleichfalls ſo auf der That Ertappter wurde zeitlebens lahm und blind. Panzer, bayr. Sag. 2, 536. 537. Auch manches vulgäre Heilverfahren knüpft ſich an dieſen Raſenausſchnitt. Wenn die Gebirgsziegen auf ihrem Weidgange ſich Spreißen in die Klauen treten, ſo daß ſie hinken und eiternde Füße bekommen — man nennt dieſe Krankheit den Nigel — ſo ſchneidet man ihnen das Wäſeli alſo: Zwiſchen der verwundeten Klaue wird ein Stückchen Haut ausgeſchnitten, die Wunde mit friſch ausgeſtochenem Raſen gerieben und dieſer dann in den Rauchfang gehängt. Steinmüller, Glarner Alpenwirthſchaft 1, 105. Aehnlich behandelte man erkrankte Kinder: mulieres, quae habent vagientes infantes, effodiunt terram et ex parte pertusant eam et per illud foramen pertrahunt infantem. Myth. 1118. Dieſe der Erde beigelegte Heilkraft und Wirkſamkeit beruht auf einem noch ältern religiöſen Satze. Dem Heiden iſt die Erde aus dem Fleiſche eines göttlichen Urweſens geſchaffen, der Leib Gottes, er aß ſogar die aufgegriffenen Erdbroſamen, wenn ihm durch Kampf oder Mord ſchnelles Sterben drohte; daher ſtammt der Ausdruck, die Erde küſſen, ins Gras beißen, mordre la poudre, la poussière. Wackernagel in Haupts Zeitſchrift 6, 288 hat aus der altdeutſchen, italieniſchen und franzöſiſchen Poeſie entſprechende Beiſpiele hiefür geſammelt.

Wir werfen beim Begräbniß drei Erdſchollen auf den Sarg, — oder man legt auch dem Verſtorbenen ein Stück Raſen unters Kinn. Panzer, Sag. 2, pag. 114. 294. Während dies zur Ruhe des Beſtatteten geſchieht, wendete man ehemals es an als Mittel zur Wiederauferſtehung. Der Dresdener Scharfrichter erhielt den Namen Dreißigacker alſo; er hatte einſt dem von ihm Enthaupteten ſchnell ein Stück ausgeſtochenen Raſen auf den Rumpf gelegt und ihn an der Hand ſo noch über dreißig Aecker weit geführt. Gräße, ſächſ. Sagenſch. No. 128. Als die ſchweizeriſchen Werbtruppen in der Schlacht bei Marignano Niederlage und Tod vor Augen ſahen, ſtach der Hauptmann der Zuger mit der Partiſane Erde aus dem Boden, ſchleuderte ſie rückwärts über die Häupter ſeiner Schaar und rief: „Hier ſoll unſer Kirchhof ſein!“ Daſſelbe thaten auch die Landsknechte. Barthold's Frundsberg 58. Da man den verwilderten Bauernſohn Helm-

Digitized by Google

brecht hängt, giebt man ihm aus Mitleid noch Erde; die Erzählung aus dem 13. Jahrh. (Haupt, Ztschr. 4, 384) sagt:

si liezen sîne bîhte
den müedinc dô sprechen.
einer begunde brechen
ein brosemen von der erden.
dem vil gar unwerden
gap er si z'einer stiuwer
für daz helle fiuwer,
und hiengen in an einen boum.

So heilig die Erde nun in derlei Glaubenszügen erscheint, und um so gröber alsdann der mit ihr gespielte Frevel erscheint, um so öfter nur reizt es die Habsüchtigen, denselben zu begehen. Die Sage des klassischen Alterthums bereits ist voll davon. Die erste Veranlassung zur Gründung Kyrene's erzählt Pindar, 4 Pyth. V. 60. Den heimkehrenden Argonauten hatte die Landesgottheit an Nordafrika eine Erdscholle zum Gastgeschenk angeboten, aber sie ließen das Stück im Versehen aus ihrem Schiffe fallen und so schwamm die Scholle ans Ufer der Insel Thera. Daran knüpfte sich deren Recht auf den Besitz jener Küste; jedoch Thera's vierte Generation erst erwirbt Libyen, woher jene Scholle stammte. Hier ist die Grundlage der Rechtssage eine reell-sinnliche, die einfache Erdscholle; um so leichter knüpfen sich die Ueberlistungs-Versuche nun an diese gewinnbringende Scholle an. Die spartanischen Bastarde erwerben Tarent, weil sie die Asche ihres Führers dorten ausstreuen. Justin. 3, 4. Nicht minder häufig ist dieser bloße Anschlag auf Ueberlistung ein beliebter Inhalt in der deutschen Sage. Wer die erste Fuhre Düngers auf eine neu angeschwemmte Aarinsel fahren kann, ohne dabei das Wegrecht in fremdem Felde verletzen zu müßen, dem, sagt der Aarg. Aberglaube, soll selbige Insel gehören. Mittelst eines Sackes voll Ungargras erwerben die Magyaren das Ungarland. Mone, Heidenth. 1, 101. Die einwandernden Sachsen kaufen einem Thüringer einen Rockschoß voll Erde um hohes Geld ab; man streut sie dünn über den Boden und behält den damit besäeten Feldraum als rechtliches Eigenthum. Witukind von Corvey lib. 1, c. 5. Durch ähnliche Ueberschüttung gewinnt der thüringische Ludwig der Springer die Wartburg. Grimm, DS. No. 369. 741. Sommer, thüring. Sag. No. 67. Die Kaiserchronik (ed. Diemer, 321. V. 11) läßt durch König Constantin Römererde in Byzanz ausstreuen, als in dem neuen Reichssitze: daz die helede guoten uffe rômesker erde stuonden. Als Moselsage bei Trier erwähnt's Wolf, Ztschr. 1, 191.

Auf diese Heiligung der Erde als eines Gottesleibes also gründet sich die Angabe, ein zur Beschwörung seiner Rechtsansprüche vor Gericht Zugelassener habe Erde aus dem Grund des strittigen Landstückes in die Stiefel gefüllt und letzteres durch den nun doppeldeutig werdenden Schwur



Digitized by Google

gewonnen, jenes Gut sei sein, so wahr er auf eigenem Grund und Boden stehe. Vom Stiefel, als dem dabei unerläßlichen andern Schwurmittel soll sogleich die Rede sein, wenn hier erst die übrigen Symbole erklärt sind, welche, bei gerichtlicher Auflassung von Gut und Erbe rechtsübliche gewesen, in unserer Sage erwähnt werden. Dazu gehört Hut und Mütze. Ueber die Anwendung beider ist Grimm, RA. 148 nachzusehen. Für die Schweiz ist der Hut seit Geßlers Zeiten das Sinnbild politischer Selbständigkeit, und wenn das deutsche Sprichwort zwischen angeborener und angemaßter Selbstherrlichkeit unterscheiden will, sagt es mit noch durchscheinender Erkenntniß: Es ist ein großer Unterschied zwischen dem König David und einem Hutmachersgesellen. Noch besteht der bayerische Huttanz; er wird an dem Tage abgehalten, an welchem die Bauern den Vertrag mit ihrem Hirten für kommenden Sommer im Wirthshause abschließen. Schmeller 2, 257. Die Wörter Hut und Hutung bedingen sich gegenseitig, die huttragenden Geister sind also auch Gutshüter. Von den vielen Hutgeistern hier nur einen. Der Bauer Pagels auf Insel Rügen hat die den Nachbarn abgepflügten Landstücke sich erschworen und spukt nun als weiße großbehutete Eule. Man singt von ihm:

Pagels mit de witte Mütz,
wo koalt un hoch is dîn sitz!

Steinau, Volkssag. Zeitz 1838, 295.

Etwas undeutlicher sind die ferner genannten Gegenstände, auf welche der Eidschwur geleistet wird: Löffel und Kamm. Beide werden von der Sage mit fortdauerndem Nachdruck als solche Mittel wiederholt, durch welche der Betrug des Meineidigen ganz besonders grell gemacht werden soll. Auch dabei muß ein doppelsinniges Wortspiel beim Eide dienen, den Eideshelfer ausmachen. Der Frevler schwört beim Schöpfer und Richter über ihm, hat aber auf dem Hute den Schöpflöffel stecken, welchen der Senne Schöpfer nennt, und unter dem Hute den großen Rundkamm, welchen die Bauern sonst im langen Haare des Hinterhauptes trugen, um dieses damit zu richten. Daher die mancherlei Sagen über den Löffel; hier eine. Die Gräfin von Eberstein spukt im badischen Schwan- und Rockertwald, weil sie mittelst eines in ihrem Federbusche geborgenen Löffels jene Waldung sich zugeschworen hatte. Mone, Anz. 1834, 145. Nun heißt sie das Rockertweible und durchjagt mit ihrer Koppel Hunde das ganze Murgthal. Meier, schwäb. Sag. 139. Was hierin unverstanden ist und lächerlich erscheinen kann, äußert Grimm, RA. 64, ist das anfangs Ehrwürdige gewesen. Statt des Hammerwurfs, mit dem im Namen Thôrrs das Recht auf Grund und Boden, auf Wasser und Flüsse bestimmt wurde, können schon in alter Zeit beim Honigbauern der Honiglöffel (beim Vogt einer güterübertragenden Frau auch deren Kamm) angewendet worden sein. Die bayerische Redensart:

Digitized by Google

hat scho wider a'es 'n Leffel weggworffe, bedeutet, Jemand hat den Geiſt aufgegeben (Schmeller 2, 445); alſo wird man ehedem mittelſt des Löffels auch Güter aufgegeben, ertradirt haben. Dies iſt um ſo wahrſcheinlicher und paßt um ſo mehr für den Acker- und Rechtsgott Donar, als dieſer auch zugleich der Ehegott war, Schuh und Löffel aber gerade beim Ehepact eine ſehr alte Rolle ſpielten. Beim Verlobungsmahle mußten die zürcheriſchen Hochzeitspaare aus dem gleichen Glaſe trinken und mit demſelben Meſſer ſchneiden. Meyer-Knonau, Kant. Zürich 2, 167. Daß ſie auch mit demſelben Löffel zuſammen gegeſſen, deutet der noch geltende deutſche und wendiſche Brauch an, wornach die Braut während der Mahlzeit mit einem Täßchen Honigmus eintritt und jedem Gaſte ein Löffelchen voll davon eingeben muß. Dies iſt das Löffeln. Ein aargauiſcher Kiltſpruch macht daher vom Löffel das ganze Eheglück abhängig:

Lire-läre-Löffelstiel,
der Balzer het si Frau verspielt,
der Joggi het si g'gunne
z'Basel i der Sunne.

Das Hochzeitslied, das man einſt dem Felix Platter zu Baſel vor dem Hauſe geſungen, begann Löffel, lieber Göffel! und aus ſeinen Studentenjahren erzählt derſelbe: „Auf der gaßen bekamen uns vil ſtattliche burger, die zugendt mit ſeitenſpil und fanen, hatten ſilbere ſchalen mit zucker-Erbs und allerley confect gefüllt, klopften doran mit ſilberen löfeln und gaben den jungfrauwen, die uf den gaßen ſtunden, doruß mit den löflen.“ Thom. und Fel. Platter, ed. Fechter 145. Der Scheltname Löffel ſtammt nicht etwa daher, ſondern aus Laffe. Als Geſchlechtsname kommt das Wort bei uns frühe vor: Löffel Benedict, 1552 in Brugg verburgert (Brugger Stadtprotokolle), Löffler, laut Zofinger Zunft-Rodeln daſelbſt ſeit d. J. 1400. An die Stelle des Löffelns iſt bei unſeren Hochzeiten nun das Chrüſeli getreten, ein Krüglein mit Rothwein und dreingeſchabter Muskatnuß, aus welchem die Braut jeden Gaſt einen Schluck thun läßt. Dies war im Norden Thôrrs-Minni-Trinken, bei den Ditmarſchen der Löftbeller, und iſt bei uns das Brautvertrinken genannt. Da bei den Hochzeiten das Raddrehen, der Schimmelreiter, das Erbſeneſſen und Nußwerfen vorkommt, lauter auf Donar bezügliche Dinge (vgl. Schmitz, Eiflervolk 1, 51 ff. Kuhn, nordd. Sag. 432 ff.), ſo iſt es außer Zweifel, daß hier das Einlöffeln von Zuckererbſen gleichfalls dieſem Gotte gilt. Er nimmt ſogar ſelber des Löffels alten Namen bei uns an und heißt deswegen Heine, gleichwie der Löffel auch im Rothwelſch heißt: 2, 108. Drei Löffel auf Grenzſteinen ausgehauen: 2, 88. Seine Schweſter, die Göttin Oſtara, verleiht bei Hochzeiten den Brautſchuh, der, iſt er ausgezogen, die Braut in des Mannes Gewalt und Recht giebt. Ihr iſt daher das gelbe Frauen-

Digitized by Google

schühlein und Muttergottes-Pantöffelein, trifolium melilotus, geweiht; sie selber bestellt sich beim Schustergesellen von Tegerfelden ein Paar solche rothe Laschenschuhe (1, 244), und das Alemann. Kinderspiel No. 4: „Es chunt e Herr mit eim' Pantoffle" erinnert an die Sage vom König Rother, der brautwerbend zweierlei Schuhe übersendet. Deswegen wohnt der kinderbringende Storch in Ostindien immer auf eines Schuhmachers Haus (2, 40), oder er hat ein Paar Stiefel neben sich stehen, wo wir ihn heute als Sparbüchse, Feuergeschirrchen und dergleichen Figürchen aufstellen.

Neben dem Löffel wird der Kamm genannt, bei welchem der Senne seinen Eidschwur gethan. Der hl. Verena in Zurzach opfern die dortigen Mädchen den Jungfernkranz zum Weihgeschenke (2, 315); dieser Heiligen Steinbild hält aber in der Rechten das Krüglein, in welchem für den Frommen Wein, für den Bösen immer Wasser gewesen, und in der linken Hand den Kamm, der sich einst gleichermaßen in einen Brodkipf verwandelte (1, 13). Dies erinnert an einen Hochzeitsbrauch in Hessen. Sobald es nicht gelingt, daß die verheirateten Hochzeitsgäste der Braut den Hochzeitskranz und Brautschuh über Tisch rauben, so müßen sie die junge Frau mit so vielem süßen Wein auskaufen, als die Ledigen beim Schmause vertrinken; die Kranzjungfrauen aber, die ihr zuvor nur Süßigkeiten zu essen gegeben, überbringen ihr, sobald sie sich vom Jungferntische weg an den Frauentisch setzt, einen Salzweck. Wolf, Ztschr. 2, 78. Somit ergeben sich Wein und Brod, Löffel und Kamm bald als Vermählungs-, bald als Grenz- und Malzeichen. Auch die Bräute in der Eifel opferten ihr Krönlein Morgens beim Kirchgange dem Altarbilde der Muttergottes, und hießen es daher Muttergotteskrone; am Ende des Hochzeitstages aber zog man vor den Ort hinaus unter Musik, schoß mit Pistolen eine hier aufgestellte Strohgarbe in Brand und umtanzte sie, dies hieß das Läuse verbrennen. Schmitz, Eiflerwolk 1, 53. 62. St. Verena und Maria erscheinen hier als die Stellvertreterinnen der frühern Ehegöttin, welche Krug und Kamm (Brod) führte. Am Verenatage kämmt man alle Kinder (1, 13), die Heilige selber hält eine Kleinkinderschule (1, 11) und erfüllt die Wünsche der Frauen um Fruchtbarkeit (1, 15). Jene Jungfrau, in deren Kindertroge alle noch ungeborenen und die schon wieder verstorbenen Kinder sind, sucht dem Menschen gleichfalls einen Goldkamm zu schenken (1, 240), und von demselben Kamme her heißt eine in den Weinbergen hausende Geisterfrau das Strähl-Anneli (1, 151). Bei den Hochzeiten der Inselschweden auf Worms im finnischen Meerbusen macht das Haarbürsten einen besondern Theil der Feierlichkeiten aus. Alle Gäste setzen sich der Reihe nach auf die Brautbank, wickeln sich Spreu und Disteln ins lange Haupthaar und die Braut muß es ihnen einzeln reinkämmen. Zur Seite sitzen die beiden Hochzeitsmarschälle mit Hämmern bewaffnet und schlagen alles Herabgekämmte

Digitized by Google

tedt. Das Hochzeitsgeſchenk, das ſie dafür erhalten, beſteht in zwölf Silberkopeken und heißt der Läuſepfenning. Rußwurm, Eibofolke 2, §. 288.

Es ſtellen ſich mithin die von der Stiefeliſage genannten Rechtsſymbole alle in zweifacher Giltigkeit heraus. Bei Erde und Hut ſchwört man zum Ackergott, wie es auch das Heidengebet that: die Erde iſt mein Schuh, der Himmel iſt mein Hut! Bei Löffel und Kamm ſchwört man zum Ehegotte. Beiderſeits aber iſt dies Donar, zu welchem man, und beiderſeits iſt's Weib und Acker, der von ihm vertretene Beſitz, um den man ſchwört. Donars Schweſter Oſtara führt den Brautſchuh, Donar den Stiefel; mit dieſem Symbol hebt die ganze Sage vom Stiefelreiter an, hier bringe es uns nun ans Ziel.

Gut und Erbe, unter dem Symbol des Stiefels rechtskräftig verliehen, findet ſich in unſerem Buche öfters verzeichnet (1, 337. 2, 120. 307. 308). Eben daſſelbe iſt auch andern Sagenſammlungen etwas Geläufiges. Derſelbe Vorfall, den unſer Buch über die Gutsberaubungen der Ortſchaften Klingnau, Koblenz und Döttingen erzählt, wird in der badiſchen Gemarkung Wolfartsweiler den gutsräuberiſchen Durlachern, und in Mingolsheim den Kronauern nachgeſagt. Schnezler, bad. Sagb. 2, 371. Der Gravenitzer Schultheiß nimmt fremde Ackererde in ſeine Schuhe und ſchwört darauf hin den Schorſtettern ihre Güter ab. Kuhn, märk Sag. No. 52. Der Richter Pohlmann in Mellin umreitet, obſchon er zur Strafe eingemauert worden, hauptlos auf einem Schimmel den Bezirk, weil er einſt Erde des fremden Landes zum Schwur in die Stiefel gefüllt hat. Nun muß er noch immer die Steinchen aus dem Schuh klopfen. Kuhn, nordd. Sag. No. 132. 228, 4. Der Gerenkerl und Griebergskerl füllen ihre Stiefel mit der Nachbarerde, thun den Eid darauf und gewinnen ſo die Marke. Müller-Schambach, ndſächſ. Sag. No. 222. Der Huymann, ein Hirte zu bayeriſch Steinfeld, war als Zeuge wegen der Ortsgemarkungen berufen. Er that einen Schöpflöffel unter ſeinen großen Hirtenhut, fremde Gemarkungserde in jeden ſeiner Schuhe und leiſtete auf Beides zu Gunſten der Steinfelder den falſchen Eid. Dafür geht er jetzt am Huymannsſtein um. Schöppner, bayr. Sagb. No. 973. Huymann und Hojemännlein werden am Lechrain die grünen kleinen Waldkobolde genannt, welche Räder ſchlagend den Bauersleuten durch die Beine fahren. Leoprechting, Lechrain-Sag. 32. Bayeriſch Hintelang und Wertach ſtreiten um eine Alpe. Doctor Bach, der Wertacher Dechant, ſchwört ſeinem Orte die Alp zu. Weil er aber dabei den Löffel unter den Hut geſteckt hat, muß er nun daſelbſt auf dem Schimmel herumreiten. Ebenſo verſetzen die Geisfelder ihren Wald an die Gerolzhöfer Gemeinde im Steigerwalde; deren Hirte ſteckt Erde in den Schuh, den Löffel untern Hut und ſchwört

Digitized by Google

den Geisfeldern ihren Forst ab. Dafür ist er jetzt der dortige Waldpöpel geworden. Panzer, bayr. Sag. 2, No. 160. 161. Das Haberkreuz beim Elsaßerkloster Neuenburg deckt diejenige Stelle, an welcher die Bauern den Klosterabt erschlugen, der ihre Grundstücke seinem Stifte durch die gleichen Hilfsmittel zugeschworen hatte. Als sie ihn zu Boden rissen, fand sich unter seiner Mütze der Suppenschöpfer, in seinen Schuhen Erde aus dem Klostergarten. Mone, Anz. 1834, 145. Seit der Berner Dietrich Brod in die Stiefel gethan, entführte ihn ein Wagen in die Luft, das Siebengestirn. Haupt=Schmaler, Wend. Volksl. II, 185. Aehnliche Erzählungen bei Meier, Schwäb. Sag. No. 139, 4—5. Müllenhoff, Schlesw.=Holst. Sag. pag. 188, No. 259.

Wer in Israel ein Erbe und Gut ausschlägt, zieht den Schuh aus und übergiebt ihn. Ruth 4, 7. Barfuß, discalceatus, räumt man nach dem Sal. Gesetze Land und Erbe, nach dem Kriegsrechte den vom Eroberer eingenommenen Ort. Der Schuh verwandelt sich daher in den Namen des Landmaßes, des Kaufpreises, der Steuer, des Weinmaßes, des Grenzzeichens, des Aelplergeräthes. Der Pfarrer von Stralow bei Berlin erhielt alljährlich am Fischfeste einen Stiefel gezinset, wofür ihm jetzt die Bauern anderthalb Thaler zu entrichten haben. Der Prediger in Käthen erhält alljährlich an Zins einen Schuh. Kuhn, märk. Sag. pag. 337. Stiefel ist noch der Beiname jener Zurzacher Familie, bei welcher das Trager= (Steuerboten=) Amt erblich ist, wornach dieselbe den Bodenzins für das Verenenstift der Zurzacher Chorherren bei den Bauern einzusammeln hat. Im Gedichte Ruodlieb werden neben den Weinfässern und Lägeln (lagenae) Weinflaschen erwähnt, die ocreae, Stiefel heißen. Grimm=Schmeller, Lat. Ged. pag. 219. Auf der Universität Altorf commercirten die Studenten thatsächlich aus Stiefeln. Scholla dei Bottés, Stiefeläcker, heißen am Freiburger Moleson einzelne Berghöfe. Alpenros. 1824, 46. Romanisch ist botta beides, Flasche und Stiefel. Schlarpenacker, Schlürpenloch, Schuhnägelrain, Stiefel sind öfters vorkommende Aargauer Flurnamen. Schuhkauf heißt im Ansbachischen das Pathengeld, und bei Verkäufen das Draufgeld. Die auf den Bergwiesen üblichen Zackenstangen, die man in den Boden steckt, um auf ihren Querspreißen Heu, Flachs und Korn austrocknen zu lassen, nennt man in der Schweiz Heinzen, in Bayern Stiefel. Schmeller 3, 618. Daß aber Heinz und Stiefel, gleichwie auch Heine und Löffel, Namen der Zwerge sind, zeigt unsere Sammlung 1, 373. 2, 108. Mildthätige Geister bescheeren daher mittelst des Schuhes und Stiefels. Das Kind stellt seinen Schuh um Weihnachten vors Fenster, damit der auf dem Schimmel vorbei reitende St. Nikolaus ein Geschenk drein lege. Nimm diesen Schuh voll Geld von mir, geh' heim und sieh dich nicht mehr um! so sagt das Wildweibchen zum Bauern, der als ein

Digitized by Google

Verheirateter sich in sie zu verlieben gedachte. Wolf, Götterlehre 61. Zieh den Stiefel aus! ruft der Meklenburger W. Jäger Wod dem Bauern zu, mit dem er den gejagten Hirschen theilen will; da bringt der Bauer den Stiefel heim voll Gold. Myth. 877. Um den verzauberten Schatz bei Wolvertstal zu heben, muß man den Schuh darnach werfen, No. 386. Wer gebannt, verhext oder des Weges verirrt ist, muß die Schuhe wechseln und aneinander schlagen, No. 64. Gegen das Schrättlein und das nächtliche Alpdrücken schützt sich der Inselschwede in Ehstland ganz mit den auch unserer Bevölkerung geläufigen Mitteln, er stellt seine Schuhe mit den Spitzen nach außen vors Bette. Rußwurm, Eibofolke 2, 256. Mittelst des Stiefels macht der Hausgeist die weitesten Wege in kürzester Zeit. Als die Rittersfrau am Tode lag und die Aerzte erklärten, es sei ihr nicht mehr zu helfen, meinte der Hausgeist, wenn unsere Herrin mit Löwenmilch gerieben würde, wäre sie bald genesen. Wo aber sollen wir Löwenmilch herholen? fragte der Ritter. Ich schaffe sie herbei, sprach der Hausgeist, gieng und war in Zeit einer Stunde wieder zurück, ein großes Gefäß voll Löwenmilch in den Händen tragend. Wolf, Götterlehre 65.

Fassen wir diesen Aufsatz nun ins Kurze.

Hermes, der Flügel an den Sohlen trägt, war den Griechen in Stadt und Land die verbreiteteste Schutzgottheit, Hüter der Straßen, Wege und Gutsgrenzen, des Eigenthums und Hausfriedens. Daß er darüber im Olymp schon zum Diebe ward, endlich auf Erden der Diebe Gott, dann sogar ein Schlotfegergespenst für kleine Kinder, ist bekannt. Stiefeli, welcher die gefeiten Stiefel anhat, bewegt sich damit in Zauberschnelligkeit von einem zum andern Orte, hütet hermesartig Feld, Weg und Flurgrenze, schafft in Haus und Hof, in Kloster und Herrenschloß; auch aus diesem Feldhüter wird ein meineidiger Felddieb, ein verrufenes Waldgespenst, ein landverwünschter Prozeßstifter. Seine Stiefel gehen endlich an den gestiefelten Kater über und Katzen hagelt's vom Himmel an der Stelle, wo er einst die Güter des Klosters in die Bauernländer hinein ausgedehnt hat (2, 55). So wird der gestiefelte Gott des Eigenthums gar noch zur rammelnden Raschkatze. „Es ist der Geist, der seinen Körper baut.“ Schillers Wallenstein 3, 13. Von dem Hermes her hieß den Griechen Alles Hermäa, was sie auf dem Wege fanden. Wo wir etwas nicht schnell genug finden können, da pflegt man scherzhaft zu sagen, der Teufel habe seine Tappe drauf, Teufel, thu' dein Hütchen weg! Hat nun dieser Hermes-Stiefeli uns selber etwas Neues finden lassen auf den weiten Feldwegen dieser Sagenuntersuchung? oder hat er es uns mit seinem Hütchen noch verdeckt, und will es einen Andern finden lassen, der einmal nach uns dieselbe Strecke wieder gehen wird? Wenn wir beides glauben, werden wir uns selber am wenigsten betrügen und haben noch obendrein die beste Hoff-

Digitized by Google

nung voraus. Kinder und alte Leute leben von dem gleichen Troſte, von der Hoffnung auf das Größerwerden und das Geſcheiterwerden. Wenn das Knäblein beim erſten Gehen ſtolpert, verſpricht ihm die Mutter Stiefelein, aber aufs künftige Jahr erſt, wenn es nicht mehr ſtolpern werde (Alemann. Kinderſpruch, No. 737); und wenn wir uns ſelber auf das Beſſerwerden und Beſſerwiſſen der kommenden Tage vertröſten müßen, hoffen und glauben wir, daß es zuvor noch heller im Himmel und auf der Erde werden müße, wie Göthe es ebenfalls ausbedungen hat:

Wird nur erſt der Himmel heiter:
Tauſend zählt ihr und noch weiter.

Aarau, 1. October 1856.

E. L. Rochholz.

Digitized by Google

# VI. Zauberthiere.

## 234. Der Drachenstein von Rohrdorf.

Im Gemeindewalde von Rohrdorf ist ein Felsstein von der Größe eines Waschhauses. Unter diesem hauste ein feuriger Drache, lang wie ein Wiesbaum, dick wie ein Jauchenfaß. Er schlief des Nachts unter dem Steine, aber um Mittag flog er feuersprühend übers Feld bis zu einer Eiche draußen auf der Blöße. Da fraß er die zwei Schafe, die ihm die Rohrdorfer täglich unter den Baum legen mußten; fand er nichts, so kam er ins Dorf, und riß Vieh und Menschen nieder. Viele Jahre trieb er sein Wesen, bis die Gemeinde einen großen, weißen Stier aufgezogen hatte, der sieben Jahre lang nie aus dem Stall gekommen war. Nach sieben Jahren ließ man ihn heraus. Er lief gerade auf das Feld, wo der große Drache beim Mittagsfraße lag. Wie dieser ihn erblickte, schoß er hinter ihn her und beide kämpften so heiß, daß das Blut wie ein Bach von ihnen floß. Das Volk sah in größter Erwartung von weitem zu und als endlich keins der beiden Thiere mehr sich regte, wagte man nach und nach dem Kampfplatz näher zu gehen. Der Drache war zu Aller Freude todt, aber auch der Stier, der die Leute von der Landplage erlöst hatte, lag entseelt neben ihm im Blute. Der Fels, unter dem der Drache gehaust hat, soll Drachenstein geheißen haben, und man meint, er habe vor langer Zeit bei der Remmetschwyler-Trotte gelegen, da wo jetzt des Jose Haus steht gegen das Dorf Bellikon zu.

Man benennt dorten eine Landstrecke nach ihm noch die Steinmatten.

Die Sage hängt zusammen mit dem „Uristier an der Reuß" No. 246. Von ihr handelt besonders Cappeller hist. mont. Pilati 1767. pag. 120. Derselbe erinnert auch, daß dieselbe Begebenheit bereits von Raczynsky, hist. nat. Polon. 246 vorgebracht wird und zwar über Craco, den Erbauer Krakaus; denn dieser läßt einem Drachen, statt der täglich von ihm verzehrten drei Rinder, drei mit Pech ausgefüllte Kalbshäute vorsetzen, und das Unthier trinkt nach diesem Fraße so unersättlich aus dem Weichselstrom, daß es birst. Sebast. Münster, Cosmographey, Basel 1567 berührt dieselbe polnische Sage und nennt sie mit Recht eine dem Propheten Daniel nacherzählte. Warum sie gleichwohl hier mit eingereiht steht, wird sich aus

Anmerkung No. 245 „Bachthier in Entfelden" ergeben. Nicht zur Freß- und Saufgier des Unthieres, sondern zu den Einflüssen, die der Drache auf Korn- und Weinbau hatte, gehört es, daß der Drache zu Brügge mittelst eines Schlaftrunkes, den ihm die Bürger reichen, erschlagen werden kann. Wolf, Ndl. Sag. No. 88.

---

## 235. Der Wurm bei Meerenschwanden.

Ein Wurm, welcher ein junger Drache gewesen ist, verheerte die Gegend um Meerenschwanden, indem er die Feldfrüchte alle ausriß, wo er des Weges kam. Er hielt sich in einem Wäldchen auf, das er nur des Nachts verließ. Als er einst durch einen Feldhag durchschlüpfte, hatte sich ein Bauer zur Lauer über die Lücke des Zaunes hinaufgestellt und hieb dem Wurm mit einem Beile den Kopf ab. Das getödtete Thier führte aber noch mit seinem Schwanze über die Hecke herauf einen solchen Schlag, daß der Bauer davon erschlagen wurde.

Jenseits der Reuß am zürcherischen Ufer heißt eine beträchtliche Landstrecke die Wangeren. Hieher versetzt das Volk noch frühere gegen das Ungeheuer versuchte Kämpfe.

---

## 236. Wettinger-Drache.

Oberhalb Wettingen soll ein Drache seine Höhle gehabt haben; sie ist unzugänglich, und man weiß daher nicht, ob er wohl jetzt noch drinnen wohnt. Man behauptet aber, ihn noch vor einigen Jahren gesehen zu haben. Es werden ihm Flügel zugeschrieben, und wenn er durch die Lüfte fliege, soll er mit dem Feuer, das er ausspeit, die Gegend in einem weiten Umfange erleuchten. Die Bevölkerung um Gansingen im Frickthale pflegt Kometen und Drachen für ziemlich gleiche Dinge anzusehen und behauptet auch, eines Drachen Erscheinung deute wie die eines Kometen auf Sterben und Krieg. Zum Dorfthier verallgemeinert, findet sich der Drache so ziemlich noch in jeglicher Ortschaft besonders und mit seinen eigenthümlichen Ortshistorien vor. Dann aber hat es das Unthier mit jedem Drachen anderer Sagen gemein, daß es gemeiniglich nur im Dorfbache lebt, daß seine Augen die Größe von Pflugrädern oder Fleischtellern haben, sein Leib die Länge eines Bindbaums, daß sein Blick leuchtet gleich Kirchenfenstern und Chaisenlaternen, und sein vorgequollenes Auge verglichen wird einem Strang aneinander geknüpfter Marktzwiebeln. Diese Vorstellung hat sich schon längst in der Volksrede stabil ge-

Digitized by Google

macht und ist in Kalenderreime übergegangen. Das Dorfthier hat z. B. bei Rud. Wyß, Schweiz. Idyllen 1, 197:

Augen, wie ein Wagenrad,
Stacheln auf dem Rückengrat.

---

## 237. Der Taufstein der Kirche von Rein.

In denselben war ein Fräulein gebannt, mit dreifachem Kusse konnte man es befreien. Ein Bauer wagte sich daran, als sich aber nach dem zweiten Kusse das Mädchen in den Drachen wandelte, wollte der Bauer entfliehen. Da stürzte das Ungeheuer an die Kirchenwände und schlug in blinder Verzweiflung den Schuppenschwanz so heftig gegen den Taufstein, daß man jetzt noch die Spuren daran sieht. — Andere Erzähler wissen nichts von diesen verlangten drei Küssen, sondern geben an, der Bauer hätte dem sich wandelnden Mädchen dreimal, aber ohne zu lachen, um den Taufstein nachlaufen sollen.

Dreimal muß man dem verwünschten Hügelimaidli, No. 119, pag. 140 um den Abgrund herum nachlaufen, welcher sich neben der Schatzkiste aufthut.

---

## 238. Reußschlange und Drachenloch.

1566 im Juli, da eben die Reuß hoch gieng, meldete man in Bremgarten, eine Schlange steige aus dem Strome groß wie der Wiesbaum eines Heuwagens, und verschlinge die am Ufer weidenden Rinder. Der Städter Jakob Hubler war eben im Strom auf dem Salmenfang und stieß in der Meinung einen Fisch vor sich zu haben, mit dem Doppelzinken seines Ruders nach dem Unthier. Auf diesen Stoß fuhr es mit dem Kopfe gegen ihn empor, aber der Mann konnte noch ans Ufer entrinnen. Er mußte sich zu Bett legen und war von nun an mit Fieber geplagt. Cappeler, Hist. mont. Pilati 1676. pag. 123.

Auf dem Fußwege von Wohlen nach Hilfikon im Freienamte kommt man über einen Waldbach, der aus einer Schlucht hervorfließt, das Drachenloch geheißen. Hier hat vormals ein Drache die Gegend unsicher gemacht. Wie er weggekommen ist, weiß man nicht.

---

Digitized by Google

## 239. Der Stollenwurm bei Wölfliswil.

Eine Sage, welche ſich bis auf unſre Zeiten in einigen Thälern des Berner-Oberlandes, ſowie des Solothurner- und Aargauer-Jura erhalten hat, erzählt von einer ſchwarzgrauen Schlangen- und Eidechſen-Art, welche bei drei bis ſechs Fuß lang, verhältnißmäßig bedeutend dick ſein, und zwei Spitzohren und zwei kurze Vorderfüße haben ſoll. Man nennt dieſe Schlange den Stollenwurm; denn Wurm bedeutet uns Schlange, und einen kurzen, dicken Fuß nennt man Stollen. Von Drachen und Lindwürmern weiß man nichts in den benannten Gegenden, jedoch von dieſen Stollwürmern, welche für ſehr ſchädlich und giftig gehalten werden, erzählen glaubwürdige Männer ganz ernſthaft, und Landleute auf dem Jura verſichern, ſolche Thiere ſelbſt geſehen zu haben, ihr Anblick, heißt es, ſei Grauſen erregend. Bei anhaltender Trockenheit, oder wenn das Wetter ändern will, ſollen ſie zum Vorſchein kommen.

Nach der Erzählung einer noch lebenden Frickthaler-Frau von Wölfliswil, und dem NeujahrsBl. der Zürch. Naturforſchend. Geſellſch. 1832, 5. Ueber des Aelplers Begriffe von Wurm, Drak und Stollenwurm: König, Alpenreiſe, 127.

---

## 240. Die Schlange im Galgenhölzli, im Wynenthale.

Als letzten Sommer im Aargauer-Dorfe Menzikon das Brod um einige Rappen theurer war als auf der benachbarten Wynenmühle im Kt. Luzern, ſo ſchickte eine arme Haushaltung jenes Dorfes ihren Knaben um Brod gewöhnlich auf die Mühle an der Luzerner-Grenze. Der Fußweg dahin geht durch das Galgenhölzli. In dieſem Wäldchen ſuchte ſich der heimkehrende Knabe einſt noch einige Reiſer zuſammen und trug ſie ſammt ſeinem Brode heim. Hier im Geſtrüppe erblickte er aber eine Schlange mit einer Goldkrone auf dem Kopfe, und blieb erſchrocken ſtille ſtehen. Die Schlange kam jedoch auf ihn zu und redete ihn freundlich an: Woher kommſt du denn, mein Knabe? Als er ihr erzählt hatte, daß ſie daheim wenig zu eſſen hätten und er da wohlfeileres Brod geholt habe, erwiederte ſie: Ihr ſeid wohl recht arme Leute, aber ſolcher Noth iſt bald abzuhelfen, wenn du mir aufs Wort folgen willſt. Komm nur nächſten Samſtag wieder hieher, da werde ich dir den Schatz zeigen, den ich ſchon hundert Jahre lang bewachen muß, und wenn du dann nicht fliehſt und nicht ſchreieſt, ſo iſt er dein, ich bin erlöst und du biſt des Brodholens für immer ab. Der Knabe war bald dazu be-

Digitized by Google

reit und stellte nur die Frage, ob er nicht wenigstens seine Mutter mitbringen dürfe; allein die Schlange sagte: Bei Leibe nicht, kein Mensch darf dich begleiten, ganz allein mußt du sein, sonst kannst du mich nicht antreffen. Auch dies versprach er ihr und die Schlange verschwand; so gieng auch der Knabe heim und hatte zu Hause so lange keine Ruhe, als bis sein Abenteuer der Mutter erzählt war. Diese war thöricht genug, es weiter auszuplaudern, und in kurzer Zeit wußten alle Nachbarsleute davon. Als nun der Knabe am nächsten Samstag Nachts sich auf den Weg ins Galgenhölzli machte, war ihm eine Schaar Neugieriger schon vorausgelaufen und eine andere gieng ihm nach; kurz, die Sache war verrathen und die Schlange blieb aus.

Darüber erzürnte sich das Volk gar sehr, es hielt sich für betrogen, man nannte den Knaben und seine Mutter Lügner. So wurde denn der Kleine die Woche darauf vor den Gemeinderath geholt und um die Wahrheit seiner Geschichte befragt. Natürlich hatte er nichts anders zu sagen, als was man schon wußte. Als man aber hinlänglich in ihn hineingefragt hatte, ob er diese Begebenheit nicht halb erlogen oder halb in einem Schulbuche gelesen habe, bekam man die voraus erwartete Antwort und strafte den jungen Sagenerzähler mit einer Tracht Prügel ab.

Unser ältester Mitbürger — so erzählt M. Kirchhofer im Schaffhauser NeujahrsBl. 1830 — erinnert sich noch des Jägers von Ostersingen, der vor mehr als achtzig Jahren gegen den damals kleinen Knaben sich rühmte, den ungeheuern Schatz in den Ruinen der Burg Radegg bei Jestetten gesehen zu haben, wie er sich sonnte, aber bewacht war von einer Schlange, die gleich einem Wiesbaum sich erhob. Gern hätte er nach ihr geschossen, wenn nur ein Kind an seiner Seite gestanden wäre. Nicht unschuldig, wie ein solches, blieb ihm nur der lüsterne Anblick und die Reue über diese nie mehr zurückkehrende Glücksstunde.

---

## 241. Die Wißmaidli-Tanne auf Schenkenberg bei Oberflachs.

Die Wißmaidli-Tanne war ein alter Baum bei Oberflachs, jetzt gefällt; der Wißmaidli-Brunnen ist in der Nähe. — An sehr heißen Sommertagen zeigt sich da eine große Schlange, welche Augen wie Baumnüsse und einen zundelrothen Kamm hat; bemerkt man sie, so kann man sicher auf ein ganz nahes Gewitter rechnen. Sie war schon zur Zeit da, als die Berner Landvögte noch auf dem Schloß Schenkenberg wohnten. Nur wenn man einen Nagel durch ihren Kopf schlägt und ihr die Haut abstreift wie einem Aal, so und nicht

anders ist sie zu erlösen. Die Knaben, die dies erzählen, setzen bei, man bekomme von ihrem Anschauen böse Augen, und müße dann ins Heilbad nach Schinznach.

Diese Schlange ist die Tochter gewesen eines Junkers von Schenkenberg. Als ihr Vater mit dem Kaiser in den Krieg gezogen war, vergrub sie alle Schätze unter dreifachen Mauern und Gewölben zutiefst im Boden des Schloßbergs und starb, ehe der Ritter wieder aus dem Kriegszuge heimgekehrt war. Seitdem der Stamm der Schenkenberger erloschen ist, haben schon manche Schatzgräber den hier verborgenen Reichthümern nachgespürt; auch das Burgfräulein soll schon etlichen erschienen sein und sie um einen Kuß gebeten haben. Der Gemeinderath von Thalheim hat aber alles Nachgraben in der Ruine streng untersagt.

---

## 242. Die beraubte Schlange zu Veltheim.

Die Schlangen haben ihr eignes Reich und Recht; beleidigt man eine, so pfeift sie, und gleich kommt ihr ein ganzes Rudel zu Hilfe; ihre Königin hütet Schätze und ist meistens ein verwünschtes Fräulein. Wenn sie badet, legt sie vorher ihr Königskrönlein im Grase ab; kann man dies erwischen, so gedeiht einem alles. Die übrigen Schlangen schütten, ehe sie ins Wasser gehen, ihr Gift auf einem Ufersteine aus; nimmt man diesen der Weile weg, so müßen sie sterben.

So sah es der Schloßbauer auf Castelen. Er heuete mit seinen Knechten bei Veltheim auf der am Thalbache gelegenen Wiese, welcher von der Ruine herabkommt. Die Leute bemerkten, wie da eine Schlange eben ihr Gift auf einem Steine ablegte und dann ins Wasser kroch um zu baden. Heimlich schlich sich ein Knecht zu, nahm den Stein mit dem Gifte und goß es in die mitgebrachte Trinkflasche. Nicht lange gieng's, so hatte die Schlange ausgebadet und suchte nun am Ufer nach dem Gifte. Da sie es nicht mehr fand, sprang sie mehrmals hoch auf, plätscherte im Wasser umher und wurde kurz darauf todt mit hinabgeführt.

Vonbun, Vorarlberg. Sag. 1850 erzählt S. 24 vom Krönleschelm, welcher der Schlange im Bade die abgelegte Krone stiehlt und im nebenangebauten Eisenhäuschen glücklich birgt. Die fliegende Viper zu Vouvry, Kant. Wallis, bohrt sich in die Fässer der Weinkeller und trinkt den Rothwein weg. Da sie an der Rhone schlief, stahl ihr ein Bauer den abgelegten Edelstein ihres Hauptes; zugleich aber hatte er bereits daheim ein Faß inwendig mit Nägeln ausgeschlagen und lief nun demselben mit dem

Digitized by Google

Edelsteine zu. Ihm nach schoß sogleich die ihn verfolgende Schlange, wendete sich aber ins offene Weinfaß und verblutete sich darin. Bei Vouvry, das seinen Namen von dieser Vuivre (Viper) ableitet, steht eine hölzerne Kapelle, in welcher der Balg der Schlange lange hergezeigt worden sein soll. Reithard, Sag. der Schweiz 1853. 497. Der ahd. Physiologus aus dem 12. Jahrh. (Diut. 3, 30) sagt übereinstimmend: so diu natra trinchen wile, so spiwit si daz eiter uon ire, ê si trinche. Von dem Karfunkel im Auge der Juraschlange erzählt Stöber Elsäß. Sag. No. 1. — von dem Liebesstein, den die Zürcherschlange im Haus Zum Loch in den Trinkbecher Karls d. Gr. fallen läßt, erzählt Probst Brennwald, geb. 1478; seine Sage steht Zürch. NeujahrsBl. der Stadt-Bibliothek 1842, pag. 4. Aehnliches vom Bergdrachen, dem im Bernerlande sogen. Stollenwurm, sagt Rebmann, ums J. 1600 Pfarrer am Thunersee, in seinem Gespräche von Bergen, Nieſen und Stockhorn (Bern 1620, pag. 138):

Im Kopff sol han der Bergtrack gmein
von gstalt vnd glantz ein kostlich gstein.

Man nannte diese Steine bufonii lapides, Siegsteine, und verwechselt dieselben heute noch mit den Echiniten, versteinerte Seeigel, von pyramidaler Knopfform, denen man Heilkräfte zutraut. Berühmt ist Shakespeares Gleichniß über diese Krötensteine: Wie es euch gefällt, Act 3, Scene 1. Ueber die Kröte vgl. Abthl. V. No. 184 a. Bei den Lappen um den See Enare und tief in Sibirien hat Alexander Castrén (Reisen nach Lappland, überſ. v. Henrick Helms 1853, 77) diese Sage vom Schlangenstein kennen lernen. Alljährlich einmal versammeln sich die Schlangen mit ihren Häuptlingen zu einem Ting, bei dem jeder Unterthan Anträge machen kann, und der Häuptling nicht blos über die Schlangen, sondern auch über Menschen und Thiere, sofern sie den Schlangen geschadet haben, Recht spricht. Nach einer solchen Versammlung findet man am Platze des Tings den sogenannten Gerichtsstein, welcher dann jedem Menschen bei einer gerichtlichen Klage gute Dienste thut. Castrén weist auf ähnliche in Indien vorkommende Vorstellungen hin. Der römische Brauch, Schlangeneier vor Gericht mitzunehmen, ist aus Plinius bekannt. Im Kärnter Lesachthale gilt der Glaube, der Haselwurm (Königsschlange) pflege sein Krönlein auf ein rothes Tuch abzulegen, das man mit frischgebackenem Brod in die Nähe eines Baches breiten müße, um über letzteren dem verfolgenden Wurm sogleich entspringen zu können. Wolf, Ztschr. 3, 30. Entsprechende Beispiele aus Böhmen, Voigtland und Lausitz bietet Gräße, sächs. Sagensch. No. 606. Der Reiter, der da die Schlangenkrone geraubt hat, entflieht damit zu Rosse, wird aber daheim angelangt im Stalle noch von einer Otter todt gestochen, die sich in des Rosses Schweif hinein gehängt hat.

---

## 243. Der Freihof von Aarau.

Auf der Felsenbank des Aarufers, da wo jetzt Rathhaus und Kirche von Aarau steht, erhob sich schon in ältester Zeit ein fester Thurm, welcher Rore hieß. Erst in den Zwanziger Jahren dieses

Jahrhunderts sind seine Umfangsmauern gesprengt und die Spuren der Umwallung ausgebnet worden; seine Nordseite, die mit ins Rathhaus verbaut ist, hat oben noch einige Zinnen, und aus der Mauer starren die großen Findlingssteine hervor, aus denen der rohe Bau bestand. Gegen die Kirche zu war für alle, die gegen Unterdrücker Hülfe hier suchten, eine Freiung eröffnet; deshalb hieß das Schloß geradezu der Freihof. Eine kurze Gasse am Felsendamm hin, auf welche die Fallbrülle des Schlosses führte, war den Vasallen und Dienstmannen zur Hofstatt und Einkehr hergerichtet; sie wird daher jetzt noch das Adelbändli genannt. Von da führen zwei lange Felstreppen über die Stadthalde hinab an das alte Bord, an dem ehemals die Aare vorbeifloß. Eine gleiche Burg, aus ebenso schwarzen und unförmlichen Steinlasten zusammengethürmt, liegt einen Pfeilschuß davon entfernt; man nennt sie das Schlößchen. Dies soll das Schloß der Grafen von Rore gewesen sein; nach ihnen benennen sich zwei Dörfer Rohr, zunächst bei Aarau gelegen, das eine am Flusse, das andere in einem Bergkessel des benachbarten Jura.

Vor mehr als eilfhundert Jahren lebten darin die beiden Brüder Guntram und Baltram. Das Land vom Reußthal an bis ins Emmenthal, vom Kanton Luzern bis in den Berner Kanton war ihr eigen, eine so große Herrschaft, daß man sie später in fünferlei Dekanate theilen mußte.

Zu jener Zeit aber war das Land noch mit vielen Sümpfen, großen Wäldern und rauhen Wildnissen bedeckt, darin Bären, Wildschweine und andere böse Thiere wohnten. Ein solches Unthier hauste nun auch in einer Höhle an der Emme. Dasselbe fraß Menschen und Vieh, daß in der Umgegend nichts Lebendiges mehr vor ihm sicher war. Die Alten in den Chroniken sagen, es sei ein Drache, Andere aber, es sei eine große Waldschlange gewesen.

Da hörten die beiden Grafen von dem Unthiere und der Noth ihrer Leute an der Emme. Alsogleich nahmen sie ihre Rüstung und zogen aus, und machten Jagd auf das Ungeheuer, um es zu vertilgen. Es lag beim Schlosse zu Burgdorf jenseits der Emme in der Gysenau, da wo der Kesselgraben unter zwei hohen Felsenwänden ist. Als Baltram am Felsen hier sein Schwert wetzte und das Unthier herausforderte, schoß dies mit dampfendem Rachen hervor und verschlang ihn. Gleich aber sprang Guntram hinzu und spaltete dem Drachen den Kopf. Da spie es den verschlungenen Ritter wieder aus und verendete das Leben. In der Emme wuschen sich beide Brüder das giftige Drachenblut ab. Zum Andenken ihrer wunderbaren Rettung bauten sie an jener Stelle ein Siechenhaus sammt

Digitized by Google

Kapelle, der hl. Margarit geweiht. Davon war dorten folgender Vers zu lesen:

Gyßenau heißt diese Fluh,
Hier wohnt ein Drach lange zu.
Der thät fressen viele Schaf,
Zuletzt hat ihn getödt ein Graf.

Später sind die beiden Brüder noch oft einander beigestanden, und haben nachher die festen Schlösser Lenzburg an der Aa im Aargau, und Burgdorf an der Emme miteinander gebaut. An dem Kaufhause des letztern Städtchens wurde ihr Kampf mit dem Drachen abgemalt, ein großes Wandbild, welches im Jahre 1613 wieder erneut worden und 1703 noch zu sehen gewesen ist mit dem Spruche:

Der Bruder stand dem Bruder bei,
So ward das Land von Drachen frei.

Der letzte ihres Stammes war Graf Landolin. Er wanderte nach Italien aus und wurde Bischof; aber das Verlangen nach der Heimat ließ ihn dorten nicht glücklich sein; er kehrte endlich wieder zu seinen Verwandten zurück, starb aber, ehe er sie wieder gesehen hatte, auf der Heimreise zu Rorschach am Bodensee. Das Grafenwappen war eine aufrecht stehende schwarze Dogge mit silbernem Halsband.

Vgl. A. Kellers Aargauer Lehr- und Lesebuch 1853, 111. — Hans Rudolph Grimm, Poetisches Lustwäldlein. Bärn 1703. 13. Ebenderselbe: Schweitzer-Cronica ꝛc., darinnen in Erzählung über 200 Historien ꝛc. Basel, bei Mechel 1786. pag. 42.

---

## 244. Das Haldenthier in Aarau.

Der älteste Stadttheil von Aarau führt als enger Bergweg vom Flußbette zur Kirche herauf; seine Häuser bestehen meist aus den Ringmauern und Ueberresten der Burg Rore, welche laut Urkunden bis ins Jahr 1337 hier als Freiung gestanden hat. Diesen Theil nennt man die Halde. Hier vertrat einem in früherer Zeit ein Unthier Nachts den Weg. Sein Kopf soll das ganze Stadtthor ausgefüllt haben. Augen hatte es wie die runden Laternengläser einer Kutsche, sein Schwanz reichte vom Stadtthore beim Hause zum Adler die ganze Gasse hinab. Rosse, die alsdann gleichzeitig dieses Weges kamen, ließen sich nicht vom Flecke bringen; besonders aber gegen Schlemmer, die erst um Mitternacht die Schenken räumen, übte es eine scharfe Polizei. Jetzt dient es, wie sein Kamerad, der Hokenmann, nur noch dazu, vergeßliche Kinder mit dem Abendläuten recht-

Digitized by Google

zeitig von der Gasse ins Haus zu nöthigen. Man meint, es wohne besonders in den Felsen, auf denen die Stadtkirche steht. In dieses Gestein habe ein Reicher seine Schätze durch einen armen Taglöhner vergraben lassen, letzterer aber widerstand der Versuchung nicht lange, grub nachher einen großen Theil davon wieder aus und tödtete sich, als sein Gewissen ihn plagte. Deshalb meinte man noch vor etlichen dreißig Jahren jedesmal in diesem Felsen ein Pickeln zu hören, als ob man Steine mit einem Zweispitz behaue, so oft sich die Witterung ändern wollte.

Als sich im vorigen Jahrhundert der erste Lärmen über den Anmarsch der Neufranken verbreitete, lagerte eine Truppe Basler-Soldaten hier in der Stadt, um Thor und Brücke zu hüten. Da soll das Haldenthier mit seiner Erscheinung einen solchen Schrecken unter die kleine Besatzung gebracht haben, daß man sie mit Gewalt und Strafe zum weitern Wachtdienst anhalten mußte.

Aus den Erinnerungen, die sich in einer Aarauer-Familie vererbt haben, mögen hier noch einige Ergänzungen folgen.

Das große Felsengewölbe, auf dem die Aarauer Kirche steht, heißt das Rollenloch. Oben nisten verflogene Tauben drinnen, unten aber liegen alle kleinen Kinder, welche in Zukunft einmal geboren werden sollen. Aus einer größeren Felsenspalte floß vor Zeiten ein Bächlein und hat sich dann in die Abzugsröhren verloren, als man den tiefer unten stehenden Haldenbrunnen errichtete. Aus der gleichen Felsenritze pflegte auch das Haldenthier herauszukommen; bald war's ein Hund, bald ein Kalb und Drache; immer aber waren seine Augen in der Größe von Fleischtellern oder Pflugrädern, sie sprühten, wie wenn der Schmied das frisch glühende Eisen hämmert. Es zeigt sich als Vorbote drohender Gefahren, auch so oft ein Bürger hingerichtet werden sollte. Dann gieng es an der Halde hinunter die Schindbrücke vorbei durch das Thor der Gollaten-Mattgasse bis vors Haus des Scharfrichters zu dem viereckigen Stein, der da noch zu sehen ist. Dabei hoolte (rief, lockte) es mit der rührendsten Stimme. Als die Städter im Jahre 1798 sich von der Berner-Regierung lossagten und darüber eine kleine Belagerung zu bestehen hatten, feuerten sie mit ein paar Kanonen auch von jenem Felsen neben der Kirche gegen den Feind. Darüber soll das Bächlein drinnen versiegt und damit zugleich das Haldenthier verschwunden sein. Neuerlich bemerkte ein Einwohner in seiner untenher angebauten Holzscheune Wasser, und man schloß daraus, das Haldenthier werde ebenfalls bald wieder erscheinen.

Digitized by Google

## 245. Das Bachthier in Entfelden.

An der Straße zwischen Suhr und Entfelden, zweien Dörfern bei Aarau, liegen mehrere mit Grundwasser angefüllte Griengruben. An eine dem Dorfe Suhr zunächst gelegene knüpft sich meine früheste Jugend-Erinnerung; denn auf einem Spaziergange, der mich dort vorbeiführte, erzählte man mir, wie hier innen ein Krokodil hause, das jeden zu nahe Tretenden verschlinge. Auf meine Frage, wie es denn hieher gekommen, erhielt ich folgenden Bescheid: Kürzlich einmal seien alle Umwohnenden Nachts durch ein unbegreifliches Schreien aus dem Schlafe aufgeschreckt worden, das gewöhnlich erst gegen Morgen wieder verstummte. Von nun an aber wiederholte sich allnächtlich dieses Gebrülle, das ganz deutlich nur aus obigem Sumpfe kam. Von allen Seiten strömte man zu, als es ruchbar in der Gegend wurde, und Niemand deutete es anders, als es läge hier ein fremdes Ungeheuer im Moraste versteckt. Man meinte, aus einer von Bern nach Zürich dieses Weges gegangenen Menagerie sei ein Krokodil entsprungen. Da der Lärm nach und nach sich nicht mehr hören ließ, wollte man wissen, wie das Thier Nachts einmal auf das Land gesprungen sei und sich vergeblich bemüht habe, wieder in seinen Pfuhl zurückzukommen. Ein Bauer habe es darüber auf seinem Acker betreten, es erschlagen und ihm den Schuppenpanzer ausgezogen. Jedermann wollte die Haut dieses neuesten Drachen sehen, aber Niemand wußte, wo der Bauer wohne. Zuletzt hieß es, er sei in die Welt gegangen und lasse die Haut um Geld sehen. So blieb die Sache zwar wiederum im Dunkeln, man kann aber noch heute darüber disputiren hören.

Wie das Landvolk über die Herkunft krokodilartiger Unthiere und Bachungeheuer urtheilt, die sein Glaube nicht gänzlich fahren lassen und sein Verstand doch nicht begreifen will, zeigt vorstehende Erzählung. Aber in sehr ähnlicher Weise ist die griechische Sage, die dem Schillerischen Gedichte, der Kampf mit dem Drachen zu Grunde liegt, neulich noch behandelt worden. Dr. Roß, Reisen im Aegäischen Meer 3, 92 ꝛc. meint, der lebhafte Handelsverkehr der Insel Rhodus mit Aegypten mache es gedenkbar, daß man einmal in einer Ballastladung ägyptischen Schiffssandes auch ein Nilkrokodil mit auf Rhodus verschleppt und daß sich dieses daselbst zum gefürchteten Ungeheuer, von dem die alte Sage erzählt, entwickelt habe. Dies sind abgelaufene Wege rationalistischer Erklärung, die immer wieder zur Umkehr nöthigen, aber auf ihnen sind die Drachensagen namentlich in die Schweizergeschichte hinein gerathen. Um den einen Winkelriedischen Drachen nicht um seinen historischen Glanz bringen zu müßen, der dann den Namen des anderen Winkelried bei Sempach mit umgiebt, machen die Geschichtschreiber der Reihe nach wunderliche Reden. Vorsorglich sagt z. B.

Digitized by Google

J. v. Müller und wie im Tone eines Augenzeugen versichernd: Giftgewürme wuchs in unglaublicher Dicke und Größe. Etwas mildernd schreibt Melch. Schuler, Sitt. u. That. d. Eidgenoss. 3, 150: Außerordentlich große Schlangen und Eidechsen, die man zu Anfang des 18. Jh. noch in Bünden und Glarus sah, erneuerten die Wundersagen von den Drachen. Eben dieses Unglaubliche will auch Tschudi 1, 146 in der Winkelriedssage ermöglichen, wenn er aus eigner Vorstellung beifügt, der Drache von Oedwil habe an den glattesten Felswänden hinan laufen können, „wie die Hedochsen". Ihm also entspringt die Drachensage aus dem Vorkommen einer Eidechse, dem Dr. Roß aus einem jungen Krokodil, das in einer Ladung ägyptischen Schiffssandes mit auf die Insel Rhodus gebracht wird, und unserer Erzählung gefällt es, das Ungeheuer aus einer vorüberreisenden Menagerie entspringen, im Dorfsumpfe sich verbergen zu lassen, und sobald es dorten dann der nächstwohnende Bauer erschlagen hat, führt er es ausgestopft in der Welt herum, und wir alle haben das Nachsehen. Wer vermag zu glauben, aus solchem lächerlichen Nothbehelf halben Schulverstandes seien jahrtausendalte Sagen in die Welt gebracht worden; ja wer deutet damit auch nur einen einzigen ächten Zug, der in einer solchen Drachensage enthalten ist? Seitdem der Bach nicht mehr fließt, heißt es in der Erzählung No. 244 „Haldenthier in Aarau", ist auch das Haldenthier selber verschwunden. Wir wollen den Grund dieser Behauptung prüfen mittelst einer Reihe geschichtlicher Angaben. Ein Reisebericht über das Drachenried in Unterwalden (Helvet. Kalend. 1782, 143) meldet: „In einer Felsenhöhle des Rozberges besahen wir das (Winkelriedische) Drachenloch. Ein Bach läuft heraus. Dergleichen Oeffnungen sind hie und da viele und noch jetzt eine beliebte Wohnung für Molche und Wasserkälber, die vermuthlich den ersten Stoff zu den Drachengeschichten gegeben, nebst den großen Fledermausarten, die man etwan auf den hohen Alpen siehet. Die Leute nennen wirklich dergleichen Thierchen Drachen. Im Arniloch sollen sie von der Größe einer Katze gefunden werden." Hier verwahrt sich der Vordersatz gegen den Glauben an Drachen, der Nachsatz nimmt Fledermäuse in Katzengröße an und mitten inne liegt der dem Erzähler verborgene Sachverhalt ausgesprochen „ein Bach läuft heraus". Alle Drachensagen spielen an Gewässer und Sumpf; hier an Reuß und Limmat, die Winkelriedssage am Bache des Rozloches und am Oedwilersumpfe, die Sintram- und Bertramsage an der Giesenau der Burgdorfer-Emme, der Beatusdrache am Beatenfall des Thuner-Sees, der Pilatusdrache am Pilatussee und im Kriensbache, der Luzernerdrache schwimmt durch die Reußbrücke (Schradins Reimchronik im Schweiz. Gesch.-Freund 4, 42), im Simmenthaler Alpsee frißt sich der Linthwurm unterirdisch durch (Alpenros. 1825, 349). Eine alte Drachensage haftet noch am Fledermausstein des Weilers Itschnach am Zürichsee bei Küßnacht, und selber der beiderseitige Ortsname redet von der hier einmündenden Ache. Schweiz. Bl. 1832. — Als i. J. 1475 der Kriensbach die Stadt Luzern unter Wasser setzte, schrieb man es dem Gespenste zu „das uff eim berg in eim wyer oder see liegt." Kas. Pfyffer, Luzern. Gesch. 1, 234. Scheuchzer, der eine ganze Menge pfäffisch ausgemalter Drachensagen in Erwägung zieht, fügt höchst sinnvoll am Ende seiner Betrachtungen hinzu: „Wenn ein Bach die Berge herunter rauscht und große Steine und Bäume mit sich führt, so

Digitized by Google

pflegen die Aelpler zu sagen: „es ist ein Drach ausgefahren." Im Schwyzer-Wäggithale gilt das Muothiseel als ein wilder Sturmgeist; auf einem Drachen reitet er den plötzlich losbrechenden Waldwassern vom Gebirge herab voran, Bergschutt und entwurzelte Tannen stürzen ihm nach. Hören die Bauern dieses Tosen aus der Höhe, so eilen sie an die Grenzen ihrer Berggüter, rufen Beschwörungen und Gebete in den anschwellenden Aabach und hoffen so der Ueberschwemmung und Verschüttung vorzubeugen. Der Name dieses die Bäume und Felsen bewegenden Waldgeistes (ein singender Orpheus und Amphion) ist eine willkommene Bestätigung unserer über das Muetisee pag. 153. 159 vorgetragenen Erklärung. Wodesheer ist ein vielstimmiges Luftgetöne eines die Lüfte durchziehenden, Kriegsdrangsale verkündenden Geisterheeres; Wuodeswoor ist ein ungeheuerlicher Mensch von außerordentlicher Unruhe und Wildheit. Schmitz, Eiflervolk 1, 233. Noch sagen die Emmenthaler, sobald die obere Emme im Gebirge anzuschwellen droht, die Schlange rühre sich. Schlange und Drache sind der Sage gleichbedeutend, das Leuchten und Funkeln des Blickes kommt beiden zu, ebenso wie den Lindwürmern, oder selbst den in Drachengestalt gemachten Dachrinnen unserer Thürme und Rathhäuser das Element des Wassers zukommt. Der rothe Drache lauert bei der gebärenden Mutter, und da sie ihm entflieht und er sich getäuscht sieht um das zum Fraß erwartete Kind: „do liesz er vsz sinem munde einen groszen see. mhd. Predigt in Haupts Ztschr. 7, 145. Umgekehrt ist's, wenn Heimo einen Drachen beim Insbrucker-Silbache herkommen sieht, ihn mit Hilfe der Mutter Gottes verfolgt und an einem Wasserfall tödtet. Panzer, Baier. Sag. 2, pag. 63. In der älteren Sage verräth sich dasselbe Verhältniß. Der Beowulfsdrache wohnt an der Meeresklippe, der Sigfriedsdrache an der hohlen Wand am Rhein, König Frotho erschlägt den Drachen, der von der Tränke auf der Insel zurückkommt, und sein Sohn Fridler tödtet den andern, der eben aus dem Gewässer auftaucht. Saxo Gramm. ed. Stephanius 2, 20. 6, 99 ff. Die Laokoonsschlange steigt aus dem Meere auf, auf dem Eiland spielt die Minotaurussage, die Lernäische im Sumpfe, die Rhodossage im Sumpfe von Kephalos. Ausdrücklich erzählt Bosio, dessen Johanniter-Geschichte (Rom 1594) den Kampf Gozons aufbewahrt hat, woraus dann Schillers Gedicht entstanden ist: Gozon ritt auf die Höhle des Drachen los, welche er fand, indem er einem Bache nachgieng, der aus ihr hervorströmte. Fr. W. Val. Schmidt, Taschb. der Romanzen, 252. Statt vieler Sagen, die sich hier citieren ließen, verweise ich lieber noch auf ein paar erklärende Züge, die weniger beachtet scheinen. Das Krainische Gewässer Bella fließt nur zweimal binnen 24 Stunden, und die Einwohner meinen daher, ein Drache halte es im Felsen zurück. Compendieuse Staatsbeschreib. 1719. 1, 185. Ebenso meldet Missionär Gützlaff (Chines. Berichte, Cassel 1850. pag. 166. 282. 317.) wie der Kaiser von China bei großer Landesdürre seinen Sohn zum Tempel des schwarzen Drachen sendet, selber aber dem weißen ein Rauchopfer bringt, um so den Jahresgott zur Verleihung des Regens zu bewegen. Den Indischen Mythus, welcher die Mutter dieser Sagen genannt werden kann, hat Müllenhoff nachgewiesen in Haupts Ztschr. 7: Vritra d. i. der verhüllende, die Wolke, der Dämon der winterlichen Regenzeit, hat seine Zuflucht auf dem Gebirge gesucht und hält das Licht der Sonne von der Erde ab. Als ihn aber der Donnerkeil des Indra

Digitized by Google

trifft, stürzt er, der auch Ahis heißt, d. i. Schlange, (anguis, altn. Oegir, der Midhgardhswurm) mit den Wassern herab, die er durch seine Macht gefangen hielt, liegt hingestreckt am Boden und die Sonne leuchtet wieder. Im ungarischen Märchen Tatos hat der Drache alle Gewässer aufgetrunken, und da man ihm auch des Königs drei Töchter, Stern, Mond und Sonne zum Fraße vorwerfen gemußt hatte, ward es nicht mehr Tag und Nacht, und im Lande war's kalt und wollte nichts mehr wachsen, da aber die drei Mädchen lebend wieder aufgefunden und erlöst werden, kam auch das Tageslicht wieder, der Sommer und der Lenz. Wolf, Ztschr. 2, 282.

---

## 246. Der Uristier an der Reuß.

Am oberen Theil des Reußlaufes trieben Hirtenknaben die Ziegen ins Gebirg. Bei Nichtsthun und Spiel kommt es ihnen in den Sinn ihren Ziegenbock zu taufen, der als besonders mächtig und groß ausgezeichnet war. Gleich darauf wird das Thier so unbändig und wild, daß er die Heerden auf den Alpen zerstreut und tödtet, die Hirten in die Flucht jagt und bis ins Thal Verderben bringt. Nun wird ihnen gerathen, einen Ochsen groß zu ziehen, und ihm von einem kleinen Mädchen täglich das Futter reichen zu lassen. Habe das Kind sein siebentes Jahr erreicht, so müße es denselben an einem dünnen Faden auf die Alpe führen. So geschah's; ein hübsches Kind wurde wohl erzogen, ein Ochse zu einer außerordentlichen Größe und Stärke herangemästet. Alles Volk im Thal versammelte sich, als nach sieben Jahren das Kind sein erstaunliches Thier an einem Seidenfädchen zu Berg führte. Oben entbrannte nun mit dem Ziegenbock ein Kampf, in welchem beide Thiere todt blieben. Aus den Hörnern des erlegten Ochsen aber machte man Alphörner, und der deutsche Kaiser ließ sie dem Hirtenvolke mit Silber beschlagen. In mancher Schlacht wurden sie geblasen und erst gegen die Wälschen giengen sie verloren. Das Landeswappen der Urner soll sich von jenem Kampfe herschreiben.

(Vgl. Grimm DS. 1, 212.) In Eckwardt ist diese Sage lokalisiert: Müllenhoff, No. 326. Cysat, Beschreib. des Vierwaldstätter-Sees, erzählt pag. 244 von einem Brunnen dieses Sees, der mitten aus der Seetiefe heraufquillt und die ihm zurufenden Schiffsleute bis ans Gestade verfolgt; der Rufer selbst ist des Todes. Diese Sage vom tödtlichen Brunnen lebt in der Urnersage vom Elb fort. Dieser steigt gleichfalls aus der Tiefe des Vierwaldstätter-Sees auf und erscheint in Mondnächten bei Seelisberg als eine das ganze Seebecken umspannende ungeheure Schlange. Dann aber klimmt er auf die Alpen empor und schlägt dem Weidevieh seine verderb-

Digitized by Google

lichen Krallen ins Fleisch. Reithard, Sag. d. Schweiz, 233. Dies gleicht bis auf den Namen dem Elbstier, den die irische Sage, die isländische des 13. Jhrh., die belgische und schwarzwälder Sage kennt, und der demnach überall vorzukommen scheint, wo es Elbe giebt. Vgl. Grimm Jr. ElfM. XLVII, CXXI. Der Irische Heilige Maedog aus dem 7. Jhrh. pflügt sein Land mit diesem aus dem Meere kommenden und allabendlich dahin zurückkehrenden Stier. Wolf, Ztschr. 1, 353. Ein solcher Elbstier mißt sich mit den Zuchtochsen der Meiereien und treibt sie um, bis sie brüllen; der Meier kann keine Veranlassung dieser Wildheit seiner Thiere bemerken, bis er durch ein Elbastloch schaut; dann gewahrt er den Elbstier, mausefarbig und otterglatter Haut, klein, mit kurzem, korkartigem Gehörne und Stutzbeinen, aber er ist übernatürlich muthig und stark. Er zeigt sich zumeist an den Ufern von Flüssen und Seen. Dasselbe fabelhafte Ungeheuer nennt Lusser, Kant. Uri, pag. 117 das Greiß. Dasselbe haust in dem Surenenthal und ihm schreibt man es zu, wenn in jenen Gegenden das Weidvieh, ohne Zeichen vorheriger Erkrankung, plötzlich todt auf der Alpe umfällt. Lusser fügt bei, man gebe neuerlich den eisigen Quellen und rauhen Windstößen auf diesen baumlosen Gemeindealpen die Schuld eines so häufig und rasch erfolgenden Rinderfalles. Leoprechting, Aus dem Lechrain, pag. 75, erwähnt der Redensart, schreien wie ein Viehschelm. Der Viehschelm ist ein gespenstiger Stier, der nur zur vordern Hälfte leibig ist und von der Mitte weg leere Haut. Wenn er sich zeigt, beginnt das Viehsterben. Und diese gleiche Deutung liegt auch wirklich schon in der Sage vom Uristier an der Reuß mit ausgesprochen. Denn dieser bleibt zwar siegreich im Kampfe mit dem gespenstischen Bock, so daß man noch seine Fußstapfen auf dem Kampfplatze in den Felsen eingedrückt sieht; da er aber nach dem Tode des Feindes in den Stierenbach tritt, trinkt er überhitzt denselben beinahe auf einmal aus und darüber sinkt er dann selber todt hin. Eine Kapelle steht nun dorten erbaut. Helvet. Kalend. 1782, 162. Greiß und Elb ist gleichbedeutend, beides heißt fahl und grau, der Stier und der Gletscherbach (Melchbach) ist von gleicher Farbe. Das weißschäumende Gletscherwasser bringt dem Weidethier Verderben, es tödtet sogar denjenigen, der zur Tilgung desselben sieben Jahre lang eigens auferzogen ist und der es zum Theil schon weggetrunken hat. Die gleiche Sage spielt auch am Steinenbache. Der Stier wird dorten ausgestopft und noch ein Jahrhundert später hergezeigt. Wanderer i. d. Schweiz 1839, 141. Von einem dritten Bullochsen der Urner als einem naturhistorischen Curiosum erzählt Wyß, Reise ins Bern.-Oberl. 2, 566. Dieser Heerdstier hatte Jagd gemacht auf einen in die Alp eingedrungenen Bären und war Abends nicht wieder zurückgekehrt. Nach dreitägigem Suchen fand man den Stier unbeweglich, seinen schon längst getödteten und platt gequetschten Gegner noch immer an dieselbe Felswand hindrückend. Bei diesem Kampfe hatte er sich dermaßen angestrengt, daß seine Füße mehrere Zoll tief im Boden staken. Aehnliches wird auch in der Umgegend der Berner-Grimsel erzählt. Der Seidenfaden, an welchem ein Kind den Kampfstier zu Berge führt (wie es in der nachfolgenden Nummer 247 dem Gontenschwiler-Muni gleichfalls geschieht), hat im ahd. Physiologus des 13. Jahrh. bereits sein Vorbild, und dieses wiederum ist voraus angedeutet in jenem dünnen weichen Seidenband Gelgia, mit welchem den Fenriswolf zu fesseln gelingt. Nehein man nemag in

Digitized by Google

geuahen, neware mit dismo liste: man nimit eine magit und leitit sie in die stat, da der einhurn emzige wisit und lazzit sie eine da. so der einhurne si gesihet, so springet er ir in ir barm. Diut. 3, 25. In des Joh. de Voragine Legenda aurea (13. Jahrh.) führt das Mädchen den vom St. Georg besiegten Drachen an ihrem Gürtel in die Stadt.

Die Behauptung, daß die Hörner des siegreichen, oder auch des überwundenen Stieres vom deutschen Kaiser in Schlachthörner umgewandelt worden und dem Urnervolke zum Schlacht- und Harsthorn, jetzt noch der Stier von Uri genannt, vergabt worden seien, hat ihre Quelle in der Chronik des Pseudo-Turpin, und wird daraus von dem Chronisten Melchior Ruß (ed. J. Schneller, pag. 22) auf die Stadt Luzern, deren Rathsschreiber Ruß gewesen, so bezogen: „da (zu Arles en Provence) erwurben min Herren von Lutzern von dem großen Küng Karly, das sy Herhörner dörffen füren, nach Sitten Rulandi sines Suns. man sagt, ouch die von Ure haben die Ablösung in ir Panner erworben. So sagen aber ettlich, sy habentz zu Erikurt (Ericourt in Burgund, das im Kriege gegen Karl den Kühnen durch einen schweizerischen Sieg namhaft wurde) und des wegs hin erworben. das laß ich an die, so das wol wüssen." Der Chronist Ruß also ist dieser Sache nicht gewiß und schwankt, ob die Heerhörner von Karl dem Großen, oder von Karl dem Kühnen herstammen sollen. Die Bildwerke auf der Kappelbrücke in Luzern sind jüngerer Entstehung; sie stellen dar, wie Karl d. Große 801 die Luzerner mit diesen „Feldharschhörnern" belehnt. Wie hier Luzern auf Kosten des Urner-Kriegsruhms diese Schlachthörner sich beilegen konnte, dies erklärt sich wiederum nur aus der Sagengeschichte. Das Turpinische Lucerna ist nämlich eine unter den 82 Städten, welche Karl in Spanien und Galicien erobert, und dieser Name des galicischen Lucerna wiederum scheint aus dem apulischen Luceria zu stammen, das nach Einhards Annal. im J. 802 erobert, und nach Paul. Diacon. l. 5, c. 7 im J. 663 den Langobarden weggenommen worden war. Daraus ist dann jenes Lucern des ndl. Gedichtes von Karl d. Gr. aus dem 14. Jahrh. entstanden (ed. Karajan in Haupts Ztschr. 1, 110), worin Turpins Worte: Lucernam urbem munitissimam, quae in valle viridi est — also übersetzt stehen:

Lucerne die vuste stat,
die in dien groenen dale sat (saß).

Man sieht, daß die gegenseitige Entlehnung alt ist. Das apulische Luceria war aber noch außerdem diejenige Stadt, in welcher Friedrich II. 1250 sich im Banne verstarb, und gerade durch dieses für die Waldstätte wichtige Ereigniß machte sich der verwandtlautende Ortsname neu geltend zur Auffrischung der Rolandssage und zur Uebertragung derselben auf die kleine Schweizerstadt. Denn manches Ländchen und Städtchen versuchte unter den verschiedenen Mitteln, um zur Unabhängigkeit zu gelangen, frühzeitig auch dieses, daß es die Sage beweiskräftig zu machen strebte für seine ursprüngliche, oder für seine wenigstens schon von Karl sich herschreibende Freiheit. Dafür nun warfen sich die Chronisten der Urkantone häufig auf die im Chronicon Novaliciense enthaltenen Sagen (geschrieben um 1050), wie der langobardische Sänger vor Karl her über die Alpen steigt, das Horn blasend und alles Alpenland, so weit dessen Schall dringt, ringsum freimachend. Daher das Jagdhorn Karls d. Gr., das alle sieben Jahre im

Digitized by Google

Dom zu Köln unter andern Reliquien hergezeigt wurde; daher die mehrfachen Hörner in den Rath- und Zeughäusern der Schweiz, die bald aus Karls, bald aus des Habsburger-Rudolfs, bald aus Karls des Kühnen Zeiten sein sollen. Die eigensüchtige Weisheit der Historie muß aber an diesen Alterthümern wiederum erleben, wie oft sie nur eine Tochter der Sage ist. Reine Sagen wollen niemals von geschichtlichen Vorgängen erzählen, höchstens suchen sie sich durch geschichtliche Beziehungen zu fristen und auszuschmücken. Unsere Sage beginnt daher selbst mit den Hörnern des Elbstieres, aber sie schließt mit den Schlachthörnern Karls. Diese Stierhörner also bedürfen zuerst der Erklärung. Sie verdanken ihre Entstehung demselben sinnlichen Grundzuge, der den Drachen als Symbolen des Gewässers ihr Dasein gegeben hat. Der Homerische Strom Skamander brüllt wie ein Stier. Il. 21, 237. Poseidons Priester heißen aus verwandtem Grunde Stiere. Bei Müllenhoff, Schlesw.-Holst. Sag. No. 168. 328 erscheinen die Wasserriesen als Stiere und man schreibt ihnen Seuche und Kuhtod zu. Das Thalkalb und Flußkalb (ibid. pag. 237, 4), das auf den wüsten Dünen haust, zeigt eine nahe Ueberschwemmung an; es gleicht also ganz unserm sogen. Dorf- und Stadtkalb unter den Dorfthieren. Der Flußgott Acheloos mit dem Stierhaupte oder als völliger Stier verkörpert, hat mit Herakles um den Besitz der Jungfrau Deianeira gerungen, Herakles hat ihm in diesem Kampfe ein Horn abgebrochen und es zum Füllhorn gemacht. Aelian, Bunte Gesch. 2, 33 erlaubt sich hierüber bereits folgendes Raisonnement: „Theils bilden sie die Flüsse in Menschengestalt, theils stellen sie dieselben als Stiere dar.“ So ist in Wahrheit jener braune Stier zu nehmen, aus dem Mummelsee emporsteigend, von dem Simplicissimus (ed. Keller 2, 730) erzählt. Will man aber den Weg erkennen, auf welchem diese Sage vom brüllenden Gewässer zum siegsbrüllenden Schlachthorn und „Stier von Uri“ geworden ist, so hat man sich Wuotans zu erinnern, des Schlachtengottes, welcher das Giallarhorn führt, von dessen Tone die ganze Welt wiederhallt. Und da nachmals Karl und Barbarossa an die Spitze des Wüthenden Heeres treten, so ist es zwar nicht mehr des Hornes Ton, aber der Held selbst, an dessen Wiedererscheinen sich die Sicherheit des letzten Volkssieges knüpfen wird. Deshalb bedarf dann der im Arenberge schlafende Tell des Hornes nicht mehr.

---

## 247. Der Gontenschwiler-Muni.

Ein dem Metzger verkaufter Muni (Stier) wird aus dem Dorfe Gontenschwil ins nächste Wirthshaus dem Käufer zugeführt. Dorten kommt des Metzgers junger Knabe entgegen und lacht die vier Männer aus, welche gewaltige Mühe haben, den gebundenen Stier herbei zu bringen; er zieht eine dünne Schnur aus der Tasche, knüpft sie in einige Knoten, windet sie dem Thiere ums Horn und sogleich folgt dieses ihm wie ein Lamm hinterdrein.

---



Digitized by Google

## 248. Der nächtliche Stier bei Mettau.

In Wil bei Mettau zeigt man ein Haus, vor dem jede Nacht ein Stier erscheint und mit kläglichem Brüllen seine Hörner in die Wände stößt. Dies ist der geizige Hausvater, der ehemals hier gewohnt hat. Als er im Sterben lag, schlug er allen Trost der Freunde und der Kinder aus und konnte nicht enden, die nutzlose Plage des kurzen Menschenlebens zu verwünschen. Wenn ich ein Stier gewesen wäre, sagte er zu seinen Söhnen, so könntet ihr doch noch ein paar Dublonen aus meiner Haut lösen; so habt ihr nun gar nichts von mir!

Der in der Sage hier ausgesprochene Wunsch des Sterbenden ist lange nicht so roh, als er heute erscheint. Aus dem heidnischen Brauche, die besten Thiere mit dem verstorbenen Eigner zu bestatten, gieng im Mittelalter das drückende Gesetz hervor, nach des Mannes Tode das Besthaupt seinen Erben zu entziehen und es dem Leibherrn anheim fallen zu lassen. „Mortuo viro bos unus detur.“ ad an. 1209. Grimm, RA. 496. Deswegen beklagt hier der sterbende Vater, daß er beim Scheiden von den Seinigen diese noch im Tode berauben müße; sobald man seine Leiche aus dem Hause trage, führe man ihnen auch den Stier aus dem Stalle. Erst i. J. 1797, nachdem schon die französische Revolution die Gemüther aufgeregt hatte, wurde das Recht auf das Besthaupt im Zürcher- und Freienämterlande um bedeutende Summen losgekauft. Bluntschli, zürch. Rechtsgesch. 2, 13. — Ein Zug von hohem Alter ist es, wenn der Geisterstier seine Hörner hier ins Haus bohrt. Die Bauernhäuser von jener seltsamen Bauart, die man in der Schweiz Heidenhäuser nennt, haben einen in der Luft getrockneten Ochsenkopf unter dem Giebel hängen: No. 249. 427. In diesem Sinne mögen wohl die vielen spukenden Stiere, Stadtkälber und Dorfhämmel noch ihre zusammenhängende Erklärung finden. Hier will ich einige aus der schweizerischen Nachbarschaft aufzählen. Beim Schlachthaus der Stadt Basel spukt das Spalenthier, „das so furchtbar als immer ein Rübenzagel herrschet“: Spreng, Basels Ursprung, 1756, S. 38. Auch ein Stadtthor daselbst trägt den Namen dieses Thieres. Das Nachtkalb in Kolmar, Stadtkalb in Ingweiler, den Dorfhammel in Wangen verzeichnet Stöber, elsäß. Neujahrsstollen, 1850. Die drei Kälber in Wolfartsweiler: Schnezler, bad. Sagb. 260. Am Walliser-Zauchet spukt der Stier: Henne, Schweiz.-Bl. 1833. Im bern. Dorfe Langenthal geht das Schalthier, in der Stadt Bern das Stadtkalb um, welches Schlachthäusi heißt.

---

## 249. Blitzabwehrende Stierhäupter.

Peter Karlis Haus zu Dottikon im Freienamt liegt an der Straße nach Anglikon, links am Aufwege nach dem Dorfe Hägglingen. Das Haus ist sehr alt, obschon es außen jetzt einen frischen Bestich hat. Als dem ehemaligen Besitzer einst all sein Vieh an einer Seuche fiel und der Ungeist im Stalle nicht weichen wollte, schlug man einem

Digitized by Google

Stier das Haupt ab und hieng's an einem Eisenkettlein in einem Kasten im Estrich auf. Seitdem ist keine Seuche mehr über dies Haus gekommen. Der getrocknete Stierkopf ist daselbst noch vorhanden, wird aber weder hergezeigt, noch je von seiner Kette genommen.

In der Sisselen im Frickthale hängt im Hause des Marx Käser ein aufbewahrter Roßkopf unter dem Strohdache; in einem Bauernhause zu Sulz, gegenüber Fischbach im Freienamte, ebenso ein getrockneter Stierkopf.

Viele Bauernhäuser, die man wegen ihrer höchst alterthümlichen Bauart Heidenhäuser nennt, haben theils einen in der Luft getrockneten Ochsenkopf unter dem Giebel hängen, theils wo er schon weggenommen oder vermodert ist, ihn bildlich an der alten Holzgrundlage ausgehauen. Unter den Strohfirsten zu Radolfingen hängen große Ochsenköpfe mit ihrem Hörnerschmucke, und die Bernerbauern sagen, damit hätten die Heiden dem Blitze gewehrt. Vgl. Jahn, Kant. Bern 149. 246. 363. Sowohl die Kirche des Freiburger-Düdingen, wie auch das Münster der Stadt selbst wurde an derjenigen Stelle erbaut, an welcher ein junger Stier stehen blieb, den man mit den Reliquien des hl. Petrus auf den Hörnern hinaus getrieben hatte. Eines seiner Hörner ist noch in der Sakristei vorhanden. Küenlin, Kant. Freiburg, 124. Ebenso hieng im Straßburger-Münster an einer Säule, gegenüber der alten steinernen Pfarrkanzel und dem Taufsteine, an einer Kette das klaftrige Horn eines Ochsen; sammt seiner Kette wog es 30 Pfund. Stöber, elsäß. Sag. No. 342.

Die gleiche Sitte, das Stierhaupt im Hause aufzuhängen, meldet aus Preußen: Kuhn, nordd. Sag. No. 328; aus Westfalen: Wöste in Wolfs Ztschr. 1, 394; und Panzer, bayr. Sag. 2, No. 301, erwähnt die Thatsache, wornach man in Bayern den Stier lebendig gegen die Seuche begräbt. Drei getrocknete Ochsenköpfe hängen unter dem Giebel eines Hauses in Baierbronn im Murgthale und durch jenes hat das W. Heer seinen Durchzug. Meier, schwäb. Sag. 151. Niederländischer Aberglaube besagt: Jemand in de Meeden (Holland) had een' paardenkop boven zyn varkenskot hangen ter bevordering van den groei zijner varkens. Wolf, Beitr. 1, No. 221. Ein Frôbild an der Belsener-Kirche in Würtemberg ist von drei steinernen Stierhäuptern umgeben: abgebildet bei Wolf, Beiträge 1, Tafel 1, Figur 3. Dies rührt daher, daß Freyrs oder Frô's Name zugleich auch eine eddische Benennung des Stieres war. J. Grimm in Haupts und Hoffmanns altd. Blätt. 1, 287. So erklärt es sich, daß sich in Childerichs Grab zu Doornyk 1653 ein goldenes Stierhaupt, mit dem neunspeichigen Rad auf der Stirne, als Amulet vorfand, wie man auch den Verstorbenen im Würtembergischen kleine Frôbildchen ins Grab mitgab; und die Stiere, die man diesem Gotte opferte, ließ Gregorius noch gelten, verwendete sie aber mild denkend zur Ehre christlicher Feste. Weitere Belegstellen hiefür: Wolf, Beitr. 1, XVIII. 113.

## 250. Härdlimann, oder das Geisterfüllen bei Klingnau.

Der Weg vom Dorfe Koblenz am aargauischen Rheine nach dem Städtchen Klingnau ist wild und geht an vielen unheimlichen Stellen hin. Die Brücke daselbst am Steingraben, obschon erst vor zwölf Jahren neu aufgeführt, passiert man nicht gerne zu später Stunde; rechts und links ist Wald, in der Tiefe ein großer Graben mit wenig durchsuchtem Dickicht, und weiter hinab beginnt das schon dem Namen nach schauerliche, unwegsame Giritzmoos.

Ein reicher Betrüger, der den Armen durch Gewalt und List ein Stück Land nach dem andern abgenommen, soll seit seinem Tode hier in verschiedenen Gestalten hausen. Man hört ihn auch verschiedenartig nennen; bald heißt er Härdli-Geist, und hat diejenigen Marksteine zurückzuschieben, mit denen er zu seinen Lebzeiten hier die Grenzen ungerecht erweiterte; bald wieder soll es der Heiri von Zürich sein, der den Bürgermeister von Zurzach im Walde erwürgte und deshalb hier hingerichtet worden ist. Von ihm erzählt No. 351. Auch eine ganze Schaar gefallener Krieger, man weiß nicht deutlich, aus welchen Zeiten und Kriegsläuften, soll von hier aus einen traurigen Nachtumzug beginnen. Gar Vielfaches giebt man an. Folgendes aber ist gewiß und hat sich erst in der Neuzeit begeben. Ein Maurer, Wengi von Klingnau, mit seinem Hausnamen Küng geheißen, war die Woche über in der badischen Stadt Waldshut auf Arbeit gewesen und gieng nun am Samstag zu den Seinen heim. Da er erst um Feierabend von Waldshut aufbrechen konnte, so wurde es fast Mitternacht, als er an jener Brücke vorbei kam. Er hatte sie schon im Rücken, da er ein leises Stöhnen zu hören meinte. Er blieb stehen, und da er es aufs neue vernahm, kam ihm die Vermuthung, es möchte hier vielleicht ein Holzsammler, oder ein Wirthshausgänger in die Tiefe des verrufenen Graben gestürzt sein. Von Furcht wußte Wengi nichts, er hatte ein sehr mitleidiges Herz, und wie er sonst ein kühner und starker Mann war, so wagte er es hinunter zu steigen. Als er sich durch das Gebüsch hindurch gemacht hatte, rief er jener Stimme zu; aber niemand wollte ihm Antwort geben. Dies gefiel ihm doch nicht recht, und jetzt erst — er hatte doch das Jammern vorhin so deutlich mehrmals gehört — kamen ihm die Geschichten in den Sinn, die man sich über diesen Ort erzählt. Er stieg also wieder hinauf, um seiner Heimat zuzugehen. Nun aber hörte er hinter sich drein traben und schnauben, und alsbald stand ein Füllen in der Nähe, das anstatt scheu zu thun, ihm gerade nachzulaufen schien. Der Mann meinte einen guten Fang zu thun, zog

Digitized by Google

also sein Sacktuch heraus, band es dem Füllen um den Hals und zog dies hinter sich drein. Nicht lange, so that ihm der Arm weh und war das Tuch zu kurz. Er kehrte sich um, es anders zu binden, aber unbegreiflicher Weise war in diesem Nu das Füllen hoch gewachsen, und er hatte die größte Mühe, nur noch hinauf zu reichen, um schnell sein Sacktuch wieder abzubinden. Nun entlief er; aber eben so schnell sprang das immer größer werdende Thier ihm nach und war schon bis zum Entsetzlichen aufgeschwollen, da er gerade jenes Kreuz bei Klingnau erreichte, an dem einige tausend Kaisersoldaten verscharrt liegen, welche bei dem im J. 1799 hier versuchten Aarübergang ertrunken und unter den französischen Kugeln gefallen sind. Hieher flüchtete sich der Mann, hier verschwand aber auch das Thier mit einemmal. Voll Angst und Schrecken betrat er endlich sein Haus und erzählte sein Begegniß. Was half's, daß ihm die Einen glaubten, und Andere es ihm bestritten; krank war er heimgekommen und schon nach zwei Tagen starb er.

Man sagt auch, Wengi habe das eingefangene Füllen für dasjenige des Engelwirths von Klingnau gehalten und es bis in den Ort hinein geführt; sobald er aber seinen Fuß über die Stallschwelle gesetzt hatte, um es an den Barn zu binden, sah er, daß er ein Weib an seinem Halstuch führe; er ließ das Tuch im Stiche und entsprang.

Bei J. W. Wolf, Rodensteiner No. 8 schnaubt dies Roß über das Haupt einer Frau herein, und im gleichen Augenblicke zieht oben aus dem Schnellerts die W. Jagd hervor. Dies ward 1756 eidlich zu Protokoll erklärt. Wenn an die Stelle des zu Roß abholenden Todesgottes der abholende Teufel tritt, so weist doch dessen Pferdefuß immer auf seine ältere Gestalt zurück; und der seine Schlachtopfer reitende Thanatos ist noch sinnlich vorhanden in der Phrase: der Teufel hat ihn geritten.

Das Reiten der Todten, oder vielmehr der Brauch, Leichen auf ein Pferd gebunden zum Begräbnisse zu bringen, war im St. Gallischen Rheinthale noch nach dem J. 1541 vorgekommen (Ild. v. Arx, St. Gall. Geschichte 3). Denjenigen Waldtheil beim Dorfe Prattelen (Baselland), in welchem die alten Gräber liegen, nennt man den Reitweg. Zürch. Antiquar. Mittheil. 2, 9. Dieselbe Localbenennung kommt vor: Abthl. I, No. 8, Egelsee auf dem Heitersberg. Die bekannte Dobberaner-Grabschrift auf den Ritter Molken: der ist 1300 von hinnen geritten, thut ja vor ihn fleißig bitten — (Tedeschi, Unterhaltung. 1825. 2, 175) ist also kein bloßer Scherz, sondern es erinnert an den geschichtlichen Ritt, den der Habsburger-Rudolf zu seinem Kaisergrab nach Speyer antrat. Die Reichenauer-Chronik vom hl. Blut, aus dem 11. Jahrh. stammend, läßt den Adeligen Ruodpertus in der Gegend von Zizers bei Chur durch ein solches Todesroß zu Grunde gehen. Mone, bad. Quellen-Samml. pag. 73. Im 13. Jahrh. erzählt Otto von Freisingen V. 3. den Untergang des Königs Theodorich als eine damals allbekannte Sage in gleicher Weise. Es ist das eiserne

Pferd genannt (Herrlein, speßhart. Sag. 232), das schwarze Handroß, das plötzlich verschwindet, nachdem man auf ihm zufällig aus der Feinde Handgemenge entkommen ist (Tettau-Temme, preuß. Sag. No. 76). — Auf einem solchen Todesrosse will der böse Gemahl sein frommes Eheweib dem Teufel zuführen, da aber verwandelt die Mutter Gottes zum Heil der Armen sich selber in dies Roß. Haupt, altd. Bl. 2, 79, No. 14. Der Jenaer-Professor Froriep erzählt im Schiller-Album als Augenzeuge und Leichenbegleiter bei Fr. Schillers nächtlicher Beerdigung, plötzlich habe sich ein fremder Reiter dabei eingestellt, sei abgestiegen und sei dem Zuge von ferne bis an die Kirchhofsmauer gefolgt. Wer er gewesen, ist, trotz mancherlei Vermuthungen, bis heute nicht bekannt geworden. A. Stahr, Jena und Weimar, 1852 1, 85. Auch der griechische Charon wird reitend dargestellt, vgl. Göthe's neugriech. Lied Charon; und Platons Phädrus vergleicht des Menschen Seele einem Zweigespann, von dem das eine Roß dem Leben, das andere in entgegengesetzter Wendung dem Tode zustrebe. Der homerische Aelteste ist Nestor und wird daher der Rossebändiger genannt. Das durchs Fenster herein schauende Roß auf altgriechischen Grabdenkmälern hat schon Winckelmann (Denkmale 1, No. 19. 20) als das des Hades gedeutet.

## 251. Der Sandgrubengeist bei Frick.

Bei der Sandgrube am westlichen Abhang des Frickberges ließ sich zur Zeit, als man das Vieh noch auf die Weide trieb, ein Mann sehen, der einem Viehhändler glich, denn er hatte eine Geißel über die Achsel geschlungen und trieb das Vieh weg. Oft nahm er, nach der Versicherung der Weidbuben, die Gestalt eines Pferdes an, das, wenn man es fieng und ihm den Zaum anlegen wollte, riesenmäßig anwuchs. Auch führte er diejenigen irre, welche in der Nacht oder früh vor Tag hieher kamen, das verlaufene Vieh zu suchen. So, sagt man, war einst ein Mann von diesem Felde weg auf den Schwarzwald hinüber gerathen nach Todtmoos, also fast 8 Stunden weit, und stand dorten mitten in der Kirche, während er glaubte, er sei noch immer auf der Wiese und suche seine Rinder.

## 252. Der Bachplätschi in Lengnau.

Das Lengnauer-Dorfthier kommt meistens in Gestalt eines schwarzen Pudels gelaufen, schwadert Nachts im Bache herum, sperrt die Brücke und spielt den Darübergehenden allerlei Possen. Es muß wandeln, bis es die ewige Ruhe verdient hat. Die Sage von diesem Bach- oder Nachtplätschi ist im Surbthale genugsam verbreitet und reicht vom Dorfe Döttingen an der Aare bis zur Zürchergrenze,

Digitized by Google

allein über die wesentliche Bedeutung desselben ist man theils ungewiß, theils kümmert man sich nicht mehr darum. Ein älterer Mann hat sich darüber also erklärt.

Als zur Zeit der Reformation auch im Surbthale viele Leute sich der neuen Lehre zugewendet hatten und die beiden Glaubensparteien darüber in Unfrieden kamen, war in Döttingen ein General im Quartier, der sich für Zwingli's Grundsätze besonders eifrig zeigte. Er wollte endlich alle, welche hier noch im alten Glauben verharrten, zusammen in einer Nacht durch seine Soldaten ausrotten lassen und befahl den Neugläubigen, diese Mordnacht hindurch die Fensterladen ungeschlossen zu halten, und in ihren Stuben brennende Kerzen aufzustellen. Allein das Vorhaben wurde verrathen, auch die Katholiken zündeten Lichter an und die Sache schlug fehl. So weit nun damals die Vertilgung gehen sollte, von der Mündung der Surbe in die Aare, durch das Surbthal bis an die Zürchergrenze, muß jetzt der General als schwarzer Hund spuken. Eine andere Erzählung über den Ursprung dieses Gespenstes lautet folgendermaßen:

Pilatus, der wegen seines ungerechten Urtheils über den Heiland ruhelos wandeln muß und sich meistentheils in den nächsten Gegenden um den Pilatusberg aufhält, macht zuweilen seinem Gelobten Lande wieder einen Besuch und nimmt dann den Weg dahin allemal durch das Surbthal. Da er aber ein Unhold ist, so kann er nur in verwünschter Gestalt seinen Marsch antreten und zwar bald als Pferd und Füllen, bald als Kalb oder Hund. So erscheint er dann den Leuten, welche Nachts verbotene Wege gehen, oder betrunken aus den Wirthshäusern kommen, und da solche selten jemand friedlich vorbeilassen, so tragen sie denn bei diesen Begegnungen einen tüchtig geschwollenen Kopf davon. Auch jene Kiltgänger bleiben dabei nicht ungestraft, welche in den Sonntagsnächten gewöhnlich sehr spät von ihren Mädchen heimkehren und lärmend über die Brücke gelaufen kommen. Weil er das Schreien haßt, hat er auch den Nachtwächter schon gefoppt, der die Stunde ruft. Dieser fieng einmal in Unter-Lengnau ein ledig herumlaufendes Pferd i. der Meinung, es sei einer der Schimmel aus der dortigen Mühle. Die herausgerufenen Müllerknechte erkannten es auch für das ihrige, allein sowie man es nahm, um es in den Stall zu thun, bäumte es sich und entsprang. Ebenso gieng es daselbst mit einem unvermuthet gefangenen Füllen; es ließ sich gutwillig bis zur Dachtraufe führen, da aber war es ihnen unter den Händen verschwunden und sie sahen sich geprellt. In Ober-Lengnau lief es als Kalb umher und riß zuletzt auf gleiche Weise dem Bauern wieder aus, der's an seinem Halstuche bis unters Dach

Digitized by Google

gebracht hatte. Zwei Weiber, welche am Bache des Nachts ihre Wäsche hüteten, sahen den Geist als Pudel im Wasser daher kommen. Die eine, die ihn für einen gewöhnlichen Hund hielt und verjagen wollte, mußte dies damit büßen, daß sie nachmals die Surbbrücke niemals mehr ohne die Begegnung dieses Unholdes passieren konnte.

Es ist Regel, daß ein Bräutigam zwei Wochen vor seiner Hochzeit Nachts nicht mehr die Dachtraufe seiner Wohnung überschreite. An diesen Brauch kehrte sich ein Lengnauer nicht, sondern kam während dieser Frist einst sehr spät von seiner Verlobten heimgegangen. Die Braut hatte ihn beim Abschied noch besonders gemahnt, nur auf der gewohnten Straße und auch da recht stille nach Hause zu gehen und mit Niemandem irgend ein Wort zu wechseln. Trotz dieser Warnung wählte nun der junge Waghals nicht die Straße, sondern einen kleinen Fußpfad längs der Surbe. Hier stieß er auf einen Mann von seiner Größe, der ihm den Weg versperrte. Der Liebhaber ließ sich nicht lange aufs Fragen ein, riß einen Pfahl aus der nächsten Hecke und schlug blind darein. Aber bei jedem Streiche wuchs die Gestalt seines Gegners höher und die Augen wurden pures Feuer, während der Bursche so todmüde wurde, als hätte er sich selber durchgeprügelt. Als er endlich heimkam, war er wie ein Viertel geschwollen und ganz kahlköpfig geworden. Seit den letzten zwanzig Jahren will man den Bachplätschi nicht wieder gesehen haben.

---

## 253. Kaibenrain zwischen Oberflachs und Schinznach.

Ein Mann aus Schinznach war bei des Wildiküfers Tochter in Oberflachs zur Kilt gewesen (vgl. No. 327) und sah im Heimgehen einen schwarzen Mann, der um die blanke Mitternacht noch die Wiese zu wässern schien. Gleich trat unser Kiltgänger diesem ungewöhnlich „G'schaffigen" beherzt entgegen und wußte ihn bis zu jener Stelle zwischen Oberflachs und Schinznach hinzutreiben, die man den Kaibenrain nennt. Hier war der Wässermann plötzlich verschwunden, der Verfolger aber bekam zu gleicher Zeit drei so derbe Ohrfeigen, daß er umfiel. Als er wieder zu sich kam und fort wollte, fand sich's, daß er auf der einen Seite völlig gelähmt war. Dies geschah an dem Platze, welchen man Kaibenrain oder Roßberg heißt; eine Wieseneinsenkung in der Nähe ist die Rößligrube. Die Pferdeknochen, welche man hier früherhin gefunden, sollen davon herrühren, daß ein altes Volk alle seine Rosse zusammen an dieser Stelle erschlagen und verlocht habe.

Digitized by Google

Einem indischen Hymnus an Indras zu Folge haben diesem Gotte drei Hinduſtämme Pferdehäupter auf dem Schlachtfelde geopfert. Kuhn, nordd. Sag. 490. Der Roſſe Glieder und abgehauene Köpfe nageln die Germanen als Todtenopfer an die Bäume des Schlachtfeldes. Es iſt daher eine folgerichtige Erzählung, daß wenn das W. Heer im Femme-Gärtli in Adlebach wohnt, eben an dieſem Bache ein Roß ohne Kopf zugleich umher laufe. Blumer-Heer, Kant. Glarus, 316. Ein Theil von ſolchem Roſſe wird dem gewöhnlich zugeworfen, der dem W. Heere verwegen oder ſpottend nachruft (Abthl. III, No. 139). Gieb mir auch was! ſagt einer, da fällt ein Pferdefuß aus der Luft herab. Panzer, bayr. Sag. 1, No. 74. Der Nachtrabe giebt ſelber zu verſtehen, daß er Lebensmittel mit ſich führe und wirft, wenn man Halbpart ſagt, einen Pferdeſchinken herunter. Müller-Schambach, ndſächſ. Sag. No. 96. Von dieſem Roßfleiſcheſſen und Knochennagen erzählen Abthl. III, No. 135: „das Roß bei Wallbach". Meier, ſchwäb. Sag.: „Muetesheer und Ewigjäger". Kuhn, nordd. Sag. pag. 3. 478. Harry, ndſächſ. Sag. 2, No. 5. Tettau-Temme, preuß. Sag. No. 260. Es iſt das dem Wuotan geheiligte Thier, das man an den öffentlichen Opfermahlzeiten zu ſeiner Ehre gemeindeweiſe verzehrte. Der Indiculus führt es ſeit Karl d. Gr. unter den kirchlichen Verboten auf, aber noch in den Heren-Akten iſt es ein ſtehender Inquiſitionspunkt, und die Kirche ſelbſt verehrte Roßknochen, ohne es zu wollen, unter den von ihr der Andacht ausgeſtellten Heiligengebeinen; ſolcherlei entdeckte G. Forſter, Anſichten vom Niederrhein (Berlin 1791) 1, 103 unter den Reliquien der Kölner-Urſulakirche. Wenn die Here nicht täglich für ſechs Kreuzer Schaden anrichtet, bekommt ſie Nachts kein Roßfleiſch zu eſſen, iſt ein zum Sprichwort gewordener Aberglaubensſatz. Auf beiden Ufern des Oberrheins heißt jede Fahne auf dem Kirchenthurm der Gaul; Pferdeköpfe verzieren den Holzbau der Mecklenburger- und der oberbayriſchen Bauernhäuſer (vgl. Panzer, bayr. Sag. 2, 448); in Rößleinform backt unſer Landvolk ſeine Weihnachtslebkuchen. Vgl. Oberdeutſches Gebildbrod No. 20. Die landſchaftliche Stelle, wo das W. Heer auf der Geisſpitz im Frickthale ſeine Roſſe tummelt, heißt Reiterſpiel (Abthl. III, No. 153), d. i. clades equitum, ein Name, der an die bayriſchen Orte Roßhaupten, Thierhaupten erinnert. Dahin zielen unſere Teufelskeller und Teufelsküchen, die häufig Begräbnißſtätten ganzer Geſchlechter und alte Opferſtellen ſind; dahin gehört auch „der unerſchrockene Schulmeiſtersſohn" (Abthl. III, No. 133), welcher den Geiſtern kochen muß und dem dabei die Glieder eines Leibes zerſtückt durch den Schlot herab in die Pfanne fallen. Eben dahin gehört auch der Schimpfnamen Kaibenfreſſer, den ſich ganze Gegenden und Gemeinden einander ſeit alter Zeit zutheilen (Oberdeutſch. Gebildbrod No. 20). Zur Beruhigung des in dem Pilatusſee wohnenden Tobgeiſtes wird ein Pferd in dies Gewäſſer verſenkt und ſeine Hufſpuren waren auf dem Wagſteine des Pilatusberges in Mondform zu ſehen. Cappeller, Hist. mont. Pilati 1767, pag. 8. Erblaßt die Erinnerung an die Bedeutſamkeit ſolcher Opfer, ſo gilt dann noch die Anekdote darüber, wie die Lallenburger ein Roß auf ihren Kirchthurm hinaufzogen und es drüber erdroſſelten. Noch i. J. 1499 erforſchten die Kriegsleute den Ausgang des andauernden Schwabenkrieges durch ein ſolches Opfer. Die Landsknechte warfen ein Roß, welches ſie ſelbſt bezeichnen ſollte, und ein Rind, das den Schweizeriſchen galt, zuſammen

Digitized by Google

in den Bodensee. Das Roß ertrank, da sprachen die Landsknechte: die Schweizer haben doch den alten Gott noch. Lenz, Reimchronik des Schwabenkriegs, ed. Dießbach (Zürich 1849) pag. 44 b. Die kegelförmigen Erdhügel bei Siders in Wallis, und bei Felsberg in Bünden nennt das romanische Volk Tombel de Chiavals, Pferdegräber. Geologen sehen darin die Reste großer aus den Alpen gekommener Schlammströme (Escher, die Schweiz 1851, 515); Münster dagegen (Cosmographey, Basel 1567, pag. 764) nennt den Wiesenbühl bei der Stadt Chur Tumba de cavall und hält ihn für eine „anzeigung, daß vor zeiten hie große höre gelegen und den reisigen im läger vil pferd vnnütz worden".

Zu den untergehenden und schon verdunkelten Sagen solcher Art sind diejenigen Rosse zu rechnen, die unter dem allgemeinen Namen der Stadtthiere noch erwähnt werden. Dahin gehören folgende: In Sitten, Kant. Wallis, spukt das dreibeinige Roß, halb Rappe, halb Fuchs. Schweiz. Bl. 1833. Ueber diese Mischfarbe vgl. Anmerkung: „Farbe und Tracht des W. Heeres Abthl. III, pag. 212. In der Sionen, im Walliser-Einfischthale, läßt sich ein gleiches sehen. Schweiz. Merkur 1835, 292. Ein Schimmel spukt beim Basler Bruderholz. Kohlrusch, schweiz. Sagb. 1, 364. In Mannheim spukt der Trappgaul (Mone, Anz. 1837, 305), in der Straßburger-Ill das Rößlein mit drei Beinen. Stöber, Neujahrsstollen 1850, 38.

## 254. Der Schimmel auf der Gislifluh.

Ein Arbeiter aus dem jenseits der Gisli-Fluh gelegenen Dorfe Thalheim erzählt: In meinen jüngern Jahren, da ich noch tagtäglich über den Berg nach Aarau auf die Arbeit gieng, hatte ich mich einmal Abends auf dem Heimwege jenem Buchenwalde genähert, welcher die nördliche Bergwand bis zur Fluh hinauf damals noch viel dichter als heute bedeckte. Da sah ich in jener Gegend, wo die alte Gislikirche gestanden hat, ein Kalb ledig umherlaufen. Ich fieng es, band es an mein Tuch und zog es mit mir heimwärts. Aber bald hatte es sich wieder losgezerrt und da ich es frisch binden wollte, wuchs es nach allen Seiten in die Höhe. Jetzt schien es mir gerathen, das verherte Thier sein zu lassen und mich davon zu machen. Ich hatte diesen Vorfall schon vergessen, gieng wiederum desselben Weges und trug eine Hutte auf dem Rücken, da lief mir unten am Walde ein hübsches Füllen nach und legte endlich seinen Kopf schnuppernd auf meinen Tragkorb. Kaum aber hatte ich mich darnach umgeschaut, so schwoll es zu einem mächtigen Schimmel auf, blies mich mit einem heißen Athem an, und als ich ihm entkommen wollte, war mir der Weg mit hohen Wänden und Mauern verlegt. Zu meinem größten Schrecken aber sah ich ganz deutlich, wie ein Reiter auf einem Schimmel von der jähen Fluh her in dem engsten Waldpfade angesprengt kam. Seitdem hab ich mir es nicht wieder einfallen lassen, diesen Weg am Abend einzuschlagen.

Digitized by Google

(Vom Schimmelreiter handelt Anmerk. No. 161. 253. vom Schimmel dieſer Gislikirche: No. 477.)

---

## 255. Spukende Roſſe.

Ein Bauer will bei Ober-Siggingen Nachts ein lediglaufendes Füllen fangen, und wird darüber in eine Miſtpfütze geſtürzt, in der er ſich bis zur Morgendämmerung herumarbeiten muß. — Auf dem Bettberge in der Nähe des Frickthaler-Dorfes Schupfart findet ſich allerlei Mauerwerk im Boden. Hier iſt eine Stadt untergegangen, zu der eine lederne Brücke geführt hat. Der Volksglaube ſieht Nachts noch ein Roß darüber weglaufen.

Am Werb- oder Webbichgatter zwiſchen Schupfart und Wegenſtetten lauft um Mitternacht ein reiterloſer Schimmel vom Waldberge her.

Geht man von Wettingen über Pfaffenbühl nach Otelfingen, ſo hört man auf dem Grepenbuck rufen „hopen". Da ruft nämlich jener erhängte Fuhrmann von Würelingen, den ſeine Verwandten hier verſcharrt haben. Er heißt Roßheiri.

(Ueber die ledernen Brücken handelt No. 428.)

---

## 256. Der Krümbihund am Roſt bei Siggingen.

Der Roſt iſt der Name eines ebenen Landſtriches der Gemeinde Siggingen, und ſoll das nordweſtliche Ende der alten Römerſtadt Vindonissa geweſen ſein. Da ſpukt nun ſeit alter Zeit ein großes Unthier mit Feueraugen, das man den Krümbihund heißt. Lange hatte der Glaube eine dortige Grube als einen Schatzkeller bezeichnet, an deſſen Eingang zwei goldene Engel Wache ſtänden. Im Jahre 1848 ſollte hier ein Neubau aufgeführt werden. Als man den Grund ausgrub, ſtießen die Arbeiter auf ſo gewaltige Römermauern, daß man ſie nicht wegſchaffen konnte und mit Pulver ſprengen mußte. Aber auch das gieng nicht vollſtändig, und gegen den eigenen Bauplan mußte man den Keller des neuen Hauſes auf die alten Grundmauern ſtellen.

---

## 257. Der Wälder- und Rhimâ bei Kaiſerſtuhl.

Obigen Namen trägt das Stadtthier in Kaiſerſtuhl; es erſcheint als Hund und als Schwarzwälder-Hotzenmann, das heißt in jener

Digitized by Google

alterthümlich schönen Tracht der Bauern aus der benachbarten Grafschaft Hauenstein am badischen Oberrhein bei Waldshut. Uebrigens gelten im ganzen Bezirk Zurzach die großen Hunde für geisterſichtig, ja für böse Geister selbst. Der Wäldermä erschien sonst gewöhnlich bei der Zollstube an der Rheinbrücke, wo das alte Babeli gewohnt hat. Sie kannte ihn so gut, daß sie auf sein Anklopfen jedesmal in ihrer Stube drinnen sagte: Wozu das Klopfen, du kannst ja doch zu jedem Schlüsselloch herein. Gewöhnlich trat dann ein abgezehrter, stierblickender Mann ein, der gleich an den Ofen gieng und sich wärmte. Er antwortete nie. Im Franzosenkriege waren Appenzeller zur Deckung der Rheingrenze hier aufgestellt und ein paar Mann kamen auch zum Babeli in Einquartierung. Als nun der Rhimä damals gerade auch einmal an die Thüre klopfte, schickte sie ihre Appenzeller zum Aufmachen. Aber diese entliefen mit einander, und seither war sie mit allen Soldaten verschont. Damals wagte man noch nicht, Nachts vom Rheine her Wasser ins Städtchen herauf zu tragen; heut zu Tage ist er ziemlich vergessen.

Wäldermann heißt im Fricktal der langstielige Mistpilz, weil derselbe mit seinem Deckel und kahlem Stiel dem großen Hute der Schwarzwälder-Bauern mit ihrem kahlgeschorenen Langhals vergleichbar erscheint. Sonst heißt er auch Hütchen, ein bekannter Zwergenname, aus der Huttracht der Götter entnommen. Wie hier die Appenzeller-Besatzung vor dem Wälderma entläuft, so geschieht es der Basler-Besatzung in Aarau, da das „Aarauer Haldenthier" Abthl. VI., No. 244 erscheint. Ein gleicher Spuk wird aber auch den Aargauern selber nacherzählt. Im sogeheißenen Rapperswiler- und Arterkriege überließen sich am 2. Jan. 1656 die Zürcher Grenztruppen, die auf dem Bergrücken zwischen Reuß und Reppisch beim Aargauer Pfarrdorfe Oberwil aufgestellt waren, sorglos der Feier des Bechtelitages, dieses durch den ganzen Kanton als Freudenfest geachteten Tages. Schon war die feindliche Besatzung von der nahen Stadt Bremgarten herangerückt, um sie im nächtlichen Dunkel zu überfallen, als ein über die Straße laufendes Thier einen solchen panischen Schrecken erregte, daß Alles taub gegen die Vorstellungen der entschlossenen Führer davon eilte und die Zürcher gerettet waren. Meyer-Knonau, Schweiz. Erdkunde 2, 180. Die Ortssage erprobt ihre Schreckmittel gerne an den Fremden.

---

## 258. Das Reinacher Dorfthier.

In Leerau zeigt sich oft ein feuriger Hund und ein gespenstiges Gizzi. Beide sind ein und derselbe Dorfhund, der von Reinach über Gontenschwil und Rued hieher läuft. Als Hund kam's einst hinter einem Schnitter nach, der von der Sichellöse heimkehrte. Er lockte

Digitized by Google

denſelben und gab ihm ein Stück von den Küchlein, die ihm die Meiſterfrau heute zum Geſchenk mit eingeſteckt hatte. Nun wurde aber der Hund immer größer. Um von ihm loszukommen, wußte zuletzt der Mann kein anderes Mittel mehr, als ihm alle Küchlein auf einmal vorzuwerfen und ſchleunig zu entſpringen.

Dem Trottengeiſt in Frick No. 260 muß der Jäger das zum Luder für's Wild mitgenommene Schinkenbein, und dem Reinacher Dorfthier muß hier der Knecht die heimgetragenen Schnitterküchlein vorwerfen. Die Sage vergißt beizuſetzen, daß Jäger und Schnitter dieſes entweder zur Buße thun müßen, oder nachmals dafür um ſo wohlhabendere Leute werden, denn beide opfern hier dem ſogenannten Nahrungshund. Beiſpiele: die Hunde Hackelbergs und Herods kommen auf ein Jahr ins Bauernhaus gelaufen, laſſen ſich nicht mehr hinter dem Ofen vortreiben und werden dick und fett von lauter Aſchefreſſen. Folgendes Jahr, wenn ſie ihr W. Jäger wieder abgeholt hat, iſt ein ſolches Haus voll Milch und Butter. Hannoveranerſage in Wolfs Ztſchr. 1, 100. Sie legen dem Gutmüthigen einen Klumpen Goldes: Kuhn, Nordd. Sag. No. 2. Auf der Brünisried-Allmend, Kant. Freiburg, überraſchte der Nachtjäger den Peter Roth. Eine Menge Thiere kamen des Weges; darunter gefiel ihm ein kleines gefleckes Hündchen am meiſten. Er ſteckte es in die Rocktaſche, trug's heim und machte ihm ein Neſtchen auf der Ofenplatte. Als er aber am folgenden Morgen nachſah, fand er ſtatt des Hündchens nur einen Roßapfel im Lager. Küenlin, in Henne's Schweiz.-Bl. 1832, 2te Hälfte. Der Hundstrog an den drei Schlöſſern Wartenberg, bei Muttenz in Baſelland, wird ſchon 1444 urkundlich genannt; er hängt angeblich damit zuſammen, daß die Hunde täglich dorten die Speiſen auf die drei Schlöſſer hinauf tragen mußten. Lenggenhager, Schlöſſer in Baſelland, 250.

---

## 259. Das Duſſeli bei Moosleerau.

Das Duſſeli iſt ein kleines Hündchen, das ſich bei Gewittern häufig im Surenthale zeigt. Um Moosleerau ſieht ein Mann nach einem heftigen Regen zum Fenſter hinaus und erblickt ein Hündlein, welches er für das ſeines Nachbarn hält. Er ruft ihm „Duſſeli-du, dä!" allein das Thier entweicht, und da der nächſte Bach, über den es ſetzen will, eben zu breit angelaufen iſt, ſo ſchwillt es ſelbſt am Ufer zu einer ſchwarzen Mannsgeſtalt auf, geht in einem Schritte drüber weg und iſt da auf der ebenen Wieſe ſo plötzlich verſchwunden, daß des Bauern herbeigerufenes Weib ſchon nichts mehr davon zu ſehen bekommt.

Es iſt verführeriſch, in der Deutung des Namens Duſſeli Grimms Myth. 487 zu folgen, welcher die altn. Aſſimilation Thuſſ aus Thurs

Digitized by Google

(Riese) nachweist und den norwegischen und Salzburger Nachtgeist Thusselin und Tussel daran reiht, um dann beide auf den Riesennamen bibax zu beziehen, welcher als der weingierige Durst auftritt, gleichwie der Jöte der eßgierige Riese ist. Unsere Sammlung, Abthl. III., No. 140 weist auch wirklich diesen Riesen in dem Töst nach, jedoch nicht als esuriens, sondern als audax; unser Dürst als W. Jäger gehört zu turran und gaturstic, und stellt sich dar als der Erfrechte. Der hier vorliegende Name des Gespensterhundes Dusseli steht nach Form und Sinn zur selben Wurzel wie unser Dussel und dusseln (schläfrig, betäubt). Duseligs Getränke ist uns ein trübes unlauteres, düsig Wetter heißt in Lübeck eine neblige Witterung. Dusmig und düsmig ist bayrisch so viel wie matt, schwach, trübe. Die Bedeutung und Wurzel liegt also in unserem düster. Dosohrig ist oberdeutsch harthörig, taub, betäubt; Dußle ist schweiz. ein betäubender Schlag auf den Kopf. Daher heißt auch der Nachtgeist auf der Salzburger Alp Dusel. An die welschen Hausgeister Dusii zu denken, wie Mone, Gall. Sprache 185 thut, ist für unsern Zweck Verschwendung; gleichwohl entgeht mir nicht bei dem vorliegenden Hund, der mit einem Schritte über den breiten Bach steigt, die in Grimms Jr. ElfM. CIX. aus Ducange citirte Stelle über den die Kinder und Hausthiere schädigenden Wassergeist, welcher aquaticus vel dusiolus genannt wird.

---

## 260. Der Trottengeist in Frick.

Früher getraute sich kein Bürger bei Nacht in der Fricker Gemeindstrotte Trauben zu pressen. Denn die Alten berichteten von einem häßlichen hageren Manne, der dem Arbeiter Wasser in die Mostbütten schütte, das Preßbett falsch stelle, und jeden, der ihm dies wehren wolle, ungeschaffen mache, daß man ein Aussehen bekomme, wie eine aufgeblasene Kalbshaut. Jedesmal, wenn die Mutter von dem Ungeheuer erzählt, macht sie die Kinder auf dessen Gewalt aufmerksam, sich in alle möglichen Gestalten wandeln zu können, und ermahnt die Kleinen, wenn sie des Nachts etwa beim Krämer noch Kaffee holen, und also gerade bei jener Trotte vorbeigehen müssen, sich ja fleißig zu bekreuzen, damit ihnen der Geist kein Leid zufüge. Ich rede, spricht sie, aus einer traurigen Erfahrung! denn der Vater gieng einmal zur Nachtzeit aus dem Hause und eben auch an jenem Orte vorbei, ohne daß er sich mit Weihwasser besprengt hatte, da sah er den gefürchteten Geist in Riesengestalt herzutreten, in der Hand einen Spieß, einen Weidsack umgeschnallt und einen Dreiröhrenhut auf dem Kopfe. Der Anblick war so schreckhaft, daß der Vater in eine stundenlange Ohnmacht fiel. Als wir ihn fanden, war ihm der Kopf bis zur Größe eines Viertels angeschwollen, die Augen feuerroth aufgetrieben, und athmen mußte er, als läge der ganze Homberg auf ihm.

Digitized by Google

Aber nicht nur deshalb iſt der Geiſt gefürchtet, auch durch Stehlen ſetzt er die Nachbarn in Beſorgniß. So nimmt er im Sommer die reifen Kirſchen frech von den Bäumen, ſchüttelt im Herbſt die Birnen und nicht ſelten holt er dem Büchſenſchmied noch die Weihnachtsnuß aus der Obſtkammer; und was er dabei nicht ſtiehlt, das ruinirt er doch. Er wirft die Ziegel von den Dächern, würgt die jungen Hühner vor dem Fenſter ab, knickt die Pfropfſchößlinge, ſchlägt die Scheiben ein, macht die Schweine krank, und plagt das Vieh dergeſtalt, daß ſie in jedem Stall einen Schafbock halten müßen. Die Unterdörfer wollten einſt dem Uebel abhelfen und den Geiſt durch Kapuziner beſchwören laſſen. Allein dieſelben konnten ihm nichts anhaben, ſo ſehr Alles betete und ſo gut ſie ihn auch fiengen. Schon trugen ihn vier Männer auf einer Miſtbahre im Kupferkeſſel in den Wald. Betend giengen die Kapuziner dahinterher; als einer der Träger unter der immer ſchwerer werdenden Laſt leiſe zu ſeufzen anfieng: „Daß dich der ——!“ und wie vom Sturmwind ergriffen flog der Keſſel in die Höhe — wohin? weiß Niemand. Der Geiſt aber hatte wieder ſeine alte Wohnung bezogen und that nun ärger als zuvor.

Auf dem Schloſſe — ſo heißt ein Theil des Dorfes — gilt er auch als ein guter Wetterprophet, und ſo oft die Witterung ändern will, bläst er der Hebamme das Feuer auf dem Herd aus oder fährt brennend durch den Schornſtein.

Die Geſtalten, in denen er ſich heute noch am öfteſten zeigt, ſind folgende. Als rother Hund mit baumlangem Schweif kommt er mit großem Geräuſche durch den Bach herauf, hütet die Brücke und läßt niemand darüber, und verſchwindet dann unter der Laube eines benachbarten Hauſes, wo er überhaupt ſeinen Aufenthaltsort haben ſoll. Sein Herankommen gleicht dem von vier Pferden in der Schwemme. Ein andermal reitet im Heihalderbach ein Mann mit Degen, Dreiſpitzhütchen und einem langen Mantel auf einem Schimmel. Sein Weg geht immer im Bache von des Maurers Haus im Hinterdorfe bis hinab zur untern Trotte. Bei dem Hauſe an der Brücke reitet er dann wie ein wachhaltender Offizier auf und ab. Einſt gieng ein Jagdliebhaber Morgens vor Tag auf den Anſtand und kam auf ſeinem Wege hinter den Baumgärten des Dorfes an dieſe Stelle. Er ſchleppte ein großes Schinkenbein hinter ſich her, das er den Füchſen als Luder legen wollte. Hier ſtand er plötzlich vor dem Schimmelreiter, das Roß that ſo ungeſtüm und bäumte ſich, als wollte es ihn in die Erde treten. Der Reiter ſchwenkte plötzlich, und der Jäger kam mit dem bloßen Schrecken davon; aber ſein Schinkenbein hatte er in der Angſt verloren.

Digitized by Google

## 261. Dorfpudel in Wettingen.

Das Herrengäßli wird jener Theil des Dorfes Wettingen genannt, in welchem die Klostergeistlichkeit des zunächstgelegenen Stiftes Wettingen einige Häuser besaß. Hier hält sich der Dorfpudel auf, den man für den Geist eines Selbstmörders hält. Er läuft mehrere Wege, jedoch in sehr regelmäßiger Richtung. Er geht auf dem Fußwege im Bisang nach dem Wirthshaus zur Sonne, dann vom Steingäßli her am Abhange des Lägerenberges bis zur Neuen Trotte, endlich vom Ackerfelde Langenstein in die Landstraße. Von da aus läuft er gegen die Stadt Baden bis zur alten Brücke beim ehemaligen Kreuz, wo ein ähnlicher Nachthund mit ihm zusammentrifft, welcher von den Kleinen Bädern in der Unterstadt herkommt. Der Dorfpudel ist groß und schwarz und seine Augen leuchten.

Nicht mehr einig ist man über die Gestalt des Wettinger-Bachflotschi; er gilt jedoch auch für einen Hund, hält sich aber nur im Dorfbache auf und macht sich da durch Schnauben und Plätschern bemerklich.

---

## 262. Der Bergschwarz.

Zwei Brüder hüteten zu Birrwil einst in einer mondhellen Nacht einen Birnbaum, dessen reifende Früchte ihnen schon öfters gestohlen worden waren. Da erscheint der verstorbene Nachbar, Bergschwarz geheißen, und beginnt an den Marksteinen zu pickeln und zu rücken. Der ältere Bruder sieht ihn zuerst und sagt's dem jüngeren; kaum haben sie beide das Gespenst erblickt, so verschwindet es, und ein großer Hund springt so dicht an Beiden vorbei, daß er dem einen über die Beine gelaufen wäre, wenn er sie nicht eben noch an sich gezogen hätte.

---

## 263. Das Hölenthier bei Oberfrick.

Unterhalb der Gipf, einem Dorftheile der Gemeinde Frick, wohnt das Hölenthier und wird da manchen Leuten hinderlich, die über das Ebnatfeld gehen wollen.

Zur Zeit da die Schweden im Frickthale lagen, sollte eine Stafette vom obern Jura her nach Frick hinab ins Quartier Bericht bringen; beim untersten Hause in der Gipf angelangt, hielt der Reiter rathlos still. Hier scheiden sich die Wege, und noch dazu war es nicht Morgen.

Digitized by Google

Von der Scheune her hörte er aber den Schall eines geschwungenen Dreschflegels, er pochte also ans Thor und befahl zu öffnen. Als der Bauer mit dem Dreschflegel heraustrat, befahl ihm der Reiter, unverweilt sein Roß an den Zügel zu nehmen und mit ihm nach Frick zu gehen. Der erschrockene Bauer gehorchte. So kamen beide in der Dämmerung bis zu jenem weiten Graben unterhalb Gipf, den man Höle nennt, das ist Hohlweg, weil hier ehedem ein Karrweg durchführte. Hier machte sich damals schon das Hölenthier gefährlich, wenn man vor Morgenläuten passieren wollte; deshalb ließ nun der Bauer den Zaum des Rosses aus der Hand und trat zurück, um zu sehen, wie der Reiter über den verrufenen Platz kommen werde. Allein dieser vermuthete eine Arglist und es kam zwischen Beiden zum Streit. Da der Schwede drohte und zur Waffe griff, so schlug ihn endlich der Bauer mit dem Dreschflegel todt. Der Getödtete muß seither an dieser Stelle als ein Hund spuken, welcher Augen wie Pflugräder hat. Unbeweglich legt er sich quer über die Straße, damit man stolpere; schlägt man mit dem Stocke nach ihm, so setzt es einen geschwollenen Kopf ab. Er hat seinen Lauf von des Hegels Haus, gegenüber der Kapelle, bis zum Fußweg dahinter, und Hegels Mädchen, ein Fraufastenkind, hat ihn gar oft vom Fenster aus gesehen. Wenn unser Schneider vom Kornberg her Nachts diese Richtung heimwärts einschlug, so ist ihm sogar der Ellenstab unter dem Arm weggezogen worden. Der Geist erscheint auch als ein hagerer langer Mann mit einem breitkrempigen Wollhut auf dem Kopfe. Mit heftigem Windsgeräusch kommt er gegen die Leute hergefahren und nimmt ihnen den Hut vom Kopf. Von dem Helgenstöckli an, einem Wegkreuze, huckelt er ihnen auf und läßt sich bis ins Dorf tragen. Ein Frickerbauer, der etwas zu tief ins Weinglas geschaut hatte, forderte den Geist im Heimgehen heraus. Dieser erschien in Gestalt eines Geistlichen in einem langen Schwarzrock, das Läppchen um den Hals und einen Dreispitz auf dem Haupte, wie die Ortspfarrer im vorigen Jahrhundert einhergiengen. Unschädlich verschwand er sodann.

Auch der Erlisbacher Dorfhund ist ein gewesener Ortspfarrer (Abthl. III. No. 95.) Der Abt des Klosters Drübeck erscheint gleichfalls als grauschnautziger Hund. Pröhle, Unterharz. Sag. No. 230. Ueber diese „Hunde Gottes" vgl. Haupt Ztschr. 6, 117. Ein westfälisches Wort sagt: der Welthund ist überall. Wolf, Ztschr. 2, 99. Er gehört einem Schimmelreiter Weltsjäger. Meier, Schwäb. Sag. No. 125. So oft die weizende Herrenköchin, eine spukende Pfarrersmagd, den Leuten erschien, war's „ein schwarzer Pudel mit einem buttawinzigen weißen Brustfleck", ein Zeichen,



Digitized by Google

daß der Geist noch zu erlösen wäre. Leoprechting, Aus dem Lechrain, pag. 50. Vgl. die Alte Köchin, I. pag. 152 unserer Sammlung und ebenda pag. 214, die Scheckigen Geister.

---

## 264. Der Lädeligugger-Xaveri von Tägerig.

Vor mehr als einem Menschenalter wohnte zu Tägerig in den letzten Häusern, die an der Landstraße gegen Mellingen hin liegen, ein gar armer Mann. In seiner bittern Verlassenheit sagte er dem katholischen Glauben ab, ohne daß dieses sein wirklicher Vorsatz gewesen wäre, und ebenso, ohne es selbst zu wollen oder einzusehen, verschrieb er sich leichtsinnig dem Teufel. Der Schneidergeselle, der damals bei ihm zu Miethe wohnte, hat erzählt, wie dies zugegangen ist. Ein schwarzgekleideter vornehmer Herr, an dem außer einem krummen Fuße gar nichts auffallendes war, trat eines Tages in seine Stube. Er gab sich für den Geschäftsreisenden eines kaufmännischen Vereines von Zofingen und Basel aus, für welchen er in der katholischen Schweiz Subscribenten zu sammeln habe. Unter der Bedingung, daß man die Heiligen abschwöre, keine Messe höre, aber diejenigen Tractätlein verbreite, welche einem vom Vereine zugeschickt würden, ward einem jeden Antheilhaber ein entsprechender Wohlstand garantirt und dem Bedürftigen Unterstützung zugesagt. Der Reisende zog dabei ein Buch hervor und las daraus eine große Namensreihe besonders von reichen Zofinger-Geschlechtern ab, die alle längst Mitglieder dieser ausgedehnten Gesellschaft seien. Der arme Bauer merkte zwar, daß dies nur Namen von lauter Reformirten seien und kein Katholischer sich drunter finde, indessen werde, meinte er, was so vornehme Kaufherren vortheilhaft finden, auch einem gemeinen Manne behilflich sein. Und da von keiner weitern Einlage hier die Rede war, so nahm er jenes Subscribentenbuch und schrieb seinen Namen zu den anderen. Dafür bekam er sogleich zwei verschiedene Dinge in sein Haus, die er vorschriftsgemäß verwenden und behandeln mußte. Das erste waren die Bildnisse sämmtlicher Mitglieder des Vereines; er mußte sie zusammen in ein verschlossen gehaltenes Gemach hängen und täglich nachsehen, ob sich an keinem einzelnen Porträte etwas verändere. Denn ein solches Bild, dessen Farbe schwinde, bezeichne das dem Verein untreu werdende Mitglied, und jenes, welches gar zerreiße und verlöchere, künde des betreffenden Mitgliedes Tod an, welcher als Strafe der Untreue unausbleiblich erfolge. Zum andern bekam der Bauer ein eignes Thier ins Haus, welches der Geldschißer hieß und ebenfalls seinen eignen finstern Winkel in der Wohnung ange-

Digitized by Google

wiesen erhielt. Wie man den Legehühnern immer ein Ei läßt, so mußte man demselben alle Abende ein kleines Geldstückchen unterlegen, dann wuchs dies über Nacht zu einem ganzen Haufen gleicher Münzen an und man konnte sich alle Tage die Tasche füllen. Jedoch durfte man stets nur eine gewisse Summe und ja nicht alles zugleich dem Thiere wegnehmen, denn damit wäre dieses entkräftet worden und man hätte ihm sogleich selber nachsterben müßen.

So hielt es denn nun der Mann lange, beobachtete seinen eingegangenen Vertrag und lebte in Wohlstand. Allein späterhin erkrankte er an einem langwierigen und seltsamen Uebel, und ebenso eigenthümlich und geldfressend waren die Mittel, welche ihm die Aerzte dagegen verordneten. So mußte er z. B. tagtäglich zehen Pfund Anken aufessen, also einen ganzen Marktkübel, und dazu eine Flasche Leberthran trinken. Daß diese Quantitäten wirklich täglich ins Haus geschafft wurden und des Abends regelmäßig aufgebraucht waren, dies hat der Schneider selber bemerkt, der damals bei ihm in Miethe war. Allein der Kranke besserte sich nicht, er quälte sich vielmehr mit Vorwürfen, daß er von seinem alten Glauben abgefallen sei, und redete manchmal davon, wie er den ersten Tag seiner Genesung dazu anwenden werde, wieder in die katholische Dorfkirche zu gehen und eine Messe lesen zu lassen. Er kam jedoch nicht mehr aus dem Bette und entschloß sich endlich, an den Verein nach Zofingen zu schreiben und diesen um eine Pille gegen sein Leiden zu bitten. Indessen hatte man in Tägerig schon erfahren, in welchem Verhältnisse er mit den Stündlern in Zofingen stehe, man fieng deshalb die von dorther kommende Rückantwort beim Briefboten auf. Darin war dem Lädeligugger-Xaveri gemeldet, man werde ihm künftigen Freitag um drei Uhr die verlangte Pille überschicken, die so groß sein solle wie eine Bombe. Die Gemeinderäthe zerrissen hierauf diesen Brief und begaben sich am anberaumten Freitag in das Haus des Patienten. Er lag in der hintern Kammer und ließ niemand zu sich herein. Sie warteten also in der Stube bis um drei Uhr; da ließ sich plötzlich ein dumpfer Schlag hören, als ob in stundenweiter Entfernung ein Geschütz abgefeuert würde, und aus der Kammer her zugleich ein kurzes Geächze. Als sie hinein drangen, lag er getödtet im Bette, kein Tröpfchen Blut floß, aber Nase und Mund war zerschossen und das ganze Gesicht geschwärzt von Pulver. Zugleich saß unter der Bettstatt eine riesige Kröte und blieb so lange drunten, bis der Mann begraben war, dann marschierte sie in Gesellschaft eines unbekannten schwarzen Hundes ,der mit einem Male zum Vorschein kam, zum Haus hinaus. Nun läuft in der Häuserreihe, die nach Nesselnbach hinliegt,

ein ſchwarzer Hund mit blutrothen Augen durch die Gaſſe und weicht vor niemand zurück.

(Vgl. No. 267.)

---

## 265. Verſchiedene Dorfhunde. a — s.

a. An der Zurzacher-Straße beim ſogenannten Brünneli liegt Nachts ein gewaltiger Mann quer über den Weg; man muß über ihn hinwegſchreiten. Andere ſehen an der gleichen Stelle ſtockſteif einen Hund. Aber er und der Mann fahren krachend in den Wald hinein, ſobald man flucht. Man hat an dem einen rothe Strümpfe bemerkt, übrigens iſt er ſchwarz.

b. Am Grütt, nahe beim Schachen, wo der Waldweg nach Reckingen führt, hat eine Familie in der Einöde gewohnt; aber der furchtbare Lärmen eines Nachthundes vertrieb ſie; derſelbe liegt an der Kreuzlikapelle in Reckingen, und läuft des Nachts um die ehedem dazu geſtifteten Landgüter, welche Gotteshöfe heißen; er trägt einen beſonders großen Schinnhut, ſeine Augen glühen und ſind groß, wie ein Teller.

c. Letztes Jahr am Oſtervorabend waren zwei Burſche auf ihrem Heimgange nach Dettingen, als plötzlich der Dorfpudel zwiſchen ihnen lief, pechſchwarz, in der Größe eines Maſtkalbes. Aber am Steg, der über den Bach führt, mußte er ſie verlaſſen. Seinen gewöhnlichen Standpunkt hat er beim Nußbaum am untern Ende des Dorfes gegen Klingnau hin.

d. In Obermumpf heult der Angerhund; es ſetzt einen geſchwollenen Kopf, wenn man dabei zum Fenſter hinausſchaut. Der Schloßhund daſelbſt und in Münchwiler zeigt durch ſein heiſeres Bellen ſchlechtes Wetter an.

e. Der Dorfhund in Muri iſt der Schloßherr jener Burg, die im dortigen Heiterech-See (No. 19.) verſunken liegt; er läuft zwiſchen der Bächelematten und Täfelitanne im Tüfelsgäßli.

f. Der Dorfhund in Wohlen wirft auf einer Wieſe unterhalb der Isleriſchen Fabriken die Vorbeigehenden zu Boden.

g. Das Dorfthier zu Denſchbüren läuft in Hunde- und in Stiergeſtalt um und heißt Langböri. Beherzte Nachtwächter haben ſchon nach ihm geſchlagen, doch war's, wie wenn man in einen Aſchenſack haue.

Vgl. Müllenhoff, die aſchenfreſſenden Hunde der W. Jagd, und Kuhn über dieſelben, in Haupts Ztſchr. 6, 117. Lavater, Von Geſpänſten (Zürich 1578) Bl. 135 b.: Etwan hat einer vermeint, er habe vff das vnghür

Digitized by Google

ghauwen, da ist jm nit anderst gsyn, dann er habe in ein lind küsse gehauwen.

h. Straßenhund heißt auf der Kreuzstraße zwischen Aarburg und Zofingen jener Berner-Bauherr, der zur Anlegung der neuen Poststwege ins Aargau gesendet war und dabei die Bauern um ihre Grundstücke betrog. Jetzt zeigt er das schlechte Wetter an.

i. Der Bornhund läuft mit seinem W. Jäger und auch allein auf dem Bornberge und um Aarburg herum; er trägt ein Schellenhalsband und klingelt laut, wenn das Wetter wechseln will.

k. Der Baschishund in einem Hause zu Wallbach trägt eine rothe Mütze und soll ein heidnischer Edelherr sein, der hier die Kriegskasse vergraben. Einmal ist er auch als ein Jäger, den Federbusch am Hute, am Tage durch die verschlossenen Thüren des Hauses geschritten. Vgl. No. 155

l. Der schwarze Dorfhund in Tegerfelden kommt in der Sylvesternacht von der Schloßruine herab, bis zu des Ries Büngerte (Baumgarten) an der Surb; legt sich den Leuten mit den Vorderpfoten auf die Schultern und sprengt sie umher, bis sie halbtodt sind. Dem Wächter soll er zwar auch, aber schadlos nachlaufen, dieser muß jedoch das Ungethüm dann eine Strecke weit „chretzen", d. h. wie einen Tragkorb über die Achsel hernehmen. Er ist schwarz und trägt ein hochrothes Halsband. An Sommertagen badet er in der Surb beim Cheibengraben. Vgl. No. 167.

m. Eine allgemein giltige Redensart sagt „heulen wie ein Trübelhund." Es ist damit der gespenstische Hund gemeint, der allenthalben in den Weinbergen unter verschiedenartigen Namen haust.

n. Der schwarze Hund läuft zu genau bestimmten Fristen durch die Dörfer Stein und Möhlin nach Basel; er ist ein ehemaliger Fuhrmann.

o. Zwischen Obermumpf und Schupfart geht auch ein Thier, bald Hund, bald Katze, seinen geweisten Weg. Man heißt es die Rochelenmoor. Vgl. No. 89. Wenn es aber von der Bühlmatt zu Schupfart durch des Martinis Gaß und des Linggen Schopf läuft, hat es den Namen Pudelhund und Bachpflätschi. Ein solcher Pflätschi wandelt im benachbarten Dorf Hellikon bis zu des Baschis Haus. —

p. Das Jonenthier im Freienamte ist von vielfach wechselnder Gestalt und hält sich nicht blos im Jonengewässer, sondern überhaupt im oberen Freienamte auf. Es hat hervorquellende rothe Augen von besonderer Größe und sein Rücken ist blutunterlaufen.

q. Das Dorfthier in Kulm ist ein so geselliges, daß es die Leute in ihrer Behausung heimsucht.

Digitized by Google

r. Das Zofinger-Stadtthier ist ein Hund in der Größe eines Kalbes. Seine Farbe ist brandschwarz, seine Haare sind zottig und rauh, sie reichen bis zur Erde, das Rund seiner Augen gleicht einem glühenden Teller. Er läuft in den heiligen Nächten von der Oberstadt hinab über den Kirchhof zur Kellnerei. Wer ihn erblickt, bekommt einen gedunsenen Kopf, wer ihn streift, ein böses Bein.

In Niederwil im Wiggernthal wird dieser Hund das Mätteli-thier und Rollenthier genannt. Er streicht auf dem nächsten Bergrücken bis zum Hölzli, und bei einem dortstehenden Hause steckt er seinen Kopf in die Küchenthüre hinein. Im Walde von Ryken nach Niederwil läßt er sich in Begleitung eines Herrn und einer Dame sehen. Man darf nicht nach ihm deuten. Einem Manne erlahmte in dem Augenblicke der Arm, als er die Hand gegen die Matte hin richtete und zu seinem Begleiter sagte, dorten hat gestern der Mätelihund gebrüllt. Sein Name verräth Zusammenhang mit dem reichen Schloßvogt Metteli, No. 131.

s. Der Bachpfaddli, auch Bachpflotschi geheißen, läuft zwischen den Frickthalerdörfern Wölfliswil und Oberhof und hockt unter dem dortigen Brücklein. Wer da Nachts darüber geht, sieht oft statt seiner, zwei Mädchen drunten im Wasser sitzen.

Wart, es steigt der Blutschik (der Blutschige) herauf! so warnt man in Tirol die Kinder vor dem Spielen am Wasser (Wolf, Ztschr. 1, 237. No. 25.); also ist derselbe „pflotschende" oder plätschernde Wassergeist damit gemeint.

Zwei Geisterhunde hüten nach indischem Glauben die Todtenbrücke Cinvat und begleiten den Todesgott Yama (Spiegel, Avesta 1, 192), sie sind vieräugig und buntscheckig. Ebenso benimmt sich der Trottengeist in Frick No. 260 als rother brückenhütender Hund. Der Vogt von Andermatt prellt den Teufel, der ihm die dreizehnte Brücke (die jetzige Teufelsbrücke) über die Reuß geschlagen hatte, damit um die erste hier passierende Sennenseele, daß er einen rothen Hund, dem er einen Kupferkessel (Käsekessel) an den Schwanz gebunden hat, zuerst hinüber jagt. Den anschwellenden Bach in einem Schritte überschreitend zeigt sich das Hündlein Dusseli. No. 259. An der Runse (Wildwasser) in Hätzingen spukt das Landesgespenst der Rufelihund, ein gräulich Unthier mit zerbrochener Kette. Blumer-Heer, Kant. Glarus, 316.

## 266. Die Störche zu Veltheim.

Wer den heiligen Störchen und Rauchspiren Leides thut, der lebt nicht lang und kommt einst zu unterst in den Rollhafen. So wissen auch die Störche bei ihrer jährlichen Wiederkehr genau, ob derjenige noch am Leben ist, der ihnen in frühern Jahren Gutes oder Böses

Digitized by Google

gethan. Regelmäßig mit Petri Stuhlfeier (22. Februar) erſchienen die Störche ſonſt zu Veltheim und niſteten. Da geſchah es, daß ihrer einer auf den benachbarten Schloßwieſen zu Wildenſtein herumlief und drüber vom dortigen Lehensbauern geſchoſſen wurde. Im Dorfe hatte man großen Abſcheu vor dieſem Frevel und um ſo eher merkten ſich die Leute Tag und Jahrgang dieſer Begebenheit. Petri Stuhlfeier kam wieder, ein ganzer Sommer gieng vorbei, ſo vergiengen zehn Sommer; nie mehr hatten ſich ſeitdem die wohlbekannten Störche hier wieder blicken laſſen. Da ſtarb im zehnten Winter jener neidiſche Schloßbauer, und mit nächſtem Jahre waren auch die alten Dorfſtörche wieder da. Und man ſagt, daß von da an alle Abende die Kinder dorten auf den Kirchhof gegangen ſeien, um die Thiere noch zu Nacht beten zu hören. Reime im Aarauer-Tagblatt (1855 No. 50) lauten darüber:

All Johr am Petri Stuehlfier-tag,
zwor mängist nit grad ûffe schlag,
do chunnt, er blibt üs gwüss nit ûs,
en gast und suecht zum stuehl es hûs.
er luegt de winter a und seit,
obs pfingsten ist, bist z'bode gleit!
do butze d'schwälmli d'nestli ûs,
d'ambeissli flicke flink am hûs,
und d'lerche juble, 's girt der spier,
vor lûter freud und früehligs-fier.
blos d'möntsche luege nidig dri,
as gäb's für sie kei sunneschi,
es b'reicht 'ne's nüt noh ihrem schnitt,
sie singen eusem herrgott nit.
drum glaubt der storch, sie chnüble dra:
wie jeder All's chönn einzig ha.

Wenn das Storchenpaar ſein friſches Neſt bezogen hat und brütet, erſcheinen oft noch ein bis zwei Paare fremder Störche, welche dasſelbe Neſt gleichfalls in Anſpruch nehmen wollen. Dann ſind die Neſtſtörche genöthigt, zu faſten, und müſſen wie Belagerte eine Hungersnoth aushalten, wenn ſie nicht während des Ausflugs ihren Wohnſitz an den Feind verlieren wollen, der ihn tagelang ſcharf bewacht. Als in Baſel ein gleicher Neſträuber den Storch auf dem dortigen Rathhauſe bedrängte, ſtieg ein alter Rathsherr zuoberſt auf die Zinne hinaus, und ſchoß den Eindringling mit einem Piſtol zuſammen. Er wollte, ſagt man, damit nicht nur dem gekränkten Rechte Beiſtand leiſten, ſondern, wird hinzu geſetzt, auch den Mitbürgern beweiſen, daß in dieſer Stadt die Todesſtrafe, die auf vorſätzlichem Mord ſteht, nicht ſo leicht abgeſchafft werden ſolle. Man

Digitized

ſah einſt im Aargauer-Wynenthal, wie einer der Belagerer nach mehrtägigem Zuwarten ſich in die Luft ſchwang und mit Macht auf den Neſtſtorch herabſtürzte. Dieſer aber war bereits in Poſition, um gegen den Angreifer einen kunſtgerechten Fechterſtoß zu führen. Der Getroffene ſtürzte vom Dach, brach ſich den Flügel und mußte unten auf der Gaſſe bald verenden. Ein andermal waren die Angreifer zu viert. Der Schauplatz war das Dorf Veltheim bei Schinznach. Schon tagelang hatte der ungleiche Kampf gedauert und die Neſtſtörche waren nahe daran zu unterliegen. Die ganze Dorfſchaft war in Aufregung. Da holte die Storchenpolizei noch rechtzeitig eine Flinte; ein Schuß, und dem Streite war ein Ende gemacht. In einer benachbarten Matte wurde nachher einer der Angreifer todt gefunden. Die Befreiten waren dankbar und das Flintenfeuer verſcheuchte ſie nicht. Ganz anders aber nahmen ſie daſſelbe im Frickthaler-Dorfe Eicken. Seit mehr als zwanzig Jahren ſchon hatten ſie auf dem dortigen Thurme geniſtet. Als aber vor etwa drei Jahren ein neuer Pfarrer ſeinen Einzug hielt und bei dieſer Gelegenheit aus Flinten und Böllern ſtark geſchoſſen wurde, warfen die Störche ihre Eier aus dem Neſte und zogen fort. Man machte ihnen ein neues Neſt, allein ſie ſind ſeither nicht wieder gekommen. — Ein Schöftländer-Bauer wünſchte zu erfahren, wohin der ihm benachbart bauende Storch regelmäßig ziehe; er hieng ihm alſo einen Zettel um, auf dem die Bitte ſtand, man möchte anderwärts gleichfalls darauf bemerken, in welchem Lande das Thier zu überwintern pflege. Als der Storch wieder erſchien, war auf dem Zettel zu leſen:

Ei ei, du G'wundersmâ,
In Ostindia
Uf eme Schuehmachershûs!

Der Storch iſt ſelbſtherrlich und will durch Niemand in ſeinem Hausregiment überwacht ſein. Dies erfuhren die Brugger. Sie hatten ſich längſt gewünſcht, von ihrem Kirchthurme herab das Geklapper niſtender Störche ebenfalls zu hören, gleichwie es ihrem Nachbarſtädtchen Lenzburg zu Theil wird. Sie beorderten deshalb den ſtädtiſchen Baumeiſter, ein Rad auf den Kirchthurm zu ſetzen; und ſiehe, das nächſte Jahr baute wirklich ein Storchenpaar auf dem Rade. Allein es kam ein neuer Baumeiſter ans Ruder, und dieſer, der es noch beſſer machen wollte, ließ bei Renovierung des Kirchendaches auch das Rad darauf ſäubern und hübſch anſtreichen. Aber nächſten Sommer flogen die Störche eben ſo hübſch an Brugg vorbei.

Wenn die Frickthaler-Störche ſich an Maria Geburt, 8. Septbr., zum Fortziehen ſchaaren, ſo haben ſie ihren Sammelplatz auf dem

Digitized by Google

Weiherfeld bei Rheinfelden, ebenso auf dem Haltingerfelde im Badischen, benachbart bei Basel. Hier sieht man sie den Zug anordnen, „Musterung halten", die Paare abzählen und dabei „welschen", d. h. so laut klappern, daß man sein eignes Wort nicht mehr versteht. Bleibt bei dieser Anordnung ein ungerader übrig, „der keinen Gespan findet", so ist ihnen dies ein Zeichen, daß er wegen ehlicher Untreue allein stehe. Dafür zieht ihn das Storchengericht zur Strafe und das Urtheil wird auf der Stelle vollstreckt, indem ihn der Storchengeneral mit dem Schnabel ersticht. Vor Jahren wurde auch auf dem Sißlerfelde ein solches Gericht über ein Storchenpaar abgehalten, das sich nicht vertragen konnte, dabei wurde Männchen und Weibchen hingerichtet; man soll daselbst jetzt noch zuweilen solche durch Schnabelhiebe getödtete Störche finden.

Als in Säckingen, gegenüber am badischen Rheinufer gelegen, vor einigen Jahren ein Bürger Namens Storch starb, sollen gegen vierundzwanzig Störche in das Städtchen geflogen sein; während der Mann zu Grabe getragen wurde, saßen sie auf dem Kirchthurme und klapperten. Da der Storch sehr vieles weiß, was die Leute Unwahres ihm nachsagen, so begiebt er sich selten auf ein solches Haus, in welchem ihm mißgünstig Gesinnte wohnen; aber er stellt sich ihnen manchmal gerade vor dem Haus auf, und dann entsteht ein Sturmwind, der das ganze Strohdach abdecken kann. Da er zugleich der Kinderbringer ist, so rächt er sich an seinen Feinden auch dadurch, daß er ihnen ein ungestaltetes, oder gar ein schon gestorbenes Kind aus dem Teiche herausholt. Man erzählt, die Störche hätten in der Stadt Lenzburg sowohl, wie auch im Ruederthal und im Uerkenthale ein eignes Stipendium besessen. Ein Mann im Dorfe Kölliken hatte eine so große Liebe zu diesen Thieren, daß er bei seinem Tode ihnen ein Legat testamentlich aussetzte, aus dessen Zinsen diejenigen, die im Frühlinge verfrüht ankamen und zum Froschfang noch kein offenes Gewässer finden konnten, mit Fleisch gefüttert wurden. Das Storchenstipendium im Dorfe Schöftland schreibt man einer Burgfrau von Rued zu. Diese hochbetagte Wittwe wohnte allein in ihrem Schlosse; Knecht und Magd schliefen entfernt von ihr, im Oekonomiehause, das unten am Schloßhügel stand. Plötzlich brach einst Nachts Feuer bei ihr aus, und niemand sah's und weckte die alte Frau. Da kam der Schöftländerstorch vor ihr Fenster und pickte so lange, bis sie erwachte und noch rechtzeitig sich rettete. Da sie kinderlos war, setzte sie ihn zu ihrem Universalerben ein. Er soll täglich ein Pfund Leber oder Gelüng zum Leibgeding gehabt haben.

Digitized by Google

Ueber unsere an den Storch sich knüpfenden Landesbräuche erklärt sich die Schrift Aargau. Kinderlied, No. 170. — Während der Kirchenversammlung zu Basel 1431 schreibt Aeneas Sylvius, nachheriger Pabst Pius II, von dorten: die Basler sagen, wenn man den Störchen ihre Jungen nehme, brächten sie Feuer ins Haus. Basl. Neuj.-Bl. 1825, 20.

## 267. Die Alrune und der Schneider.

Die Alrune, so sprach der Rheinfeldener-Kapuziner zu einem armen Schneider, ist ein wunderliches Thier, das Nachts mit Rollaugen umläuft. Wenn du dir aber meine Vorschriften merkst, so kannst du es leicht fangen und brauchst dann weder am Tage Hosen zu bletzen, noch Abends erst Mist zu stehlen, um deinen kleinen Acker düngen zu können. Aber ihr selbst mußt du hübsche Kleider machen und alle Tage frisch anlegen. Dies ließ sich der Schneider nicht zweimal sagen, und lauerte gleich in der ersten Nacht bis zwölf Uhr auf dem Kreuzweg. Das Thier erschien. Zwar paßte es nicht genau zur Beschreibung des Kapuziners und glich, wenn man die funkelnden Augen des unbegreiflichen Kopfes übersah, nur einem mittlern Haushund. Um so geschwinder gieng der Schneider auf das Glücksthier los, packte es in seine Hutte und warf es daheim in den Geisenstall; aber ehe er wieder zuschloß, legte er ihm den einzigen Sparthaler sorgfältig unter den Bauch. Er konnte den Morgen nicht recht erwarten, und war kaum wieder in den Stall getreten, als er statt des einen nun hundert neue Thaler auf der Streue fand, dem gestrigen ersten haargleich. Schnell raffte er die Thaler alle zusammen, kaufte den an sein Rübenfeld stoßenden Acker des Nachbars um hundert und einen Thaler, und morgen, dachte er sich, wenn ich den Stall wieder aufgemacht habe, zahle ich ihm die daran grenzende Wiese dazu. Der Morgen kam, der Alraun lag geduldig auf der Streu, aber nicht ein einziger Thaler dabei, kein Rappen war zu sehen. Der Schneider hatte den erst gelegten Thaler zu behalten vergessen, nun war dieser ausgegeben und die Zauberkraft des Thieres mit versiegt. Was war zu thun? Er holte seine Hutte, trug das Thier in den Wald zurück und sprang heim, um sein neues Feld schnell wieder zu verkaufen. Allein nun schwanden nicht bloß die hundert Thaler, sondern der Schneider wurde noch viel ärmer, als zuvor, und seit man ihn bei der letzten Hungersnoth begraben, sieht man auch den Alraun stets bei seinem Todtenkreuze liegen.

Digitized by Google

## 268. Die Alrune zu Buckten.

Zu Buckten in Baſelland wohnte ein Ehepaar, das nur zum Schein poſamentirte, denn dieſe Leute konnten ganz aus ihren angelegten Kapitalien leben. Gleichwohl begriff niemand, wodurch ſie ſo reich geworden waren, und man erzählte ſich, der Mann müße eine Alrune beſitzen, die ihm alle Tage einen Thaler lege. Deswegen habe er wohl ſeinen frühern Wohnort zu Rümlingen verlaſſen, um ſich von dem verfluchten Thiere dorten loszumachen, nachdem er reich genug geworden war. Als er aber das erſte Mal in ſeinem neugekauften Haus zu Buckten ſchlief, da ſei ein ſtarkes Sauſen durch das Thal gegangen, und ein alter Mann habe geſehen, wie die Alrune zu einem Mauerloch in die friſchbezogene Stube hinein geflogen ſei. Ein Vogel ſei's geweſen mit grünen ins Goldgelbe ſpielenden Flügeln; aber über den Augen ſei ein blutrother Kamm geſeſſen. Als der Mann ſtarb, ſoll er beſonders ſchlechtes Wetter zur Reiſe in die andere Welt gehabt haben, und ſein Weib haben die Läuſe gefreſſen.

Hier iſt der Alraun als Vogel gedacht, mit Feueraugen und rothem Kamm (über die Farbe der Geiſtertracht vgl. Anmerk. Abthl. III, No. 166 a). „Die Alrune des Schneiders" hingegen iſt nur ein gewöhnlicher Haushund. Daß man ihn baden und mit einem Mäntelchen bekleiden muß, iſt bekannt, und ſtützt ſich ſchon auf den Götterdienſt, den uns Tacitus vom Nerthuscultus erzählt. Einen ſolchen Alraun hat auch Koſchewitz im Hauſe, Abthl. IX, No. 371: drei Vögel, die ſchwarz, weiß und grün gefiedert, ihm zumal dienen. Auch der Weizen-, Korn- und Gerſtendrache iſt ein Vogel und zündet das Haus an, wenn man ihn nicht mehr füttert. Firmenich, Völkerſtimm. 2, 309. Vgl. Grimm, Myth. 1153.

Der Hinkende Bote, ein Berner-Kalender v. J. 1753, fügt einer Erzählung über dieſen verbreiteten Volksglauben die Bemerkung bei: „Man glaubet nicht ohne Grund, daß mit denen Alraunen noch etwas aus dem finſtern Heydenthum herkomme; dann die Teufels-Prieſterinnen bei denen alten Teutſchen Alraunen genennet wurden, weilen ſie durch Raunen und Murren ihre Antwort gaben.

---

## 269. Der Bauer Riesli.

Rüßli und Riesli nennt man im Lande die letzten und kleinſten Verzweigungen der künſtlich angelegten Waſſergräben, durch die das befruchtende Waſſer über Wieſen und Matten hingeleitet wird. Eben ſo nannte man ſchimpfweiſe einen Dätwiler-Bauern, der bei dieſer landwirthſchaftlichen Arbeit ſich nie genug thun konnte und es mit den nachbarlichen Grenzgräben, die man Eh-Riesli nennt, gar nicht genau nahm. Der Name paßte auch noch deshalb beſonders auf ihn, weil

Digitized by Google

er mit seinem Eheweibe in stetem Unfrieden lebte und immer neue Ursachen zu finden wußte, sich mit ihr herum zu zanken. Zuletzt, da er einmal in ärgerlicher Stimmung von Baden heimkehrte und wieder von dem losen Maule der Frau übel empfangen wurde, brachte er das Weib um und erhieng sich selbst. Sobald man nun seine Leiche aus dem Hause trug, schoß ein großer schwarzer Vogel mit heraus und schwebte den nahen Weihern zu, welche zwischen Dätwil und der Stadt Baden liegen. Sogleich fiengen die Wellen an, unruhig zu werden, und wenn diese nun sich trüben, so meint das Volk noch, dies thue Riesli.

Der verwünschte Bauer scheint seinen Namen von den Wässerungsgräben des Mattlandes zu tragen, welche man Rues, Rüß, Reuß und Riesli nennen hört; auch das lat. rivalis hat darnach ähnliche Begriffsanwendungen von Bewässerungs-Streitigkeiten erhalten: Pott, Etym. Forsch. 2, 83. Die hier mitgetheilte Sage wird im Spessart als ein Criminalfall geglaubt, und derselbe wird in Bumüllers Lesebuch für katholische Volksschulen (Freib. i. Breisgau 1852) 4, 16 neuerdings mitgetheilt. Die in Vogelsgestalt ausfahrende oder geistende Menschenseele wird Abthl. V, No. 208 Anmerk. besprochen; hier folgen noch einige Zusätze über die gefiederte Seele des Verdammten. In Gestalt eines Vogels ruft der Missethäter im Bruderholze bei Basel: o ewig, wie ist das lang! Als ein Vögelein mit blutrothen Füßen erscheint bei Kyburg an der Töß die Kindsmörderin: Alpenros. 1812, 298. Die alten Jungfern läßt der Volksscherz in Kibitze verwandelt in eignen Sumpfgegenden auf dem Giritzenmoos fortleben, von welchem Abthl. I, No. 34, Abthl. VI, No. 250 wiederholt die Rede ist. Eben dahin gehört der Glaube, daß das Wilde Heer aus einem Flug schnatternder Raubvögel und Wildgänse bestehe, Abthl. III, No. 80. Es wird so die Seele des Menschen zur Taube, No. 272, oder zur Nachtigall, I, pag. 231. Namentlich letztere ist der Vogel der Erlösung und Seligkeit; er beruft auch die Schlüsseljungfrau, No. 167, wiederholt aus ihren Gesprächen mit den Menschen ab. In Bayern hört man Leute auf dem Lande sagen, wenn sie lebenssatt sind und ihres Siechthums los zu sein wünschen, „wenn nur die Nachtigall käm' und thät uns auflösen!" Auch ruft man gern die Mutter Gottes darum an, sie möchte die Nachtigall schicken und den Kranken zeichnen zum Leben oder Tod. Leoprechting, Lechrain-Sag. pag. 79. Die bösen Menschen aber werden zu verwünschten Raben. Die Kaiserchronik, ed. Diemer, sagt von Neros Tode: die tiuvel komen dar mit ainer micheln scar in swarzer uogele pilede. Dieser verwünschte Vogel wird dann zum anklagenden, die Unthat meldenden und rächenden. Nach indischem Glauben sitzen auf jedes Menschen Schulter zwei unsichtbare Wesen, seine Thaten zu betrachten und einstens bei Gottes Gericht zu melden. Wolf, Beitr. 1, 27. So sitzen die Raben Huginn und Muninn, Gedanke und Erinnerung, auf Odhinns Schultern, so flattern Rothbarts Raben um den Kyffhäuser, Meinrads Raben verrathen im Wirthshause zum Raben in Zürich die dahin von Einsiedeln entflohenen Mörder, und auf der Schulter der Schüsseljungfrau von Tegerfelden sitzt gleichfalls ein solcher Vogel (Abthl. IV, No. 167). Nach altarabischem Glauben, den

Digitized by Google

Mahomed verbot, wächst aus dem Kopfblute schuldlos Erschlagener der Vogel Ham und schreit nach des Mörders Blut. Daumer, Alterth. I, 46 (Nürnb. 1833), führt hierüber andere entsprechende Beispiele an. Es kostet dir dein Leben, ruft im KM. 58 der Sperling so lange, bis seines Bruders Mörder todt ist. Träume von Vögeln gelten uns für unglückskündend, wie schon in den Nibelungen 1449; unser Abgl. sagt: Ist dir ein Liebes in der Fremde gestorben, so pickt dir ein Vöglein ans Fenster.

## 270. Das Elsterngeschrei.

Wenn die Elstern wiederholt um einen herum rätschen, so muß man beten, denn es steht einem dann jedesmal Schlimmes bevor. So pflegte die Frau des Urban Waldmaier in Münchwiler anzufangen, wenn sie auf eine ihrer Hauptgeschichten überspringen wollte, welche also lautet:

An einem Sommernachmittag arbeitete sie im Weinberge, als eine Elster wiederholt herauf geflogen kam, sich auf den nächsten Rebstecken setzte und sie heftig anschrie. Das Weib wußte wohl, daß es in einem solchen Falle das Beste sei, ein Ave Maria im Stillen herzusagen, um damit ein drohendes Unheil noch abzuwenden; als aber die Elster darauf neuerdings schreiend zu ihr kam, erschrak sie, packte zusammen und eilte heim. Auf dem Wege zu ihrem Hause trifft sie auf den Buben, ihren jungen Dienstknecht, der mit den Ochsen eben vom Heuhaus ab dem Berge hergefahren kam und so verdattert und blaß aussah, als ob er noch vom größten Elend befallen wäre. Jetzt war die Geschichte nicht mehr zu verheimlichen, und der Bub mußte ihr alles haarklein erzählen. „Als wir, sagte der Bub, unsern Wagen voll Heu droben in des Chrumben Scheune einfahren wollten, in die es so jähe durchs Thor hinaufgeht, stellt sich der Meister, während ich vorne die Stiere antrieb, an den Wagen zwischen die Räder, um durch Lüpfen nachzuhelfen. Im Sprunge gieng's jetzt durch die Einfahrt hinein; der Meister aber kam dabei so enge zwischen das Wagenrad und die Steigleiter der Obertenne, daß er in der nächsten Minute an der Futterwand wäre erdrückt gewesen, wenn die angetriebenen Stiere nur noch einen Ruck weiter vor gethan hätten. Das sah der Chrumbe, der an beiden Füßen lahm, auf seinen zwei Krücken hinten in der Scheune stand. Schnell gab er den Stieren einen solchen Treff mit der Krücke auf die Schnörren (Vorderkopf), daß sie in diesem entscheidenden Augenblick wie angenagelt stehen blieben. Gottlob, dem Meister ist nichts geschehen und das Heu ist nun auch unter Dach!"

Digitized by Google

## 271. Das Erhängen-spielen.

Man sagt, jedem, der sich erhenkt, spiele der Teufel auf; ja ein wieder vom Stricke Geschnittener soll seine Retter arg geschmäht haben, denn so lustig habe er sein Lebtag noch keine Tanzmusik gehört. — In Würenlos liefen die Buben des Dorfes müßig auf der Weide herum und beriethen sich, welche Spiele bis zu Ende des langen Tages etwa noch zu machen wären. Da ihnen kein neues einfiel, so sollte nun derjenige, welcher in allen vorigen stets verloren hatte, zur Spielstrafe sich eine Zeit lang aufhängen. Er willigte ein unter der Bedingung, daß man ihm, sobald er die Füße schlenkern lasse, gleich helfe, bestieg den nächsten Weidenbaum und ließ sich mit der Geißelschnur an den Ast knüpfen. Im gleichen Nu rauschte ein prächtiger Vogel mit schimmerndem langem Gefieder aus dem Weidenbaum auf, und während die ihm nacheilten, die ihn zuerst gesehen, vernahmen die andern eine so verführerisch lockende Musik, daß auch sie zusammen der Gegend zueilten, von welcher der Ton herüber zu spielen schien. Als beide Haufen enttäuscht wieder zur Weide zurückkamen, hieng ihr Kamerad völlig erstarrt an der Geißelschnur.

Vgl. No. 287. Das Erhängen am Strohhalm ist eine weltalte Sage, weil dem Stroh dieselbe magische Kraft zugeschrieben werden konnte, die man in Korn, Aehre und Brod versetzte. Der Strohhalm, das Schwächste, wird deshalb zu einer Wirksamkeit erhoben gleich dem Stärksten, gleich der goldenen Kette des Zeus bei Homer, an die sich alle andern Götter hängen können, ohne daß sie reißt. Vgl. Anmerk. No. 84. — In Grimms altdän. Heldl. pag. 394 sagt der ausfordernde Held:

> Ich setze davor Stamm und Stang, darzu einen Balken dick:
> Nicht ist geboren der Mann vom Weib, der's mit Händen wegrückt.
> Da war kein anderer Balken dick, den vor der Thür gerichtet er ließ,
> Das war eine Strohgarbe, leicht und weich.

Deshalb scheint der Strohhalm, den des Zauberers Hahn trägt, den Zuschauern ein übergroßer Wiesbaum zu sein; darüber erzählt auch unsere Legende No. 471: das wirksame Stroh. Deshalb wandelt sich Here und Toggeli in Strohhalm und Aehre. In Haupts Ztschr. 7, 477 berichtet Grimm über eine ähnliche nordd. Sage und fügt die altgriechische aus Athenäus 4, 42 bei, die dem alexandrinischen Seleukus nacherzählt ist; auch der untergelegte Stein und das Messer zum schnellen Abschneiden des Erhängten fehlen hiebei nicht. Versionen hierüber finden sich: Meier, schwäb. Sag. No. 45. 189. Panzer, bayr. Sag. 2, No. 244. Tettau-Temme, preuß. Sag. No. 94. — Ein Sturmwind, statt einer lockenden Musik ist es, der im Bayrischen die Kinder beim Erhängenspielen vom Spielplatze vertrieb; doch wird dorten der Kamerad noch rechtzeitig vom Stricke abgeschnitten und ist gegenwärtig Soldat. Leoprechting, Aus dem Lechrain, pag. 103.

Digitized by Google

## 272. Die untreue Magd zu Laufenburg.

In Laufenburg war vor langer Zeit eine arbeitsame Magd bei einer reichen Wittwe in Dienst. Die Frau suchte seit ihres Mannes Tod ganz den stillen Tugenden der Mildthätigkeit zu leben und ließ reichliches Almosen durch ihre Magd vertheilen. Allein die Haushälterische gab die schöne Spende nicht an die Dürftigen ab, sondern behielt das Meiste zurück und bewahrte es in einem geräumigen Kasten auf. Wie aber erschrak sie einst, als sie darinnen statt ihrer Geldstücke eine Menge Kröten und Nattern gewahrte! Da rief ihr zugleich eine Stimme zu, daß sie noch bei lebendigem Leibe in diesen Kasten versperrt und von diesen Thieren verzehrt werden solle. Die Magd starb eines unbekannten Todes. Als nach langen Jahren die Erben jener Wittwe den Wandschrank öffnen ließen, flog eine weiße Taube daraus hervor.

Die reiche Frau in Apenrode war eben so geizig, als ihre Magd mildthätig; um nun die Herrin nicht aufzubringen, reichte die Magd den Armen das Almosen durchs Gossenloch und erhielt dafür allen Gotteslohn. Als dann die Frau gestorben war, mußte man ihren spukenden Geist aus dem Hause wegfahren in das Kibitzbruch (Giritzenmoos). Pröhle, unterharz. Sag. No. 125. Unsere Erzählung kehrt das Verhältniß um; da die Frau um den Gotteslohn gebracht wird durch die Unterschlagungen ihrer Magd, so ist der erstern Seele in jenem Schatzschranke zurückgehalten und kann erst später einmal als Taube erlöst daraus hinwegfliegen. Dieses Sinnbild der Seele ist nicht bloß christlich. Als aus dem Grabe der Ktesylla auf der Insel Keos eine Taube flog, erbaute man auf des Orakels Geheiß der Aphrodite Ktesylla einen Tempel. In Taubengestalt erscheinen homerische Göttinnen, Il. 21, 493. Die Langobarden setzten hölzerne Tauben auf einer Stange auf die Gräber und ließen sie nach der Richtung blicken, in der das Grab eines in der Fremde Verstorbenen lag. Außerhalb der Stadt Ticinus hieß ein Ort um deswillen Bei den Stangen, und dorten gründete die Königin Rodelinda eine Marienkirche. Paul. Diacon. langob. Gesch. 5, 34.

---

## 273. Die Krötenthaler zu Veltheim.

Eine junge Frau von Veltheim fand bei einem Wassergraben einen ganzen Haufen Thaler. Schnell, wiewohl nicht ohne Befremden und Furcht, las sie dieselben in ihre Schürze, trug sie heim und leerte sie vor ihren Verwandten aus, die bei diesem Anblick heftig erschraken. „Jesus Maria — sagte die Mutter — was bringst du uns da!" Ich habe es ja alles gefunden, sagte tröstend dagegen die junge Frau. Ihr Mann wollte eben anfangen, die Thaler zu zählen, da verwandelten sie sich alle in lauter häßliche Kröten, und bis heute hat man diese nicht mehr aus dem Hause bringen können.

---

Digitized by Google

## 274. Kröten in Goldstücke verwandelt.

So oft der Fuhrmann Peter Schmied von Laufenburg nach Basel zu fahren hatte, und das geschah jede Woche, lag ihm sein Weib mit der Bitte in den Ohren, ihr doch einmal ein Marktgeschenk mit heim zu bringen. Er war aber gar kein gefälliger Ehemann und hielt auf diejenigen Liebhabereien der Frau am allerwenigsten, die seine Kasse anstrengten. Endlich sagte er doch zu, als man ihm seine eignen Wirthshausschwächen und die Drohung zu hören gab, daß man ihn das nächste Mal, wenn er sich wieder so lange beim neuen Weine versäume, gar nicht mehr einlassen werde.

Solche deutliche Erklärungen hatte es denn schon öfter abgesetzt, aber noch immer war der Marktkram nicht eingekauft. Eben befand sich unser Schmied auf seiner neuesten Rückfahrt nach Laufenburg, und wiederum nur verspätet erreichte er jetzt Sisselen. Es war eine mondhelle Frühlingsnacht und jedes Blatt am Boden zu erkennen. Da sah er am Kreuzwege beim Dorfe eine ganze Partie Frösche rastlos auf so schmalem Raume durch einander hüpfen, als ob man sie dazu dressirt hätte. Wie die Gedanken sonderbar laufen, so schien ihm zwar diese große Menge von Thieren in so bestimmter Grenze wohl wunderlich, aber erst jetzt auch erinnerte er sich zugleich des abermals versprochenen und wiederum vergessenen Baslergeschenkes. Noch dazu war es heute schon wieder viel zu bald für ihn Nacht geworden; und seine Frau pflegte nicht umsonst zu drohen, das wußte er. Da schien es ihm denn ein ganz lustiger Einfall, wenn er ein halbes Duzend dieser Frösche in den Sack thun und sie daheim statt des Marktkrames übergeben würde. Das müßte, dachte er mit Lächeln, einen solchen Schrecken absetzen, daß er aller kostspieligen Zumuthungen ins künftige bestimmt überhoben bliebe. Gedacht, gethan. Sechs fette Stücke, die sich leicht fangen ließen, waren bald in einem Zwilchsacke, und fest zugebunden wurde dieser in den Wagenkorb gelegt.

So spät er auch heute heimkam, so war diesmal die Frau doch freundlich und fragte schon vom Fenster herab, ob er ihr das Versprochene mitbringe. Ei freilich, war die Antwort, komm nur herab und hol's selber, im Sacke liegt's wohlverwahrt dahinten im Wagenkorb. Haus ab und Haus auf springt nun das Weib und sucht droben beim Lichte den festgeschnürten Sack aufzudrehen, während sich ihr Mann drunten noch mit der Fuhre zu schaffen macht, um ja dem bestimmten Spektakel auszuweichen. Jetzt war der Sack offen, die Neugier ließ keine Zeit, erst hinein zu greifen, sie schüttelte ihn, wie er war, auf den großen Tisch aus. Welche Freude! Einen so kost-

Digitized by Google

baren Marktkram hatte sie niemals gehofft: ein halb Duzend gewichtiger Goldstücke rollten auf den Tisch, so glänzend, als wenn sie eben funkelnagelneu aus der Münze kämen. Während das Weib sie beäugelte, trat der Fuhrmann zur Stube herein und wollte kaum seinem Weibe, geschweige sich selbst trauen, als er sah und erfuhr, in welche Goldfüchse die häßlichen Kröten sich verwandelt hätten. Nun ward ihm eine vollständige Verzeihung zu Theil, und daß diese nachhaltig zwischen beiden Eheleuten gewesen ist, hat mir meine Großmutter selber erzählt, die den Schmied und seine Frau noch wohl gekannt hat. (J. A. Rueb in Laufenburg.)

Schnaken in Gold verwandelt: Müllenhoff, Schlesw.-Holst. Sag. No. 476.

## 275. Schneckenhäuser und Kronenthaler.

Eine Frau von Bünzgen am Schwarzwälder-Rheinufer wollte am Charfreitag ins Dorf Hochsol zur Kirche gehen. Auf dem Wege dahin sah sie einen Haufen hübscher Schneckenhäuschen liegen und steckte zwei davon für ihre Kinder ein. Wie sie aber in der Hochsoler-Kirche ihren Rosenkranz aus dem Sacke ziehen will, findet sie zwei Kronenthaler drinnen. Auf dem Rückwege suchte sie auf der alten Fundstelle vergebens nach einem fernern Schneckenhäuschen; nur der Boden war da ein wenig eingesunken und man hörte drunter ein leises Poppern, zum Zeichen, daß nun ein Geist selig geworden sei. (A. Birrcher in Laufenburg.)

## 276. Die schatzhütende Kröte bei Laufenburg.

Auf dem rechten Rheinufer zwischen Laufenburg und Bünzgen, in dem felsigen Thale des Antlesbaches, sollen bis zum dreißigjährigen Kriege Hammerwerke gewesen sein, und Mauertrümmer und Schlaken im Boden reden noch dafür. Aus jener Zeit der Zerstörung her, sagt man, liege daselbst viel Geld vergraben. In diesem Waldthale holte sich ein Laufenburger um die Zeit von Fronfasten Holz. Im heißen Mittage setzt er sich unter eine Eiche und ruht aus. Plötzlich sieht er, unferne von ihm, gewöhnliche Kohlen langsam aus dem Boden hervorsteigen und allmälich zu einem Haufen bis zur Größe eines Korbes anwachsen. In demselben Augenblicke zeigte sich auf dem Kohlhaufen eine gewaltig sich ausspreizende Kröte, die ihn mit Feueraugen anstarrte. Unverwandt staunte der Mann diese Erscheinung an, bis eben so unvermuthet, wie sie gekommen, Kohlen und Kröte



Digitized by Google

in den Boden versanken. Alles war wie weggewischt. Er erzählte diese Begebenheit bei seiner Nachhausekunft und man erklärte ihm, daß er eine so seltene Gelegenheit, reich zu werden, nicht so unbenutzt hätte vorbeigehen lassen, sondern ohne alle weitern Umstände sich der Kohlen und Kröte bemächtigen sollen. Ein Haufen Geldes sei's gewesen, und der Böse, der ihn in Gestalt der Kröte hütete, würde mit Besegnung und passenden Sprüchen leicht vertrieben worden sein. (Schweiz. Bl. 1833, 227.)

## 277. Das Dorfthier zu Seengen,

am Hallwiler-See, ist ein in eine Kröte verwandelter Junker von Hallwil. Dieses Thier schwillt bei Begegnungen zur Größe einer Wanne (Fruchtworfel) an und hat Augen gleich Zinntellern. Sein Wanderweg geht bis Eglischwil hinab zum Heidengraben und jener Heidenkirche, von welcher Abthl. IV, No. 168 erzählt ist.

## 278. Die Ringgenberger-Schloßkröte.

Eine halbe Stunde von Bremgarten beginnt am linken Reußufer der Wald Buholdern. In seiner Mitte zeigt sich, gegenüber dem Kloster Hermetschwil, eine Umwallung, die das Volk für den Schloßgraben des Schlosses Ringgenberg ansieht, das an dieser Stelle gestanden haben soll. Hier liegt ein Schatz verborgen, von einer Kröte bewacht, die den Schlüssel dazu im Rachen trägt. An schönen warmen Tagen kriecht sie hervor und sonnt sich im Graben, und wer ihr da den Schlüssel mit List oder Gewalt abzugewinnen wüßte, wäre der Glückliche, dem der ganze Schatz heimfiele. Bis jetzt aber sind alle, die sich an das Unternehmen gewagt haben, gänzlich verblendet wieder zurückgekommen.

## 279. Die Schatzkröte in Kirchdorf.

Ein Bauer von Kirchdorf im Siggenthale war mit einem Male erstaunlich reich geworden, ohne daß er einen deutlichen Grund dazu angeben konnte, und erregte dadurch den Verdacht seiner Nachbarn. Da diese einmal aufs Feld giengen und an des Reichen Haus vorbeikamen, sahen sie dort eine Kröte in der Größe eines Erdäpfelkorbes sitzen und wollten sie sogleich erschlagen. Aber der Bauer, welcher sich gerade auf seiner Hausbank sonnte, wußte sie so dringend um

Digitized by Google

Schonung zu bitten, daß sie das häßliche Thier sein ließen und sich weiter machten. Nun läßt er seit vorigem Jahre bei allen Nothhelfern für das Heil seiner Seele Messen lesen; ob er damit der Kröte los geworden ist, weiß man nicht.

Die Geltung der Kröte ist besprochen Abthl. V, Anmerk. No. 3.

---

## 280. Hirschbock im Ramhölzli.

Ein Jäger aus Beromünster, Kant. Luzern, jagte die ganze Gegend durch bis herab nach dem Walde Ramholz, der beim Aargauer-Dorfe Gontenschwil ist. Hier traf er auf einen großen Hirschen und schoß ihn mit der Freikugel zusammen, die er gerade im Laufe stecken hatte. Weil er aber dem Schusse auf ein bloßes Thier nicht zuvor den Zauber gelöst hatte, muß er nun selbst in Thiergestalt in den Wäldern umgehen. Auch erzählt man, da er alle Thiere zu bannen verstand, so habe er nicht mehr nach ihnen, sondern mit Freikugeln gegen die Sonne geschossen; darauf seien ihm drei Blutstropfen auf die Hand gefallen und er erlahmte.

(Vgl. Abthl. II, No. 75: das Kind und die Blutstropfen.)

---

## 281. Der gespenstische Hirsch und der Jägerhans.

Auf der aargauischen Rheinseite hatte sich ein Jäger zwischen zwei eng verzweigte Waldstöcke gestellt, um auf einen Hirschen zu lauern, der wegen der Höhe seines Geweihes, das ganz über den jungen Anflug hervorsah, lange berühmt war; in gewaltigen Sätzen kam bald der große Hirsch. Der Schütze fehlte. Der Hirsch aber rannte in Wuth auf den Jäger los, nahm ihn zwischen die Geweihe, und trug ihn blitzschnell über das steile Ufer hinab durch den Rhein. Ein unbekannter Mann sah zu und rief nach: „Jägerhans, b'heb de, b'heb de!"

(Vgl. No. 413a Alahirzi.)

---

## 282. Katze auf der Freudenau, bei Stilli.

Abends im Heimgarten hatten einige Bursche und Mädchen aus der Umgegend von Stilli zusammen ein Gewette gemacht, wer von ihnen beim Nachhausegehen es wage, allein in die Ruine der Burg Freudenau zu gehen und drinnen laut einen Spruch herzusagen, der solle von den Andern ein Geschenk zu fordern haben. Das größte

Digitized by Google

der Mädchen übernahm's gegen einen neuen Rock. Sie stieg in den alten Thurm hinein, dessen eine Seite zusammengebrochen das Ufer der Aare überdeckt, und wollte eben eine alte Besegnungsformel zu sprechen anfangen. Allein nun saß oben im Mauerkranze eine schwarze Katze, darüber vergaß sie ihre Formel und gerieth nur in ein confuses Plaudern über ihren gewetteten Rock; sie begann:

E rock chunt mer wol
für mis g'lismets chamisol.

Da fiel ihr die Katze ins Wort und sprach:

chatz oder chol,
dir wird's diner loblag nümme wol!

Das Mädchen entsetzte sich hierüber sehr und kam krank heim; nach ein paar Tagen starb sie wirklich.

Gegen ein versprochenes neues Kleid läßt sich ein Mädchen Nachts in das verfallene Kirchlein von Pappelsee schicken. An der Thüre trifft es nebst einem Schimmel ein Streitroß mit einem aufgepackten Bündel. Das Mädchen nimmt den Bündel, entspringt damit, verbirgt sich, als der Schimmelreiter ihr nachgesprengt kommt, hinter einem Düngerhaufen und bringt dann ein prächtiges Geschmeide heim. Fr. Mhm, koburg. Sag. 1845, pag. 145.

## 283. Die Näherin.

Ein Nähermädchen sitzt in einem Bötzberger-Bauernhause auf der Stör (im Taglohn). Wiederholt zieht ihr die Katze an der Garnchlungele (Knäuel) und verwirrt ihr Knäuel und Faden; endlich schlägt sie das muthwillige Thier mit dem Ellenstab auf die Pfote. Sogleich reißt draußen die Bauernfrau zornig die Küchenthüre auf und schimpft in die Stube herein, daß man sie eben draußen heftig auf die Hand gehauen habe. Darüber wird es dem Mädchen unheimlich, es packt auf und läßt sich nie mehr in jenes Haus bestellen.

## 284. Müllersfrau als Katze.

Ein Müller ist lange mit einem Eheweibe geplagt, welches sich dem Hexenwesen ergeben hat, er kann sie aber dessen nicht überführen. Während er nun des Abends noch mit dem Müllihau beschäftigt ist, kommt ein ganzes Rudel Katzen auf den Mühlstein herauf gesprungen und hindert ihm mit dem frechsten Herumgestöber die Arbeit. Er lauert der zunächst Springenden auf und haut ihr endlich mit dem Breithammer eine Pfote ab. Am Morgen liegt sein Weib mit verbundener Hand im Bette.

Digitized by Google

Vgl. Kuhn, nordd. Sag. 225: die Katzenmühlen, nebst Anmerkung ebenda S. 493. Bei Paul Diaconus 6, 6 erscheint der Böse in Fliegengestalt und auch da wird ihm ein Bein abgehauen. Mythol. 951. Bei Zingerle, Tirol. Märch. 1, 253 verliert die Müllersfrau als Katze gleichfalls ihre Hand, und so anderwärts noch häufig. Die Sage stützt sich auf die Göttin Frouwa, die nicht allein mit einem Katzengespanne fährt, sondern auch das Geschäft des Säens, Erntens und Backens überwacht. Insoferne verwandelt sie sich in das der Häuslichkeit gehelligte Thier oder tritt als Gute Frau und Frau Müllerin auf, der man einen Schlumpen heißen Breies entgegen wirft (Müllenhoff, Schlesw.-Holst. Sag. pag. 227).

## 285. Der unerfüllte Traum.

Einer armen Frau von Laufenburg träumte es in drei Freitagsnächten vor dem Charfreitage, daß sie an diesem Tage Mittags 12 Uhr an einem bestimmten Platze auf der Ruine daselbst, welche Habsburg heißt und die dritte dieses Namens in der Schweiz ist, einen bedeutenden Schatz erheben könne. Was einem in solchen Nächten träumt, das erfüllt sich, behauptet der Volksglaube; und da ihr der Traum dreimal nach einander ganz gleich wieder gekommen war, so entschloß sie sich und gieng zur bestimmten Zeit hinaus an den einsamen Schloßthurm. Mit dem ersten Mittagsschlage durchbebte ein leises Schüttern den Boden unter ihren Füßen, und ganz in ihrer Nähe erblickte sie einen großen Topf, neben dem eine schwarze Katze mit Feueraugen saß, die jetzt eben davon wich. Gleich näherte sich die Frau und nahm den Deckel davon ab, aber statt mit Gold sah sie ihn nur mit Glasscherben angefüllt. Sie gieng verdrießlich heim und erzählte das Vorgefallene einem Kapuziner. Der machte ihr ernstliche Vorwürfe und schob auf ihre Zweifelsucht allein alle Schuld, daß eine so höhnende Verwandlung mit dem Schatze vorgehen konnte.

Jene schwarze Katze war der Schloßgeist gewesen; er hat noch in neuerer Zeit ein Zeichen von sich gegeben. Es ist nämlich dem Andenken der Laufenburger-Schloßherren eine Jahrzeit in der Laufenburger-Stadtkirche gestiftet, und alle Jahre soll für sie eine Seelmesse gelesen werden. Als dies nach und nach in Vergessenheit gekommen war, hörte man Nachts an der Ruine ein heftiges Schnauben und Stöhnen. Seitdem liest man die gestiftete Messe wieder, wie es sich gebührt. — Schweiz. Merkur 1835, 121.

Die Behauptung, es sei für die in Katzengestalt spukenden Schloßherren eine Seelmesse gestiftet, deutet auf die religiöse Verehrung zurück, welche sonst der Katze, als dem Lieblingsthiere der Göttin Freyja, zukam. In der Stadt Aix war noch zu Fenelons und Bossuets Zeiten eine Katze das

Digitized by Google

allgemein verehrte Thier, man trug es einmal jährlich processionsweise in einem blumengeschmückten Reliquienschrein durch die Straßen. Hormayr, Histor. Taschb. 1849, 232 ff.

---

## 286. Verschiedene spukende Katzen. a — g.

a. Brunnenwiesler heißt die schwarze Katze, die einem zu Ober-Endingen am Fußwege bei der dortigen Brunnenwiese begegnet und in die vorbeifließende Surb zu verführen trachtet. Der Weg ist daher Nachts gemieden; sie soll der frühere Besitzer der Wiese sein, der sich ein neues Wässerungsrecht herausprocessirte und diese Gestalt damit gewonnen hat.

b. Das Heuthier hieß man in Zurzach jenes böse Weib, von dem man sagte, daß es alle ungeraden Nächte durch den Kamin zum Hexenrath ausfahre und auf der Rückkehr die Schlafenden in der Gestalt des Schrätele quäle. Als schwarze Katze erkletterte es dann die Betten. Neben andern Künsten konnte sie auch einen Blick in die Hölle thun.

Heu ist hier nicht foenum, sondern uredo, hei. Mit erheietemo winte: vento urente. Massmann, Gl. Vindobon. 1841. Woeste, Volksüberlieferungen pag. 40 nennt den feuerigen Luftdrachen hiäwenbrant, d. i. nhd. Höhen- und Heerrauch. Das Heuthier ist die Wetterhexe. „Heu ist dem Aelpler alle Luft, die auf Wetterveränderung deutet. Die Aelpler warnen als erfahrene Heu- oder Wetterbeschauer die Reisenden, wenn sie ein Ungewitter vor sich sehen." Scheuchzer, schweiz. Nat.-Gesch. 1, 221. Ghai ist Höhenrauch im Salzburgischen. Journal v. u. f. Deutschl. 1785, 405. Das Haimandl wohnt im Walde und verlockt die Kinder. Schmalfuß, Deutsche in Böhmen 1851, 100. Vgl. die weitern damit zusammenhängenden Speisennamen: Oberdeutsches Gebildbrod No. 28: Vogelbei und Heierhirzi. Wie man Füchsen und Hasen nachsagt, daß sie das Wetter sieden und brauen, so sah man im Höhenrauch eine Wirkung wetterkochender Hexen, die sich in Katzen verwandelt hatten. Denn die Katze ist selber wetterkundig. Leckt sich die Katze gegen das Haar, so folgt Sturm und Wind. Nordwest heißt im Harz Katzennase. Journal v. u. f. Deutschl. 1790. 2, 37. Da die nordische Wahrsagerin Wala den Bauern Thorkell besucht ihm zu prophezeien, trägt sie eine Mütze aus weißem Katzenpelz und Handschuhe aus Katzenfellen. Weinhold, Deutsche Frauen 60. Da sich die Hexen eben so häufig in Hasen verwandeln, so ist auch dem Hasenbalg eine ähnliche Wirksamkeit beigemessen worden. Hasenhaar, sagt Troll, Winterthur. Gesch. 3, 221 — pflegte man auf Wunden, Hasenschmalz auf Geschwüre zu legen; und bei öffentlichen Auftritten gab es bis in die Neuzeit keine andere Kopftracht, als die mit Hasenpelz verbrämte.

c. Auf der Kleinen Steig bei Brugg ist ein Platz, wo eine Hexe in Gestalt einer schwarzen Katze einen Schatz hütet; es war bis jetzt vergebens, das Unthier wegzujagen.

Digitized by Google

d. Die Ruine vom Weißen Schloß, das auch Weißwasserstelz heißt, liegt in der Nähe des Städtchens Kaiserstuhl, auf dem rechten Rheinufer. Gegen die heilige Zeit hin sieht man dorten Lichter durchs Gemäuer fahren, verlöschen und wieder kommen. Zugleich giebt's ein Schreien und Poltern, als sollte alles zusammen geschlagen werden. Einem wandernden Handwerksburschen, der sich Nachts am Schloßhügel niederlegte, schoß eine Katze feurig am Kopfe vorbei, daß er, obschon todmüde, auf und davon stürzte. Als er den Leuten seinen Schrecken erzählte, hieß es: Im Hornig sind d'Chatze zornig.

e. Mitten zwischen dem Kloster Wettingen und dem eine Viertelstunde davon gelegenen gleichnamigen Dorf standen zwei große steinerne Pfosten hergebaut mit einem Gitterthore, hinter dem die Mönche die Straße durch die Klostergüter gegen die Bauernwagen abzuschließen pflegten. Man nennt deshalb jene Stelle jetzt noch „beim schweren Gatter". Seit man es abriß, hört man in der Luft ein Katzengeschrei, das einen des Nachts bis zum Rebberge des Klosters verfolgt. Der letzte, der es vernommen hat, blieb stehen und wollte abwarten, was sich weiter entwickeln werde, da sah er vor sich eine Katze auf die Erde herabstürzen, und suchte das Weite.

f. Eine Hausfrau in Schwyz wollte vor 12 Uhr Nachts nie zu Bette gehen und erklärte ihrem Manne, der das lange Spinnen bei Licht nicht dulden mochte, sie lege sich deshalb nicht früher schlafen, weil sie sonst von einer schwarzen Katze geritten werde, als ob Berg und Thal auf ihr lägen. Der Mann wußte augenblicklich Rath. Er befahl dem Weib, hinter den Ofen zu sitzen und sich dorten stille zu verhalten. Dann setzte er ihre große Schnellkappe auf, hieng eine scharfe Hechel über die Schulter und spann nun selber emsig am Rocken drauf los. Mit dem Schlag zwölf Uhr hieng ihm plötzlich das Nachbarweib blutend und schreiend über der Schulter in der Hechel. Sie bat und bettelte, man solle ihr nichts weiter thun, und ist seit jener Zeit nicht wieder gekommen.

g. Leute zu Hägglingen im Freienamte hatten bei einem Zauberer erfahren, mit welcherlei Mitteln man einem Schatz beikommen könne, von dessen Vorhandensein man in jenem Dorfe schon längst erzählt hatte. Sie verschafften sich daher eine schwarze Katze, die weder an der Schwanzspitze, noch an der Brust ein weißes Härchen hatte, schlugen ihr unter genauer Beobachtung verschiedenartiger Bräuche den Kopf ab, steckten diesen auf eine Stange und begaben sich damit um Mitternacht zur Stelle, wo der Schatz liegen sollte. Alle hatten sich ein fortgesetztes Stillschweigen gelobt und so gruben sie drauf los.

Digitized

Da wurde aber demjenigen, der die Stange mit dem Katzenkopf zu halten hatte, dieselbe wegen ihrer Länge beim Graben hinderlich, und er theilte seinen vernünftigen Gedanken, sie abzusägen, in aller Kürze dem Nachbar mit. Hol d'Säge, sprach er. Nach diesem einzigen Wörtlein blieb jedes fernere Arbeiten vergeblich. Noch findet sich auf einer Anhöhe bei Hägglingen ein Platz, welcher den Flurnamen trägt Katzenstelleli.

## 287. Erhängen am Strohhalm.

In dem kleinen Dörfchen Rieden unterhielten sich die Bursche beim Dreschen über einen Selbstmord, welcher in der eine Viertelstunde entfernten Stadt Baden vorgefallen war. Das hat eben auch der Teufel gethan, sagte einer der Drescher, denn wo der mit im Spiele ist, da kann sich einer an einem Strohhalm erhenken. Nach mehrfachem Hin- und Widerreden erbot sich nun einer der Bursche, es auf den Versuch ankommen zu lassen, die übrigen möchten ihn nur schnell herunterlösen, wenn sie wirklich bemerken sollten, daß er darüber in Lebensgefahr käme. So erklettert er denn gleich den Steighaken in der Tenne, schlingt um die oberste Selle (Sprosse) desselben einen frisch vom Scheunenboden genommenen Halm und steckt nun den Kopf in die Schlaufe. In diesem Augenblick schießt an den Zuschauern vorbei ein fetter großer Hase durch das eine Tennenthor herein und durch das andere offenstehende hinaus. Alle Burschen jagen ihm nach. Er läßt sich anfangs die Verfolger nahe auf den Leib kommen, dies steigert ihre Hast; und so setzen sie ihm noch lange zu, ohne ihn erwischen zu können. Unverrichteter Dinge kehren sie endlich um. Aber wie erstaunen sie, als sie ihren Kameraden auch jetzt noch am Strohhalme hängen sehen. Er scheint wirklich todt. Einer erklimmt den Steighaken, um den Halm zu zerreißen: es geht nicht; mit dem Sackmesser zu zerschneiden: umsonst! Nachdem man den Entseelten mit sammt der kindischen Schlinge am Hals in die Tenne herabgehoben, entwindet und entwickelt man den Halm freilich ohne Mühe, aber durch ihn hindurch gezogen findet man jetzt einen Eisendrath.

## 288. Dietrich von Muridorf.

Jäger Dietrich lebte vor einigen sechzig Jahren in Muridorf, und lauerte einmal in dem nahen Muriwald auf einen Fuchs. Statt dessen erschien gleich ein Hase und machte in geringer Entfernung

sein Männchen. Dietrich zielte genau und schoß. Dennoch war der Hase nicht nur gefehlt, sondern wich auch nicht von der Stelle. Noch einmal lud der Jäger und noch einmal fehlte er. Verdrießlich geht er vom Stande. Nun fällt ihm ein, der Hase möchte behext sein; rasch holt er daheim Osterkohlen, mischt sie unter sein Pulver, kommt damit an die vorige Stelle zurück und noch ist der Hase da; wieder springt er unter allerlei Männchen nur wenige Schritte vor dem Jäger über den Weg. Doch jetzt kam ein so derber Schuß, daß er über und über purzelte; er erhebt sich aber wieder und humpelt auf drei Beinen in ein nahes Gebüsche. Dietrich läuft ihm nach und findet dort zu seinem Erstaunen eine alte Frau aus dem Dorfe, die allgemein als Hexe gefürchtet war. Sie wollte so eben ihr linkes Bein mit dem Sacktuch umwickeln. Wie kommt denn Ihr hieher? fuhr sie den Dietrich an; und dann setzte sie ganz kaltblütig hinzu: Weil ich vorhin gefallen bin, gieng ich ein wenig aus dem Wege, um mich hier zu verbinden. Erzürnt über eine solche Unverschämtheit ließ Dietrich das Weib liegen und erzählte alles Abends noch dem alten Arzte im Dorfe. Am Morgen aber fand man Dietrich todt im Bette.

Die Frau soll sich von dieser Zeit an nicht mehr mit Hexenkünsten befaßt haben. Sie starb noch nicht sehr lange in hohem Alter.

Fuchs und Hase sind abwechselnd der Teufel selbst; vgl. No. 56. 333. Bei den Hexenprozessen gegen die spanischen Basken wird 1610 Maria von Zuzaya verbrannt auf ihr Geständniß, sie habe einen Priester, der ein leidenschaftlicher Jäger gewesen, dadurch in die Irre geführt, daß sie Hasengestalt angenommen. Leubuscher, der Wahnsinn. Halle 1848, 154. Dies geschah zu derselben Zeit in Spanien, da Cervantes seinen närrischen Don Quixote sogar (2. Buch, Cap. 73) und dessen groben Schildknappen über derlei Zauberhasen spotten ließ. 1663 wurde die alte Juliane Cox hingerichtet auf die eidliche Aussage eines Jägers, während sein Hund einem Hasen nachgelaufen, habe er selber die Cox auf der andern Seite des Dickichts so abgehetzt und athemlos betroffen, daß nur sie selbst das abgejagte Wild gewesen sein könne. Ein Herr von Connaught traf einen Hasen, folgte seiner Blutspur und kam zuletzt in eine benachbarte Hütte, in der er eine alte Frau mit blutendem Schenkel fand. Crin, Ir. Sag. 1, 126. 282. In Vilarsvolard, Kant. Freiburg, wurde Catharine Repond 1731 zu Corbières verbrannt, weil sie als Hase und Schwein die Jäger geneckt hatte. Eine Romanze über sie in Freiburger-Patois findet sich: Schweiz. Ritterburgen 2, 291. Der Ketzerrichter Boguet berühmte sich selbst, er habe während seiner Amtsthätigkeit im welschen Jura 600 Angeklagte erdrosseln und verbrennen lassen, welche, da er ihnen ihre Zauberſalbe einmal weggenommen hatte, sich nicht mehr in Hasen verwandeln und ihm entspringen hätten können. Leubuscher ibid. pag. 101. Ein Lederriemen,

welcher die Gabe verleiht, sich in einen Hasen zu verwandeln, wird noch im Wertheimer Archiv im Badischen aufbewahrt. Mone, Anz. 1839, 180. Von Heren in Hasengestalt handeln: Luther, Tischreden. Leipz. 1621, 103. Kuhn, nordd. Sag. No. 305, Sommer, thür. Sag. No. 54. Märchen No. 7. Müllenhoff, Schlesw.-Holst. Sag. pag. 230, No. 316. 317. erwähnt des Wolfriemen, mittelst dessen die Here sich in Hase, Fuchs und Wolf verwandelt; dem entspricht es, daß oben das Weib aus Muri ihr Bein mit dem Sacktuch umwickelt.

## 289. Der Roni Jäger.

Dem alten Jäger Roni (Hieronymus) lief beinahe täglich vor oder nach der Jagd noch ein Hase über den Weg. Er schoß nie nach ihm, denn er wußte wohl, daß es ein Mensch sei. Endlich wurde er aber doch des Dings überdrüssig und rief ihm zu: Wenn du mir morgen wieder kommst, so lege ich dich ins Bett! Tags darauf hatte er sein Gewehr mit Gesegnetem geladen, und da der Spektakel wieder kam, schoß er dem Hasen einen Lauf ab. Dieser hinkte auf drei Beinen davon. Roni setzte seine Jagd unbekümmert fort, hatte diesmal Glück und da er Abends ins Dorf heimkam, vernahm er, daß man heute ein Weib mit zerschossenem Bein hereingetragen habe.

## 290. Sigristin von Bremgarten.

Im Städtchen Bremgarten wissen die Kinder noch jetzt von einem Weibe zu erzählen, das die alte Sigristin hieß und sich auf allerlei Kunststücke verstand. Wollte sie backen, so fuhr sie im Brodkorbe oder in der Backmulde Nachts die Reuß hinab, um sich in Mellingen erst die Zwiebeln zu holen und sie auf jene Brodwähen zu streuen, die sie aus der Scharrete (Teigüberreste in der Backmulde) trefflich zu machen verstand. Sah man sie nun in Mellingen Zwiebeln jäten, so konnte man sie doch zu gleicher Zeit auch zu Bremgarten in ihrem Hause schelten, schnarren und schnattern hören. Dabei gieng sie niemals auf dem gebahnten Wege, sondern stets über Wiesen und Wälder querfeldein. Einst hatte in ihrer Nachbarschaft ein Jäger einen Hasen geschossen, fand aber, da er zur Stelle kam, statt seiner nur einen alten Schuh. Er schöpfte Verdacht und gieng gleich in ihr neben stehendes Haus. Da lag sie nun im Bette und erzählte ihm mit tausend Umständlichkeiten, wie sie eben das Bein verrenkt habe. Ein andermal meldete sie ihrem Ehrenkaplan, wie so viele Hasen in ihrem Krautgarten steckten; er möchte also kommen und sich einen

Digitized by Google

Braten schießen. Er kam mit seiner Doppelflinte, schoß einmal und wieder und traf im ganzen Rudel kein Stück. Als er der Sigristin sein Mißgeschick melden wollte, lag die am Hausgang und hatte beide Beine ab.

Das Fahren in der Backmulde erzählt Geiler von Keisersberg, Ameise (Straßb. bei Joh. Grüninger 1517) Bl. 37 einem Weibe nach, die einer seiner Amtsbrüder gekannt und wegen dieses Zauberkunststückes selber auf die Probe gestellt hatte. Das Backen der Zwiebelwähen ist Abthl. IX. No. 391: Die Bodere von Zurzach — als ein den Hexen besonders zukommendes Geschäft besprochen. Dazu ist nachzulesen der Artikel No. 26 „Hasenbrod und Hasenkäse" in der Schrift Oberdeutsches Gebildbrod.

## 291. Die Zofinger-Hasenfrau.

Eine Frau in Zofingen aus vornehmem Geschlechte, welches aus Südfrankreich in die Schweiz eingewandert kam, stiehlt in eine Katze verwandelt in der Stadtmetzge das Fleisch, und in einen Hasen verwandelt auf dem Felde die Früchte. Ein guter Schütze machte sich lange hinter diesen Hasen her, bis er ihm eines auf den Kopf brennen konnte; trotz des sicheren Schusses entwischte zwar das Thier, aber seitdem ist jene Frau einäugig. Man hatte einst Korngarben, die der Gutsherr hatte überreif werden lassen, in der Nähe der Stadt aufzuladen, und vor der Menge armer Aehrenleserinnen, die begierig den ausfallenden Halmen nachgiengen, konnte der Aerntewagen kaum vorwärts kommen. Der verdrießliche Gutsherr wies die Kinder unsanft vom Acker. Nun aber stand der Wagen wie verhext fest und die Stiere wollten nicht weiter vom Flecke. Weil man gleich Böses befürchtete, so half man sich nach altem Brauch; man schlug nämlich einem Rade die ungerade Speiche aus, und wirklich fuhr hierauf der Wagen weiter. Jene einäugige Zofingerin aber ist seit jener Zeit auch noch hinkend geworden.

Ebenso wird dem einsinkenden Lastwagen eine Radspeiche ausgebrochen, an deren Stelle aber der Fuhrmann selber treten muß: Abthl. III. No. 145 Wildjäger am Tegernbache.

## 292. Hannele von Eckwyl.

In der ganzen Umgegend von Eckwyl war noch in diesen letzten Jahren ein Weib geflohen und gemieden, weil sie für eine Hasenfrau gehalten wurde. Diesen Glauben zu rechtfertigen, erzählt man sich

Digitized by Google

ein ganzes Schock abenteuerlicher Geschichten, wie hier ein paar aus den Dreißiger Jahren folgen.

An einem Sonntags-Nachmittag hatte sich das Militär der Sektion Mäggenwil auf dem Eckwyler Exerzierplatze einzufinden. Es stellte sich ganz in der Nähe jenes Hauses auf, welches Hannele bewohnte, und bei der es heute, da es ein sehr harter und rauher Novembertag war, an neugierigen Besuchen nicht fehlte, die da aus dem Fenster zuschauen wollten. Eben fieng die Waffenübung an, als im Zimmer plötzlich ein Hase den Leuten durch die Füße fuhr und ohne daß er sich erwischen ließ, endlich zum offenen Fenster hinaus sprang. Unter Lärmen und Lachen setzte man ihm nach. Draußen war aber indeß der gleiche Tumult auch unter den Soldaten entstanden, denn schon kam der Hase auf sie angerannt und hatte sie umsprungen, während sie einzeln aus dem Gliede liefen und nach ihm warfen. Endlich verschwand der Hase ins Dorf hinein. Erst als er allen wieder aus dem Gesichte war, bemerkte man, daß die Hannele diese ganze Zeit über weder in noch außer ihrem Hause von irgend jemand gesehen worden war.

Ein andermal hob sie ein Stück Tuch von der Straße auf, von dem sie wohl wußte, daß es dem Eckwyler-Schneider gehöre, gab es ihm aber nie zurück. Der Schneider lachte nur darüber und fieng an, sie zu bannen. Als es die Alte verspürte, blieb auch sie nicht müßig und begann ihn ebenfalls zu treiben. Allein diesmal war sie die Schwächere und verlor; sie konnte sich nur noch durch Schweinefett vom Tode retten.

Nun sind's fünf Jahre (1837), daß sie durch das Dorf Büblikon gieng und ihr dort die Kinder ihren Spitznamen Hannele nachriefen. Einem davon gab sie eine solche Ohrfeige, daß es erlahmte und sterben mußte, nachdem selbst die Kapuziner ihre Besegnungen umsonst versucht hatten.

Ihre uneheliche Tochter vermag es so wenig als andere Leute bei ihr auszuhalten, sie hat sich schon oft von ihr entfernt und bei fremden und ferne wohnenden Leuten sich verdungen. Sie mag dies aber noch so heimlich anstellen, sie bleibt dennoch in der Alten Gewalt und muß nach dem zweiten Tage schon ihr wieder zulaufen.

Wenn sie betteln geht und ein Weib schlägt ihr was ab, so klopft sie dasselbe nur auf die linke Schulter, und dann setzt es unfehlbar einen geschwollenen Kopf oder ein sonstiges Uebel. Deswegen schließt auch Jung und Alt die Hausthüre, sobald man sie des Weges kommen sieht.

---

Digitized by Google

## 293. Das Fraufastenkind und die Hasenpfoten.

Man sagt, alle diejenigen, welche um Fraufasten in der Mitternachtsstunde geboren werden, seien geisterſichtig. Wüßten sie aber vierundzwanzig Stunden lang über das zuletzt Gesehene zu schweigen, so könne ihnen keinerlei Spuk Schaden thun. So ein Kind war im Dorfe Holderbank.

Als dieses Mädchen einst zwischen 10 und 11 Uhr Nachts mit mehreren Gespielinnen vom Schloß Wildegg aus, in dem sie gearbeitet hatten, über den Berg in ihr Dorf heim gehen wollte, trat ihr plötzlich ein grüngekleideter Mann mit Gewehr in den Fußpfad. Sogleich kehrte sie zurück und gelangte auf einem großen Umweg erst um ein Uhr zu ihrem Haus. Die andern Mädchen wußten nicht, wo sie hingekommen war und hatten schon verbreitet, sie sei durch einen Jägersmann erschossen worden. Später einmal, da sie als Braut mit ihrem Bräutigam von Holderbank nach Saffenwil auf dem Wege war, kam ein schwarzes Hündchen zwischen ihnen hergelaufen; sie begab sich alsbald auf die andere Seite der Straße, und trotz aller Fragen ihres Bräutigams, warum sie sich von ihm entferne, blieb sie ihm die Antwort volle 24 Stunden lang schuldig.

Ein Mann im Solothurner-Biet war ebenfalls ein Fraufastenkind; als dieser einmal nach Solothurn wollte, begegnete ihm ein Weib, das ein Kind auf dem Arme und dazu eine glühende Stange in der Hand trug; darüber erschrak er so sehr, daß er unter lautem Schreien seiner Heimath zufloh. Hier angekommen erzählte er sein Begegniß und klagte sich über Brennen am ganzen Leibe. Man entkleidete ihn und fand schwarze Blattern auf seiner Haut, die ein Aussehen hatten, wie Hasenpfoten im Schnee abgespürt. — Seine Leute ersahen daraus, daß er nicht hätte schreien sollen.

Die auf die Tortur gebrachten Heren mußten vorher vom Henker untersucht werden, ob ihnen der Teufel nicht ein Malzeichen in die Haut eingedrückt habe; ein solches nennt Hildebrands Zauberei (Frankfurt 1631) pag. 258 „Hasenpfoten"; denn, — sagt Joh. Prätorius, Blockesberg 1669, 401 — diese Malzeichen findet man wie mit einem Hasentäplein gezeichnet. Philo, Magiologia 1675, pag. 1019 nennt dieselben Zeichen Krottenhand und warnt den Henker, beim Torturverfahren nicht darein zu stechen mit Nadeln oder Pfriemen, weil hier die Here unempfindlich gemacht sei; sie würde sich stellen, als fühlte sie darüber Schmerzen, da sie doch wirklich keine empfände.

Digitized by

## 294. Hase am Kreuzwegli bei Remetschwil.

Noch nicht vor langem kamen zwei Schwestern, die eine von Bellikon aus, die andere von Spreitenbach zu ihrer dritten Schwester nach Baldingen auf Besuch. Beide hatten abgeredet, sich in Killwangen zu treffen und von da aus zusammen nach Baldingen zu gehen. Auf der letzten Wegstrecke sahen sie Elstern unter immerwährendem Gekreische vor sich herfliegen; dieselben waren bis Baldingen mit gezogen und schwärmten ihnen auch dort noch nach, als man nachher ins Freie gieng und mit dem Schwager die Felder beschaute. Deswegen vermuthete dieser auch gleich nichts Gutes; er schärfte den Beiden, da sie ihn nach zwei Tagen wieder verließen, besonders ein, auf ihrem Heimwege ja recht vorsichtig zu sein. In Killwangen trennten sich die zwei Schwestern wieder, die eine, um gegen Spreitenbach zu, und die andere, um auf ihrem gewohnten Wege nach Bellikon heimzugehen. Jene kam glücklich nach Hause, an dieser aber erfüllte sich jetzt das Mißgeschick, das durch die Galgenvögel ihnen angesungen war. Als sie nämlich in den Remetschwiler-Weidgang kam, sah sie zwischen dem Holz und den Gemeindematten ein schönes kleines Häschen vor ihr herspringen. Hätt' ich doch ein Flintchen! sagte sie bei sich selbst, und ergötzte sich herzlich darüber, daß das Thier so artig ihr im Wege voraushüpfte. Als sie aber an das Kreuzwegli kam, rannte der Hase mit einem Male in der Richtung nach Remetschwil zurück. Die Frau wendete hier gleichfalls um, ohne zu bedenken, was und warum sie's that, und lief nun anstatt den Bellikoner Weg, denjenigen nach Killwangen zurück, immer des sichern Glaubens, in der nächsten Viertelstunde an ihr Wohnhaus kommen zu müßen. Nun stieg sie aber mehrere Stunden durch Busch und Strauch, gerieth an abschüssige steile Orte und war gänzlich abgemüdet und verirrt, als sie endlich in Killwangen an ein Haus gelangte, wo zufällig noch einige Bursche zu Licht waren. Sie war so ganz der Meinung, sie stehe hier am eignen Wohnhause, daß sie den ersten, der ihr die Thüre öffnete, mit Staunen über sein Herkommen befragte und ob denn ihr Mann Hans nicht daheim sei. Nur schwer konnte man sie von ihrem Irrthum überzeugen und sie bereden, sich nun von den Burschen heimführen zu lassen.

---

## 295. Das Regiment am Marsch.

Ein Regiment konnte auf seinem Marsche nicht mehr weiter; endlich merkte man, daß ein Hase Ursache daran sein könnte, der

Digitized by Google

vor demselben beständig hin und her sprang. Schon hatte man vergebens von allen Seiten her auf ihn gefeuert. Da trat ein Soldat zurück und goß aus einem Marienthaler einen silbernen Posten. Auf der Stelle war der Hase damit erlegt; das Regiment rückte vor, fand aber dort statt des Hasen nun ein altes Weib auf der Erde liegen.

---

## 296. Tegerfelder Schloßhase.

Zwei Mädchen von Tegerfelden giengen zusammen vom Grasen heim. Es lief ihnen ein Hase entgegen, sie fürchteten sich und traten auseinander. Er sprang mitten zwischen ihnen durch und streifte das eine am Fuß. Beide dachten sich gleich, wer das sein möchte, denn alsbald schwoll der Berührten der Kopf auf. Daheim ließ man schnell einen Mann von Würenlingen kommen, der zu helfen wußte. Weil das Mädchen sich weigerte, mit ihm in sein eignes Haus zu kommen, suchte er draußen etliche Kräuter und übergab sie mit dem Auftrag, dieselben auf einem Kohlenfeuer langsam bähen und dann überschlagen zu lassen. Während dies geschah, begab sich Jemand in das Haus der beargwöhnten Herenfrau. Diese saß eben am Rocken und spann, nach wenigen Minuten aber sprang sie wüthend vom Rade, entlief in ihre Kammer und vollführte da einen Höllenlärm. Dem Mädchen aber war geholfen. — Der Hase hat es indeß doch nicht gelassen und ist auch nachher noch stets am Berge umher gelaufen, wo die alte Schloßruine steht; noch kein Jäger hat ihm etwas anhaben können. Der Döttinger Doktor hat schon oft, aber immer vergeblich auf ihn geschossen.

---

## 297. Verschiedene Hasenfrauen. a — c.

a. Das Schloß Schwarzwasserstelz, im Rheine unterhalb Kaiserstuhl gelegen, besaß früher ein Baron von Tschudi. Dieser war eines Tages im Walde Schleikert auf der Jagd, und traf auf einen Hasen, der im Wege schlief. Der Jäger zielte, der Schuß gieng los und statt des Hasen lag der Baron selbst im Blute. Man sagt, ein altes Weib sei's gewesen, welches den Baron sehr haßte und den Schuß auf den Schützen zurückwarf.

b. Der Hase im Langenhag läßt sich zwischen Klingnau und Ober-Endingen bei Tag und Nacht sehen und bleibt unerschrocken auf seiner Stelle. Betrifft man ihn jedoch gerade an jener Lücke,

Digitized by Google

wo schon vor einem Jahrhundert eine alte Eiche die Grenze des Klingnauer-Stadtbannes bezeichnet hat, so ist er wie in den Boden versunken.

c. Mein Großvater hat, so lange er zu Wuechswil im Luzerner-Lande diente, einen Knaben gekannt, dem man einst eine Flinte gab, um den Hasen zu schießen, welcher regelmäßig den Krautacker abfraß. Beim Schusse meinte man, es fahre in einen Blechhaufen hinein, und am Platze lag statt des Hasen ein Schlüsselbund. Nicht lange gieng's, so kam die Nachricht, die alte Magdalena sei todtkrank.

In der Rheinprovinz wird der W. Jäger der blecherne genannt, er hat einen Eisenhut und einen blechernen Stock. Wolf, Ztschr. 3, 53.

---

## 298. Der Geisbock im Stall.

's isch einisch a ma in es rîchs hûs cho, und isch im stal übernachtet. eso um zwölfe umme chunt eine mit eme seckel voll gäld, und het ne verlochet und gseit „jetz, tüfel, hüet, bis se en wisse geissbock dur der stal hindere jage.“ am andere morge isch der ma sîner wæge gange. aber vo der zît a händ si e keis veh meh ha könne i dem stal; alles isch drûf gange. übers johr isch de ma wieder dert verbî cho, und wo ner ghört het, wies au mit dem stal stœi, so het er nes gseit, was er i sälber nacht gseh gha het. do händ se en wisse geissbock gchauft und ne dur der stal hindere gjagt, und alles isch wieder guet gsi, und 's gäld händ se ûsse ggrabe und dem ma au en schœne theil dervo gge. —

Wanderer in Schweiz 1835. p. 156. — Haupt, Ztschr. 3, 35. Dieselbe Erzählung und beinahe gleichlautend gilt auch am rechten Rheinufer zwischen Seckingen und Waldshut.

Ziemlich ähnlich erzählt findet sich unsere Sage in B. Baaders bad. Sag. No. 235; Schambach-Müller, ndsächs. Sag. No. 261, 2. Müllenhoff, Schlesw. Sag. pag. 41. Dagegen wird ebenda No. 267 erst die Lösung unserer Erzählung gegeben; der überlistete Teufel zerreißt aus Wuth den Bock, und nun erst können die Leute des geizigen Bauern gefahrlos den vergrabenen Schatz erheben. Landes-Gespenster, die in Bocks-Gestalt spuken, sind der Bock zu Contay im Wallis: Henne, Schweiz. Bl. 1833. Der Mattseitelibock auf der Alpe Mattseiten: Blumer-Heer, Kant. Glarus 316.

Gegen den Trottengeist in Frick No. 260 muß man einen Schafbock in den Viehställen halten; der Hausgeist in Hornussen No. 369 vermag alle Stallthiere zu erwürgen, nur eine schwarze Ziege nicht. Der Bock,

Digitized by Google

als Donars Thier, das seinen Götterwagen zieht, tritt in Abthl. W. Jagd No. 146 noch hervor; ein Vorwitziger ruft nämlich dem Zuge des W. Heeres entgegen: Du reitest wie ein Schneider! d. h. auf einem Geisbocke.

---

## 298. a. Der Esel in der Tenne.

In Wile nennt sich eine kleine Ortschaft im Bezirk Wollerau, Kant. Schwyz. Bei dem dortigen reichen Hofbauern pflegte ein armes altes Männlein, das vom Kräutersammeln sich nährte, alle Jahre einmal seine Einkehr und Nachtherberge zu nehmen; öfter zu kommen war ihm bei den geizigen Leuten nicht erlaubt. Auch wies man ihm über Nacht niemals ein Bette an, obschon da ein paar hochaufgerüstete allzeit ledig standen, das Kräutermännlein aber fügte sich und übernachtete auf dem Heuboden. So lag er hier einmal wieder im Heu auf dem obern Stock, als sein Hofbauer drunten in die Tenne trat, eine Laterne, eine Haue und einen Kupferkessel mit sich schleppend. Er grub den Boden der Tenne auf, senkte den großen Käsekessel in die Grube hinab und machte sich dann wieder fort. Bald kam er abermals zurück, brachte einen Sack Thaler mit sich und warf ihn mit den Worten in den offenen Kessel, du mußt in drei Teufels Namen vergraben sein! So gieng der Bauer dreimal ab und zu und warf dreimal seine Säcke in den Kessel. Ebenso oft war aber inzwischen auch das Kräutermännlein vom Heustock herunter gestiegen, und weil es dessen gar zu wenig hatte, was jenem Geizhals zu viel war, hatte es sich jedesmal eine Tasche voll Thaler aus dem Sack genommen und sich rechtzeitig damit wieder unters Heu verkrochen. Nun kam der Mann zum viertenmale herein. Diesmal brachte er ein schneeweißes Eselein mit sich, auf dem ein rother Mantel lag. Mit diesem umgieng er dreimal den Kessel, wiederholte eben so oft seine Verwünschung „du mußt in drei Teufels Namen vergraben sein!“ hierauf schüttete er den Kessel zu, schlug dem Esel in drei Teufels Namen ein Bein ab und schleppte das arme Thier mit sich hinaus. Das Kräutermännlein schlief nach diesem auch nicht lange mehr, sondern machte sich mit dem Frühesten aus der Scheune fort auf den Weg.

Als aber die Zeit um war und es das nächste Jahr wieder in dieses Haus kam, fand sich hier alles verändert. Der Bauer war schon seit einem halben Jahre gestorben. Die zwei Töchter wußten von nichts als Kummer und Verdruß zu sagen. „Seitdem Ihr das letztemal bei uns gewesen seid, ist in unserm Hause nur Noth und Elend. Der Vater hat keinen gesunden Tag mehr gehabt, und da



Digitized by Google

er starb, hat sich von dem großen Vermögen, das er nach dem Glauben der Leute besessen hatte, gar nichts vorgefunden. So ist auch die gute Bekanntschaft, die wir hatten, ausgeblieben, wir bekommen allbeide keine Männer und wissen uns nicht mehr zu helfen." Jetzt gieng dem Kräutermännlein plötzlich ein Licht auf. Wenn es weiter nichts ist als dies, sagte er, so kann ich euch wohl diese Nacht schon helfen, schafft mir nur in aller Stille und ohne daß man es merkt, einen Esel und einen rothen Mantel herbei. Der Esel stand noch immer im Stalle, schneeweiß, aber nur dreibeinig, seit ihm der Bauer den einen Fuß abgeschlagen hatte; bei der Frau des Ortsweibels entlehnte man ohne Aufsehen den rothen Amtsmantel. Damit giengen sie in die Tenne und gruben an der alten Stelle nach, trieben dann das Eselein mit dem rothen Mantel wiederum in drei Teufels Namen um das Loch herum, aber diesmal nach links, weil der verstorbene Bauer einst damit nach rechts gefahren war, und siehe, da lag das Geld in den drei Säcken. Die Töchter wollten sogleich mit dem Kräutermännlein theilen. Er erzählte ihnen aber den einstigen Hergang und wie er sich vordem schon seinen Theil zu dreien Malen davon genommen hatte. Nun sei dies freilich längst aufgebraucht, lasse man ihn aber noch einmal aus jedem Sacke einen Griff thun, so habe er für seine noch übrige Lebenszeit vollauf genug. Die Töchter thaten es und das Männlein verließ sie unter großem Danke. Von nun an gieng im Hause alles wieder gut. Der Geist, der seit dem Tode des Vaters in der Tenne gepoltert hatte und mit vielen Seelenmessen doch nicht abzutreiben gewesen war, legte sich jetzt zur Ruhe, und mit dem wieder gefundenen Gelde stellten sich auch die Freier wieder ein. Bald waren die zwei Töchter hübsche Weiber. (Marie Stößel aus Wollerau.)

Vgl. Müllenhoff, Schlesw.-Holst. Sag. pag. 202, No. 276. Der goldene Esel, der bei Brieg in Schlesien im Gebirge verwünscht liegt, soll nach Bechsteins DSagb. No. 646 den Gedenkvers haben:

Gold ist mein Futter,
Nah dabei liegt meine Mutter.

Dieser entstellte Reim deutet stark auf die in Anmerk. No. 129 erwähnte Göttin Mutter Ees. Vgl. dazu No. 467: die Esel gescholtenen Ortschaften.

---

## 299. Das Oerkenthier.

Dieses Thalgespenst herrscht in Oberhof und Wölfliswil bis gegen Wittnau hinab durchs ganze Thal, so weit das Oerkenbächlein es

Digitized by Google

durchläuft, und macht sich in fast zahllosen Gestalten und Meldungen geltend. Es sind also auch die Berichte über seine wesentliche Art und Bedeutung sehr schwankend. Allgemein angenommen ist jedoch, daß sein bestimmter Wohnplatz der Oerken, und daß es selbst der Geist eines Ermordeten sei. Diesen letzteren aber macht man bald zu einem Wölfliswiler Bauern, den die Schweden fiengen, mit Mistjauche füllten, einem Rosse an den Schwanz banden und ihn so lange im Bache hin und her schleiften, bis er den Geist aufgab; bald sieht man ganz umgekehrt in ihm einen Schweden, den die Bauern auf eine ähnliche martervolle Weise umgebracht haben sollen. Als nämlich die Schweden von den eroberten Städten Rheinfelden und Laufenburg her auch in diese kleinen Gebirgsthäler plündernd vordrangen, wurden ihrer viele, da sie nur in kleineren Haufen und ordnungslos umherstreiften, von den lauernden Jurabauern getödtet. So lag hier am Wege neben dem Oerkenbache ein schwerverwundeter Schwede. Die Bauern sprangen auf ihn los und zerschlugen ihm noch die Glieder. Er bat um Schonung; sterben müße er doch, sagte er, aber trotz aller Qualen werde er nicht vor Sonnenuntergang sterben können, man möge ihn also nicht weiter mißhandeln. Allein darüber höhnten sie nur, und als er unter ihren wiederholten Streichen noch immer lebte, banden sie ihn zuletzt an einen Pfahl unter das Wasser des seichten Bächleins. Auch damit war er nicht zu ertränken, sondern soll wirklich erst nach Sonnenuntergang verschieden sein.

Der Geist geht nun als Thier und als Mensch. Der alte Mahlknecht auf der Mühle zu Gipf, beim Dorfe Frick, traf auf dem Heimwege von Wittnau einst auf ein herrenloses Roß, das querüber die Straße dastand. Er dachte gleich an das Oerkenthier und vorsichtig umgieng er daher das Roß, ohne ein Wort zu sprechen. Wenige Schritte weiter hatte es sich ihm schon wieder quer in den Weg gestellt, und abermals mußte er es in gleicher Weise umgehen. So trieben Beide ihr stilles Wettspiel miteinander, bis sie zu der bestimmten Wegstelle kamen, wo des Oerkenthieres Grenze ist. Hier mußte es verschwinden und der besonnene Müllerknecht hatte gewonnen. Manchmal soll es ihm unsichtbar die Räder seiner Mühlfuhre gehemmt haben; alsdann umgieng er dreimal den Wagen mit frischem Feuer, er schlug sich nämlich sein Tabakfeuer an, und alsdann konnten die Rosse wieder vom Flecke (vgl. Meier, schwäb. Sag. pag. 287: das Gundesvolk). Auch in Gestalt eines großen Mannes erscheint der Geist und geht von einem Hunde begleitet den Oerken auf und ab; dann stellt sich das Wasser hoch empor. Da besucht er besonders

eine Scheune, welche sonst die Schwedenstallung gewesen sein soll, jetzt aber durch einen Neubau erweitert ist und dem Karli Waldmaier gehört; und so oft er in diese Scheune will, vergißt er nie, vor dem Fenster des Wohnhauses vorbeigehend seine Verbeugung in die Stube hinein zu machen. Er ist überhaupt dem Hauseigenthümer freundlich gesinnt, nicht aber ebenso den andern Leuten. Denn wie oft auch der vormalige Bezirksrichter diesen Weg zu fahren hatte, so lange er allwöchentlich in die Gerichtssitzung nach Aarau hinüber mußte, jedesmal doch mußte er aussteigen, sobald er an dieser Scheune vorbeikam, denn sein Rößlein stellte sich hier bolzgerade; dann wendete er das Chaischen um, verhielt dem Roß die Augen und führte so Beides rückwärts die etlichen Schritte weiter. In der Nähe der Scheune stand ehemals ein besonders alter Birnbaum, welcher Frühbirnen trug. Zwei freche Bursche erstiegen ihn einst des Nachts, um ihn zu leeren. Darüber kam ein Mann dazu von geringer Größe mit einem breiten Hute, und beide Theile betrachteten sich schweigend. Mit einem Male aber wuchs der Mann immer höher und breiter auf, so daß er drängend zwischen die Aeste hineinreichte, auf denen sie saßen; zugleich loderte von allen Seiten ein Feuer mit empor, daß die Obstdiebe eiligst entspringen mußten. Ein andermal stand er als ein großer Mann an der Bachbrücke im Dorfe. Er trug eine weiße Zipfelkappe und einen schwarzen langschwänzigen Rock. Eine vorübergehende Bäuerin grüßte ihn, erhielt aber keinen Dank. Kaum aber war sie ein halb hundert Gänge weit von ihm weg, so brach ein ganz entsetzliches Gewitter los.

Das Gundesvolk, in Meiers schwäb. Sag. No. 320 besteht aus Heiden, Oesterreichern, Rothmänteln, lateinischredenden Räubern, Franzosen, die gleich unsern Schweden ins Murgthal plündernd einfallen. Ihr Anführer Schlotki wird von den Bauern gefangen, und mit Holz und Steinen beschwert in das Bett der Murg versenkt. Aber er konnte so nicht sterben, bis er selber ein Todesmittel angegeben. Seitdem ist die Murg roth geflossen. Der Name Gundesvolk wiederholt und erklärt sich in unserer Sammlung Bd. 1, pag. 162, 165.

---

## 300. Trottenthier zu Oberflachs.

Das weinreiche Dorf Oberflachs hat mehrere Trotten, die außer der Herbstzeit alle verlassen stehen, eine ausgenommen, und diese wird, so weit die Oberflachser sich erinnern können, beständig vom Trottenthier bewohnt. Man hört es, wenn es ander Wetter geben

Digitized by Google

ſoll, deutlich im Hauſe herumpoltern, den Wein aus Züber und Kübel ſaufen, wenn auch alles weinleer iſt, und die Kufen zornig mit der Schnauze herumwerfen. Man hält es für das Geſpenſt eines unredlichen Trottmeiſters, der den Leuten an Trauben und Moſt abſtahl.

Bisweilen ziehen in Oberflachs auch zwei Nachtwächter zugleich herum, der eine angeſtellte, der andere — das Dorfthier. Es erſcheint in allerlei Thiergeſtalt, ſogar als Eſel. Gewöhnlich kommt's vom Schloß Caſtelen im Bach herabgewatet, man ſah es auch ſchon im Weier baden. Einige halten es für einen ehemaligen Dorf-Ammann, andere behaupten, es ſei von jeher ein Thier geweſen.

---

## 301. Das Bachthier am Solenbach.

In der Haushalden geht der Solenbach zwiſchen alten Eichen durch Mooswieſen in die Aare. Wo er die Straße erreicht und überbrückt iſt, in der Nähe der Waldbäume, da haust ein böſes Weſen. Es führt die Leute in den Sumpf und ſchreckt die über die Brücke Kommenden, indem es im gleichen Augenblicke plumpend wie ein ſchwerer Stein, vor ihnen in den Bach ſpringt. Als dies neulich einer abergläubiſchen Frau begegnete, und dieſe ſich durch Gebet dagegen zu helfen ſuchte, erhoben ſich ihr zu beiden Seiten hohe finſtere Mauern, die um ſo höher und beengender anwuchſen, je mehr das Weib Ave-Maria's herſagte. Sie fürchtete, erdrückt zu werden. Wenn das Beten nicht hilft, dachte ſie, ſo thut's vielleicht das Fluchen. Sie that aus Leibeskräften einen Schwur, und die Mauer war verſunken.

---

## 302. Das Dorfthier in Suhr.

Ein junger, luſtiger Schuhmacher zu Suhr befand ſich im Beſitze einer großen gläſernen Flaſche, welcher weiter nichts als der Boden fehlte. Nachts ſtellte er ſich damit ins Gebüſch am Dorfe oder hinter Bäume zwiſchen den Wäſſerungsbächen, blies ſein Inſtrument wie eine Trompete an, und lockte jämmerliche Töne daraus hervor. Bald verbreitete ſich bei dem abergläubiſchen Völklein die Meinung, ein gräßliches Geſpenſt ſtoße ſolches Klagegeſchrei aus. Mancher Furchtſame floh in ſein Bett, wenn das Plärren des Dorf-

Digitized

thieres näher kam. Lange genug währte der Spuk. Endlich überraschten kecke Leute den Bläser und zerschlugen ihm die ominöse Flasche. Der Schuster hieß nun bis an seinen Tod unabänderlich Dorfthier. — Bronner, Kant. Aargau 2, 76.

---

## 303. Das Ungeheuer in Ueken.

Ein Uekener-Bauer besaß ein großes Vermögen in Grundstücken; aber er suchte es auch dadurch zu äufnen, daß er den Nachbarn das Obst stahl und ihnen die Hälfte ihrer Pünten und Baumgärten wegmarchte. So marcht und stiehlt er nach seinem Tode bis auf diesen Tag fort, aber welchem Herrn er jetzt angehört, zeigt er damit, daß er als Schaf, als Bock, als Hund herumlaufen muß. Gleichwohl dient er den Leuten als ein untrüglicher Wetterprophete. Sieht man ihn Hecken setzen, Hagstöcke frisch in den Boden schlagen, auf Bäume steigen und das gewonnene Obst in den Korb thun, dann hat der kommende Tag gewiß Regen. Bis zum Abend hält er sich hinter dem Ofen des Nachbars. Mit der Betglocke macht er sich auf und wandert bis zum Rank oberhalb Frick, wo er den Reisenden auflauert und sie irre führt. Doch kann ihn da ein jeder Tabakraucher verjagen, man braucht blos Feuer aus der Pfeife zu blasen. Als schwarzer Zottelhund stellte er sich einst zweien Fremden entgegen. Als ihnen das Beten nichts helfen wollte, fiengen sie an alle Zeichen vom Himmel zu fluchen. Jetzt ließ er sie unter der Bedingung weiter, daß sie ihn in ihrer Rocktasche hinter den Ofen nach Ueken zurücktrügen. Der eine von ihnen war so thöricht, es zuzusagen; dem preßte er den blutigen Schweiß aus und trieb ihn auf den Matten bis zum Morgen umher.

Das Ungeheuer in Ueken kann jeder Tabakraucher verjagen, wenn er Feuer aus der Pfeife bläst. Im Badischen fürchtet man einzelne Irrlichter so wenig, daß man die Tabakspfeife an ihnen anzündet. Der Fuhrmann in No. 299 umgeht tabakrauchend seinen Wagen gegen den Geist. Man schlägt auch deswegen blos Stahl und Stein aneinander. Feuer und Rauch vertreibt Gespenster. Entzündung des Feuers ist außerdem Symbol rechtlicher Besitznahme, wie dem Rechtlosen das Feuer gelöscht und der Ofen eingerissen wird. Bei Gutsübergaben wurde das alte Herdfeuer gelöscht; Schiffe entfrachten heißt noch löschen. Der in Island anlandende Norwege bemächtigte sich des ganzen Grundes, den er von sechs Uhr Morgens bis sechse Abends durchreiten konnte; wo die Tagreise begann und endete, wurde Feuer entzündet. Grimm, RA. 195. Die Erben brennen daher Abthl. I., No. 29. 30, das ihnen zugefallene Haus in Beisein der Gerichtsboten selbst nieder, während jenes Haus von Grund aus verbrennt,

Digitized by Google

aus dem der Hausgeist nicht weichen will; gleichfalls löscht das Dorfthier in Frick der Hebamme das Feuer in der Küche aus: 2, pag. 31, vgl. Bd. 1, pag. 385.

---

## 304. Das Unthier bei der Kaistnerbrücke.

Wo unterhalb Laufenburg der Bach, welcher vom Dorfe Kaisten seinen Namen hat, in den Rhein mündet, führt eine Brücke in den weiten Hardwald; dort kommt man rechts ab zur Rheinfähre und kann sich nach dem gegenüberliegenden badischen Dorfe Murg schiffen lassen. Dies muß aber bei Tag geschehen; sonst wird der Fährmann, der drüben im Dorfe wohnt, bestimmt nicht herüber rudern. Denn schon oft hat er bei einbrechender Nacht von diesem hohen Ufer her den Ruf „hol über!" vernommen und auch ganz genau über das jähe Uferbord Jemand herabsteigen gesehen; doch wenn er nun erschien, war Niemand zu erblicken, und blos von einer Tanne herab schallte ihm ein höhnisches Gelächter entgegen. In der ganzen Umgebung dieser Kaistnerbrücke haust ein Spuk. Wer dann hier in den Quatembernächten passiert, der fühlt etwas so drückend im Nacken sitzen, als sollte er geritten werden. An gewissen Stellen springt es wieder ab, und höhnt aus dem Hardwalde nach; oder der Fußgänger meint, es gehe gleichen Schritt haltend neben ihm her. Fuhrleute kommen oft nicht von der Stelle, und den Reitern wollen die Rosse umkehren.

Und würden es die Leute nicht noch aus neuerer Zeit erzählen, so stünde es gar nicht hier. (Mittheilung von J. A. Rueb in Laufenburg.)

Die mancherlei sogenannten Bach- und Dorfthiere, von denen meist jegliches Thal für sein Flüßchen und Bächlein ein besonderes hat, bieten ein reichliches Material zur deutlicheren Erkenntniß der Fluthsagen dar, häufig aber sind sie das offenste Bekenntniß, das der Glaube an die Lehre von der Seelenwanderung abzulegen fähig ist. Was nützt es also dem Gebildeten, sich bei diesen ältesten Religionsresten gar nichts zu denken, wie der gemeine Mann, oder gar mit einem Lächeln über die angebliche Dummheit desjenigen Volkes, zu dem man doch selbst gehört, vornehm drüber hinweg zu gehen. So lange wir diese nach Erklärung ringenden Geisterthiere nicht richtiger fassen, bleiben sie unerlöste Gespenster; der rationalistische Prediger wird alsdann fortfahren, treulich gegen sie zu predigen, und der Alltagsmensch ebenso, sich treulich vor ihnen zu fürchten. Ist's nicht schreckliche Thumheit, daß man sich bereden läßt, die Seele des Menschen seye eine rothe Mauß! sagt Pfarrer Männling zu Stargard i. J. 1700 (Curiositäten und Albertäten. Frankf. 1713); und Lessing, ein halbes Jahrhundert später, stellt die Frage entgegen in seiner Erziehung des Menschenge-

Digitized by Google

ſchlechtes: „Iſt dieſe Hypotheſe darum ſo lächerlich, weil ſie die älteſte iſt?“ Nach Käfern berechnet unſer Landmann den Lauf der Jahre (Troll, Geſch. v. Winterthur 7, 172), nach einer Kuh die Zukunft des Vaterlandes (Müllenhoff, Schlesw. Holſt. Sag. No. 509), nach Raben die Dauer des Reiches (Kiffhäuſer und Untersberger-Sage), nach einem Schimmel das Ende der Welt (Apokalypſe). Die ganze Thierſage wurzelt auf den Trümmern der Götterwelt, äußert Weinhold in Haupts Ztſchr. 7, 79, und iſt dorten am üppigſten, wo dieſe Trümmer am längſten offen lagen. Bis ins Jahr 1780 dauert im Zürcherlande die Rechtsſitte fort, für die Katze Mordbuße und Wergeld zu zahlen, wie dies von der Edda einſt beſchrieben war. Mone, Anz. 1836, 42. Ebenſo leicht beinahe hätte es geſchehen können, daß wir die geheiligten Figuren des neuen Glaubens in derſelben Geſtalt der Thier-Symbolik, in welcher wir ſie urſprünglich verehren lernten, bis auf die Neuzeit fortvererbt hätten. Eine Evangelienhandſchrift vom Ende des X. Jahrh. aus St. Eloy bei Arras ſtellt die vier Evangeliſten mit den Häuptern ihrer Attribute dar: Matthäus hat den Kopf eines Jünglings, Lukas den eines Roſſes, anſtatt eines Ochſen, Johannes den eines Adlers, mit Klauen ſtatt der Hände. Pertz, Archiv 8, 78. Diejenigen Leſer, welche die wahre Poeſie für bloße Poeſie halten, werden in ſolchen Fällen ſtatt eines wahren religiöſen Glaubens gleichfalls nur willkürliche Künſtlerlaune vermuthen wollen; man muß ſie deshalb daran erinnern, daß nicht blos unſere Heroen, ſondern ſelbſt noch einzelne im Lichte unſerer Geſchichte auftretende Volksfürſten thieriſche Gliedmaßen an ſich tragen, wie aus der Thüringer- und Sachſengeſchichte bekannt iſt. Wie der Heiland ſich unter dem Bilde der Henne faßt, welche unter ihre Flügel Jeruſalem ſammeln will, ſo heißen Homers männliche Gottheiten Falken, die weiblichen aber Tauben; ſo iſt auch des Skandinaviers Schutzgeiſt ein weibliches geflügeltes Weſen, die Fylgja, die mit der Geburt zu ihm trat und vor ſeinem Tode prophetiſch ſich ihm zeigte. Dies iſt der Bote, den das Andenken eines entfernt lebenden oder in der Fremde verſcheidenden Geliebten uns ans Fenſter ſchickt. Oft nimmt dieſer Genius die Geſtalt eines ſolchen Thieres an, welches dem Weſen oder Namen des einzelnen Menſchen zukommt. Die Fylgjen tapferer Männer zeigten ſich als Eber und Eisbären. Weinhold, deutſche Frauen, 49. Aber auch das umgekehrte Verhältniß fand und findet ſtatt. Der Italiener verehrt, wie unſer katholiſcher Landmann, einen S. Antonio del porco. Alle einzelnen Thiergattungen hatten ihre eignen Schutzgötter und ſpäter ihre Schutzheiligen im Himmel. Letztere, wie ſie bei den Slaven hießen und galten, zählt Mone auf, Geſch. des Heidenth. 1, 154. Weiß man dies, ſo lernt man die Sprache des Volksliedes, das den Helden gerne Stier und Hirſch benennt, anders leſen als man ſonſt ſogen. poetiſche Figuren und Gleichniſſe lieſt. Auf der religiöſen Thierverehrung, wie ſie unſerem eignen Alterthum geläufig war, beruht alſo der zunächſt noch herrſchende Glaube, wornach man das Thier als ein wiſſendes und weiſendes, mit einer Seele begabtes, heilbringendes oder verwünſchtes betrachtet, und Menſchenſeelen in daſſelbe übergehen läßt. Der Glaube, daß nichts in der Welt ohne Bedeutung und göttlichen Hauch iſt (Weinhold, bei Haupt, Ztſchr. 7) nimmt in der Sage zwar mancherlei kindlichlautende Formen an, darf aber von uns deshalb nicht ſchon Aberglauben geſcholten werden. Ohne-

Digitized by Google

dies hat uns erst eine nähere Untersuchung desselben belehrt, daß auch die Einzelheiten der altklassischen Mythe eben nach dieser Seite der in Thierseelen verwandelten Menschen ursprünglich durchaus religiösen Ernst hatten. Die Mythe von Tereus, Philomele und Procne konnte nie eine aus blos dichterischer Willkür stammende Metamorphose gewesen sein, wenn wir selber vom Kukuk noch sagen, es sei der in einen Vogel verwünschte Bäckerknecht, welcher armen Leuten vom Brodteig stahl, oder wenn es in Shakespeares Hamlet ebenso heißt, die Eule sei eines Bäckers Tochter gewesen. So wird der Banndieb und Grenzsteinfrevler in unserer Abthl. VII. allenthalben zum Irrwisch, so die mit ihrer Menschenliebe geizende Alte Jungfrau zum Kibitz am Giritzmoos (Bd. 2, pag. 20), wie die mit ihren Schätzen geizende zur Schlange und Kröte (Bd. 2, pag. 6. 47). Und in gleicher Weise, bemerkt Grimm RA. pag. XIV. kannte der altindische Rechtsglaube mythische Strafen durch Seelenwanderung, denn nach Manu's Gesetzbuch wird der Kuhdieb in eine Eidechse, und der Dieb des Herdfeuers in einen Vogel verwandelt.

Bachthiere aus unserer Nachbarschaft mögen hier zum Schlusse mit aufgezählt stehen: Das Gräägi schreit als gespenstisches Thier im Sarganserlande, um Pfäfers heißt es Bachgeschrei. Henne, Schweiz.Bl. 1832. An der Thurquelle im Toggenburgischen Münzenried wandelt das Thurthier, aus ihm schreien sieben verwünschte Knaben. Illustrirt. Schweiz.-Kal. 1851, 153. Vom Bogener-Ungeheuer, das mit dem Flüßchen daherkommt, behauptet der Bregenzer Aelpler, es heule um Thannheim so oft ein Gewitter naht, stundenweit vernehmlich. Wanderer im Algäu 1847, 43.

Digitized by Google

# VII. Brennende Männer.

## 305. Die beiden Wartburger.

Die beiden Wartburgen im Aargau liegen in der Nähe des Städtchens Aarburg auf zwei benachbarten zierlichen Bergspitzen und sind weithin durch das Winen- und Aarthal sichtbar. Das eine noch wohlerhaltene Schloß wird Säliſchloß, das andere gänzlich zerstörte die Wartburg genannt. Beide gehörten zwei Brüdern, die zusammen um ein Enkelin ihres Vaters freiten. Sie hieß Bertha, und da sie dann dem jüngeren Bruder ihre Hand reichte, erbaute ihnen der Vater auf dem gegenüber liegenden Hügel das neue Schloß. Als beide Eheleute eines Tages zusammen draußen auf der Brüstung sitzen, erscheint der ältere Bruder jenseits auf seiner Burg, stellt eine Scheibe auf die Mauer und ruft dem Gemahle Berthas zu, ein Gleiches zu thun, um jetzt zusammen ein Wettschießen abzuhalten. Es geschah, und nun flogen die Pfeile beider Schützen herüber und hinüber kunstgemäß ins Schwarze. Jetzt gilt's den Meisterschuß, rief zuletzt der Aeltere, aber stelle mir deine Scheibe noch besser ins Licht! Der Jüngere thut's und in demselben Augenblick hat auch der jenseits abgedrückt, statt in der Scheibe sitzt der Pfeil mitten im Herzen des Jüngeren. Da ergreift Bertha die Armbrust ihres sinkenden Gemahls, zielt, und ehe noch der drüben die Mauer verlassen kann, muß auch er sich in seinem Blute wälzen. Dann eilt sie in ihr Schloß hinein, zündet es an und läßt sich unter seinen Trümmern begraben. Die Leute des nahe gelegenen Dörfleins Oftringen wollen sie jetzt noch auf dem Felsen oben erblicken, wie sie weinend und händeringend über der Leiche eines Mannes sitzt.

Auch zeigt man nach einer anderen Erzählung unten an der Burg ein Stück unfruchtbaren Landes, auf welchem mitten unter schönem Weideland kein Gras mehr wächst; dies sagt man, sei die Stelle, wo der Bruder vom älteren erschossen wurde. Man hat schon öfter, aber vergebens, den Versuch gemacht, den kahlen Fleck anzubauen. Wenn es nun ein Landesunglück geben soll, so sieht man droben zwei feurige Männer, die so lange mit Schwertern fechten, bis einer verschwunden ist, oder der Tag anbricht.

Es wiederholt sich in einer großen Reihe von Schloßsagen der Zug, wie hier auf diesem einen Schlosse der mißgünstige oder eifersüchtige Ritter

Digitized by Google

seinem Nachbar oder Bruder auf der gegenüber liegenden Burg durch einen weittragenden Pfeilschuß ein Ende gemacht habe. Erzählungen dieser Art giebt es von den Aargauer Schlößern Königsstein und Wampflen I, 142; von Wildenstein und Wildeck, von der Homburg und dem Rechberg im Frickthale No. 114. Im St. Gallischen nennt man dafür gleicherweise Wildenburg und Ruine Steinach (Merz, Poet. Appenzeller 1836. pag. 46). Im Kant. Solothurn ebenso die Burg, eine Jurahöhe zwischen Bettlach und Grenchen: da stellt das buhlerische Eheweib ihrem Abends am Fenster sitzenden Gemahl ein Licht so an den herabgelassenen Fenstervorhang, daß ihr auf der Nachbarburg lauernder Buhle mit seinem Pfeile hereinzielen, dem Ehemann das Lebenslicht auslöschen, sie selbst aber zu seinem Weibe nehmen kann. Dieselbe Sage gilt von der Solothurner Balmfluh, Pfarrei Günsberg. Strohmeier, Kant. Soloth. pag. 214. Gleiches kommt auf Schloß Rappoltstein vor (Stöber, Elsaß. Sag. No. 96); auf Alten- und Neuengleichen bei Göttingen (Bechstein, DSagb. No. 382).

Auch in der welschen Schweiz kehrt diese Sage wieder. An der Schlucht bei Vuitte boeuf im Waatlande stand das Bruderschloß. Alte Leute erinnern sich noch jene zwei Thürme davon gesehen zu haben, von denen herab sich alle Abende zwei Brüder grüßten, der Herr von Chempvent und der von Ste. Croix. Allein das Schloß wurde in einem Streite eingeäschert, der eben zwischen diesen beiden Brüdern ausgebrochen. Vulliemin, Kant. Waat. 2, Abtbl. 2, pag. 53. Der Burgherr von Fragstein, im Bündner Hochgericht Schiers und Seewis, war ein Mädchenräuber und wurde vom Bräutigam der Entführten mit einem Pfeile vom gegenüberliegenden Felsen her aus weiter Entfernung erschossen. Röder-Tscharner, Kant. Graubünd. 1, 121. Die Würzburger Domherren ließen sich an ihren neben einander liegenden Häusern Schießscheiben über die Hausthüren machen; die des einen war schwarz, die andere grün oder roth angestrichen, daher stammt die dortige Rothescheibengasse. Wolf, Ztschr. 3, 69.

---

## 306. Der brennende Bräutigam.

Ein Mädchen kehrte vom Jahrmarkte nach Hause und erwartete, von ihrem Bräutigam auf dem Heimwege eingeholt zu werden. Als sie in solchen Gedanken gegen diejenige Rüti kam, die ihrem Liebsten gehörte, sah sie im Felde drinnen einen Mann stehen, dessen ganzer Körper ein bloßes Knochengerippe war, aber von einem grellen Feuer in allen Lücken fürchterlich durchschlagen. Nur der Kopf der Gestalt war noch ganz, und mit Entsetzen erkannte sie darin die leibhaftigen Gesichtszüge ihres Geliebten. Sie entsprang und war an ihr Haus gekommen, ehe sie es recht wußte. Da aber lag ihr Schatz schon drinnen auf der Ofenbank und wartete getrost auf ihre Ankunft. Jesus, Maria! rief sie, bist du da? Schon lange, antwortete er. „Und doch habe ich dich erst draußen auf deiner Rüti gesehen!“ Da mußt du, versetzte der Bursche, vierfache Augen vom Markte heim-

Digitized by Google

gebracht haben, denn seit einer Stunde schon hab' ich hier lange Weile nach dir auszustehen. — Ach Schatz, rief das Mädchen, ich lasse mir's nicht nehmen, ich habe es mit meinen gesunden Augen gesehen; was hast du angestellt! Der Bursche läugnete fort, und das Mädchen nahm sich vor, ihn von nun an zu meiden. Sie beichtete es dem Pfarrer, und dieser erklärte ihr, sie dürfe Gott auf den Knieen danken, daß er ihr ein solches Geheimniß noch in diesem Leben geoffenbart. Nun ließ er den Burschen kommen und setzte ihm auseinander, was das heißen wolle, Marchsteine versetzen, und welch schreckliche Strafe auf ein Verbrechen folgen müße, das der allwissende Gott sogar noch in diesem Leben aufzudecken suche. Solche Vorstellungen erschütterten den jungen Mann im Innersten, und schluchzend bekannte er, wie er dem Nachbar die Hälfte seiner Rüti durch Verrücken der Marchen weggenommen habe. Dankend gieng er vom Pfarrer und bestellte alles, wie er es gelobt hatte, in der rechten Ordnung. Ob er aber dann seine Braut wieder besucht und ihre Liebe wieder gewonnen habe, davon wußte das Mädchen nichts zu sagen, das diese Geschichte in unserm Hause erzählt hat, als sie ihre Lebkuchen zum Verkaufe herumtrug.

Die Feuerlohe, die aus dem Leibe Lebender verzehrend herausschlägt, findet sich erwähnt, Grimm, DS. 1, 283. Die hess. Sage No. 10 in Wolfs Ztschr. 1, 246 erzählt, der Teufel zieht der Leiche eines wucherischen Bauern die Haut ab, stopft sie mit Stroh aus, wirft Feuer hinein und läßt es als brennenden Heerwisch davon fliegen. Ueber den Brauch der Hexen, dem Mann das Herz zu nehmen und Stroh an dessen Stelle hinein zu stopfen: Myth. 1035. Mich gemahnt unsere Erzählung an die von Cäsar Bell. Gall. 1, 4. 6, 16 gemeldete Strafe des Feuertodes, wornach man Bildwerke von ungemeiner Größe aus Weidengeflechten machte, mit Verbrechern füllte und sie den Göttern zu Ehren von der Lohe durchzüngeln ließ. Beim Mai- und Osterfeuer wird hier zu Lande noch ein solcher „Mann" gebaut (im Elsaß mit Katzen angefüllt) und angezündet. Die häufig wiederkehrende Sage vom Zwingherrn, der seine Opfer ebenso als brennende Pechfackeln am Schloßwege aufstellen läßt, mag sich daraus entsponnen haben.

---

## 307. Die Schatzgräber im Adlisberg.

Wenn du schon vom Bötzberge über Adlisberg ins Ueberthal gegangen bist, so wirst du gesehen haben, wie dort am Oelbache herum alles durchgraben und zerrissen ist. Jetzt zwar singen Vögel in den Waldrosensträuchen, aber gerade zwischen jenen Eiben und dichten Rothtannen geht man Nachts noch immer nicht gerne vorbei, und

Digitized by Google

man muß kein Sonntagskind sein, um zu bemerken, wie hier Spuren von gewaltigen Erdarbeiten und tiefen Höhlenbauten sich verrathen. Hier auf der Höhe meint man, sei vor alter Zeit das Schloß gestanden, wovon nur noch der Name Adlisberg übrig geblieben ist. Nichts weiß man von seinen Bewohnern und der Ursache seiner Zerstörung. Gleichwohl grub schon mein Urgroßvater mit andern Männern hier nach Schätzen; in einer Neumondsnacht gelang es ihnen einen Schacht zu finden, und in dem Augenblicke, da sie ihn besteigen wollten, fieng mit großem Rauschen der Boden unter ihren Füßen an zu wanken. Betroffen sahen sie nach dem Himmel hinaus und in das Thälchen hinab, und gewahrten dort ein brennendes Viertel, das sich über den Oelbach immer größer werdend und flammender herauswälzte. Es flatterte und kniſterte, als ob die ganze Gegend in Feuer stände, und deutlich konnten sie im Widerscheine dabei die Kirchenfenster im Dorfe blitzen sehen. Da brach unter Brausen und Knallen in ihrem Rücken der Schacht zusammen und eine Stimme rief:

„Ach ich wollte allzuviel,
Meine Qual ist ohne Ziel."

Noch weiß man nicht, ob dies der Müller am Oelbach gewesen, der den Leuten zu viel abgenommen, oder die Ritter des Schlosses. Weiter gegraben hat Niemand mehr.

---

## 308. Der Grenzfrevler im Siggenthal.

Betrügt ein Nachbar den andern um sein Land, so erscheint er nach dem Tode jede Nacht als ein feuriges Gerippe auf dem unredlich erworbenen Acker; und wenn man um Mitternacht zum Fenster hinausschaut, so kommt er bis unter die Dachtraufe heran, um nur angeredet zu werden; denn alsdann wäre er erlöst. Darüber weiß man im Siggenthale folgendes: Ein Schneider war noch um die Geisterstunde in dem fremden Hause auf der Stör; plötzlich geht ihm das Licht aus und vor dem Fenster steht ein feuriges Gerippe, das fortwährend hereinjammert: Hacke! Hacke! Der Schneider antwortet wohlweislich nichts, aber er ruft doch die Hausleute zusammen und bittet sie inständig, das Verlangte her zu geben. Sie holen eine Hacke und werfen sie zum Fenster hinaus. Am Morgen fand man sie noch draußen liegen, aber den Hackenstiel daran verbrannt und das Eisen noch glühend.

---

Digitized by Google

## 309. Der erlöste Götti in Vilmergen.

Weidknaben bei Vilmergen hüteten ihre Geiſen am Wieſenrain gegen einen Waldſaum, als ſie bei einem Grenzſteine einer ſchwarzen Geſtalt begegneten und in Schreck ſogleich entliefen. Der Kleinſte von ihnen rief anfangs den Kameraden zu: Haltet, es iſt ja mein Götti! da ſie aber nicht aufzuhalten waren, gieng er ihnen ebenfalls nach und erzählte daheim mit aller Freude, er habe ſeinen lieben Götti wieder geſehen. Es half der Einwand nichts, daß dieſer ja ſchon geſtorben ſei, der Knabe blieb auf ſeiner Behauptung. Alſo dachte man daran, dem Geiſt zur Ruhe zu verhelfen. Man verſah das Büblein mit allerhand geweihten Sachen, um ſich folgenden Tages wieder an jene Waldſtelle hinaus zu begeben, doch mußte er auch Karſt und Schaufel mit ſich nehmen, und wenn dann das Geſpenſt dergleichen thun würde, als wolle es im Boden arbeiten, ſo ſollte ihm der Kleine dieſe Werkzeuge ſtillſchweigend nur einhändigen. So geſchah's. Der Götti gieng bereits gekrümmt um einen zwiſchen der Waldwieſe und dem Nachbargute ſtehenden Grenzſtein herum, als ſein Pathenkind hinauskam; er erhielt die mitgebrachten Werkzeuge, grub damit den Stein aus und ſetzte ihn an eine andere Stelle weiter zurück, und als dann alles in kürzeſter Zeit abgethan war, begann er: Nun bin ich erlöst, und du, mein liebes Gotte, biſt dafür nach drei Tagen auch ein Kind der Seligkeit. — Das Büblein ſtarb nach drei Tagen. (Ziemlich ähnlich erzählt das Frickthal dieſelbe Begebenheit mit Nachweiſung eigner Oertlichkeit. A. Birrcher in Laufenburg.)

---

## 310. Der verwünſchte Feuermann erlöst.

Vor Jahrhunderten machte ſich ein Reicher ſein Spiel daraus, die Armen unter dem Scheine der Freigebigkeit ins Haus zu locken und ſich an den Schmerzen zu ergötzen, die ſeine Grauſamkeit da für ſie ausgeſonnen hatte. Er ließ dazu auf der inneren Seite der Hausſchwelle eine Fallthüre anbringen, durch die jeder Eintretende in ein finſteres Gemach hinabſtürzte; dort nahmen ihn gleich zwei ſchwarze Fanghunde in Empfang und ſchleppten ihn vor den Herrn, der ſich dann am Schrecken ſeines Opfers weidete. So ſah er denn einſt einen kleinen Mann von ſonderbarer Geſtalt unten auf Almoſen warten, und winkte ihm, in den Hausgang herein zu kommen. Der Kleine that's und verſank dorten ebenfalls, wie jeder vor ihm; gleich ſtand auch der Reiche unten, begierig den zwergigen Bettelmann

Digitized by Google

durch die Hunde herbei gehetzt zu sehen. Diese aber rührten sich diesmal nicht, sondern das Männlein, so alt und gebückt, daß ihm sein Hut beinahe übers Knie herein hieng, trat auf den Unbarmherzigen zu und sprach: Ich will dir mit Sonntagsbrod Fische fangen! Im Weiher draußen kannst du warten bis dein Fluch kommt! — So geschah's.

Schon einige Tage schwamm die Landstraße im Regen, und noch goß es vom Himmel herunter; rechts war der Sumpf ausgetreten und hatte den Weg überdeckt, links hin war alles unfahrbar, und eine finstere Nacht hatte sich zudem schon frühe eingestellt. Da sollte heute noch ein Fuhrmann vorbei, der überladen hatte und zu geizig gewesen war, im letzten Dorfe Vorspann zu nehmen. Der Wagen sank immer tiefer, die Pferde blieben stecken, der Knecht mußte im Bodenlosen und Stockfinsteren endlich aufhören, die Thiere zu peitschen. Da kein Antreiben, keine Wagenwinde mehr half und die ganze Fuhre nun unbeweglich dastand, brach er zuletzt in so ungemessene Verwünschungen und Flüche aus, daß Himmel und Erde hätten zittern mögen. Plötzlich war Licht um ihn, ein feuriger Mann tanzte drüben auf dem Sumpfe und schien von Funken sich zu schütteln. „Daher gezündet, Hallunke!" schrie der grobe Knecht hinüber, „oder ich will dich kuranzen." Sogleich stand der Irrwisch in der Nähe, leuchtete zwischen das Rad, wo es schief gesessen, flackerte den Rossen voraus, bis jedes Kettenglied glatt lag, und bediente die Fuhre so gut, daß sie bald wieder von der Stelle war. Am Ende des Sumpfes ließ der Knecht seine Pferde verschnaufen, da hielt auch der Irrwisch still. „Willst auch noch Trinkgeld, Donnersschelm?" schnauzte der Kutscher, erschrak aber nicht wenig, als eine schmächtige Stimme erwiederte:

Nummen ûfbahre
Und zum Chillef fahre!

Gerade noch so lange war's hell, daß der Knecht ein vor dem Wagen querüber liegendes hölzernes Kreuz sehen und aufladen konnte. Dann schien der Irrwisch versunken; der fluchende Fuhrmann hatte ihn wohl verstanden, und warf das Kreuz im Vorbeifahren am nächsten Kirchhof über die Mauer hinein. Um jenen Ort ist nun Ruhe.

Ueber den Ort dieser Begebenheit erzählt man Widersprechendes; die einen versetzen sie in die Gegend der Stadt Baden, andere ins Freienamt bei Muri und zwar in jenes alte Haus, das die Probstei heißt und an der Stelle eines gräflichen Schlosses errichtet sein soll, welches hier einst in die Erde versank.

Digitized by Google

Vgl. Bechstein DSagb. No. 569: das dienstfertige Licht. — Schambach-Müller, ndsächs. Sag. No. 225, die gespenstische Leuchte. — Müllenhoff pag. 186, das Tümmelding.

## 311. Die Marcheversetzer z'Rinach.

Einisch het z'Rînach bi der burg obe e chnæcht mit sîm meister z'acher tribe. do chomme zwe der berg ab, und me het ene alles gseh, weder der chopf nit. wo se do nôch bî de marchsteine gstande sind, sind die zweu vordere ross vor umme gange. do het der chnächt zum meister gseit „meister, i fare nümme.“ he, worum nit? „he, gsehst denne zwe dert oben abe cho?“ abba! i gseh nüt: far du zue! „i fare mîner seel nit zue. chum, trîb du: i wil hinde ha; gsehst, d'ross wänd au nümme fürse!“ — jä, do chömme di zwe und spanne d'schnuer über all drei marchstei hindere, und bîm letste händ se enand g'ge und ufgleit mit de haggene, dass es bî mîner wohre seel gstobe het; und do sind se wider gange unt furt gsi und verschwunde.

Vgl. die mit feurigen Meßstangen sich prügelnden Untergänger: Meier, schwäb. Sag. No. 306. Wanderer in der Schweiz, 1833, S. 180. Haupt, Ztschr. 3, 35.

## 312. Der Brünnlige bei Wohlen.

Ein Fuhrmann von Wohlen im Freienamte, der jeden Herbst ins Elsaß fuhr und dorten Wein holte, traf außerhalb seines Dorfes in den Matten einen Irrwisch und rief ihm zu: Daher und mir geleuchtet! Der Brünnling that's gegen das Versprechen, ihm hiefür eine Messe lesen zu lassen, und der Fuhrmann gieng es auf die Bedingung ein, daß ihm der Feurige in angemessener Entfernung vom Wagen bleibe, um nicht etwa von ihm verzehrt zu werden. Die Fahrt gieng glücklich von statten; vierundzwanzig Herbste machte so der Fuhrmann seinen Weg ins Elsaß, der Irrwisch leuchtete ihm und der Wohlener besorgte ihm dafür jedesmal seine Messe. Im fünfundzwanzigsten Jahre aber, als es wieder auf die Fahrt gieng, bat der Irrwisch, man möchte ihm nun sechs Messen auf einmal lesen lassen; dann sei er erlöst und der Knecht werde ein Kind der Seligkeit. Auch dies geschah sogleich nach der Rückkunft nach Wohlen. Seitdem blieb der Irrwisch aus, der Knecht aber hat noch lange glücklich gelebt.

Digitized by Google

## 313. Der Riedligger-Brünnling.

Zu Wohlen in der Riedligger-Matte, über welche die dortigen Fabrikarbeiterinnen zum Theil ihren Heimweg nehmen müßen, war ein Feuermann, an deſſen Daſein einige luſtige Mädchen nicht glauben wollten. Sie giengen gefliſſentlich einſt in ſpäter Mitternacht noch durch dieſe Wieſe, um ihn zu treffen. Als er wirklich dorten ſtand, riefen ſie ihm mit Gelächter zu: „Chumm, brünniger Mâ, zünd' is! Er näherte ſich ihnen augenblicklich auf den letzten Schritt und die erſchrockenen Mädchen flüchteten ſich ins nächſte Haus. Hier ſchwebte er nun vor den Fälladen der Fenſter ſo dicht hin und her, daß dieſe anzubrennen drohten. Jetzt begannen die Mädchen zu flehen, er möge ſich doch nur entfernen, ſie wollten ihm lieber etwas beten. Nun ja, ſagte er, aber einen Roſenkranz! Sie begannen einen ſolchen durch alle Vater unſer und Ave Maria hindurch. Beim letzten Vater unſer war ihnen das Herz wieder leichter geworden und ſie lachten unandächtig mitten über dem Gebete. Sogleich fegte der Brünnling mit erneuter Hitze an den Fenſtern auf und nieder und befahl ihnen, friſch von vorne anzufangen und beſſer zu beten, ſonſt werde er nicht weiter gehen. Erſt als dies geſchehen war, entfernte er ſich, und die Mädchen konnten aus dem fremden Hauſe fort in ihr Bett kommen.

---

## 314. Handſpur des Brünnligs in Meerenſchwanden. a — b.

a. Ein Meerenſchwander Bauer verhöhnte einen brennenden Mann, den er Nachts auf der Futterwieſe traf, und rief ihm wiederholt zu: „Nimm mi, Brünnliger, nimm mi!“ Als Letzterer alsbald anmarſchierte, entſprang der Bauer ins Haus und verriegelte hinter ſich die Thüre. Der Brennende aber griff mit den fünf Fingern ſeiner Hand ſengend in das obere Thürblatt ein; die Spuren davon ſind ſo tief, daß die Kinder der Umgegend häufig ihre eigne Hand hineingelegt und ihre Spanne daran gemeſſen haben. Deshalb hat nun der Bauer ein Brettlein über den Brandfleck nageln laſſen.

b. Es büebli in Spreitebach isch z'nachts ûs em hûs ûsse ûf de mist, wil's sîni hösline gäng hät kehre müesse, und wo's do ennet em berg en brünnlige mâ gseht, rüefts: chumm, brünnlige ma, putz mer s'hinter! aber do mag's blos 's tenns-thor noch zueschletze, se isch der brünnlig scho am tenns-thor a und het es loch durh 's thürli durhe brönnt mit de fingere. und do hänt selle



Digitized by Google

lüt 's loch g'seh, wie-n-es no fü'rig gsi isch, und hänt's gschwind müesse go lösche.

Brandspuren auf ähnliche Weise vermacht: Stöber, Elsäß. Sag. pag. 223. Das Irrlicht zu Heist brennt ein Hufeisen in die Hausthüre, das kein Tischler verbrettern kann, und erst verschwindet, als man die Schatztruhe ausgräbt, auf welcher ein gleiches Zeichen eingebrannt ist. Müllenhoff, Schlesw. Holst. Sag. pag. 186.

---

## 315. Der Kahlofen-Bauer

ist jener Feuermann, der zwischen Endingen und Würelingen auf einem Grundstück erscheint, das Kahlofen heißt. Hier hatte er ehedem die Grenzsteine verrückt; jetzt neckt und plagt er die Vorübergehenden. Doch geht er niemals weiter als seine Marke reicht.

---

## 316. Der Hölderli-Jokeb

ist der brennende Mann, der im Güllihau bei Endingen erscheint, einem Walde, in welchem er sich erhenkt hat.

Der feurige Mann zu Wohlen erscheint in der Brunnenmatte.

---

## 317. Der Feuermann bei Ehrendingen.

Eine Ehrendinger Frau wollte spät von Baden heim; bei der Ehrendinger-Trotte war es schon so finster geworden, daß das Weib hier über den ihr sonst so wohl bekannten Weg zweifelhaft wurde. In diesem Augenblicke gaukelte ein feuriger Mann vor ihr. Ei, was hilft mir dein Tanzen! sagte das beherzte Weib, geh lieber voran und zünde mir heim, wer weiß, zu welchem guten Werke du mich wieder brauchst. Der Brünnlig begleitete sie sogleich bis nach Hause.

---

## 318. Feuermann bei Lengnau.

Ein beherzter Mann gieng außerhalb Lengnau durch jenes Kornfeld an der Surbe, das man G'wandle heißt; da steht ein feuriger Mann vor ihm. Sogleich fragt er ihn um sein Begehren; als aber der Brennende ebenso rasch blos eine Haue verlangt, entsinkt jenem ganz der Muth und er entläuft.

---

Digitized by Google

## 319. Das Hackengespenst in Tegerfelden.

In der Nähe des sogenannten Bernerlandes beim Dorfe Tegerfelden steht ein Bauernhaus, vor dem alle Nacht ein Weib erschien und die Leute weckte. Wenn man sie aber um ihr Anliegen befragte, so wußte sie nichts anderes heraus zu bringen, als: Haue gü, gô gê hacke! — Sie gieng nicht eher, als bis man ihr eine Haue herausgereicht hatte, und stammelte dann „Wiederbring“. Immer stand am Morgen das entlehnte Werkzeug richtig wieder am Platze.

---

## 320. Irrlicht am Lorenzobad bei Erlinsbach.

Abends hatte eine Frau in der Mühle zu Erlinsbach Mehl geholt und mußte nach ihrem Hause am Berge über das Lorenzobad zurück. Dorten auf den Matten bemerkte sie ein tanzendes Licht. Sie glaubte da Jemand, der eine Laterne trage zu finden, und freute sich schon, den Heimweg mit ihm machen zu können.] Doch dies kam immer näher und sie sah, daß es eine feurige Kugel war, in der man feurige Rippen erkennen konnte, ohne daß ein Kopf sichtbar gewesen wäre. Es sprang ihr auf den Mehlsack, der ihr nun zweimal so schwer wurde. Schon von ferne sahen die Ihrigen die Feuerkugel auf der Mutter Rücken sitzen, so wie sie aber unter die Dachtraufe kam, sprang der Geist ab und lief den Bergweg wieder zurück. Der Frau schwoll alsbald der Kopf an und sie hatte eine Krankheit zu überstehen. Hätte sie gerufen: „Alle guten Geister loben ꝛc.“, so würde das Irrlicht nichts geschadet, sondern ihr geantwortet haben: Nun bin ich ein Kind der Seligkeit, und du wirst in einem Jahre mit mir sein.

Auf dem Rümlisberg im Wiggernthal sollen früherhin häufig feurige Männer gesehen worden sein, welche mit Meßtischen sich um die Marksteine herum zu schaffen machten und mit einander im Kampfe waren. Der ganze Brünnligsberg soll von diesen Gestalten her seinen Namen haben, in den Dorfurkunden aber stets Bühnenberg genannt sein.

Die Brennenden Männer und Irrwische heißen mit ihren allgemeinen Namen: Brünnlig, Herefackel, Druckfackel, Strauwelle, Marcheversetzer, Hoppelirüter, Wässerma, Landmesser. Im Toggenburgischen sind es Züsler (Illustr. Schweiz. Kalend. 1851, 154.) Sie führen aber auch vielerlei Lokal- und Personennamen, und aus diesen läßt sich nicht ihre gefährliche, sondern mehr ihre auf Fruchtbarkeit zielende Erscheinung schließen. Bei uns ist Stäuble ein redender Müllernamen. Jo, jo, sell glaub ech, d'Müller sin

Digitized by Google

staubig, scherzt unser Kinderreim. Am Schwarzwälder-Rheinufer ruft man dem Irrwisch als einem Müller zu: Stäuble, Stäuble, mach dich leicht. Journal v. u. f. Deutschl. 1787. 2, 342. In Entfelden bei Aarau gilt ebenso: de alt Jepsmüller rott se, es git es unglück. Denn dorten hielt man das Irrlicht für einen erst seit etlichen 20 Jahren verstorbenen Gipsmüller. Auch sagt man daselbst vom Irrlichte: der alt vogt mit em kaput zeigt se, es git ämmel regewetter. Demnach ist das Irrlicht ganz wie jener Thalwind genommen, den man den Landvogt und Thalherren nennt, und der Kaput, den es trägt, gleicht dem Mantel Wuotans. Diesem Einfluß, welchen Irrlichter auf die Witterung und auf das Mühlenwesen haben, entspricht der Ruf, den man ihnen in den Mund legt „Ninovê, Ninivê.“ (Kuhn, nordd. Sag. pag. 425). Denselben Ruf legt man im Aargau dem Schrei der Buchfinken unter (Aarg. Kind.Spr. No. 151: Redende Thiere), und es läßt sich in diesem Namen mindestens die Wurzel fê, pecus und pecunia gewahren, also wiederum eine der vorausbemerkten landwirthschaftlichen Beziehung ähnliche. Damit stimmt nun aber sehr genau die persönliche Ausstattung zusammen, die man ihrer Erscheinung und Figur giebt. Man vergleicht ihr Auge und ihren Kopf einem feurigen Viertel (Kornscheffel, vgl. Schatzgräber im Adlisberg No. 307) und der Fensterscheibe einer bei Nacht erleuchteten Kirche, einem glühenden Backofen, oder einem feurigen Korbe (wobei man immer einen Kartoffelkorb vorauszusetzen hat, wie beim Backofen immer das Brod) vgl. Küenlin, Schweiz. Bl. 1833, 107. Nur Mißverstand könnte hinter diesen bildlichen Ausdrücken bäurische Plumpheit wittern wollen; es hellt sich vielmehr damit erst die Phrase einer Romanze von G. A. Bürger auf, welche gleichfalls dem Volksmund entnommen besagt:

Ein schwarzer Hund geht in dem Schloß
Mit Feueraugen tellersgroß.

In unserer Sammlung wiederholen sich diese Behauptungen. Der Wassergeist im Trottenbach, Abthl. I., No. 43 trägt die Augen auf einem Teller und brüllt als wie zu einem hohlen Hafen heraus. Der Langböri und der Quäcki zu Asp (Abthl. VI. No. 265, g.) haben Augen wie Pflugräder, und der nach ihnen geführte Streich trifft wie in einen Aschensack. Wie Kornviertel und Fleischteller sind auch die Blicke der Dorfthiere beschaffen (Abthl. VI. No. 265, b.), Schlangen und feurige Drachen fliegen in Gestalt eines Wiesbaums um (Stöber, Elsäß. Sag. No. 227), in der Dicke eines Güllen- und Jauchefasses, in der Länge eines Heuseiles, mit Warzen bedeckt, gleich den vollen Zweigen eines Wallnußbaumes. (Jungfrau v. Tegerfelden, Bd. I., pag. 235). Einen an diese landwirthschaftlichen Werkzeuge geknüpften Segen drückt die ihnen ähnliche Erscheinungsweise solcher Geister aus. Aus der segenspendenden Art des Pfluges folgt es, daß ahd. Glossen das Sternbild des Orion Pflug nennen, denn Gottes ist der Pflug, man legte Eide auf ihn ab, man ließ Beweissuchende über glühende Pflugschaaren wandeln, man zaubert noch mit dem Pflugrädlein (Abthl. IX. No. 382, Dürijoggeli von Teufenthal). Wo ein Schloß versinkt, liegt ein goldner Pflug; entlaufen die Hunde der W. Jagd, so pfeift man ihnen durchs Pflugrädlein. Panzer, bayr. Sag. 1, No. 65. Einem weichen Aschensacke gleicht sodann das Gespenst insoferne, als man auch allen Zwergen Asche streut. (Abthl. V. pag. 335) um ihnen opfernd sie zu bewirthen; oder in so ferne als die Hunde der

W. Jagd, wenn sie in der Menschen Wohnung gelaufen kommen, ein ganzes Jahr nichts als Asche fressen, nächstes Jahr dies Haus aber mit allem Vorrath segnen. Haupt, Ztschr. 6, 117. Asche ist hier so viel als Aschenkuchen, Opferkuchen, und mit diesem beehrt der gastfreundlich gesinnte Mensch die bei ihm einkehrende Gottheit. Sogar mit einer gelben Rübe bezahlt das überfahrende Irrlicht den Fährmann: Abthl. I, pag. 50 Räuberschiff bei Rietheim. Wenn aber durch das gleichnißweise genannte Feldwerkzeug die Größe des Hauptes und Blickes einer gespenstischen Erscheinung gezeigt werden soll, so ist damit ferner noch auf den Blick der göttlichen Wesen hingedeutet, der von einem Feuer glüht, Sterblichen nicht ertragbar. Der Blick der Wolsungen blendet wilde Thiere, schreckt Riesen zurück und verjagt die Meuchelmörder. Grimm, altdän. HeldL. No. 27. VII.

Daher heißt es denn auch in unserm Aberglauben: Niemand wagt es, sich einem Irrlicht zu nähern; denn man bekäme sonst ein Rüfengesicht, einen geschwollenen Kopf. Man wird mit Aussatz geschlagen: Abthl. I., No. 42. 46, Wässermann in Seengen. Tribächli am Lindenberg. Auch schwankt man über ihre gute oder bösartige Natur; es heißt: Irrlichter sind die Leuchten guter Seelen, aber die Gespenster der Marchenversetzer ziehen hinter ihnen drein. Wirft man Steine nach ihnen, so verschwillt die Hand, hetzt man Hunde nach, so gehen diese drauf. Dagegen bringt der Brünnling dem Hause Glück, dem er sich nähert, denn es ist dann seine Büßungsfrist bald vorüber und er wird ein Seliger. Weil die Geister sieden und kochen, so kann man, nach dem weitspringenden Bilde, in welchem der Volksgedanke zu gehen pflegt — an dem Irrlichte auch die Tabakspfeife anzünden. (Zauberthiere, Abthl. VI. No. 303, Ungeheuer in Ueken.) Durch Fluchen verscheucht man es, durch Gebet lockt man es an. Abthl. I. No. 36, Brünnlig durch Gebet verscheucht. Ebenda No. 39 wird der Schwarze in der Au durch Fluchen verjagt. Letzteres ist ein so fester Glaube, daß Scheuchzer, Nat.-Gesch. 1, 294 dagegen zu lehren sich gedrungen fühlte: „Es ist ein dem höllischen Feuergeist angenehmer Wahn, daß durch Gebet diese Feuermänner nur desto mehr ergrimmet, hingegen aber durch Fluchen und Schweeren weggetrieben werden. Wer aus Angst vor dergleichen natürlichen Gespenstern bei sich selbst seufzet und betet, folglich den Athem an sich ziehet, der ziehet auch zugleich die Feuermännlein selbst an sich. Wer hingegen mit gewaltiger Fluchstimme die Luft von sich hinweg treibet, der jaget auch die Irrwische hinweg. Hieraus ist zu sehen, daß gar nicht nöthig, zu schweeren, weil man sonst stark reden kann und ein lautes Pack dich fort! eben so wohl die Luft wegtreibet, als ein Hol dich der T . .!"

Häufig ist das Verlangen der Brünnlinge, über den Strom gesetzt zu werden; sie erscheinen dabei in ganzen Schaaren, sie rufen dem Fährmann mit dem üblichen Schlagworte (auch in Harrys ndsächs. Sag. 1, No. 21 rufen sie hol over! und ähnlich in Kuhns Märk. Sag. No. 129). Sie nehmen sich selbst noch ein Fäßchen Wegzehrung mit über den Fluß (Abthl. I., No. 33. Brennender Räuber in der Reuß) und durchwaten damit wie ein Riese den tiefen Gebirgsstrom; sie bieten die Hand, um den Fährlohn auszuzahlen, und wenn man ihnen die Fischerschalte entgegen bietet, so drücken sie ihr die Brandspur der glühenden Finger ein, wie sonst noch ihr eigenes Sitzleder dem Kahnbrette: Abthl. I. No. 37, Laufenburger Feuermann. Hand und

Digitized by Google

Fußſpur führt auf Rieſenſagen. So reichten die Bauern dem Rieſen Botti, deſſen zwanzig Fuß langes Grab im Grauholze bei Bern iſt, ſtatt der einſchlagenden Hand ſtets nur den Pflugſterz entgegen, ſo oft er ihnen auf dem Felde den Gruß bot, und immer verblieb darin die Spur ſeines gewaltigen Händedrucks. Jahn, Kant. Bern, 411. Die Irrlichter gleichen nach dem Allen den Dämonen des Zwiſchenreiches, ſie ſind wie unſere Elben halb unſterblich, halb unſelig, und damit übereinſtimmend nennt auch der Mongole das Irrlicht Albinflamme, Elbendämon. Berlin. Akad. Abhandl. 1851, 266.

Digitized by Google

# VIII. Rechtssagen.

## 321. Die Freiheiten um die Homburg.

Nordwestlich vom Dorfe Oberfrick liegen sich der Homberg und der Thiersteinberg gegenüber, ihre Rücken verlängern sich dann zu einem Bogen, an dessen schmaler Thalsohle die Sessseln liegt, ein Ackerland, dessen Besitzer bis heute noch besondere Vorrechte genießen.

Der Ursprung dieser Sonderrechte wird also erzählt. Jeder der beiden Berge, jetzt mit Hochwald bewachsen, trug früher ein gewaltiges Schloß. Von dem auf dem Homberge ist noch der breite Wallgraben nebst vielen mächtig auf einander gesetzten Felsblöcken übrig. Zur Verbindung beider Burgen diente eine lederne Brücke. Hier wohnte der Graf von Thierstein; seine gleich mächtigen Nachbarn waren Hans von Rechberg, der bei dem Dorfe Wittnau auf dem Reichstein saß, und Thomas von Falkenstein mit seinen mehrfachen Schlössern in den Bergpässen des Jura. Die Macht dieser Herren war weithin gefürchtet, ihre zahlreichen Vasallen schienen unbesiegbar, die Mauern ihrer Vesten unerschütterlich. Dazu lachte dem Thiersteiner-Grafen das Glück im eignen Hause; seine Frau war fromm und mild und hatte ihm eben ein Töchterlein geboren. Da brach jenes berüchtigte Erdbeben los, welches i. J. 1356 neben vielen Burgen des Jura auch die Stadt Basel verschüttete.*) Als die Homburg zu beben begann, riß jener Theil des Schlosses zuerst los, in welchem eben die Gräfin mit ihrem neugebornen Kinde im Wochenbette lag; aber der Zufall wollte, daß der Burgthurm für sich über die Felsen hinabschoß, während Mutter und Kind zusammen in ihrem Rollbette unbeschädigt den Abhang des Berges hinunterglitten und eine beträchtliche Strecke weit in die Kornfelder des Dorfes Oberfrick hingeschoben wurden. Aus Dankbarkeit für diese wunderbare Erhaltung machte die Gräfin alles Land, so weit das Rollbette gekommen war, auf ewig zehnten- und bodenzinsfrei, und diese Strecke vom Scheitel des

*) An sant Lucastag zuo herbest kam diu groz erdbidem, daz vil stett vnd burg nieder fielent vnd grozer schade beschach. des ersten fiel Basel nieder vnd verbran. es fielent ouch die festi Honberg, zwo Schowenburg, dri vestin, hiezent Wartenberg, es fielen Kienberg, Varnsburg, Wildenstein, Augenstein, Froburg. Aelteſt. deutsches Jahrb. der Stadt Zürich, bis zum Jahre 1336 reichend. ed. Ettmüller, 1844.

Digitized by Google

Berges bis ins Thal hinab, die solches Recht erhalten hat, ist die Sesseln.

Auch wird erzählt, die Gräfin von Thierstein habe sich eben zur Zeit, da das Basler-Erdbeben 1356 diese Stadt und die meisten Burgen der Umgegend zerstörte, auf ihrem Schlosse zu Pfeffingen aufgehalten, da habe ein Erdstoß die Schloßmauern umgeworfen, die Gräfin sei in die Tiefe des wilden Tobels hinuntergestürzt, aber unbeschädigt wieder gefunden worden, und mit ihr zugleich ihr Säugling in der Wiege. In der Chronik heißt es: „des Kindes Götti war der Bischof von Basel. Der kam morndrigs reiten und wollt gen Basel. Da fragt er, ob sein Gotten wär umkommen. Da sprachen sie, Nein. Da hieß er das Kind suchen in der Halden; da ward es funden zwischen zwei großen Steinen, und weinet in der Wagen. Das ward ein Weib und gewann viele Kinder." Joh. Mart. Usteri hat darüber ein Gedicht geschrieben: Graf Wallraff von Thierstein. Basler-Neuj.-Bl. 1841, 14.

Nachmals traten die Ritter von Aristorf und Bärenfels mit dem Thiersteiner-Landgrafen in ein Bündniß, und sie versammelten sich sammt all ihren Edelknechten und Reisigen feierlich auf einer Bergwiese in jenem Frickthalerwalde, den man seither das Junkernholz nennt. Als sie sich hier die Versöhnungshand boten, jauchzte das zahlreich zuschauende Landvolk. Dann setzten die drei Ritter einen Stein auf jener Stelle der Erfenmatte, welcher heute noch gekannt ist. Er bezeichnet auf der Spitze des Berges den Platz, welcher herrenloser Boden ist, weil da die drei Grenzen der Kantone Baselland, Solothurn und Aargau in einem Dreieck zusammenstoßen. Er gilt für eine Freiung und wird von den Heimatlosen oft aufgesucht, weil den Landjägern da keine Macht über sie gegeben ist.

„Es ist ein uralter Ausdruck für Gemeinschaft und Nachbarschaft, daß Menschen zusammen am Tische sitzen und Brod essen, wie das salische Gesetz sagt: in beudo pultes manducare. In einem Weisthum 1, 395 heißt es, daß 4 Hirten, nachdem sie geweidet haben, zusammentreffen und auf einem gespreiteten Mantel mit einander essen. Da wo das Gebiet dreier Markgenossen aneinander stößt, ahd. drimarcha, lat. trifinium, ward bei den deutschen Markbegängen in jede der drei Ecken ein Stuhl und in die Mitte ein Tisch gestellt, so daß jeder auf seinem Grund und Boden sitzt, alle Markgenossen von dem gemeinschäftlichen Tisch essen. Auf der Desburg, einem Vorgebirge der Rhön, steht ein Grenzstein, in welchem eine schüsselähnliche Vertiefung und daneben drei Löffel ausgehauen sind. Aus dieser Schüssel, erzählt man, haben die Amtsleute dreier hier aneinander stoßenden Aemter Suppe zusammen gegessen." J. Grimm, Grenz-Alterthümer, Abhandl. der Berlin. Akad. 1845, 135 f., mit Aufzählung weiterer einschlägiger Weisthümer. Jene Milchsuppe ist bekannt genug, welche die

Digitized by Google

Vorposten beider schweizerischer Heeresabtheilungen zusammen aus einer Schüssel essen, als sie sich im Kappeler-Bürgerkriege gegenüber stehen. Aehnliche geheiligte Grenzmarken, durch den Frieden der Nachbarn oder durch festliche Schmäuse geweiht, sind nachfolgende:

Der Dreifingerstein an der Grenze zwischen Zürich, Zug und Schwyz hat einen landräuberischen Sennen in dem Augenblick verschlungen, da dieser auf ihm einen falschen Eid über die unredlich erworbenen Matten ablegte. Reithard, Sag. d. Schweiz, 152. Hohe Rone und Dreiländerstein heißt urkundlich und ländlich das Grenzgebirge, das die Länder Zug, Schwyz und Luzern scheidet.

Am Bündner-Malixerberge, dem höchsten Punkte der Gebirgsgruppe zwischen dem Churwalden- und dem Domleschgerthale steht der Dreibündenstein, so genannt, weil an ihm die drei Bünde des Kantons zusammengrenzen. Meyer-Knonau, schweiz. Erdkunde 2, 59. Der Dreiherrenspitz in den Salzburger-Alpen wird einen ähnlichen Grenzpunkt bezeichnet haben. Ein alter Markstein am Stalden bei Flüelen trennt die drei Bernerämter Brandis, Sumiswald und Trachselwald. Wer von ihm sich ein Stücklein abschlägt, leidet nicht mehr am Zahnweh. Alpenrosen. 1822, pag. 64.

Hochstetten, „Aus dem Böhmerwald", Allg. Augsb. Ztg. 1855, No. 219, schildert den Dreisesselstein, eine Felsenwildniß in der Nähe der Dreieckmark, bei welcher Bayern, Böhmen und das Erzherzogthum Oesterreich zusammenstoßen. Von den angeblichen drei Sesseln dort ist noch der eine zu sehen, eine durch Auswitterung des Gesteins entstandene Vertiefung mit Felsenlehne auf der Höhe eines Grates, zu dem Granitstufen emporführen. Alljährlich am 25. Juli feiern die Bayern hier oben ihr Schützenfest, dann fließt oben auf Böhmerwaldshöhe köstliches bayrisches Bier.

Das Grafengeschlecht deren von Homberg starb aus nach 1223. Ihre Stammburg lag auf dem gleichnamigen Juraberge bei Frick, eine neuere am Untern Hauenstein. Nach ihnen nahm ein geborner Graf von Froburg, im Solothurner-Jura ob Lostorf seßhaft, den Namen der Homberger an und trug ihn auf die Rapperswiler-Linie über. Kopp, Eidgen. Bünde 2, 350. J. M. Usteri hat die das Zehntenland freigebende Thiersteiner-Gräfin bedichtet. Noch ums Jahr 1537 umgeht so die Neuenburger-Gräfin Wilhelmine von Vergy die Gemeindeäcker von Gezard, und was davon die achtzigjährige Frau an einem Sonntage umschritten hat, das entrichtet jetzt nur die zweiundzwanzigste Garbe statt der eilften. Schweiz. Ritterburg. 2, 45. Die älteste deutsche Spur von diesem Landumgehen, das aus der Pflichtigkeit befreit, liegt in einer Urkunde Chlodowigs v. J. 496. Grimms RA. 86. 89. Rettberg, Kirch. Gesch. 1, 548. 2, 66. Grimm, DS. No. 422. 432. 518. 519. 287. Harry, ndsächs. Sag. 1, No. 46. Müllenhoff, Schlesw.-Holst. Sag. pag. 65.

---

## 322. Reichthum der Grafen von Froburg.

Man weiset noch heut zu Tage im Gasthause zum Weißen Kreuz in Olten einen Saal her, in welchem bei vierundzwanzig Grafen und Freiherren des Froburger-Stammes ihre gewöhnlichen Zusammen-

Digitized by Google

künfte abhielten, die alle bei Sonnenschein aus ihren Schlössern dahin und wieder zurück gelangen konnten. (Herrliberger, schweiz. Topographie 2, 435.) Der Aerntegewinn des einen Froburger war allein so groß, daß wenn der erste Kornwagen einer ununterbrochenen Reihe geladener Aerntewagen bereits droben am Schloßthore ankam, der letzte dieses Zuges noch unten im Thale bei Olten fuhr. Und doch beträgt von da aus der Weg aufs Schloß ein paar starke Stunden. Nun ist die Stelle am Jura, wo einst die Burg stand, nur noch an einigen geringen Mauerstücken erkennbar, neben denen der Holzhauer da und dort alte Pfeilspitzen findet. Alles umliegende Gelände nennt man auf Burg.

---

## 323. Ende des letzten Froburgers.

Der letzte der Froburger-Grafen war Eberhard, ein harter Mann gegen seine Unterthanen und ein unersättlicher Jäger. Er kam an einem Julitage aus der Zofinger-Gegend von Adelboden her und ritt scharf auf Olten zu, um dieses Städtchen noch vor dem Losbruch eines drohenden Gewitters zu erreichen. Gerade Richtung eingehalten, schrie er seinen Vorreitern zu, es kommt auf einige Garben nicht an! und so sprengten sie mitten durch die reifen Saaten mit allem Trosse der Oltener-Aarbrücke zu. Da erbebte die Erde von einem Donnerschlag, und zugleich steht auf den Höhen des Hauensteinpasses die Froburg in Feuer, als ob alle Blitze des Himmels auf sie niederregnen wollten. Was ist das! rief der Graf betroffen aus, als er droben im Jura das Feuer lodern sah. Eure Burg geht in Flammen auf! antwortete ihm die heisere Stimme eines alten Weibes. Sie stand vor ihm am Stalden des Städtchens, nahe bei dem Bogen der bedeckten Aarbrücke. An dem höhnischen Tone erkannte er sogleich das Weib wieder; sie hatte ihm schon heute Morgen, da er nach Aarburg durchritt, an dieser gleichen Stelle Unheil verkündet gehabt. So soll, rief der Frevler ingrimmig aus, mir das Volk so lange an einer neuen Burg bauen, bis kein Pflug mehr im Lande geht; und wo's der Mörtel nicht thut, da behebt Bauernblut! Aber im gleichen Augenblicke reißt ihn ein Blitzschlag vom Rosse, und als die Knappen nach ihm sahen, lag er schon entseelt am Boden. Sie weckten die nächst Wohnenden und trugen dann, als diese nirgend öffnen wollten, die Leiche in die alte Kirche, die noch das einzige Gebäude von jenen vielen Häusern war, die ehemals das Rittergeschlecht hier besessen hatte. Er ward hier ausgesetzt und bestattet. Am Brückenrain besagte eine öffentliche Inschrift, hier an dieser Stelle sei einst das Fro-

Digitized by Google

burger Geschlecht erloschen. Die Inschrift wurde später mit einem Gemälde vertauscht, das den vom Blitz unter das Roß geworfenen Grafen darstellt. Ein Eisendrathgitter schützt es; es ist durch Wetter und Zeit verblichen. Die Froburg ist nicht wieder erbaut worden, an ihrem Platze steht heute ein hübscher vielbesuchter Sennhof.

Die Chroniken Basels lassen den Grafen von Froburg zugleich mit seinem Schlosse untergehen zur Zeit, da das Erdbeben i. J. 1356 die ganze Stadt Basel verschüttete und in der Umgegend 84 feste Burgen und Schlösser zusammen in Trümmerhaufen stürzte. Der Graf wird Hanemann genannt. Man weiß nun zwar aus sichern Nachrichten, daß Graf Hanemann erst neun Jahre nach dem großen Erdbeben starb; gleichwohl hat kaum an einem Schlosse das Erdbeben so große Spuren der Zerstörung hinterlassen wie an seinem. Die steile Fluh, auf der es lag, über die benachbarten Gebirgsköpfe emporblickend, 1500 Fuß über der Aare, zerriß in ihren Grundfesten und öffnete tiefe Klüfte, Schlünde und Spalten. Basl. Neuj. Bl. 1841, 14.

Vgl. Ildephons von Arx, Gesch. der Stadt Olten, 18, wo vom Ritter von Büttikon, dem Herrn der beiden Wartburgen bei Olten, die gleiche Begebenheit erzählt und ins Jahr 1356 gesetzt wird.

---

## 324. Das Butterbrod der Wittwe.

Unterhalb Sins stand vor Zeiten an der Reuß das Schloß Rüßegg. Jetzt ist es bis auf den Grund zerstört. Der letzte Besitzer desselben war ums Jahr 1480 der Junker Albin von Silinen, ein tapferer und menschenfreundlicher Herr. Nun mußten viele Höfe der Umgegend alljährlich Bodenzinse und andere Abgaben in das Schloß bezahlen. Und auch der Hof im Wiesthal war dem Schloßherrn solche Abgaben schuldig. Auf diesem Hofe aber lebte damals eine Wittwe mit sieben Kindern. Dieselbe war eine thätige und rechtschaffene Frau. Eines Sommers aber wurde die Gegend von einem Hagelwetter betroffen und die ganze Aernte der redlichen Wittwe war vernichtet. Da nahm die Frau zwei von ihren Kindern und gieng mit ihnen traurig nach Rüßegg. Daselbst klagte sie weinend dem Junker ihr Unglück und bat ihn, daß er ihr für dieses Jahr die schuldigen Abgaben schenken möchte. Der tröstete sie und ließ ihr und den Kindern Milch und Brod vorsetzen. Darnach gieng er in seine Nebenstube und als er wieder kam, legte er der Frau etwas Geschriebenes auf ihr Stück Brod und sprach: Braven Leuten, wie ihr seid, giebt man zur Milch auch Anken aufs Brod. Diese Schrift aber

Digitized by Google

besagte, daß der Hof im Wiesthal fortan der Herrschaft von Rüßegg keine Abgaben mehr schuldig sei.

Mit Thränen der Freude dankte die Wittwe dem menschenfreundlichen Herrn, und das Volk behielt den Namen Albins von Silinen in dankbarem Andenken.

(A. Keller, Aargauer Erstes Lehr- und Lesebuch 1853. 117.)

---

## 325. Elise Pagan in Castelen.

In Castelen auf dem Schlosse diente eine fromme Magd Lisette beim Landvogt Bucher. Da hatte sie bald Gelegenheit, ihre Reinheit zu bewähren. Denn als sie einmal Holz vom Estrich des Schlosses in die Küche tragen wollte, sah sie sich droben ganz fühlbar von einem Arme aufgehalten. Erschrocken eilte sie die lange Treppe hinab und suchte sich das Gesehene wieder auszureden. Aber es wiederholte sich. Jetzt erklärte sie ihrer Herrschaft den festen Vorsatz, nie mehr jenen unheimlichen Ort betreten zu wollen. Der Landvogt beruhigte sie aber und stellte es ihr als ein von der Frömmigkeit gebotenes Werk dar, wenn sie das nächste Mal der Erscheinung Stand halte und dieselbe befrage. Mit Todesangst gieng das Mädchen wieder zum gefährlichen Platz. Jener Arm blieb ebenfalls nicht aus; auf ihre nunmehrige Frage gestaltete sich auch ein Oberleib, und eine Stimme sprach: „Bete für mich, dann werd ich erlöst!“ Sie wollte es versprechen, aber bereits war der Spuk wieder verschwunden. Schon meinte Lisette, durch ihr langes, eifriges Gebet einen Sünder erlöst zu haben, da trat ihr eine Gestalt grün und nach altfränkischem Schnitte gekleidet entgegen, und bat, doch diesen feurigen Splitter hier vornen aus den Zähnen zu ziehen, und durch den Schornstein hinabzuwerfen. Ohne eigentlich hinzublicken, that sie's; die Gestalt verschwand unter großem Danke und dem Versprechen, nicht mehr zu kommen.

Die Magd that mit jenem Splitter, wie ihr befohlen war; der fuhr laut prasselnd durch den Schornstein hinunter. Aber trotz des gegebenen Wortes erschien der Geist bald noch einmal, und nun mußte sie seinen grünen Rock nehmen und ebenfalls durch den Schornstein werfen. „Jetzt ist's endlich Ruhe,“ sprach der Geist, „habe Dank; hinfort will ich dich nicht mehr plagen.“ Damit verschwand er. Froh legte sich nun Lisette Abends zu Bette, im Bewußtsein einer guten That. Aber wer beschreibt ihr Entsetzen, als sie am Morgen niemand anders im Schlafzimmer erblickte, als wieder den Geist. „Willst

Digitized by Google

du mich denn ewig verfolgen?" schrie sie. „„Fürchte nichts,"" erwiederte dieser freundlich, „„nur noch Eins fehlt mir zur gänzlichen Ruhe; thue mir auch dieses. In Bern habe ich noch Söhne, die muß ich warnen, bessere Wege zu gehen; begleite mich nach Bern, und du wirst glücklich sein. Dort werden dir meine Söhne eine große Summe auszahlen. Aber in tiefem Schweigen mußt du diesen Weg wandern.""

Der Tag der Abreise wurde auf die nächste Woche festgesetzt. Der Landvogt wußte von allem. Da begann eine neue Verwicklung. Auf der Schloßwiese trat ihr ein schön gekleideter Herr entgegen, und bat sie sehr höflich, ihm ihren Namen zu sagen, — und fast zugleich rief eine zweite Stimme aus den Schloßfenstern herunter: „Lisette Pagan, nicht!" Sie weigerte sich standhaft, auch als er ihr stumm ein Blatt vorhielt, worauf sie nur ihren Namen schreiben sollte. — Nun wurde sie im Traume mit Bildern gequält, wie ihr ein Gärtner die Schürze voll Goldstücke vorhalte, damit sie ihm ihren Namen schreibe; oder wie bei ihrem Widerstreben eine Stimme höhnte:

Kurzer Muth, lange Züpfen,
Kleines Herz und lange Jüppen.

So kam endlich die andere Woche herbei und die Magd sollte fort. Mit schwerem Herzen gieng Lisette auch noch an dies letzte Werk.

Vom Geiste merkte sie auf dem Wege nichts; nur schien immer Jemand neben ihr zu sitzen, oder gleichen Schrittes hinter ihr drein zu gehen. Als sie zum Klösterlein Frienisberg kamen, sagte der Unsichtbare zu ihr: „Hier habe ich gesündigt, hier habe ich das von meinen frommen Ahnen gestiftete Almosen den Armen abgedrückt, Wittwen und Waisen betrogen. Darum mußte ich noch zu dir kommen und meine Schuld aufdecken." Von hier weg gewahrte sie ihn nicht mehr, bis sie nach Bern kam. Da gieng er bald zu ihrer Rechten, bald zur Linken, und klopfte ihr freundlich auf die Schultern. Hier wurde das Erlösungswerk vollbracht. Das versprochene Geld erhielt sie richtig, und wanderte damit wieder heim.

Man fügt bei, diese Erzählung sei ehemals als fliegendes Blatt vorhanden gewesen, von jener angeblichen Berner-Familie aber aufgekauft worden.

Obiger Volksreim variirt. Kurzen mut und langes har haben die maid sunderwar. Fasnachtspiele des 15. jh. 3, 1375.

## 326. Der Schaffner im Schlosse Castelen.

Schloß Castelen im Aargauer-Jura war vor noch nicht langem eine an Frucht und Wein ergiebige Staatsdomäne gewesen. Die Regierung veräußerte sie, als das Gut zuletzt fast nichts mehr abwarf. Die Schuld daran hat man den Schloßschaffnern beigemessen. Der letzte soll S. geheißen haben. Dieser war auf dem Heimwege von Aarau bei dem Pfarrer von Denschbüren eingekehrt, hatte da getrunken und ließ sich nicht abwendig machen, noch am späten Abend über das Gebirge nach Castelen heimzugehen. Er verfehlte im Dunkeln den Weg, gerieth auf die Höhe der steilen Wasserfluh und stürzte da in einem wilden Krachen zu todt. Man hörte ihn wohl schreien, aber die Leute glaubten, es sei das Thier in den Rüschelen und suchten nicht nach. Endlich machte sich sein Bruder auf und fand ihn ganz zerkratzt und zerrissen unten in der Tiefe liegen. Seitdem sah man ihn zu allen Tageszeiten in den Schloßräumen wieder. Gleich seine eigene Magd erblickte ihn, da sie im Schloßkeller Wein holte, wie er hinter dem größten Fasse saß und ihr die kreidenweiße Hand vorbot. Sie hätte sie aus Mitleiden gerne angenommen, aber der Schrecken trieb sie davon. Auch die Gabelmacherin von Oberflachs hat ihn schon oft in schwarzem Fracke über die breite Schloßtreppe herunter gehen sehen. Man fürchtet ihn kaum mehr, denn er thut Niemandem was Leides und trägt jetzt schon ganz weiße Hosen.

Vgl. Schwarz und weiße Geister, Bd. 1, pag. 214.

---

## 327. Der Wildi-Küfer in Oberflachs.

Vor etwa dreißig Jahren lebte in Oberflachs ein Mann, der, weil er gar gut mit dem Weine umzugehen wußte, die Aufsicht über den Zehntenkeller der Gemeinde übertragen bekam und darum Wildiküfer hieß. Zusehends wurde er dabei so reich, daß es den Leuten nicht mit rechten Dingen zuzugehen schien. Auch wollte ihn der Dorfwächter schon öfter gesehen haben, wie er des Nachts ganze Tausen (halber Eimer) Wein aus dem Zehntenkeller in den seinigen spedirte. Da jener allein nichts gegen ihn wagen wollte, verabredete er mit einigen starken Männern, zusammen dem Gemeindedieb aufzulauern, und so stellten sie sich Nachts hinter das Haus, an dem er vorbei mußte. Es dauerte auch gar nicht lange, so kam er richtig, und gleich traten die Männer vor, um ihm zu beweisen, daß er nun entdeckt sei. Der aber roch den Pfeffer schnell, gieng mit seiner vollen Tause am Rücken, als ob gar nichts geschehen, seinem nahen Baum-

Digitized by Google

garten zu und leerte dort den Wein neben einem Baum hin, wie wenn er nur Gülle darin getragen und hier hätte düngen wollen. Dann schritt er ruhig, ohne sich weiter umzuschauen, seinem Hause zu. Unsere Bauern waren jedoch auch nicht auf den Kopf gefallen, sie liefen, anstatt dem Küfer nach, gleich jenem Baume zu, zogen ihre Schuhe aus, und schöpften damit die ausgeschüttete Flüssigkeit auf. Sie hatten ganz recht gerathen, es war alter, trefflicher Wein. Doch was war da zu beweisen? Und so geschah dem Wildiküfer weiter nichts, er wurde nur noch immer reicher. Aber bei seinem Sterben schwärzte sich sein ganzer Leib, und vier Wochen nach seinem Tode sah man ihn schon durchs Dorf laufen und hörte ihn im Hause rumoren. Meine Base weiß davon auch eines zu erzählen, seit sie bei seiner Familie einmal auf dem Taglohn gewesen ist; die bringt man nicht mehr hin. Damals war die alte Küferin eben ins Bad nach Schinznach gegangen, um sich dort wie reiche Leute wohlsein zu lassen, und niemand war sonst mehr im Hause, als ihre Tochter allein; bei dieser nun sollte damals meine Base so lange schlafen. Dies gieng bis Mitternacht auch ganz gut. Da aber wurde sie auf einmal durch den heftigsten Lärmen geweckt. Anfangs meinte sie, der Knecht schleppe die schweren Spannketten über den Holzboden; als nun aber auch die Küferstochter drüber erwachte und meiner Base mit verhaltener Stimme sagte: „Pst! sei nur still, er thut dir nichts," da erinnerte sich diese auf einmal an den spukenden Küfer, und jetzt erst wurde ihr es fürchterlich angst. Mit dem Frühesten lief sie aus dem Hause.

Noch jetzt erscheint der Wildiküfer dem steinalten Münz, der oben um den Zehntenkeller wohnt. Da stellt er sich ihm alle Nacht vors Bett und stößt den Daumen der rechten Hand fortwährend in die linke Faust, um mit dieser Geberde auf seinen einstigen Frevel hinzudeuten. Bisweilen steigt er in den Keller hinab und klopft fleißig an alle Fässer, damit dem Münz der Wein nicht abstehe. Das Volk hört dies und sagt dann, er kündige damit Regen an.

Die Sage kennt auch einen unterirdischen Küfer zu den mancherlei uralten Weinkellern, in denen der Wein ohne Faß in seiner eigenen Haut liegt. Ein solcher Küfer klopft unter der Erde zur Zeit der Sonnenwende zu Aschaffenburg: Herrlein, Speßharts-Sag. pag. 19, ein anderer am Perchtentage (6. Jan.) zu Waldhausen bei Wertheim: Schnezler, Bad. Sagb. 2, 637. Unter dem Falkenstein im Philippsburgerthal klopft er, um ein gutes Weinjahr anzuzeigen: Stöber, elsaß. Sag. 388, ein anderer unter dem Büttenfels: Helfrecht, Fichtelgebirg, 154. Menzel, Odin pag. 261.

Der Wildi-Küfer stößt den Daumen der rechten Hand fortwährend in seine linke Faust, um mit dieser Geberde seine ehemaligen Wirthsfrevel

Digitized by Google

auszudrücken; es ist dies der Diebsdaumen und Kaufleutsfinger. Die Wirthin, welche in jede neu eingeschenkte Maß den Daumen gesteckt hat, wird deshalb vom Teufel zum Beschlagen in die Schmiede geritten. Vgl. Abthl. V. Zwergensagen: Lindegiger am Ruckfeld, Bd. 1, pag. 381.

---

## 328. Trog im Binzenhof bei Aarau.

Der Binzenhof ist ein artiges Landgut, das nahe bei Aarau am Distelberge unter dem Gönhardwalde gelegen ist. Ein Feldmesser Trog sollte es den Eigenthümern Binz ausmessen, übervortheilte sie, und da er entdeckt war und das Gericht fürchtete, erhieng er sich oberhalb im Gönhard. So oft es nun schlechtes Wetter geben will, oder wenn in der Umgegend ein Unglück statthaben soll, tritt er Nachts auf dem Distelberge aus der Waldung heraus auf die Landstraße. Ein Schweinehändler kam mit seinem Wagen voll Thiere Nachts da vorbei und wollte von der Höhe hinab sein Fuhrwerk spannen. Trotzdem, daß er an seiner Kette riß und glich, blieb sie ihm jetzt zu kurz. Er lief in das nächste Haus am Wege. Ein Schneider, der da wohnte, gab ihm Strick und Seil, um damit die Spannkette zu verlängern; nun aber zerrissen beim ersten Versuche auch diese Seile. Der Schweinehändler dachte sogleich an den guten Trog, dessen Spuk er hier, wo ihn sein Weg gar oft vorbeigeführt hatte, schon aus Erfahrung kannte. Er bat deshalb den Schneider, ihm die Hand so fest als möglich zu geben, und verrichtete so mit ihm die Höhe hinab den Dienst der Sperrkette. Es gieng ganz gut bis unten zum Markstein. Da aber wollten die Pferde durchaus nicht mehr weiter. Zugleich schlug es in Aarau zwölf Uhr und siehe, Trog trat aus jenem Fußwege, der hier in den Binzenhof führt, in die Straße hervor, auf dem Kopfe eine weiße Zipfelkappe, in der Hand eine Meßruthe. Unbekümmert fieng er an, die nächsten Felder auszumessen und verschwand, als er damit fertig war, ebenso unbekümmert wieder im Walde. Gleich darauf giengen auch die störrischen Pferde von selbst weiter.

Ist Trog gerade oberhalb der Scheune des Binzenhofes auf dem Stege nächst dem Walde hin, so sind die Hunde im Hofe drunten nicht mehr zu bändigen. Sie bellen und laufen in den Wald hinauf, setzen quer über die Landstraße und durchrennen den ganzen jenseits gelegenen Suhrerwald. Wenn sie wieder heimkommen, sind sie todmüde und können sich manchen Tag nicht mehr rühren.

Die unredlichen Feldmesser sind auf den großen Bölchen im Elsaß gebannt, um ihn fortwährend auszumessen. Stöber, elsaß. Sag. No. 37. Aehnliches in Schnezlers Bad. Sagb. 1, 114. 2, 237, 238, 249. Vgl. Grimm, Myth. 870'. Schambach-Müller, ndsächs. Sag. No. 223.

Digitized by Google

Müllenhoff, Schlesw.-Holst. Sag. pag. 180. Mone, Anzeig. Jahrg. 36 und 38. Tettau-Temme, preuß. Sag. No. 232. Einzelne Züge weisen hier redend genug auf die W. Jagd zurück: Das Fahren eines Wagens voll Schweine, der statt mit Spannkette und Strick durch zweier Männer Armverschrenkung gesperrt wird; sodann die Haushunde im Landgute, welche zur Jagd ausbrechen, sobald Trog erscheint. Das hier gemeinte Sagenlocal ist zugleich dasselbe, welches in Abthl. III, No. 144 durch eine genau bezeichnete „Weidbahn der W. Jagd um Aarau" angegeben wird.

---

## 329. Die Ammannsmatte in Würenlingen.

Im Dorfe Würenlingen, unfern Baden, saß ein Ammann, dessen lange Geschäftserfahrung sich der Gemeinde immer wieder nöthig machte, wenn auch seine wucherische Habsucht nicht minder bekannt und längst allgemein verabscheut war. Im Geschäftchen mit einer Wiese trieb er es aber zuletzt auf die Spitze. Da war nämlich eine Wittwe gestorben, und hatte mehrere unerzogene Kinder hinterlassen. Unter ihrer Habe bot man nun eine schöne, fette Wiese zum besondern Verkauf aus, weil man hoffte, aus deren nicht geringem Anschlagspreise die Waisen erziehen lassen zu können. Allein des Ammanns Ränke wußten es durchzusetzen, daß man das Landstück ganz niedrig abschätzte und dann ihm zuschlug. Er zog auch noch manches Jahr großen Nutzen daraus. Doch schon einige Wochen nach seinem Tode wollten die Würenlinger ihren verstorbenen Gemeindevorstand in der Mitternachtsstunde auf jener Matte wieder gesehen haben; aus einer kleinen Vertiefung mitten im Grundstücke sei er emporgestiegen, mit gebeugtem Haupte dann wie tiefsinnig um die Stelle herum gegangen und nach kurzem immer wieder verschwunden. Das Gerücht davon kam nun auch seinen zwei reichen Söhnen und der ganzen stolzen Verwandtschaft zu Ohren; alle beschlossen, nächste Nacht zusammen dahin zu gehen, den Verstorbenen zu sehen und wo möglich anzureden. Um Mitternacht standen sie an der verrufenen Grube, und nach wenig Augenblicken stieg des Vaters Gestalt an ihnen auf.

Als er seine zwei Söhne erblickte, wartete er nicht ihre Anrede ab, sondern begann sogleich selbst und bat sie mit bebender, flehentlicher Stimme, die auf so sündige Weise erstandene Wiese den rechtmäßigen Besitzern zurückzugeben; würden diese ihren Lebensunterhalt haben, so könne er erst seine Grabesruhe finden. Die Verwandten, die mit zuhörten, waren aufs Tiefste gerührt, nicht so die zwei Söhne, die in der Zucht des Ammanns groß geworden waren; verhärtet suchten sie nun den Vater mit folgendem, gleißnerischen Trostspruche zu entfernen:



Digitized by Google

Lide, lide, Aetti,
S'ist gar e schön Mättli!

Sogleich versank die Gestalt. Seither will auch keines den Ammann weiter gesehen haben. Das Landstück blieb in den Händen der Söhne.

Lide, leide dich, gedulde dich: eine in den Schriftwerken des 16. Jahrh. noch gangbare Formel. „Leid dich und hab geduld, es wird etwan besser." Hutten im Karsthans (ed. E. Münch. Bd. 5, 456).

---

## 330. Der Giesischmied von Mörikon.

Vater und Sohn pflügten. Der Sohn stand vornen bei den Thieren, die einträchtig vorwärts zogen; aber plötzlich wurden sie störrig und giengen durchaus keinen Schritt weiter. Hör auf zu peitschen! schrie ihm der Vater mit einer sonderbaren Stimme zu. Der Sohn gehorchte und sah auf den Vater zurück. Dieser stand hinter dem Pfluge regungslos, und erst nach einer langen Weile betete er, dann hieß es wieder: Vorwärts. Am Ende der Furche angekommen, wollte der Junge die Unart der Thiere erklärt wissen. Sie haben den Giesischmied gesehen, sagte der Vater, er stand mit einem Prügel hinter dir und drohte dem Vieh. Was brauchst du davon weiter zu wissen; schweig! er ist wie der Wolf; wenn man von ihm redet, kommt er.

---

## 331. Der Buchlisberg bei Schöftland

war ein Wald, um dessen Besitz ein Junker und die Gemeinde Schöftland bis zum Losbruche der französischen Revolution sich stritten. Mit ihr änderte sich vieles, so fiel nun auch der Wald durch Rechtsspruch der Gemeinde zu. Der Junker ergrimmte darüber so sehr, daß er das Dorf verfluchte und den Wald seiner Lebtage nicht mehr mit eignen Augen anzuschauen schwur. So geschah's von Stund an, er wurde blind und blieb's sein Leben lang.

---

## 332. Der Choblezer im Ebbenlöh.

Eine Viertelstunde unter Klingnau kommt man in der Richtung gegen Koblenz auf die Zürichstraße, die in die Rütinen führt; von dort geht ein Weg links ab in eine Waldung, die das Ebbenlöh heißt. Davon will ich jetzt erzählen. Das ganze große Ebbenlöh hat ehemals an das Städtchen Klingnau gehört; man ließ aber der benach-

Digitized by Google

barten Gemeinde Koblenz, die nur wenig Waldung besaß, anfangs unentgeltlich, später kaufsweise ein Stück davon ab. Plötzlich hielten die Koblenzer einen Waldumgang und meinten, ihr Waldbann sei nicht nur zu klein, sondern die Klingnauer hätten mit ihnen die Marken zu beschauen und nach deren Ausweis gleichauf zu theilen. Allerdings ließ nun Klingnau durch die Aeltesten die Marken beschauen, aber man befand sie wie die Urkunde darüber will, und sie blieben unverändert. Jetzt kam's zum Prozeß und die Schiedsmänner beider Parteien erschienen vor dem Landvogt zu Baden. Noch einmal mußte der Wald vermessen und jede einzelne Marke bestimmt werden. Die Kosten liefen groß auf. Die Koblenzer wurden endlich abgewiesen, in die Tragung der Kosten und noch zu besondern Bußgeldern verfällt. Auf dies hin pflanzte man den Klingnauern den Feind ins eigene Nest; man bestach einen aus ihren Machthabern, und dieser ließ die städtischen Marchen heimlich also verrücken, daß die Koblenzer das bald in der That gewonnen hatten, was ihnen vorher im Rechtswege aberkannt war. Darunter gehörte auch derjenige Theil, den sie nachher in Mattland umgewandelt und Geißwiese genannt haben. Aber gerade auf dieser geht es nun auch darnach her; denn unrecht Gut — jedoch man höre nur, was sie selber darüber erzählen. Wer als Bube je die Kühe hingetrieben hat und im Ebbenlöh auf die Geißwiese kommt, der hat gegen Abend doch gewiß bald eine Geiß weiden sehen, oder ist wohl auch auf den Rathsherrn gestoßen, der seit seinem Tode dorten die Grenzsteine reitet. Und was zweien Jägern um Weihnachten daselbst begegnete, das kann man aus ihrem eigenen Munde vernehmen, denn beide sind noch am Leben.

Beide waren zusammen im Ebbenlöh auf dem Anstand. Beiden kam ein dreibeiniger Hase so nahe, daß ihn jeder hätte mit dem Stocke erschlagen können. Beide fehlten ihn; und kaum war er vorüber, so zitterte der ganze Boden ringsum und es pfiff, als ob man hundert prasselnde Kugeln gegen sie herschösse. Die zwei suchten sich nun auf und wollten es für diesmal gelten lassen. Weil sie aber noch junge starke Leute waren, schämten sie sich ihrer Bedenklichkeit bald, und begannen auf einem entferntern Punkte die Jagd wieder. Das Nämliche wiederholte sich hier, nur daß diesmal statt eines dreibeinigen Hasen ein anderes kaum erkennbares Unthier im allgemeinen Getöse an ihnen vorbeifegte. Nun giengen sie heim. Sie hatten den Forst schon hinter sich, da krachte es nochmals in den Bäumen, als ob alles durcheinander stürze, und eine abscheuliche Stimme schrie aus vollem Halse drein: O je! Durch die ganze Zürichgaß-Straße und genau demjenigen Hag entlang, der bis gegen Klingnau reicht, scholl ihnen diese Stimme

Digitized by

nach. Erst beim sogenannten Käpeli war's vorbei. Als sie's daheim erzählten, hieß es überall: aha, der Choblezer!

Der dreihundertjährige Prozeß zwischen einem habsüchtigen Kloster und schutzlosen Gemeinden liegt uns bändeweis vor; er behandelt Bann- und Weiderecht zwischen dem Verenenstifte zu Zurzach und der St. Blasier-Commende zu Klingnau einerseits, und anderntheils zwischen den Gemeinden Klingnau, Döttingen, Koblenz und Riethen. Die hauptsächlichen Urkunden darüber ergeben Nachfolgendes: Lüpolt, Herzog zu Oesterreich, urkundet zu St. Blasien 1369 diesem Stifte, also auch der zu demselben gehörenden Klingnauer-Probstei, „daz sie vß den holtzern die gehoren zu jren dörfferen Ending vnd Tegerfeld, brennholtz vnd bauholtz nemen sollen vnd mögen zu jhrem Hauß zu Clingnauw, wie sie daz bedörffen ohn meniglichs irrung vnd hindernuß, doch daz eß den aignen holtzern vnwiestlich vnd vnschedlich seye." Gerade über die Nichtbeachtung dieses Nachsatzes von Seite der Klingnauer-Probstei beschweren sich Endingen und Tegerfelden 1490 bei der Tagsatzung zu Baden und wiederholen 1548 vereint mit dem Städtchen Klingnau diese Klage. Sie erbieten sich bis 30 Klafter Bauholz jährlich ans Kloster abzuliefern. Letzteres aber weist nebst der obigen Urkunde Leopolds einen Kaufbrief v. J. 1276 vor, wornach Klingnau und Tegerfelden mit Wald, Grund und Boden des Gotteshauses Eigen sei. Die Tagsatzung trifft ein Uebereinkommen zwischen beiden Theilen, dieses ist jedoch der Gemeinde so nachtheilig, daß sie aus Noth nun an ihrem eigenen Waldeigenthume sich selbst vergreifen muß, während auch da das Stift den Dörfern noch die letzten Waldreste abzwackt. Dies gieng so weit, daß der Konstanzer Kardinalbischof Markus Sittich ein Schutzschreiben für Klingnau und Döttingen erläßt i. J. 1578, weil diese Gemeinden nachweisen, „was maßen die Gotts- und Ordenshäuser, von denen kein Widerfahl an die Burgerschafft zue gewarten seye, durch allerley gesuchte mittel und weg sich unterstanden haben, die beste güetter in ihren gwalt und jnhabung zue bringen und also männiglichen darvon verstoßen und treiben, daß zue besorgen und sich keins anderen zue versehen, dann es möchten nit allein die besten güetter wie bishero an die Ewigkeithen (darvon dann die burger und alle ihre nachkommen Ewiglich ausgeschlossen sein müßten), sondern undt noch alle güetter auß der burger hand wachsen und gerathen, darauß dann Ihnen höchster nachtheil und abgang burgerlicher narung, auch gewisses euserstes verderben, und daß sie undt Ihre kinder dardurch von Ihrem Vatterlandt vertriben und dasselbe verlassen müeßen — inmaßen solches bisbero und aus diser ursach auch von etlichen burgeren beschehen ist — entlichends zue gewarthen sei." Daher folgt dann der Tagsatzungsbeschluß 1588:

In diesem Jahre verordnen die Städte und Länder unter Caspar Thoman von Zürich, Landvogt in Baden, den Bürgern von Klingnau und Döttingen wegen Verkaufs von Gütern an die Ewigkeit:

1) daß kein Bürger, Einwohner, Hintersaß oder Fremder mit Haus, Hof, Weingarten, Holz, Feld, Matten, Acker und anderem liegenden Gut einem Ordenshaus, oder geistlicher und weltlicher Ewigkeit, eine Stiftung mache, weder durch Kauf, Tausch, Wechsel, Bargeld, Borg, Leibgeding, noch anderer Weis und Weg. Jeglicher Tausch und Kauf solcher Art wird in Zukunft für kraftlos erklärt und mit 10 Gulden auf beiden Seiten bestraft.

Digitized by Google

2) sollen der Bürger Kinder in den Klöstern nicht mehr mit liegenden Gütern, sondern mit Geld oder in anderer Weise fürohin ausgesteuert werden; feiles Gut aber soll von nun an einer ganzen Gemeinde feilgeboten werden und der Bürger vor dem Fremden den Zug voraus haben.

Copeienbuch der Klingnauer-Probstei, scripsit Probst Sebast. Ziegler 1657. pars I, pag. 50, 51.

1599 stehen die beiden Parteien abermals vor Gericht; es erkennt Landvogt Anton Erlach zu Baden abermals zu Gunsten des angeklagten Klosters.

Anno 1600 erkennt die Tagsatzung nach Einsichtnahme der St. Blasianer Grund- und Zinsbücher, daß die Endinger-, Lengnauer- und Klingnauer-Waldungen mit Grund und Boden dem Gotteshaus nicht eigen zugehören; doch soll Endingen je fünfzehen Jahr alle drei Jahre, und Tegerfelden eben so lang alle zwei Jahre die Probstei Klingnau mit Holz versorgen und nach Ablauf dieser 15 Jahre jegliche Gemeinde je ums andre Jahr dasselbe fortsetzen. Sämmtliche Urkunden, mit Ausnahme der v. J. 1578, finden sich in des Klingnauer Probstes Sebast. Ziegler Documentenbuch, pars I, geschrieben 1657.

Man könnte glauben, hiemit sei nun der Prozeß zu Ende und den Gemeinden geholfen gewesen; dies ist so wenig der Fall, daß sich in den spätern Präpositurschriften Klingnau's folgende Notiz in dem Tagebuch des Probstes eingezeichnet findet: „1713. in Praepositura Clingnoviensi, 24. April: Ritte Hr. Landvogt von Baden in den Endinger- und Dägerfelder Wald vmb zu sehen, ob dasige Gemeinden dann so großen mangel an Holtz haben, wie sie vorgeben. Haben zwar eine große Waldung, aber jung Holtz. — 7. Mai: Weilen die Dägerfelder verbotten meinen Holtzmachern Holtz zu machen, Ritte ich nacher Baden zuo Hr. Landvogt, mich dessen zu beklagen, welcher mir ein Befehl an die Dägerfelder gab. — 9. Mai: Schickhe den Stattschreiber nacher Baden vmb die Bauern bei Hr. Landvogt zu verklagen, der dann abermahl befahle, man sollte meine Holtzmacher lassen holtzen, vnd versprache die schuldigen gebührent abzuostraffen." Handschrift im Privatbesitz des Gemeindeschreibers Stäuble von Frick.

Dieser Aktenauszug dient dazu, das geschichtliche Recht darzuthun, welches in den vielerlei Aargauer-Sagen enthalten ist, die von einer ähnlichen Beraubung, an Gemeindewald und Almend durch geistliche oder weltliche Uebergewalt erlitten, bis heute erzählen.

---

## 333. Die Gleichaufshöhle bei Meisprach.

Oberhalb dem Frickthaler-Dorfe Meisprach kommt man durch die Waldung des Jura zu einem wenig bekannten Bade; noch einige Gänge höher zu Berge, und man steht vor dem Herrlichkeitssteine und seiner großen Höhle, die über fünfzig Schritte weit und so hoch im Felsen fortführt, daß ein Mann aufrecht darin umhergehen kann. Hier grenzt das Baselland ans Aargau, darum halten sich auch die Heimatlosen häufig hier auf, wo sie leicht der einen Kantonspolizei entgehen, wenn sie der andern nicht mehr ausweichen können. Zehn

Digitized by Google

Jahre lang soll eine ganze Schaar unentdeckt hier gewohnt haben; als sie der Bannwart vor zwei Jahren betraf, hatte er sich mit seinem Knotenstock gegen ihre Messer lange zu wehren, so sehr fürchteten sie, durch ihn den Landjägern verrathen zu werden. Neben dieser Höhle zieht sich noch eine zweite schief in den Berg hinab, welche man erst einige hundert Fuß weit untersucht hat. Diese ist noch verrufener; sie heißt von dem Betrüger her, dessen Geist nun in ihr hausen soll, die Gleichaufshöhle. Er war Klosterverwalter des Stiftes Olsberg und gerieth über den Besitz eines Waldes mit der Gemeinde Magden in Streit. Vor Gericht erklärte er den Bauern: Es geht alles gleich auf; was Ihr da auf einer Seite zu wenig habt, kommt uns auf der andern zu gut; es geht also alles gleich auf! Er bestach auch die Richter, bestritt die Aussage der gegnerischen Zeugen, und so verloren die Magdener den ganzen Waldberg, der dann dem Klosterstifte zugesprochen wurde. Sie nannten seitdem den Verwalter nur den Gleichauf. Es half ihm aber nicht lange. Das Stift wurde aufgehoben, und der Wald gehört heut zu Tage zum Hofe Iglingen. Was aus dem Gleichauf geworden ist, das hat der Mähder einst gesehen, der Nachts in hellem Mondschein von seiner Wiese nach Iglingen heim gieng. Oben vom Herrlichkeitssteine her kam unter starkem Lärm ein doppelter Fuchs den Wald herab. Mit feurigen Augen lief er heulend allen Marken und Rainen nach von einem Grenzstein zum andern und strich im Dampfe wieder seiner Höhle zu. Das ist der diebische Klosterschaffner, und so muß er jede Mitternacht seinen Grenzfrevel ablaufen.

Der feuerschnaubende Fuchs am Herrlichkeitsstein deutet auf Wuotan-Donar. Das Thier heißt in Island seiner rothen Farbe wegen Holzdonnerer, Holta-Thorr. Myth. 162. Reinh. Fuchs 445. Bei dem diesem Gotte geweiht gewesenen Osterfeuer ruft man daher noch in Westfalen: kyk di nit üm, dat *fösken* dat küemt. vdHagen, Germania 9, 288. Auch den Hunden, die den W. Jäger Au (Wuotan) begleiten, brennt ein Lichtlein im Schwanze. Müllenhoff, Schlesw. Sag. No. 495. Beim Glarner-Fridolinsfeuer, einem Landesfeste, bei welchem alle Kinder Nachts mit Feuerbränden und Lichtern das Thal durchlaufen, ist es der Jugend das einzige Mal im Jahre gestattet, Nachts nach Betläuten noch außer Hause zu sein; in dieser heiligen Zeit ist dann keine Gefahr vor Schaden, „da darf der Sigrist die Füchse nicht loslassen" (mündlich). An sonstigen Tagen aber sagt man den auf der Gasse sich verspätenden Kindern: Günd hei, der Fayer lat d'Füchs ûs! Der Fayer ist im Lande Name des Wilden Mannes und spielt eine große Rolle als Berggeist. Die Füchse gehören ihm zu und sind deshalb gespenstisch. Selbst wenn sie der Jäger einmal ausnahmsweise hat schießen können, verwandeln sie sich sogleich nach dem Schusse wieder. Blumer-Heer, Kant. Glarus 316. 319.

Digitized by Google

## 334. Wie die Stadt Bremgarten den Fischbacher-Wald bekommen.

Wo heute das Dorf Fischbach ist, waren vor etlichen hundert Jahren nur drei Brüder, die Seiler, haushäblich angesessen. Hans und Jakob wohnten sich zunächst; Joachim, der dritte, etwas entfernter von ihnen in der Mühlimatte, da wo man es heute zum Hohen Kreuz nennt. So sparsam die beiden ersten lebten, so groß und übermüthig that Joachim, der Aelteste. Er mochte nicht bauern, errichtete eine Schenke und that sich in seiner Einbildung gar viel darauf zu gut, daß ihm die Bremgartner die Ehre erwiesen und fleißig seinem Weine zusprachen. Da schwatzte er dann in seinem Herrendünkel geringschätzig vom Landgewerbe und vermaß sich einstens vor den Gästen, daß ihm sein Bauernhof sammt Almend und Waldung feil sei an jeden Städter, der ihm dafür binnen drei Stunden einen Metzen Zürcher-Angster auszahlen könnte. So hieß man Silberpfenninge, auf denen die abgeschlagenen Häupter der Zürcher-Stadtpatrone Felix und Regula geprägt waren. Während dieses Gespräches zechten die Bremgartner-Rathsherren tüchtig fort, bis dem trunkenen Wirth die Augen zufielen. Dann sendeten sie eilends einen Reiter nach Zürich, der ihnen aus der dortigen Münzstätte den Scheffel Angster herbeibringen sollte, und stellten zugleich den Uhrenzeiger in der Stube zurück. Als indeß Joachim wieder erwachte und zu besserer Besinnung gekommen war, gereuete ihn sein Wort, und er hätte den übereilten Handel gerne rückgängig gemacht; allein nun trat der rückkehrende Bote in die Wirthsstube und leerte den bedungenen Scheffel voll Angster vor ihm aus. Da es nun zu spät war, so erbat er sich zuletzt noch das Recht, jederzeit nur so viel Holz und so oft in dem verkauften Walde fällen zu dürfen, als die drei Brüder inskünftige für ihre vier Häuser und zwei Scheunen in Fischbach brauchen würden, falls sie diese durch Brand verlieren oder wegen Baufälligkeit sonst einmal abbrechen sollten. Die schlauen Rathsherren bewilligten dieses unter der Bedingung, daß diese Häuser stets auf der alten Baustelle wieder aufgeführt werden müßten. Damit war für Bremgarten ein zweifacher Vortheil gewonnen. Denn da die verkaufte Waldung zwischen den drei Brüdern bis dahin unvertheilt gewesen war, so war nun auch der Waldantheil der zwei andern mit an die Stadt verwettet; zugleich aber waren auch sämmtliche Nachkommen der drei Brüder von der ausbedungenen Waldnutzung ausgeschlossen, sobald sie einmal in jenen vier Wohnhäusern nicht mehr Raum fanden und auf andern Stellen ihres eingebüßten Erbes sich anbauen mußten. Bald geschah

Digitized by Google

es auch so. Das Geschlecht der Seiler in Fischbach macht heute zwei Drittheile der dortigen Bevölkerung aus und hat für ihre stärker angewachsene Zahl außer zwei einzigen Jucharten Gemeindewaldung keine andere Vergünstigung, als eben das Anrecht an jenes Bauholz, das ihnen Bremgarten zu den vier Häusern und zwei Scheunen liefern muß, so lange dieselben nach Beding an der alten Stelle und innerhalb desselben Raumes erneuert werden. Die Häuser stehen noch und eine Urkunde über den Vertrag ist im Besitz des Seilerschen Geschlechtes. Vor einiger Zeit wollte sich Bremgarten auch noch von dieser letzten Verpflichtung losmachen und erbot sich, gegen Herausgabe dieser Urkunde, dem Dorf einen Wald von etwa vierzig Jucharten abzutreten. So lockend dies Geschenk für ein holzarmes Dorf war, so ließen sich die Bauern doch nicht zum drittenmal fangen. Man schlug den Wald aus, denn er ist gänzlich am Wasser gelegen und wird von dem wilden Reußflusse alljährlich mehr unterfressen und hinweggeführt. Die Stadt soll dann hierüber sogar einen Prozeß versucht haben, von den Gerichten aber abgewiesen worden sein.

Der Bruder Joachim ward seines zu späten Verdrußes nicht mehr in der Heimat Herr, er wanderte nach St. Gallen aus und starb als Mönch im dortigen Kloster. In der Nähe seiner alten Wohnstatt, die nun eingegangen ist, liegt an der Landstraße der sogenannte Herrenbrunnen. Dorten zeigen sich noch die Schatten jener schlauen Rathsherren als murmelnde Gespenster. Seit dem Jahre 1712 hat sich ihre Gesellschaft weiter vermehrt. Damals lieferten sich auf dieser Stelle die fünf katholischen Kantone und die Berner die Staudenschlacht, im Spotte also von den Reformirten genannt, weil der Anführer der Katholiken, Oberst Sonnenberg, 500 Freienämtler vor dem Gefechte längs einem Waldsaume so versteckt hatte, daß die nachrückenden Grenadiere und Dragoner der Berner in ein heftiges Kreuzfeuer geriethen. Gleichwohl wurden diese nach zweistündiger Anstrengung Sieger. Die geschlagenen Katholiken hielten deshalb ihren Anführer Sonnenberg für einen Verräther, und sein eigener Sohn soll ihn während des Treffens vom Gaul geschossen haben. Vom Wasser dieses hübschgelegenen steinernen Brunnens scheuen sich die Kinder zu trinken, sie sagen, es laufe über lauter Todtenschädel und Wildenten.

Ein Vertragsbrief vom J. 1471 bestimmt zwischen der Stadt Bremgarten und dem Dorfe Fischbach, daß von nun an jede der zwei Gemeinden auf ihrem Grund und Boden verbleiben und kein Theil den andern überfahren solle: „namlich daß die von Bremgarten vß jren Fron- oder Hochwälden denen zu vischbach verer vnd mer nit gezimberhöltzer, dann zu vier purenhüsern vnd zwey schüren jn vnderschidlichen Hoffstetten vnd tachung,

Digitized by Google

die zu buwen gemeiner lantzbruch, sitt vnd gewonheit vermag, an ord vnd enden jnen ouch gelägen vnd dienstlich hinweg ze bringen vnd füeren, ze geben verbonden vnd schuldig syn söllen." Anno 1565 wird hierüber ein weiterer Vertrag aufgerichtet, ohne daß derselbe gehalten worden wäre. Deswegen wenden sich beide Parteien, die Vettern Joachim und Heini Seiler, genannt die Mäder, und die Stadt an das Schiedsgericht in Baden, und werden durch der Freien Aemter Landvogt Hans Rud. Raan, des Rathes von Zürich, und durch Gebhart Hegner, Landschreiber, in einem auf Pergament gefertigten Schiedsspruch vom J. 1593 vertragen. Gleich unmittelbar nach diesem letzten Vertrag muß durch den Landvogt abermals dem Joachim Seyler von Vischbach Recht gesprochen werden, dem die Stadt Bremgarten das zur Erbauung seines Hauses schuldige Bauholz vorenthält. Das Erkenntniß lautet: „Bremgarten soll hinfür zu ewigen zyten den Besitzern der Höfe zu Vischbach zu den vier tarierten purenhüsern vnd zweyen schüren, so viel die Tachungen vnder sich begryffen, gezimber Holtzes vnd Tachlatten der gebürenden notturft nach vorzeigen und geben; doch veber die gezimber holtz vnd tachlatten wyters holtz, hüser vnd schüren damit jnzuwanden, Raiten, Fleckling vnd derglychen gentzlich nit verbonden syn. Anno 1594." Auszug aus der Originalurkunde, im Besitze des Geschlechtes der Seiler im Dorfe Fischbach.

Auffallend lautet die Schlußbemerkung der Sage, das Wasser des Brunnens laufe über Todtenschädel und Wildenten. Letzteres Thier wird indessen noch häufig unter die nothwendigen Begleiter der W. Jagd gerechnet, ja man hat früher das unerklärliche Luftgetöse derselben mittelst hochziehender und herabschnatternder Züge von Wildenten zu erklären versucht. Um so mehr Interesse gewinnt dabei der Name Follente für Wildente, den Escher, Beschreib. des Zürichsees 1692, 141 unter anderm Wildgeflügel mit aufzählt; er erinnert an Phol-Baldar (Myth. 205) und an Phuluß, einen Namen, welchen die Eule in Baselland führt. In den Anmerkungen I, 332. II, 44. 47 ist hingewiesen, wie oft die Geister entenfüßig sind. Der Entibüchel beim Balgrist, unweit Zürich, ist ein heidnisches Grabfeld, in dem man 27 Gerippe noch jüngst ausgegraben hat. Ein Jäger suchte auch diesen Localnamen aus den Wildenten zu erklären, die sich früher des Nachts dorten aufgehalten hätten, um ihre Nahrung in den gefallenen Eicheln zu suchen. Zürch. Antiquar. Mittheil. 1839, 7. Vergl. die in Abthl. IX auf Befiederung und Vogelgestalt hindeutenden weiblichen Schelt- und Herennamen. „Daß dich botz tausent sack soll enten schend!" Montanus Gartengesellsch. 9b, in Grimms Wb. 1, 229. Ente, Gans und Schwan sind ihrer weißen Farbe nach Wuotansvögel, und die Gans geht so auf Wuotans Stellvertreter, den manteltragenden Martinus über. Daher allerlei wunderbares, das man der Ente nacherzählt: Eine solche, die man in die Quarges-(Zwergen-)Höhle zu Helsungen hineinsetzte, kam auf dem Schlosse von Blankenburg wieder heraus. Pröhle, unterharz. Sag. No. 71. In dem Born auf dem Haselkopf schwimmt Gänsedreck, und dies ist ein Zeichen für die Silberhaltigkeit dieses Berges. ibid. No. 395. Auf dem Schlachtfelde von Gamelsdorf lag lange Jahre eine steinerne Gans und wurde von den Bauern, als beim Pflügen hinderlich, bald hierhin, bald dorthin gewälzt. Ein fremder Mann kam hieher gereist und öffnete die Gans mit einem Handgriff; sie war mit altem Gelde angefüllt. Schöpp., bayr. Sb. 1241.

---

Digitized by Google

## 335. Hieno auf dem Katzenstriegel bei Zurzach.

Vor Alters reichten die Waldungen des Dorfes Tegerfelden fast bis gegen die Matten des Fleckens Zurzach hinunter. Dies dauerte so lange, bis sich eigennützige Ortsvorstände der Waldvogtei bemächtigten; unter ihrer schlechten Verwaltung kam der gute Gemeindebrauch ab, alle Jahre einmal einen Umgang um den Gemeindebann zu machen und die Marksteine der Reihe nach zu besichtigen. Da nun diese Gemarkungen nach und nach umsanken und weggeräumt wurden, so gieng die sichere Waldgrenze gegen den Flecken Zurzach hin verloren, und es nahmen sich's die Zurzacher heraus, einige Tegerfelder im Walde beim Holzen zu fangen und abzustrafen unter dem Vorgeben, dieselben hätten auf fremdem Boden Holz gefällt. Allein die Bestraften verblieben auf ihrer Behauptung, wie dieses ihr eigener Grund und Boden sei, und riefen ihre Mitbürger um Schutz an. Die zwei Gemeinden konnten nicht einig werden. Die Zurzacher sprachen den ganzen Wald bis auf den Kamm des Zurzacher-Berges für sich an, und gerade so meinten die Tegerfelder, es habe der ihnen zukommende Waldtheil bis auf eben diesen Berg und noch jenseits bis zur Bergwiese im Beckenmoos zu reichen. So trieben sie ihren Prozeß vor den Landvogt in Baden. Da die Urkunden fehlten, so sollten Zeugen entscheiden und diese von den Zurzachern gestellt werden. Den einen sollten sie aus ihren eignen Bürgern wählen dürfen, der andere Zeuge mußte ein fremder sein. Da gelang es ihnen, einen alten Tegerfelder zu bestechen, und dieser war wirklich so ehrvergessen, nicht bloß ihr Schiedsmann zu werden, sondern nun seine eignen Heimatgemarkungen selbst zu schmälern. Bei der neuen Setzung der Grenzsteine, die nun erfolgte, sprach er den Zurzachern alles zu, was ihnen nicht gebührte; und wenn ihm die Seinigen dabei ins Wort fielen, so schwur und schrie er ihnen ins Gesicht mit seinen aufgehobenen Schwörfingern: Hie nôche und hie nein müend ihr d'Marche setze!

So giengen den Tegerfeldern durch zwei Bösewichte mehr als hundert Juchart schönster Buchenwaldung für immer verloren. Allein die Strafe blieb nicht aus. Der falsche Zurzacherzeuge kam auf eine unbekannte Weise aus der Welt. Nun läuft er in dem Buchenwalde herum und legt sich sogar dem Postwagen, der hier durchfahren muß, in den Weg. Am liebsten thut er dies vor den drei heiligen Zeiten, da läuft er von der Grenze des Dorfes Reckingen bis zu der von Rietheim auf einem nun armseligen Waldhau, der den Zurzachern gehört und nur Zwergföhren trägt; früher aber stand derselbe voll

Digitized by Google

herrlicher Buchen, denn dies ist eben jener Waldhau, der sonst den Tegerfeldern zur Bannbeschreitung gedient hatte.

Aber auch dem Zeugen aus Tegerfelden gieng es nicht besser. Derselbe war daheim Gemeinderath und Gastwirth im Gelben Löwen. Trotzdem und sammt dem erworbenen Judasgelde sank er nun bald in tiefe Armuth herab. Zuletzt zog er gar aus dem Dorfe weg. Er fristete sich noch einige Zeit damit, daß er den Lederhändlern, die auf der Zurzacher-Messe besonders zahlreich erscheinen, die Häute aus dem Lagerhause in ihre Gewölbe karrte. Dies Taglöhnerbrod ward ihm zu sauer, und so fand man ihn endlich auf der Heubühne an einem Knüttelseil erhängt. So oft sich nun jener Schwurtag wieder jährt, kommt er im Gelben Löwen aus einem Hinterhause, welches man für das alte Wirthschaftslocal hält, während das Vordergebäude neuern Ursprungs ist, auf einem Schimmel geritten und wendet sich dann hinaus ins Grütt, einem Tegerfelder-Waldstrich. Dort wartet schon sein schlechter Kamerad auf ihn. Unter dem fortwährenden Geschrei: „Hie nôh und hie nein!“ ziehen sie auf den Katzenstriegel zu allen Punkten, wo die Marken heute rechtlich stehen sollten. Dann streckt er auch den Leuten, die ihm da begegnen, seine Hand zum Gruße dar, und wenn man so klug ist, ihm statt der eigenen den Stock entgegen zu bieten, so hat man des andern Tags das Vergnügen, die Brandspuren seiner drei Schwörfinger deutlich darauf eingedrückt zu sehen. Er trägt kurze Pluderhosen bis zum Knie, einen weißen und einen rothen Strumpf, auf dem Kopf einen Dreiröhrenhut. Die übrige Zeit des Jahres ist er daheim im Hintergebäude des Wirthshauses. Hier hatte er sonst die Fremden geärgert und ihnen das Deckbette weggezogen; deshalb hat man jene Zimmer in einen Tanzsaal umbauen lassen. Aus Verdruß hierüber hat er sich dann in den Taubenschlag hinauf gemacht. Seine Urenkel sind ein angesehenes Geschlecht, und so redet man überhaupt nicht gerne mehr von ihm.

Je nachdem man sich diese Begebenheit von einem Tegerfelder, oder von einem Bürger aus Zurzach erzählen läßt, ist der angeschuldigte Bannbetrüger natürlich aus der andern Gemeinde. In Zurzach beschuldigt man sogar das kleine Städtchen Klingnau, man habe durch dieses den vormals größern Waldbann einbüßen müßen. Darüber redet die nachfolgende Geschichte.

---

## 336. Der Hünemauch bei Zurzach

war ein berüchtigter Dieb von Klingnau. Zuletzt fieng man ihn und thürmte ihn in dem festen Theile des Zurzacher-Rathhauses ein,

Digitized by Google

welchen man das Heichel- (Heinrich) und Gäuchelnhaus hieß. Dieser Name deutete an, daß man darin jeden pfiffigen Schelmen, der sich als Narr (Heichel) anstellt, gescheit machen könne. Als er sich hier nicht mehr befreien konnte, erhenkte er sich. Man begrub ihn anfangs am gewöhnlichen Waldrain. Er kam aber von dort alle Nacht in den Ort herunter, und erregte einen solchen Lärmen, daß Niemand mehr schlafen konnte. Also grub man ihn da wieder aus und verscharrte ihn weiter am Berg droben, auch warf man einige Fuder Steine darauf, damit er ja nicht wieder auferstehe. Dieser Waldplatz heißt seitdem ebenfalls Hünemauch.

Mittelst seines Eßlöffels betrügt Hieno seine Rechtsgegner um einen Theil ihres Gemeindebannes. Die Erzählung etymologisirt in diesem Namen und läßt ihn aus dem Rufe des Betrügers entstehen, der bei der Markenbestimmung wiederholt gerufen habe, hie nôche: hier meiner Markweisung nach! Allein Sage und Sprache verstehen beide zusammen denselben Eigennamen noch besser. Güne und Gone ist in der Sennensprache theils das Milchgeschirr (die Gepse), theils die Kelle zur Ausschöpfung der Sirpe geheißen; Hiene ist in Aargau und Schaffhausen der Henkel des Milchgefäßes (Kirchhofer, Sprichw. pag. 363), und im Rothwelsch (Anton, Wörtb. der Gaunersprache 1843, 39) ist Heine der Löffel. ansa, hiene. Hoffmann, Sumerlaten pag. 2, 3. Mithin erzählt die Sage, daß der Betrüger Hieno einen Eid mit Vorbehalt, nämlich bei seinem im Hut versteckten „Schöpfer", dem Sennenlöffel, geschworen habe. — Der andere dem Betrüger beigelegte Name Heinemauch ist Schelte und bezeichnet den für teuflisch angesehenen Mistkäfer, der bald Mauch und Mückel (wie in Fischarts Kehrab Vers 120 vorkommt) genannt wird, bald Heinimeukel, und Feldgrille bedeutet. Ueber das Fuder Grabsteine vgl. I, 72.

## 337. Wie die Freienämter unfrei wurden.

Das Stiftbuch des Klosters Muri erzählt, wie in frühesten Zeiten freie Bauern in den Ortschaften zu Buttwil, Geltwil und Wallenschwil gewohnt, Freie ihr Land zu Wohlen bebaut hätten, wie der Ort Muri schon vor dem Jahre 1024 seine eigne Taufkirche besessen habe. Die Landesgeschichte und Sage aber dieses Theils des Freienamtes berichtet, wie eben diese Ortschaften um ihr Recht und dann um ihr Eigenthum gebracht worden sind.

Es hatte sich ein elsaßischer Graf Guntram in eine Verschwörung gegen Kaiser Otto I. eingelassen, verlor darüber seine Lehen und kam in die Acht. Er zog sich nun auf ein kleines Erbgut zurück, das auf der Landzunge beim Zusammenflusse von Aare und Reuß im Aargau gelegen war und heute noch Im Eigen genannt wird. Hier nahm er von den Ruinen zu Altenburg und Habsburg den Namen

Digitized by Google

an, baute sich alsdann auch in den Freienämtern ein Herrenhaus und mischte sich als neuer Landgraf in die Zwistigkeiten der Leute um Muri und Althäusern. Diese unerfahrenen Leute wählten ihn öfters zum Schiedsrichter, allein damit hatten sie, nach dem Ausdrucke der Klosterchronik, gerade der Katze den Speck empfohlen. Er wußte sie so zu belisten, daß die Gemeinden bald nicht mehr in ihren eignen Waldungen holzen durften; und die einzelnen Bauern, die ihm anfangs das Land rodeten oder es von ihm in Zins nahmen, machte er nach und nach zu Leuten seines Bodens. Seine Söhne setzten diese Erpressungen fort und die Enkel steigerten sie noch. Als Graf Ratbot die Gräfin Ida von Lothringen zum Weibe nahm, schenkte er ihr das Freienamt zur Morgengabe, als ob es ihm schon seit ewig gehörte. Darüber ergrimmte nun aber in gleich großer Habsucht sein Bruder Rudolf, es kam zwischen beiden zu Fehden und sie äscherten sich gegenseitig die Dörfer ein, über deren Theilung sie nicht einig werden konnten. Mittlerweile war jene Lothringer Gräfin Ida im Aargau angekommen, und da sie das Land bis Zofingen hin verwüsten sah und die Städtchen Aarau und Brugg in Flammen aufgehen, fragte sie dem Grunde dieser betrübenden Ereignisse nach. Aus dem Munde Werners, des dritten und jüngsten der Brüder, der unbetheiligt als Bischof zu Straßburg lebte, erfuhr sie das alte, schon vom Ahnherrn des Hauses begangene Unrecht. Die menschlichfühlende Frau entsetzte sich darüber, aber nach dem Begriffsmaße ihrer Zeit glaubte sie nun, das Böse zu sühnen und noch drüber hinaus Gutes zu thun, wenn sie den Raub, anstatt ihn den beraubten Bauern zurückzugeben, zum Aufbau eines Klosters verwende. So gründete sie auf eben jenen Ländereien, die ihr zur Brautgabe geschenkt waren, die Benediktiner-Abtei Muri i. J. 1018.

Die ganze weitere Geschichte dieses Stiftes und der umliegenden Landschaft ist in den Worten eines Mönches enthalten, der die Chlosterchronik von Muri geschrieben hat. Dieselbe ist begonnen im Jahre 1145, und da ihr zweiter Fortsetzer im J. 1210 auf die neuen Gewaltthätigkeiten seines Convents gegenüber der damaligen Bevölkerung zu sprechen kommt, ruft er mit Unwillen aus: Was soll's denn helfen, daß es nun der Mönch verzehrt, was der Räuber gestohlen hat! „cogitet, quid prosit, si latro rapiat, et monachus comedat.“ Frid. Kopp, Acta Murens. Das Kloster aber war mit der ursprünglichen Schenkung keineswegs zufrieden; schon der erste Abt Rupert kaufte der Grafenfamilie allen rechtmäßigen und unrechtmäßigen Landbesitz in der Umgegend um einige hundert Pfund Silber ab, und da sich der Kaufschilling hiefür nicht augenblicklich aufbringen ließ, so machte er nun

Digitized by Google

dieſelben metallenen Kruzifixe, Kelche und Reliquienſchreine wieder zu Geld, welche ſo eben neu von den frommen Frauen Ida und Euphemia dem Kloſter vergabt worden waren. Auch jetzt noch gab es einige freie Leute in jenem Landſtriche. Aber ein von Gott gezeichneter Böſewicht aus dem gierigen Geſchlechte der Gerunge trat nun dorten gegen ſeine eignen Landsleute auf, bedrängte ſie zu Gunſten des Stiftes, ſtieß ſie von ihrem Erbe und trieb ſie endlich ganz zum Lande hinaus. Er iſt darüber hernach von ihrer einem umgebracht worden. Die Kloſterchronik erzählt auch von dieſer Schandthat, allein ſie thut es mit folgenden Worten des Mitbetheiligten: „Die zwei letzten Freien ſind bei uns Brüder geworden, die übrigen ſind in den Bifang unſeres Kloſterbodens hereingezogen und haben uns das ihre zugebracht; und nur diejenigen Güter, die zuletzt Gerung raubte, ſtehen noch im Streite, ob ſie uns, oder deren Erben gehören.“

Dieſer Streit war bald zu Gunſten des Convents entſchieden. So iſt es auch nachher geblieben. Der Abt wurde ſogar in den Fürſtenſtand des Reiches erhoben, aus welchem ſein weltlicher Vorfahr einſt als Verſchwörer ausgeſtoßen worden war; und den Unterdrückten verblieb von ihrem Rechte nichts als, wie zum Hohne, der hiſtoriſche Namen Freie Aemter.

„Spätere Weisthümer und Urkunden gebrauchen den Ausdruck Freiheit und freie Leute zuweilen von Unfreien, nämlich im Gegenſatz milderer Hörigkeit zu härterer Leibeigenſchaft.“ Grimm, RA. 1, 282.

---

## 338. Der Stiefeliſchreiber von Muri.

Während das Kloſter Muri vor alten Zeiten beſchäftigt war, ſeine Beſitzungen im Freien Amte durch Kauf, Vertrag, Erbe und Prozeß zu vergrößern, erhob es auch Anſprüche auf den zur Gemeinde Bütikon gehörenden Wald Bärholz. Die Leute glaubten, dieſes ſeit uralter Väterzeit unangetaſtete Eigenthum ohne Sünde gegen ihre Enkel nicht ſo leichtfertiger Weiſe an das Kloſter abtreten zu dürfen. Ein darüber entſtandener Streit ſollte vom Landvogt bereits zu Gemeindegunſten entſchieden werden, als ſich der Kloſterſchaffner zum Eide anerbot, daß dieſer Wald von jeher kirchlicher Grund und Boden geweſen ſei. Er füllte ſeine Stiefel mit Erde aus dem Kloſtergarten, ſteckte unter ſeinen Hut die Milchkelle, welche die Sennen den Schöpfer oder Richter nennen, und ſchwur mit aufgehobenen Fingern, daß der Wald ſo gewiß des Kloſters ſei, ſo gewiß er ſelbſt auf des Herrn Grund und Boden ſtehe und ein Schöpfer und Richter über ihm. Seither

Digitized by Google

wandelt von den Höhen des Lindenberges bis Wohlen ein grüngekleideter Jäger, so oft in diesen Waldungen Holz gefällt wird; oder er sprengt als Reiter mit gewaltiggroßen sporenklingenden Stiefeln die Holzfrevler in die Flucht. Alsdann reitet er einen Schimmel, schwingt eine feurige Peitsche und speit zugleich Feuer aus dem Munde. Andere behaupten, sein Geist sei mit geistlichen Mitteln und Exorcismen ins berüchtigte Enziloch im Entlebuch verwünscht worden und lasse sich wenigstens in Muri seitdem nicht mehr sehen. Dagegen im Entlebucher Enziloch oder Sentiloch, bei der Blumalpe, sei eine Höhle, deren Eingang stets frisch gekehrt ist, aber auch versperrt durch einen Fels, der an einem Seidenfaden vom Gewölbe herunterhängt. Ein vier Ellen dicker Hag schließt den Platz ein. Die benachbarten Sennen am Napfberge vergessen am Abend nie, den englischen Gruß durch ihren Milchtrichter gegen den Schreckensplatz hin zu rufen, damit ihnen kein Stück der Heerde behext oder versprengt werde. Scheint gleichwohl eines Schaden zu leiden, so schneidet man ihm schnell ein Kreuz ins Bauchfell.

Ueber die verschiedenen Schimmelreiter dieser Sammlung erklärt sich Anmerk. No. 161. 253; über die mehrfach vorkommenden landräuberischen Stiefelreiter, Stiefeli und Stiefelschreiber handelt Anmerk. 213. 489.

---

## 339. Der Stiefelirüter vom J. 1740.

Wenn die Leute der um das Stift Muri liegenden Gemeinden diesem Kloster Frohndienste zu thun hatten, so stellte sich auch regelmäßig ein Mann bei ihnen ein in sehr hohen gewaltigen Stiefeln, und schlug mit einer Peitsche grausam auf die müden Tauner los. Er hieß Stiefelirüter und soll der Klosterschaffner gewesen sein. Ganze Dörfer brachte er um ihr Gemeindegut. Der Gemeinde Merenschwanden machte er den Besitz des schönen Maiholzes bei Muri streitig, der Gemeinde Müswangen das Recht auf die Waldung Schlatt. Der Stadt Bremgarten spielte er das gleiche Stücklein, und wieder umgekehrt soll er als Bremgartens Advokat die Gemeinde Wohlen um ihren Wald betrogen haben; immer und überall mit Glück. Denn da die Leute unter des Klosters Gerichtsbarkeit gehörten, so fiel der Rechtsspruch nicht blos regelmäßig zu ihrem Nachtheil aus, sondern sie mußten zu ihrem verlornen Gemeindegut auch noch die aufgelaufenen Prozeßkosten bezahlen. So trieb der Schaffner seine Kniffe bis in sein siebenzigstes Jahr fort und muß nun dafür auf den unrecht erworbenen Klostergütern umgehen. Bald reitet er auf einem Schim-

Digitized by Google

mel im Eichholz und heißt davon Schimmelrüter; bald hopt (ruft) er im Breithau, bald dröhnt die Reußbrücke in Bremgarten unter dem Hufschlage seines Rosses, daß man es bis zum Kreuzwirth hinein hört. Alsdann holt er sich in der alten Schaffnerei daselbst, die sonst zu Muri's Besitzungen gehörte, einen Gaul aus der Stallung heraus. Ueber die Ringmauer des Klosters Muri sprengt er mit seinem Rosse in einem Satze weg, und alle Jahre muß ihm dorten im Klosterstalle ein frischer Gaul bereit stehen. Bald geht er durch den Wald von Bünzen, als ein zaundürrer langer Kerl, dem das Einmaleins zu den Augen herausschaut; bald reitet er auf dem Schimmel ins Maiengrün und wird dann in der Gegend von Häggligen der Markstaller genannt; bald läuft er im Rohrdorfer-Moos herum und heißt dann wegen seines Schreiens Hopelirüter.

Die Mönche haben Messen für ihn gestiftet und dadurch den Graus seiner Erscheinung etwas gemildert, auch macht er seit einigen Jahren nicht mehr so viel Lärm wie früher; doch auch jetzt noch hört man von älteren Leuten Verwünschungen gegen diesen Stiefeli ausstoßen, deren Eltern oder Großeltern seine Zeitgenossen gewesen und einst von ihm mißhandelt worden sein sollen. Denn man will fest behaupten, er habe i. J. 1740 noch gelebt. Ja im Kanton St. Gallen soll jetzt noch ein Mann leben des Namens Stiefelirüter, und wenn man nur wüßte, ob er wirklich des Klostervogtes Sohn oder Enkel ist, so würde man ihn auch nicht mit heiler Haut selig werden lassen.

Wie man hier vom Stiefelireiter zu wissen vorgiebt, wann er gelebt und wo noch seine Nachkommen heute sich aufhalten; wie ferner (I., 375) versichert wird, er sei ein Schwarzwälder von St. Blasien Namens Bläseli gewesen; mit eben solcher Bestimmtheit behauptet auch die Sage vom Kinzhalden-Joggeli (I., 184), derselbe sei der Bauer Winter von Kaisten, und sein Enkel der gleichnamige Ortspfarrer daselbst gewesen und beider Erbhaus stehe noch im Dorfe.

---

## 340. Stiefelireiter am Schongauer-Hof.

Der Stiefelireiter von Muri war nicht blos ein boshaftes und jähzorniges Männchen, er war auch ein Religionsspötter und Rechtsverdreher. Er speite die Flurkreuze am Wege an und beschädigte sogar noch die Landleute, die solche frisch errichteten; da stahl er ihnen Nachts das Heu, holte im Baumgarten das Obst aus den Zweigen herunter und hob ihnen die Scheiterbeugen ab. Und weil er beim Abt von Muri im besten Ansehen stand, so wagte Niemand ihn zu verklagen, und sein Unwesen wurde immer größer.

Digitized by Google

Jenseits Schongau auf Luzerner Grund wohnte eine fromme Person, die in ihren alten Tagen ihr hübsches Bauerngut der Abtei Muri vermachte. Das war dem habsüchtigen Stiefelireiter ganz erwünscht, sogleich ritt er auf jenen Hof hinauf und durchmusterte ihn. Dann trat er ins Haus ein, wo die alte Frau eben bei der Suppe saß, und erklärte ihr, die Besitzung sei für das Kloster nicht sehr von Nutzen, so lange dieselbe noch durch ein kleines dazwischenliegendes Gütchen unterbrochen werde, das nothwendig mit zum ganzen Bauernhofe gehöre; die Frau möge also zum Frommen des Klosters und ihres eignen Seelenheils durch einen Beisatz in ihrem Testamente es verschaffen, daß dieses Gütchen mit in das Erbe des Stiftes falle. Darüber wurde die Frau so aufgebracht, daß sie von ihrer Suppe aufstand und dem Stiefeli mit kurzen Worten die Thüre wies. Denn eben jenes Gütchen, das nur aus ein paar Wiesen und Aeckern bestand, gehörte ihrer Bruderstochter, die hier in einer Strohhütte wohnte, und gerade in der sorgsamen Absicht, diese verlassene Frau in ihrer ärmlichen Hütte auch später noch geschützt zu wissen, hatte die Schongauerin im Testamente das Kloster zum alleinigen Gutsnachbar ihrer Anverwandten gemacht. Der Stiefeli aber wußte sich hierin zu helfen. Er bemächtigte sich der Pergamentrolle, welche die Schongauer-Vergabung enthielt, und da er sich schon frühzeitig mit Erfolg auf die Nachbildung aller möglichen Handschriften verlegt hatte, so setzte er mit glücklich verstellter Hand zwischen Text und Unterschrift des Testamentes jener Schenkung noch die Worte hinzu: „sammt dem Hüttlein und dem Gute, das bis dahin meines Bruders Tochter inne gehabt hat." Bald kam es nach dem Tode der Stifterin über die verfälschte Urkunde zum Rechtsstreit, aber der Stiefeli beendigte ihn damit, daß er auf dem strittigen Grundstück den Eid ablegte „so wahr sein Schöpfer und Richter über ihm, so wahr stehe er auf des Klosters Grund und Boden." Kaum war der Schwur heraus, so stieß er einen Wehschrei aus und wälzte sich in Todeszuckungen auf dem Wieslande herum. Als man ihm die Kleider aufknöpfte, sah man, daß es sein falscher Schwur war, der ihm den Hals gebrochen hatte; denn in seiner Kappe fand man Schöpfer und Richter (Löffel und Kamm) versteckt, seine Stiefel aber waren mit Erde aus dem Klostergarten von Muri angefüllt.

Nun ist er zum Landesgespenst geworden, das mit verdrehtem Haupte auf einem Schimmel Nachts auf allen Feld- und Waldwegen umher reitet.

---



Digitiz

## 341. Der Ring von Halwil.

Der alte Edelmann von Halwil hatte einen einzigen Sohn; er hieß Walther, nannte sich aber nach Christi Jünger Johannes, seit er mit andern Adeligen das Gelübde gethan, das Kreuz zu nehmen, und eine Wallfahrt nach dem heiligen Grabe zu machen. Obwohl der Greis seinen Stammhalter nicht gerne ziehen sah, so mußte er es doch geschehen lassen; aber zum Wahrzeichen, daß sein Johannes der alleinige Erbe und Nachfolger in der Herrschaft sei, zog er einen Goldring vom Finger und brach ihn vor allen Dienern entzwei. Die eine Hälfte übergab er seinem Beichtvater, der einst das Testament vollstrecken sollte; die andere Hälfte reichte er dem scheidenden Sohne; damit sollte dieser bei der Rückkehr seine Ansprüche männiglich erhärten, unbegründete fremde zurückweisen. Zwanzig Jahre waren indeß vergangen, der Greis war längst gestorben, keine Kunde vom Sohne war je gekommen. Niemand vom ganzen Herrengeschlechte war übrig, als ein habsüchtiger Oheim, das war der reiche Abt des benachbarten Stiftes Muri. Also zog dieser das Schloß an sich und verwandelte es schleunig in ein Kloster. Schon lange hatten sich hier die Mönche an den großen Hechten des Halwiler-Sees gütlich gethan und an dem Edelwilde der Hochwälder am Homberge, da pochte eines Tages ein fremder Ritter an die Klosterpforte. Auf die erste Frage um sein Begehr nannte er sich Halwil. Der erschreckte Pförtner lief nach dem Großkellner, der Großkellner nach allen Patres und Fratres, der ganze Convent endlich nach dem berühmten halben Ring, den ihnen des verstorbenen Grafen Beichtvater zur Urkunde ihres Besitzes ausgeliefert hatte; und hinunter gieng's damit vor das Thor, wo eben der Ritter die andere Hälfte den Betroffenen vor die Augen hielt. Man paßte sie an einander, sie waren wie zusammengegossen. Allein sogleich erschien auch der Prior, triumphierend brachte er noch eine dritte Hälfte jenes Ringes auf der Hand daher getragen. Was für ein Lärm! ruft er; hier ist schon längst unser ganzer Ring, in seinen beiden Hälften, wie ihn unsere Sakristei verwahrt; ein Pilger hat uns diesen hier zu jenem Theile des Grafenringes vor langem gebracht, und zwar aus der Hand des armen Johannes selbst, der im Morgenlande an der Pest gestorben ist, dessen letzter Athemzug uns sein Schloß übergab, damit wir darin für seine Seele beten und ihm Verzeihung der Sünden erwerben. Hinaus mit diesem frechen Betrüger, der die Grabesruhe des Stifters und die Andacht unserer Brüder stört! So sprach der Prior, und die Thore des Klosters fuhren zu. Wie ein Bettler stand der junge Graf draußen vor sei-

Digitized by Google

nem Erbe. Welches Gesetz hätte sich gegen solche Arglist vorgesehen gehabt, welcher Rechtsspruch solche Schlingen entwirren können! Hier konnte nur das Gottesurtheil entscheiden. Johannes berief die Mönche in die Schranken vor Aarau und entbot ihnen den Zweikampf. In ihrem Namen stellte sich des Klosters Schirmvogt, der Ritter von Rüßegg. Unter dem Geleite des Freien von Mülinen ritt der gerüstete Johannes in die Bahn, der Abt von Kappel besetzte das Gericht. Draußen an der Stadt unter der großen Linde am alten Aarufer (I, 83) vor geschworenen Zeugen und allem Volk geschah der Kampf. Der von Rüßegg wurde vom Pferde gehauen und getödtet, sterbend bekräftigte er seines Gegners Recht. Die erbschleicherischen Mönche mußten ihren Raub fahren lassen, Johannes bezog sein Schloß, noch besitzt es sein Stamm. Dies soll im Jahre 1272 geschehen sein. Zwei Jahrhunderte später rettete sein Enkel die ganze Schweiz durch seinen Sieg in der Schlacht bei Murten.

Hans Rud. Grimm, Buchbinder, Trompeter und Flachmaler zu Burgdorf: Schweitzer-Cronica, neugedruckt Basel 1786, pag. 212. — Alpenrosen, Jahrgänge 1815, 71; 1821, 329. — Oelhafen, Aarauer-Chronik 9.

R. Wyß, Schweiz. Idyll. 2, 302 erzählt Aehnliches von dem Ritter Wernhart von Strättlingen am Thuner-See; er wird in einem Stücke seines ihm gestohlenen Mantels vom Teufel aus Lamparten heimgeführt, um da gegen den fremden Freier die Ringprobe zu bestehen. Dies und unsere Sage bedarf keiner Erklärung aus der Landesgeschichte, es ist beides ein Nachklang der Sage vom heimkehrenden Hildebrand, der sich seinem Weibe Uete auf dieselbe Weise, wie der Strättlinger dem seinigen, und der Hallwiler den Muri-Mönchen, zu erkennen giebt mittelst der Ringprobe. Uhland, VolksL. No. 132. Viele hier einschlägige Sagen hat Menzel, Odin pag. 94 f. zusammengestellt; ebenso Müller-Schambach, ndsächs. Sag. in der dorten angehängten Abhandl. 2: „Die Fahrt in den Osten." Dieser Mythus ist ein frühes Gemeingut gewesen und hat bei den meisten deutschen Stämmen seine besondere Färbung angenommen; er findet sich bei den Gothen, Schweden, Bayern, Franken, Niedersachsen, Hessen; so auch in der Normandie und Italien, wohin er durch Gothen und Langobarden gebracht worden sein kann. Er knüpfte sich an die Volkshelden Hildebrand, Dietrich-Sibich und Möringer an, später an die bedeutsameren Stammkönige, an Karl d. Gr. und Heinrich d. Löwen, und giebt so den Nachweis, wie und daß das Volk den Inhalt seiner politischen Geschichte dann am ehesten behält, wenn es dieselbe mit altreligiösen Ideen in Verbindung zu bringen vermag. Die hier zu Grunde liegende Mythe hatte sich übrigens schon in der alten Sitte verkörpert gehabt. Fredegar, cap. 11 erzählt, wie Childerich, König Merovechs Sohn, aus dem Reiche vertrieben, mit seinem Diener Wiomad ein Goldstück bricht zum Zeichen steter Treue, dann nach Byzanz flieht, dorten durch die ihm zugeschickte Hälfte des Goldguldens zur Rückkehr gemahnt wird und von seinem Reiche glück-

Digitized by Google

lich wieder Besitz ergreift. Gregor. v. Tours, deutsch v. Giesebrecht 2, 271. Neuere Ausgrabungen haben vielfach auf solche Ringstücke geführt, die als Zeichen unverbrüchlicher Treue einst mit dem Geliebten gebrochen, ja wie der Augenschein beweist, entzwei geschnitten, und so ins Grab mitgenommen wurden zum Zeichen, daß die Liebe über den Tod hinaus daure.

---

## 342. Schimmelrüter in Gättibuch bei Linn.

Wer von dem Dörfchen Linn am Bötzberge südwestlich sich wendet gegen die aufsteigenden Höhen, der kommt an einen Wald, der recht eigentlich in seiner Mitte eine lustige Wiese hat. Der schöne Wald war ein uraltes Eigenthum der Linner, aber ihre Urkunden darüber waren längst verloren oder in der Gemeindekiste verfault. Nun hatten die Thalheimer, die jenseits des Berges wohnen, ihr Auge ebenfalls auf dieses Besitzthum geworfen, und wie man sie jetzt noch Hegel und Wetzer heißt, so hieben sie sich da nun ungefragt ihr Holz und frevelten so frech, daß man sie in Thalheim beim Vogte anklagte. Da aber hieß es nun gar: der Wald ist der Thalheimer. Die Linner aber ließen es nun auf einen Landtag ankommen und der Vogt sollte entscheiden. Mitten im Walde auf der schönen Wiese versammeln sich beide Gemeinden; wer unten nicht Platz findet, steigt auf die Bäume, die Aeste wimmeln und schwanken von Zuschauern. Plötzlich wird's stille, es bildet sich durch die Menge ein Weg und hoch zu Roß zieht der Landvogt, mit dem Federhut auf dem Haupte, hindurch und auf das Gerüste los, das im Kreise für ihn aufgezimmert ist. Er sitzt ab, aber die Bühne besteigt er nicht, damit man den Schwur ja nicht mißdeute, den er jetzt sprechen soll. Nun erhebt er die Hand und streckt drei Finger auf, alles zieht den Hut, nur er bleibt bedeckten Hauptes und spricht: „Bürger von Linn und Thalheim, höret! So wahr ich meinen Schöpfer und Richter über mir habe, so wahr stehe ich hier auf dem meinen und der Thalheimer Grund und Boden!" Sogleich verließen alle Linner in höchster Entrüstung die Gerichtsstätte; aber schon am nächsten Morgen kam die Nachricht, es sei der meineidige Vogt auf dem Heimritte vom Blitz erschlagen worden. Als seine Getreuen ihm beistehen wollten, fanden sie in seinen Stulpstiefeln Erde, die er nach dem Wortlaute seines Eidschwures im Thalheimer-Schloßgarten drein gefüllt hatte, und unter dem Federhute stak Kamm und Schöpflöffel, die man Richter und Schöpfer nennt. Seitdem spukt es in dem freundlichen Walde, der Landvogt durchreitet ihn Nachts und ruft nach allen Seiten ein wildes Hohoy!

Digitized by Google

Aehnliches erzählt man in Linn über den Wald Gättibuch, der an der Grenze des Linner Gemeindewaldes liegt, mit in die Dorfgemarkung gehört hat, seit langem aber das Eigenthum des Dorfes Schinznach ist. Der Landvogt von Casteln, der aus seinem Schinznacher Schloßgarten Erde in den Stiefeln mittrug, unter der Alongenperücke aber seines Sennknechtes Kamm (Richter) und Kelle (Schöpfer), leistete für die reichen Schinznacher den falschen Eid. Seither reitet er alljährlich in der Frist des Landtages durchs Gättibuch; sein Pferd ist wie das mit ihm laufende Hündchen schneeweiß, in gebrochenen Worten stößt er seine falsche Schwurformel unaufhörlich aus. Weil man aber nun nicht mehr an diese Erscheinung glaubt und sie nur auf die Einbildung derjenigen schiebt, welche zu viel trinken, so sagt man dort mit einem Scherzsprüchlein:

Im Gättibuch isch nid gar schön,
Es hed so schwarze Büschli;
Mandli, wenn d' is Wirthshûs gohst,
Se bring mer nu kes Rüeschli!

---

## 343. Der Schimmelreiter von Homburg.

Als der Feind einst von dem Frickthaler-Dorfe Schupfart aus gegen das Schloß Homburg anrückte, auf dem gleichnamigen Juraberge bei Wittnau gelegen, nahm er alle Bauern, die er auf seinem Wege traf, gefangen und stand also unangemeldet plötzlich vor der überraschten Burg. Der Schloßherr sah sich außer Stand, die Vertheidigung zu wagen, aber auch an ein Entrinnen war nicht mehr zu denken, denn bereits war jeder geheime Ausweg von der Uebermacht umzingelt. Hierauf versammelte er seine Leute und erklärte ihnen, er wolle sein Leben für sie alle einsetzen, und nur so lange, bis dieses geschehen, möchten sie die Burg noch zu halten suchen; werde er darüber zu Grunde gehen, so stehe es bei ihnen, dem Feinde unverweilt das Thor zu öffnen. Er bestieg seinen schneeweißen Schimmel und that folgendes Gelübde. Auf derselben Stelle, die er im Sprunge mit seinem Roß erreiche, wolle er eine Kapelle bauen und ihr so viel an Ewiggeldern vergaben, daß sie bis auf fernste Zeiten zum Angedenken seiner eignen Rettung erhalten bleiben solle. Alsdann ritt er bis auf den Rand des Walles hinaus, unter welchem der Homberg in einer ununterbrochenen Steile abfällt bis an die Sohle des Wittnauerthales. Hier setzte er über den jähen Berg und durch den Hochwald hinab, und erst auf einem Hügel in den Feldern ober-

Digitized by Google

halb Wittnau faßte sein Schimmel wieder Fuß. Alsbald sammelte er die Bauern um sich, fiel dem Feind listig in den Rücken und befreite Burg und Mannschaft. Auf dem Platze, auf dem er gerettet mit seinem Rosse gehalten hatte, ist dann die versprochene Kapelle errichtet worden. Sie ist heute noch in gutem Stande. Das Altarbild stellt den Ritter auf seinem Schimmel vor. Da aber das Patrocinium der Dorfkirche zu Wittnau in der Ehre des hl. Martinus steht, so erzählen einige Leute, jener Ritter sei der hl. Martinus selber gewesen und in dieser Kapelle sei sein echtes Ebenbild zu sehen.

## 344. Der Schimmelritter von Liestal.

Der hohe Bergrücken zwischen Arisdorf und Liestal heißt die Scheuerhalde; sie gehört bis gegen Arisdorf hin meistens der Stadt Liestal, und nur ein ganz kleiner Theil davon dem Dorfe. Der Liestaler Schultheiß war Ursache an dieser so ungleichen Waldvertheilung, der mit Hilfe einiger Böswilligen die Nachbargemeinde um ihr Eigenthum zu betrügen wußte. Nun vernimmt man ein Gemurmel in jenem Walde, ähnlich dem Wasserrauschen über Felsenwände oder der gedämpften Sprache vieler versammelter Männer, auch hört man Hunde um die verrückten Grenzsteine bellen und sieht dabei dann einen Mann auf weißem Pferde leichenhaft vorüberreiten. Diese Erscheinungen sind bei uns etwas so gewöhnliches, daß man nicht mehr Aufhebens davon macht, als wie wenn man die Feldarbeiten je nach dem Regenwetter einrichten muß. Auf dem Berge aber schätzt man es anders, denn da haben schon Manche geschwollene Glieder nach Hause gebracht, oder sind auf lange krank geworden.

## 345. Der Müserngeist von Gebistorf.

Wie einst das Kloster Muri und die Gemeinde Bütikon um das Bannholz prozessirten, so die Stadt Baden und das Dorf Gebistorf um die Müseren, einen bedeutenden Wald oberhalb Gebistorf und Birmenstorf. Zur Zeit großer Noth mußte Gebistorf den Forst gegen eine kleine Summe an den Spitalfond von Baden verpfänden. Als aber nach ungefähr sieben Jahren die Gemeinde das Geld zurückstellte, wollte Baden nichts mehr von Rückgabe und Austausch wissen, sondern behauptete, der Wald sei um jenes Geld förmlich der Stadt verkauft worden. Zu allem Unglück für die Gebistorfer war diesen

Digitized by Google

der Pfandbrief verloren gegangen, doch ließen sie es im Vertrauen auf ihr Recht nun auf einen Eid ankommen, mit welchem die Badener vor dem Landvogt darthun sollten, daß sie den Wald wirklich gekauft. Die Stadt Baden schickte ihren Schultheißen, einen finstern Mann. Er leistete vor dem Landvogt den Eid ab, und Gebistorf verlor den Wald. Von Stund an hatte der Schultheiß ein blasses und verstörtes Aussehen, und als er nach sieben Jahren gestorben war, mußte er jede Mitternacht in einer Chaise im streitiggewesenen Holz herumfahren. Die Birmenstorfer erzählen, daß er einen Schimmel reite, einen weißen Regenschirm offen durch die Luft umschwinge und seinem Rosse „Hüscht umme“ zuschreie. Ein ruchloser Bursche, der aus Uebermuth oft Nachts im Bette aufstand und rief: „Tüfel, chumm und nimm mi!“ wurde erst in diesen letzten Jahren noch vom Schimmelreiter arg zugerichtet, als er sich von ihm im Besenreis betreffen ließ. Einem Glashändler von Bünzen, der mit vielen grünen Guttern beladen durch den Wald kam, schlupfte er in eine Flasche und drückte ihn so lästig, daß dieser die ganze Tracht abwerfen mußte. Nun war alle Waare zusammen hin.

Das Archiv der Schweiz 2, No. 422 giebt aus den Regesten der Stadt Baden die Urkunde, wornach der Landvogt Hans Spiller 1584 urkundet, daß Hans Karle, Untervogt zu Gebistorf den Gebistorferwald Urhau dem Schultheißen Klingelfuß zu Handen der Stadt Baden verkauft habe. Der Müserengeist ist ein Moos- und Sumpfgeist; sein Name wiederholt sich in dem des Müselifräuleins No. 128, 9. Müserengeist nennt man ferner ein Moosgespenst beim Ursprung des durch Hebels Gedicht bekannten Waldwassers Wiese am Feldberg im Breisgau.

Hier folgen diejenigen einzelnen Züge, die in unserer Sagenreihe den Stiefelreiter zum W. Jäger machen. Die Reußbrücke zu Bremgarten dröhnt unter dem nächtlichen Hufschlag seines Rosses, No. 343. — Alle sieben Jahre steht ihm ein Klosterroß frei I, 302. 368. II, 112. — Er tränkt es vertraulich am Brunnen der Bauern I, 301. 176. 177. 198. — Man hört den Sporentritt seiner großen Stulpstiefel, No. 338. — Er trägt einen breiten Federhut, No. 342. — Eine Sichelfeder hinterm Ohre, No. 216. — Er hat sein eignes Schlagwort und heißt darnach Hoppedihop, No. 160; Hopelirüter und Marstaller, No. 343. — Er fährt in einer Chaise durch den Wald, No. 345. — Sein Umzug tönt wie Wasser über Felsen rauschend, oder wie das Reden vieler versammelter Männer, No. 344. I, 217. — Er ist witterungsverkündend und man richtet die Feldarbeit nach seiner Ankunft ein, No. 344. — Er trägt einen offenen weißen Regenschirm, No. 345. — Ein schneeweißes Hündchen läuft hinter seinem schneeweißen Rosse nach, No. 342. 343. — Er hilft den überlasteten Leseholzsammlern die Reiswellen im Walde tragen, No. 214. — Er ladet Heren in Gestalt einer Reiswelle auf den Bauernwagen, bis dieser nicht mehr vom Flecke kann, No. 160. — Als doppelter Fuchs kommt er No. 333. — Sein Händedruck prägt sich glühend ein, seine Augen gleichen glühenden

Digitized by Google

Kohlen I, 302. — Seine Tabakspfeife glüht, seine Peitsche ist feurig, er selber speit Feuer, No. 338. — Den ihm entgegengebotenen doppelten Hut durchsengt das von ihm hineingeworfene Almosen I, 300. — Er wird in Ketten geschmiedet und liegt in einem Steinbette, das selbst in eisernen Ketten hängt, No. 216. Ebendasselbe in Grimms DS. 1, 295. — Sein Gemach muß unverändert bleiben. I, 302. — Einem Glashändler schlupft er in die Gutteren, No. 345. — Er wird ins Enziloch gebannt, No. 338. — Seine Nachkommen kennt man noch jetzt, No. 343.

Von seiner Stiefeltracht handelt die Anmerkung I, 377 u. II, No. 489. Ferner reden von diesem Rechtssymbol folgende Sagenzüge. Alle sieben Jahre verbraucht der Geist zu Neustadt a. d. Hard in der Pfalz ein paar Bleischuhe und legt seine durchgelaufenen auf dem dortigen Bleifelsen aus. Schöppner, bayr. Sagb. No. 935. Das Wappen von Schwandorf führt neben den Löwen und Rauten der Wittelsbacher zugleich einen schwarzen Stiefel; dies soll daher rühren, daß hier Pfalzgraf Friedrich von Neuburg badenden Mädchen nachschlich und darüber seinen Stiefel im Sumpf verlor. An der Ringmauer des ehemal. Klosters Wechterswinkel im gleichnamigen oberfränkischen Pfarrdorfe, unweit dem sagenberühmten Frickenhauser-See, ist als Wahrzeichen eine versteinerte Schuhsohle zu sehen. Schöppner, ibid. No. 588. 1023.

---

## 346. Der schwarze Pfaff in Wettingen.

Der Brunnenleitung nach, welche vom Berge Lägern ins Kloster Wettingen geht, wandelt eine schwarze Gestalt in Mönchshabit, der schwarze Pfaff genannt. Er trägt einen Bund Schlüssel, mit dem er rasselt und die Begegnenden schreckt. Seine Lieblingsplätze sind das Gewölbe, das den Brunnen über den Bach führt, dann das außer dem Dorfe gelegene Fehrenmätteli und die Großmatte beim Kloster. Man sagt ihm nach, er sei jener Brunnenmeister der Klosterwasserleitung gewesen, der den Landeigenthümern ihre Güter und den Arbeitern ihren Lohn verkürzt hat.

Die Streitigkeiten des habsüchtigen Klosters Wettingen gegen die Gemeinden Wettingen und Würenlos um den Wald Tägerhard ziehen sich durch volle drei Jahrhunderte fort. Rechts-Erkenntnisse in diesen Prozessen stehen: Aargau. Beitr. S. 569.

---

## 347. Der trügerische Banntheiler in einen Hund verwünscht.

Die Herren von Trostburg und Liebeck hatten zusammen den ganzen Bann des Thales zu beschreiten und neu unter das dortige Landvolk zu theilen. Statt der alten hundert Banntheile machten sie diesmal nur neunundneunzig; sie wurden dafür vom Landgerichte

Digitized by Google

um beinahe zehntausend Pfund Berner-Währung gebüßt. Nun zeigt man am Trostburger-Schloßhof noch das sogenannte Hundsloch, eine Felsenspalte, in welcher die in der gespenstischen Schloßkutsche anfahrenden Burgherren wieder zu verschwinden pflegen.

Hund ist hier als allgemeines Zahlwort in der Bedeutung von captura gebraucht und etymologisch auf den Thiernamen übertragen; denn Huntari hieß in unserer Rechtssprache der hundertste Bezirk oder Theil eines Gaues. Grimm, RA. 532. Dies ist weiter besprochen: Anmerk. Taufpathin auf der Wartburg, Abthl. III., No. 117.

## 348. Der Bowäldler von Wittnau.

Der Gemeindebann der beiden Frickthaler-Ortschaften Wölfliswil und Wittnau stieß von jeher aneinander, es waren aber an manchen Stellen die beiderseitigen Bannmarken schon lange verschwunden. Um dies nach der Weisung der alten Markbeschreibungen, die man jetzt noch besitzt, wieder in Ordnung zu bringen, erschienen eines Tages beide Gemeinden auf der Grenze und setzten gemeinsam die frischen Steine, so nämlich, daß diese einer zum andern in schnurgerader Richtung auf den Kirchthurm von Wittnau hinliefen. Der gegenwärtige Lauf der Marken von Wölfliswil ist aber ein ganz anderer geworden und widerspricht den urkundlichen Bestimmungen durchaus. Daran ist der Bowäldler schuld, ein Mann, der damals Sigrist und Gemeindeammann von Wittnau war. Er grub schon in der folgenden Nacht die neugesetzten Marken zu Gunsten seiner Gemeinde wieder aus und stellte sie so, daß den Wölfliswilern ihr Banntheil um viele Jucharten geschmälert war. Als sie dagegen klagten und einen gerichtlichen „Augenschein" verlangten, fand sich an der Stelle ihres ersten Weissteines bereits ein großer Birnbaum aufgewachsen, den der betrügerische Feind hier eingesetzt hatte, und dadurch war die sichere Richtung für alle folgenden Marksteine unterbrochen. Den Wölfliswilern verblieb die Einbuße, dem trügerischen Ammann aber von da an der Schimpfname Bowäldler. Als darüber sein Gewissen erwachte, fand man ihn einst erhängt an den Stricken der Kirchenuhr. Daher neckt der Wölfliswiler einen ihm begegnenden Wittnauer jetzt noch mit dem Gruße: Hängt der Bowäldler noch am Zeitstein oben? Auch Oerkensünder und Balmerainsünder schilt man sich, weil der Ammann die falsche Markung über jenes Gemeindeland von Wölfliswil hingeführt hat, welches die Oerkenhalde und der Balmenrain ist; und solcherlei Namen führen zwischen beiden Dörfern öfters zu hitzigen Raufereien.

Digitized by Google

Der Bowäldler muß auf allen diesen Stellen umgehen. Im Walde begegnet er den Leuten als Jäger, grün gekleidet und mit breitem Hute; dabei ist seine Frechheit noch immer so groß, daß er gegen manchen Wölfliswiler schon das Gewehr gefällt hat, als wollte er ihn erschießen. Ruft man hop-hop! in den Wald hinauf, so ist er oft plötzlich zur Hand und schleppt den vermessenen Schreier in den Oerkenbach.

---

## 349. Der blutende Knochen bei Baden.

Nicht weit von Baden liegt an der Mellinger-Straße eine Sägmühle; zwischen ihr und dem nächsten Berghange ist die Wiese mit den zwei sonderbaren Grasringen, die ineinander liegen und zwischen denen das Gras immer größer und grüner steht, als innerhalb und außerhalb. Ein mürrischer Knecht pflügte hier einst und warf nach dem heimatlosen Knaben mit einer Erdscholle, der ihm vorne die Stiere nicht gut genug lenken konnte. Gegen Vermuthen sank der Knabe augenblicklich auf den Wurf zusammen und blieb todt. Der Knecht vergrub ihn da und konnte daheim das Ausbleiben des Jungen glaubhaft genug darstellen. Letzterer galt als entlaufen und wurde vergessen. Manches Jahr hernach schnitt der Knecht auf demselben Felde Garben. Die Rede der Arbeiter war auf das Sprichwort gerathen, nichts sei so fein gesponnen, was nicht endlich an die Sonne komme. Der Knecht wollte von dessen Zutreffen nichts glauben und meinte, es möge wohl auch auf dieser Wiese schon manches geschehen sein, was die Sonne noch nicht an den Tag gebracht habe. In solchen Reden schnitt er mit der Sichel tiefer in den Boden und traf einen daliegenden mürben Knochen. Augenblicklich fieng dieser zu bluten an. Vergebens wischte er die Sichel ab, deckte den Knochen mit Erde und gab vor, sich selbst geschnitten zu haben. Aus dem morschen Knöchlein hervor brach vor aller Augen so vieles Blut, daß der Bursche endlich selbst seine Mordthat bekannte, die er hier vor langem verübt hatte, und dem Richter übergeben wurde. Man ließ ihn enthaupten und auf diesem Ackerfelde verscharren. — Das Gleiche erzählt man im Frickthale als eine im Dorfe Wölfliswil vorgekommene Begebenheit.

---

## 350. Der ausgebrochne Knochen vor Gericht.

Einst wurde zwischen den Dörfern Gontenschwil und Zetzwil ein todter Mann auf der Straße gefunden, der alle Spuren eines ge-

Digitized by Google

waltsam erlittenen Todes an sich trug. Als man dem vergebens nachgeforscht hatte, kam man auf den Einfall, der Leiche einen Knochen auszubrechen, und ihn an den Zug der Schloßglocke zu Lenzburg zu hängen, wo Jeder läuten mußte, der beim Landvogt Recht oder Almosen suchte. Lange Jahre war der Knochen zwecklos so angebunden gewesen, als einmal ein bettelnder Greis die Schelle zog und plötzlich darüber mit Blut bespritzt war. Er wurde verhaftet und gestand, in seiner Jugend jenen Mann angefallen und ermordet zu haben.

Franciſci Schaubühne 1669 führt 656 aus Laſſenii bürgerl. Tiſchreden eine dem Chyträus nacherzählte Begebenheit an, man habe in Holſtein einer vorgefundenen Leiche, die niemand erkannte, die Hand abgeſchnitten und dieſe ans Gefängniß zu Itzeböe gehangen. Nach zehen Jahren fieng die verdorrte Hand bei Annäherung eines da eingeführten Diebes an zu bluten.

---

## 351. Der Züriheiri von Zurzach.

Vor manchem Jahrhundert kam einmal ein armer Knabe aus dem Zürcherlande her nach Zurzach gelaufen und bettelte vor dem Wirthshauſe zum Ochſen. Dem Wirth gefiel der Knabe und er nahm ihn probeweiſe als Stallbuben an. Da nannte man ihn den Züriheiri, wie man auswärts jeden Zürichbieter ſchlechtweg zu nennen pflegt. Er ließ ſich gut an, wurde allmählich Hausknecht, verdiente ſich bei der großen Einkehr, welche die Zurzacher-Meſſen damals mit ſich brachten, viel Geld und konnte ſich endlich aus ſeinem Erſparten ein Haus kaufen und die Handelſchaft beginnen. Allein von nun an verſchlang die Habſucht in ihm alle ſonſtigen Neigungen, mit Ausnahme einer einzigen; dieſe beſtand in der getreuen Freundſchaft zum Sohne des Ochſenwirthes, mit dem er aufgewachſen war. Und auch dann noch, als dieſer endlich Bürgermeiſter im Orte geworden war, hörte dieſes Bündniß nicht auf; aber es ſollte bald auf eine ſehr harte Probe geſetzt werden. Der Züriheiri, der nicht blos in Handel und Wandel ſeiner Habſucht nachlebte, ſondern auch in ſeinem häuslichen Weſen aufs allergeizigſte ſparte, ſah mit tiefem Aerger, wie alljährlich jedem geringſten Ortsbürger Zurzachs das Gabenholz unentgeltlich aus den Gemeindewaldungen verabreicht wurde und wie nur er, der Ortsfremde und Ausbürger, leer dabei ausgehen mußte. Schon aus Trotz mochte er dann dem Nachbar das Holz nicht abkaufen. Er ſtahl ſich's alſo bei Nacht und ſchlug es herkömmlich in jenem

Digitized by Google

Theile des Zurzacherbannes, welcher Grüt heißt. Der Schaden war schon lange bemerkt worden, der Bannwart wurde zu schärferer Aufsicht angehalten. Allein die faulen Wächter mochten nicht Nächte lang im Walde lauern; da sie aber an jener Stelle des Grüt, wo der Züriheiri seine Stauden zu hauen fortfuhr, ein beständiges Knistern und Brechen der Zweige hörten, so war es ihnen sehr bequem das Märchen zu ersinnen und selbst dran zu glauben, es hause hier im Grüt ein Geist. Wenn dann der Holzfrevler mit seiner Last Reiswellen schnaufend und keuchend auf dem nächtlichen Schlichwege an ihnen vorbeikam, konnten ihn die lahmen Leute freilich nicht sehen, aber je deutlicher sie ihn schnaufen hörten, um so mehr verbreitete sich diese Spukgeschichte. Da hatte nun einmal der Bürgermeister, jener Sohn des alten Ochsenwirthes, spät Nachts vom Dorfe Tegerfelden nach Zurzach heimzugehen, und sein Weg führte ihn durchs Grüt. Hier war der Holzfrevler wiederum daran, beim hellen Mondschein seine Reiswellen zu hauen und zu binden; aber sein Schnaufen und Husten, das Knicken und Knistern der Aeste hielt den Bürgermeister nicht zurück, er trat ins Dickicht hinein und erkannte auf den ersten Blick seinen Freund. Wart, Züriheiri, sprach er entrüstet, der Rath wird dich lehren! und damit wollte er seines Weges weiter. Aber der Ertappte griff blindlings nach seinem Hag-Gertel (Faschinenmesser), rannte dem Bürgermeister nach und hieb ihm die krumme Spitze ins Genick. Der Getroffene konnte nur noch sagen, o wie übel hast du gethan, ich hätte dich nicht verzeigt! dann starb er. Darüber erwachte im Mörder alle Liebe plötzlich wieder; er warf den blutigen Gertel weit weg, stürzte sich heulend nieder, wälzte sich auf der Erde und wollte verzweifeln. Dann aber kam die Angst über ihn, er zog die Leiche ins Gebüsch und vergrub sie unter dem Laub, dann entfloh er. Auf Umwegen erreichte er noch bei Nacht sein Haus und hielt sich seitdem eingeschlossen. Allein die Leiche war bald aufgefunden nebst dem blutigen Gertel in ihrer Nähe, und diesen erkannten Alle sogleich als den des Züriheiri. Vergebens waren nun alle Schwüre und Eide, zu denen der Angeschuldigte sich vor dem Blutgerichte erbot; der Richter zog eine schwarze Decke von der Tafel und befahl ihm seine drei Schwörfinger in die Wunde des Leichnams zu legen, der hier plötzlich enthüllt war. Mit wankenden Knieen versuchte es der Angeschuldigte, da sprang ihm aus der Leiche ein Blutstrahl ins Gesicht und bedeckte ihn so lange, bis man ihn von dem Ermordeten hinweggebracht hatte. Der Allwissende hat gerichtet! riefen die Richter, und der Ueberwiesene sprach, ja, das hat er. Auf derselben Stelle des Grüt, wo die That geschah, erlitt er dann

Digitized by Google

den Tod und wurde verscharrt. Noch jetzt sehen ihn dorten die Holzhauer auf Reiswellen reiten.

Das Bahrgericht hat in unsern Gegenden bis auf neuere Zeiten in Kraft bestanden. Den luzernischen Rechtsfall v. J. 1503 aus Valer. Anshelms Chronik 3, 254 hat bereits Grimm bemerkt. Des Freienämter Recht besagt: beschicht ein Dotschlag, da sol ein Richter von dem totten Lichnam denne zemal ein Wortzeichen nemen, in dem er tod vnd leben was; dasselb Wortzeichen sol man fürren zu den zweien Lantgerichten, vnd mag man denne darab richten vnd klagen in all wiß vnd maß, als ob der tod lichname zegegen were vnd stunde. Aargau. Beitr. pag. 99. Der Ritter von Eptingen legt dem Sissacher Landgerichte das Wahrzeichen seines erschossenen Knechtes vor, welches am nächsten Orte bei der Wunde ausgeschnitten war. Lenggenhager, Burgen in Baselland, 322. Von der Glarner-Sandalp erzählt Schott, Alpenrosen 1838, 131, wie dem Sennen, der auf der Alp den Knaben getödtet und in die Linth gestürzt hat, beim Wasserschöpfen ein Knöchlein in den Hut schwimmt und ihn alsdann gänzlich überblutet. Eine ähnliche Sage ist der Mord bei Ingenbol, bedichtet v. Reithard, Sag. aus d. Schweiz, 260. In der Grafschaft Kempten war zur Fasnacht 1510 ein Todschlag begangen worden und man stellte deshalb zwei der That Verdächtige vors „Landgericht". Sie mußten weiße Wolle zwischen die Finger nehmen und diese in die Wunden des Erschlagenen legen. Bei dem einen der Beargwöhnten blieb die Wolle unverändert, bei dem andern fieng sie an „zu schweißen." Er wurde sogleich neben dem Gerichtsstuhle enthauptet. Haggenmüller, Gesch. v. Kempten 1, 579. Vom „Schweißen der Leiche" ist auch die Rede in Simrocks VolksL. No. 80, Der Tod fieng an zu schweißen: Ist das nicht ein Wunderzeichen!

---

## 352. Die Fährenthaler-Brüder, bei Leuggern.

Das Fährenthal bei Leuggern war vormals ein einziger Bauernhof, dessen Landbesitz von Mandach und Hettenschwil bis Leuggern und da weg der Straße nach bis Böttstein reichte. Ein reicher Bauer hinterließ dieses große Gut seinen beiden Söhnen. Da aber diese sich nicht mochten, so theilten sie; der eine übernahm den Oberhof, den man jetzt Schlatt heißt, und der andere den Unterhof, der seitdem, daß die Aare dort ihren Lauf geändert und Ackerland angeschwemmt hat, wo sonst die Schiffer (Fehren) wohnten und die Leute über den Strom zu setzen hatten, den Namen Fährenthal bekommen hat. Aber auch dies hob den Zwist der Brüder nicht. Der Aeltere, dessen neidisches Herz es nicht ertrug, daß seine Aecker an des Bruders Land stießen, betraf ihn einstens an der Gutsgrenze beim Hardwalde, erschlug ihn und verscharrte ihn im Gehölze, da wo jetzt das Hinterbänkli liegt. Die Gegend war damals noch gering bevölkert, so erfuhr denn niemand das Schicksal des armen Bruders, und der ältere

Digitized by Google

war nun Alleinbesitzer. Er verheiratete sich und lebte bis in seine alten Tage, wie es schien, ziemlich glücklich. Da pflügt er einmal mit seinem Knechte in der Nähe jenes Platzes, und beide sitzen eben am Pfluge, um zu ruhen und ihr Morgenbrod zu verzehren, als der Haushund aus dem Walde gesprungen kommt, einen Todtenschädel geschleppt bringt und den dem Bauern in die Schoos fallen läßt. Dieser stieß den Schädel von sich, doch augenblicklich war nun seine Hand ganz mit Blut überspritzt. Erschrocken und zitternd an allen Gliedern wußte er sich nicht mehr zu fassen, er gestand dem Knechte seine Unthat, zeigte ihm den Ort, wo der Bruder verscharrt lag, und bat, daß er die Leiche ausgraben und in der Stille nach Leuggern auf den Kirchhof schaffen möchte. Der Knecht gelobte ihm Stillschweigen und beerdigte dann die Reste des Leichnams versprochener Maßen nach christlicher Weise.

So lange nun der Uebelthäter schon gestorben ist, so hat er doch noch keine Ruhe. Man zeigt in Fährenthal ein altes baufälliges Haus, das sein Wohnsitz gewesen ist, und das er als schwarze Gestalt noch immer umwandeln muß. Bei mondhellen Nächten geht er dann mit einer Hacke hinaus auf die berüchtigte Wiese — sie ist kennbar an ihrem breiten Graben und liegt an der Straße nach Leuggern zu. Hier gräbt er stöhnend ein Loch auf, fällt hinein und dann deckt die Erde sich über ihn her.

---

## 353. 's Todtebeindli.

's isch einisch e künig gstorbe; si frau und zweü chind sind no am læbe blibe, es meiteli und es büebli. do händ se einisch dmueter gfrogt, weles von ene dass einisch müess künig werde. do seit se zue-n-ene „liebi chind, gœnd jetze zämme i wald usse und suechet das blüemli, wo-n-ech do zeige, und das, wo's von ech zerst findt, das muess einisch künig wärde.“ do sind die zweü zämme gange, und im wald sind se bim sueche e chli ussenand cho, und 's meiteli het 's blüemli z'erst gfunde. do denkts, es well sim brüederli no-n-e chli warte, und lit næbem wald i schatte, nimmt 's blüemli i d'hand und schloft i gotts namen i. der wile chunt 's büebli au a das örtli, aber 's blüemli het er nonig gfunde gha. wo-n-ers do aber im händeli vo sim schwösterli gseh het, so chunt em öbbis schröckeligs z'sinn, „i will mis schwösterli ermorde und em 's blüemli neh, und hei goh mit, und denn wird i künig?“ denkt und tho. er hets tœdt und im wald verschar-

Digitized by Google

rel und härd drüber deckt, und kei mönsch het nüt dervo gwüsst. no mengem mengem johr isch e hirtebüebli dert uf der weid gsi mit de schœflene, und findt es todtebeindli am bode vo dem meiteli; do macht er e par löchli dri wie am-e-ne flötli, und blost dri. do het das beindli gar erschröckli trurig afoh singe de ganz gschicht, wie 's meiteli vom brüederli umbracht worden isch: me het mœge de hälle thræne briegge, wemme das lied ghœrt het. do goht einisch, wo das büebli so gflœtet het, e ritter dert verbi: dä het em das flötli abgchauft und isch dermit im land umme zoge, und het an allen orten ûf dem beindli gspilt. einisch het do au die alte künigi dem ritter zueg'lost, und isch ganz trûrig worde, und het der sohn abem thron gstosse und briegget erer læbtig.

Wanderer in der Schweiz, 1835. S. 200. Haupt, Zeitschrift 3, 35. Schwed. und schottische Volkslieder erzählen, wie ein Spielmann aus dem Brustbein einer ersäuften Jungfrau eine Harfe, aus ihren Fingern die Schrauben, aus ihren goldgelben Haaren die Saiten machte und der Harfenschlag die Mörderin tödtete. Ein Grimmisches Kindermärchen No. 28 und 3, 57 läßt aus dem Knochen eines Erschlagenen, und das Lauenburger-Märchen aus dem Grabhollunder eine Hirtenpfeife werden, die den Mord verräth. Müllenhoff, Schlesw. Sag. pag. 496. Der Finnen fünfsaitige Harfe bildet der Gott Wäinämöinen aus dem Haupthaar Kalevas (nach Platens Uebersetzung). Das Dichten und das Werkzeug dazu geht von den Göttern aus. Die Gewalt des Spiels stammt aus dem übernatürlichen Ursprung des Werkzeugs. Grimm, Myth. 860. In König Blaubart (Meiers schwäb. März. No. 38) bewegt einer Pfeife Schall alle Wälder und ruft die Brüder zum Beistand heran; auf diesen Ton kommen Soldaten ohne Maß und Zahl zur Hilfe anmarschiert; Zingerle, KM. 2, pag. 142. Mittelst eines Pfeifchens wird die Jungfrau von Tegerfelden herbei berufen. No. 167. Ein Kinderreim in der Liederfibel beginnt:

Reiß ich dir ein Beinchen aus, mache mir ein Pfeifchen draus,
Pfeif ich alle Morgen, hörens alle Storchen.

Zum Wünschelhut und Wunschsäckel Wuotans gehört das alles erweckende Giallarhorn; dies verjüngt sich hier ins Kinderpfeifchen. Vgl. Oberdeutsches Gebildbrod: Rößlibrod No. 20. Aargau. Kinder-L.: Pfeifenschneiden No. 309.

---

## 354. Der blutende Christus in Döttingen.

Im zwölfer Kriege (1812) kam ein Lügner in die Hochmühle bei Döttingen und rief: man möge fliehen, der Feind sei schon bei Stilli über die Aare gegangen. Gleich fieng das kreuztragende Chri-

Digitized by Google

stusbild daselbst an, Blut zu schwitzen, und über diesem Mirakel bekannte der Mann seine Lüge und daß er die Ortschaft habe in des Feindes Hand spielen wollen.

---

## 355. Der enthauptete Hausvater.

Bei der St. Anna-Kapelle zu Baden stand ehedem ein schlechtes hölzernes Kreuz oberhalb an der Straße, über dessen Herkunft man dies erzählt: Ein armer Familienvater war der Brandstiftung beschuldigt und zum Tode verurtheilt, obschon er auch noch auf der Folter die Unthat beständig in Abrede gestellt hatte. Noch auf dem Richtplatze, da wo nun der Bürgerspital steht, betheuerte er laut seine Unschuld und wie er gleichwohl diesen schmählichen Tod standhaft erleiden wolle, wenn ihm die Richter nur den Trost geben könnten, daß für seine verwaisten Kinder gesorgt werde. Versprecht nur, rief er, sie so viele Jahre zu erhalten, als ich noch Schritte machen werde, wenn mir das Haupt abgeschlagen ist. Man versprach es ihm öffentlich, und gefaßt kniete er zum Tode nieder. Kaum war der Streich geschehen, so erhob sich der Rumpf auf der Richtstätte und lief an dreihundert Schritt weit bis zu dieser Stelle an der Anna-Kapelle; und er wäre wohl noch weiter gekommen, hätte ihn nicht einer aus der Menge hier umgestoßen, aus Grauen und Mitleid. An dem Orte seines Falles hat man jenes Kreuz errichtet. Was man sich von der Todesart seiner Richter sagt, ist schimpflich.

Tettau-Temme, preuß. Sag. No. 57: im J. 1261 wird das Schloß zu Königsberg von den heidnischen Preußen belagert; der Ordensbruder Gebhard aus Sachsen bricht hervor und haut einem Belagerer in der Verfolgung so rasch den Kopf ab, daß der Enthauptete noch neunundzwanzig Schritte weit lief. Hormayrs Tasch.-B. 1835 nennt dafür den Dietz von Schweinburg, der wegen Reichsfriedensbruch 1337 gefangen mit vieren seiner Knechte enthauptet werden soll. Geköpft durchläuft er die zum Tode aufgestellten Knechte und rettet sie damit. Grimm DS. 2, No. 494. Schöppner, bayr. Sagb. No. 73. Als im J. 1815 in Darmstadt fünf Straßenräuber enthauptet wurden, soll ebenfalls einer sich ohne Kopf aufgerichtet haben, und einige Schritte weit gesprungen sein. Nodnagel, Sagenb. S. 374.

---

## 356. Der todte Mann im Fußweg.

Es war die Nachmittagsstunde in der Aerntezeit, und die Großmutter hatte gerade den Schnittern das Brod zum Abendtrunk in

Digitized by Google

den Handkorb gepackt, als ein hausierendes Lebkuchenmädchen bei ihr eintrat, und da man ihr nichts abkaufte, um ein Nachtlager bat. Die Hausfrau schlug es ihr nicht ab, hieß sie aber mit heraus aufs Feld kommen zum Garbenlegen. So erreichten sie beide, das Mädchen und die Großmutter den schmalen, ersten Fußsteig, achtsam, kein Gräschen zu beiden Seiten niederzutreten. Die Großmutter bedächtig voran, hie und da eine Frage an das Mädchen richtend, dieses hinterher, höflich antwortend und dienstfertig den Handkorb auf dem Kopfe tragend. Nun wohin denn? dahin geht ja der Weg, sagt die Frau, als sie einmal nach dem Krämermädchen umblickt und gewahrt, wie dieses den Fußweg verlassen hat und weitab über einen Acker will. „Ach! schreit das Mädchen, habt Ihr den Mann nicht gesehen? wie habt Ihr doch über ihn hinschreiten können? Mich hat es vor Grausen auf die Seite gedrückt; dort hinter Euch im Fußwege liegt er wie todt!“ Die Frau sah zurück, rief, Herr Jesus Gott! und besegnete sich, denn sie sah nun wirklich einen Mann im Steige liegen, über den sie eben wie blind hinweg geschritten war. „Den Mann da muß ich wohl kennen“, sprach sie dann gefaßter, „den hat mir mein Großvater oft beschrieben, und gerade so sieht der aus. Wie liegst du jetzt noch hier, du schlechter Mann! Wie er heißt, das darf man nicht aussprechen; aber dort auf dem Acker hat er seinen Nachbar mit der Spatenschaufel erschlagen und ihm das Gut gestohlen, und Niemand hat nur einen Mucks thun dürfen, denn er war Meister im Dorfe. Bewahre uns der Herr vor solchem Gräuel! laß uns gehen, denn es hilft nichts, Erde auf ihn zu werfen.“

So erzählte dasselbe Lebkuchenmädchen nachher in der Nachbarschaft die Begebenheit weiter.

---

## 357. In Spreuer begraben.

In der Stadt Baden lebte ein reicher Kornhändler, der den armen Leuten seine Waare theuer aufzunöthigen wußte und ihnen während der Hungerszeiten manchen Sack Korns oft zur Hälfte blos mit Spreuer gefüllt verkaufte. Nach seinem Tode begrub man ihn stattlich auf dem Kirchhofe, aber die Erde wollte ihn nicht leiden. Jeden Morgen fand sich das Grab frisch aufgedeckt und der Todtenbaum aus dem Grabe herausgeworfen. Zweimal schon hatte man ihn wieder beerdigt, da erkannte man die vergebliche Bemühung. Auf Anrathen des Pfarrers lud man nun den Sarg auf einen Wagen, und wohin ihn die vorgespannten Stiere ziehen würden, da sollte



Digitized by Google

die Leiche verscharrt werden. Die Stiere zogen ihn in den entfernten Tannenwald auf der oberen Sommerhalde und blieben dort vor einer Grube stehen, die zu unbekannten Zwecken frisch aufgeworfen war und voll Spreuer lag. Hier hinein stellte man den Sarg und überdeckte ihn mit dem Spreuerhaufen; so ist er weiter nicht mehr zum Vorschein gekommen. Als aber ein Nesselbacher unlängst einmal Nachts vom Markte zu Baden heimgieng und hier die frischgekauften Rinder vorbeitrieb, hörte er einen schneidenden Pfiff aus dem Walde und beim Umsehen gewahrte er eine schwarze Gestalt ohne Kopf.

In Spreuer begraben ist eine Behauptung, die sich aus der früheren Redensart herzuschreiben scheint, einen in Mehl begraben. Mehl bedeutet Staub, Mehlbürste Staubbesen, Mehlgraben Hinrichtungsplatz. Man sprichet: wer von vorhten stirbet, daz der im selber daz erwirbet, daz man in sol in mel begraben. Boner, ed. Benecke, 95. Diese Art der Hinrichtung wird näher bezeichnet No. 395.

## 358. Der alte Joggeligeist in Sarmenstorf.

Als die Franzosen in die Schweiz einfielen und im Freienamte plünderten, kam eine Nonne aus dem Kloster Fahr nach Sarmenstorf zu ihrem Vetter geflüchtet, den man den alten Joggeli hieß. Sie brachte eine große Summe Geldes aus dem Klostervermögen mit, gab es dem Alten in Verwahrung und blieb bei ihm, bis der Krieg wieder ein Ende nahm. Aber da sie nun nach Fahr zurückkehren und das gerettete Klostervermögen mit sich nehmen wollte, läugnete der Vetter geradezu, jemals Geld von ihr in Verwahrung genommen zu haben. Niemand war zugegen gewesen, als Joggeli das Geld behändigt hatte, niemand wußte davon; so konnte man ihm also nichts anhaben, und die Klosterfrau gieng leer in ihren Konvent zurück.

Jetzt lebte der Betrüger hoch und herrlich und ritt, anstatt zu arbeiten, alle Zeit in der Umgegend herum. Den Leuten kam's seltsam genug vor, daß er so schnell reich geworden sein sollte und kurz vorher sich kaum durchzubringen vermocht hatte. Allein sie mußten schweigen.

Plötzlich starb er mitten im Wohlleben. In der zweiten Nacht, da er verschieden war, begann er sein eignes Haus so zu beunruhigen, daß Niemand drinnen ein Auge zuthun konnte. Er schleifte alle Ketten aus der Scheune ins Wohnhaus herüber und schleppte sie Stiegen auf und Stiegen ab. Dann öffnete er die Kammerthüren und warf die Leute gewaltsam aus dem Bette. Kein Dienstbote

Digitized by Google

wollte nun hier weiter im Hause sein, kein Knecht mehr nur in die Scheune gehen. Denn wenn man bei Nacht auf den Heuboden steigen sollte, so löschte er den Dienstboten die Laterne aus, und machten sie sich nicht schnell weg, so warf er sie in die Tenne hinunter. Endlich ließ man einen Kapuziner kommen, um ihn beschwören zu lassen. Dabei erschien der Geist in einem langen schwarzen Rocke und einem besonders großen Hut; gar seltsame und freche Reden soll er mit dem Kapuziner geführt haben. Gleichwohl ist er zuletzt in einen Estrichwinkel hinein beschworen worden. Nun beschäftigt er sich noch damit, das Scheunenthor zur Unzeit zu öffnen und in seiner schwarzen Gestalt darunter zu treten.

---

## 359. Der Wolfgrabengeist zu Leidikon.

Leidikon ist ein kleines Dörfchen, welches zur Fricktaler-Gemeinde Sulz gehört. In der dortigen Mühle diente ein Sohn armer Leute und hielt sich anfangs so fleißig, daß man ihm nach und nach das ganze Hauswesen anvertraute. Darüber erwachte seine Habsucht und aus dem treuen Knechte ward ein gefährlicher Dieb. Er verkaufte heimlich vom Werkgeräthe, stahl dem Meister die Frucht, vergipste den Kunden das Mehl und brachte das Geschäft in Mißcredit. Der Müller kam in Schulden und wurde endlich um Hab und Gut gepfändet. Nun aber übernahm der Knecht das Anwesen; den einen Theil des Kaufschillings erlegte er aus seinen Ersparnissen, und den Rest hoffte er aus dem Vermögen eines Mädchens nachzuzahlen, um das er gerade freite. So wie er das begehrte Weib bekommen hatte, sann er auf alle möglichen Streiche und Plagen, um ihr das Leben zu verleiden. Sogar ins Bett streute er ihr Erbsen, wenn sie gerade in den Wochen lag, und Erbsen auf die Stiege, wenn sie wieder aus dem Wochenbette war, damit sie sich todtstürze. Je eher sie gestorben wäre, um so schneller wäre ihm der Alleinbesitz ihres Weibergutes zugefallen, das jetzt noch hinter ihrer Verwandtschaft lag. Gleichwohl überlebte sie ihn. Denn da er auch jetzt seine frühern Betrügereien forttrieb und allen Kunden das Mahlkorn veruntreute, so ergieng es ihm wie einst seinem Meister, und in kurzer Zeit war die Mühle wieder völlig gemieden. Der Verdruß darüber brachte ihn um.

Die Familie meinte mit seinem Tode alles Unfriedens los zu sein und suchte durch Redlichkeit und Fleiß das gesunkene Vertrauen wieder zu gewinnen. Zwei rüstige Söhne übernahmen das Geschäft. Aber auch hierin sah man sich arg getäuscht. Denn schon in der zweiten Nacht nach des Müllers Tode gewahrte der eine Sohn den Verstor-

Digitized by Google

benen, wie derselbe in einer erschrecklichen Gestalt zwischen den Mahlgängen hin und her schwankte. Aber damit war es noch nicht genug. Der Unhold störte und hemmte alle Arbeit durch die boshaftesten Streiche. Manchmal leitete er das Wasser vom Mühlenkennel so schlau und verborgen ab, daß es nicht geringer Zeit und Mühe bedurfte, um es wieder zu fassen und das stockende Werk neu in Gang zu bringen. Nun gieng mit Zustimmung der Familie der eine Sohn nach Muri und holte aus dortigem Stifte einen Benedictiner herbei, der den gefährlichen Geist hinwegschwören sollte. Dieser aber wich nicht, sondern erhob im Gegentheil gegen den bannenden Mönch die beschämendsten Vorwürfe. Man rief daher noch einen zweiten Banner herbei aus dem Kapuzinerkloster zu Laufenburg. Als der Geist vermerkte, daß diesem wirklich Gewalt und Recht zustehe, ihn auszujagen, so begann er eine Unterhandlung. Er versprach zu weichen, dagegen aber verlangte er die Gewähr, seinem Hause alljährlich um einen Mannsschritt sich wieder nähern zu dürfen. Der Kapuziner fand dies nicht ganz verwerflich, beschränkte es aber doch auf einen jährlichen Hahnenschritt. Hierauf wurde er in ein Schoppenglas hineingeschworen, und sein Sohn trug dasselbe in den Wald hinaus; doch fand er es von so besonders großem Gewichte, daß er auf der kurzen Wegstrecke wiederholt niedersitzen und ausruhen mußte. Zwischen der Mühle und der Rheinstraße liegt, von beiden eine gute Viertelstunde ab, der Wolfesgraben mit einer tiefen Höhle, die nur einen ganz kleinen und verborgenen Zugang hat. Dorten hinein versenkte man das Gefäß und verschloß das Höhlenloch mit einer Glasscheibe. Man sagt, von da an habe man in der Höhle bei Tage eine Kerze brennen, den Geist aber in Gestalt einer großen Kröte neben der Oeffnung sitzen sehen. Ein rüstiger Bursche, der in der Nähe des Wolfesgrabens oft das Vieh hütete, glaubte nicht an die bösen Streiche des Unholdes und erkühnte sich, denselben herauszufordern; er trat an die Höhle hin und rief: „G'hörst du do inne, wenn du öppis chaist (kannst), so chumm usse! ich nimm's mit dir uf.“ Es erschien zwar nichts und nur ein Aechzen und Stöhnen ließ sich drunten vernehmen; aber der Bursche kam mit einem geschwollenen Kopfe heim und die eklige Verunstaltung ist ihm auch verblieben. Ein alter Mann weiß noch, wie sein eigner Vater einst Nachts beim Mondschein in der Nähe der Höhle pflügte, und wie da der Geist, ein hagerer, schwarz gekleideter Mann, herbeikam und ein paar Furchen weit hinter dem Pfluge drein lief. Zuletzt als er beim Kehren der Pflugochsen stehen blieb und diese gar mit der Hand über den Rücken hinab streichelte, bekam der Vater Angst für seine

Digitized by Google

Thiere und er begann: „Bist e guete, so red; bist e böse, so schwig!“ Statt der Antwort erhielt er hierauf eine solche Ohrfeige, daß er seine Kappe am Boden suchen mußte. Darüber war der Geist verschwunden.

Nach der Meinung älterer Leute in Leidikon ist er nun dem Dorfe wieder ziemlich nahe gekommen. Die jetzige Magd in der Mühle behauptet, sie habe ihn schon etliche Male um Mitternacht in Gestalt eines großen schwarzen Hundes im Dorfbache laufen sehen.

Der Langobarde Paul Diakonus weiß vom Gotte Wodan 1, 8 zu berichten, daß derselbe im Himmel ein Fenster hat, durch das er früh Morgens auf die Leute herunter zu schauen pflege; Haupt, Zeitschrift 5, 1. — An die Stelle dieses Fensters tritt in den Eddaliedern die Thürbank des Himmels, von der aus die Götter alles zu überschauen vermögen. Im Kind.-Märchen No. 35 ist der arme Schneider, da er eines Tages allein gelassen ist im Himmel, auf den Stuhl des Herrn hinauf gestiegen und sieht, wie drunten eben ein Waschweib die Schleier stiehlt, die sie waschen soll. Sogleich wirft er nach ihr den Schemel hinunter und wird nachher dafür vor die Himmelsthüre hinausgejagt. Auch die serbischen Volkslieder legen Gott ein solches Fenster bei. In tändelnder Weise nennt die alemannische Mundart den Mond noch das Fenster Gottes, und von einer über den Mond hinziehenden Wolke pflegt man zu sagen, Gott mache sein Fenster zu. Der Aberglaube behauptet deswegen von diesem Gottesfensterchen: Eine Unthat, bei Nacht verübt, hat Gelingen, sobald währenddem der Mond gerade dreimal durch Wolken fahren muß. In naher Beziehung steht nun der Gedanke, Abgeschiedene, bei Gott Lebende hinter einem solchen Fenster zu wissen, Särge mit einem solchen zu versehen, Geisterwohnungen endlich als gläserne Wohnhäuser und Kristallschlösser sich vorzustellen. Daher das in unsern Sagen so oft vorkommende Bannen des Geistes in Guttern, Strohflaschen, u. s. w. Vgl. Anmerk. No. 368. Sneewittchen, Kind.-M. No. 53, wird in einen gläsernen Sarg gelegt und auf den Berg der Zwerge hinausgestellt. Thu' dich auf, gläserner Berg! heißt deshalb die Zauberformel, mit welcher der verzauberte Berg eröffnet werden muß. Im Pentamerone wird die Leiche Schneewittchens (dorten die Küchenmagd, la schiavotella) in sieben in einander gesteckte Glaskisten verschlossen. Die Glaskisten wachsen mit dem scheintodt darin liegenden Mädchen. Da Snäfridr, die schönste Frau Haralds des Haarschönen gestorben war, blieb sie eben so roth, als sie im Leben gewesen war, und so saß Harald in Erwartung, sie werde wieder zum Leben kommen, drei Jahre neben der Leiche. KM. 3, 93. Von der geschichtlichen Johanna von Aragonien gilt dasselbe; sie führt ihres schönen Gemahls Leiche lebenslänglich in einem Sarge mit sich, der ein Fenster hat. Es mag sich der Geisterwagen, welcher der Sage nach durch Städte und Dörfer fährt, ebenso in jene gläserne Kutsche verwandelt haben (I, 216, Anmerk.: „Wagen des Wild. Heeres“), deren unsere Sammlung gedenkt. Das modernere Märchen macht jene hilfreichen Geister daraus, die ein Zauberer zu seinen Diensten in Kristall gebannt oder im Steine des Siegelringes mit sich führt. Die ältere Sage weiß nur vom Fenster, das den Zweck hat, aus dem Todtenreiche her eine Aus-

Digitized by Google

ſicht ins Leben freizugeben und zugleich als Schirmdach die Leiche gegen den unwirthlichen Himmel abzuſchließen. In der Becke, einem Sumpfe bei Halberſtadt (erzählt Kuhn, nordd. Sag. No. 197, 2), ſtört ein Fiſcher die Fiſche auf und ſtößt dabei mit der Stange dem drunten wohnenden Nir unverſehens eine Scheibe ein. Augenblicklich bringt dieſer den ganzen Kreuzſtock herauf und droht dem Manne den Hals umzudrehen, wenn binnen einer halben Stunde das Fenſter nicht wieder heil iſt. Unſere Jurazwerge, Abthl. V No. 184, 3 bewohnen ein ganzes Dorf von gläſernen Häuſern mit gläſerner Kirche. Wie der Wolfgrabengeiſt als brennende Kerze hinter der Fenſterſcheibe in der Höhle wohnt, ſo ſitzt in Wolfs DSM. No. 12 der blaſſe Mann auf dem Meeresgrunde als blaues Flämmlein unter einem umgeſtülpten Topfe.

---

## 360. Das Geiſterbett am ſteinernen Tiſch im Gönhard.

In dem einen Eckhauſe der Kronengaſſe zu Aarau ſtarb vor mehr als einem halben Jahrhundert ein verrufener Wucherer. Der Volksglaube ließ den Verhaßten bald umgehen, denn ſeine hinterlaſſenen Papiere gaben genugſamen Beweis, daß er Wittwen und Waiſen bis ans Ende geprellt hatte. Man wollte ihn vom oberſten Stockwerke ins unterſte am Glockendrath herabfahren geſehen haben. Die Landleute, die ſich Sonntags in der Stadt ſammeln, konnten ſtundenlange vor jenem Hauſe ſtehen und es mit heimlichem Grauen anſtarren. Da die Erben keinen Käufer finden konnten, ließen ſie einen Kapuziner von Olten kommen, um das Geſpenſt hinweg zu ſegnen. Es gelang ihm, den Geiſt in die Stadtwaldung zu bannen, die Gönhard heißt. Daſelbſt ſteht ein ſteinerner Tiſch, von deſſen Herkunft man allerlei erzählt. Die Einen behaupten, es habe ihn die helvetiſche Regierung ſetzen laſſen, ſo lange ſie in Aarau reſidirte, um dort im Freien manchmal ein Abendeſſen abzuhalten; wogegen die ältere Volksmeinung in ihm den Verſammlungsort der Heren, Beſenreiterinnen und Teufelsſchweſtern ſieht, die hier um Mitternacht zechen und tanzen. Dahin bannte der Kapuziner den Geiſt des Wucherers. Bald aber ſah ihn ein Holzhauer dorten am Tiſche in Geld wühlen und dazu jammern, daß ſich einem das Herz hätte umkehren mögen. Nun waren die Verwandten neuerdings in der Leute Gerede. Da wurde auf des Kapuziners Rath eine Matratze Nachts hinausgetragen und ins Waldgebüſche gelegt, damit der Geiſt ruhiger werde. Nicht lange, ſo kam ein armes Bäuerlein von Suhr dieſes Weges, ſah zufällig die Matratze und lud ſie vergnügt auf; aber ſie wurde ihm um ſo ſchwerer, je weiter er ſie trug, von einem innern Gefühle getrieben, ſchleppte er ſie bald wieder auf die alte Stelle zurück und machte ſich

Digitized by Google

davon. Indessen hatte das unbewohnte Haus in der Stadt ein fremder Goldschmied um einen Spottpreis gekauft, und soll bei Umgrabung des Kellers eine bedeutende Geldsumme gefunden haben. Von der Zeit an sei es im Hause völlig ruhig gewesen. Die Verwandten sollen zwar des angeblichen Fundes im Keller wegen noch nachträgliche Forderungen an den neuen Besitzer gestellt haben; man legt diesem aber die Antwort in den Mund: Er habe die Hölle sammt dem Teufel gekauft.

Ziemlich Aehnliches erzählt man sich von einem Hause in Zofingen, welches sonst das Seelmatter'sche geheißen wurde.

Das Bettkissen, in welches der Würzburger-Weinhändler gebannt und damit ins Feld hinaus getragen worden, verscheuchte der Bäuerin in ähnlicher Weise den Schlaf, als sie es in ihr Ehebett mit heim genommen hatte. Schöppner, bayr. Sagb. No. 723. Mone, Anz. 38, S. 364: Der Geist des Ammanns wird in einem Kohlensacke in den Wald getragen und spukt sogleich wieder im Amthause, als er das ausbedungene Bett nicht erhalten. Als man ihm dann eines brachte, hob es ein Bauer auf und zog sich damit den Geist für immer ins Haus. Einbett am Petersbrunnen hieß die kleine Zelle bei Leutstetten, worin St. Ainpet, Gwerbet und Firbet ein beschauliches Leben führten. Panzer, bayr. Sag. 1, pag. 370 und 374. Die heidnischen Ausdrücke goth. biuds, ahd. piot = Tisch, und goth. badi, ahd. petti = Altar, führen zugleich auf unsere alten Localnamen Brunhildebette. Lang, Regest. 1, 225. 239 (Anno 1160) ad altare s. Kiliani, quod vulgo lectus dicitur.

---

## 361. Der Günnä zu Brugg.

In der Vorstadt zu Brugg liegt unten bei den Ziegelhütten ein kleines Haus hinten in einem Hofe, das einer fremden, im Auslande lebenden Herrschaft gehört. Es wird von einer Magd in Stand gehalten, die in einem Nebengebäude wohnt, alle Läden sind und bleiben geschlossen. Gleichwohl schaut hier zu einem bestimmten Fenster seit undenklichen Zeiten immer derselbe Mann herunter, so oft sich die Witterung ändern will. Er trägt dabei einen grauen Hut auf dem Kopfe. Dies ist der Günnä, von dem man nichts anderes weiß, als daß er ein Einwanderer gewesen ist, der sich hier angekauft und vielerlei Ungerechtes begangen haben soll. Alle Morgen muß ihm von der Magd, welcher er indessen niemals begegnet, das Bette frisch gemacht werden; dafür findet sie jedesmal drei Batzen nebenan auf dem Nachttischlein liegen. Es ist nunmehr jener Termin bald aus, bis auf welchen ihn die Kapuziner in sein Wohnhaus geschworen haben.

Digitized by Google

(Gleiches gilt von dem hl. Alexander, dem Standbilde in der Münsterkirche zu Einbeck. Schambach-Müller, ndsächs. Sag. No. 34.)

---

## 362. Die Mutter auf dem Schweinekoben.

Die Müllerin von Wohlen gab ihren Ferkeln Weißbrod zu fressen und Milch zu saufen, ließ aber die Armen hungrig von der Mühle gehen. Dafür sah man sie gleich nach ihrem Tode am Dache jenes hölzernen Stockhäuschens herumsitzen, worin unten der Schweinekoben ist. Die Verwandten wendeten sich darüber an den Pfarrer. Dieser rieth, man solle die Müllerin anreden und befragen, was für ihre Ruhe zu thun sei, jedoch nur unter dem Vorbehalt, daß man dabei das erste und letzte Wort des Gespräches frei habe, denn außerdem liefe man Gefahr, vom Geiste todt geredet zu werden. Dies geschah, die Müllerin erzählte ihre Missethat und nannte auch die Mittel, durch die sie des Herumwandelns los werden könnte. Allein sie verlangte zu diesem Zwecke eine solche Unzahl von Seelmessen, die man lesen lassen, und eine solche Last von Weizen, den man malterweise an die Armen vertheilen sollte, daß es den Erben bange wurde um ihr eignes Vermögen. Man gab also den Armen nichts und ließ bis auf weiteres die Mutter draußen auf dem Schweinekoben sitzen. Dies that sie dreißig Nächte lang, denn so weit reicht die Frist „der Folge", in der man für Abgeschiedene kirchlich beten läßt. Dann mußte sie dorten auf immer verschwinden und ist auch sonst nirgends weiter gesehen worden.

Dem erlösten Kalbe, das der Bauer mit heim in den Stall genommen hat, muß er einen eignen Koben machen lassen, worinnen es jetzt noch ist. Mone, Anzeig. 1838. Einem reichen Bürger aus Dettweiler muß man nach seinem Tode einen neuen Koben machen lassen, und darin schlürft und schmatzt er. Stöber, elsäß. Sag. No. 196. Vgl. Abthl. III, pag. 93, Ferkel der W. Jagd. Die Edelfrau von Lauterburg giebt einer alten Bettelfrau, die mit Feuersteinen hausieren geht, statt des verlangten Stücklein Brodes, noch einen Feuerstein zu den übrigen. Tags darauf ist die Edelfrau todt, die Schweinemagd aber findet im Stalle bei den Schweinen noch eines, groß und schwarz, das den Uebrigen alles wegfrißt. Noch jetzt läuft dasselbe im Walde um. Fr. Mihm, koburg. Sag. pag. 77. Die Prinzessin mit dem Schweinerüssel fraß aus einem Silbertroge, aus dem die Domglocke zu Halberstadt gegossen worden ist; sie selbst mit dem Rüssel ist an der Dübecker Klosterkirche in Stein ausgehauen. Pröhle, unterharz. Sag. No. 224. Vgl. die in Anmerk. No. 81 gegebenen Nachweise über das mit der W. Jagd und dem Teufel erscheinende Schwein.

---

Digitized by Google

## 363. Fritze Böhni in Möhlin.

Mitten im Dorfe Möhlin steht ein Haus nach alter Bauart, von dem man glaubt, daß es noch von den Heiden herstamme. Man hat es deshalb auch das Heidenhaus geheißen. Kapuziner haben hier einst einen erhängten Geizhals herausgeschleppt und in seiner Geldtruhe in dem benachbarten Tannenwald am Rhein verscharrt. Man erzählt dies also.

In einer langdauernden Hungersnoth hatte der Wucherer Böhni zu Möhlin fast allein noch Vorräthe auf seinen Kornschütten; deren besaß er aber viele, ja er soll fünferlei seiner Scheunen von seinem Wohnhause aus damals haben überzählen können. Alle Nachbarn wendeten sich in ihrem Mangel an ihn; allein bei ihm galt jetzt ein Laib Brod ein Viertel Land, und unbarmherzig bestand er so lange auf diesem Preise, bis er die Landstücke zusammen besaß, die sich schön eben vom Dorfe weg bis zum großen Tannenwalde am linken Rheinufer erstrecken. Noch stehen in Möhlin und in Ryburg sieben seiner aus solchem Gewinn damals gebauten Häuser, an ihren staffelförmig aufgemauerten Feuergiebeln unterscheidet man sie gleich unter den übrigen. Im schönsten, das zu Ryburg ist, hielt er selber Haus, und von dorten aus konnte er seinen großen Tannenwald besuchen, ohne nur einen Fuß auf das Eigenthum eines Andern setzen zu müßen. Daselbst ist er von einem Jäger, den niemand kannte, hinter dem Ofen erwürgt worden. Der Blutfleck an der Wand läßt sich nicht verweißen und nicht vermauern, und der jetzige Hausbesitzer, Stocker Uerech genannt, soll deshalb dies Zimmer verschlossen halten und das Mirakel nicht herzeigen.

Kaum war Böhni beerdigt, so sah man, wie er wieder oben am Fenster saß mit einer rothen Mütze auf dem Kopfe, nach Gewohnheit seine weiten Güter überblickend. Man traf also Anstalten, den Ungebetenen zu entfernen. Kapuziner mußten ihn hinter jenem Ofen in eine Maßflasche hinein segnen. Sie trugen ihn so in den Spitzengraben, bei einem Abhange jenes Bergrückens, der sich links an der Straße von Mumpf nach Möhlin hinzieht. Da es ihm aber verstattet werden mußte, alle hundert Jahre seinen Bann um einen Hahnenschritt verkürzen zu dürfen, so hat er in der langen Zeit, die seither verflossen ist, sich allenthalben wieder gezeigt, so daß man ihn schon in mehrern seiner Wohnhäuser und in jeder erdenklichen Thiergestalt wieder getroffen hat. Im Dorfe selbst fürchtet man sich nicht vor ihm und schiebt es noch auf manches hundert Jahre hinaus, bis er hier einmal seine Wohnung wieder erreicht haben wird. Dagegen

Digitized by Google

von der Berghöhe an bis gegen das Gasthaus zur Krone macht er den Fuhrleuten oft die Rosse scheu. Die Wallbacher hören in ihrem Dorfe recht deutlich sein erbärmliches Geschrei: „Hubhub, hoho!“ Kriegsereignisse sieht er genau voraus, deshalb hat er sich auch im Jahre 1848 ungewöhnlich oft blicken lassen. Als Hund, als kleine Katze, als Kalb mit Glühaugen und als schwarzer Mann streicht er draußen im Walde umher. Noch jüngst hat er einen schweizerischen Grenzwächter, der hier Nachts am Rheinufer die Runde zu machen hatte, rücklings zu Boden geworfen und so gepreßt, daß ihm lange Tage nachher noch die Augen mit Blut unterlaufen waren.

(Der Metzger in Horb, Meier, schwäb. Sag. No. 309, muß umgehen, weil er bei der Theuerung eine Wiese um einen Laib Brod gekauft hat.)

---

## 364. Der beschworene Lehrer an der Reppisch.

Es hat an der Reppisch, einem Grenzflüßchen des Aargauer- und Zürcherlandes, einst ein Lehrer gelebt, dessen Wohnort und Namen deswegen hier ungenannt bleiben soll, weil es über ihn und über sein jetziges Schicksal erst in jüngerer Zeit noch zu gerichtlichen Verhandlungen gekommen ist. Man sagt ihm nach, er habe als Vormund einer Wittwe beträchtliche Summen sich zugeeignet und dieselben bei den Abrechnungen wieder abgeschworen, bei seinem Tode aber es den Söhnen noch anbefohlen, das unrecht Erworbene wieder heimzuzahlen. Die Söhne waren alle bis auf einen bereit, des Vaters letzten Willen zu vollziehen; dieser eine aber wußte es ihnen begreiflich zu machen, daß es vernünftiger sei, den ganzen Handel und damit auch das Andenken an den Vater für allemal ruhen zu lassen. So geschah's, und bald gedachte niemand mehr weiter des Verstorbenen. Längere Zeit nachher jätete eine fremde Dienstmagd auf einem in der Nähe jener Familie gelegenen Gute und erblickte hier, während sie sich einmal zum Ausruhen vom Felde aufrichtete, den verstorbenen Lehrer vor sich stehen. Sie sprang bis zum Tode erschrocken ins Haus hinein und erzählte es ihrer Herrschaft. Hier wurde sie tüchtig ausgelacht. Allein statt dadurch sich beruhigen zu lassen, machte sich das Dienstmädchen mit ihrem Erlebniß noch an andere Leute, die leichtgläubiger waren, und so kam's endlich auch der Familie jenes Lehrers zu Ohren. Hier besann man sich nicht lange und forderte die unbehutsame Erzählerin vor Gericht. Da mußte sie natürlicher Weise den verlangten Beweis schuldig bleiben und wurde in eine für ihre Verhältnisse sehr hohe Geldbuße verurtheilt. Sie bezahlte, blieb aber auch nachher hals-

Digitized by Google

starrig auf ihrer Behauptung und versicherte ihrer eignen Herrschaft, dieselbe Gestalt, welche sie genau und zutreffend beschreiben konnte, noch immer zu sehen und sie Jedem, wer nur wolle, am hellen Tage um jenen Garten zeigen zu wollen. Diejenigen Leute, welche sich wie zur Probe darauf einließen, haben freilich gar nichts erblickt; man erklärte sich's aber damit, daß sie eben keine Sonntagskinder seien und also dieselbe Seherkraft des Dienstmädchens nicht besäßen. So dauerte dies bis zum nächsten Winter. Da gieng ein Drescher morgens um vier Uhr den Weg hinunter, um sich auf den Taglohn zu machen, und bemerkte an der aus dem Gerichtshandel schon bekannt gewordenen Stelle einen Mann, der in Mantel und Hut ruhig dastand. Der Drescher meinte schon einen halb erfrorenen Menschen vor sich zu haben, anders war ihm dieses unbewegliche Stillstehen in solcher Winterkälte und Einsamkeit unerklärlich; er näherte sich ihm und schaute ihm unter den Hut hinauf ins Gesicht, und mit Entsetzen erkannte er nun jenen verrufenen Lehrer. Er rannte, um sich zu retten, ans nächste Haus und sank da in der Stube ohnmächtig zusammen. Als er wieder zu sich gekommen war, erzählte er den Grund seines Schreckens. Hier drangen nun die Leute in ihn, sein Begegniß doch alsbald den Söhnen des Verstorbenen mitzutheilen; denn diese hätten vor Gericht die Erklärung abgegeben, daß sie die Begebenheit wohl eher glauben würden, wenn einmal ein Mannsbild persönlich dafür einstände, daß sie aber der armen Dienstmagd dann jedenfalls die Geldsumme zurückerstatten wollten, in welche sie ihretwegen verfällt worden war. Der Drescher folgte diesem Rath und gieng nun zu den Söhnen. Allein anstatt dem Mädchen das Geld zurück zu erstatten, ließen diese alsbald zwei Kapuziner kommen und den Geist in eine Dachrafe des Hauses bannen; seitdem ist von Niemand dorten weiter etwas gesehen worden.

---

## 365. Der Flaschengeist im Habsburgerwalde.

Lustig gieng einmal vor etlichen zwanzig Jahren Nachts eine Schaar junger Leute vom Dorfe Habsburg durch den Wald nach Hause. Wie sie zu dem Weg bei den neuen Wassergräben kommen, stoßen sie auf ein ziemlich wohlgeordnetes Bett, das vom Pfade nur ein wenig entfernt im Waldsaume hingebreitet lag. Sie decken es in Neugier und Uebermuth auf und finden eine Flasche drin. Die nehmen sie gleich mit heim und stellen sie, wie eine Essigflasche, einstweilen auf den Ofen. Aber die Andern ließ der Fürwitz noch nicht ruhen,

Digitized by Google

man wollte wissen, was in der Flasche sei. Also nahm man sie wieder herab und zog den Stöpsel aus. Mit großem Krach sprang ein Männchen draus hervor. Augenzeugen erzählen nun, dies sei der Geist jenes Brugger-Rechtsagenten gewesen, der einst daheim todt gefunden wurde; um ihn nicht ewig im Wohnhause spuken zu hören, hätten ihn seine Anverwandten in jene Flasche bannen und auf die Habsburg tragen lassen. Jetzt müße er wohl wieder nach Brugg gegangen sein.

## 366. Die Strohflasche im Eiet bei Lütwil.

Eine weite Strecke sumpfigen Mattlandes bei Lütwil läßt der Glaube von allerlei Moosgeistern und verwünschten Erscheinungen bewohnt sein. Zwischen dem Gugge-Rain und dem Ei oder Eiet fand man daselbst vor einigen zwanzig Jahren eine große Strohflasche, und während die Leute mit einiger Verwunderung sie betrachteten, kam auch der Dorfbarbier dazu, ein Mensch, der sonst schon durch Prahlereien und frevelhafte Reden allerlei Ungebühr angerichtet hatte. Er schlug mit einer Haselgerte der Flasche den Hals ab. Darüber bekamen alle Umstehenden geschwollene Gesichter und der Barbier selbst mußte in kurzer Zeit daran sterben. Man erfuhr nachher, daß ein böser Geist durch Mönche in diese Flasche gebannt gewesen war.

## 367. Flaschengeist bei Brugg.

Ein Bauer bei Brugg grub auf seinem Felde vor wenig Jahren einen alten Nußbaum aus und fand unter dessen Stocke eine verschlossene Glasflasche. Sowie er sie aufnehmen wollte, vernahm man ein fürchterliches Krachen, nichts desto weniger zerschlug er sie sogleich. Damit hatte er gegen sein Vermuthen einen darein gebannten Kobold befreit und in seinen eigenen Stall gebracht. Weil jetzt kein einziges Stück hier mehr Ruhe hatte, so nahm der Mann seine Zuflucht zu einem Kapuziner. Dieser begab sich in den Stall, ließ ihn durchaus mit eigens gebundenen Besen kehren, wobei jedoch Niemand umblicken durfte, klatschte dann dreimal in die Hände, und alsbald fuhr ein großes nicht zu beschreibendes Unthier aus dem Stalle in die Lüfte.

(Vgl. Schöppner, bayr. Sag. 1, No. 403, die Kanne.)

Digitized by Google

## 368. Kruggeist in dem Gnadenthaler-Rebhügel.

Auf dem kleinen Rebhügel, genannt Klosterreben, einige Minuten vom Klösterlein Gnadenthal entfernt, steht ein Wächterhäuschen, das den Feldhütern im Herbst zum Aufenthalte dient. Es ist mithin die übrige Jahreszeit hindurch verschlossen. Drinnen ist in die dem Reußflusse zugekehrte Wand ein irdener Krug eingemauert. Man weiß noch, daß seine Oeffnung mit Kork verschlossen und dieser mit einer Blechkappe außen überzogen ist. Durch Blech und Kork jedoch hat man einige Luftlöcher gebohrt. Hier hinein wurde durch Priester ein Unhold beschworen, der früherhin den Weinberg durch sein gespenstisches Erscheinen unsicher gemacht hatte.

Da man im J. 1726 zu Bern die hl. Geistkirche abbrach, welche 1496 bereits zum zweiten Male neu aufgeführt worden war, fand man Heidenkrüge in ihrer Mauer, im Boden ein seltsam gestaltetes Beil mit Silber beschlagen und mit einer Handhabe, die sich ausziehen und verlängern ließ. Bern. Neujahrsbl. 1815, 18. Die Oedenbacher-Kirche in Zürich, schon seit der Reformation zu weltlichen Zwecken verwendet, hat auf ihrer rechten Mauerseite unterhalb der Bedachung 36 und auf der linken ebenso 32 noch eingemauerte Töpfe; sie sind inwendig glasirt und noch wohl erhalten. Eben solche, nur kleiner, finden sich im Chor der uralten Dorfkirche im thurgauischen Oberkirch. Dieselben konnten nicht als Resonanzverstärker beim ehemaligen Chorgesange dienen, da sie sich in keiner andern Zürcher-Klosterkirche vorfinden, noch dienten sie dazu, den Druck der Mauermasse in den Seitenwänden zu verringern, da sie hier nicht die ganzen Mauern entlang, sondern bloß am Chor hingehen, dieser aber durch zwei Seitenkapellen hinreichende Stützpunkte hat. Meyer v. Knonau, Kant. Zürich 1, 73. Aufseß, Anzeiger, 1854, 161. Nach dem naiven Ausdruck einer Sage hält der Wassergeist die im Flusse Umgekommenen unter umgekehrten Töpfen bei sich; diese stülpt nun einmal ein ihn besuchender Bauer, und augenblicklich steigen alle Seelen durch das Wasser in die Höhe. Myth. 465. Wolf, DSM. No. 12. Die sog. Thränenkrüge, die in Gräbern gefunden werden, und die ursprünglich der Leiche als ein gut verschlossenes Trinkgeschirr mit gegeben worden zu sein scheinen, hat die spätere Zeit gleichfalls für Flaschen angesehen, worein man die Seele des Begrabenen gebannt haben sollte. Deutlicher redet noch ein intimer Volksglaube hiefür: Frühverstorbene Kinder, denen die Mutter zu lange nachweint, müßen mühsam einen Krug mit Wasser schleppen und fühlen sich bei solcher Last unselig. Ins Scherzhafte gewendet erzählt darüber No. 447. Die umgestürzten Töpfe, unter denen die Wasserfrau Rahana die Seelen der Ertrunkenen hütet, der Geist im Glase im deutschen Märchen, und die in Kirchenwänden eingemauerten Krüge selbst haben den Zweck, der abgeschiedenen Seele ein Ersatzmittel des von ihr verlassenen Menschenkörpers zu sein. Unserer volksthümlichen Vorstellung ist es noch eigen, den Körper als Haus und Gefäß der Seele zu denken; das aargau. Räthsel, Kinderl. No. 436 nennt den Leib ein runggedigump-fass. Mannhardt zeigt in Wolfs Ztschr. 3, 86, aus unsern ältern Volks- und Minneliedern, aus

Digitized by Google

der Ausdrucks- und Darstellungsweise in Volksräthsel, Märchen und Sage, daß man hierin an eine aus unserm eigenen Volks- und Sprachgeiste stammende Produktion, nicht aber nur an eine Entlehnung aus der testamentlichen Sprache zu denken habe, welcher der Leib ebenfalls ein Töpfergebilde und zerbrechlich wie ein Hafen heißt. Unsere Geister wohnen hinter gläsernem Grabesverschluß, No. 359, unsere Zwerge in kristallenen Häusern mit Glasdächern (No. 184, 3). Im Methgefäße schwimmt Sifilias Neugeborenes an die fremde Küste; auf dem steuerlosen Fahrzeuge, auf welchem Sceaf vormals als Knabe angeschwommen kam, übergiebt man ihn, den todten Helden, wiederum der Fluth, „ein zerbrechendes Gefäß".

---

## 369. Der Hausgeist in Hornussen.

Da in Hornussen ein reicher Bauer gestorben war, dem die Leute allerlei Böses nachgesagt hatten, war schon drei Tage nachher alles Vieh im Stalle bis auf eine schwarze Ziege erwürgt. Als sich dies Unglück wiederholte, nahm man seine Zuflucht zum Pfarrer. Der geistliche Herr suchte zwar abzuhelfen, wußte jedoch nicht heraus zu bringen, wo der Verstorbene jetzt seinen Sitz im Hause aufgeschlagen habe. Zufällig kam gerade eine Schaar Heimatloser Abends an den Hof und begehrte Obdach für eine Nacht. Man brachte sie in der Scheune unter. Da hatten sie eine üble Ruhe; die ganze Nacht waren sie durch Poltern und Krachen geschreckt und am Morgen konnte keines seine Kleider wieder finden. Erst als man das Thor geöffnet hatte, um mehr Helle herein zu lassen, und einer in die First emporblickte, sah man alles Gepäcke droben unterm Dache durcheinander hangen. Jetzt wußte der Pfarrer, wo der Hund begraben lag, und kletterte gleich unter die Dachbalken, bis zu Stich und Trem hinan. „Gugg gugg! wott'sch mi? Gäll, du hesch mi no nigg!" so rief ihm der Kobold spottend unter jedem Dachziegel entgegen. Allein der Beschwörer ließ sich nicht beirren, und stand nun am Walbloch beim Seil-Rädchen, an dem man die Garben in die Scheune herein zieht. „Du hast auch schon einmal eine Rübe gestohlen, Herr Pfarrer!" rief es. Ja, sagte dieser, weil mich hungerte; dafür habe ich aber einen Kreuzer ins Loch gelegt und dann Reue gemacht. Hättest du das Deine auch bereut. — „Du hast auch schon einmal eine Geißel gestohlen!" schmähte es fort. Gestohlen nicht, antwortete jener, sondern nur die Peitsche aufgenommen, um damit zu knallen, und dann Reue gemacht. Hättest du das Deine auch bereut. — Es half nichts, der Geist mußte in die vorgehaltene Flasche und ward darin im Walde vergraben.

Genau diese hier und in No. 370 vorkommenden Gegenbeschuldigungen erheben die beschworenen Geister in den Dänischen und Schleswig-Holsteiner-

Digitized by Google

Sagen, bei Müllenhoff pag. 259. 261. Letzterer bemerkt darüber: Es wäre eine Thorheit, deswegen zu behaupten, daß man diese Sagen vom Norden her empfangen haben müße. Der fremden Sage glaubt man nicht, ohne Glauben kann keine Sage leben. Ihre Uebereinstimmung hat also die Sage so verschiedener Länder aus derjenigen Zeit, in welcher die heutige Verschiedenheit der Völker und Volksstämme geschichtlich und politisch noch nicht vorhanden gewesen ist.

---

## 370. Der Gebannte in Gränichen.

Im ersten Hause nächst dem Kaufhause in Gränichen rumorte ein Gespenst.

Der Erzähler von Folgendem war auf Ansuchen der Bauern als handfester Bursche dabei, da die Kapuziner von Olten dasselbe bannten. Nachdem diese, sagt er, in der Stube ihre Vorbereitungen getroffen, befahlen sie mir, jetzt nur recht aufzumerken, und falls es einen von ihnen auf den Rücken werfe, denselben gleich wieder aufs Gesicht zu kehren. Hierauf giengen sie ins Gaden, dem gewöhnlichen Aufenthalt des Gespenstes, schritten dem Bauern mit der Laterne voran, ich zuhinterst, rings in allen vier Ecken herum und murmelten ihre Formeln. Noch zeigte sich nichts. Aber als wir wieder die Stiege hinunter kamen, stand im Gange drunten ein großer schwarzer Hund und rief dem jüngern Kapuziner, der auf ihn zugieng, entgegen: „Du bist auch nicht sauber und hast Rüben vom Acker gestohlen!“ Der eine Kapuziner entfernte sich schweigend, und der ältere trat herzu. Wie er aber in den Hausgang kam, stürzte er richtig auf den Rücken, als käme er vom Himmel herunter. Ich wandte ihn rasch aufs Gesicht und richtete ihn auf. Es hatte ihm weiter nichts gethan, und er trieb ruhig den Hund vor sich her in eine zu dem Zwecke bereitstehende Kiste. — Der Hund kroch hinein, und der Kapuziner machte zu. Hundert Jahre hilft's, schloß der Erzähler, eines hernach ist er wieder los.

Mehrfach wiederholt unsere Sammlung, z. B. No. 369: Hausgeist in Hornussen, daß die Gebannten ächt rabulistische Einwendungen gegen die moralische Zulänglichkeit ihrer Banner erheben, aber alsdann gerade auf diesem Wege des Civilprozesses mit ihren eigenen Verklausulirungen überlistet werden. In Sommers thür. Sag. No. 25 heißt's: Du hast auch deiner Mutter zwei Eier unter der Henne weggethan! in Kuhns nordd. Sag. No. 306: Du Kaplan, bist auch durch ein Kornfeld gegangen und hast mit den Schnallen deiner Schuhe Aehren ausgerissen! Schambach-Müller, ndsächs. Sagen, giebt mehrfache übereinstimmende Züge solcher Art an. Grimm, Myth. 481, bringt schon v. J. 856 ein gleiches Histörchen bei: ein Kobold im Mainzer-Sprengel muß dem beschwörenden Pfarrer unter den Mantel hinein schlüpfen, wirft ihm aber dabei vor, wie derselbe sich

mit des Amtmanns Tochter eingelassen habe. Die auf den Rücken Gestürzten muß man aufs Gesicht legen, damit die mit dem Gespenste ringende Seele mittlerweile nicht aus dem Munde ausfahren kann; eine Manipulation, über welche die Hexenprozesse reichen Aufschluß geben.

## 370 a. Die zwölf Weinverfälscher.

Ein Handwerksbursche, der kein Geld mehr hatte, kam im Zürcherlande Abends spät an ein entlegenes Wirthshaus und bat da für die Nacht um freie Aufnahme. Der Wirth versicherte ihm, alle Betten seien besetzt und alle Zimmer schon eingenommen, bis auf eines, in diesem aber könne er niemand beherbergen, denn wer je darin übernachtet habe, sei am andern Morgen todt gefunden worden. Doch der Bursche fürchtete sich nicht und ließ sich nicht abweisen. Er brauche, sagte er, nichts als eine Bibel, eine große Strohflasche voll Wein, zwölf Gläser und zwölf Kerzen, damit getraue er sich, es an jedem verherten Ort auszuhalten. Der Wirth gab ihm das Verlangte und so machte sich der Bursche damit in das gefährliche Zimmer hinauf, stellt die Kerzen angezündet auf den Tisch, die Bibel dazu und legt sich schlafen. Mit dem Schlag der Mitternacht gieng die Thür auf und zwölf schwarze Männer kommen an sein Bett getreten. Der Bursche steht unerschrocken auf, schenkt jedem ein Glas Wein ein, trinkt mit ihnen guter Dinge und befragt sie zuletzt um den Grund ihrer nächtlichen Unruhe. Sie fordern ihn auf, mit ihnen zu kommen, alles solle ihm gezeigt werden. Jeder nimmt eine der dastehenden Kerzen, er selbst seine Bibel mit, und so steigen sie viele Treppen hinab in einen tiefen Keller. Hier finden sich drei übereinander gestellte Truhen, die Männer übergeben ihm die Schlüssel dazu und erklären ihm, hier liege das Geld verschlossen, das sie einst mit Weinverfälschung den Gästen und Reisenden ihr Leben lang abbetrogen hätten, vom Enkel und Urenkel bis zum Großvater und Urgroßvater durch zwölf Menschenalter hindurch. Darauf verschwanden sie alle plötzlich. Der Wirth fand seinen Gast des andern Morgens gesund und frisch, und behielt ihn bei sich seiner Lebtage.

---

## 370 b. Der Choli im Sennhof.

Im Bernerlande war einmal ein Küher, der die Armen betrog, seine Milch taufte und seinen Anken mit Ziger verfälschte. Als er starb, hinterließ er den Hof zweien Söhnen und einer Tochter, allein die waren nun nirgends mehr sicher vor dem Verstorbenen, der bei

Digitized by Google

Tag und Nacht in allen Winkeln herum gespensterte. Man hörte ihn am Feuerherd seufzen und ächzen, in der Scheune polterte er als schwarzer Mann herum, vor dem Eren (Hausflur) machte er seinen Gang als Dorfthier. Sie gaben daher den Hof an einen Lehensmann, dieser suchte sich auch bald wieder einen Afterpächter, der gab ihm einen dritten, und so wechselte das Gut in kurzer Zeit seine Besitzer, ohne daß es einer dabei aushalten mochte; stets lagen einem Jeden schon am ersten Morgen die Kühe todt im Stalle. Zuletzt stand das Gut leer. Nun meldete sich noch ein letzter Lehensmann, der um den Mißstand wohl wußte, aber sich nicht davor fürchtete, sondern meinte, dessen gar bald Meister werden zu können. Seine Familie ließ er einstweilen noch zurück und zog nur mit seiner Heerde in den Hof ein. Bei der Stallthüre traf er einen schwarzen Mann, dem rief er zu: Choli, thu mer d'Thüren ûf! Sogleich öffnete sich die Stallung und die Kühe liefen an die Krippe. Choli, bind mer's Chueli a, bind mer die Stierli a! fuhr der Bauer fort, und alsbald standen alle Thiere angebunden, jedes hübsch an seinem besondern Stoß. Choli, chumm ietz mit mer i d'Kuchi, hieß es; und der Schwarze gieng mit, half Holz scheiten, anfeuern und kochen, wie man ihm befahl. So folgte er und hantierte den ganzen Tag, bis in die Nacht. Da mußte ihm der Bauer erst noch Feierabend bieten, sonst wäre des Schaffens und Lärmens noch kein Ende gewesen. Choli, mir wend ietz e chlî abliegge! sagte der Bauer und gieng dem Bette zu. Der Schwarze folgte auch darin und legte sich wortgetreu zum Meister ins Bette. So gieng's drei Tage und drei Nächte. Aber in der dritten Nacht verließ der Schwarze plötzlich das Bette, rief dem Meister und forderte ihn nachdrucksam auf, ihm zu folgen. Zweimal gab ihm der Bauer keinen Bescheid; beim drittenmal merkte er, daß es Ernst gelte und gieng mit ihm. In der Küche übergab ihm der Schwarze Pickel und Haue, um damit den ganzen Küchenherd wegzuschlagen. Als dies gethan war, mußte eine große Platte mit vielem Schutt aus dem Boden gehoben werden, darunter lag eine Eisenkiste vergraben. Der Schwarze half sie mit herausziehen und händigte ihm die Schlüssel dazu ein. Sie war ganz voll Geld. Dies habe ich, sprach er, den Armen abbetrogen, wenn du es wieder unter sie und ihre Kindeskinder vertheilt haben wirst, bleibt dir selber noch immer genug. Mit diesen Worten verschwand er als weiße Taube. Der Bauer that wie ihm befohlen war, vertheilte das Geld und erstand mit dem Rest den Sennhof.

---

# IX. Zauberer und Hexen, Unholde und Teufel.

## 371. Hans Koschewitz zu Heliken.

Der Wirthsschild zum Ochsen, der jetzt an der Taverne in Heliken hängt, befand sich vormals an dem großen Bauernhofe auf der Anhöhe, eine Viertelstunde vom Dorfe, den man Fürstenzelg nannte. Als man später jenes Haus abriß und den Platz säuberte, wurde der Dachstuhl ins Dorf herabgebracht, und steht da noch. Dort oben konnte man um einen geringen Preis essen und trinken und sich lustig machen, und wollte zur Fasnacht oder Kirchweih ein Bursche sein Mädchen zum Tanz führen, so brachte er sie hinauf zum Hans, von dem man zwar allerlei Unheimliches erzählte, der aber stets die besten Musikanten und das schmackhafteste Wildpret hatte.

Ein Korbmacher kehrte einmal dorten ein und setzte sich, während Koschewitz in den Keller gieng den Schoppen zu bringen, an ein offen daliegendes Buch. Zufällig traf er gerade auf die Stelle, welche die Formel des Festbannens enthielt, und gleich flog ein großer Vogel durchs Fenster und setzte sich auf die Ofenstange. Der Lesende war noch nicht am Rande, als ein zweiter Vogel, ebenso weiß als der andere kohlschwarz, hereinkam; und das Blatt war noch nicht umgeschlagen, so rauschte ihm ein grüner über den Kopf weg und setzte sich zu den beiden andern. Nun aber fiel auch Koschewitz wie wüthend zur Thüre herein und rief: „Kein Wunder, daß es mich kratzt und hackt!“ riß dem Gaste das Buch aus den Händen, las die gleiche Stelle rückwärts, und gleichwie sie gekommen, schwirrten die Vögel nach einander wieder zum Fenster hinaus.

Darin lag die ganze Kunst, durch die es ihm möglich war, die berühmtesten Braten in der weiten Umgegend zu haben. Er las nur ein Gesätzlein, und wie er es wünschte, kam gleich Fasan und anderes Gewild ihm ins Haus und Gehäge; pirschten aber fremde Jäger in dieser Gegend, so brachten es diese den ganzen Tag nicht zum Schuß; denn aus der weitesten Ferne her hatte Hans alles Wild bis aufs kleinste Häslein in einen so engen Kreis zusammengebannt, daß es gar nicht aufzutreiben war. Dafür verfolgten ihn aber Jäger und Bannwart in allen Ecken und Enden.

Er hatte einem Kameraden zu Liebe sich einmal hinaus gemacht,

und deutete diesem just auf einen Rehbock, um ihm die Freude des Schusses zu lassen, da stand der Bannwart vor ihnen und wollte sie gefangen nehmen. „Stell dich hinter mich!" rief Hans, und im gleichen Augenblicke mußte der Bannwart an ihnen vorbeilaufen, ohne sie weiter sehen zu können.

Ein andermal stand er so dicht vor dem plötzlich aus dem Busch tretenden Jäger, daß ihm nichts übrig blieb, als sich in einen dürren Stock zu verwandeln. Allein der Grünrock kannte die Schliche des Hans, setzte sich gelassen auf den Stamm nieder, putzte seine Tabakspfeife mit der Messernadel aus und ließ dieses beim Weitergehen wie in Vergessenheit mit der Spitze tief im Stamme stecken. „Bald hätte ich den Flegel heruntergeschleudert," erzählte hernach Koschewitz, „der mir seinen Pfeifenraumer so tief in den Kopf stach."

Koschewitz ist ein ndd. Name, welcher in Potts Familiennamen pag. 672 als Gosswisch, d. i. Ganswiese erklärt wird. Der Name, welcher unter den aargau. Geschlechtsnamen nur einmal sich vorfindet, deutet auf eine eingewanderte Familie. Die Geschichte vom rückwärts gelesenen Zauberbuche wird auch dem Heinr. Cornel. Agrippa nacherzählt, in Philonis Magiologie (1675) S. 246. Dessen Schüler las ahnungslos in seines Kostherrn offenliegendem Buche, als schimmernde Vögel herein fliegen und der Scholar darüber vom Teufel erwürgt wird. Das Zauberbuch zu Crailsheim mit ähnlichen Umständen: Mone, Anz. 1837, 309. Koschewitz wandelt sich gegen den verfolgenden Bannwart in einen Baumstumpf. Abthl. I., No. 32 ist der Feuermann ein ins Schiff geladener Baumstamm. Auf diesen Baumstrunk setzt sich der Bannwart und steckt das Messer hinein, mit der er die Tabakspfeife ausgekratzt hat. In einen Pfahl verwandelt sich der betretene Wilddieb von Bieblis und schilt nachher, daß der Jäger die Pfeife ihm an der Nase ausgeklopft habe. Wolf, hess. Sag. No. 123. Ich hab' aber die Zähne müßen zusammenbeißen, erzählt er von jener Gelegenheit, da ihm der Jäger auch das Sackmesser in den Pfahl hineinstößt. Gräße, sächs. Sagensch. No. 589. In Panzers bayr. Sag. 1, No. 74 fährt einem, während das W. Gjaig vorüberkommt, ein Messer in die Achsel, das sich nicht mehr herausziehen läßt. Er stellt sich daher wieder auf denselben Kreuzweg, und da die W. Jagd zum zweitenmale kommt, hört er sagen: „Gestern hab ich mein Messer in diesen Holzblock gesteckt, nun nehm ich's wieder mit!" So war der Mann befreit. Aehnliches bei Kuhn, nordd. Sag. No. 69; bei Sommer, Thür. Sag. No. 49.; bei Börner, Orlagau. Sag. S. 126, bei Müllenhoff, Schlesw. Holst. Sag. pag. 78. Die Legende vom Straßburger Bischof Arbogast und seinem Nachfolger Florentius erzählt: Letzterer habe das Wild von seinen Pflanzungen in der Gegend der Breusch und Hasel, durch einen Kreis von Zweigen abgehalten, die er rings in den Boden steckte. Vgl. unsere No. 409 Tannligrotze, Tannliwatter. Die Jäger des Königs Dagobert trafen nun kein Wild mehr im Forste an und fanden es in der Nähe des Heiligen festgebannt. Als sie ihn mißhandelten, erstarrten sie und ihre Rosse. Rettberg. Kirch. Gesch. 2, 65.

Digitized by Google

## 372. Vom Schalemê z'Wölfliswil.

„Jo, euse alt Schalemê, das ist en hêr gsî! So lang as er bî eus pfarer gsî ist, so hets nie g'haglet, het kei gross wasser eso gä, — er hät chönne 's wetter ane schicke, wo-n-er hät wölle — s'obs is alle johr grothe, es hät gäng viel wî gä und frucht, ass me sie schier nit gwüsst hät z'bhalte. Er hät au chönne banne; und wenn er hät wölle, so hät er numme z'brûche ûf en eich uhe, und do hät's dublone, nüthaler und feufliwer abegschüttlet bis gnue. er hät, bî miner arme seel! chönne es loch durh e strauwelle durhe brönne, und der tüfel hät em müesse thue, wie-n-er bigehrt hät. wenn's jo emole brunne hät, so isch er drümol z'rings-ume wie wüethig um's hûs gloffe, hät en Agathesäge herg'seit, und do isch denn säll fü'r nu einist cherzegrad i d'höchi g'stiege und dernô plötzlich ei'smols abglösche. Aber iz chönne se nüt meh, die pfaffe! sie chönne nüt, wedder e chli bîm tisch zue mit dem löffel schaffe, und d'lüt ûslache. iz, wenn es wetter an himmel chunt, do wüsset se e gott's namme nüd oz'fäh, wedder sie müend's lô mache. Me seit amme wol vo de Alte; aber deiss sind anderi manne gsî, wedder as iez gît, jo wärli!"

Ober-Fricker Mundart. Der vermeinte Pfarrer lebte im vorigen Jahrhundert auf der Pfründe zu Wölfliswil im Frickthale, war Jesuite, und hieß Chalomeille. Vgl. über ihn Abthl. X, Heidenhäuser: die Heiden auf den Bilgerhöfen. Hier ist von der übernatürlichen Gewalt eines Landpfarrers die Rede. Die Erzählung ist buchstäblich aus dem Munde eines mit der Gegenwart unzufriedenen Bauern genommen. An ähnlichem Glauben fehlt es auch anderwärts nicht, z. B. in dem benachbarten Luzernerlande: Als 1820 ein Hagelwetter einen Strich Landes vier Stunden weit über Willisau bis auf den Napfberg verwüstete, beschwerten sich die davon Betroffenen, sie hätten es einem benachbarten Pfarrer zu verdanken, der es aus seinem Kirchspiel weg und ihnen zu getrieben habe. An einem andern Ort schrieb man es einer Judenfrau zu, die kurz vorher im Gefängnisse zu Willisau eingesperrt gewesen war und beim Fortgehen gesagt haben sollte, ich will euch schon eine Suppe anrichten! An einem dritten Orte wurde die Faulheit des Sigrist, welcher zu spät über Wetter läutete, als Ursache angesehen; „wenn man wartet, hieß es, bis gekocht ist, so muß angerichtet werden." Kas. Pfyffer, Gesch. v. Luzern (Zürich 1852) 2, 439. Der Priester von Valesieur hatte zur Abwehr des Regens Prozession und Gottesdienst abgehalten. Als es gleichwohl nun zu hageln begann, rief er in seinem Patois: Chein! la prichi tro rudo! Schau, ich hab halt zu stark gebetet. Vuillemin, Kant. Waat 2, pag. 32.

Digitized by Google

## 373. Der General zu Caſtelen.

Beim Landvogt zu Caſtelen lebte ein fremder Graf und General, der nur Spreuer zu ſäen brauchte, um ſo viel Soldaten als er wollte, aus dem Boden wachſen zu laſſen. Er hörte die meuchleriſche Kugel ſauſen, die ihn treffen ſollte; er nahm daher ſeinen Federhut ab, wedelte wie mit einem Fächer und jagte ſie damit wieder des Weges zurück, den ſie gekommen war. Wohl aber wußte er, daß nun gleich die zweite Kugel nachgeflogen komme; deshalb ſpannte er jetzt ſeine Rappen ein und ſprengte damit ſo ſchnell davon, daß jene ins Leere puffte. Als er ſo bei der Nacht vors Basler-Thor gefahren kam, war dieſes noch verſchloſſen; er fuhr darüber weg. Und als ihm drinnen der Thorwächter nicht ſchnell genug Licht machen konnte, nahm er ihm den Feuerſtahl ab und ſchlug ſich aus den Fingernägeln Feuer an.

So windig dieſe Anekdote ſcheint, ſo alt iſt die Glaubensbeziehung, auf welche ſie ſich ſtützt, und daher rührt es, daß ſie ſich in allen möglichen deutſchen Landſtrichen bis heute immer wiederholt. Im Havamal der Edda, Str. 151 zählt Odhinn die Reihe ſeiner Zauberkünſte her: „Ein fünftes kann ich. Fliegt ein Pfeil gefährdend übers Heer daher, wie hurtig er fliege, ich mag ihn hemmen, erſchau ich ihn nur mit der Sehe.“ Die Sage von der Schützenkunſt, abgeſchoſſene Kugeln im Fluge aufzufangen, wiederholt ſich: Abthl. III, Sodbrunnen der Römerſtadt, vom Sodbaſchi. Von Hans Leineweber und einem Fürſten von Heſſen-Homburg erzählt's Bechſtein, thür. Sag. 2, 126.; vom Markgrafen Hans, Kuhn, nordd. Sag. No. 38. In des Hirten Glückstraum, Bechſtein Märch. pag. 154, äußert einer: Ich habe heute einem General ſeinen dreieckigen Hut geſtohlen, und wenn man ihn auf dem Kopfe dreht, knallen aus ſeinen drei Ecken unaufhörlich Schüſſe.“ Wuotans Wind- und Wünſchelhut wird hier zum Schlachten entſcheidenden Siegshelm. Vgl. I, pag. 124.

---

## 374. Suhrer-Zauberkugeln

gießt man aus reinem Silber, während dem Zwölfeſchlagen der Chriſtnacht, ohne ein Wort zu ſprechen, da wo drei verſchiedene Wege zu einer Kirche führen. So machten es einige Burſche auf dem Kreuzwege zwiſchen Suhr, Gränichen und Entfelden. Als das Silber flüßig war und man nun auf den Schlag Zwölfe wartete, rief der Nachtwächter in Suhr: „D'glogge het Ei's g'ſchlage!“ Da ſagte einer der Geſellen: 's iſt, ſchint's, ſcho lang Zwölfi vorbi?“ und im gleichen Augenblicke ſchlug die Glocke ihr Zwölf. Alſo hatte der

Digitized by Google

Teufel statt des Nachtwächters gerufen, und die Gießenden waren diesmal angeführt. Daher soll denn das Sprüchlein rühren:

Zwüsche Gräniche, Suhr und Entfeld
Git's numme Aergernuss und keis Geld.

---

## 375. Der Lenzburger Schmied

lebte vor etwa sechzig Jahren und trieb besonders an Markttagen seine Possen mit dem hereingekommenen Landvolke. Da legte er vor seinem Hause ein Hufeisen so auf die Straße, daß es niemand aufheben konnte, und meinte jemand es mit Gewalt aus dem Pflaster lösen zu müßen, so pfiff er nur, und jener hatte sich wie an glühendem Eisen die Finger verbrannt. Betrat man seine Werkstätte, so brauchte er blos drei Hammerschläge auf den Ambos zu thun, und Jeder blieb so lange gebannt, bis er ihn wieder berührte; so lange er aber da einen warten ließ, wurde man von unsichtbaren Drähten und Nadeln jämmerlich gezogen und gestochen.

---

## 376. Der Meiter von Uerkheim.

Der Meiter, der in Uerkheim bei Zofingen wohnte, war ein eingewanderter Deutscher. Jegliches Geheimniß konnte er durch einen Zauberkristall sehen und entdecken. Jenen diebischen Weber, der ihm trotz vorausgegangener Warnung einen Stecken aus der Scheiterbeuge mit fortgenommen hatte, ließ er damit bis vors Thor von Zofingen gehen; und dorten erst zwang er ihn, die ganze Wegstunde mit seinem Scheit Holz zurückzulaufen und es am gleichen Flecke niederzulegen, wo er es hervorgezogen hatte. Auch ein Nachbar wollte sich nicht bewegen lassen, dem Meiter das Geld zurückzubringen, das er ihm vor langem schuldig geworden war; dafür siechte er allmählich hin. Schon hatte die Sache zwei Jahre gedauert, da ward dem Halsstarrigen geheimnißvoll erklärt, er habe nun noch eine vierzehntägige Frist. Die zwei Wochen verstrichen unbenützt; am besagten Tage starb der böse Schuldner; der Zauberer hatte ihm den dritten Nagel in den Thürpfosten geschlagen. Beim Begräbnisse folgte er deshalb dem Sarge zunächst in weißer Zipfelmütze und trat dann beim Vorzeichen (Kirchenportal) beiseits. Vor Jahren wollte er seinen Bekannten ein Stück Tuch wieder verschaffen, das ihnen von der Bleiche gestohlen worden war. Die Leute sollten deshalb am be-

Digitized by Google

stimmten Tage bis Abends mit keinem Fremden etwas reden, noch Jemandem etwas abnehmen, noch über die Traufe ihres Hauses hinaus gehen. Doch gerade da kam ein Weib mit sehr schwarzem Gesichte zum Hof her, und die erschrockene Hausfrau vergaß sich und schrie ihr Geh weg! entgegen; damit war alle Mühe von Stund an verloren. Aehnliche Vorfälle führten zu vielen Streitigkeiten; das Zofinger-Bezirksgericht hatte den Meiter als die Quelle solches Verdrusses einmal eingethürmt und abgestraft. Seitdem ließ er sich auf keinerlei Anfrage mehr ein. Nun war aber gerade ein Mann in der Umgegend erschlagen worden, dessen Mörder durchaus nicht zu entdecken waren. Endlich verfügte sich der Bezirksamtmann selbst zum Meiter und meinte, auf Umwegen vielleicht ihm abfragen zu können, was er sich über diesen allgemein bekannten Vorfall denke. Er erhielt jedoch lauter höhnische Antworten. Als er wieder zur Thüre hinaus wollte, that der Meiter, als ob er mit irgend einer Gleichgültigkeit dem Gespräche eine andere Wendung gebe und sagte: Wolltet Ihr alle Landjäger des Kantons zur Stunde versammeln, so würde einer unter ihnen gewiß einen schmierigen Säbel haben. Der Amtmann verstand diese Angabe nicht und sah auch nichts anderes darin, als den alten Haß des Mannes gegen die Polizei. Nach langen Jahren starb ein Landjäger des Bezirkes, der auf dem Todbette jene unentdeckt gebliebene Mordthat bekannte. An seinem Säbel fanden sich unvertilgliche Blutflecken.

Der Meiter von Uerkheim folgt dem Leichenzuge des durch ihn getödteten Herenmeisters in weißer Mütze. Beim Vorzeichen (Vordach der Kirchenthüre; phorzihe, porticus. Scherz Gloss.) tritt er dann beiseits. Nec sacris adesse nec concilium inire ignominiosis fas. Tacit. c. 6. Die weiße Mütze kommt hier dem unkirchlichen Herenmeister zu, wie sonst die gelbe und rothe dem Ehrlosen und Verurtheilten. Grimm, RA. 712. Vgl. Anmerk. Witterungsgott und seine Huttracht I, pag. 124.

---

## 377. Der Wanzenschneider in Obermumpf.

Der Wanzenschneider war als Schwarzkünstler nicht blos in Obermumpf und Schupfart bekannt; jeder Bauer drüben im Schwarzwalde wußte recht gut, wer daran schuld sei, wenn er des Morgens einmal seine Stiere in den gleichen Stoß (Halfter) gebunden, oder seinen Pferden die Mähnen ineinander geflochten sah, daß sich die armen Thiere über Nacht im Stalle schier erwürgen mußten. Durch bloßes Chuchen (Anhauch) machte der Wanzenschneider den kleinen Kindern Gichter, durch bloßes Beschauen angeschwollene Köpfe. Als

Toggeli und Schrätteli beschlich er die Schlafenden im Bette und ritt sie halb zu Tode. Als rothes Mäuschen schlupfte er jedem, der mit offenem Munde schlief, ins Herz hinunter. Wollte man dann die Magd früh wecken, so lag sie erstarrt da, und lang mußte man sie ganz gehen und allein lassen, bis sie wieder erwacht und ihr der Teufel aus dem Halse gesprungen war. Freilich legte man ihm auch gar alles bei, was Andere verschuldet haben mochten, und so sagte sich das Volk schon lange vor seinem Tode allgemein, wie er dereinst als böser Geist zur Strafe werde umirren müßen. Es ist jetzt anderhalb hundert Jahre her, daß er gestorben ist. Kaum war er begraben, so saß er schon wieder hinter dem Ofen seines alten Wohnhauses, und krähte die neueingezogenen Leute aus ihrer Ruhe, oder er lag als schwarzer Hund auf der Küchenstiege, und vertrat den armen Weibern mit der Suppenschüssel am hellen Mittag den Weg. Endlich mußte ein Kapuziner helfen, ihn in eine Kratte bannen, und ihn in den Wanzengraben versenken, der zwischen Schupfart und Obermumpf liegt. Doch gelang auch das nicht eher, als bis man dem Unhold zugestanden hatte, alle Jahre um einen Hahnenschritt seinem Hause näher rücken zu dürfen. Nun aber ist vor noch nicht langer Zeit sein wüstes und längst verfallenes Wohnhaus niedergebrannt, und man hatte damit Hoffnung, seiner gänzlich los zu sein. Gleichwohl läuft er schon wieder bei dem schmalen Wege, der über den Bach führt, und zieht dort die nächtlichen Trunkenbolde ins Wasser hinab; ja die Obermumpfer wollen ihn kürzlich auch in ihrem Dorfe selbst gesehen haben auf dem nämlichen Platze, auf dem sonst sein Haus gestanden.

Stoß nennt man den Strick, den jede Kuh im Stalle um den Hals hat, gerade knapp genug gebunden, daß sie sich nicht los machen kann vom Barn. Es geschieht aber zuweilen, daß zwei Kühe desselben Stalles, die am Abend an ihren beiden Stricken festgebunden waren, am Morgen in ein einziges Seil und zwar so fest zusammen gebunden stehen, wie man es mit menschlicher Gewalt kaum zusammen schnüren könnte. So lange nun niemand die Kühe in dieser Lage erblickt, schadet es ihnen nichts; gewahrt es aber ein Mensch, so gerathen sie in solche Wildheit, daß sie sich binnen wenig Augenblicken zusammen erdrosseln. Es geht daher kein Knecht Morgens zur Fütterung anders als mit einem Sackmesser in den Stall, um diese Strickverknüpfung, Toggelistöße genannt, sogleich zerschneiden zu können.

---

## 378. Thiseheiri von Schneißingen.

Der Heinrich des Bauern Matthias hat Nachts auf einer Scheidung Arme und Beine nach den vier Weltgegenden so lange aus-

Digitized by Google

einandergestreckt, bis ihm der Teufel erschien; so sehr sich letzterer Mühe gab, so konnte er doch nichts über das Verlangen aus ihm herausbringen, als daß er Vieh- und Menschenarzt sein möchte. So kam der Thiseheiri mit dem Leben davon und hat dann berühmte Kuren gemacht.

Er saß einst gerade im Wirthshaus zu Lengnau und trank von seinem Lieblingswein, als ihm ein Hausener-Vater zum Söhnlein holte, das am ganzen Leibe geschwollen lag und dessen Leben schon von drei Aerzten verschätzt war. „Es thuet em nüd und i will denn cho", war die ganze Antwort; aber nun trank der Wunderdoktor erst noch so manche Flasche, daß endlich auch der Wirth ihm zusetzte, doch einmal sich zum Patienten aufzumachen. Zuletzt gieng er, kam ans Bette des Knaben, sprach einige unverständliche Formeln her, gab ihm etwas ein, und die Geschwulst legte sich wirklich.

Einer Kuh, die nicht mehr aufstehen wollte, schnitt er unter allerlei Ceremonien auf der linken Seite Haar ab und sagte im Weggehen, das Thier werde, noch bevor er sein Haus wieder erreiche, gesund sein. Nach einer halben Stunde stand die Kuh auf und fraß wieder.

Einer Kuh, deren Milch sich nicht mehr buttern ließ und auf deren Haut ein haarartiger Pilz wuchs, schnitt er Haar am linken Ohr ab, nahm von der Milch dazu, that Beides in eine Schweinsblase, und ließ diese in den Kamin hängen. Dann gab er dem Thier noch einen Kühltrank ein, ließ melken, und da vorher Viele vergeblich am Butterfaß gerührt hatten, fieng er selbst an zu schwingen, und bald war die schönste Butterballe vorhanden.

Der Aberglaube, daß Zauberer und Heren dem Geschäfte des Butterns besonders im Wege stehen, wird beim Volke noch durch kirchlichen Einfluß aufrecht erhalten. Zufolge der i. J. 1849 zu Zug erschienenen Schrift: „Herenprozeß und Blutschwitzer-Prozedur, zwei Fälle aus der Kriminalpraxis des Kantons Zug" besteht annoch zu Einsiedeln im Stifte ein eigenes „Teufelaustreibungs-Collegium"; dasselbe bedient sich gegen und für das „Ankenmachen" (Buttern), sowie überhaupt zum Exorcismus, des Buches: Geistliche Rüstkammer gegen Satansanfälle von P. Ubald Stoiber, Freisingen 1725. Daselbst I, 125 sind wirklich Mittel angegeben, die den oben erzählten Maßnahmen entsprechen.

---

## 379. Der Horenbauer von Asp.

Der Horenhof ist ein Bauerngut, das zur Gemeinde Küttigen gehört und zwischen dem Kirchberg und dem Homberg gelegen ist. Es hat seinen Namen von einem ehemaligen Besitzer, welcher von

Digitized by Google

dem jenseits des Jura gelegenen Bergdörfchen Asp gebürtig war; er hieß eigentlich Joggeli, mit seinem Hausnamen aber gemeinhin Horenbauer. Er hatte dieses Gut, das mehr als den dritten Theil der Dorfgüter umfaßte und vom hintern Homberg bis an die Aare hinabreichte, schuldenfrei übernommen, allein er lebte so unbesorgt drauf los, daß ihm die Gläubiger bald auf den Hals kamen, und da er viel zu ländergierig war, als daß er sich durch den Verkauf etlicher Aecker seines großen Besitzthums hätte helfen mögen, so suchte er anderswo Rath. Nicht weit von jenem Hause liegen noch Ueberreste eines alten Schlosses, welches Löhren geheißen haben soll. Es ist dies dieselbe Stelle, welche sich die Dörfer Küttigen und Biberstein einst zur Erbauung ihrer Kirche ausersehen hatten, immer aber wurde das, was den Tag über dorten an Gemäuer aufgeführt worden war, von unbekannter Hand Nachts wieder abgerissen und an diejenige Seite des Berges versetzt, wo jetzt die Kirche von Kirchberg steht. Man wußte also seitdem, daß jene Höhe droben im sogenannten Rosengarten versegnet und mit verwünschten Schätzen angefüllt sein müße. Deswegen kam dem Horenbauer jetzt dieser Burgstall in den Sinn, und er durchwachte ganze Nächte im Nachdenken, wie er wohl den Schloßschatz erheben solle. Er kaufte alle möglichen Zauberbücher zusammen, lernte die Besegnungen auswendig und gieng dann in einer Augustnacht mit Haue und Schaufel droben im Walde ans Werk. Alsbald war auch der Teufel zur Stelle und sprach: Schätze hüte ich hier nicht und kann dir kein Geld geben, verschreibst du mir aber deine Seele, so will ich dir ein paar Kunststücke zeigen, die dir dein Lebenlang helfen sollen: ich zeige dir, wie man bergab fährt, ohne das Rad zu spannen; wie man mäht, ohne die Sense zu wetzen, und wie man Futter macht, ohne daß es geregnet hat. Um so Geringes wollte der stolze Bauer nicht sogleich seine Seele verkaufen, aber der Teufel that so ungeberdig, daß der Handel doch richtig wurde. Der Trost, das Horengut behalten zu können und doch noch reicher zu werden, beruhigte den Bauern und unterdrückte das bischen Gewissen. Wenn er von jetzt an seinen Aerntewagen mit dreifachen Aettern (Garbenschichte) belud, so brauchte er nicht Bindbaum, nicht Wagenseil und Spannleitern; im Galopp fuhr er die steile Bergwand mit hinab ohne ein Rad zu spannen, und nie stürzte die Fuhre, nicht einmal eine Aehre gieng verloren. Bäume, die beim Fällen auf die unrechte Seite stürzen wollten, stieß er wie einen Stock mit dem Fuße nach der entgegengesetzten; den steckenbleibenden Fuhrwagen hob er mit der Schulter aus dem Tobel heraus. Seine Leibesstärke wurde ganz ungeheuer.

Digitized by Google

Auch seine Bergwiesen ertrugen nun doppeltes Futter, die sonst voll Kalkgerölle lagen und sich schwer hatten mähen lassen; in himmelhohen Fudern fuhr er's zu Thale, denn der Teufel ließ ihm eine Quelle entspringen, welche die Halde in eine wahre Wässermatte umwandelte. Man zeigt noch jetzt dies Brünnlein beim großen Stein am Kirchwege. Sollte man alsdann mähen, so strich er nur einmal über die Sense, tauchte sie in dieses Bergwasser und brauchte sie darauf für das ganze Tagwerk nicht wieder zu wetzen. So hat er die große Reihmatt in einem halben Tage und nur einmal die Sense schärfend, abgemäht; ein Anderer müßte mehr als dreißigmal wetzen und wäre in einem Tage noch nicht damit zu Ende. Von solchen Zauberquellen ist freilich heute an den dortigen Jurawänden nichts mehr zu sehen, aber auch die andern Herrlichkeiten dauerten nicht lange. An einem Sonntage hielt der Horenbauer auf seinem Hofe die Sichellöse, Verwandte und Bekannte waren eingeladen, es gieng laut her beim Trinken und Spielen. Da wurde noch spät draußen an die Thüre geklopft und der Hausherr herausgerufen, ein fremder Herr habe dringend mit ihm zu sprechen. Der Bauer ahnete wohl, daß es der Teufel sein müße, und langte sogleich sein siebentes Buch Mosis hervor, um ihn hinweg zu schwören. Allein es klopfte zum zweiten- und drittenmal und rief, Joggeli! Jetzt flüchtete sich dieser in den Schornstein, um auf solchem Wege in den Wald zu entkommen. Allein schon beim Buchenwäldchen hatte ihn der Teufel eingeholt. Andere behaupten, der Satan habe durch das Schüttsteinloch in die Küche hineingegriffen und ihn da herausgezogen. Der Bauer hatte sich früher oft berühmt, wie er nicht zur Thüre hinauszugehen brauche, wenn er sein Haus verlassen wolle; jetzt hatte es sich erfüllt. Nach einem kurzen Kampfe raffte ihn der Böse in die Lüfte empor, und eine ganze Reihe ausgerissener Weinstöcke und geknickter Kirschbäume bezeichneten über Kirchberg hin die Richtung, in der ihn der Satan zu Tod geschleppt hat. Tags darauf fand man drunten auf dem Sommergrien, einer Insel der Aare beim Rohrerschachen, die Leiche, sie war zerfetzt und geschwärzt, Laub und Reisig hieng noch in den festgeschlossenen Händen.

Der Joggeli hat noch jetzt keine Ruhe. Wenn es Regen geben will, muß er den Homberg herunterfahren; man sieht den Wagen nicht, hört aber die Räder rollen und die Peitsche knallen, daß es im Thale wiederhallt. Er soll darum auf so lange verwünscht sein, weil er einst beim Pflügen über den Mennibuben erzürnt, der ihm die Thiere nicht gut genug führte, von der Pflug-Geitze gegen den Knaben vorsprang und ihn mit dem Peitschenstock erschlug. Die

Gebeine des Knaben ſollen nachmals auf dem Ackerfelde ausgegraben worden ſein.

Man hörte den Bauern aus dem Dorfe Konarzyn, als er durch die Aeſte der Bäume fortgeſchleppt worden, laut ſchreien und den Teufel bitten, er möchte ihn etwas höher führen. Tettau-Temme, preuß. Sag. No. 236. Was hier dem Horenbauer an zauberhaftem Gedeihen ſeiner Feldarbeit zugeſchrieben wird, erzählt ebenſo ſchon die Kaiſer-Chronik (Diemer, 1849) 65, V. 24: sin sichel sneit sciere mer denne ander viere. wil er durch ainen berc varn, der stet iemer im ufgetan.

---

## 380. Der Geiſerfriedel von Unterkulm.

Neben einem tiefen Graben der Binshalde in der Gegend von Unterkulm ſtand ſonſt ein altes geborſtenes Häuschen, das man Geiſerhöhle hieß. Dort wohnte der Geiſerfriedrich ſammt Buben und Frau, und was er da von geſtohlenem Speck, Butter und Schmalz nicht unterbringen konnte, das trugen ihm ſeine Buben über das Neudorf hinüber und verbargen es jenſeits im Brandholze. Oftmals hatte ihn der Landjäger ins Gefängniß abgeholt, und immer war er ihm auf dem Wege vor ſeinen Augen plötzlich verſchwunden. Endlich ſandte der Lenzburger Landvogt ſeinen Weibel, um ihn aufs Schloß bringen zu laſſen. Obſchon er ſich unter die Firſt ſeines Hauſes anfangs verſteckt und ſein Weib ihn verläugnet hatte, wußte ihn der Weibel zu finden und zu binden. Allein er war mit ihm noch nicht über Liebegg hinaus nach dem Räſenthal gekommen, als ihm der Geiſerfriedel auf dem Katzenhübel verſchwunden war. Nun ſchrieb der Landvogt nach Bern, um dort dem Geiſer einen Meiſter zu ſuchen. Ein unbekannter Mann erſchien und fragte, ob der Friedel zu Hauſe ſei. Aber ſchon hatte dieſer es gemerkt und ſich nah beim Hauſe in einen Roggenacker verſteckt. Dreimal rief ihn der Mann beim Namen, aber ſchon beim zweiten Male war der Geiſer gutwillig aus dem Roggen aufgeſtanden und machte ſich mit ſeinem Führer auf den Weg. Beim Katzenhübel wollte er wieder ausreißen und verſchwand wie früher. Der Mann aber gieng gelaſſen weiter und ſprach: Er wird mir nicht zu lange ausbleiben; und wirklich kam noch vor Lenzburg der Geiſer nachgeſprungen und marſchierte mit aufs Schloß. Dort warf man ihn ins Gefängniß, und als er auch da wieder zu gefährlich wurde, hiengen ſie ihn nebſt ſeinem Buben an den Galgen. Sein Häuschen aber ward umgeriſſen und hinauf auf die Wüſtung des Wannenhofs gefahren. Sie wollten eben das letzte Fuder bergauf führen, als der Geiſer hinten mit droben

Digitized by Google

saß. Und als der Suter-Heinrich die übrigen Bausteine unter seine Fensterfassung geschoben hatte, loderte ihm in der ersten Nacht ein großes Feuer durchs Fenster zur Stube herein, bis er diese Steine wieder auf ihre alte Stelle zurückgetragen hatte.

## 381. Salzheiri und Ueribernet von Leerau.

Der Salzheiri (Heinrich Salzmann) und der Ueribernet (Ulrich Bernhard) von Leerau waren Zauberer und „trieben einander". In einer Nacht, erzählte letzterer, weckte mich eine brennende innerliche Hitze; ich mußte aufstehen, hinaus. Nichts, kein Spruch wollte helfen. Endlich wußte ich keinen Rath mehr, als gerade dem Gewässer der Suhre zuzulaufen. Während ich da über die Matten von Mooslerau kam, erhob sich ein so furchtbares Donnerwetter, daß ich im Sturme die rechte Stelle sicherlich nicht gefunden hätte, wäre mir dieselbe nicht zu wohl bekannt gewesen. Es war da ein tiefer Gumpen (stille Tiefe) der Suhre, in den ich blindlings hineinsprang; bis an den Hals getaucht verblieb ich so die ganze Nacht. — Der Salzheiri wurde seines Feindes gleichwohl Herr; erst vor einigen Jahren starb er auch. Freilich erwartete man, er werde nach seinem Tode wieder kommen, denn er war auch ein berüchtigter Marchsteinversetzer. Doch man hat nichts weiter verspürt; die neuen Hausbesitzer wollen von solchen Sachen nichts mehr wissen.

## 382. Düri-Joggeli von Teufenthal.

Man sah einst zu, wie der Düri-Joggeli (Jakob Dürr) bei Teufenthal sein Pflugrad wie einen Hund auf dem Feld herum sprengte. Da kam alsbald eine Here von weitem athemlos hergelaufen, setzte sich zu ihm auf den Pflug und sagte im ersten Verschnaufen dreimal nacheinander: D'er sind (ihr seid) doch en böse! Nun erst erwiederte der Meister: Heute bist du nur gewarnt, ein andermal laß es dir gesagt sein! Verbuckelt und mühselig schlich sich jetzt das Weib davon, das eben noch wie eine Junge im vollen Sprunge hergerannt war. Diesem selben Weibe, erzählte einer, begegnete ich einmal im Buchholze. Schon von weitem mußte ich mir denken: da kommt doch diese Here auch. Sie tätschelte mich im Vorbeigehen auf die Achsel und begann, ohne alle Veranlassung: Ja, die schlechten Leute im Dorfe drunten sagen's. — Mir wurde katzbange, doch geschah mir nichts.

Digitized by Google

Der Dürijoggeli treibt sein Pflugrad wie einen Hund im Feld herum. Der Dieb von Wessobrunn in Altbayern (Wolf, Zeitschr. 1, 451) wird auf dieselbe Weise bezwungen und herbeigebracht. Der Segen, der dazu gesprochen werden muß, steht in Wolfs Beitr. 1, 257, No. 21:

Dieb, Dieb, kehr wieder um,
Gott Vater bindt dich,
Gott Sohn zwingt dich,
Der hl. Geist wendt dich.

Weil der Pflug geheiligt ist, so wird mit ihm gezaubert. Auf ihn, als einem gerichtlichen Weisthum, legt man Eide ab, um Freiheit und Besitz zu ergreifen. Grimm, RA. 87, 184. Wer einen Pflug stahl, war gleich dem Kirchendiebe todesschuldig. Zellweger, Appz. Gesch. 1, 234. Ans Pflug- und Wagenrad darf man kein Thier binden, weil Kaiben daran gebunden werden (Verdammtes und Luder); wer's that, ist nach Birmensdorfer Rechts-Erinnerung todesschuldig gewesen. (Mündlich.) Dies erinnert lebhaft an die Irionsstrafe. Läßt man den Pflug über Nacht auf der Schleife im Felde stehen, so sitzt der Teufel darunter. Aargau. Abgl. Darum ist der Vogt von Reckersdorf (um Neusatz und Sagan) in ein Pflugrad verzaubert. Firmenich, Völkerstim. 2, 305. Daß die Zauberthiere Augen wie Pflugräder haben, daß Jedem, der sie anschaut, der Kopf anschwillt, wie ein Viertel, wie ein Kartoffelkorb: dies gehört in die landwirthschaftliche Bildersprache und drückt die Fruchtbarkeit überhaupt aus, welche man sich von der Erscheinung der Geister verspricht.

---

## 383. Der Mauser von Lupfig.

Oft trifft es sich, daß ein Teufelsbanner einen andern Herenmeister um Ruf und Erwerb neidig ist. Kann der andere auch mehr, als nur Brodessen, dann „treiben" sie Beide einander, bis einer von ihnen Meister wird. So geschah's dem Lupfiger-Mausfänger. Er war gottlos und spöttelte über alles Heilige; natürlich auch über seines Gleichen. Da merkte er, daß er „getrieben" werde, verließ sich aber auf seine Geheimmittel und hielt sich für sicher. Eben lud er Heu auf der Wiese, da warf es ihn dreimal hoch auf und das viertemal auf den Boden mit solcher Gewalt, daß er sogleich starb. Dies versichern noch viele achtbare Leute und würden einen Zweifel an dieser Thatsache für ungewöhnlicher halten, als die Begebenheit selber.

---

## 384. Der Giger-Jokeb,

oder Geigers Jakob, half einem Tegerfeldner wieder zu dem Garne, das ihm gestohlen war, indem er Knochen vom Kirchhof um Mitternacht in einer Pfanne unaufhörlich hat sieden lassen. Freilich ent-

Digitized by Google

ſtand dabei ein ſolches Brauſen und Rumpeln in und außer dem Hauſe, daß der beſtohlene Bauer viel lieber ganz von ſeinem Begehren hätte abſtehen mögen. Bei andern Begegniſſen ſoll er nur Hanf in den Schlot gehängt haben, dann aber mußte der Dieb ſterben.

Der Giger-Jokeb ſiedet Kirchhofsknochen in der Pfanne. Der Hexenhammer wimmelt von Unterſuchungen über gekochte Leichen und Todtengebeine, mit deren Extract, Beſenſchmalz u. ſ. w. geheißen, man gezaubert. Die Kaiſerchronik (edd. Diemer, S. 64) ſagt vom Zauberer: Er hat ain ungemailtez (ungetauftes) kind erslagen unt hat iz unter sinem pete begraben, damit zovbert er swaz er wil. — Wier, de præstigiis etc. führt weiter aus, daß man damit Backmulden, Miſtbahren geſchmiert habe, dann hin und wieder in Lüften gefahren ſei: „So einer von dieſer Feuchtigkeit trinkt, wird er der Künſten theilhaftig, ja ein rechter Rabbi.“ Geiler von Keiſersb. predigt gleichfalls über dieſen Brauch, bezweifelt aber die Richtigkeit des davon erhofften Erfolges. Ameiſe, Bl. 37. (Straßb. Joh. Grüninger, 1517). Valer. Anshelm, Berner-Chronik, weiß eine ganze Reihe hier einſchlägiger Sittenzüge aus ſeiner Zeit zu erzählen vom Jahre 1521: Bd. 6, 109.

Anno 1459 hatte der Zürcher-Rath eine Summe an die Kirche zu Uſter vergabt zu Seelenmeſſen für die anno 1444 hingerichteten 72 Mann der Greifenſeer Beſatzung, und ließ ein eignes Gebeinhaus für ſie aufführen. Noch im Jahre 1638 mußte man dieſe Gebeine wieder wegtragen, ſo viel Aberglauben trieb das Landvolk damit. Man zerſtreute ſie über den Kirchhof und ließ durch jeden Hausvater eine Fuhre Sand darüber ſchütten. Helvet. Kalender 1786, 105.

Ein Hexen-Maleſiz-Protokoll v. J. 1628 beſteht ausdrücklich auf ſolcherlei Zaubergeköche (Mone, Anzeig. 1829, 126 u. 274). Daraus entwickelte ſich der grauſenhafte Glaube, daß die Hexen ungetaufte Kinder und überhaupt Menſchen fräßen. In Lauſanne fraßen ſie ihre eigenen, im Bernerlande auf einmal fünfzehn fremde Kinder, behauptet der Hexenhammer, und Wier, de præstigiis, nennt dafür wiederum den Berner Ketzerrichter Petrus von Boltingen als Gewährsmann. Dies iſt auch der Inhalt des Volksliedes „Es gieng ein Müller wohl über Feld“ (Simrock, deutſche Volkslieder No. 36). So reicht der Aberglaube aus der Lex salica tit. 67. §. 3: si stria hominem comederit etc. bis auf unſere Zeit herein.

---

## 385. Der Tubeſtütze zu Entfelden.

Der Tubeſtütze war blutarm und hatte nie Brod genug für ſeine Buben; aber ſeitdem ſein Jüngſter einmal ein paar Tauben in Unter-Entfelden geſchenkt bekommen und dafür fünf Batzen auf dem Aarauer-Markte gelöst hatte, gieng dem Vater ein Licht auf; er kaufte ſich Tauben und fütterte ſie aus einem Schädel, den er auf dem Kirchhof zu Suhr geholt hatte. So kamen ihm die Tauben immer wieder in

Digitized by Google

den Schlag zurück, ob er sie verkaufte oder ins Feld fliegen ließ. Der Handel trug Geld ein, und wer einige Zeit darnach am Hause vorüber gieng, der konnte es am Geruche merken, daß drinnen Braten gerüstet und Kuchen gebacken wurden. Der Taubenstütze war fleißig auf den Füßen und hieß nun vornehm der Taubenhändler Stutz. Allein er starb mitten in seinem beginnenden Glück, wie, weiß man nicht mehr. Das Wohlleben im Hause verschwand, die vorige Noth kehrte völlig wieder ein. Nun ließ aber auch der Verstorbene sich plötzlich sehen, man hörte ihn wie sonst seine Tauben locken. Damals kam eines Tages der Dorfmüller von Aarau heim und kehrte noch im Bären zu Unter-Entfelden ein; gerade war vom Spuk die Rede. Als der Müller die ganze Sache bestritt, erklärte sich ein Gast bereit, ihn draußen sogleich von der Wahrheit zu überzeugen. Der Müller spielte den Tapfern und gieng mit. Als man ihn auf einen gewissen Platz geführt hatte, mußte er seinem Manne mit dem linken Fuß auf dessen rechten stehen und ihm über die linke Schulter blicken. Was er jetzt sah, brachte ihn in solche Furcht, daß er nicht mehr den Muth hatte, die Viertelstunde noch vollends heim zu gehen, sondern im Bären übernachtete.

Man ist im Dorfe den Spuk los geworden, seit ein Aarauer-Zimmermann jenen gefährlichen Todtenschädel gefunden und wieder auf den Suhrer-Kirchhof zurück getragen hat.

Im Meiningischen gilt derselbe Volksglaube noch: Läßt man die Tauben aus einem Todtenkopfe saufen, so gewöhnt sich keine aus dem Schlage und fremde Tauben gewöhnen sich herzu. Haupt, Ztschr. f. d. Alterth. 3, 366, No. 57. Dasselbe gilt auch im französ. Aberglauben: Wolf, Beitr. 1, 250, No. 609.

Diese Sagen von den Zauberern gründen sich in der Schweiz auf die Thaten der Gauner- und Räuberbanden, von denen noch im vorigen Jahrhundert einzelne Landstriche wimmelten. Im Waatlande, erzählt Vuillemin, Kant. Waat 2, pag. 60, hatte das Räuberwesen dermaßen über Hand genommen, daß die Obrigkeit ein ganzes Dorf in der Nähe von Morsee zerstörte und die Einwohner dem Henker überantwortete. In der Aarauer-Stadtkirche wurde 1732 eine Diebsbande von 88 Köpfen von der Kanzel proclamirt, deren Steckbrief drei Viertelstunden Zeit zum Ablesen erforderte. Eggen, Nachtr. zu Ulr. Fischens handschrift. Chronik v. Aarau, pag. 165. So bekamen unsere zahllosen Erzählungen über Aargauer-Milchstellerinnen, Wunderdoctoren, Schatzgräber und Todtbeter ihre letzte historische Bewährung namentlich durch das Treiben des Konstanzer-Hans; derselbe zog in den letzten Jahrzehnten des vorigen Jahrhunderts zwischen dem würtembergisch-badischen Schwarzwalde und dem Schaffhauser- und Thurgauerlande herum. Seine Bande, 468 Mann stark, stand im Zusammenhange mit 1300 Steifbettlern. Seine an Vieh und Menschen gemachten Kuren, Besegnungen, Teufelsaustreibungen gleichen in den darüber handelnden Criminalakten oft

Digitized by Google

genau unſern hier erſcheinenden Zauberſagen. Der „Abriß des Gauner- und Bettelweſens in Schwaben und der angrenzenden Schweiz. Nach Acten. Stuttg. 1793" theilt, pag. 105, ziemlich dieſelbe Begebenheit mit, die unſere Nummer 390, „Gebannte Here von Birmenſtorf", enthält. Weitere Parallelen dieſer Art ſtehen in der Lebensgeſchichte des Konſtanzer-Hans: Samml. u. Erklär. merkwürd. Erſcheinungen, von Prof. Abel. 2 Bde.

Das Neujahrsbl. der Zürcher-Hilfsgeſellſchaft v. J. 1817 giebt, pag. 9, die für die Abtheilung der hier folgenden Sagen wichtige ſtatiſtiſche Notiz: Im J. 1639 wurden auf einen Tag zu Rapperſchwil 1800, zu Schwyz 1800, zu Baden im Aargau 6370 Landſtreicher angehalten; zu Bremgarten in einem Jahr 236 derſelben hingerichtet.

---

## 386. Rechts und Links.

Gegen Geſpenſter kann man ſich links wehren; greift man aber mit der Rechten nach ihnen, ſo läuft man immer Gefahr. Folgende Hiſtörchen geben dies zu bedenken.

Einer findet Abends in ſeiner Küche im Dunkeln das Toggeli. Sogleich packt er es mit der rechten Hand und wirft es aus dem Fenſter; dafür bleibt ihm nun lange Zeit an ſelbiger Hand ein offener Schaden. — Ein Anderer geht Nachts durch den Wald, und zwei weiße Hündchen laufen vor ihm her; er wirft mit der Linken einen Stein nach ihnen, da verſchwinden ſie.

Ein Schneider glaubt nicht an die Geſpenſtigkeit der Irrlichter. Als er eines Abends von der Stör mit den Geſellen nach Hauſe gieng, zeigte man ihm eines. Um ſeinen Muth zu beweiſen, tappte er mit beiden Händen drauf zu, und augenblicklich war er verſchwunden. Am andern Tage fand man ihn zwar in jenem Sumpfe wieder, aber er war gelähmt und wußte auf alle Fragen nichts zu antworten.

Noch ſpät des Nachts rieb eine Frau ihren Hanf in der Hanfmühle. Um zwölf kam ein Mann zu ihr herein und tanzte. Aus purer Blödheit tanzte ſie endlich auch mit. Beim letzten Glockenſchlag war er verſchwunden, ihr aber blieb ſeitdem der linke Arm unbrauchbar, mit dem ſie den Tänzer umſchlungen hatte.

Unterhalb Stilli an der Aare heißt ein einſam gelegener Ort Wolfertſtall. In jeder Charfreitagsnacht ſtellt ein ſchwarzer Mann hier eine Kiſte auf, worin ſich Silber und Gold und eine Menge Kleinodien befinden. Allein unter der Kiſte liegt zugleich ein ſchwarzer Hund. Wer nun aus einer gewiſſen Entfernung einen ſeiner Schuhe mit der linken Hand gegen die Kiſte wirft und ſie trifft, wird damit dieſe Reichthümer ihres Zaubers entbinden und in ihren Beſitz kommen; wirft er aber fehl, ſo iſt er zeitlebens vom Hunde verfolgt.



Digitized by Google

Um das Gespenst des Tubestütze von Entfelden zu erblicken, tritt man mit dem linken (d. h. dem bösen) Fuß auf den rechten des Begleiters und sieht ihm über die linke Schulter, und so geht auf den Unberufenen die Gabe des Zauberers über. Durch eine ähnliche Stellung macht sich Koschewitz unsichtbar (Abthl. IX, pag. 147). Mit dem Tritt des Bräutigams auf den Fuß der Braut beginnt die Ehe, d. h. Besitzergreifung; Haupt, Ztschr. 2, 550. Auch bei der Vindication von liegenden Gründen und von Thieren ist dem Besitzergreifenden, bei Freiung des Verbrechers und seiner Schützung ist dem Richter eine erschwerte Stellung geboten. Grimm, RA. 66. Um die Zwerge zu erblicken, muß man über die rechte Achsel blicken. Hess. Sage, Myth. 428. 891. 1061. Der Kreis schließt die Geister in den Bann ein. In einem aargau. Liede wird deswegen mittelst des Blicks durch einen Ring die Liebesuntreue eingesehen.

Es Ringli am Finger, es Löchli derdur:
Jetz g'schn i mim Schätzli si falschi Natur.

Ebenso wahrsagt man noch allenthalben mit dem Kreis eines Siebes. Biarco vermag den auf weißem Rosse den Schweden zu Hilfe Reitenden nicht zu erblicken; als er aber einer geisterſichtigen Frau durch den Ring des eingestemmten Armes blickt, gewahrt er Odhin. Myth. 313. Der Raggaler-Pfarrer, der seinem tanzlustigen Knechte die Teufel alle zeigen will, die jeden Tanz begleiten, läßt ihn durch den Aermel seines Rockes wie durch ein Rohr in die Tanzstube schauen. Vonbun, Vorarlb. Sag. No. 19. Es spricht die Bodere von Zurzach (Abthl. IX, pg. 167) mit zerthanen Armen in einem engen Kreise ihre Formel aus, um dann einen Blick in die Hölle thun zu können. Elias, 1. B. der Könige, steckt siebenmal den Kopf zwischen seine knienden Beine, um durch diese Stellung Regen zu erzwingen. „So pflegt, was einmal dem Aberglauben verfallen ist, bis zum Aeußersten ausgebildet zu werden, und je kindischer es wird, um so mehr gefällt es.“ Schwenk, Sinnbilder 1851, 359. Der Thiseheiri von Schneisingen, No. 378, schneidet der kranken Kuh Haar am linken Ohre und an der linken Seite ab, um sie zu heilen. Links ist dem Alterthum Norden und Nachtseite; der Galgen heißt der nach Norden gekehrte Baum. Grimm, RA. 808. Schattenhalb ist schweizerisch synonym mit links und letz, der Schatten synonym mit Gefängniß und Haft. Bei Valer. Anshelm, Bern. Chronik 3, 419 beißt der erscheinende Teufel dem Banner ein Zeichen in den linken Daumen.

## 387. Das Haupt des Schwiegervaters.

Ein braver Landmann in Auenstein erzählt: Wir Schulknaben sollten eine Leiche herkömmlich mit zu Grab begleiten. Auf dem Kirchhofe stahlen wir uns bald davon und stiegen in den Kirchthurm hinauf; alle meine Kameraden waren bereits voran im Glockenstuhle, ich wollte eben nach. Während ich aber nach oben steigend, gegen das Bodenloch der Treppe blickte, sah ich zu meinem größten Schrecken, wie daraus ein gewaltiges Mannshaupt auf mich herab schaute und in stummer Warnung einen ausgestreckten Zeigefinger gegen mich er-

Digitized by Google

hob. Ich konnte mich kaum mehr aufrecht halten. Vergebens rief ich den Andern; sie alle hatten nichts bemerkt. Jetzt kam ein Mann den Thurm herauf, und that verwundert, den Sigrist nicht bei uns zu finden, der ja eben zum Schallloch heraus geguckt habe. Wir wußten aber auch von diesem nichts weiter, als daß er nicht mit uns im Thurme sei. Alles dies zusammen blieb uns unerklärlich und unvergeßlich. Als ich nun ein ausgewachsener Bursche war, verliebte sich ein reiches Mädchen in mich, dem auch ich nicht abhold war und das ich zu heiraten gedachte. Ihr Vater war schon todt, ich hatte ihn gar nicht gekannt; auch sonst lebte niemand weiter aus seiner Verwandtschaft, der uns Zweien einzureden gehabt hätte. Aber ich heiratete sie nicht und mied sie von der Stunde an, als sie des Vaters Aussehen zufällig mir einmal näher beschrieb — denn genau das war sein Haupt, welches mich ehedem im Glockenstuhle so unvergeßlich gewarnt hatte.

Das Blicken durch den Thurm hinab und durch das Bodenloch der Thurmtreppe hinunter vergleicht sich dem Blicken durch den Ring, welches geisterſichtig macht. Vgl. die vorausgegangene Anmerkung „Rechts und Links". So findet das Heraufragen eines gewaltigen Mannshauptes aus der Brunnen- oder aus der Thurmtiefe in der Sage seine Gleichnißstellen. Als Odhin Rathes bedarf, hält er Zwiegespräch mit Mimirs weissagendem Haupt, das in der Tiefe des Mimisbrunnen liegt. Ein Hirtenknabe findet an der Stelle eines eben gesehenen Weibes einen Brunnen vor, in welchem ein Eisenkopf schwebt mit Löchern statt der Augen. Schles. Sag. in Weinholds Deutsch. Frauen, 27. So kommt auch Orpheus Haupt, nach seinem Tode nebst seiner Leier ins Meer geworfen, nach Lesbos geschwommen und ertheilt dorten in einer Felsenspalte Orakel. Die Uebereinstimmung dieser griechischen Sage mit der indischen, wornach des Dadhyanc abgeschlagenes und in einer Bergschlucht ruhendes Haupt Weisheit mittheilt, zeigt Kuhn, Ztschr. f. Sprachf. 4, 117.

## 388. Histörchen vom Wechselthaler. a — c.

a) Der Wechselthaler ist dasjenige Geldstück, welches seinem ersten Besitzer, so oft er es ausgiebt, nicht bloß immer wieder in die Tasche zurückkehrt, sondern ihm auch das fremde mitbringt, bei welchem es unterdessen gelegen hat. Namentlich die Juden sollen solches Geld besitzen. Man verschafft es sich, wenn man um Mitternacht an die Kirchenthüre klopft, indeß man eine ganz schwarze Katze bei sich trägt, die man mit künstlich geschürzten Knoten in einen Zwilchsack gesteckt hat. Sogleich wird alsdann im Rücken eine Gestalt erscheinen und fragen, was man habe und begehre? Hierauf wird geantwortet, man habe einen Hasen; und auf die zweite Frage, wie theuer, ver-

Digitized by Google

setzt man, um einen Thaler. Der Thaler wird einem augenblicklich ausbezahlt; nun aber muß der Empfänger entfliehen, und zwar noch rascher, als der Andere den überlieferten Sack lösen, die Katze darin erkennen und vor Wuth erwürgen kann. Denn hört der Entfliehende von ferne nur noch ihr Schreien, so ist er mitgetödtet. Daher soll das Sprichwort rühren, die Katze im Sack kaufen. Vgl. No. 476.

b) Außerhalb des Städtchens Mellingen — so erzählte im J. 1801 meinem Vater ein Unterwaldner als Augenzeuge — war eine Schenke, in der ein vorüberreisender Handwerksbursche neben uns Sonntagsgästen seinen Schoppen trank und beim Weggehen einen Thaler wechseln ließ. Die Wirthsfrau hatte das Geldstück nicht besonders genau betrachtet, es eingenommen und das Betreffende darauf hinausgegeben. Es kamen immer mehr Gäste nach, sie mußte einem Manne aus dem benachbarten Dorfe aufs neue einen Thaler wechseln und dabei kam ihr derjenige wieder in die Hand, den sie eben erst eingenommen hatte. Jetzt schien er ihr gar wunderbar zu sein und sie erzählte davon den Leuten. Diese ließen ihn am Tische herum gehen und Mehrere erklärten, das sei ein Wechselthaler, auf der Stelle solle ihn die Frau von ihrem übrigen Gelde wegthun, damit er es nicht alles zusammen mit sich fortführe. Die Frau ließ sich nicht gerne bereden, doch entschloß sie sich endlich, ihn durch einen Mann, der sich darauf verstand, mit einem Nagel an die Holzwand des Schenkzimmers schlagen zu lassen, damit hier jeder Einkehrende erfahre, was für ein Aussehen solch ein Heckthaler habe. Er wurde nun aufgenagelt; nach etwa einer Viertelstunde bemerkte man, daß er anfange, sich um den Nagel ruckweise herum zu bewegen. Dann ward das Drehen immer rascher und gieng zuletzt so schnell, daß es pfiff und schnurrte. Zuletzt stand er aber still und blieb für immer unbeweglich.

c) Meinrad Schilling von Hornussen hat aus der Zeit, da er noch als Schustergeselle in Solothurn arbeitete, folgendes Erlebniß meinem Vater erzählt. Des Meisters Töchterlein hatte die neue Arbeit in der Stadt auszutragen und bekam einmal die Bezahlung der Waare in lauter kleiner Münze. Als sie eben drüber nachdachte, wie sie beim Vater ausgescholten werde, wenn sie ihm nur so schlechtes Geld heimbringt, wurde sie auf der Straße von einem fremden Gesellen angefragt, ob sie ihm nicht für einen Thaler Münze geben könne. Natürlich that sie es bereitwillig und trug den eingewechselten Thaler mit dem übrigen Gelde heim, wo es der Vater nach Gewohnheit ins Nähpult versperrte. In der Nacht darauf hörte jedes im Hause ein unaufhörliches Kesseln und Klirren; als man am Morgen sich besser um-

Digitized by Google

sah und an das Nähpult kam, war es zwar noch verschlossen, aber der Thaler drinnen sammt allem übrigen Gelde fort.

Als der Metzger den eingenommenen Heckethaler erkennt und auf den Hackblock nagelt, tanzt dieser zum Hause hinaus und der eben mit dem eingekauften Fleische heimgehenden Hexe nach. Schambach-Müller, ndsächs. Sag. No. 188. Mit drei Groschen erbaute die hl. Sura die Kirche zu Dordrecht; diese waren immer da, so oft sie in den Seckel griff. Die Bauleute erschlugen die Jungfrau, aber des Seckels Kraft war nun dahin. Wolf, ndl. Sag. No. 29. Wie man dieses Wechselgeld gewinnen kann, zeigt Abthl. XI, No. 476: „Heidenhütte zu Uerkheim". Dasselbe ist sogar gewissen Gewerben eigen, im Aargau den Juden, in Irland den Meßpriestern, weil dorten die Bezahlung der Beichtabsolution als ein Sündenschacher erscheint. Grin 6, 450. Auch hierin ist indeß die Sagengrundlage eine viel ältere. Des Gottes Speer, sagt Wolf, Beitr. 1, 18, wird im KM. zum unedeln Knüppel aus dem Sack, sein Schwert wird zum Schicksal erprobenden Messerlein, seine Wunschbörse zum Ranzen (Grimm, KM. No. 54), und zum Heckepfenning wird sein Goldring Draupnir, von dem in jeder neunten Nacht acht eben so schwere träufelten.

---

## 389. Die Heulschneiderin in Wallbach.

Sieben Jahre hintereinander hatte im Frickthaler-Dorfe Wallbach der Hagel geschlagen; man erinnerte sich noch, daß vor dieser Unglückszeit ein Specht mit scheckigen Füßen auf dem Kirchthürmlein gesehen worden war.

Jetzt kam wieder ein solcher Vogel, er hatte ein rothes und ein gelbes Bein. Der Odjokeb (Adam Jakob) lud gleich sein Gewehr, er war ein alter Quacksalber und verstand sich auf geheime Künste. Diesmal traf er nichts. Aber in derselben Zeit fiel im entfernten Dorfe Zeiningen die Heulschneiderin mitten in der Gasse um, und die Leute, die sie aufheben mußten, wunderten sich, daß sie einen rothen Wälderstrumpf, am andern Beine aber einen elben (von ungefärbter Wolle) trug. Man zog ihr die Strümpfe ab, da fand sich's, daß ihr das Bein entzwei geschossen war.

Vgl. Abthl. XII, No. 517: das Geschlecht Oelhafen, Anmerk.: der Pestvogel. Der Name Heulschneiderin deutet auf Nachteule und zugleich auf ein Weib in zerzausten Haaren. So führt der Name auf die beiden Vorstellungen, die das dämonische Wesen der Hexen ausmachen: daß sie gleich den heidnischen Opferpriesterinnen in losen flatternden Haaren auftreten, und daß sie sich in Vögel wandeln, gleich den dem Gotte zum Geleite dienenden Schwanjungfrauen. Die Eule begleitet jetzt noch das tutende Wilde Heer und heißt demnach Tuturschel (Meier, schwäb. Sag. pag. 34), bei uns Huuri, Hauri, Tschudereul; in Bayern Tschuban, während Schubei

Digitized by Google

dorten der Teufel ist (Firmenich 2, 383. 384), und Wandschopper der Mauerspecht. Schmeller, Wörterb. 3, 377. In Baselland heißt sie Phuluß, ein Name, der an Gott Phol (Myth. 975) gemahnt; in Glarus Wilde Gaißer und Wiggle. Wicken bedeutet bei uns klagend rufen; in Osnabrügge prophezeien (Lyra, Plattd. Briefe 1847, 65). Der Specht unserer Sage verursacht Hagelwetter. Das Gleiche gilt noch von der Eule. Aberglaubenssatz: Eine Eule an die Sarwid gehängt, schützt das Haus gegen den Blitz. Gegen den Hagel giebt Palladius de re rust. 1, 35 die Vorschrift: noctua pennis patentibus extensa suffigitur. Noch jetzt sieht man an Scheunen und Mühlen die Eule mit ausgespannten Flügeln angenagelt. Mone, Anz. 1835. 23.

## 390. Die gebannte Hexe von Birmensdorf.

Einem Birmensdorfer-Bauern erkrankte sein Vieh so häufig, daß er alle Jahre ein oder zwei Stück fällen mußte. Er faßte Verdacht gegen eine böse Nachbarin, die im Rufe schlimmer Künste stand, und berieth darüber den Wasenmeister von Wettingen, der ihm denn auch versprach, nächstens durch einen ganz unversehenen Besuch den Schaden wenden zu wollen. Wirklich kam der Wasenmeister bald darauf an einem Vormittag in jenes Bauernhaus, da eben alles Gesinde auf dem Felde und auch das Vieh ausgetrieben war. Sogleich mußte der Bauer vom Acker heimkommen und sämmtliches Vieh in den Stall thun. Bevor nun der Beschwörer sein Werk begann, fragte er die Leute, ob sie dabei auch die Hexe selbst zu sehen wünschten, die ihnen so lange nachstelle? Da sie es alle in ihrer Angst verneinten, hieß er sie stille vor der Scheune bleiben und begab sich jetzt allein in den Stall. Bald hörten sie draußen ein Getrippel und Geschlarpe, als ob eine Weibsperson hastig durch die Tenne herschleiche. Und da, wo oben an der innern Scheunenwand das Futterloch in den Barn des Kuhstalles hineingeht, stellte sie sich auf die Zehen, streckte ihre Hand mühsam durch die Heurafe dem drinnen stehenden Beschwörer entgegen und bat ihn halb verdrossen, halb vertraulich um eine Prise Tabak. Was nun geschah, sah und hörte keines. Bald aber trat der Wasenmeister wieder aus dem Stalle und erklärte den Leuten, sie hätten nun zwar noch ein Stück Vieh zu verlieren, dürften aber dazu dasjenige selbst auswählen, das ihnen am wenigsten werth sei. Sie willigten in den Verlust eines Kalbes. Dies crepierte bald, es wurde unter der Stallschwelle vergraben, und der weitere Viehfall unterblieb von da an.

Digitized by Google

## 391. Die Bodere von Zurzach

habe ich selbst noch gekannt und mit meinen Schulkameraden öfters besucht, um sie über ihre Zauberkünste auszuhorchen, es war aber nichts aus ihr herauszubringen. Sie konnte Menschen und Wagen bannen, daß es weder mehr vor, noch rückwärts gieng; wollte sie dies thun, so zeichnete sie drei Kreise in ihre Stube, stellte in jeden eine brennende Kerze, sich selbst mitten hinein und sprach mit zerthanen Armen ihre Verwünschungen. Ihre Kameradinnen waren auch nicht besser. Das war zum Beispiel die alte Wagnerin im Wil; wenn diese Anken in der Pfanne zerließ, ritt sie noch inzwischen auf einem Besen bis nach Basel, um sich erst die Zwiebeln zu kaufen, die sie in der heißgemachten Butter rösten wollte. Die andere war die Sagefilers (des Sägenfeilers) Lisebeth. Wo diese sich einem Hause näherte, da hatte man drinnen gewiß schon den Besen bei der Hand, um ihn verkehrt, den Stiel nach unten, hinter die Thüre zu stellen. Trat sie in ihrer Frechheit gleichwohl ein, so half gar nichts mehr; selbst das Weihwasser mußte man ausschütten und an der Wand die Weihbrunn-Kesselchen säubern; alles war zugleich unnütz und kraftlos gemacht. Man meint, das Dreifaltigkeitssalz allein habe sie gefürchtet.

Das Zwiebeln-Einkaufen, um sie in der Butter zu rösten, bezieht sich auf das Backen der Festkuchen, die man Zwiebelwähen nennt. Die Opferkuchen an Festtagen im Tempel zu backen, war das Geschäft der germanischen Frauen. Vgl. Oberdeutsches Gebildbrod No. 36: Waije und Dünnete. Der Glaube, daß die Hexe durch Salz allein abtreibbar sei, liegt gleichfalls in dem Glauben der Germanen von der Heiligkeit der Salzquellen (Tacitus Ann. 13, 57). Priesterinnen werden die Bereitung des gewonnenen Salzes verwaltet haben, und darauf wird sich der Zusammenhang des Salzsiedens mit der spätern Volksansicht stützen von der Zauberei und dem Teufelseinfluß. Luther versichert, mit dem Teufel manche Salzscheibe verzehrt zu haben, nämlich öfter als einmal lange Dispute mit ihm gehabt zu haben. Das Dreifaltigkeitssalz wird jetzt noch im Frickthal und Schwarzwald kirchlich geweiht und gegen bösen Einfluß verbraucht.

---

## 392. Die Milchstellerin zu Tegerfelden.

Stets war dem Bauern, wenn er Milch wollte, die Kuh schon gemolken und doch hatte er noch keinen fremden Menschen im Stalle erblicken können. Der Viehdoktor, den er holen ließ, erklärte, es sei zwar zu helfen, aber unter großer Gefahr. Denn da sei ein altes Weib schuld, die zwei Lumpen an ihr Ofenstänglein hängt und ausmelkt, und auf diese Weise alle die Milch bekommt, die sonst die Kuh

Digitized by Google

gegeben. Vorerſt bohrte der Doktor ein Loch in die Schwelle des Stalles, goß einige Tropfen von der Milch des kranken Thieres drein, ſprach ein paar Worte drüber und verzapfte dann das Loch. Nun aber ſchärfte er Allen aufs Dringendſte ein, Niemandem, wer da immer komme, etwas zu geben oder zu leihen, unter keinerlei Bedingung; ſonſt ſei's umſonſt, und Alle müßten ſterben. Nachdem ſie ihm Alle Folgſamkeit zugeſagt, gieng er allein in den Stall zurück. Bald kam jenes Weib herbei und wollte Milch kaufen. Man ſchlug es ihr ab. Sie aber war unerſchöpflich an Erklärungen und Nachweiſungen, wie da und da im Hauſe noch eine Schüſſel voll übrig ſei, wie unter der Treppe im Keller zwei übervoll ſtänden. Sie erhielt nichts und gieng. Handumkehrt war ſie ſchon wieder da und verlangte nun ein Meſſer zu entlehnen, denn zu ihrem eignen Gänterli (Küchenſchrank) fehle ihr eben der Schlüſſel. Man wies ſie nochmals ab. So aber kam ſie unter immer neuen Gründen wohl noch ein Duzendmal. Zuletzt that ſie ganz wüthend und verließ unter Schimpfen und Schelten das Haus.

Kaum war ſie fort, ſo trat der Doktor aus dem Stalle und verlangte eine Schweinsblaſe. In dieſe molk er jetzt die Kuh, bis die Blaſe gänzlich voll war. Er ließ ſie in den Rauchfang hängen und erklärte: von nun an gebe die Kuh Milch, wie ſonſt; wie aber die Blaſe im Kamin dorre und ſchrumpfe, ſo werde die Milchſtellerin abnehmen und ſie ſei todt, wenn endlich die Blaſe herunterfalle. So geſchah's, und der Bauer erzählte erſt nach der Hexe Tod dieſe Geſchichte. Auf dieſe hier angegebene Art geſchieht das ſogenannte Entheren der Ställe auch jetzt noch.

Ein Holzſchnitt zu Geilers Predigten, „Ameiſe", zeigt Frauen, die aus Lumpen und aus dem Artſtiel melken. „künnent die herßen die kü verſtigen und milch aus einer alen, oder einer arthelmen melken? ich ſprich, ja durch hilf des tüfels. ſo kan der tüfel in kurzer zeit milch darbringen und ſie ingießen in ir geſchirr und ſieht man in nit, und ſo wenet die heren, ſie lauft uß der ſaul oder uß dem arthelm." Bl. 54. 55. Von der zauberiſchen Verzapfung der Hausſchwelle (ſonſt der Schwellenvogel genannt) redet Joh. Prätorius, Blockesberg 1669, S. 112: Im Stift Münſter in Weſtfalen haben die Bauern die Sitte, daß man am 22. Februar, als an St. Petri Stuhlfeier, vor Sonnenaufgang ſich gegenſeitig mit Artſchlägen an die Hausthüre klopft mit ſo viel Streichen, als der Spruch Worte hat, den man dazu ſpricht: Heruth, heruth Stullevögel! auf hochdeutſch:

Heraus du Schwellenvogel,
St. Peters Stuhlfeier iſt kommen;
Verbaut dir Haus und Hof und Stall,
Haus, Schoppen, Scheuern und andersall,
Bis auf dieſen Tag übers Jahr,
Daß hie kein Schade widerfahr.

Digitized by Google

Durch den Schwellenvogel bezeichnen sie Kröten, Ottern, Schlangen und anderes böses Gewürme, das sich gerne in den Schwellen aufhält oder vergraben sein möchte.

---

## 393. Die Butterhexe und der Schneider zu Tegerfelden.

Oft sah der Nachtwächter von Tegerfelden einem Weibe des Dorfes durchs Fenster zu, wenn sie Nachts sich rüstete, mit andern Dorfhexen aufs Unterfeld beim Schlosse zum Tanze auszufahren. Auf jenem Felde wollte kein Gras mehr wachsen, als es aber der Nachtwächter pachtete, vergrub er nur ein Stückchen Brod drein und konnte bald wieder reichlich mähen. Einst mußte jenes Weib Butter machen, da sie gerade einen Schneider auf der Stör hatte. Sie that nur sehr wenig Nidel in den Kübel und hatte unter seinen Boden einen Kamm gelegt; bei jedem Stoß murmelte sie: „Us jedem Hûs en Löffel!“ Bald war sie fertig, holte eine tiefe Schüssel aus der Küche und konnte sie ganz mit einer großen Butterballe füllen. Der Schneider, der sich alles wohl gemerkt hatte, sagte Abends beim Heimkommen gleich zu seinem eignen Weibe: Geh, hole mir den Kübel, wir wollen anken! — Bist du ein Narr! antwortete die Frau, haben wir doch erst neulich gebuttert, und heute ist ja noch gar keine Nidel da. Doch der Schneider bestand auf seinem Vorsatz, machte Alles treulich so, wie er es bei der Alten gesehen, und hatte endlich genau so viel Butter wie sie. Voll Freude legte er sich zu Bette und dachte schon an die guten Ankenschnitten, die er Morgens zum Kaffee essen werde. Aber aus tiefem Schlafe ward er durch ein heftiges Pochen geweckt. Da er das Schubfenster öffnete, stand ein schön gekleideter Herr mit Stock und Hut draußen, der hartnäckig Einlaß begehrte; da half keine Weigerung. Was habt Ihr heute gethan! sprach der Eintretende, da müßt Ihr Euch jetzt entweder gleich in dieses Büchlein schreiben, oder Euch noch in dieser Stunde mit mir auf den Weg machen. Das Letztere schien dem Schneider gar zu schrecklich, und aufs Schreiben, das er gelernt hatte, bildete er sich noch dazu nicht wenig ein, er nahm also den ihm dargebotenen schwarzen Stift und schrieb seinen Namen ins schwarze Buch. Aufmerksam sah der Herr dabei zu; als er es richtig fand, war er verschwunden. Hätte der Narr, statt seines Namens, drei Kreuze hingemächt, es hätte ihm nichts gethan. Schneider und Butterhexe sind nachmals zusammen vom Teufel geholt worden.

Gleiches in Pröhle's Harzsagen 1854, pag. 52.

---

Digitized by Google

## 394. Die entlarvte Hexe.

Ein Mann vernahm, daß sein Eheweib eine Hexe sei. Um dessen ganz gewiß zu werden, that er, als wolle er hexen lernen und stritt sich mit ihr über die richtige Art herum, wie man dabei zu verfahren habe. Da führte ihn zuletzt das Weib in einer Mondnacht hinaus auf den Düngerstock, gab ihm eine Haselruthe in die Hand und befahl ihm, mit derselben auf den Mist zu schlagen und dabei folgenden Spruch nachzusprechen:

Jetze stohn i ûf em Mist
Und verlaugne minen Christ.

Kaum war dies heraus, so fieng der Mann an:

Jetze stohn i ûf dem Mist
Und schlo nieder was s'Tüfels ist.

Unter diesen Worten prügelte er sein Weib ins Bett.

Der unzarte und schmutzige Murner, Narrenbeschwörung, zeigt, daß obiger Reim seiner Zeit schon sprichwörtlich gegolten habe. Er vertheidigt die grobe Behandlung, welcher damals noch das Eheweib durchschnittlich ausgesetzt war:

Man sagt, die wyber hondt ein art,
wer an jn die bengel spart
vnd schlecht nit druff als in ein mist,
das jm kein dester hoelder ist.

Zarncke, Brants Narrenschiff, pag. 365a. — Von der Sage wird die Wirkung dieses Exorcismus ins Scherzhafte gezogen; allein Hennebergische Hexenakten v. J. 1662 nennen eine Wittwe Lorenz, die nach zweistündiger Folterung bekannte, mit obigem Spruche den Teufel citirt zu haben (Journal v. u. f. Deutschl. 1782, 526), und hessische Hexen-Prozesse v. J. 1632 (Wolf, Ztschr. 1, 276. 2, 64) berichten, wie dieses Spruches wegen ein Mann zu Büdingen justificirt worden. Beides wird begreiflicher, wenn man erwägt, daß der Reim nur Anfang einer Segensformel war, die dazu diente, Krankheiten hinweg zu segnen: Ich stand uf den Mist und ruf zu dem werden Christ. Grimm, Myth. Beschwörung, No. XXVII. Von dieser Sage ist außerdem Haselruthe und Stab noch nicht vergessen, mit welchen Seherinnen ausgerüstet sein mußten.

---

## 395. Die Hexe von Aristau.

Noch vor etlichen sechzig Jahren lebten Leute zu Aristau (Freienamt), welche sich eines dortigen Hexenweibes erinnerten, der man Hagelwetter, Viehseuche und alles mögliche zur Last legte, was eben eine Gemeinde gerade betreffen kann. Namentlich das Buttern wollte gar keiner Hausfrau mehr gelingen, wenn diese Hexe gerade im Dorfe sich aufhielt. Man lief darüber oft zu den Kapuzinern nach Brem-

Digitized by Google

garten, bekam aber kein nachdrucksames Mittel dagegen, und auch dasjenige half nur einmal, welches die Mönche in Zug anzugeben wußten. Man stellte nämlich einen leeren Kessel zugestürzt über das Küchenfeuer und schürte so lange drunter fort, bis es drinnen zu zischen und pfeifen begann. Nun war's Zeit, schnell ans Butterfaß zu gehen, der Anken gedieh sogleich und vortrefflich. Hob man nachher die Stürze vom leeren Kessel ab, so fuhr es mit heftigem Zischen heraus durch den Kamin davon. Aber der stets wiederholte Verdruß wurde doch zu groß und derselbe Uebelstand machte sich auch in allen Feldarbeiten unerträglich. Die Dorfschaft beschloß daher, ihr altes Strafrecht geltend zu machen, und fällte in der Gemeindeversammlung mit großer Mehrheit den Spruch, jene Hexe auf immer zu verbannen. Von Stund an vermißte man das Weib, doch kurze Zeit nachher fand man sie an einer Hecke erhenkt. Freilich war ihr sonst keine andere Wahl mehr übrig, denn in keiner einzigen fremden Nachbargemeinde hätte sie nach solchen Vorgängen Aufnahme finden können. Nach Landesbrauch sollte nun die Leiche des Nachts in einer Wüstung des Waldes begraben werden. Den Wagen, auf den man sie lud, brachte man nicht eher von der Stelle, als bis man, statt des vorgespannten Wucherstieres, acht schwarze Rosse angeschirrt hatte. Da man nun gegen den Heiniweiher hinkam, erschien, trotz des hellen Mondscheines, alles Laub des Waldes schwarz, alle Zweige senkten sich zusammen gegen Wagen und Rosse und versperrten völlig den Weg. So blieb man abermals mit der Fuhre stecken. Endlich setzte sich der Kutscher statt aufs Sattelroß auf die Leiche und ritt sie so lange, bis der Wagen zum Weiher durchgeschleppt war. Dorten warf man die Hexe in das Sumpfloch. Noch jetzt spukt es daselbst. Wer Nachts vorbeikommt, wird unausbleiblich verirren; die Jäger sehen oft Rudel von dreißig Hasen dorten ihre Sprünge machen, jedesmal aber in den Boden verschwinden, so wie man drauf anschlagen will.

Diese Rechtssage findet in der Freienämter-Gerichtsordnung ihren Anhalt. „Kindsverderberin, Mörderin, Vergiffterin soll man ausfüohren auff die gewohnliche Gerichtsstatt, allda soll gemacht werden ein tieffe gruoben, dorin soll man legen ein burdi dörn und Sie läbendig daruff wärffen, demnach wieder ein bürdi dörn auff Sie, vndt soll man Ihren in den mund gäben ein Lufftrören und Sie mit Erden bedeckhen vnd die gruoben zuofüllen, damit Sie weder Son noch Mond bescheinen thüge ꝛc." Dies Urtheil knüpft sich an das Rechtssprichwort: den Mann an den Galgen, die Frau untern Stein. Grimm, RA. 687. Feiglinge läßt Tacitus, German. 12, in Moor und Sumpf werfen und Reisbündel darüber: infames coeno ac palude, injecta insuper crate, mergunt. Auch bei der

Schilderung der Teutoburger-Walstatt ist von solcher Todesart der damals in Gefangenschaft gerathenen Römer die Rede: quot patibula captivis, *quae scrobes.* Tacit. Annal. 1. Der Berner-Fabulist Boner (ed. Benecke, pag. 95) hat für diese Todesstrafe noch den Ausdruck in mel begraben. Mehl ist hier Molte, Erde. Dies trifft zusammen mit der in No. 357 gemeldeten Strafe: In Spreuer begraben. Ebenso wird die Mutter im Höllhafen „gesotten" (Abthl. XI, No. 487), der Bauer Riesli (Abthl. VI, pag. 44) ins Wasserloch einer Sumpfwiese versenkt. Vgl. Grimm, RA. 695.

## 396. Krötenmacherin von Rietheim.

Diese Hexe machte sich den Leuten um Zurzach dadurch gefährlich, daß sie den Kühen stets die Milch nahm und die trächtigen erweren (vorzeitig kalben) ließ. Durch ein Kind wurde sie endlich entdeckt. Man hatte dasselbe auf der Weide allein gelassen, da kamen draußen am Felde drei Frauen zu ihm, brachten ein Tischlein herbei, gaben ihm zu essen und zu trinken und steckten ihm beim Weggehen auch noch ein Stück Braten in den Sack. Als das Kind heim kam, erzählte es über diese Mahlzeit und über die Kunststücke dazu, die es von den Weibern gelernt habe. Ich will euch Mäuse machen, sagte es zur Mutter, und kaum hatte es dies alberne Wort gesprochen, so wimmelte die Stube von Mäusen; ich will euch melken, fuhr es fort, nahm einen Lumpen und zog dran, und gleich gieng die Milch schoppenweis davon. Ich will euch meinen Braten zeigen, sagte es und schlug vergnügt auf den Rocksack; darinnen aber fieng etwas Lebendiges an zu schlegeln, und das Kind traute sich nicht, hinein zu langen. Als man jetzt den Sack wegschnitt, sprang eine große Datschkröte heraus und war alsbald verschwunden. Aber gerade dies Thier half den Leuten auf die Spur; die Hexe wurde eingezogen und dann von der Obrigkeit verbrannt.

Das Mäusemachen und Fackelmachen (Ferkel) spielt eine Hauptrolle in den bayrischen Hexenprozessen, die in Aretins Beiträgen gedruckt sind. Kinder zu Freisingen werden deswegen verbrannt. „Die Festung macht Mäuse und will sich nicht ergeben" ist noch eine Redensart bei Göthe, Bürgergeneral, Auftritt 9. Beim Melken aus dem Lumpen ist die Farbe desselben vergessen, er muß roth oder blau sein. Ein blaues Tuch weist auf Wuotans Mantel, ein rothes auf den Donar. Letzteres gilt auch in Norddeutschland (Kuhn, Sag. pag. 489) als den Buttergewinn vermehrend. Baader, bad. Sag. No. 107.

Digitized by Google

## 397. Das Tschofeld bei Waltenschwil.

Zwischen Waldhäusern und Waltenschwil liegt in der Nähe des Eichenwäldchens an der Landstraße ein Ackerland, welches Tschofeld geheißen wird. An seinen Namen knüpft sich folgende Begebenheit:

Nur noch einige verfallene Mauerreste sieht man von jenem Häuschen zu Waltenschwil, worin sonst eine berühmte Here gewohnt hat. Mit ihrer Salbe konnte sie Wunder thun; sie strich ein wenig davon an Stock oder Besenstiel, und blitzschnell ritt sie darauf fort, wohin sie wollte. Oft hatte sie schon die Butter zur Zwiebelsuppe übers Feuer gestellt, wenn sie erst noch die Zwiebeln dazu auf dem Markte zu Basel holen sollte; aber auf ihrem gesalbten Stocke kam sie doch immer noch schneller zurück, als die heiße Butter ins Feuer laufen konnte. Von allen solchen Praktiken des Weibes wußte ihr Ehemann kein Wörtchen. Während sie nun einmal ausgeritten ist, will der Bauer seinen Wagen schmieren und geräth hinter jene Teufelssalbe, die wie eine gewöhnliche Schmiere im Topfe unter dem Herde stand. Kaum sind ein paar Zinken (Gabelspitze voll) davon um die erste Radnabe des Wagens gestrichen, so setzt sich derselbe in Bewegung und läuft im Hui davon. Draußen am Waltenschwiler-Felde begegnet er der Here, die eben auf ihrem Stocke heimreitet. Sie merkt die Ursache, als sie ihren Wagen ohne Mann und Roß querfeldein schieben sieht, und ruft ihm geschwinde: Tscho, Schnöri! Das soll heißen, rückwärts mit der Schnauze! Der Wagen gehorchte und sie kam zugleich mit ihm heim. Dies Begebniß hatten aber Leute aus der Nachbarschaft her mit angesehen, und nach dem Heren-Commando hieß von der Zeit an jenes Landstück das Tschofeld.

„So erzählt man auch von einem Knechte, der früh aufgestanden, den Wagen zu schmieren; weil er aber in der Finsterniß die unrechte Büchse ertappt, so habe sich der Wagen in die Luft erhoben, also daß man ihn wieder habe herabziehen müßen." Simplicissimus l. 2, c. 18.

---

## 398. Hexenrache.

Eine Frau auf dem Lande lag todtkrank; Arzt und Hausmittel konnten ihr die unsäglichen Schmerzen nicht lindern, eher schienen sie dadurch noch gesteigert zu werden. Da ließ der Ortspfarrer unvermuthet ihren Mann eines Abends holen und sagte: Du gehst mir ohnedies nicht in die Kirche und verdientest also nicht, daß man sich deiner annehme; aber deine Frau mit ihrem Wehe dauert mich und der muß geholfen sein. Hier ist ein Mittel, das die Kranke pünktlich

Digitized by Google

zu nehmen hat; du hingegen darfst eben so lange deine Hausthüre vor sieben Uhr des Morgens Niemandem öffnen, komme auch was wolle.

Der Bauer that's, und schon nach zwei Tagen konnte das Weib wieder aufstehen. Da er am dritten Tage eben im Begriffe war, das Mittel wieder anzuwenden, hörte er draußen heftig an die Thüre pochen. Er dachte an des Pfarrers Warnung und hielt sich stille. Das Klopfen wollte nicht aufhören und wurde ganz unverschämt. Der Mann sah auf die Uhr, sie zeigte eben halb sieben. Nun, so will ich denn einmal ein Exempel statuiren, sagte er, und gieng trotz der Abwehr seiner Frau gegen die Hausthüre, um zu öffnen. Da stand denn ein altes Weib und verlangte ganz bescheiden nur Aushülfe in ein wenig Salz; ihr sei's eben ausgegangen und der Weg weit zur Salzbütte (obrigkeitlicher Ausverkauf). Nur herein, sagte der Mann, du mußt haben, was du verdienst. Aber sogleich schloß er hinter ihr ab, ergriff einen Knüttel und zerwalkte sie dermaßen, daß ihr Hören und Sehen vergieng; dann warf er sie hinaus. Sein Weib genas völlig; aber nun soll der Pfarrer krank geworden sein.

---

## 399. Die fallende Lichtscheere.

In der Gemarkung von Laufenburg war im sogenannten Blauen ein großer kreisrunder Platz zu sehen, auf dem kein Gras wachsen wollte. Dort sollen noch vor dreißig Jahren die Hexen sich zum Tanze eingefunden haben. In der Abenddämmerung eines sehr schönen Sommertages gieng ein geistlicher Herr dorten spazieren, und als er sich dem Rande jenes Platzes näherte, fiel unter Hohnlachen eine Lichtscheere aus der Luft, die ihm trotz seines Lederkäppchens so tief in den Kopf drang, daß er mehrere Wochen an der Wunde zu heilen hatte. Noch jetzt erzählen Leute davon, die diesen Herrn gekannt haben. (Schweizerblätter, St. Gallen 1833, S. 227.)

Aus dem Engel, dessen Geschäft es ist, die Sterne zu schnäutzen, ist hier eine wettermachende Hexe geworden, die, wenn sie die Sterne ausgeputzt hat, die Putzscheere den Menschen auf den Kopf herunter schleudert. Ein femininer Scheltname heißt daher aargauisch Ampelistock. „Der alt Wienächtstock mit andren jrs glichen secken und keibinen." Jak. Rueff, Trostbüchle von empfengknussen. Bl. 25. 26. Zürich, Froschauer 1554.

---

Digitized by Google

## 400. Der Hexentanz im Widacher zu Stalden am Bötzberge.

Vor etwa fünfzig Jahren lebte in Linn ein Bursche, der einem Mädchen im Dorfe Schinznach seit langem seine nächtlichen Besuche zu machen pflegte. Nur einmal verbot sie ihm die Mitternachtstunde aufs Bestimmteste. Verdrießlich gieng der Liebhaber diesmal in die Stadt Brugg und blieb dorten bis spät im Wirthshause sitzen. Als er nach Mitternacht heimkehrte und durch den Wald, welcher Widacher heißt, hindurch kam, bemerkte er auf einem von Laubholz und Busch freien Platze unter einer Eiche viele tanzende Gestalten; und neugierig schlich er sich näher. Oben auf dem Eichbaum saß ein Spielmann und strich die Geige, unten verführte ein Haufen unbekannter Leute den tollsten Lärm. Jetzt griff ein Tänzer, der eine Hahnenfeder am Hute trug, in den Haufen der Weiber hinein und riß eine um den Baum herum. Der Bauernbursche meinte mit einemmale, diese Gestalt kennen zu sollen. Abermals tanzten die zwei hinter dem Baume vor; der Bursche erkannte in der Tänzerin seine Geliebte und entlief. Im Heimweg wurde es ihm deutlich, warum sie das ganze Jahr ihm offenes Haus gehalten und gerade heute ihn abgewiesen hatte: es war Walpurgis. Von nun an sah er sie nicht mehr; er starb unverheiratet.

Jetzt noch, so versichert man, können Sonntagskinder an der gleichen Stelle des Widachers diesen berüchtigten Hexentanz sehen.

Fried. Müller, der Hexenglaube in Siebenbürgen 1854, 57 berichtet aus der Gegenwart: „die zu Gesellschaften versammelten Hexen führen Trommel und Geige mit und ihr Führer heißt der Trudengeiger. Der Neckspruch im Kindermunde heißt daselbst: trudegëger, bûmstëger! Damit erweist sich's, warum derselbe Geiger ebenfalls hier vom Baume am Widacher herunter geigt. Aus dem blasenden Gotte Wuotan mit dem schallenden Giallarhorne wird ein Geiger, der alles Lebendige und Lebloſe in rasenden Tanz versetzt. — Der Tanz, zu dem die Hexen Nachts ausfliegen, heißt im Glarnerlande Wuokisen; ein Tanzplatz dieses Namens liegt im Bodenwalde bei Mollis, ein anderer am Fi'rabend auf der Mutten bei Matt. Blumer-Heer, Kant. Glarus pag. 318. Wuoken ist zwar ndd. beflochtener Spinnrocken; aber noch näher lassen die Namen Wuot-kisen auf Wuotan, und Bodenwald auf die Sagen vom Bodmann (Wolf, Ztschr. 1, 64) und von der Pudelmutter, der Frau Berta schließen (Weinhold, Weihnachts-Sp. pag. 11, vgl. dazu Abthl. XI, No. 489: Schuhe des Ew. Juden), und ebenso führt der Ortsname Mutten auf unser Muetis- (Wuotanis)-heer.

## 401. Hexentanz im Mooswalde.

Westlich am Säckenberge im Frickthale standen im Mooswalde drei große Eichen nahe bei einander; diese Bäume sind jetzt gefällt, allein um ihren alten Standpunkt zieht sich ein jetzt noch sichtbarer großer Ring, der frei von Gras und Gestrüppe ist, während beides innen und außen reichlich hier aufwächst. Er heißt Herentanz, und man scheut sich noch hinzugehen oder gar in ihn hinein zu treten. Vielmals haben die Weidbuben, die des Nachts draußen bei dem Vieh übernachten mußten, zugesehen, wie die Hexen an den drei Eichen zusammen kamen, zechten und schmausten und dann im Kreise, eine der andern nach, um die Bäume tanzten. Besonders mußten die Buben die wunderschöne Tanzmusik rühmen. Es gab Gerichte aller Art, auf- und abgetragen wurde bis der Tag anbrach, dann war stets mit einemmale ihre Wirthschaft zu Ende. Einstens standen zwei Bursche zusammen unter diesen Eichen, als plötzlich ein sonderbares Geräusch über ihnen losbrach. Der Eine lief davon, der Andere kletterte auf einen Baum. Von hier aus konnte er zusehen, wie der Hexenhaufe nach und nach herbeigefahren kam, tanzte und zechte. Ganz zuletzt kam noch eine Steinalte auf den Platz. Weil sie sich verspätet hatte, fielen alle zusammen über sie her und straften sie ab.

---

## 402. Das getödtete Hexenweib.

Ein Bauer aus dem alten Aargau hatte das Vergnügen, eine Hexe zum Weib bekommen zu haben. Freilich ahnte er bei seiner Verheiratung nichts und würde es auch nie erfahren haben, da er lange ganz glücklich mit dem Weibe hauste, wenn nicht seine Bekannten ihm die Sache entdeckt hätten. Auch da zweifelte er noch daran, allein als er einst an einer Fraufasten später als gewöhnlich heim kam und gegen seine Gewohnheit ein Licht mit in die Schlafkammer brachte, fand er zu seinem Entsetzen seine Frau starr und leblos wie eine Leiche, mit offenem Munde im Bette liegen. Sogleich verließ er Stube und Haus, um beim Nachbar zu übernachten. Diesem vertraute er seinen Schrecken an. Um so unerwarteter war der Rath, den ihm der gab, gleich wieder heimzugehen, die Furcht zu überwinden, bei der Frau zu schlafen, und ja kein Wort über diesen Zufall mit ihr zu verlieren. Er that es. Am Morgen war das Weib vor ihm wach und machte ihm Vorwürfe, daß er gestern so spät heimgekommen sei. Das war dem Manne nun doch zu viel. Er hieß sie eine Hexe und erklärte ihr, wie sich jetzt auch in ihm die

Meinung bestätigt habe, die alle andern Leute über sie hätten. Das Weib sagte nichts dagegen oder konnte sich nicht vertheidigen, allein von diesem Augenblicke an hatte der Bauer keine gesunde Stunde mehr. Da er die Ursache davon wohl zu kennen glaubte, machte er sich eines Tages dem Bethethalerhof zu, wo oberhalb Schafisheim auf einem Berge ein berüchtigter Quacksalber seinen Sitz gehabt haben soll. Nachdem dieser die Geschichte angehört, kam er gleich mit der Frage: ob dieses Weib, das so ausgemacht das Leben Anderer bedrohe, nicht lieber ganz auf die Seite geschafft werden müsse. Als es der Bauer nicht geradezu bejahte, aber auch nicht bestimmt und ausdrücklich verneinte, meinte der Zauberer, man werde wohl noch vor nächsten acht Tagen Ruhe bekommen. Etwas beängstigt gieng nun der Mann heim; aber nach drei Tagen war sein Weib eine Leiche. Diese Geschichte gehört der neuern Zeit an und ist mit genauer Angabe von Namen und Oertlichkeit durch einen achtbaren Ortsbürger erzählt worden, der jenes Weib wohlgekannt und den Fall selbst miterlebt hat.

Gleiches erzählt Schambach-Müller, ndsächs. Sag. No. 192; nur ist es des beläſtigten Ehemanns Bruder, der da zu todt gehext wird, nicht die Ehefrau. Bei Müllenhoff, Schlesw.-Holst. Sag. No. 565 ist es des Bauern Schwiegermutter.

---

## 402 a. Die hagelmachende Pfarrerin.

Ein Pfarrer im Zürcherlande hatte eine Frau, die war ihm in allen Dingen zu gescheit und ließ ihn keiner Zeit und bei keinem Worte recht haben. Eben hatten sie die Schnitter, es war heißes und trocknes Wetter, schöner als jemals eine Aernte abgelaufen war; da gieng das Ehepaar Nachmittags zusammen zu den Knechten aufs Feld, und zufrieden sprach der Pfarrer zur Frau: Vor acht Tagen kann's diesmal sicherlich kein Tröpfchen regnen. Ein Tröpfchen aber doch wohl heute noch, versetzte spitzfindig darauf die Pfarrerin. Sie zog dabei ein Gütterlein aus dem Sack, worin klares Wasser und ein winziges Kieselsteinchen war: Darin ist mehr als nur für einen Tag Regenwasser, sagte sie; versuch es nur, das Gläslein auszuschütten, aber gieb Obacht und schütte das Steinchen nicht zugleich mit heraus. Der Pfarrer nahm ihr das alberne Gläschen aus der Hand und zerschmiß es ärgerlich in Trümmer, das Wasser und das Steinchen waren nun mit einander fort. Aber auf der Stelle fieng es an zu regnen und dann herabzuhageln, daß das Korn auf dem Halm zerschlagen und jede gebreitete Garbe fortgeschwemmt wurde.



Digitized by Google

Jetzt sah der Pfarrer mit Schrecken, daß er eine Hexe zum Weibe habe und machte von Stund an seine Vorkehrung, ihrer los zu werden. Alle Klafter seines Besoldungsholzes trug er zu einem großen Scheiterhaufen zusammen und ließ sich durch nichts in der Arbeit abhalten, bis er damit fertig war. Immer verrannte ihm dabei die Frau den Weg, wiederholt plagte sie ihn mit der Frage, was er nur mit so viel Holz auf einem Haufen machen wolle. Statt der Antwort ergriff er sie zuletzt, band sie hinauf und verbrannte sie.

---

## 403. Der Nachtschaden im Lenzburger-Amte.

Eine brave und bei den Leuten gerne gesehene Bauernfrau aus dem Lenzburger-Amte war auf dem Felde mit einer bösen Nachbarin in Wortwechsel gerathen, weil diese ihr die Erdäpfel diebisch aus dem Acker gethan und bei Seite geschafft hatte. Trotzdem, daß die Landfrevlerin überwiesen war, schalt sie noch entgegen und endigte mit der Drohung, man solle gewiß die Folgen zu spüren bekommen, wenn vom heutigen Auftritte je was weiter verlaute. Die Bestohlene gieng heim und zeigte es an. Schon in der nächsten Nacht weckt das heftige Aechzen ihres kleinen Kindes sie aus dem Schlaf. Als Licht gemacht war, fand sie das Kind neben seiner Wiege auf dem Boden, die Wiege selbst stand unverrückt. Obschon dies noch gar nie vorgekommen war, schob es die Frau diesmal doch auf den Zufall, legte das Kind wieder zurecht und band die Decke fest darüber. Allein kaum war sie wieder entschlafen, so begann von neuem dasselbe Aechzen. Das Kind lag wiederum außer seiner Wiege am Boden und hatte ganz verzerrte Züge. Auf dieses hin erinnerte sich die Mutter ihres gestrigen Streites mit dem Herenweibe, es ward ihr unheimlich, sie weckte den Mann, und Beide beschlossen, die Nacht über beim Kinde zu wachen und das Weitere abzuwarten. Es fiel nichts vor, aber wunderlich schien es Beiden, die nie eine Katze in ihrem Hause litten, daß sich gerade jetzt von Zeit zu Zeit eine Katze mit heftigem Kratzen im Hausgange und an der Stubenthüre hören ließ. Mit Tagesanbruch begab sich der Mann gegen Gränichen — auf den Wannenhof hinüber, wo der berühmte Gespensterbanner und Wunderdoktor wohnte, dem die Leute bis aus dem Schwarzwald her um Rath und um Salbe zuliefen. Dieser machte über die Erzählung ein bedenkliches Gesicht. Als er ein wenig beiseits gegangen war, vermuthlich um in seinem Buche nachzusehen, kam er mit der Bemerkung zurück, freilich sei jenes alte Diebsweib die ganze Urheberin

Digitized by Google

des erzählten Vorfalls. Dagegen gebe er hier dem Bauern folgenden Rath. Fünf Grundeln müße er aus dem Bache fangen und sie dem Kinde eine Nacht lang, ohne je danach zu schauen, übergebunden auf der Brust liegen lassen; dabei solle er zugleich alle Schlüssellöcher, Kästen und Thüren im ganzen Hause wohl verschlossen halten. Der Bauer machte ihm dafür seine Bezahlung, gieng heim und that Alles nach Vorschrift. In dieser Nacht blieb das Kind ruhig und schlief bis zum Morgen. Mit dem Schlage Zwölf hörten aber Vater und Mutter, wie auf dem Hausgange wieder eine Katze ihr Geschrei erhob und etwas ganz vernehmlich außen am Fenster krabbelte. Als sie am Morgen das übergelegte Tüchlein öffneten, fanden sie drinnen nur noch die Gräten statt der Grundeln. Von da an hatte die Familie nichts mehr von Heren zu leiden.

Gleiches erzählt Malleus malef. pars 2, quaestio prima. Der Schauplatz ist dorten im Bisthum Speier, die Zeit das J. 1484. Als neuere Thatsache steht Aehnliches bei Wolf, hess. Sag. No. 111. J. Grimm, in Aufrecht-Kuhns Ztschr. f. Sprachforsch. 1, 79 macht auf den mytholog. Inhalt des Eigennamens Schaden aufmerksam. Selbst des Niördhr Gemahlin führt den Mannsnamen Skadhi, weil sie in Helm und Brünne gewaffnet auftritt; und so heißt auch die Elster altn. skadi, dän. skade, schwed. skata, in meiner fränkischen Heimat schetterhex. Der Scado ist dem Buchstaben wie der Bedeutung nach ein indischer Xatra, Xatrija, Krieger, Held; diesen von skr. xata, vulnus, ableitenden Namensformen entspricht ahd. scadari, goth. skadhareis. Die den Schlafenden verwundende, ihm das Blut ausziehende Here heißt aus solchem sprachlichen Grunde Nachtschaden, eine den Schläfer reitende Valküre, Brünnhilde.

---

## 404. Die Glunggeri.

Sie hat ihren Namen von dem dumpfen Tone, den das abfallende Wasser oder ein ins Gewässer geschleuderter Körper hervorbringt. Glungge ist daher auch der Name von Pfütze und Wasserdümpfel („Gumpen"). Bernisch gilt Glunte, zürchisch Chlungge. Appenzellisch ist Boddaglünggerli der Molch (salamandra atra), der nach seinem an Sommerabenden vernehmbaren gluckenden Laut benannt ist. Tobler 64 a. In Glarus heißt das Thierchen Guggemannli (Teufel, Gueg) und Hecki (Here). Here und Eidechse pflegen die Milchkühe zu schädigen. Des Thieres teuflischer Charakter und sein Uebergang in eine dämonische Figur obigen Namens ist in der Schweiz alt. „Da einer, damit die kind rächt thügind, sich verkleidet vnd die kind brögt, da sagt man den kinden: es seye die Stupffnaß oder mueter Klunglerin (die alten nennends empusas, lamias), vnd weißt das jung

blütli nit anderſt dann es ſeye im alſo, förchtend inen offt gar übel. Der wyß Salomon leert nit, daß man die kind brögen ſölle vnd ſagen, einer oder eine werde ſy fräſſen oder in ſack ſtoſſen. Lavater, Von Geſpänſten. Zürich 1578. Bl. 20.

Oberhalb des Dorfes Waltenſchwil im Freienamte befindet ſich ein Badeplatz, der Herengumpen genannt. Darinnen ſoll eine Here wohnen, welche die Badenden unwiderſtehlich in die Tiefe zieht. Reithard, Sag. d. Schweiz 532, giebt an, das Waſſergeſpenſt Chlungge ſei rothhaarig, trage eine Weiberhaube und ein Kleid aus zahlloſen Flecken zuſammengeblętzt; auch wohne es im Wallenſtatter-See, ſtelle den Kindern nach, hebe ihnen das Deckbette weg und fitze ſie mit Ruthen.

## 405. Frau Itte.

Sie erſcheint als eine bedrohliche Geſtalt nur noch im Kinderreim, dieſer weist ihr den Schwabenwald zum Wohnort an. Nach Stöber, elſaß. Sag. No. 195, iſt Frau Itta wohnhaft in jenem bei der Abtei St. Johann liegenden Steinkreiſe, der die Herenſchule genannt wird. In Kuhns nordd. Sag. pag. 429 tödtet ſie die kleinen Kinder, indem ſie dieſelben an die eiſernen Zitzen ihrer Bruſt drückt. Damit erſcheint ſie als eine Eiſenbertha und Stempe, welche beide kettenſchleppend und gehörnt in eine Kuhhaut gewickelt umgehen. Panzer, bayr. Sag. 2, 464.

## 406. Holle und Heuel.

Aargauiſche Schelte, ein wildes hageres Weib bezeichnend, iſt Houue. Die landſchaftliche Ausſprache unterdrückt im Worte das inlautende l und moullirt es ins doppelte U. Mithin gleicht dieſer Name dem der Frau Hulle, welche zur Rettung ihrer Schützlinge wie ein Hund bellt (Herrlein, Speßhart. Sag. pag. 189). Und mit ähnlich benannten, mit dem Hullebetz, Hullepöpel, Hollepeter — alſo mit dem die Frau Holle begleitenden Knecht Klaubauf, geſchweigt man die Kinder. Myth. 1212. Schmeller, Wb. 2, 174. In der Wetterau bedeutet, mit der Holle fahren, ſo viel als im Aargau, mit der Heuel: nämlich mit zerzaustem ſtruppigem Haar, mit verzaustem Kleid oder Spinnrocken erſcheinen, unausgeſchlafen und ungekämmt. Wolf, Beitr. 1, Abgl. No. 434. Mit dieſer Aargauer-Heuel ſtimmt die ſächſiſche Haulemutter, welche zugleich Frau Hel heißt (Harry, ndſächſ. Sag. 2, No. 6), und bei uns auch die Hollops. Hollohoh

Digitized by Google

in alle Lüfte iſt uns eine ausfahrende Hexe, ein Wildfang (Tobler 272), in der Baar aber ein menſchenwürgendes Geſpenſt: Schnezler, bad. Sagb. 1, 439. In Schleſien heißt der kinderraubende männliche Unhold Popelhole, der Gerſtenpopel iſt dorten die Vogelſcheuche, der Petzpopel ein ſchmutziges Mädchen. Flögel, Geſch. des Grotesk-komiſchen pag. 24, dazu pag. 13. Zugleich kennt aber unſere Mundart auch noch die gutſinnigen Beziehungen, die in dieſem Namen liegen. Der Holderſtock iſt der Glücksbaum im Kinderſpiele; einen Holderſchoß, Holderſtock ſchießen iſt die Phraſe und Art, mit welcher der Schwarzwälder-Burſche beim Blumenſpiel dem Mädchen ſeine Neigung bezeugt, beim Hanfbrechen einen Hanfſtengel zuſchnellt. Vgl. Alemann. Kinderl. Abthl. II, 4: Blumenorakel. Holden iſt buhlen, Holdſchaft Liebſchaft (Stalder 2, 51), Hölde die Geilheit (Tobler 272). Altn. ſind die hollar voettir boni genii, entgegengeſetzt der däniſchen Meinvette, einer böſen Nymphe. Myth. 1, 247. Holderſtock gilt bald als Liebeszeichen, bald als dämoniſche Holunderſtaude. Der Kinder Zählſpruch nimmt es in letzterm Sinne:

Rompedi-bombedi-Holderstock,
wie mänggis horn treit der bock?

So iſt auch die Frau Holla abwechſelnd die Frau Huld und die langnaſige Herodias und Unholdin.

Hans Sachs nennt ein altes Zauberweib bald weiſe Frau, bald Unhuld (Myth. 987). Als Wolle, Wulle und Helle erſcheint ſie vorzugsweiſe in den Zwölften und muſtert den Mädchen Spindel und Rocken (Kuhn, nordd. Sag. pag. 468. 519. Sommer, thür. Sag. pag. 8). In Petrarcha's Glücksbuch giebt der Holzſchnitt zum 10. Geſpräche dieſer Göttin Abbild. Ein altes, runzelvolles Weib, deren Haar im Winde fliegt, ſteht in einem kräuterreichen Walde, hält einen mächtigen Rocken in der Hand, der mit vollen Spindeln beſteckt iſt, und hat über ſich den Mond mit den zwölf Sternen im Umkreiſe, welche die zwölf Nächte ihrer Umzugszeit ſind. Bechſtein, DSagb. No. 757. Nach dieſer Zeit ihres Beſuches bei den Menſchen hört die Winterarbeit der Mägde auf: „am oberſten Tag wird die Hollefrau verbrannt," ſagt der Hennebergiſche Volksglaube. Myth. 1212.

## 407. Lederne Frau.

Neben den mancherlei ledernen Brücken, welche nach ſchweizeriſcher Sage an beſtimmten Burgen und Bergen des Landes beſtanden haben ſollen, giebt es auch eine allenthalben geltende Lederne Frau. Sie heißt in der Kinderſprache gewöhnlich Böggel (Unwuſt), hat eiſerne Zähne, trägt eine lederne Jüppe oder eine völlige Thierhaut und wohnt im finſterſten Theile alter Häuſer. Leder iſt daher aargauiſch

auch femininer Scheltname, aber zugleich noch herrschender Geschlechtsname. Leder lebten nach Zofinger-Zunftrodeln zu Zofingen vom J. 1400—1500. Die Stadtprotokolle von Brugg verzeichnen: Leder, Ursula, zu Brugg an der Pest verstorben, Anno 1667. Der Zürcher-Bölimâ, der auf dem Uetlisberge wohnt, hat gleichfalls einen Ledersack, darin trägt er unfolgsame Kinder hinauf in seine Höhle und giebt ihnen Brod zu essen, aus Hobelspänen gebacken. Reithard, Sag. der Schweiz, pag. 532.

Diese Lederne Frau mit eisernen Zähnen erinnert an die Eisenbertha und an diejenigen Verkleidungen, welche ihr zu Ehren noch im Schwange sind. Als einst bayrische Bauern in Mittelfranken, wie ums Neujahr üblich ist, die Eisenbertha vorstellten, wobei sie sich in eine Kuhhaut steckten, an der noch die Hörner saßen, gelangten sie auf dem Wege ihrer Maskerade zu einer Eiche, hier nun stand aber die wirkliche Berta ebenfalls in einer Kuhhaut sammt Hörnern, mit einem Ruthenbüschel in der Hand. Panzer, bayr. Sag. 2, No. 184. Ueber die in Bayern noch üblichen Verkleidungen in eine Kuhhaut vgl. ibid. pag. 464. Ein oberdeutscher Beichtspiegel (vdHagen, Germania 1, 349. 356. 2, 64) besagt: dy do glauben an die Percht mit der eisnen nasen. Wie diese Berta häufig mit einem Ledersacke erscheint, so ist auch der Lausitzer-Wassermann von Fuß zu Kopf in braungelbes Leder gekleidet, das aus lauter kleinen Fleckchen zusammengesetzt ist. Diese pflegt er beim Mondschein nachzuzählen, wobei er sich mit den Händen auf die Beine klatscht. E. Willkomm, Lausitz.-Sag. 1, pag. 25. — Beim schwäbischen Frickenhausen sollen „lederne Mändle" in der Erde wohnen, und man sagt von dem Echo dorten: „das lederne Mändle schreit". E. Meier, schwäb. Sag. Bechstein, DSagb. No. 932. Heinrich der Löwe wird in eine Ochsenhaut genäht und darinnen trägt ihn der Teufel aus der Fremde heim. DS. No. 520. Wolf, Beitr. 1, 3—10, weist darin den Wuotanischen Wunschmantel nach, dessen Kraft den Menschen augenblicklich überall hin trägt, und der auch DMS. No. 36 vorkommt als aus Tausenden von bunten Lappen zusammengesetzt. Die von Panzer (Sag. Bd. 2 pag. 36) neu aufgefundenen deutschen Götterbilder, Wirtinger genannt, tragen einen Lederharnisch.

---

## 408. Die Frau Luz.

Der Aargauer-Kinderspielspruch thut ihrer Erwähnung; über ihre besondere Gestalt und Art weiß man nichts Bestimmtes zu sagen, doch fürchtet man, durch sie geschädigt zu werden.

Ihr Name steht zum ahd. luzzan infirmare, luzzeda infirmatio, goth. liuts, fallax. lûtôn fallere, decipere. Grimm zu Merkels Lex Sal. LXI. In Bayern fürchtet man die Luz in der ersten Rauchnacht, oder auch am Lucientag, den 13. December, an diesem den nordischen Völkern bedeutungsvoll gewesenen Mittwintertag. Da soll sie, gleich der Eisernen Berta, den

Digitized by Google

Kindern, wenn sie sich des Abends recht voll gegessen haben, den Bauch aufschneiden und Kieselsteine hinein stecken. Schmeller, Wb. 2, 532. L'Oze (Vogel) ist einer der üblichen Namen, den der Teufel im Waatländer-Patois hat. Vuillemin, Kant. Waat 2, 31. In Herenacten heißt er Luzei. Mone Anz. 1839, 124. 278. Darunter kann auch die Osterluzei, aristolochia, eine Zauberpflanze verstanden sein. Bei den Deutschböhmen geht die Frau Luzia als Wauwauin um; sie kommt in den Zwölften daher, ein Milchsieb auf dem Kopfe und ein Leintuch drüber gestülpt, in der Hand Spindel und Flederwisch, um abzustauben. Wolf, Ztschr. 2, 425.

## 409. Tannligrotzle, Tannliwatter.

Tannegrotz ist der Wipfel und Strauß des Baumes geheißen; der Klausgrotzen ist die Weihnachtsbescheerung, bei welcher St. Nikolaus in Tannenwedel gekleidet, oder ein junges Bäumchen tragend, seine Rolle zu spielen hat: Tannegrotzle ist weiblicher Scheltname und bezeichnet die im Tannenwipfel reitende Here. Man sagt, die Here verwandle sich in Reiswellen (Tannenwedel); die an gesunden Bäumen ausnahmsweise verdorrenden Aeste, die Verfilzungen der Zweige, endlich auch die Mistelgewächse und Schmarotzerpflanzen an schlechtgehaltenen, in Saft stockenden Obstbäumen nennt man Herenbesen und hält sie für Schlupfwinkel von Zauberern und Unholden. In Bayern sind's die Drutenpflätschen (Herenfüße) und man sagt, die Drut sei darauf geritten. Panzer, bayr. Sag. 2, 298. Ein entsprechender männlicher Schimpfname ist aargau. Tannliwatter (Binder), er bezeichnet den Herenmeister. In einer Thüringersage (Bechstein DSagb. No. 502) stellt sich dem Jäger, so oft er nach einem bekannten Hirschen zielt, jedesmal ein Tannenbusch in den Schuß. Nach dem Rathe eines Scharfrichters haute er ihn das nächstemal mit seinem Hirschfänger aus, und Tags darauf findet sich in Birnau ein Herenweib, das an Arm und Bein voll Hiebwunden ist. Da der Homerische Traumgott (Il. 14, 286) den Zeus einschläfern soll, verkriecht er sich dazu gleichfalls in der höchsten Tanne, die auf dem Ida durch die Luft in den Aether reicht. Träume von hohem Baum deuten uns großes Glück. Eine Tanne glaubt unser Volk in nächtlichen Meteoren zu erblicken. Das Wiegenlied läßt Traum und Schlaf von der Tanne herabschütteln, und zugleich warnt man mit ihr obstnaschende Kinder: Abthl. II, No. 64: Der Bann und seine Lösung.

Digitized by Google

## 410. Frau Zipperinne.

Grüess ech, frau Zipperinne,
Sind die chinder alle dinne?

so ruft man im Kinder-Fangspiele dasjenige an, das als Here oder Teufelsmutter ausgezählt ist und die außer dem Kreise Gebliebenen einfangen soll. Der Zipper ist im Melser-Bezirk Name des Nachtvogels, der die Leute an jenem Orte verfolgt, den man den Thiergarten nennt, wo sich Abends angenehme Musik vernehmen läßt, und wo ehemals das Landgericht sich versammelt hatte. Henne, Schweiz.-Bl. 1832, 21.

Das Gabeneinsammeln der Knechte und Kinder um Fasnacht nennt man in der Mark zempern und zampern. Kuhn, nordd. Sag. pag. 369. Das Fest der Zimpe feiern ist westfälisch zimpen, zimpern; die Zimpe fährt in der Fasnacht am Weiberdonnerstag in einem von Kühen gezogenen Wagen herum. Wöste, Volksüberl. 112 und Wolfs Ztschr. 1, 385. Zaupserin, ein weibliches Ungethüm: A. Zaupser, bayr. Idiotikon, München 1789. Steht dieses letztere zu Zauber (sacrificia edo cepar, Diut. 1, 173. 166. 240), oder zu zimpen = Zauberformeln raunen? Der Zemper, in der bayr. Oberpfalz ein Schreckbild. Schmeller, Wb. 4, 262. Der Semper, der Knecht Ruprecht, der Kobold, der den Kindern den Bauch aufschneidet und Kieselsteine hinein legt, ibid. 3, 12.

---

## 411. Windspiel.

Viele unserer Windnamen sind redende Personifikationen und haben demgemäß eine entsprechende Reihe von Erzählungen aufzuweisen. In Uri heißt man den Nordwest den Geistödter (Lusser, Kant. Uri, 35). Am Wallenstatter-See sagt man vom Westwinde, die Oesterreicher geistern. (Blumer-Heer, Kant. Glarus, 98.) Am linken Ufer des Thuner-Sees wird die Bise der älteste Simmenthaler genannt. Alpenrosen 1825. Im Berner-Oberland heißt der Windwirbel der Harein (Stalder 2, 21.) Daß dies Riesennamen sind, geht schon aus der noch geltenden Redensart hervor „d'Rüse jaget"; man bezeichnet damit das stürmende Zischen in der obern Luft. Wir pflegen ebenso zu sagen: der Oberländer wischt, der Föhn frißt, der Wälderwind hünet (winselt) und böhlet (vgl. „Bölimâ" unter den Teufelsnamen).

Aller Hauptwinde Namen waren sonst zugleich Namen der Elben, und wie sie als blasende Häupter noch an unsern alten Gebäuden, Sonnenuhren, Kalenderbildern u. s. w. dargestellt sind, so sagen wir von den Gespenstern und den Figuren der W. Jagd, sie trügen ihren Kopf unter dem Arme (vgl. Kuhn, Ztschr. f. Sprachforsch. 4, 113). Dieser Sturmgott unseres ehe-

Digitized by Google

maligen Glaubens verräth sich aus der Ditmarscher Redensart vom Winde: de grote Windkerl is verreist, nu het de Lütje den Sack fliegen laten. Claus Groth, Quickborn, Plattd. Ged. 1835, 290. Man streut ihm in Bayern Mehl zum Opfer (Panzer, Bayr. Sag. 2, 528. Myth. 602), und im Bernerlande scheint man ihm Wein oder Essig ausgegossen zu haben. Rebmann, Gespräch Niesens und Stockhorns 1620, 85 reimt:

die Windsbraut, ein Wind,
der aus den Wolken falt,
den Schiffleuten sonders g'fär,
wann ihm nicht Essich zwider wär,
den sie ihm sprützen stark entgegen,
davon er gmeinlich ist erlegen.

Denjenigen Wirbelwind, den man gemeinlich Windspiel nennt, denkt man sich als ein weibliches Wesen. Hier macht sich der Herenname geltend Holleho in allen Lüften, die mit dem W. Heere umziehende Herodias und Frau Holda. Holda und Maria sind Wettergöttinnen, haben Gewalt über Regen und Schnee. (Myth. 837. 607. 246. 159.) Die Katze, Frau Hollas Thier, ist desgleichen wetterkündend: s'git Wind, lit d'Chatz am Grind. Liegt die Katze am Ohr, so kommt Sturm. (Vgl. Alemann. Kinderk. Räthsel No. 71.) Personificationen sind die auch bei uns landesüblichen Benennungen Windsbraut, Windgelle. Bekannt ist der Urnerberg Windgelle mit seinen ungeheuern nackten Felsen auf dem Gipfel; des Windes Kebsweib, die Gelle, steht unter den weiblichen Scheltnamen mitverzeichnet. Ueber die Windsbraut folgen hier einige Sätze aus dem aargau. Aberglauben. Wer in den Wirbelwind spuckt, bekommt ein geschwollenes Maul. In der Windsbraut bläst die Here, drum setzt's geschwollene Backen ab. Der Kutscher, der umwirft, ist durch eine Windsbraut gefahren. Wirft man das Messer in einen Windwirbel, so bleibt's verschwunden. (Vgl. Myth. 599, Note.) Weht der Wind mehrere Tage anhaltend, so hat sich sicher einer erhenkt. (die im Winde nahenden Schwanjungfrauen holen ihn zu Odhinn ab, welcher der Gehenkten Gott heißt, wie ein Windriese den Namen Leichenfresser Hræ-svelgr hat. Myth. 601). Gegen die Windsbraut in der Aernte schlägt man kreuzweis mit der Sichel auf die Garben. Kommt die Windsbraut in den Acker, in dem man eben Korn schneidet, hereingefahren, so ruft man: das walt Gott und die Lieb Frau! darauf muß sie von derselben Furche aus, die sie erreicht hat, über den ganzen Acker schadlos hinwegsetzen.

Ein Berner-Bursche bei Langenthal im Obern Aargau, der nicht an die Geisterhaftigkeit der Windsbraut glaubte, that vermessen den Wunsch, er möchte mitten hinein gerathen in ein Windspiel, das gerade in seiner Nähe vorbeiwirbelte. Da hebt sich eine Hand daraus

Digitized by Google

hervor und warnt gegen ihn mit einem drohend ausgestreckten Zeigefinger. (Dorf Madiswil).

Dieser Erzählung entgegen wird in Bayern der Wind der handlose Mann geheißen. Bauernphilosophie, Passau 1802. 2, 37 (vielleicht analog damit, daß der Wind als ein Enthaupteter dargestellt wird, als ein Gehängter gedacht wird). Joh. Präterius Blockesberg 1668, 29 erzählt dem Bodinus nach, im Herzogthum Cleven sei im Jahr 1535 eine Schaar Reiter und Fußgänger mit Roß und Wagen auf der Landstraße plötzlich umgeworfen worden, und man habe nichts als eine Hand wahrgenommen, welche man Eckerken nennt. Darauf fieng man eine dorten in der Nähe wohnende Here Sibylla Dinskops und sobald sie verbrannt worden war, endigte auch jene Gefahr auf der Straße.

Kann ein Windspiel unter einem schon fertiggeladenen Garbenwagen entstehen, so hebt es ihn in die Höhe und zerstreut dann die ganze Ladung nach allen Richtungen. Ein Bauer in Nesselnbach (Freienämterdorf) sah während seines Kornschnittes plötzlichen Regen drohen. Anstatt nun sich zu beeilen, spannte er die Ochsen wieder vom Wagen, lud die übrigen Garben noch vollends auf, deckte sie nach Möglichkeit und ließ sie so auf dem Wagen draußen im Unwetter stehen. Dafür ward ihm die ganze Fuhre umgeworfen, jede Garbe zerstreut und so sehr aufgelöst, daß man sie nachher wieder neuerdings mit der Sichel häufeln mußte. Mehr als die Hälfte war verloren. In J. J. Wagners hist. natur. helvet. (Tigur. 1680) wird pag. 370 aus dem Kant. Zürich über eine Windsbraut erzählt, welche Scheuchzer, Schweiz. Nat.-Gesch. 1, 245 darnach physikalisch zu bemessen versucht. Bei Oberhaslen wird eine Ackergegend der Hörrwagen genannt, denn dorten habe der Wind den geladenen Garbenwagen aufgehoben, dreimal rund um getrieben und habe die ganze Ladung bis auf die acht gleichfalls mit geladenen Zehentgarben so entführt, daß kaum eine Handvoll davon wieder zu bekommen war. Scheuchzer bestrebt sich, die Gewalt dieses Wirbelwindes nach der angegebenen Last der Wagenbeladung zu bestimmen. Es hat indeß schon Scheffer in seiner Lapponia die gleiche Begebenheit als eine Maßnahme der zauberischen Lappmarken erzählt, und dieses Factum soll 1670 auf dem Stockholmer Marktplatz vorgekommen sein. Compendieuse Staatsbeschreib. 1719. 1, 695. Die noch ältere Augsburger-Chronika Ph. Ulharts erzählt ad ann. 1535, wie zu Els bei Breslau ein Sturmwind „ain lären wagen auf ain hauß vnd tach gewehet, daz die hindern räder in dem tachwerk vnd latten behanget, mitt den förderen herab vom hauß gehangen."

Ein andermal kam in dem vorhin genannten Freienämter-Dorfe Nesselnbach von einem ungebauten Acker her ein Wirbelwind auf das

Digitized by Google

Kornfeld hingefahren, auf dem man eben im Kornschnitt begriffen war. Er riß dem Knechte den Hut vom Kopfe und nahm ihn so hoch in die Lüfte, daß man nichts mehr davon sah. Je ärger der Knecht nun um den verlorenen Hut jammerte, um so ärger schrie der Großvater in die Luft hinauf: Säukegel, Säukegel! (d. h. Thierlosung). Dies wiederholte er so lange, bis sich der Wind legte, dann kam auch der Hut des Knechtes wieder aus der Luft herunter, aber hoch her und bei fünf Minuten vom Felde entfernt.

In Bayern nennt man die Windsbraut gleichfalls Säuwind, Saubreck, Sauwedel. Panzer, bayr. Sag. 2, 366. Man spricht am bayr. Wald wenn man verlorenes sucht: Saubär, thus Geld her; Saubreck, thu d'Händ weg. Schmeller, Wb. 3, 178. Aus diesen Namen, die man dem Winde zuruft (auch Hammer wird er genannt, Myth. 951), geht hervor, daß manche Hauptfiguren des W. Heeres in ihm stecken, wie ja auch dieses Heer selber wieder als eine Heerde grunzend hinziehender Schweine gedacht wird. So ist das Luzerner-Streggelen die Frau des Dürst; sie war einst eine Prinzessin gewesen, da sie aber am Fasttage ein Wildschwein verzehrt hat, muß sie verzaubert jagen. Wanderer i. d. Schweiz 1840, 64. Der Fuchseckschäfer konnte seine Schafe in Mucken (d. h. Schweine) verwandeln, daß sie durch die Gegend flogen. Meier, schwäb. Sag. No. 106. Ein nach solchen Sagenanschauungen benanntes Dorf Muckensturm liegt zunächst Karlsruhe und hat seine eigne Namenssage (Baader, bad. Sag.), ein zweites liegt im Thurgau; Pupikofer, Kant. Thurgau 305. Weil der Eber der W. Jagd gebraten umgeht und ein Vorlegmesser in der Schwarte stecken hat, wie Hans Sachs (Gödeke, deutsch. Dicht. 1, 80) erzählt:

Jede ein Messer hat im Rück,
Darmit ein jeder schneid ein stück
Und steckt das messer wider drein —

so läßt sich einsehen, warum man dem Wirbelwind, in welchem diese Sau verborgen ist, ein Sackmesser nachschleudert. Dahin zielen auch solcherlei Redensarten, mit denen man zudringliche Kinder abhält: Geh nicht ins Korn, es ist eine wilde Sau drinnen, — ich gehe in den Sauwald, du kannst nicht mit, — was schnaufst so, hast das Säule g'sehen? Meier, schwäb. Sag. No. 168, 4—6. Ein Luftgetöse muß man bei uns früherhin geradezu Sau genannt haben. Der Berner Altmann, Beschreib. der Helvet. Eisbergen, Zürich 1750, 215 meldet von der Raubsucht der Lämmergeier, daß dieselben auch Schweine mit sich in die Höhe genommen hätten: „welches dann etwas seltsames ware, ein Schwein in der Luft zu hören und dennoch keines zu sehen."

---

## 412. Weibliche Scheltnamen.

Fernere Scheltnamen aargauischer Mundart, welche im Weibe das Hexenhafte hervorheben, sind:

Aegerst (Elster). Aegele (Barschfisch und Salm). Ampelistock

(Leuchter, zugleich Verzauberung in eine Holzsäule). Ehrai (Krähe). Dosch, Daschelampi (langsam wackelnde Kröte). Durerüteri und Dorfbäsem, Dorfthier. — Federfueß (Unruhe der in einen Vogel sich Wandelnden). Gable (Gabelreiterin). Galle, Gelle (Windgelle, Windsbraut) Kebsweib, Besegnerin. per incantationes, duruh kalan. Diut. 1, 494 a. Eine ahd. Glosse (Pfeiffer Germania 1, 116 b) übersetzt die Stelle Amos cap. 7, 17: trulla i. e. chella. — Hintefürhuhn (verhertes. Die Hühner sind dem Donar geheiligt, vgl. Alemann. Kindl. III., Räthsel No. 21). Hagamsle, Hagher, Hasefrau, Hoggebire (die Restbirne, die man allein dem abgeärnteten Baum läßt und die im Spätherbst am Ast verhutzelt). Kleekuh, Kleewagen (Schinder-). — Leder (vgl. Lederne Frau.) Lande (Deichsel), Liperinli (ahd. luppi, Zauberfalbe). Misthogge, Nigelinägeli (Elb, vgl. Ehrügelinägeli. Zwergensagen, Abthl. V. pag. 358). Plagg, Pflaag (Knotenkrankheit des Rindviehes, Stalder 1, 179. das pflagg: Aas. Boner Edelstein 73, 26). Schimmel, Schnepf, Schlang, Stempe, (das stampfende und drückende Toggeli. Myth. 256). Stiegelrüteri (vgl. Hagher.) Schnädere (als Schnattergans umfliegend). Tschub und Tschudi (Eulengesicht, Strubelkopf). Wiseli. Wispel (Zauberformeln raunend. Myth. a. 583). Wetterher. Ziebelegreth.

Dem deutschen Weibe, in dessen Wesen Tacitus etwas Heiliges und Weissagendes sah, war eine priesterliche und die mit dieser bei allen Naturvölkern zusammenfallende ärztliche Thätigkeit eingeräumt. Ihr Tempeldienst erforderte das Singen und Tanzen beim religiösen Feste, das Sieden der Opferthiere, das Backen der Opferkuchen; ihrer Heilkunde entsprach es, die Krankheit, die das Alterthum als eine vom Himmel verhängte Strafe ansah, abzuwenden durch linderndes Handauflegen, durch Gebet- und Segensprechen, durch Wasserbad und Kochen, ein Geschäft, das unsere Zeit den Barmherzigen- und Grauen Schwestern neuerdings eingeräumt hat. Aus diesem Geschäfte heilkundiger Priesterinnen hat sich das trübe Bild zaubernder Heren entwickelt, aus der Verbindung der Götter mit den begnadeten Dienerinnen ein Bündniß mit dem Teufel. Wie die Elben sich in Kröten und Schmetterlinge wandeln, und die Walküren sich in Schwäne, so verwandeln nun die Heren sich gleichfalls in solche Kröten und Schneegänse, oder sie werden zu Katzen und Hasen, die beide ursprünglich Sinnbilder der Häuslichkeit und Fruchtbarkeit gewesen sind. Heren wandeln sich in Strohhalm, Aehre und Feder; denn die Feder weist auf die Gestalt der Schwanenjungfrauen, die Aehre auf die Feldgottheiten zurück, und mit letzterem hängt auch die dem Zauberweibe zur Last gelegte böse Einwirkung auf die Milchthiere, auf das Geschäft des Butterns und Brodbackens zusammen. Wie die Götter, wenn sie andere Gestalt annehmen, Augen haben, welche brennen und flammen wie Feuersglut, so verräth sich auch die Here noch durch entzündete, triefende Augen. Dieselben Festzeiten von Ostern, Mai, Mittsommer und Herbst, an denen die großen Opfer, Um-

Digitized by Google

züge und Schmäuse abgehalten wurden, bei denen die Priesterinnen das Pferdefleisch für die Versammlung zu kochen, das Bier abzusieden hatten, sind auch den Hexen zur Versammlungszeit verblieben, allein der Kochkessel gehört nun zum Wettersieden, aus einem Kuhfuße wird getrunken, Roßmist liegt auf den Speisen, auf einem Roßschädel spielt der Geiger zum Tanze auf. „Wir sind jetzt endlich der Hexenverfolgungen ledig, der Glaube an die Hexen ist aber geblieben. Er beruhte auf dem altgermanischen Glauben an die Hoheit des Weibes und seine geheimnißvolle wunderbare Ausstattung. Er ward erst profanirt, dann verzerrt und läßt nur wenig von dem Bilde ahnen, das ihm zu Grunde liegt." Weinhold, deutsche Frauen, 52 — 73.

---

## 413 a. Alahirzi.

Unter der Landbevölkerung von Schinznach und Brugg, soweit sie dem linken Aarufer und den nächsten Jurahöhen angehört, hört man jetzt noch den Tod Alahirzi nennen, in nachläßigerer Aussprache auch Alehizzi. Dieser Name hat noch außerdem die allgemeine Bedeutung von Tod und Teufel. Entsprechende Wortbildungen sind in derselben Mundart: Algrind, Dickkopf; alhübsch, algroß: ein starker oder hübschgewachsener Bursche (ahd. alafesti, firmissime). Stalder kennt auch alleblind (stockblind), allebusper (munter). Der erste Theil obigen Namens erweist sich also als eine sinnverstärkende Partikel, wie sie schon in den ältesten Sprachresten vorkommt. Goth. ala = omnium, inter omnes. (Maßmann Skeireins VIII b.) ala-thuma, der ganze Daumen, entgegen der verstümmelten Hand (Merkel Lex Salica XL.) ala-rûn, mandragora (Graff 2, 523), die All-erforschende, die alles Geld ausbrütende Schatzkröte. almeinda, compascuum, v. J. 1207. alemêne (ager compascuus), König Rother, Vers 5125. (Haupt, Ztschr. 8, 392). Alahirzi erscheint demnach ganz gleich gebildet, wie die geschichtlichen Eigennamen Alareiks (omnipotens) Alamôds, Alaman (vir eximius). So sagt man auch Allermannshirsch, Allium victorialis, und die Alte Fasnacht hieß sonst Allermanns-Fasnacht, gegenüber der Herren- und der Frauen-Fasnacht, welche beide auf verschiedene Tage fielen. Demnach wäre die Bedeutung des Wortes Alahirzi buchstäblich der Ganzhirsch, und in so ferne ein Verlaß ist auf nachfolgende Stelle, wäre er auch der Königshirsch. Vopiscus in Aureliano 33 gedenkt nämlich eines gothischen Königswagens mit Hirschen bespannt: fuit alius currus quatuor cervis junctus, qui fuisse dicitur regis Gothorum. Grimm, RA. 263. Das a und e der Wortmitte ist dabei Compositionsvocal, wie bei Alemann (Grimm, Gramm. 2, 628). Was ist dies nun für ein Hirsch? Das Volk im Jura wird darauf antworten, der

Digitized by Google

„Holzhirzi", also jener die Seelen in den Wald abholende Todesgott. Dieser hieß sonst auch Holzmeier (Myth. 811), und derselbe Name kommt mhd. dem Todtengräber zu: Ziemann Wb. Holzweiblein ist altbayrisch das Waldgespenst (Schmeller, Wb. 2, 190) und in Sachsen heißt es Buschgroßmutter (Sommer, thüring. Sag. pag. 167). Auch hiefür hat unsere Sprachgeschichte den fränkischen Eigennamen Electrudis, gegenüber dem ahd. Alahtrut, Waldpriesterin. Daß nun der Todesgott früherhin ein Holzhirsche genannt war, dies erweist sich aus dem Todtentanz der Brüder Conr. u. Rud. Meyer, Zürich 1650. Daselbst auf Bl. 53. fährt der Todesgott in einem Wagen, dem zwei Hirsche vorgespannt sind, dem nahen Walde zu. Wir haben also an dem einen Namen Alahirzi und Holzhirsche sowohl einen reitenden als einen fahrenden Todesgott, und dies ist ein Zeugniß für die besonders hohe Würde, welche ihm im Glauben zukam. Im Altn. bedeutet allr, qui vivere desiit, mortuus est. Grimm, Wb. 1, 211. Dies ist der Hirsch, dessen Warnung, nicht während des Gottestages zu jagen, vom Weltjäger in den Wind geschlagen wird, und dafür muß dieser nun ewig durch die Welt jagen. Kuhn, nordd. Sag. No. 325. Wer auf ihn schießt, erlahmt; wer auf ihn lauert, wird von ihm aufgegabelt, über den Rhein genommen und geht im Schwarzwald verloren: No. 280. 281. unserer Sammlung. Dennoch mit dem Leben dabei wegzukommen, ist ein Wunder, das zur Erinnerung in Bergfelsen eingehauen wird: Gräße, sächs. Sagensch. No. 168. Wenn nun Grimm, Myth. 726 bemerkt, der Tod sei an die Stelle des Winters getreten und es habe vielleicht schon frühe ein heidnischer Name des Winters der christlichen Vorstellung von dem Tode weichen müßen, so wird man jetzt zum Beweise dieser richtigen Vermuthung den neugefundenen Namen Alahirzi aufzeigen können. Er ist der zum Wald fliehende oder zurückgejagte Winter, von dem man bei der Austreibung des Winters überall in Süddeutschland zu singen pflegte: Wir haben den Tod vertrieben, den Sommer bringen wir wieder! Dann wurde der Frühling auf einem neu gezimmerten Maiwagen, mit Pfingstkränzen geschmückt, feierlich in die Stadt abgeholt. Dies war Unsere Frau um Fraufasten, die Göttin Ostara um Ostern, die Frau Fromut um Weihnachten, die Frau Bertha am Berchtelistag: unsere Schlüsseljungfrau, auf dem Hirschen um die Thurmzacken von Tegerfelden reitend, No. 167.

Zur Unterstützung dieser Voraussetzungen folgen hier einige redende Belege; sie sollen den noch so wenig behandelten mythologischen Hirschen ins Licht setzen helfen. W. Scott, Dämonologie, deutsch von Bärmann 1, 191 erzählt ein Märchen aus dem Leben jenes Thomas von Erceldoune,

Digitized by Google

der uns durch seine Bearbeitung von Tristan und Isolt bekannt ist. Am Eildonhügel am Huntlyufer erschien ihm eine vornehme Jägerin. Trotz dem, daß sie Bogen und Pfeil führte und drei Jagdhunde an der Leine hatte, hielt sie Thomas beinahe für die Mutter Gottes selbst, so sehr schön war sie. Allein kaum hatte er sich um ihre Gunst beworben, so verwandelte sie sich in die scheußlichste Hexe, er mußte Abschied nehmen von Laub und Gras, drei Tage lang ihr durch dunkle Höhlen nachfolgen, Ströme von Blut durchwaten. Da mitten auf einer Wiese traf er einen Apfelbaum, aber Thomas durfte nicht von dessen Früchten kosten. Im Schlosse, das sie dann betraten, tanzten die Leute, dreißig Rehe lagen frisch zerwirkt in der Küche, die Hunde leckten das Blut am Boden. Auch hier noch wurde Thomas von seiner Führerin gehütet und von der Gesellschaft ferne gehalten; dafür aber mit der Gabe der Weissagung beschenkt und nach Verlauf von sieben Jahren, die ihm hier rasch wie eine Woche verflossen waren, wieder entlassen. So saß er in seiner Heimat einst beim Gastmahl mit dem Grafen von March, als im Dorfe Geschrei entstand über das Erscheinen eines Hirsches, der aus dem Walde ohne Scheu bis zu Thomas Wohnung gelaufen kam. Augenblicklich bezeichnete dieser es selbst als eine Mahnung seines Geschickes, folgte dem Hirschen in den Wald und hat sich niemals wieder unter Menschen begeben. — So ist also dieser Hirsch ein Bote, seine Herrin aber die Göttin des Todes gewesen. Menzel, Odin 290 bietet ein paar entsprechende Sagen aus dem Harz, deren Inhalt kurz folgender ist. Am Lurlenberge bei Wesel wohnt eine liebe Göttin Lohra, ein Fels im Walde heißt nach ihr die steinerne Jungfrau. Armen reicht sie Geschenke, Getreue führt sie in ihre unterirdischen Blumen- und Fruchtgärten, aber sie bricht plötzlich in Gestalt eines Hirschen aus der Erde hervor und Flammen schlagen ihr nach aus dem Boden, wenn eines der Ihrigen treubrüchig wird. Der Graf von Klettenberg wird ihr Gemahl, denn er allein ist im Stande, ihr Schloß auf dem obern Rand der Burgmauer zu umreiten. Derselbe kühne Reiter kehrt wieder in Th. Körners Romanze vom Kynast, und in Henningers nassau. Sag. 2, 130. In Schambach-Müllers ndsächs. Sag. pag. 253 wird dieser für die Jungfrau sich Opfernde in Stücke gehauen, dann aber fügt ein Hirsch, mit einem Oelgläschen im Munde, ihn heil wieder zusammen. Die Gesta Roman. deutsch von Gräße, Anhang No. 18 berichten, wie Antiochus sich durch Ritter Leontius drei gleichschwarze Dinge, Roß, Falke und Jagdhorn geheimnißvoll aus einer alten Burg bringen läßt. Kaum hat er sie und sitzt auf dem neugebrachten Rosse, so wird er von einem plötzlich erscheinenden Hirschen in die Hölle verlockt und bleibt verschwunden. Der Tübinger Pfalzgraf jagt mit seinem wunderkleinen Jägermeisterlein Eppe und mit dessen beiden Hündlein Will und Wall einen fremden Haupthirschen von Tübingen über Nürnberg bis nach Prag. Da geräth er in des Böhmenkönigs Hand und muß um seiner Sicherheit willen diesem den Eppe sammt den zwei Hündlein überlassen; aber seitdem begann er an Leib und Gut abzunehmen. Sein Grafengeschlecht starb aus. Der letzte Sprosse desselben war im vorigen Jahrhundert eine Jägersfrau auf dem Schwarzwalde. Uhland in Pfeiffers Germania 1856. Bei Erbauung von Schloß Künigenberg ließ man einen großen Hirschen von Gold machen und stellte ihn über das Thor, daß er weithin glänzte und schimmerte. Nun

Digitized by Google

ist die Burg zwar versunken, aber der Schloßbrunnen spült noch Gold aus, denn aus ihm wusch die Königin ihr Auge wieder heil, als sie sich blind geweint hatte über ihres Gemahls Tod. Schöppner, bayr. Sagb. No. 779. 784. Die Gräfin Falkenstein schießt im Weyarngrunde an der Mangfall nach einem Hirschen, aber die Kugel prallt vom Geweih gegen die Gräfin zurück und tödtet sie. Zum Heil ihrer Seele ist Kloster Weyarn gegründet worden. ibid. No. 1256. Zu Furth im bayrischen Walde ist seit etlichen Jahrhunderten ein dortiger Stadtschreiber Lanner bekannt, der als Jäger einen unfreiwilligen weiten Hirschenritt gemacht haben soll. ibid. No. 94. So geht auch König Theodorich zu Grunde, nur vermeldet Otto von Freisingen dabei nicht zugleich auch den vom Könige gejagten Hirschen. Friedrichs des Weisen Tod verkündet ein Hirsch, der sonst im Thiergraben des Schlosses zu Lochau gehalten worden war, nun aber diesen verließ und, wie M. Luther selbst bezeugt, sich nur noch bei nächtlicher Weile sehen ließ. Gräße, sächs. Sagensch. No. 23. Im Irischen Märchen von Fion setzt dieser jagend einer Hind nach, bis ihm eine Fee aus dem Berge entgegen tritt und ihn bittet, ihren verlorenen Ring im See zu suchen. Er braucht so lange dazu, daß er darüber ein runzliger Greis wird; doch ein Trunk aus dem Becher dieser Fee im Berge, verleiht ihm seine Jugend wieder. Wolf, Beitr. 1, 182. In Schreibers Sag. 1, No. 60. wird ein jagender Ritter durch einen Hirschen bis zur Burgruine verlockt, aus dieser tritt alsdann das gespenstische Fräulein von Windeck hervor mit einem Becher Weins, giebt ihm zu trinken und verschwindet. Er trinkt sich Liebe nach der zu schnell Verlorenen ins Herz; lange nachher erscheint sie wieder und tödtet ihn durch einen Kuß. Jägerartig auf diesen Hirsch anzuschlagen bringt Erstarrung und Lähmung (Schambach-Müller, ndsächs. Sag. No. 207); wer den Weißen Hirsch schießen will, wird zum Ewigjäger und muß in einer rothglühenden Kutsche fahren (Hocker, Volksglaube pag. 21). Zum Lohne, daß man nicht nach ihm geschossen, legt er sein goldenes Geweih bei der Waldquelle ab, die dann der heilkräftige Hirschhornbrunnen wird. Müllenhoff, Schlesw. Holst. Sag. pag. 104. Selbst wenn man ihn geschossen hat, verwandelt er sich sogleich in etwas anderes, oft sogar in eine liebebietende Jungfrau; dies liegt in der Liedstrophe (Simrock, VolksL. No. 261):

Hubertus auf der Jagd
Der schoß einen Hirsch und Haas,
Er traf ein Mädchen an
Und das war achtzehn Jahr.

Die Wunschmädchen in Valhöll sind die ewigjugendlichen Freundinnen des sterbenden Helden der Schlacht und der Jagd, sie locken ihn in Hirschengestalt in ihr Todtenreich. Der ahd. Frauenname Hirizpirin ist gleich dem der Ospirin nach dem Glanz des Gestirns und des Thieres zugleich geschaffen, und besagt demnach dasselbe wie Hoh. Lied, Kap. 2: Mein Geliebter ist wie ein Reh und wie ein junger Hirsch. Den Ring treuer Liebe bietet daher der Hirsch so oft an im Volksliede (bei Uhland 1, No. 32):

dort niden in jenem grunde
schwemmt sich ein hirschlein fein,
was führt es in seinem munde?
von gold ein ringelein.

Digitized by Google

Aus meiner Heimat ist mir die Jägersitte bekannt, Hirschzähne in Fingerringe fassen zu lassen; man sagt, das Auge Gottes stehe auf der Spitze eines solchen Zahnes. Gott Odhinn selbst jagt nach einem solchen Hirschen, wenn er auf der Insel Möen im Grünewald als Grönjette der Holzfrau nachsetzt (Myth. 896. 905), oder wenn er als Nachtjäger das schwarzbraune Mädchen aus dem Busche sprengt. Das darüber noch gesungene Volkslied (bei Hoffmann, Schles. VolksL. pag. 193 — 201) hat Menzel, Odin 215, mit Glück erkannt und erklärt. Da wandelt sich der erlegte Hirsch in die schöne Wunschjungfrau, die im Liede von sich sagt:

Und wenn ich ausgeschlafen hab,
So steh' ich wieder auf aus meinem Grab;

und von welcher der W. Jäger selber preisend erklären muß, daß sie ein zartes Jungfräulein und „kein wildes Thier" sei:

Es ist kein Thier und auch kein Schwein,
So heißt man sie willkommen sein.

Die Todesgöttin legt ihr rauhes Gewand ab, badet im Jungbrunnen und ist nun die Frau Sigeminne, die schönste über alle Lande. Deshalb haben die vier Hirsche, welche die Knospen abweiden auf dem honigtriefenden Eschenbaume des Götterhimmels, viererlei Namen der Seligkeiten; sie heißen der Schmerzstillende (Dain), der einschläfernde (Dwalin), der dem Donnergott liebe (Dunneir) und der die Thore sprengende (Dyrothror). (Wedderkop, nord. Bilder.) Thror, der Hirsch, ist zugleich ein Eddischer Name Odhinns. Man muß die Bedeutsamkeit der hier voranstehenden Einzelheiten gelten lassen, wenn sich zeigen läßt, daß dieser Hirsch der Mythe seine Heiligthümer und Heiligen, seine Festtage und Festmahlzeiten, seine typische Gestalt in Bild, Maske und Brod bei uns gehabt hat.

Als Bildwerk ist dieser Hirsch beschrieben in Wolfs Hausmärchen pag. 73. Wenn ihm die Decken abgenommen sind, die ihn sonst verhüllen, leuchtet er mächtig in der Sonne. Seine Augen sind von dunkelm Glas, seine Ohren fein zum Horchen aufgerichtet, in seinem Haupte trägt er ein Glockenspiel aus kleinen und großen Silberglöckchen, das wunderbare Lieder spielt. Eine Königstochter hat ihn zu eigen; wer ihre Hand besitzen will, läßt sich, in sein Inneres verborgen, zu ihr tragen, muß aber dabei das Leben wagen. Dies ist der Goldhirsch. Bei einer andern Gelegenheit ist dieser Hirsch der Heidenkönig selbst gewesen, Herr einer nun untergegangenen Stadt. Wolf, hess. Sag. No. 160. 166. Des Thieres Schmuckwerk hat die größten Fürsten der Welt betheiligt. Cäsar, Kaiser Karl und Rothbart beschenken der Reihe nach einen eingefangenen Hirschen mit einem prächtigen Goldhalsband, um ihn damit wieder in seine Freiheit zu entlassen. Grimm, DS. No. 440. Kirchenstiftend, Klosterstiftend zeigt er sich vielfach in der Legende, daher sind St. Eustachius und Hubertus, die zwischen seinen Geweihen des Gottes Bild erblickt haben, die ersten durch ihn bekehrten Jäger und so die christlichen Schutzpatrone des Thieres. Er hat seinen himmlischen Schutzengel: „alle hirtzen haben einen engel, und alle hasen" Geiler, Brösamlin 2, Bl. 19. Um so größer ist des Haßjäger Hackelberend Sünde, auf diesen Hirsch zu schießen, der das Leiden Christi zwischen dem Geweih trägt; das Thier bekommt dann Menschenrede und verdammt einen so frevlen Sabbathschänder. Kuhn, nordd. Sag. No. 281. 210. 325.



Digitized by Google

Städte- und Abteiengründende Hirschen ergeben sich aus folgenden Traditionen. Der hl. Sebaldus, sowie die hl. Ida von Forkenburg gehören unter diejenigen Kirchenheiligen, deren Attribut ein wegeweisender Hirsch ist, auf jedem Geweih-Ende ein Flämmchen tragend. Attribute der Heiligen, Hannover 1840, 73. Ein schneeweißer Hirsch trägt die Kirche von Schotten an ihre jetzige Stelle. Wolf, hess. Sag. No. 197. Kloster Doberan führt einen Hirschen im Wappen und beim Hochaltar steht das Hirschhaupt als Wahrzeichen auf einem Pfeiler; dasselbe schützt das Kloster und den daselbst über Nacht entstandenen Heiligendamm gegen die Ueberströmungen der Ostsee. Studemund, Meklenburg. Sag. pag. 31. Im Johannishospital zu Leipzig giebt die Jungfrau Maria den Armen aus einem Becher zu trinken, der dorten noch verwahrt ist, und reitet auf einem laubbekränzten Rehe hinweg in den Wald von Connewitz. Gräße, sächs. Sagensch. No. 385. Kloster Preetz entsteht auf jener Stelle, wo ein Hirsch mit wunderbarem Kreuzgeweihe dem Grafen von Orlamünde furchtlos Stand hielt. Müllenhoff, Schlesw. Holst. Sag. pag. 110. Der schneeweiße Hirsch mit goldenem Halsbande, der keine Fährte hinterläßt, ist von einer Nonne aus Kloster Michaelstein begleitet. Pröhle, Unterharz.-Sag. No. 92. Dem Magdeburger-Roland gegenüber stand auf einer Steinsäule der Hirsch mit goldenem Halsband, den Karl d. Gr. beschenkt entlaufen und erst Friedrich Rothbart wieder einfangen ließ. Grimm, DS. No. 440. An der nördlichen Eingangspforte des Zürcher-Großmünsters steht, eine Arbeit aus dem 13. Jahrh., zierlich ausgehauen der Hirsch mit den Kerzen auf dem Geweih. Auf der südlichen Innenwand der Kirche ist er abgemalt und zwar nicht später Entstehung, wie er Nachts mit leuchtendem Geweihe vor der Burg Baldern am Albis erscheint, die deutschen Königstöchter Hildegard und Bertha aus dem väterlichen Schlosse durch die Gebirgswälder ins Thal hinunterführt bis zu der Stelle, wo sie mit ihrem Vater Ludwig dem Deutschen, Karls des Gr. Enkel, das Münster zu Zürich erbauen. Im Siegel des Kapitels dortiger Abtei, sowie in dem der Aebtissinnen wird dann dieser kerzentragende Hirsch geführt i. d. J. 1316, 1398; erst später wird ihm ein Kreuz statt der Kerzen beigegeben. Sämmtliche Abbildungen und Belege hiefür finden sich: Zürcher Antiquar. Mittheil. 1851. Im Münster von Schaffhausen liegt Adelheid, das Schloßfräulein von Randenberg, neben dem Abte Hün bestattet, der dorten 1353 gestorben ist. Ihr Grabstein ohne Namen und Zahl hat die Aufschrift: dominus mirabilis in Sanctis suis. Vom Gebirge herab aus ihrer Randenburg führte sie in jeder Nacht ein Hirsch mit leuchtendem Geweih drei Stunden weit nach Schaffhausen zur Kirche, in solcher Morgenfrühe, daß die Thurmwächter oft noch schliefen, wenn sie Einlaß begehrte oder Schutz vor den nacheilenden Räubern suchte. Dann öffneten ihr aber die heiligen Engel das Thürlein, das seither das Engelbrechtsthor genannt wird. Jedesmal vor Tagesanbruch gieng sie dann mit ihrem „Laternenhirschen" wieder in das Gebirge zurück, und die Hemmenthaler-Bauern zeigen einem noch Weg und Steg, auf dem das Fräulein ihren frommen Gang gemacht hat. Schalch, Schaffhaus. Gesch. 1, 74. Die Nachkommen dieser Randenburger waren Schaffhauser Schultheißen und hießen die Rothen; sie sollen im Bauernstand zu Gächlingen ausgestorben sein. Schaffhauser Neujahrs-Bl. 1827, 10. Einen gleichen Wegweiser hatte auch Gräfin Ida von

Digitized by Google

Toggenburg, so lange sie, von ihrem Gemahl verstoßen, aus ihrer Waldwohnung nach dem Kloster Fischingen zu wandern pflegte. Aus der nordd. Sage ist die Jungfer Lorenz durch Rauchs hübsche Statuette bekannter. Von einer dreitägigen Irrfahrt kam sie einst auf einem Hirschen heim nach Tangermünde geritten, und was sie dabei an Wiesen und Aeckern umritten hatte, das vergabte sie der Nicolaikirche daselbst; dorten ist sie nun in ganzer Figur abgebildet auf einem Hirschhaupte stehend. Volkssag. der Altmark, Tangermünde 1845. 2, 170. Kuhn, Märk. Sag. 7. Im Altar der Kirche zu Stelzen meinte man, sei gleichfalls ein goldenes Hirschgeweih verborgen (Bechstein, DSagb. No. 717), sowie das Thüringer Bergwerk Goldlauter einen goldenen Hirschen in sich versenkt hat (Bechstein, thüring. Sag. 3, 160), und andere Silbergruben mit einem Hirschgeweih „versetzt" d. h. durch ein solches, das man hier geopfert hat, magisch verschlossen sind (Pröhle, Unterharz. Sag. No. 209). Oder auch, es hat z. B. das Wirths- und Lagerhaus zum Gelben (also goldnen, leuchtenden) Hirschen in Frankfurt seinen Namen und Schild von jenem Thiere, welches Karl dem Gr. hier die Furth über den Main gewiesen hat. Dasselbe weisende Thier erscheint bei Gründung des Stiftes Hildesheim: Seifart, Hildesh. Sag. No. 1. Aufzeichnungen verwandter Art bietet uns Jornandes und Sozomenus: Grimm, Myth. 1094; aus dem Volksmunde: Wolf, Beitr. 1, 105. 182. Eine ganz nothwendige Folge ist es, daß dieser Hirsch der Legende, durch den der Kirche so mancherlei Stiftungen zugekommen sind, vorher und nachher noch mancherlei Gütern den Namen gegeben haben werde, die seinem früheren Dienste zu eigen gewesen sind. Auf welche Weise mehrere Waldgebirge in Schwyz, Zürich, St. Gallen und Glarus wiederholt zum Namen Hirzel gekommen sind, lasse ich dahingestellt: jedoch trägt ein Bauernhof, der am Sonnenberg bei Iberg gelegen ist, den Namen Hirsch und hält auffallender Weise eine volle Stunde im Umfang. Meyer-Knonau, Kant. Schwyz, pag. 277. Auch haben die Städte Zürich, Bern, St. Gallen, Aarau u. s. w. bis auf unsere Tage in ihren Schanzengräben Hirsche gehalten. Blinghirschen ist der Spitzname der Bewohner des Bernerdorfes Oberbipp, weil sie einen blinden Hirschen eingehandelt hätten für sehend, um ihn in ihren Thiergraben zu thun und damit den Brauch der Großstadt Bern nachzuahmen.

Die Feste, bei denen dieses Thier vorzugsweise seine Rolle zu spielen hatte, sind zwar meistentheils und nach ihrer inhaltsvollen und sinnreichen Art schon lange in Abgang gekommen, ihr Hauptnamen aber, der Hirsmontag und dessen Feier, ist bei uns noch übrig. Seine Frist ist je nach unsern Landschaften verschiedenartig anberaumt, gewöhnlich fällt er auf ersten Montag nach Aschermittwoch und wird noch immer mit kriegerischen Spielen „und Jagdübungen" begangen, (schreiben die Zürch. NeujahrsBl. der Musik-Gesellsch. 1786). Die Haupt-Comödie dieses Tages besteht darin, daß sich zwei Nachbarorte einen Strohmann oder sonst ein maskenhaftes Ungethüm zuzuführen suchen, jede aber diese ihr zugedachte Bescheerung mit Waffengewalt und in einem förmlichen Feldzug abzuwenden trachtet. Das Unvermeidliche geschieht schließlich dann doch, der Strohmann zieht in den Ort ein, wird dann feierlich verbrannt, und Sieger und Besiegte vereinigen sich zu einem reichlichen Schmaus. Ich unterlasse hier jede Beschreibung der Einzelheiten, welche ich in einer Schrift über Landschaftliche Feste

Digitized by Google

mitzutheilen gedenke, und hebe hier nur die Rolle hervor, welche dabei dem Hirschen zugekommen ist. Am Hirsmontag wurde die Zeit des Frühlingsempfangs und des Winteraustreibens gefeiert, und wie unser Alterthum die Namen zweier kämpfenden Jungfrauen für diese Begriffe der Jahreszeit kennt „Osterhilt und Winterhilt", so bestand auch dieser Tag in einem Zweikampf zwischen Winter und Sommer, in einer Schlacht zweier Heere, Gemeinden u. s. w. Dieses Scheingefecht hieß man hirzen, Hirsstoß, Hirsmontagsschwung, wie mhd. hirzen ein Stangenturnier halten heißt. Die Hauptperson dabei war der Hirsnarr, ein Reiter. (Stalder, Entlebucher-Fragm.) Daß derselbe ehemals in einer Hirschenmaske erschien, ist unbezweifelbar. Geilers Predigten über das Narrenschiff beschreiben ihn in seinem zu Straßburg üblich gewesenen Aussehen und sagen, er stamme aus dem Heidenthum her, obschon er doch nur aus dem jener Stadt nächstgelegenen Dörflein Geisboltsheim hereinkam: habent larvæ procul dubio originem a gentilitate: sicut et der hyrtz et das wild wyb von geispitzen (Geisboltsheim). Bacchus hirsutus depingebatur. his omnibus consonat hyrtz. Diese Hirschen-Maskerade verboten schon frühe Concilien und ältere Beichtspiegel unter dem Namen solemnitas cervuli. Flögel, Gesch. des Grotesk-komisch. pag. 162. „Was ist so verrückt, als sich in wilde Thiere verkleiden, einen Hirschen spielen?" sagt eine Predigt de Kalendis januariis. Philipps, Abhandl. über Ursprung der Katzenmusiken. Freib. i. Breisg. 1849. Aber der Vorzeit erschien eine Vermummung in solcherlei Thierlarven keineswegs entwürdigend. Der altd. Dichter hieß Hirsch. Liodersaza, der zum Schmaus aufspielende Musikant, choragus und cervulus sind Namen, die in den ahd. Glossen mit einander abwechseln. Graff, Sprachsch. 6, 302. Haupt, Ztschr. 5, 347. Bonushirtz, ein Bauer von Lostorf, ist kirchlicher Donator im Jahrzeitb. von Schönenwerth, bei Aarau. Urkundio 1, pag. 83. Im Liede vom König Rother halten die deutschen Helden ihren Turnieraufzug am Hofe zu Byzanz; da werden sie alle in ihrem Aussehen geschildert und derjenige nicht mit vergessen, der dabei den Springhirschen macht:

Widolt mit der stangen
vôr dar seriekande
in allen den gebêren,
alser hirez ware.

Widolt sprang mit seiner Lanze hervor und gesticulirte in der Rolle des Hirschen. Wackernagel Lesеb. 1, 231. Hirzensprüngler nennt man jetzt noch schimpfweise die Obervieder im St. Gallischen; man sagt, von dem nahen gleichnamigen Engpaß Hirzensprung. Albersterz (Weißschwanz), Arnold Cervola und Springhirz hieß zugleich jener Edelmann aus Perigord in Frankreich, der an der Spitze des räuberischen Heerhaufens der Gugler stand, 1365 Straßburg bedrohte und 1376 bei Fraubrunnen, Kant. Bern, geschlagen wurde. Eidgenöss. Lieder-Chron. 1835, 21. Springhirsch, Name einer Gegend bei Rendsburg: Müllenhoff, Schlesw. Sag. pag. 90. Der Zürcher Antistes und Reformator H. Bullinger eiferte in seiner Chronik 1, lib. 8, cap. 2 gewaltig gegen diesen zu seiner Zeit noch üblich gewesenen Stadtbrauch, wo man sich in solchem unflätigen Narren- und Butzenspiel „mit schällen, trincklen (Alpglocken), kühschwäntzen und allerley wüsts" behänge. Dies hat nichts gefruchtet. Noch jetzt wird bei der Grausete

Digitized by Google

der Muotta-thalbewohner, und beim Posterlijagen der Entlebucher- und Berner-Aelpler der gleiche nächtliche Glockenlärm, Peitschenknall und Hörnerschall aufgeführt, und ganze Thalschaften betheiligen sich daran. Selbst Kinder halten ihr Jugendfest, das allenthalben kirchlichen und militärischen Anstrich zugleich bei uns hat, noch auf diese heidnische Weise. Am Schulfeste behängen sich die Knaben im Bündnerischen Bergell, trotzdem daß sie als Soldaten und Kadetten ernstlich uniformirt erscheinen, zugleich mit allen möglichen Stallglocken, und wenn sie ihr Ortspfarrer über den Zweck eines so närrischen Lärmens befragt, so antworten sie: „wir machen, daß das Gras wächst." Leonhardi, rhätische Sitten, 1844, 5. Der Hirsch selbst erscheint hiebei meines Wissens freilich nicht mehr, aber doch häufig noch die Geis und die Ziege, welche ihre direkte und indirekte Aufgabe jederzeit dabei noch hat. So wandelt sich auch der Hirsch der Legende in die Geis der Sage frühzeitig um; statt vieler Beispiele nur eines. Die Greyerzer Weiber sehen, wie ihre Männer in einem Gefechte mit den Freiburgern in der Ebene von Vâquier und Pringy noch am späten Abend hart bedrängt werden; da stecken sie ihren Ziegen, die sie eben vom Gebirge her heimtreiben, angezündete Kerzen zwischen die Hörner, jagen sie in den Feind hinab, und dieser zieht sich überrascht zurück. Meyer-Knonau, schweiz. Erdkunde 1, 431. Der Bock mit der Leuchte führt die Verirrenden aus der Wittorfer-Kamp. Müllenhoff, Schlesw. Sag. No. 598. Ein riesiger Gemsbock mit silbernem Hörnerpaar lebt seit manchem Jahrtausend auf dem Solstein beim Dorfe Zirl. Tirol. Sagen-Kränzlein v. Meyer 1856, pag. 137. So zieht man am Hirsmontag im Freienamte gemeindeweise gegeneinander zu Felde, um sich in einer Schlacht den geraubten „Geishirten" spaßhaft zurück zu erobern. Wer dabei am tollsten sich geberdet, die Kriegs-Erklärung am neckischesten vorzutragen weiß, der hirzet, der ist der Hirsnarr; ganz so wie der Dichter Marner zum aufschneiderischen Zweter Reginmar sagt: dir springent hirze dur den munt. (Wackernagel, Leseb. 1, 693. II.) Ebenso beschreibt Fischart, Gargant. 178 dergleichen Spiele: nachgehends lief er der harr, der eier, des hirzes. Das Festbrod, das man außer dem gekochten Hirsbrei, an diesem Tage verzehrte, ist das in Form von Hirschgeweihen gemachte Küchlein „Hirzehörndli". Winterthurer- und Zürcher-Conditoreien bieten das Jahr über das Stück zu einem Batzen aus, die Speise ist demnach eine landläufige. In Steier backt man das Weihnachtsbrod in Hirschform (Weinhold, Weihnachts-Spiele 26.), in Schwaben nennt man es gemeinhin Springerlen (Meier, schwäb. Sag. 462. 465) und diese versetzt Küblers Kochbuch (das Hauswesen 1850, 221) unter jenes allgemeine kleine Backwerk, das mit dem Backrädchen abgerändelt, ausgeschnitten wird. Daher rührt auch der Glaube, daß die kirchenstiftende Jungfrau von Tegerfelden, die auf dem Hirschen die Thurmzacken ihres Schlosses umreitet, eine Kornstiftung hinterlassen habe (No. 167); daß die Zürcher Frauenmünster-Abtei, gestiftet auf Anlaß des Hirsches mit leuchtendem Geweihe, von Karl d. Gr. wegen der wohlschmeckenden Semmeln, die es buck, einen eignen Pfister erhielt, welcher alle Jahre einmal für die ganze Stadt Frei-Semmeln backen mußte. Dieser Brauch galt zu Zürich bis z. J. 1600 (J. Müller, schweiz. Alterthümer, 1776) und das Brod wurde in einem Festaufzuge durch die Stadt getragen. (Helvet. Calend. 1787, 77). Es bestand aus 101 Küchlein, die zusammen

Digitized by Google

in Einer Schüssel der Metzgerzunft übergeben wurden. Bluntschli, Memorab. Tigur. 129. Diese als Zunft warf dann auf eigne Kosten noch bis z. J. 1728 den Stadtkindern am Aschermittwoch die Freiküchlein durchs Fenster des Zunfthauses herab. Alles dieses ist weiter ausgeführt in der Schrift: Oberdeutsches Gebildbrod, No. 14. Das Ergebniß aus diesen vielfachen Anknüpfungen ist folgendes: der Todesgott Alahirzi gleicht dem Winter. Den Hirschmonat benennen wir nach beiden, er war der agf. Blotmonath, mensis immolationum, an dem man alle Mastthiere schlachtete, vorher aber den Göttern weihen ließ. So fiel der Tod der Schlachtthiere in eine Zeit mit der todesgleichen Ruhe der Erde, und das einzige Geschäft des Mannes war währenddem die Jagd. Dies liegt in dem Namen der Jungfrau, die walkürenhaft diesen Zeitraum bezeichnet „Winterbilt". Mit dem Frühjahr erscheint die Jungfrau Osterbilt, der Hirsch wird in den Wald zurückgetrieben, er ist besiegt, und auf dem bekränzten Maiwagen zieht der Maikönig siegreich ins Land ein. Dann erfüllt sich die Prophezeiung, welche sich beinahe überall der Sage von den verwünschten Geistern und unerlösten Jungfrauen anschließt. Erst dannzumal, heißt es, wird der gebannte Geist selig werden können, wenn der Hirsch zu Walde springt und mit heilbringender Fährte die Eichel in den Boden tritt, daß daraus das Bäumchen aufwachsen und zur Wiege desjenigen verschreinert werden kann, der, wenn er zum bestandenen Manne erwachsen sein wird, das Hügelimaidli zu Holziken (No. 119), die Tegerfelder Schlüsseljungfrau (No. 167) zu erlösen vermag.

Steht das Wort Alahirzi als Genetivus singularis, so entspricht es jenen genitivischen Fluch- und Scheltformeln, welche aus Zürcher- und Berner-Schriften des 16. Jahrhunderts, Grimms Wb. 1, 213. 230 besonders reichlich aufzählt, z. B. aller gurren, aller suw, allis mans! Diese Genitive hängen von einem ausgelassenen Vocativ ab, der etwa Haupt, Anführer aller Hirschen, Säue ꝛc. bedeutete. Fälle, wo es nur adverbial steht, giebt Stalder, Landessprachen der Schweiz, pag. 93. Von diesem Haupt und Führer aller Hirschen aber singt das sog. Sonnenlied in der Edda:

Den Sonnenhirsch sah ich
Von Süden kommen,
Von Zweien am Zaum geleitet.
Auf dem Felde standen
Seine Füße,
Die Hörner hob er gen Himmel.

---

## 413 b. Der Bölimann.

Er wird in unserm Volksglauben nach einer doppelten Erscheinungsweise und Wirkung aufgefaßt, als ein polternd und zugleich als ein heimlich herbeikommender Geist. Erscheint er mit Gelärme, so stellt man den Eigennamen zu Bohl und Balken, und dieses Zerbohlen und Böhlen alles Bollwerkes (propugnaculum), das man gegen das Gespenst aufgerichtet hat, macht dann einen bösartigen

Digitized by Google

rumorenden Geiſt aus ihm, der alles zertrümmert. Lo Cassaron, der Zerbrecher, iſt in Waatländer-Patois der Teufel genannt. Vulliemin, Kant. Waat 2, 31. Boleeten heißt im Solothurniſchen rumoren, im Frickthal anbellen, durch Hundegeheul Unglück voraus melden. Der ndl. Kobold Bullermann iſt gleich dem ſchwäb. Poppele von Hohenkrähen ein anklopfendes Geſpenſt und todkündend; der Tod, der klopft an meiner Thür! lautet der Tert in einem Canon Haydns, ganz wie bei Horaz 1, 4: pallida mors pulsat pauperum tabernas regumque turres. — Nach ſeiner zweiten Wirkſamkeit hingegen iſt der Bölimâ in Vorſtellung und Benennung ganz gleich dem Butzimâ, Butzibau, Butzmummel, nämlich ein Mann, der ſeinen Hut tief in die Stirne gedrückt oder bis über die Augen herein gezogen trägt. Bölimengel, verkürzt aus Mannöggel, gilt im Freienamte überhaupt als der Schwarze Mann. In Zürich:

S'iſcht halt e Strof, der Bölimâ
Git's mängsmol eim gar liſtig a.

Firmenich 2, 635. Bei einem während der Aernte anziehenden Gewitter pflegt unſer Bauer zu ſeinen im Acker helfenden Kindern zu ſagen: Buben, macht ſchnell, der ſchwarze Mann kommt! (Lengnau). Dies gleicht ganz dem Bölwerkr oder Nebelwirker, ein Beiname, den Odhinn in der Edda hat. Der Bölimann iſt damit ein larvatus, in dem Sinne, in welchem Wuotan-Mercurius den alle Seelen bergenden Tarnhut (umbraculus) trägt, und daher heißt der Teufel als Seelenverführer, in heſſ. Herenakten, Bolomolo. Wolf, Ztſchr. 2, 64. Balos Grab heißt jenes Loch, in welchem ein Frevler zwiſchen geſpaltenen Feldſteinen verſunken liegt: Kuhn, nordd. Sag. No. 57. Der eiſerne Polenz iſt in der Lauſitz eins mit dem W. Jäger und Blauhut. Gräße, ſächſ. Sagenſch. No. 675. Bollecker iſt ein weſterwäldiſches Geſpenſt. Myth. 1210. Ein dorten gemuthmaßter Zuſammenhang dieſes Namens mit Paltar ergiebt ſich für oberdeutſche Mundarten nicht.

---

## 414. Böggel.

Es bezeichnet einen wüſtausſehenden, ſchreckenerregenden, vermummten Menſchen, eine Kinderſcheuche, eine Fasnachtsmaske. Der Böckenſchlitten, in Augsburg ein Maskeradeſchlitten. Schmeller, Wb. 1, 152. Von den Fasnachtsnarren ſchreibt Seb. Brant, Narrenſchiff cap. 110 b:

Digitized by Google

eyn teyl, die dunt sich vast herutzen,
antlitt vnd lib sie gantz verbutzen
vnd louffen so jnn bœucken wisz,
das man sprech, schow, min herr von Runckel,
der kumbt vnd bringt am arm eyn kunckel.

Aus dieser Böggen-Maske, genannt Herr von Runkel, bildete sich der Name des mit derselben aufziehenden Maskenweibes, die eine Kunkel mit sich führte und daher Runk-Gunkel genannt wurde. Vgl. Fischart Garg. 91. Im Luzerner- und Zürcher-Lande hatte das Wort die gleiche Geltung. Das Luzern. Rathsbuch verordnet zum Jahr 1401: Hemmann von Büttikon und Ritter Wilhelm Meier von Stans luffent an der Fasnacht böggenwis über das, so es bei eim Pfund verbotten war. Kas. Pfyffer, Luzern. Gesch. 1, 153. Die Zürcher NeujahrsBl. Ab dem Musiksaal, v. J. 1786, geben eine Beschreibung des dazumal ohne Maskerade begangenen Nationalfestes des Hirsmontags, des ersten Montags nach Aschermittwoch; dabei wird den um diese Freude gebrachten Stadtkindern gesagt:

Heut zu Tag geht's anders her,
Keine Mummereyen,
Keine Böögen sieht man mehr,
Keine Schlägereien.
Kreidenglade bleibt zu Haus,
Läßt sich nicht mehr sehen,
Elsens Herrlichkeit ist aus,
Ist um sie geschehen.
Wollt ihr doch verkleidet sein,
Möcht ich lieber rathen,
In Monturen schlüpft hinein,
Kleid't euch als Soldaten ꝛc.

Die Zürcher feierten diesen Tag mit der Mummerei der sogenannten Metzgerbraut, nannten dies in ihrer Mundart Böögen und weil dabei ein Banner mit dem Bocke umgetragen wurde, so leiteten sie von diesem den Namen der Böggen ab. Dieselbe Ableitung aus gleichem Grunde giebt dem Worte Geiler v. Keisersberg in seinen 1499 über das Narrenschiff gehaltenen Predigten: böggen, inde bechten, a Baccho quasi bechen; quod dum fit, in larvis curritur a pueris clericis nostris Argentinensibus. Geiler etymologisirt also aus dem am Fasching mitumgetragenen Bock erstlich ein bechten heraus (das die Verkürzung des Berchtoldens am Berchtoldstage ist) und aus diesem folgert er den Bacchus. Die Zürcher schlossen anders. Die Böggen waren ihnen ein Ueberbleibsel der Böcke, einer

Waffenverbrüderung und Freischaar, welche im Alten Zürichkriege 65 Mann stark die belagerte Vaterstadt durch kühne Ausfälle vertheidigt hatte. J. v. Müller, Schweiz. Gesch. 4, 45. Sie sollen auch Schwertler geheißen haben und zu ihrer Erinnerung trug der Fasnachtsnarr, erklärte man, am Hirsmontag ein Pritschenschwert.

Alles dieses ist hier dazu angeführt worden, um zu zeigen, wie der Name Böggel als Ableitung von Bock galt und damit die Maske desjenigen Geharnischten bezeichnete, der unter den Fahnen des Bockes sonst Waffendienste gethan hatte. Waffenverbindungen und Freiharste dieses Namens bestanden in Schwaben 1450—53 mehrere, welche Schmid, schwäb. Wörtb. 83 aufzählt, eine gleiche von 1440 aus dem bayr. Walde verzeichnet Schmeller, Wb. 1, 151.

Groß ist nun der Ideenabsprung, welcher von der Knappenmaske, Böggen genannt, erst auf die Langnasigkeit der Larve übergeht und zuletzt bei dem Böggel (muccus) in der Nase und dem Böggel (Putzen, Kerngehäuse) im Obst stehen bleibt. Alles was sich verbutzt und ins Dunkle verpuppt, ist in diesem Sinne butzenhaft, unflätig (muccosus) und gleich dem Butzemann, Hullepöpel, Fettpöpel, Popanz und Böggel gespensterhaft geworden. Myth. 475. Der Treue Pöpel heißt im Koburgischen der unabtreibbare Hauskobold, der mit der Familie in den Neubau überzieht; die dortigen Pöpelhäuser entsprechen genau dem Sinne unserer Heidenhäuser (No. 427) und sind zugleich wie diese die Wohnungen der Zwerge. Fr. Mihm, Koburg. Sag. 1845. No. 22. 24. So wird endlich aus einem „bollwerkigen" Hauspolterer (Pröhle, Unterharz. Sag. No. 187) und Pophart der widerwärtige Pöpel und Böggel, den wir schweizerisch den Knecht Schmutzli nennen.

---

## 415. Donner.

Donnersketzer wird der große Mann angerufen, No. 84, der auf dem Guenisheerwagen über die Häuser fährt, er ist sonst auch der dreibeinig Donnerstüfel (vgl. Alemann. Kinderl. No. 28). Schwurformel: Potz Donnstig! Müllenhoff, Schlesw.-Holst. Sag. XLVIII, führt einen Zwerg an, Namens Hans Donnerstag. „Potz Donnstig vorm Fritig!" scherzhafte Formel, statt der mehr verabscheuten „bim Donner!" Verstärkter Fluch: Donnersdonner! Donnersschieß! Schieß! Schieß dich der Schneck! — Das indische Gesetzbuch Yajnavalkya (ed. Stenzler 1849) büßt 1, 136 diese Fluchformel mittelst Hauptentblößung: „daß mir dieser Donnerkeil ... u. s. w., dieses aussprechend

gehe der Brahman, wenn es regnet, unverhüllt.“ Donnerbeſen, Herenbeſen (Abthl. IX, No. 409) iſt uns die große Miſtel, eine Schmarotzerpflanze, namentlich auf Obſtbäumen. Donnerkeil und Windling iſt Aargauer-Name jenes großen Nachtſchmetterlings, den man ſüddeutſch Tannen- oder Fichtenſchwärmer nennt; Donnergueg heißt der Hirſchſchröter; Donnerſtein und Strahlſtein die Belemniten-Verſteinerungen im Jura. Durchlöcherte Steine an einen Baum gehängt, machen ihn grün. Abergl. Für die Donnerwurz (sempervivum tectorum) errichtet unſer Landmann am Wohnhauſe allenthalben einen eignen Pfahl mit einem Deckelbrettchen drüber, und ſo iſt die Pflanze wie auf einem Altärchen gehegt. Euphemismus: Bim Dolder! Donner und Toller wird hier hinüber gedeutet auf die obere Laubkrone des Baumes, welche Dolder heißt, und zugleich auf die Rappelköpfigkeit des Böſen, von deſſen Zorn man figürlich ſagt, es ſei ihm in den Dolder gefahren. Tannegrotzle, ein weiblicher Schimpfname, deutet auf die im Tannenwipfel ſitzende Here. Reckholderdonner, ein Aargau. masculiner Scheltname, bezieht ſich auf den juniperus, der gegen den Blitzſchlag ſchützt. Man wirft bei Gewittern drei Wachholderbeeren ins Herdfeuer. Man flucht und ſchwört, ſtatt beim Donner, gemeinhin auch beim Strahl und Strahlhagel.

Franciſci, Schaubühne (Nürnberg 1669) bemerkt 214 hierüber: Ich gedenke, warum in Oeſterreich und etlichen anderen Orten die erzörneten gemeine Leute, wann ſie ſchelten, ſagen: du Strahlhur, Strahldieb! ſie wollen damit anzeigen, ein ſolches Menſch ſey würdig, daß es der Wetterſtrahl erſchlage. — Der Fluch, Potz Donnſtig, bezieht ſich auf die ſonſt üblich geweſene Heiligung des Donnerstags. „Man ſoll den Abend am Donnerstag feyern und ſoll kein Stall gemiſtet werden. Dieſe abgottiſche Weiſe iſt an vielen Orten und in dem Jahr Chriſti 1626 in dieſer Landsgegne in vielen Häuſern auf der Landſchaft (Baſel) noch ſehr üblich geweſen.“ Philo Magiologia, pag. 133. In den Städten der deutſchen Schweiz waren noch im vorigen Jahrhundert der Sonntag und Donnerstag Hauptage der Verſammlung für geſchloſſene Geſellſchaften. Meyer-Knonau, Kant. Zürich 2, 177. Die nordd. Kirmeßfeier, die Montags ſchließt, beginnt mancherwärts heute noch am Donnerstag von neuem und wird Abends geſchloſſen. Colshorn, Geſch.-Biblioth. 1, 176. Im ſüdlichen Schweden wird am Donnerstag noch nicht begraben, getauft oder copuliert, während man in ndd. Gegenden aus einem ähnlichen Grunde gerade umgekehrt auf dieſen Tag alle Wochenpredigten, Copulationen u. ſ. w. verlegt hat, ähnlich wie man auf der Stelle heidniſcher Opferſtätten chriſtliche Kirchen zu errichten pflegte. Kirchner, Thors Donnerkeil 1853, 64. — Der Donnerbühl, Tonrbül ſchreibt Juſtinger, ein durch den Sieg der Berner 1298 berühmter Hügel, war früher das Hochgericht der Stadt Bern geweſen und macht heute den höchſten Theil der Stadtſchanze beim Falkenplätzlein aus. Von dieſem Orte hinweg wurde der geſchlagene Feind bis ans Ufer der Senſe verfolgt; das Thal, durch welches er entfloh, heißt Jammerthal, die Ebene,

Digitized by Google

wo er am Ufer bei Thörishaus zusammengehauen wurde, Kriegsmatten: lauter Localnamen, die einen Schluß auf Donar erlauben. Vergl. Bern. Neujahrsbl. 1818, pag. 11, 12, 17. Des Hügels Namen soll früherhin Dornbühl gelautet haben (Zürch. Neujahrsbl. der Feuerwerker 1816, 7); dies verschlägt nichts in unserer Namensdeutung. J. Grimm zeigt (Berlin. akadem. Abhandl. 1854, 322), daß die mhd. Liedstelle: sô slahe mich ein donnerstein! überschrieben heißt Dornstein, und daß dieses dorn (tonitru) lautgesetzlich dem nordischen Thor und dem celtischen taran (tonitru) entspricht. Ein aargau. Dornrain liegt im Kreise Gontenschwil; er wird in alten Schriften als Feldmarke angegeben, und das Volk versetzt in die Wüstung seines Schuttes von jeher die Nachtgespenster. Bronner, Kant. Aargau 1, 252.

## 416. Meister Geißfueß.

Bock, Bocksfuß, Geisbock. Herein, und sollt's der Geisbock sein! sagt man scherzend zu einem bekannten Besuche, der anklopfend zwischen der Thüre steht. Im Waatländer-Patois lo Bocan, der Teufel. Vulliemin, Kant. Waat 2, 31. Bocksblut, Bocksschweiß, Bocksmarter, Bocksritten, Bocksleiden, Bocksleichnam, Bocksbuld, Bockswunden sind Schwurformeln des 16. und 17. Jahrhunderts, durch zahlreiche Mandate schweizerischer Kantonsregierungen bei mehrfacher Strafe verboten. In den Abtheilungen Zauberthiere und W. Heer ist des Bockes, unter welchem bald Satan, bald Donar verborgen ist, weiter gedacht. Da der Teufel auch Kueni und Velten genannt wird, so beginnt ein schweizerisches Söldnerlied gegen die Landsknechte, mit denen man sich im Treffen bei Bicocca 1522 gerauft hatte, mit der Verwünschungsformel: Botz Marter-Kürv-Välty! Eidgen. Liederchronik 1835, pag. 370. In den Heren-Acten des Rheinfeldner-Stadtarchivs v. J. 1540—1624 (rubriziert K. fol.) giebt sich der Teufel seinen Buhlschwestern unter folgenden Namen zu erkennen: Belgenbock (weil er auf dem elsaßischen Bölchenberge (Balon) und auf dem Schwarzwälder-Belchen wohnt); Küenzlin, Junker Volant, Poppelin. Ueber die geisfüßigen und in Gestalt des Ziegenbocks erscheinenden Zwerge vgl. Abthl. V, Anmerk. No. 2, pag. 332.

## 417. Der Grüne.

Der Grünrock ist ein Teufelsname, insofern man ihn als den Wilden Jäger denkt. In solchem Sinne sind seine Namen auch Rebhansel, Rebhund, Trübelhund, Rebmesserli, Gugger, Drak, Holzhirzi, Alahirzi, insofern er dabei in Wald und Feld Thiere jagend

Digitized by Google

und Früchte einheimsend gedacht wird. Seine Gesellen heißen in Hildebrands Zauberey (Frankf. 1631), pag. 26, nach dieser jägerhaften Beziehung: Hasengreifer, Nachthasen, Kugelfänger, Treffschützen u. s. w. Wie er in Märchen und Sage Junker Grünewald und Grünwedel genannt wird, so heißt er im liber vagatorum, gedruckt 1510 (Auszug bei Adelung) mit einem redenden alten Namen Lögötlin, Waldgott. In den Anmerkungen zu den Zwergensagen und in denen zum Wild. Heer ist aufmerksam gemacht auf die bei Geistern wiederkehrende grüne Tracht. Als ein auf dem Feld und im Rebberg Arbeitender hat er den Tragkorb bei sich, den Nobischratten, den Korb aus dem Abyssus. Und wie er in Norddeutschland als Wirth gedacht wird, der im Nobiskrug, in dem Grenzwirthshause, Wein schenkt (Myth. 954), so führt er bei uns den Nollhafen und Nollkessel, ein Geschirr, das voll heißen Wassers auf dem Grunde der Hölle kocht. Daran knüpft sich die Vorstellung eines teuflischen und höllischen Bades, Abthl. XI, No. 487: der Höllhafen. Des Teufels Bad, Badstube, Heizenstube sind gangbare Localnamen. Ein Wiesland, unter welchem römische Grundmauern wegziehen, die man auf ein Römerbad gedeutet hat, nennt man im Aargau Heizenstube.

## 418. Meister Hämmerli.

Insofern der Teufel auch als abholender Todesgott gedacht werden kann, welcher schleunig abberuft (er b'rüeft) oder nur am Fensterladen klopft (er pöpperlet), spielt der Kinder-Auszählreim mit seinem Namen:

Poppe-Poppe, Hämmerli,
Stegen ûf i's Chämmerli,
Stegen ûf i's Tûbehûs,
Flüegen alli Tûben ûs!

Conr. Meyer, Todtentanz (Zürich 1650) Bl. V, giebt dem Todesgott das Siegesgeschrei: Hier steh' ich G'waltiger, der Erden Hammer! Ebenso ruft König Ethele (Attila) in der catalaunischen Schlacht; da seine Feinde fliehen, läßt ihn die ungarische Chronik des Thwroz, die sich auf Traditionen ums Jahr 1358 stützt, sprechen: stella cadit, tellus tremit, en ego malleus orbis! W. Grimm, Held.-Sag. Das zur Zerschmetterung aller Heren 1489 verfaßte Gesetzbuch ist der Herenhammer, malleus maleficarum. Auch der Poltergeist und Pickelhäring in den Schauspielen des Mittelalters heißt Hemmerlin, wie man jetzt noch den pickenden Holzwurm, der den Tod ankündigen soll, Erdschmiedlin nennt. Ndd. gilt verhammert gleichbedeutend mit verteufelt und verdonnert. „Dat is en Hamer!" (ein Teufelskerl) Brem. Wb. 2, 575. Gotts Hamer ja! (Mythologie 1853. 184.) Der Hammer (Teufel) kenne sie alle! Schütze, Wb. 2, 96. Gleicherweise nennt

man aargauisch und elsaßisch (Stöber, Neujahrsstollen 1850, S. 43) die Belemniten Teufelsfinger, Donnersteine und Hämmerli; in Schwaben hält man sie für den Abdruck einer Menschenhand und nennt sie Donnersteine, Schrettelsüße. Meier, schwäb. Sag. pag. 172. Man schabt sie ab und giebt sie kranken Kindern, „wenn sie mit dem Hammer beladen sind"; ein Glaube im Harz: Wolf, Ztschr. 1, 202. Sie werden als Drutensteine im Algäu von der Hebamme mitgetragen und an Wiegen gehängt: Panzer, bayr. Sag. 2, No. 268; und wo sie abgeplattet und durchlöchert vorkommen, nennt man sie Wichtelpfenninge. Bechstein, DSagb. No. 756. Wir nennen im Jura solcherlei Steine auch Alp- und Strahlsteine, Chalützelsteine; sie werden abgeschabt, zerrieben und als Heilmittel getrunken. E. Kirchner, Pfarrer zu Gransee (Thors Donnerkeil, Neu-Strelitz 1853), erzählt, pag. 63, er besitze einen Thors-Steinhammer, welcher in seiner Gemeinde gleichfalls gegen epileptische Anfälle abgeschabt und eingenommen wurde. Ein preußischer Spruch, den die Hebamme über ein leidendes Kind spricht, heißt:

hack, hack hamer: morge öss samer,
hack, hack hinter: morge öss winter.

Wolf, Ztschr. 2, 319. — Wie die Makkabäer ihren Namen haben von dem heldenmüthigen Judas, mit dem Beinamen Makkabi, d. i. Hammer, ebenso der Held Carl Martel, sodann Thomas Hamerken, sonst genannt Thomas a Kempis, ferner der Zürcher-Chorherr Felix Hämmerlein (Malleolus, geb. 1389). Man könnte den Grund aller dieser Benennungen bei Jeremias 51, 20 suchen wollen: „Du bist mein Hammer, mein Kriegswaffen, durch dich habe ich die Heiden zerschmissen." Allein der Hammer als Symbol göttlicher Macht findet sich anderwärts vielfach und zugleich deutlicher. Auf einer etrurischen Todtenkiste trägt eine Furie, auf einer andern ein häßlicher Genius, beide den Orestes verfolgend, den Hammer. Das Valerische Geschlecht nannte sich in seinem einen Stamme Acisculus, Äustling, der männliche Theil des Poblicischen hieß Malleolus. A. G. Lange, Verm. Schrift. 1832, 266. Beim Germanen führt Gott Thôrr den zermalmenden und den zugleich segnenden Hammer Miölnir. Damit wird das Recht auf Grund und Boden bestimmt. Dies geschieht mittelst des Hammerwurfes im Norden wie im Süden (Grimm, RA. 64). Vgl. die Sage, No. 55, Ringlis-aumatt. Im Lichtensteiner-Statut v. J. 1400 (Tschudi 1, 607 a.) sichert der geworfene „Beschlaghammer" den Weg des Flüchtlings. Derselbe Hammer diente dazu, die Ehe einzusegnen und den Trinkbecher zu weihen (Hamarsheimt 32). Er wird abgebildet in Form eines römischen T, mithin als Hammerstiel, der durch das Mittelöhr des Hammereisens durchgetrieben ist; insofern das Holz weiter über das Hammeröhr hinausragen kann, gleicht der Hammer der Form des Kreuzes, und wie er mit diesem christlichen Kreuze vertauscht und verwechselt worden ist noch in später Zeit, zeigt J. Grimm (Haupt, Ztschr. 7, 538) an der Wortformel eines Segensspruches, worin es heißt: non percuties eos, qui signati sunt hoc signo T. Daher rührt auch die unverstandene Phrase, welche Abraham a Sta. Clara anwendet in seiner Predigt Gemisch-Gemasch (Taschenb. v. Fr. W. Valent. Schmidt, Berlin 1827, pag. 342): „Das Tau fürcht't der Wauwau; der Teufel scheuet das Kreuz." Der hl. Julianus, dessen Hilfe und Altarmirakel in der Kirche zu Arles das Aufhören

Digitized by Google

der 546 ausgebrochenen Drüsenpest zugeschrieben wurde, hieß damals der T-schreiber. Gregor. v. Tour. Fränk. Gesch. l. 4, c. 5. Das Attribut, womit die kirchliche Darstellung den hl. Antonius Eremita kennzeichnet, ist ein Stab mit einer Glocke dran, auf welchem das Zeichen des T steht. Die Attribute der Heiligen, Hannover 1843, pag. 209, fügen darüber bei, der Heilige sei öfters vom Teufel versucht und geprügelt worden. Dem Edelmann Gaston, der bei des Heiligen Gebeinen dann um Heilung seines Sohnes betete, befahl Antonius, sich mit einem himmelblauen T zu bezeichnen. An der Kirche zu Ingelheim ist das Steinbild einer Frau mit dem Hammer zu sehen, angeblich einer Tochter Karls d. Gr. Im Carolinger-Sagenkreise kommt dieses Fräulein mit dem Hammer abermals vor: „Dama Rovenza dal Martello". Botz Hammer! soll Markgraf Heinrich der Erlauchte von Meißen zum Schwure gewöhnlich gesagt haben und daher seinen gleichen Beinamen bekommen haben. Lange, Verm. Schriften pag. 266. Wie sich der segnende Gotteshammer zum zermalmenden und zum Streithammer verhält; wie man bei des Papstes Tode dreimal mit goldenem Hammer an das Sterbezimmer schlägt und dann den Fischerring zerschlägt; wie die vergantete herrenlose Waare unter den Auctionshammer geräth, so veränderte sich zuletzt die Bedeutung des Werkzeuges ebenfalls bloß in die des Verderblichen, Gespenstischen und Henkermäßigen. Francisci, Schaubühne (Nürnb. 1669, 218), nennt den schlesischen Berggeist Rübezahl einen Meister Hämmerling (Zauberer). Der Raubritter Hammerschlag haust am Zobtenberge bei Schweidnitz und tödtet die Menschen auf den dritten Streich. Bechstein, DSagb. No. 648. „Diebe sind Wäsch, die muß der Meister Hämmerle aufhenken, der Knüpfauf." Sutor, Chaos Latin. Kaufbeuern 1716, 218. Hammer ist des Teufels Name bei Wier, de praestigiis Daemon. Frankf. 1586. Hemmerleinsführer ist des Zauberers Name, bei Joan. Scultetus, in Hildebrands Zauberey. Frankf. 1631, pag. 26. Lo Cassaron, der Alleszerbrecher, heißt der Teufel im welschen Patois (Vulliemin, Kant. Waat 2, 31), also ebenso wie der alles zertrümmernde Schloßgeist Poppele auf Hohenkrähen, in Meiers schwäb. Sag., der gleichfalls alles zerschlägt und durcheinander wirft; so heißt auch der die Garben zerführende Wirbelwind Hammer. Myth. 951.

Johannes Rist tractiert den Kritiker seiner Schäfergedichte als den dummen Teufel:

Unser Meister Hämmerling,
Hämmerling, das Haubt der Naren,
Der sonst wolbekannte Hase,
Geht davon mit einer Nase.

Gödecke, deutsch. Dichtung 1, 316. „Sag mir doch", fragt J. v. Müller seinen Bruder Georg an (Sämmtl. Werk. 6, 393), „ist der in gemeiner Leute Mund zu meiner Zeit noch sprüchwörtliche Meister Hemmerlein für den Teufel oder für einen Hexenmeister gebraucht?" Nachher in seiner Schweizergeschichte schreibt er denselben doch wieder auf jenen Zürcher-Chorherrn Felix Malleolus hinaus, und Bergmann begeht noch das gleiche Versehen im Ambraser-Liederbuch (pag. 142) bei Erklärung des Verses:

welchs meister hemmerlein wol gefelt,
das sich die welt so grewlich stelt.

In Fischarts Podagramm. Trostbüchlein wird zur weggewünschten Krankheit gesagt, geh zum Teufel, und dies drückt sich wiederum also aus:

Digitized by Google

Sitz diewell eim Gaukelſpringer
In ſein Maiſter-Hämmerleinsſinger.

Da ahd. Gloſſen gentiana mit hemer überſetzen (Diut. 3, 354), ſo gehört auch der im Wallis bräuchliche Name Siebenhämmerlen, Sigwurz hieher, womit man allium alpinum bezeichnet (J. Simmler, Valesiae Descriptio. Tiguri 1574, 129). Nünhemmlere nennt man bei Interlaken allium victorialis und denkt ſich nun die Pflanze als eine in neunerlei Hemden und Hülſen liegende. Gleichwohl bezieht ſich der Name nur auf den hämmernden Schmied, auf den waffenſchmiedenden Zwerg, vgl. I, 366 und Alemann. Kinderl. No. 250. Der Kobold in Ilſenburg dient beim Schmied, ſchlägt da einen Nagel am Ambos in zwei Stücke und haut dieſe beiden ins Kreuz gelegten Stücke wieder zu einem Crucifix zuſammen. Mit dieſem macht man ſich kugelfeſt und es iſt tauſend Thaler werth. Pröhle, Unterharz. Sag. No. 296.

---

## 419. Hoggemâ und Häggele

iſt ein Waſſergeſpenſt, deſſen Beſchaffenheit die volksthümliche Etymologie verſchiedenartig angiebt. Es hockt dem Vorbeigehenden auf, gleich verwünſchten Geiſtern unter Stegen und Brücken, gerade wie die ſpukenden Dorfhunde und Incubi einem auf den Rücken ſpringen und ſich bis zur Flurgrenze ſchleppen laſſen. Die incubiſchen Hockemänner werden in dem Lande Valois und Picardie Cochomaren genannt. Joh. Prätorius, Blockesberg 1669, pag. 337. Hokuspokus, welches Kant als verdorben aus hoc est corpus erklärte, mag etwa mit dieſem aufhockenden Puck zu thun haben. Im Ballſpiele der aarg. Kinder ruft nämlich der reitende Trüller: es hogget, es bocket, es hôren Pasteten! (es erwarten uns Paſteten). Da der Glarner-Geishirt den Ober-Bleggiſee durchſchwimmen will, beißt ihm der darin hauſende Haggemann das Haupt ab. Kindern, die des Abends zu lange ausbleiben wollen, droht man, der Hoggemâ werde ſie noch holen. Man ſagt denen, die gerne am Waſſer ſpielen: Gang nit a's Wasser, de Hoggemâ zieht di abe! Der Volksglaube giebt in dieſem Falle dem Geſpenſte noch eine lange Fiſcherſchalte, einen Fiſcherhaken und einen langen Pilgerſtab mit gekrümmter Handhabe. Haagen, Hägling wird der männliche Lachs und Salm wegen ſeines krummen Schnabels genannt. Eſcher, Beſchreib. des Zürcherſees 1692, pag. 117. Hägling, ein Zürcher-Seefiſch, fünf bis ſieben Zoll lang. Eſcher, ibid. pag. 111. Die Rheinfiſcher nennen den männlichen Salm Hakenfiſch, das Weibchen Lüdere. Burkhardt, der Kanton Baſel 1, 47. Die Waſſerſpinne führt nebſt der großen Libelle aargauiſch denſelben Namen, jedoch gilt dafür auch Huppemann, von Spinnhuppe (=webe). Das Zürcher-Landgeſpenſt Hakenmann iſt ent-

Digitized by Google

schieden bösartig, auch am Glarner-Wallensee kennt und fürchtet sich jedes Kind vor seinem thurmhohen Haken; mit den Ertrunkenen füttert der Wassergeist seine Fische, die selber wieder so groß sind wie „Tremmel". Reithard, Sag. aus der Schweiz, pag. 532. Dremel gilt auch als ndd. Teufelsname und hat die Bedeutung von Riegel und Höllriegel, ein Scheltname, der auf den satanischen Locki = Grendel führt, welcher sich in Salmsgestalt im Wasserfall verbirgt.

Der Höllhaken ist ein Strudel des Rheinstromes, der bei Rheinfelden über Felsenbänke geht. Seine Namen haben mit der Zeit oft gewechselt. Sonst hieß er Gammerhau, Gaminegg und Adelberg; dann nannte man den aus der Fluth ragenden Felsen den Hellenhaken, und das über ihn strudelnde Gewässer die Wilde und das G'wild. Fischarts Gedicht vom Glückhaften Schiff erklärt sich den Namen nach heute noch giltiger Meinung:

„Dann er genannt ist ein Höllhacken,
„Weil nach den Schiffen er thut zwacken."

Der Volksglaube läßt hier eine Seckinger-Nonne sammt dem Mönche scheitern, der sie im Kahne entführen wollte; als Spukgestalten müßen nun beide ihren dunkeln Tod wiederholen. Wursteisens Basler-Chronik erzählt v. J. 1462, daß hier ein mit Einsiedler-Wallfahrern und Geistlichen überladenes Schiff zerschellte. Alle sechzig Menschen ertranken. Häklimann ist ein an der Ober-Saar im Schilf lauernder Flußgeist, dessen langer Haken die Kinder vom Flusse abhält. Firmenich 2, 562. Im Aargau gilt derselbe Name zugleich dem Teufel. Wenn die Kinder zu Themar, einem hennebergischen Städtlein, in der Werra baden, so schrecken sie sich mit dem Zuruf: Hu, reiß aus, der Hakelmärz kommt! und denken sich darunter einen Wassergeist, der alle sieben Jahre einen Todten haben muß. Bechstein, DSagb. No. 728. Es ist dies also jener Nir, von dem die ndd. Glosse (Diut. 2, 224 b) sagt: Neptunus necker. Aber obiger Name erinnert noch drüber hinaus an den des W. Jägers Hakelberend (Grimm, Myth. 133), denn Wuotan tritt selbst als Wassergeist auf, als Nikarr, Nichus; zugleich auch an den Pelzmärtel (Martinus), so daß hier Hakelmartinus, d. i. ein Mantelmartin sich ergiebt, der mittelst der Zaubergewalt seines Wunschmantels (hakol) sich überall im Fluge hinversetzt, aber ebenso den Leuten aufhockt, um sie als Roß schleunig hinwegzureiten. So soll gerade der Augsburger-Patrizier, welcher Langemantel hieß, Luthern 1518 über den Dahinab zu Augsburg aus der Gefahr entführt haben, wie gleicherweise der fahrende Schüler den gefangenen Herzog Friedrich von Oesterreich auf der Trausnitz mittelst eines dargebotenen Mantels retten wollte: Tschudi 1, 302. Schambach-Müller, ndsächs. Sag. pag. 342 thut des Hakemann als eines kinderraubenden Wassergeistes ausführlich Erwähnung; er führt den Haken, der ihm so eigenthümlich nothwendig ist, wie den spukenden Feldmessern und Brennenden Männern die feurige Meßstange; mit ihm zieht er seine Opfer in die Tiefe, gleichwie sonstige Wassergeister mit Strick, Schlinge und Eisenkette. Die ertrunkene Swanhwita kommt als Ente an einer Kette wieder zum Vorschein. Cavallius-Stephens schwed. Sag., übers. von Oberleitner, pag. 171. Das vom Wassermann geehelichte Mädchen bekommt eine Kette um den Fuß. Hoffmann, schles. Volksl. S. 4. Der

Digitized by Google

große Hut, der auf dem See schwimmt, hängt an einer Grundkette. Märk. Sag. 79 u. 230. Der Hakemann singt verführende Lieder; so singt Wuotans Heer, so singt Horant (Gudrun 367) ein Lied, das er auf dem Meere gehört hat (von der Meerminne).

## 419 a. Das Häggele.

Ein weibliches Gespenst im Freienamte und Luzernerlande hat unter diesem Namen seine eigene Spuknacht, die Häggelennacht. Hagsch, ein Schimpfwort, bezeichnet ein verschmitztes Weib; Hagamsle nennt man ironisch eine Frau, bei deren Beschaffenheit etwas vom Teufelsvogel mit durchblickt. Hägler heißt der unterirdisch von Zofingen nach Aarburg fließende Bach: Abthl. I, No. 6.

## 420. Kindlisfresser

heißt eine Brunnensäule am Kornmarkt zu Bern, welche beschäftigt dargestellt ist, eine Menge sich wehrender Buben in den Rachen zu stecken. Flögel, Gesch. des Groteskkomischen, pag. 13, erwähnt der altrömischen Marionette des Manducus oder Kindleinfressers, die in den atellanischen Comödien und andern öffentlichen Spielen ein Schreckbild vorstellte und bei Aufzügen dazu diente, mit ihrem Zahngeknirsche den Pöbel aus einander zu treiben. In Lyon gab es nach Meldung des Rabelais den Masche-Croute, Rindenkauer, mit dem man gleichfalls den Kindern drohte; er entspricht der Befana der heutigen Italiener, der Tarasca der Spanier, der Croque mitaine der Franzosen und unserm Knecht Rupprecht und Klaubauf. Vielleicht steht zu diesen Fürchtebutzen ebenso die Matze der Walliser.

## 421. Euphemismen statt Teufel.

Euphemismen: Tüfelsparnam! (nom de dieu). Tüfelsparhutte! (par de Hutte = Mistkorb, Tragkorb). Bim Teufacher! (beim tiefen Acker, anstatt Teufel und diacre). Der Tüggeler und Dügsel, der Dieter und Tütschel. Tügybrücke heißt eine sogenannte Teufelsbrücke am Freiburger-Berge Moléson. Alpenrosen 1824, 55. — Bim Teuner und bim Tüner! Bim Daniel! — Vom Wortwerthe des Namens Teufel erzählt H. Bullinger, Chron. Tigur. fol. 4, 26 b: Den 17. Octb. hat man zu Zurzach in Stifft vnd Pfarrkirchen ouch reformiert, vnd alß man die bilder hinwäg thun wolt, thät der Teufel den ersten angriff. Es war aber zu Zurzach ein geschlecht, genant

der Tüfel. Der ermelt Tüfel hat ouch hievor dem Meßiſchen Predicanten offentlich in ſein predig eingeredt. Antwortet der Meßpfaff: du heißeſt Teufel, thuſt wie der Teufel und biſt der Tüfel, darumb will ich nüt mit dir zu ſchaffen haben! — vnd luff hiemit ab der Cantzel.

## 422. Der Tilder und Teller.

In Conr. Meyers Todtentanz, Zürich 1650, Bl. 42, ſpricht der Tod zum Landſtreicher:

Im ſchwartzen Todtenwald ſollſt finden deinen ſitz,
wann dich der Tiller vor mit langem kraut geſpeiſet.

Die Betheuerungsformel „bim Teller" entſpringt daraus. Ein alter Wirth von Ammerswil ließ ſein Portrait mit dieſem ſeinem Lieblingsworte in den Dreißiger-Jahren lithographieren. Ein Spottlied gegen die Schneider (Mittler, Deutſche Volksl. 1855, No. 1532) ſagt:

Und jetzt iſt es beim Teller verboten,
Es darf kein Schneider kein Degen mehr tragen.

In Gerhards von Minden 1370 gedichtetem Aeſop ſteht die weſtfäliſche Formel: wâne gi, dat ik so dilde si? glaubt ihr, ich ſei ſo böſe. Potters Minnen loop (Leiden 1845) gewährt 3, 40 den Spruch: sal die dôcht hoghe staen, diltheit moeter ondergaen: die Bosheit muß zu Gunſten der Zucht vergehen. Mithin iſt diltheit malitia, dilde malus, altn. fordild affectatio. Gangbare Eigennamen ſind Dilther, Dilthei. J. Grimm, in Haupts Ztſchr. 7, 467. Der Steindeckel der Hölle heißt Dillſtein: Myth. 766. Dilldrum, Dolldrum iſt ſowohl Zwergen- als auch Katzenname im Märchen. Kuhn, nordd. Sag. 189, 1. In das toggenburgiſche Flüßchen Neker mündet bei der Schwanzbrücke der Tellerbach. St. Galler-Neujahrsbl. 1832, 18. Beide Wildbäche haben im J. 1831 ihre zwei Brücken niedergeriſſen, und wie der Neker an den Nix, ſo erinnert wohl auch der Tellerbach an einen Teufelsbach.

## 423. Stäbli und Stabi,

urſprünglich ein Knappen- und Botenname, der zum bürgerlichen Geſchlechtsnamen geworden iſt, z. B. die Stäbli in Brugg, die Setzſtab, deren einer ſich in Mellingen gegen den durchreiſenden Zwingli vergieng i. J. 1528. Deliciae urb. Bernæ, pag. 275.

Der Rügſtab accusatio führt auf den Solothurner-Gerichts- und Zinstag, welcher der Stabtag heißt; daher das mundartliche Verbum ſtäbele, eidlich beſchwören. Belege dafür bei Schmeller, Wb. 3, 602. Glücksſtäblin, Name der zaubernden Wünſchelruthe, bei Valerius Anshelm, Bern. Chron. 2, 8. Ein Theil der Brugger-Stadtwaldungen, die der Lärm des

Digitized by Google

W. Heeres durchtobt, heißt das Stäblishölzli: Aarg.-Sag. Abthl. W. Heer, No. 144. Stäbli, Steppchen, gilt auch in Norddeutschland als Teufelsname: Abracadabra, Weimar 1843, 255. In Antons Wb. der Gaunersprache, Magdeburg 1843, 64 ist Stäpchen der Satan. Stepke, Fü'rdrâk, Mertche in derselben Anwendung: Sommer, thüring. Sag. No. 30. Kuhn, nordd. Sag. pag. 422. 520. Wie es einen dummen Teufel giebt, so hat auch unsere Mundart einen Stabi, Tölpel.

---

## 424.

Unterschiedliche fernere Namen des Teufels sind:

Gugger (Kukuk), in der Bedeutung von Geier. Die Bedeutung, welche diese beiden Vögel im Volksglauben haben, ist erklärt: Abthl. Zauberthiere; ferner Alemann. Kinderl. Abthl. I, 8: Redende Thiere.

Rebhansel, Rebmesserli, Rebhund, Trübelhund. Der im freien Walde hausende Gott wird dadurch zum Weinberg-Gespenste und Traubenhüter. Heulen wie ein Trübelhund, bedeutet ein überaus heftiges, ein entsetzliches Geheule.

In den Fasnachtspielen aus dem 15. Jahrh. (Biblioth. des Lit. Vereins, Band 30, pag. 1243) wird zu dem in der Neujahrsnacht an der Hausthüre klopfenden Liebhaber gesagt: hat dich der reben-henslin pissen? bist du weintrunken oder in Teufelsangst, daß du so pocheſt.

Prögeler. Man erklärt sich's aus prögen: prahlen, foppen. Auch der Strohmann, den man allzu stolzen Dorfmädchen zur Schande Nachts auf ihr Dach stellt, trägt denselben Namen.

Butz und Benz. Ueber die an Neujahr und Fasnacht übliche Brodpuppe Chridibenz handelt Oberdeutsches Gebildbrod No. 7.

Butz ist allgemeiner Name für Gespenst, Larve und Unhold. „es mag nyeman lang ein butzen antlit tragen, er tragt es wol ein stund vnd dieselb weil scheynet er im butzen antlüt," predigt Geiler, Seel-Paradies, Bl. 227 b, über die Maskeraden. Es ist Butz wie Benz: einer so schlimm, einer so wüst wie der andere.

So heißt auch Butze wie Poppel, beides: der Anklopfende und der Unflätige. Myth. 475. Die Ritterstatue auf dem Marktbrunnen zu Biel, Kant. Bern, heißt Benz. Der Penz war das Ingolstädter-Stadtgespenst. Schmeller, Wb. 1, 183.

---

## 425. Wouwou.

Der Wauwau vertritt bei uns den Knecht Ruprecht (Stalder 2, 438) und sein Himmel ist da, wo die Engel Wauwau singen und sich die Tabakspfeifen mit den eignen Schwänzen anzünden. Vgl. Schmid,

Wb. 520. Der Name geht durch unsere modernen Sprachen. Das Schreckbild heißt ital. baubau, far baubau alli fanciulli; altfranz. Barbuaud, Popanz; holländ. een Bitebau. Flögel, Groteskkomisches pag. 18. Wie der romanische Bündner ein Gespenst Vut hat, so kennt auch das Patois des Waatländers einen Sturmgeist Vaud, dessen Begleiter die tanzenden Hexenmeister Vaudais sind. Er kommt die Rhone herab gestürmt, in der Hand ein Schwert haltend, in der andern eine goldne Kugel, und ruft: rigou, hai ousson! Strom, hebe dich empor! Dann hob sich einmal die Rhone und riß einen Theil von St. Moriz hinweg. Vulliemin, Kant. Waat 2, 16. 31. Auch der Scirocco oder Föhnwind, der aus dem Wallis hervor über den Genfersee gefahren kommt, heißt waatländisch Vaudaire. Meyer-Knonau, Erdkunde 2, 258.

Vaud gleicht im Namen ganz jenem Verwüster Oesterreichs, welcher nach Seifried Helblings Beschreibung XV, 750. 774 Woldan heißt und wie ein Sturmwind brennend aus Ungarn bis nach Wien hervorbricht. (Haupt, Ztschr. 4, 238.) Auch sprachlich hält dieses Gleichniß aus: Lotharingisch Vaudemont ist urkundlich Wodani mons. Der waatländische Name des Teufels ist Einvauda. Vulliemin, Kant. Waat 2, 31. Unser alemannisch Wouwou hat sich verdeutlichend in den Teufelsnamen weiter gebildet de alt Wuest, Unflat. Müllenhoff, Schlesw.-Holst. Sag., Vorrede 45 und pag. 369, zeigt die stufenweise Verderbniß, welche mundartlich im Namen Wodan eingetreten ist und wie sich daraus nach und nach ein örtlich geltender Wohl, Woi, Waul und Wau gebildet hat; aus dem Lärmen der anschlagenden Jagdhunde, die den Gott begleiten, ist ihm selbst ein neuer Name Wauwau entstanden. Die Deutschböhmen nennen daher seine Frau die Wauwauin. Rank, Böhmerwald 1843, 136. Es gilt daselbst noch ein Reim, der auch bei uns am Oberrhein verbreitet ist, obschon er seinen hochdeutschen Ursprung verräth. Ein Kiltgänger nämlich trägt sich darin seinem Mädchen als ein Wauwau an und verspricht ihr so die Gaben Wuotans zu überbringen, die in dem Glücksranzen und in der Wunschpfeife bestehen:

Maidli, lue, lue,
iez chunt der Wouwou,
het's Ranzi am rucke
und 's Pfifli im mûl.

Digitized by Google

# X. Heiden- und Römerbauten.

## Alte Deutung von Flur- und Ortsnamen.

### 426. Die Heiden auf den Bilgerhöfen bei Aarau.

In der Gegend der Bilgerhöfe, die droben auf der Wasserscheide des Jura zwischen dem Aarthal und dem Frickthal einsam liegen, hielten sich sonst Heiden auf. Namentlich in des Boppelers Haus hatte eine ganze Familie Unterkunft, und der Ludi, dem damals dies Haus gehörte, war gar nicht unzufrieden über sie, denn ihr Weib, die Heidenmarei, brachte ihm vielerlei Nutzen. Sie gieng häufig nach Oberhofen und Wölfliswil ins Dorf hinab, da hatte sie Brodwürfel an einen langen Faden gebunden und schleppte sie hinter sich her durch die Dorfgasse. Gierig schnappten Hühner und Enten, die so oft der Bauer zu füttern vergißt, nach dem Brodwürfel, und die Heidenmarei zog sie dann am Faden unter die Schürze und machte sich damit staubaus. Gegen etliche Maß Milch vergrub sie den Leuten auch Kräuter unter das Haus und schützte es so gegen Blitzschlag und Feuersbrunst. Erhielt sie auf diese Weise nicht überall die verlangte Milch, so achtete sie darauf, was für Namen die Bauern ihren Kühen gaben; alsdann band sie ihren Kleiderriemen an die Ofenbank, strich unter Wiederholung dieser Kuhnamen melkend am Riemen herunter und erhielt dabei alle Milch jeder einzeln genannten Kuh, während dieser daheim das Euter aufschwoll und die Milch vergieng. Die Heidenmarei lebte mit zwei Männern, dem Heidenseppli und dem Heidentoni. Wenn diese Speck, dürre Schnitze und ähnliches für den Haushalt brauchten, kamen sie hinab in den Pfarrhof nach Wölfliswil, zum Pfarrer Schallämе, der alle Zauberbücher zusammenkaufte und Tag und Nacht darauf studierte, ein Herenmeister zu werden. Gegen einigen Proviant lehrten sie ihn ihre Kunststücke. Als einst sein Sigrist zu ihm ins Zimmer trat, um ihn zum Gottesdienst zu begleiten, hatte der geistliche Herr eben eine Welle Stroh vor sich und bohrte mit einer glühend gemachten Eisenstange darin herum. Der Sigrist fürchtete, das ganze Haus möchte drüber angehen, also nahm er eilig die Strohwelle und warf sie auf den Hof hinaus. Aber lachend kam ihm der Pfarrer nach und trug sie gar in die Zehentscheune hinein. Hier brannte er ein rundes Loch mitten

Digitized by Google

hindurch. Die Strohwelle selbst aber blieb dabei schön ganz. Dies war eines der Kunststücke, das er dem Heidenseppli abgelernt hatte.

Einst waren die zwei Heidenmänner sammt ihrem Weibe auf den Jahrmarkt gegangen und hatten dabei zu viel des Guten im Wein gethan. Auf dem Heimwege geriethen sie mit einander in Zank. Die Heidenmarei wurde des Streites überdrüssig, ließ die Zwei stehen und war lange vor ihnen zu Hause angekommen. Lärmend traten endlich auch die Männer zur Thüre herein und ihr erstes Wort gegen die Marei war, was hast du uns Gutes gekocht. Diese aber blieb trutzig und brummend hinten auf dem Ofensitze und gab ihnen keine Antwort. Da nahm der Heidensepp ein großes Metzgermesser vom Tische und mit den Worten pitsch, patsch! stieß er es ihr mit rückwärts gestellter Hand zweimal in die Brust. Sie stürzte vom Ofen auf den Boden herab und war todt. Die Hausleute waren arg erschrocken und der Ludi sprang auf der Stelle zum Pfarrer hinunter und fragte, was nun zu machen sei. Er erhielt folgende Antwort: Unter der Stuben- und der Hausthürschwelle müßet ihr ein Loch graben, die Alte an den Karst haken, sie drunter hindurch zum Haus hinausziehen und draußen verlochen. Machet ihr's anders, so kommt sie euch wieder und geistert! Der Ludi that dies pünktlich so und verscharrte sie auf der Hargeten-Halde. Dorten geht sie nun als ein großes rothes Schwein um und schnaubt und tobt oft, als ob die ganze Halde herunter fallen müßte. Der Hargeten-Jakob hat sie jüngsthin erst wieder erblickt. Auch ihr Heidenseppli kommt in dem Grabmättli, einem Landstücke bei Oberhof, als ein großer bärtiger Mann auf die Leute los, wird zusehends größer und vertreibt namentlich die Holzbauern aus der nächstgelegenen Staatswaldung, wenn sie dieselbe etwa wie ein Dieb für die ihrige ansehen wollen.

Die Begräbnißweise, welche hier der Pfarrer für das ermordete Heidenweib vorschreibt, findet sich bereits in Bertholds Predigten (Wackernagel, Leseb. 1, 665) und ist dorten vorgeschrieben gegen alle Ketzer. ir sült sie niemer bestaten. „Bruoder Berhtolt, wie süln wir in danne tuon?“ da sült ir nemen ein seil, und machet einen strik dran, und leget im den strik an den fuoz mit einem haken, und ziehent in zuor tür ûz. „Bruoder Berhtolt, ob diu swelle danne hôch ist, wie süllen wir im danne tuon?“ da süllent ir durch die swelle graben und sült in derdurch ûz ziehen; und bindet in eime rosse an den zagel, und füert in ûz an das gewike, dâ die erhangen und die erslagen dâ ligen. — Genau auf solche Art ist ein verhaßter St. Galler-Abt von den Appenzellern zu Grab gebracht worden; es beschreibt's Jld. v. Arx, St. Gall.-Gesch. 1, Zellweger, Appenz.-Gesch. 1. — Ueber den Pfarrer Schalläme vgl. No. 372.

Digitized by Google

## 427. Heidenhäuser.

In vorliegender Sammlung ist von Heidenhäusern mehrfach die Rede in den No. 130. 223. 248. 249. 476.

Hier folgen noch weitere Gebäude dieser Art.

Die Kirche zu Gansingen nennt man Heidenhaus; denn es ist keine Jahreszahl an ihren Pfeilern zu finden und noch niemals hat der Blitz in sie geschlagen. Auch von der großen Kirchenglocke zu Merenschwanden im Freienamte sagt man, sie sei von den Heiden gegossen worden; sie heißt die Alte.

Ein steinernes Bauernhaus mit hohem Feuergiebel, fast mitten im Dorfe Möhlin (Frickthal) stehend, nennt man das Möhliner-Heidenhaus; gegenwärtig bewohnt es die Familie Uerech. Vgl. No. 363.

In dem bei Möhlin benachbart gelegenen Orte Dosenbach, am rechten Rheinufer, steht ein kleines altes Gebäude, das Heidenhüsli; es blieb allein rings in den Flammen unverletzt, die vor wenig Jahren das ganze Dorf verzehrten.

Das ehemalige Wohnhaus des Untervogts von Wohlen (Freienamt) soll aus der Heidenzeit stammen.

„Heiden-Häußlein benennen die Glarner uralte, sonderbar gebauete, an den Felsen klebende Hüttlein, welche wohl die älteste Rudera unseres Landes seyn können." Scheuchzer, Bergreisen pag. 75. In den Wildnissen ob Mollis und Näfels liegen solcherlei Heidenhütten; der Volksglaube redet von Waldbrüdern und fabelhaften Wesen, die noch darinnen wohnen sollen; der Gelehrte meint, Alemannen vor den Hunnen flüchtend, hätten sich darinnen schon vor 900 Jahren geborgen. M. Schuler, Gesch. v. Glarus, pag. 34. Altes Gemäuer in viereckiger Form, wie es auf den unbewohnten Alpen Kuhsittern und am G'heist vorkommt, nennt der Glarner-Senne Heidenstäfeli; viere solcher finden sich dorten auch in einem Seitenthale des Sernfthales auf der Alpe Mühlenbach. Eines liegt eine halbe Stunde über den Alphütten des Ueblithales bei einer Felsenhöhle; ein zweites bei Gambs hinter den Chamwänden; ein drittes an Uebelis gegen das Widdersteinerloch, ein viertes ob den Stelliköpfen (Felsen) am Mühlebachstaffel — alle also in weiter Entlegenheit von den Wohnungen der heutigen Menschen. Blumer-Heer, Kant. Glarus 634. — Franscini, Kant. Tessin, pag. 409, erwähnt des Hauses der Pagani (Heiden) in Nante, gegen Airolo zu gelegen. Dasselbe wird auch Stalvedro, d. i. Alter Thurm, genannt, und man erzählt von einem Gange, der hier unter dem Tessinflusse hinweg führe. — Der Appenzeller heißt jedes niedere hölzerne Haus älterer Bauart, dessen Dachseiten nach Süden und Norden gehen, ein Heidenhaus, und meint, es sei von den Heiden selbst gebaut. Tobler, Sprachsch. 249. Im Berner-Dörflein Hullistall befand sich noch vor wenig Jahren ein Heidenhaus mit dreifach über einander liegenden ausgelaufenen Eichenböden; ein anderes im Bernerdorfe Könitz steht noch. Grundmauer, Keller und Gewölbe desselben sind aus großen Granit- und Gneißstücken aufgeführt und

Digitized by Google

tragen den Charakter des höchsten Alterthums. Im Ueberbau, aus eichenem Gebälke gezimmert und mit Schnitzwerk verziert, hängt unter dem Giebel des Dachgebälkes der Abwender aller Viehseuchen, ein mit Haut, Hörnern und Knochen getrockneter Rindskopf. Jahn, Kant. Bern, 246. 506. Solche Heidenhäuser mit gleichen Symbolen verrathen sich auch in Preußen: Kuhn, nordd. Sag. No. 328; in Schleswig-Holstein: Müllenhoff pag. 239.

---

## 428. Die ledernen Brücken.

Die beiden Burgen zwischen den Städtchen Olten und Aarburg heißen Sälischlößli und Wartburg. Sie liegen sich auf zweien Nachbarhügeln gegenüber und sollen über den Abgrund hin durch eine lederne Brücke in Verbindung gestanden haben. Die Burg Königsstein bei Aarau soll ebenfalls durch eine lederne Brücke mit jenem Schlosse verbunden gewesen sein, dessen Lage man auf der Höhe der gegenüber liegenden Jurawand vermuthet. Das Gleiche behauptet man von den Ruinen zu Oberfrick und Schupfart (Fricktal). Eine silberne und eine eiserne Brücke soll vom Tegerfeldener-Schloßberge aus bis auf den Galgenrain des Zurzacherberges gespannt gewesen sein. Die eiserne mußten diejenigen Unglücklichen wandeln, die der Burgherr in den Tod hinüber schickte. Eine herenhafte Frau saß darauf mit einem Horn auf der Brust und einem auf der Stirne. Die Sage über lederne Brücken haftet auch zwischen der Morgen- und Langenthaler-Gegend. Dort stand neben dem Dorfe Madiswil ein Schloß am Galgenlöhli- oder Isenhubel, wo noch das Galgenlöhlithier brüllt. Von hier aus gieng auf die entgegengesetzte Bergreihe die Lederbrücke, welche man Bysigbrugg nennen hört. Man hatte bei ihrer Erbauung nichts sprechen dürfen. Als sich zuletzt doch noch ein Arbeiter verplauderte, stürzte sie wieder zusammen, und seitdem muß man dort mühsam bergan und bergab ackern und gehen. Ueber den Namen Isenhubel und Bysigbrücke vgl. Anmerkung zu Iseliskilch (Abthl. XI, No. 484).

Von denselben ist vielfältig in den verschiedenen Nummern dieser Sammlung die Rede. So scherzhaft die Erzählung über solcherlei Brücken heute dem gemeinen Manne erscheint, so bestimmt hat er doch ehemals an deren förmliches Vorhandengewesensein geglaubt, und daß er sie wirklich aus Leder gemacht dachte, geht schon aus der Sage vom Königsstein bei Aarau hervor. Abthl. III, No. 120. Burg Rosenstein und die untergegangene Stadt Hochberg auf der schwäb. Alp waren durch eine Lederbrücke verbunden; ebenso die Burgen Kalenberg und Friedingen an der Donau (Bechstein, DSagb. No. 937), gleichfalls die Appenzeller-Schlösser Rosenburg, an der Burghalden, und Rosenberg, oberhalb Ramsen, beide seit dem Treffen bei

Digitized by Google

Vögeliseck 1403 zerstört. Appenzell. Monatsblätter. Dabei werden zweierlei Brücken unterschieden, eine lederne und eine eiserne; die eine führt zu Tod und Verdammniß, die andere zu Leben und Heil. Die Lederbrücke zu Tegerfelden wird geradezu als diejenige genannt, über welche man die Schlachtopfer in ihren Tod geschickt hat. Führt diese Todesbrücke zur Frau mit dem Horn auf der Stirne (wie zu Tegerfelden), so ist letztere die Unterweltsgöttin Hel und vergleicht sich damit noch der Ledernen Frau unter den Kindergespenstern (Abthl. IX, No. 407). Ist die Brücke mit einem Seil gehalten und gespannt, so gleicht dieses dem Wiegen- und dem Deiselseil, dem Glückseingebinde für Täufling und Pathenkind, und dem Langen Faden (örlögthättir), welchen die drei Schicksalsschwestern dem Menschen als Lebensfaden spinnen (Aargauer-Kinderspruch, die drei Mareien, No. 273). Es giebt auch vielfache Sagen von Eisendräthen, welche mit einer schellenden Glocke versehen, bei Nacht über das Thal gespannt sind und dem Wanderer den Weg verlegen. Vgl. Klosterfrau im Morenthal, No. 429. Von einer solchen drathschmalen Höllenbrücke, die dünner als ein Haar, schärfer als die Schwertschneide und mit Dornen auf beiden Seiten besetzt ist, reden auch Juden und Mohamedaner. Man nennt sie gewöhnlich eine Zenne, d. i. Schellenzug. Eine solche verband die Schlösser Botenlaube und Trimberg in Unterfranken miteinander, um sich Zeichen zu geben, wenn Gefahr nahte. Panzer, bayr. Sag. 1, No. 13. 201. Zwischen den Thurgauer-Burgen Bichelsee und Hasenberg trägt ein Eichhorn die Briefe darüber. Felsthal, Sagensch. pag. 72. Vgl. ferner: Tettau-Temme, preuß. Sag. No. 242. Meier, schwäb. Sag. No. 182. Müllenhoff, Schlesw. Sag. pag. 592, Anmerk. No. 25, 2. Man sang in Nordengland bei den Leichenwachen ein Lied über diese „Angstbrücke", gerade so wie der Niersteinische Todtensegen „vom Schmalen Steg" betet. Wolf, Ztschr. 1, 110. — Weil der Teufel schwarz wie ein Mohr ist (Wolframs Parzival), so heißt der Schauplatz, auf dem sie steht, bei uns Morenthal; und Räuber lauern bei ihr, weil der tôt roubet (Nib. 2163), weil der Tod kommt wie ein Dieb in der Nacht. Ueber diese Todtenwege: Myth. 794. 795. 803. Weil der Teufel in der Tiefe wohnt, in unterirdischen Küchen und Kellern, so liegt eine solche Brücke gewöhnlich auch in der Nähe eines Teufelskellers, oder sie mündet wenigstens in einen Burgkeller. Die Stelle in Brants Narrenschiff, cap. 3: faren zuom linstren keller, giebt Brants Interpolator mit der Phrase wieder: „über die lange bruck. Narrenschiff, ed. Zarncke. Zum Beweise, daß diese ledernen Brücken nicht gänzlich aus der Luft gegriffen, sondern wahrscheinlich Seilbrücken gewesen sind, kann man an die ledernen Kanonen erinnern, die Gustav Adolf in der Schlacht bei Leipzig brauchte, nachdem sie Melchior von Wurmbrand beim schwedischen Heere eingeführt hatte; sie bestanden aus einer kupfernen Geschützröhre, diese wurde mit Tauwerk und Leinwandstreifen so lange umwickelt, und mit mehrern Lagen Firniß überdeckt, bis die Kanone am Bodenstück so dick als ihr ganzer Durchmesser war. Dieses alles wurde mit einem starken gesottenen Leder überzogen, das gefärbt, auch vergoldet war. Die noch im Zürcher-Waffensaale vorhandenen ledernen Kanonen beschreibt: Zürch. Neujahrsbl. der Feuerwerker 1852, 64.

Digitized by Google

## 429. Die Klosterfrau im Morenthal.

Morenthal heißen einige Höfe oberhalb dem Dorfe und Kloster Hermetschwil; sie sollen früher Mörderthal geheißen haben. Man zeigt an der dortigen Landstraße Gruben, worin die Räuber schliefen und ein Seil oder einen Drath über den Weg gespannt hatten, woran eine Glocke schellte, so oft ein nächtlicher Wanderer an den verlegten Paß stieß. Nachmals soll dort eine Nonne häufig erschienen sein, die einen Bund Schlüssel trug. Das Volk schloß daraus, daß sie das Beschließeramt im benachbarten Kloster Hermetschwil verwaltet habe, und nannte sie daher die Meisterin. Den Grund, warum sie hier wandeln müße, schob man auf die ungerechten Prozesse, womit das Kloster den umliegenden Gemeinden die besten Grundstücke nach und nach abzustreiten wußte. Die Erscheinung war nicht eben gefürchtet, doch benahm sie sich boshaft und schadenfroh; sie warf gewöhnlich Steine nach den Leuten; so begegnete es hier einem Knechte, als er zur Aerntezeit schnitt. Auf wiederholte Beschwerden des Landvolkes verpflichtete sich zuletzt das Frauenkloster, die Erscheinung zur Ruhe zu bringen; sie wurde in einen nahen Wasserfall gebannt, den man ihretwegen wohl noch jetzt gern vermeidet; jährlich aber ließen die Nonnen zur bestimmten Frist eine gewisse Anzahl Klosterbrode als Entgelt in die Nachbar-Gemeinden vertheilen. Auch begegnete hier einem Manne einmal ein kleines grünes Männchen mit einem Spaten in der Hand, das sich anzuschicken schien, hier den Boden umzugraben. Allein bald lief's ziemlich weit mit ihm des Weges und hatte sich unaufhörlich zu ernießen. Immer wünschte ihm der Mann ein Helfdirgott! wohl siebenmal so fort. Als er aber beim achten Nießen bloß mit einem Fluch herausfuhr, brach das Männchen in Wehklagen aus und bejammerte sein Loos, daß es nun wieder fort und fort drunten in den Wiesgründen Wassergräben stechen müße.

Bd. 1, No. 178 ist von einer Waldschlucht die Rede, welche durch Räuber mittelst künstlich gespannter Dräthe gesperrt und so den nächtlich Durchreisenden zum Verderben wurde. Diese Dräthe heißen Zehn und Zain. Zaineisen ist Stangeneisen, Zaingitter ein Drathgitter. Ortsnamen, wie fränkisch Langenzenn, Zainach (Schmeller, Wb. 4, 264), aargauisch Zeiningen, Zeinlematthof, Zinzikon (Kant. Zürich) weisen auf die mit Weidengeflechte eingefriedete Flur. Die Sage über die durch einen Drathzug verbundenen Nachbarburgen (Panzer, bayr. Sag. 1, No. 201) sind so häufig wie diejenigen über die Ledernen Brücken. Beides drückt den schwanken Todesweg aus, den die eben abgeschiedene Seele zwischen Himmel und Hölle zu wandeln hat. Die Juden reden von einer drathschmalen Höllenbrücke, die Muhamedaner von einer solchen, die dünner als ein Haar, schärfer als ein Schwert, glühender als Schmiedeisen über den Höllenabgrund führt, die

Digitized by Google

Parsen nennen sie Chinvat, und unsere Ahnen pflegen zur Ruhe ihrer Seele Brücken bauen zu lassen. Daher die vielerlei unter Brücken verwünscht sitzenden und sich ernießenden Wassergeister, von denen schon Bd. 1, pag. 57 die Rede ist.

## 430. Des Teufels Wohnorte.

Der Teufel hat vielerlei und verschieden geheißene Wohnorte im Aargauer-Lande. Ein Teufelsloch hat er am Heitersberg beim Egelsee. No. 8. pag. 9. Ein gleiches liegt, laut Zinsrodel der Klingnauer Probstei vom J. 1664, in der Zelgen des Klingnauer Bannes. Eine Höhle des Hasenberges bei Bergdietikon dient dem Teufel noch jetzt zum Ein- und Ausgang und heißt ebenfalls das Teufelsloch. Des Teufels Roßstall liegt bei Dürrenäsch (No. 99), und in der Nähe ist auch des Teufels Tanzplatz, Bd. 1, pag. 112. Teufelsbrücke heißt 1) eine Felswand oben an der Schloßruine Tegerfelden (No. 167); 2) eine Felsbank, die bei Windisch durch die Reuß geht. Ein Teufelsbord liegt an der Teufelsstraße am Dägerbache, im Bezirk Zurzach (No. 145). Die Teufelsmatte liegt an einem Arm der Aare, im Rainer-Gemeindebann; der Teufelsstein ist bei Reutenen; der Teufels Tanzplatz bei Birrwil (No. 99). Eine Teufelsküche ist 1) in Schinznach, 2) am Achenberge bei Zurzach. Der Teufelskeller liegt am Kreuzliberg bei Baden (No. 431) und drinnen in dieser Schlucht heißt ein gewaltiger Felskegel die Teufelskanzel; ein zweiter Fels dieses Namens, auch Geißenkanzel geheißen, liegt bei Schinznach; ein dritter bei Tegerfelden (No. 220). Ebenso zahlreich sind zugleich die Namen, unter denen im Lande der Teufel noch angeführt wird. Sie stehen verzeichnet von No. 413a an. Ueber den Teufel im Freienamt giebt es folgenden Spruch:

z'Müswange hend's de tüfel g'fange.
wo se ne hend lo goh,
hend ne d'Hemmiker gno.
do chunt er ûf Nieli, *)
döt gent s'ehm mit em bîli;
z'Jone thüend s'ehm flohne.
z'Bremgarte lönd s'en nit warte,
gent ehm e paar chnüss
und g'heien-e i d'Rüss,
und b'hebn-e mit der gable
und lönd ne so verzabble.

*) Dorf Lieli am Heitersberg.

Digitized by Google

## 431. Der Teufelskeller auf dem Kreuzliberg zu Baden.

Unweit von Badens oberm Thore steht der Gasthof zur Linde, ihm gegenüber das Klösterchen Mariä Krönung. Nahe bei diesem, etwa 600 Fuß vom Thore, führt ein Fußweg bergan auf den Kreuzberg. Von seinem Bergscheitel aus erblickt man in südöstlicher Richtung eine Senkung; und es eröffnet sich hier ein wildes, rauhes Thal, um welches hohe Bergwände einen Halbkreis bilden. Mitten aus dem Abgrunde erhebt sich eine fünfzig Fuß hohe Säule von Nagelfluh, welche mit ihrem Tannengebüsche auf dem Haupte einem alten Schloßthurme auffallend ähnlich ist. Das ist die Teufelskanzel, von welcher herab der Teufel sonst gepredigt haben soll. Zerstreute, eingesunkene Nagelfluhtrümmer gleichen hier zerfallenen Burgmauern; nur Moos und magere Gesträuche finden ein dürftiges Fortkommen; die Leute sagen, man höre hier bisweilen einen dumpfen Gesang, oder ein klägliches Geschrei. Nicht ohne einige Scheu steigt man in diesen Abgrund hinunter, von alten Zeiten her der „Teufelskeller" genannt; seine Steinbrocken sind aus den Urgebirgen von Glarus und Graubünden zusammengerollt, er ist eine Ruine der Sündfluth, und bietet jetzt einen wasserleeren Schlupfwinkel den Habichten und Uhus, Nattern und lechzenden Eidechsen, Füchsen und wilden Katzen. (D. Heß, Badenfahrt S. 441. 446. — Bronner, Kant. Aargau I. S. 212 u. 206).

Teufelssteine, — brücken, — kirchen, — mauern, — ketten, — kanzeln verzeichnet Grimm, Myth. 974 ff. Panzer, bayrische Sagen 2, 436. Bechstein, DSagb. No. 441. 769. Eine Teufelskanzel wird auch jenes allbekannte Känzeli am Rigi gewesen sein, das in der Nähe des Kalten Bades bei einer Kapelle gelegen ist, zu welcher die drei Schwestern dem Versucher entflohen. Teufelsküche heißt eine Höhle beim Dorfe Beringen, deren Tiefe noch unerforscht ist. Im Thurn, Kant. Schaffhausen. 157. Des Teufels Kirche heißt ein Tuffsteinbruch der Stadt Winterthur. NeujahrsBl. 1840, 76. An derjenigen Teufelsbrücke des Kant. Schwyz, die zwischen Einsiedeln und Rapperschwil gelegen ist, zeigt man ein Wohnhaus, in dem der vielnamige Dr. Theophrastus Paracelsus geboren sein soll. Meyer-Knonau, schweiz. Erdkunde 1, 344. Ueber die Schrätteleinskanzeln handelt die Abthl. V, pag. 357.

---

## 432. Schnellert am Bötzberge.

Auf dem Bötzberge, einem alten Jurapasse, der aus dem Frickthale ins Aarthal nach Brugg führt, nennt man eine gespenstische Erscheinung, welche beim Dorfe Unterbötzberg im Dickicht des verrufenen Vellentloches spukt, den Schnellert.

Digitized by Google

Dies wird der dritte dieses Namens sein, den man in der deutschen Sage bisher mit bestimmten Local aufgefunden hat. Wolf hat in den hess. Sagen den Odenwälder-Burggeist Schnellerts als den Wuotan erkannt, und in den Beiträgen nachgewiesen 1, 11: daß derselbe mit dem unsichtbar machenden Mantel und dem überall hin versetzenden Wünschelhut jener alldurchdringende, allwaltende Gott sei, der nordisch Svidhr, bei uns Schnellert genannt wird. In der bayr. Oberpfalz liegt an der Straße nach böhmisch Eger der Glasberg, dessen Basaltspitze gleichfalls Schneller heißt und sich manchmal mit einem verzauberten Schlosse krönt. Man sagt daher scherzweise in der Umgegend: Ich hol mir mein Geld vom Schneller, vom Schnellermännel am Schnellerschloß. Panzer, bayr. Sage 2, No. 190. Bezeichnend ist es auch, daß in der Gauner- und Diebssprache Schneller der Jäger genannt wird. Vgl. des Gendarmerie-Sekretär F. C. Anton Wörterbuch der Gauner- und Diebs-Spr. Magdeb. 1843 pag. 62. Im Markgrafen von Limburg wird ein ungeheurer Geist Snellaart genannt. Grimm, Myth. 892 sieht Snelhart, des Schnellharts Haus in der Namensform Schnellerts. Die Gotthardkärrner, die ihre zweirädrige Lastwägelein selber ziehen, nennt der Urner gleichfalls Schneller (Lusser, Kant. Uri 4. 61). Ludwig Fronspergers Kriegsbuch nennt die Stück- und Zeugknechte der Artillerie Schneller: „sie helfen die Züge aufrichten, damit man die großen Büchsen von einem Wagen auf den andern hebt und die Büchsen, so oft es noth ist, helfen schmieren; sie laden den Ladzeug auf und ab und warten, wenn man im Ziehen ist, auf die großen Stücke, um Hand anzulegen." Zürch. NeujahrsBl. der Feuerwerker 1850, 10. Außerdem ist schnellen, eine Last mit außergewöhnlicher Maschinenkraft loslassen, Schnall der Augenblick, das Schnappen eines Hundes, im Schnall: im Nu, blitzschnell. Stalder 2, 339. Der Name entspricht also der geisterhaften Geschwindigkeit.

---

## 433. Die Teufelsburdi.

So nennt man einen Stein, der auf dem Hügel gleichen Namens etwa eine Halbviertelstunde oberhalb Bremgarten an der Zuger Landstraße liegt. Er ist jetzt größtentheils gesprengt. und weggeschafft. In seiner Nachbarschaft steht eine Kapelle zum hl. Antonius. Als dieses Kirchlein gebaut werden sollte, war der Teufel besonders darüber erbost, daß man es dem hl. Antonius weihen wollte, mit dem er seiner Lebtage schon so viele Streitigkeiten gehabt hatte und die alle so schlecht für ihn abgelaufen waren. Er beschloß also, den Bau radikal zu zerstören und kam daher mit einer großen Erd- und Steinmasse durch die Luft herbeigeflogen, um das Kirchlein mit einemmal unter Schutt zu begraben.

Als er aber nun auf der Landstraße vor dem Hügel dastand, konnte er weder den Anblick des Kirchleins länger aushalten, noch

Digitized by Google

seine schwere Steinmasse weiter schaffen; er mußte alles zusammen fallen lassen, und von daher schreibt sich dieser Hügel und sein Namen.

Auch bei Bern trägt ein Stein den Namen Teufelsburdi, welchen der Satan dorten vergeblich gegen die Stadt geschleudert hat. R. Wyß hat diese Sage in den Alpenrosen bedichtet. Andere Sagen gleicher Art, vgl. Myth. 974. Mittelst Steinwurfs läßt der Rechtsbrauch strittig gewordene Bauten einstellen. Grimm, RA. 181.

---

## 434. Teufelsbeschwörung.

In Schwaderloch ûf em Weidhof händ sie æmel de Bös zwinge wölle, dass er ehne e stande voll geld gäb. d'stande händ sie z'mitts i d'stube gstellt und ihre sechse e chreis drum gschlosse. wo sie ag'fange händ bäte, ist d'stande voll chriesi-stei worde. derno hät dûsse öpper a d'thür chlopfet, aber niemer hät dörfe ûfthue. drûf ist d'stande zesprunge. (A. Birrcher in Laufenburg.)

In den „Heidengräbern" hat man in der Neuzeit neben einer bedeutenden Zahl irdener Geschirre, Schüsseln und Krüge, auch große eherne Kessel aufgefunden. Vielleicht daß der Grabhügel, der oberhalb der Kirche zu Stäfa liegt und zu einer Höhe von 50 Fuß ansteigt, seinen Namen Kessihübel eben daher trägt. Alle diese Kessel haben eine bedeutende Größe und halten bis 20 Maß. Zürch. Antiquar. Mittheil. 1847, pag. 69. 86. Auf einen solchen in der Tiefe liegenden Geisterkessel deutet hier die Sage von der Stande hin; auch die Angabe ist keine zufällige, die Stande sei mit Kirschkernen angefüllt gewesen. Stein- und Kernobst wurde den Leichen mit ins Grab gegeben. Aehnliches erzählt bereits Bullinger, Reformat. Gesch. 1, 161. Da man auf Beschluß des reformirenden Rathes zu Zürich die Reliquien aus den Kirchen entfernt, muß man auch an die Untersuchung derjenigen Särge gehen, in denen die beiden Stadtpatrone Felix und Regula beigesetzt sind: „man fand wenigs gebeins darin, ouch kohlen, ziegelstein vnd ein haselnuß mitt eim löchlj." Aehnliches bei Bluntschli, Memorab. Tigur. (Zürich 1742) 339. W. Menzel fand in den von ihm untersuchten Heidengräbern zu Lupfen und Oberflacht bei Tuttlingen in einem Grabe eine Wälschnuß nebst 18 Haselnüssen, in einem andern in einer Holzschale 32 Haselnüsse, in einem dritten stand zu Füßen des Gerippes ein Krug mit 55 Haselnüssen. Man kann diese auf die Zahl der Lebensjahre deuten, die der Bestattete erreicht hatte; aber die Frucht und der Zweig der Haselstaude war und ist noch jetzt geheiligt, wie die Wünschelruthe und, neben vielerlei bekannten Bräuchen, namentlich auch das Ausstreuen von Nüssen und Aepfeln am Nikolaus- und Weihnachtsabend beweist. Zu den Belegen, die Mannhardt in Wolfs Ztschr. 3, 95 ff. dafür giebt, daß die Nuß das Symbol Frô-Donars sei, des belebenden und des tödtenden Gottes, gehört auch unser Aargau. Brauch, 1) am Jahrestage der städtischen Schützenzünfte Nüsse aus den Fenstern des Zunfthauses

Digitized by Google

auf die Knaben herab zu schütten; 2) die Nüsse der letzten Aernte bis zur Chilbi (Kirchweihe) aufzusparen, um sie dann in der Familie oder in Gesellschaft zu verspielen. 3) Nüsse jenem Mädchen zu bringen oder scherzhaft anzubieten, das man zum Chiltgange besucht. Dem Treffschützen und dem Liebesschützen kommt somit die Nuß zu; der Nußbaum gilt uns als Grabstätte, und das liebebegehrende Mädchen (im Volksliede) bespricht sich mit der Haselstaude. Das erlösungssuchende Hügelimaidli No. 119 ruft klagend: Wenn meine Krähe keine Nuß fallen läßt, so wächst mein Baum nicht! Wenn mein Baum nicht umgehauen wird, so hat mein Kind keine Wiege, und wenn mein Kind nicht schlafen kann, so wächst mein Erlöser nicht! Nach No. 136 e schwärmen in einem Walde so viel Geister, daß man, wenn man jedem nur eine Nuß geben wollte, an einem ganzen Sack voll nicht genug hätte. Nach No. 260 stiehlt der Dorfgeist dem Büchsenschmied die letzte Weihnachtsnuß aus der Kiste.

---

## 435. Der Wirtel in der Aare bei Besserstein.

Riesen waren die Erbauer des Schlosses Besserstein, das in Ruinen auf dem Geisberge unfern der Aare bei Villigen liegt. Zum Burgbau warfen sie sich die Felsen der Stampfenfluh, des Gaben- und Rothberges wie Bälle zu von Hand zu Hand. Ein ausgerissener Baumstamm war ihr Wanderstab, und Aare und Reuß durchschritten sie so gemächlich, daß dabei nicht einmal der Saum ihrer groben Baströcke naß wurde. Zeigte sich aber ein Kaufmannsschiff unten im Strom, so hoben sie es mit dem langen Arme aus dem Wasser und raubten es aus. War eines ja einmal unbemerkt an ihnen vorbeigekommen, so griffen sie vom Burgwall herab mit ihren eisenbeschlagenen Fingernägeln ihm so hart nach, daß es durchlöchert augenblicklich versank. Dann gieng es oben an ein Zechen und Schmausen des jungen Riesenvolkes, und die Altmutter saß mit beim Gelage und spann. Ihr Rockenstiel war ein Baum, daran kollerte als Wirtel ein gewaltiger Findlingsstein. An diesem Wirtel hieng jedoch das Geschick des ganzen Geschlechtes; darum verwahrte ihn das Weib stets selber, ehe sie sich schlafen legte. So saß sie draußen auf der Schloßmauer einst im Sonnenschein und spann, während der Mann neben ihr müßig auf den Fluß hinablauerte. Da sieht er drüben am jenseitigen Flußufer das Aarweib baden und legt sich, sie zu betrachten, weit über die Felsenwand vor. Sobald dies die Riesin gewahrt, schleudert sie mit eifersüchtigem Grimm ihren Wirtel nach jenem Wasserweibe hinüber. Der Stein trifft in den Strom, die Wellen spritzen bis zum Schloß auf, und an der Stelle des verschwundenen Aarweibes starrt drüben der Wirtel als Felsstück aus

Digitized by Google

dem Flusse. Der Riese sieht seines Geschlechtes Talisman verloren und ergreift sein Weib, um es zur Strafe dem Wirtel nachzustürzen. Ringend hält sie ihn umklammert, im Sturze reißt sie ihn mit und Beide versinken zusammen. — Wenn die Kinder fragen, wann dies geschehen sei, so lautet darauf die Antwort: das geschah zu jener Zeit, da die Jurabienen Honigscheiben bauten, die so groß waren, wie die Stadtthore von Brugg, und da die Kühe so viel Milch gaben, daß man sie nicht in die Gelten, sondern nur in die Weiher melken konnte. Des Sennen Handbube fuhr dann in einem eignen Weidling Abends drinnen herum, um den Rahm abzunehmen; aber er trieb's zu unachtsam, stieß mit dem Kahn an einen Ankenballen (Butterballen) und ertrank. Jetzt ist von all der Herrlichkeit nichts mehr übrig als dieser todbringende Ankenballen, der noch allenthalben im Jura steht, aber in einen Spitzfelsen verwandelt ist und da gewöhnlich die Hinterseite ärmlicher Sennhäuser bilden helfen muß.

Die hundertjährige Dame zu Alsen warf dem Liebhaber, der sie verließ, Steine nach bis über den Flensburger Meerbusen. Müllenhoff, Schlesw. Holst. Sag. pag. 270. Die Landmark, welche Elsaß von Lothringen trennt, heißt die Kunkel. quenouille de la Fée heißt die uralte Grenze, zwischen Chavannes und Simandre in Burgund, wo Dép. du Jura und de l'Ain an einander reichen. Ein höheres Wesen hat den ungeheuern Felsgrat unter seinem Arm dorten herangetragen. J. Grimm, Grenz-Alterthümer. Abhandl. der Berlin. Akad. 1845. 117. Felsen, von boshaften Riesen zum Verderben verschleudert: Myth. 974. Zu Ste. Hélène, Dép. Lozère zeigt man einen Felsen lou Bertel (ital. berticello, Wirtel) de las fadas (der Feen). Die sogenannten localen Spielsteine und Chriemhildenspiele sind gleichfalls solche Steinkunkeln und bedeuten fusus, nicht ludus. Vgl. unsere Abthl. I., No. 39 „der Schwarze in der Au." Ein gußeisernes Götzenbild von 280 Pfund Gewicht diente in Bayern als Wirtel zum Werfen und heißt darnach der Wirdige, d. i. Wirting. Panzer, bayr. Sag. 2, 390.

## 436. s'Tüfels Erbsmuess.

Bîm stærchste Schneeg'hudel chunt e arme Bûr hei und setzt si ûf en Bank zun warme Ofe zue. Wie ist der gangä i der Stadt, ass de so drî luegst? frogt en d'Frau. Schlæcht gnueg, seit de betrüebt Ma; los iez numme, i will der alls erzelle, aber z'erst muess i gwüss no es bitzeli Wærme ha, denn i bi schier halb verfrore. Bî Wind und Wætter — he, de weist jo wol, wie's hüt abeg'macht hed, wo-n-i do furt bi — chummi denn i d'Stadt zu eusem Hêr und säg'em, dass mer unmœgli sei, die drühundert Franke bis am Suntig ûfz'bringe. I hanne bittet und

bættet, er mœcht mer doch au no Zît ge bis im Summer, denn bis dethi werdit mer d'Lüt mi Schmidtearbet wol zahle. Er aber seit, er chœn e kei Minute lenger warte, as bis am Suntig; und wenn i bis denn 's Gæld nid bring, so læss er mer 's Hûs und Hei, sammt mîner chlîne Schmidte am Mendig verchaufe, und mi und di und alle Chind zum Hûs ûsjage.

Jez, wa meinist, Frau? Es ist umœgli, dass mir bis übermorn drühundert Franke zämme bringe. Zwor het mer do euse Nochber sächzig Franke ge, aber es blîbit mer doch no immer die andere 240 übrig. Wenn mer z'letzt doch nur de Tüfel 's Gæld is Hûs brung! Wenn i em scho müesst e par Johr diene, so wer i doch denn eusen Her ab, und der leidig Tüfel i der Hell cha jo au nit ærger sî, as de det i der Stadt!

Chûm het der Ma das gseit, so het's scho dûsse afoh brûse und stürme, dass dem arme Bûr schier sîs Hüsli umgrüert het, und der Wind het dur's Hûs ûf und ab kutet und pfiffe, dass es e Grûs gsi ist. Wo das nô e par Minute ûfghört het, so ghört de Bûr und sî Frau, dass öppæ a der Thüri chlopfet. Gschwind goht de Bûr ûse, macht ûf und do stoht e schwarze Ma immenä rothe Mantel vor der Thür und seit: Næ, Bûr, de hest vorig gweuscht, wenn der doch de Tüfel numme Gæld brung; jetze lueg, do sind 240 Franke funkelneu, 's fehlt si kei Rappe dra, zell's nur. aber holla! eb der's gibe, muesst mer verspræche, mit mer z'cho und sächs Johr bî mer i der Hell z'diene. Unterdesse wird d'Frau und dîne Chind ni Mangel a öppis ha.

De Bûr verschrocke, weder vo Noth drunge, seit Jo und gheisst de Tüfel îe cho und si am Ofe wärme, bis er au sîne par Hœmli zämme packt heig, um mit em i d'Hell z'go. Währed dem gseht er, ass de Tüfel am einte Rossfuess es Ise verlore het und seit: guete Fründ, luegid e chli eue Fuesswerch a, er händ, glaub, ûf em Wæg es Ise verheit. Wenn er wænd, so chömid mit mer i d'Schmidte îe, i will ech es neus ûfmache. De Tüfel hed de Ma scho lang as e guete Huofschmiedt känntt, goht mit em und zieht no sælber de Blôsbalg. Wo 's Ise rächt gsi ist, so seit der Bûr: händ iez de Fuess äne und do i die Chlemme îe, damit i s'Ise besser ûfmache cha; denn i weiss wol, rächte Lüt münd au guet bedient sî. De Tüfel dænkt do nüd Bœses, hed de Fuess i d'Chlemme îe, und de Bûr schrûbet em e î, nimmt aber de Schrûbeschlüssel i Sack und seit: So, Gvatter Schwarz, iez wämmer erst luege, wie lang i der für die 240 Franke diene will!



Digitized by Google

Uf das ist halt de Hœrndlima bös worde und het tho wie ne Wüthige; doch het er z'letzt nôchgê und ist mit em Bûr übereis cho, dass er em nur drü Johr diene müess. Sobald de Bûr de Tüfel wieder los g'schrûbet hed, so hed er müesse mit em i d'Hell fahre.

Wo si mit enand det hi cho sind, so stellt de Tüfel de Bûr grad as e Fü'rschürgler a. Am zweute Tag goht der Schwarz mit der Ellermueter furt und seit zue-nem: Wenn d'trinke oder ässe witt, oder wenn d'öppe Gæld brûchst für en arme Ma, der di drum bittet, so gang nur det zu sällem Chistli und sæg:

Chistli, Chistli mî,
Gimmer Brod und Wî,
Alls ûf's Tüfels G'heiss:
I der Hell isch heiss!

Und was dîs Herz nur wünscht, sell wird enanderigsnô i goldige Blatte und Flæsche zue dîne Füessi si. Wo de Tüfel furt goht, so ist euses Bürli no elei i der Hell gsi und het si denkt: Jez witt au e mol luege, was ächt i dene grosse Chessene inne ist, wo-n-i allewîl drunter muess fü're. Bim letzte, wo-n-er ûfdeckt, gseht er au-ne so ne Donnersgläubiger, der e vor e par Johre drückt und drængt hed; und voll Zorn leit de Bûr gschwind no sächs Schîter a und seit zu dem alte Schœlm: Wart, i will der iez s'Bad scho heiss mache, de hest mi au mængist z'schwitze gmacht! Am dritte Tag kommt denn der Tüfel wieder hei. Do seit de Bûr zue-n-em: Loset, mi liebe Rothmantel, i euer Burg do inne rücht's, es ist e Grûs, d'Auge ha-n-i der ganz Tag voll Wasser gha; und i sött gwüss no einisch hei, mîs Fazenettli go reiche, damit i au cha d'Augen ûswüsche und 's Mûl verb'hah, wenn's e so galgenräss rücht.

Drûf het de Tüfel d'Stirne g'runzlet und gseit: Los, Bûr, i känn di, de bist en Arige; ellei cha i di nit hei loh, sust chönntist mer öppe nümme ume cho — weder es Fazenettli sottisch ha, das gseh-ni î, sust chönntist-e-mer no blind werde; drum ist es am beste, me göhnd mit enand.

No-ne par Stund chunt denn de Bûr mit em Rothmantel wieder zu sîm alte Hüsli z'rugg, wo d'Frau und d'Chind no trûret und brieget hænd um ihren Aetti. De lang Wæg und das gschwind Laufe händ aber de Bûr wie de Tüfel hungrig gmacht, drum het der Ghörndlet gseit: Säg au dîner Frau, si söll eus Zween es Erbsmuess überthue und choche, aber von lûter schwarzen Erbse. Der Bûr seits, befillt ere aber, au no vo dene Wiss-

Digitized by Google

Erbs drî z'thue, wo nem einist um Fraufaste im Schlof ûf's Bett grüert worde sîge mit dene Worte „do hesch e Nothpfenning". Se ligge det oben — seit ere — ûf der Himlezzi (Balkenkopf der Diele) im ene Papierli. Wo 's Erbsmuess lind g'chochet gsi isch, so sitzid denn die zwee Reisede zue, und de Bûr schœpft dem Tüfel ûse und gid em mit Flîss de wîsse Erbs demit. Wie de Rothmantel de wîss Erbs gseht, so het er erschröckeli gfluecht und g'schwore. Aber was gscheht? De wîss Erbs wird e länger e grösser und verspringt zletzt, und es fahrt e ganze Hûfe wîsse mit silberige Dœrndlene b'setzte Erbsli dem Tüfel is Gfreess und händ ne so jämmerli verstoche, asse vor Weh lût ûf brüelet hed. De Bûr b'sinnt si nid lang und seit: Wen d'mer alle mîne drü Johr erlohst und mer 's Weusch-Chistli gist und versprichst, mir und de Mînige nie nüd az'thue, so will i di erlœse. — Vo der Noth zwunge, schreit de Tüfel, jo frîli! Und wie s'Chistli ûfem Tisch stoht, so seit de Bûr:

Erbsi, Erbsi, gross und chli,
Lönd das Stæche numme sî,
Euse Hœrndlima seit Jo,
Jeze wemmer'n au lo goh.

Und wo denn die Erbsli wieder in ihrer Hülsche bînenand gsi sind, so springt de Tüfel mit eim Satz zum Pfaister ûs und het si wol ghüetet, i Zuekunft wieder zu sälle Hûs zue z'cho. (Vilmergner Mundart.)

Erbsen war die Speise am Festtage Donars. Am Johannistag kocht man Erbsen am Johannisfeuer und braucht sie als Salbe gegen Verletzungen. Meier, schwäb. Sag. pag. 427. Als der Gott sich in den Satan, sein Donnerstag sich in den festlosen Wochentag verkehrte, blieb zwar noch die Speise für diesen Tag übrig: Erbsen und Rauchfleisch, ja sie ist in der preuß. Mark ein stehendes Sonntagsgericht (Kuhn, nordd. Sag. S. 523); aber nun ist sie nur noch eine den verwünschten Zwergen geltende oder beliebte. Die Erdmännchen am Pilatus lieben besonders Schweinefleisch. Eidgenöss. Kalender, Luzern 1851. Ueber Erbsen als Zaubermittel; Meier, schwäb. Sag. No. 269. Ueber Erlösung des Geistes mittelst einer einzigen Erbse; ibid. No. 307. Goldene Erbsen bieten die Geister dar auf dem Oechsenberge und auf Baier in der Rhön. Bechstein DSagb. No. 774. Zwerge stellen in ndd. Sagen (Grimm, Myth. 434) den Erbsenfeldern nach: twerge plegten up et feld to gan und den lüen de arften weg to stelen. Darum muß man noch Erbsen und Weizen gemischt am Christabend in den Stall werfen, so gedeiht das Vieh. Tettau-Temme, preuß. Sag. S. 278. Der Hochzeitsbär muß in Erbsstroh (Donars Symbol) eingehüllt und an einer Erbskette vom hammertragenden Ortsschmied umgeführt werden. So verräth sich hierin Thôrr zugleich als der mit seinem Hammer die Braut weihende, die Saaten mit dem Gewitter befruchtende, die Erde mit dem Donnerkeil pflügende Gott. Vgl.

Digitized by Google

Colshorn, Mythologie pag. 346. Unser Müller schüttet seiner Frau Erbsen ins Wochenbette: Abthl. VIII, No. 359. Der Mann im Monde, wie der thüringische Frühlingsbote, der Erbsbär, ist in einen Bund Erbsenstroh gewickelt. Sommer, thür. Sag. S. 156 u. 160; im Aargau in eine Bohnenwelle gewickelt (Strohgarbe). Aber die Speise schlägt auch ins Gegentheilige um und darum ist sie Menschen und Geistern wiederum verhaßt; Altrömische Sitte streute den Manen der Verstorbenen Hülsenfrüchte. Gegen das Fieber (Kaltes Gesicht) sagt der oberdeutsche Exorcismus: Kieselsteine mußt du essen, Erbis mußt du brechen! So entstand gegen den Blatternarbigen, d. h. von Gott Gezeichneten, die Redensart, der Teufel (Donar) hat Erbsen auf ihm gedroschen. Wenn man den Drachen zwingen will, darf man nur die Hosen kehren; dann wird er seine Last fallen lassen, daß der ganze Brunnen voll Erbsen liegt. Kuhn, nordd. Sag. No. 4. Erst als Hogen über die verrätherisch gestreuten Erbsen hinfällt, beharrt Grimild auf der voraus bestimmten Kampfbedingung, daß wer einmal gestürzt sei, nicht wieder aufstehen dürfe. Altdän. HeldL. S. XIV. Die getäuschte Göttin verwandelt die am Herde bratenden Aepfel sogleich in ein Erbsengericht. Myth. 385. Das Buch von guter Speise, aus dem 14. Jh. (Bibliothek des Stuttgart. literar. Vereines Bd. 19, pag. 21.) giebt den Küchenzettel an für eine süße Speise, genannt heidenische und behemmische Erweiz (Erbsen); böhmisch und heidnisch ist in jener Zeit der Hussiten-Kriege noch synonym.

Man wirft mit Erbsen das Loos: Wenn du eine Erbsenschale mit neun Erbsen zugleich findest und hinter die Thüre legst, so erfährst du vom zuerst Eintretenden den Namen deines zukünftigen Schatzes. Erin VI. 2 Thl. S. 447. Im Kant. Freiburg muß jenen Leuten, die bei einer Leiche die übliche Todtenwache zwei Nächte lang halten, in jeder Mitternacht Erbsensuppe gekocht werden. Vgl. Küenlin, der Kant. Freiburg, pag. 128.

Ein anderer Zug unseres vorliegenden Märchens ist, daß sich der Teufel beschlagen läßt und den Fuß in den Schraubstock steckt. Auch der wandernde Gott Wuotan kehrt Abends beim Schmiede ein und läßt seinen achtfüßigen Sleipnir beschlagen. Auf Wuotan-Donar deutet zugleich das von unserer Erzählung mitgenannte Wunschkistlein. Der ausreitende Rodensteiner-Burggeist meldet sich, laut Protokoll v. J. 1758, in Grumbach vor einem Hause, worin ehedessen ein Schmied gewohnt, und läßt die Pferde beschlagen; ebenso Christus bei der S. Eligius-Schmiede (nach Wolf niederl. Sag. No. 17), um dem Pferde neue Hufeisen aufschlagen zu lassen. J. W. Wolf, Rodensteiner S. 12. Aehnliches in Kuhns Märk. Sag. S. 277 und No. 88, der Schmied am Jüterbogk. Der Schraubstock spielt in Märchen und Sage gleichfalls mit. Als ein Bauer die Großmutter auf seiner Schulter zu den Schloßgeistern bergan trägt, rufen diese: rettet euch, da bringt er gar einen Schraubstock. Wolf, ibid. No. 11. Insoferne die zaubernde Schmiedmeisterin ebenfalls an den Zöpfen in den Schraubstock gespannt wird, geht dieses Schicksal auch auf den Teufel selbst über; dies zeigt E. Meiers schwäb. Kinderreim N. 136:

Schmid, Schmid mit dem Hammer,
Jag den Teufel aus der Kammer,
Jag ihn in eine Eck,
Daß er bald verreck!

Digitized by Google

Das Benehmen, das der Bauer in der Hölle gegen einen seiner harten Gläubiger einhält, wiederholt sich bei Müllenhoff, Schlesw. Holst. Sag. No. 592.

---

## 437. Schmied Jetzer bei Lengnau.

An der Landstraße zwischen den Dörfern Endingen und Lengnau liegt, einige Schritte von dem dortigen Leichenacker der Juden entfernt, ein umgestürztes Steinkreuz. Es macht die Wegscheide aus nach Vogelsang hinüber, und das Ackerland, über das man zur Rechten hinkommt, heißt das Jetzemerfeld, nach jenem Jetzer benannt, der es besaß und dessen Haus hier gestanden hat. Ueberreste von altem Gemäuer werden hier noch immer aufgepflügt.

Dieser Jetzemerbauer war hier der Schmied von Endingen, er lebte im Wohlstand, und zu seinem häuslichen Glücke fehlte ihm auch ein braves schönes Weib nicht. Darin störte ihn mit einemmale der Pfarrer von Endingen. Dieser stattete ihm freundschaftliche Besuche ab, deren Grund sich nicht errathen ließ, die aber auch der Nachbarschaft auffallend vorkamen, so daß man sich bald erzählte, des Pfarrers Herablassung gelte nur des Schmiedes Frau. Der Ehemann war selber so guten Herzens und der Liebe seines Weibes so gewiß, daß er diese Nachreden verachtete; gleichwohl mißstimmte es ihn, daß der geistliche Herr mehr mit seiner Frau als mit ihm zu plaudern habe, und daß er sie am öftesten zu besuchen pflege, wenn er selber gerade auf dem Felde schaffe. Er beschloß daher, wenigstens hierin eine Abänderung zu treffen. Da bringt ihm einmal ein Bote aufs Feld heraus die Nachricht, er möge heimkommen, der Pfarrer sei da. Der Schmied wußte nicht, was diese Worte bedeuten sollten, der Ton, in dem sie gesprochen waren, der fremde Mensch, der sie ihm meldete — alles ärgerte den Mann. Er nahm seine Hacke auf die Schulter und gieng dem Hause zu; hier aber gewahrte er schon von ferne, wie der Pfarrer gerade einen sehr herzlichen Abschied von der Frau nimmt und wieder im Fortgehen begriffen ist. Jetzt übernimmt ihn der Zorn, er geht anstatt ins Haus in seine Schmiede, reißt eine spitze Eisenstange aus der Glut und rennt damit dem Pfarrer nach. Auf der Stelle, wo jetzt das Steinkreuz umgesunken liegt, erreicht er ihn und durchsticht ihn sogleich.

Seitdem sieht man auf diesem Felde, wo sonst die Schmiede gestanden haben soll, Feuer aus dem Boden schlagen und hört dazu ein Rauschen ähnlich dem von aufgezogenen Blasbälgen. Dann sieht

Digitized by Google

man einen Mann herabsteigen, der sein Eisen in der Glut heiß macht, damit bis zum Mordplatze geht und es dorten rothglühend in den Boden steckt. Alsdann wird die Gestalt selber von einer Feuerflamme verzehrt. Das in Lengnau und Vogelsang verbreitete Geschlecht der Jetzer soll von diesem Schmied abstammen. Der Ausdruck, Jemanden jetzern, lebt noch in der Mundart, und besagt, einen nothdrängen und thätlich plagen (Stalder, Idiotikon 2, 76), doch bezieht man ihn gewöhnlich auf jenen berüchtigten Schneidergesellen Jetzer von Zurzach, der im Jahre 1509 zu Bern bei den dortigen Predigermönchen zum Heiland gemacht werden sollte, und dem dazu die Wundenmale Christi mit scharfen Nägeln eingedrückt wurden. (Vgl. Kirchhofer, Sprichwörter, pag. 84.)

Bei Surawa in Graubünden zeigt man Mauern einer ehemaligen Schmiede, in denen man Nachts Blasbälge knarren hört und einen Schmied mit glühender Eisenstange sieht. Schweiz. Merkur 1835, 311. Donars Hammer (vgl. Meister Hämmerli No. 418) hat schon in Marners und Frauenlobs Gedichten auf das Gleichniß geführt zwischen dem Gotte und der ihm zustehenden Schmiedekunst; er heißt der Smit ûz oberlande. Myth. 165. Drei Steinkreuze, auf denen ein Hammer ausgehauen, stehen bei Gernsbach im Koburgischen an der Stelle einer ehemaligen Schmiede; hier erschlugen sich eines Mädchens wegen drei Schmiedgesellen. Fr. Mibm, Koburg. Sag. 1845, pag. 68. In unserer Erzählung ist ein Theil der echten Sagengrundlage dadurch verdreht, daß es der Frau des Schmiedes an die Ehre geht und der Schmied deshalb Rache nimmt. In der nord. Sage aber thut der Schmied Wieland der Beadohild Gewalt an, und Hephäst stellt der Athene nach, als sie bei ihm Waffen machen lassen will; deshalb werden beide zur Strafe gelähmt. Hier aber erschlägt der eifersüchtige Jetzer den vermeintlichen Nebenbuhler.

---

## 438. Die drei Schlösser von Aarau.

Es soll ehemals zur Bezeichnung ganz vergeblicher Bemühung die Redensart im Lande gegolten haben: Es b'hebt nid, und wenn d'alle drei Schlösser von Aarau dra hänktist. Kirchhofer, Schweizer Sprichwörter. So viele Schlösser in einer so kleinen Landstadt setzen in Erstaunen; gleichwohl lassen sie sich theils geschichtlich nachweisen, theils stehen sie jetzt noch.

Das Schlößli, wie man es jetzt nennt, steht außer der ehemaligen Ringmauern Aaraus, einen Steinwurf weit von der Alten Stadt. Auf einem Felsen am Abhange der Aare zeigt sich ein Thurm aus Findlingen und gewaltigen Aarkieseln zusammengekeilt, die nur an den Kanten behauen sind, die Flächen stehen rauh und uneben

Digitized by Google

vor, von hohem Alter schwarz. Vortrefflich sind die Ecken der Thürme in den rechten Winkel gesetzt und vollkommen senkrecht aufgeführt. Manche halten die Bauart für römisch, andere stellen sie ins Mittelalter. Die Chronik giebt naiv an, der Thurm sei anno 36 nach Chr. Geb. gebaut. Am Thurm selbst soll unten kein Eingang gewesen sein; hoch oben habe sich eine Oeffnung befunden, von ihr aus wurden am Haspelseil in einem Korbe die Leute hinaufgezogen oder herabgelassen. Die ersten geschichtlich gekannten Bewohner nennen sich nach dem Schlosse Im Thurm. Dies Adelsgeschlecht starb aus 1323.

Eine zweite Burg war der Hirzenthurm, aus welchem das jetzige Thor mit seinen Gefängnissen und Nebengebäuden geworden ist. Seine Ringmauern bilden nun zwei Häuserreihen, die sich bis in die Grube erstrecken und mit diesem Localnamen die einstige Umwallung noch bezeichnen. Auch seine Bauart ist so roh und dauerhaft wie des Schlößlis. Die Bewohner der obern Vorstadt waren die Eigenleute dieser Burg. Als geschichtlich bekannter Adel saßen hier zuletzt die Edeln von Stieber.

Das dritte Schloß der Stadt war der Thurm von Rore, über ihn handelt die Sagennummer 243: Freihof von Aarau. Diese Burg ist erst 1816 theilweise gesprengt, theilweise in das städtische Rathhaus umgebaut worden.

Fisch, Aarauer-Stadtchronik. Bronner, Kant. Aargau. Kirchhofer, schweiz. Sprichwörter.

Die Grafen von Lenzburg-Burgdorf hatten ihre Malstätte hier zu Rore, wie Gotfr. v. Mülinen in seinem Aufsatze, die Grafen von Lenzburg, Bern 1821, urkundlich nachgewiesen. Auch die Vilkinasage erwähnt dieser Grafen von Rore und Burgdorf.

---

## 439. Der Gewappnete am Stättlein.

Ein Thal, das sich im Aarauer-Jura hinter dem Königsstein gegen die Benken hinzieht, heißt man das Stättlein; drei Berge schließen den Raum des Wiesengrundes ein; außer dem Königsstein ist hier nirgend eine Spur von Ruinen zu bemerken. Dennoch behauptet das Landvolk, wilde Kriegsschaaren, Hunnen oder Ungarn hätten hier zu wiederholten Malen Lager geschlagen. Wo oben auf der Bilgeren die alte Grenzmarke zwischen der Aarauer- und Laufenburger-Gerichtsbarkeit zog, da habe noch lange ein altes Haus als Ueberbleibsel jener Zeiten gestanden, und weil es halb schweizerisch und halb österreichisch war, habe da allerlei wechselndes Grenzgesindel seinen Schlupfwinkel gehabt. Der Brunnenberg und das Dunkel-

Digitized by Google

flühli hätten, wie es schon der Name verrathe, auch zum Stättlein gehört, und da dieses eingieng, seien lange Streitigkeiten zwischen den Dörfern Küttigen und Erlinsbach ausgebrochen, die beide das Recht geltend machten, das Land ihrem Gemeindebann einzuverleiben. Da wo jetzt die Kreuzhalde liegt, zeigt man einen Platz, welcher die Hofstatt heißt. Hier stieß ein Mann während der Landarbeit auf ein gemauertes Viereck, und als er den obern Deckstein davon abhob, schoß plötzlich eine gerüstete Gestalt vor ihm aus dem Boden auf und war sofort verschwunden.

---

## 440. Die Bärlisgrube.

Am Wege zwischen den Dörfern Oberburg und Hausen, im Bezirke Brugg, gewahrt man im Ackerlande eine lange und muldenförmige Vertiefung. Hier soll das große Schauspielhaus gestanden haben, welches die Stadt Vindonissa den römischen Legionen zum Vergnügen erbauen ließ. Das Gebäude war so groß, daß noch um die Mitte des vorigen Jahrhunderts das östliche Thor aus dem Ackerfelde hervorschaute. Damals gab die Regierung das ganze Landstück an zwei Maurer hin, welche das Mauerwerk sammt Inschriften und Säulen brachen und Kalk daraus brannten. Noch war ein großer viereckiger Granitblock übrig, der im Mittelpunkte des Theaters lag; er hatte die doppelten Löcher, durch welche man die wilden Thiere mit Ketten anschloß, wenn man sie zu Tode hetzen ließ. Die Maurer verbauten ihn zum Kellergrund eines Bauernhauses. Als dann in den Neunziger-Jahren die Alterthumsforscher hier nachsuchten, fanden sie nur noch ein unterirdisches Gewölbe, in welchem eine außerordentliche Menge Thierknochen, Ochsenhörner und Bärengebeine zum Vorschein kam. Daher erhielt dieser Platz beim Volke den Namen Bärlisgrub.

Aehnliches meldet auch schon das Königsfelder-Jahrzeitenbuch, geschrieben 1392 (Gerbert, Tapographia 2, 172) über diese Ruinen, soweit auf ihnen das benachbarte Kloster Königsfelden steht: Do man wart graben, do vant man wunderlich gestein von varwen und von gehöwen estrich von frömdem werk, des man in der Cristenheit nit spulget ze machen, guldin und silbrin pfening. die do höpter hattent mit binden, als heyden tragent.

Man glaubt von der Berghöhe aus in den weiten Kornfeldern um Windisch breite hellgelbe Farbenstreifen wahrzunehmen; dies soll von den eben so breitgehenden, unterirdischen Mauern der Römerstadt

Digitized by Google

herrühren, auf deren Gestein die Aehre früher sich reif färbt. Bei genauer Betrachtung der Landschaft will sich jedoch hievon niemals was entdecken lassen.

F. L. Haller, Helvetien. Bronner, Kant. Aarg. 1, 27. — Wolf, Beitr. 1, 71. Hess. Sagen, Vorrede und No. 31 hat sicherlich recht, wenn er diese sonst mehrfach vorkommende gelehrte Meinung für das bloße Mißverständniß einer alten Volkssage hält. Auch diejenigen Kornfelder reifen strichweise und am frühesten, welche das Dorfthier von Erlinsbach No. 95 zuerst mit seinen großglühenden Augen bemißt. Kornweg heißt derjenige höher stehende Strich der Saatäcker, über welche der ausziehende Burggeist des Rodensteiner seine Luftfahrt macht. Wolf, hess. Sag. No. 31. Den Lausitzer Wenden heißen die feuchten Adern in Feld und Wiese der Weg des Dietrichberners, Dyterbjernat, und dieser selbst gilt ihnen zugleich als der W. Jäger. Wolf, Ztschr. 3, 112. Ebendieselbe Erscheinung auf üppigen Flurstrichen wird bei Schambach=Müller, ndsächs. Sag. No. 140 den Zwergen zugeschrieben, die den Ackerboden mit dem Schmiedefeuer erhitzen, das sie unterirdisch eifrig unterhalten; sogar einzelne Goldkörner schießen dadurch in die Fruchtähren. Sibyllenfahrt nennt man die Wagenspur, welche der umfahrende Schloßgeist der würtemb. Burg Teck zurückläßt, alles Feld, worüber dieselbe geht, bleibt 14 Tage länger grün als das umliegende Land. Bechstein, DSagb. No. 902. In unserer No. 113: Kegelspiel im Walde bei Uezwil, wird ein rothbrauner Grasstreifen erwähnt; so weit derselbe reicht, so weit ist einst die Kegelbahn des Gasthauses gegangen, die zusammen vom Boden verschlungen worden sind. Beim Mauerhubel zu Zetzwil No. 171 reift das Korn streifenweise zuerst und gilbt sich dann in Striemen, die von der Breite einer Heerstraße sind. In unserer No. 2 leuchtet sogar der Strom der Aare von den Fußstapfen, welche der Gang der frommen Königin darinnen zurückließ. Dies deutet auch auf jene heiligen Orte und Heerwege zurück, die Göttern geweiht und nach denselben benannt waren. So ist der Ort Vodeneswege, den Thietmar v. Merseb. 2, c. 14 erwähnt, zu Gutenswegen geworden, vielleicht weil dem Volksglauben nach Wuotans Roß hier durch das Land gieng; ein Sprichwort sagt noch, des Herren Ritt durch die Saat läßt goldenen Huf zurück. Vgl. No. 166 c. Radspuren auf den Hochgebirgen; und I, pag. 177, wo bemerkt ist, daß der Reichsvogt Dürst mit hundert Hunden und Rossen zur Aerntezeit durch die Saat reitet. Hans Sachs, im Spruche „das Heylthumb für das unfleißige Haußhalten", v. J. 1554, 24. Nov. (Scheible, Kloster 6, 892):

Des Herren Füß munter und wacker
Tungen gar wol den seinen Acker.

---

## 441. Ruine Besserstein.

Sie liegt auf dem hohen Geisberge, Bezirks Brugg. Der Freiherr von Villigen, oder wie ihn die Chroniken nennen, der Alte von Uelingen (Schalch, Erinnerung. aus der Gesch. von Schaffhausen 1,

Digitized by Google

65) war ihr Erbauer, er ließ sie aufs stärkste umwallen und thürmen, damit sie ein noch besserer Stein sei (ein festeres Schloß), als die Raubnester seiner ritterlichen Nachbaren. Kaum stand sie vollendet, so sah er, wie seine eignen Söhne von derselben herunterſprengten, um die reisenden Kaufleute im Thale auszuplündern. Dadurch sank er in der Achtung des Volkes. Das alte gute Vertrauen wieder herzustellen, ließ er das ganze Schloß räumen und dann verbrennen. Besser Stein, rief er, als solche Schande!

So wird dem Chroniſten Stumpf nach erzählt. Rebmann, ein Pfarrer im Berner-Oberlande, beschreibt dies also in seinem Lustig Poetiſchen Geſpräch und Gaſtmahl von Bergen Nieſen und Stockhorn (Bern, zweite Auflage 1620, S. 433):

Das Beßerſtein, ein altes Hauß,
Vorzeit ein hohes Schloß vorauß,
Auff einem hohen berg und ſpitz,
Eins Ritters von Villingen Sitz:
Der hat zween Söhn, die waren z'rhat,
Nach Vatters Tod mit kriegesthat
Auf dieſem Schloß z'ſchedigen s'Land.
Die red dem Vatter ward bekant,
Berüfft die Söhn, gab jhnen z'verſtohn,
Was red von jhnen er vernon;
Nun hab das ſtarck Schloß er gemacht
Niemands zu ſchaden noch zu pracht,
Sonders ſin Nachkommen z'gutt,
Zu keinem raub, noch vbermut!
So er nun jhren ratſchlag hör,
Damit dieß Hauß niemand zerſtör,
So nemmend hin dieß fewr vnd brand,
Verbrennend s'Schloß mit ewer Hand.
Alſo ward es in ſtaub gelegt,
Vnd ward darauß kein Krieg erregt.

Schloß Ulrichſtein erhält seinen Namen durch die Mutter, die unvorbereitet zum Neubau ihres bauluſtigen Sohnes kommend, über ihr in Steine verwendetes Geld ausruft: Ach Ulrich, was Stein! Wolf, heſſ. Sag. No. 247.

---

## 442. Die Stadt Bremgarten

hieß anfänglich wegen ihrer üppigen und blühenden Umgebung Roſengarten und war so groß, daß ſie ſich nach einer Seite bis an den Brunnen hin erſtreckte, der jetzt eine Viertelſtunde entfernt an der Straße gegen Fiſchbach liegt und der Herrenbrunnen heißt; in der andern Richtung ſoll ſie gar eine Stunde bis zum Dorfe Jonen gegangen ſein. Wegen dieſer prangenden Lage und des Feſtgepränges, das der Adel hier trieb, hieß es damals auch Pränggarten. Als dann der Weinbau an den Ufern der Reuß in Aufnahme kam, erhielt es

Digitized by Google

den Namen Weingarten, und so köstlich war das Gewächse, daß man einen hohen Ritterthurm auf die Spitze des Stadtberges baute und in die vier Ecken seiner Grundlage vier Flaschen mit Wein gefüllt vermauerte. Das Feuer, das alsdann in einem Bäckerhause ausbrach, äscherte die ganze Stadt ein bis auf ein einziges Haus, und von da an hieß der Ort Brenngarten. Als sich die Bürger wieder erholten, verlegten sie sich auf die Viehzucht und trieben ihre Heerden auf die große Halbinsel, die der Reußstrom hier bildet. Da aber wurde das Vieh so sehr von den stechenden Bremsen geplagt, daß man dieser Halbinsel den Namen Bremgarten gab und ihn auch auf das Städtchen selbst übertrug. Bald jedoch gefiel diese bescheidene Deutung auch nicht mehr; zudem hatte man nach und nach allerlei Alterthümer hier herum ausgegraben und daraus den Schluß gemacht, daß ehedem die Römer hier gewohnt haben mußten. Also dachte man sich hier eine römische Hauptwache, nannte sie in barbarischer Gelehrsamkeit Prima guardia und leitete selbstbefriedigt den Stadtnamen davon ab.

Ahd. brâma, rubus. — brem, in der Mundart von Neuße, der Ginster. Viehoff, Archiv 1844. 152. Die gleichnamige Aarhalbinsel bei Bern, urkund. 1180 Bremgarton, wurde ebenfalls als römische Befestigung und als prima quardia gedeutet. Jahn, Kant. Bern. s. h. v. — Brenbrama batus, Dornstrauch. Diut. 2, 233.

---

## 443. Dottikon.

Im Dorfe Dottikon im Freienamte steht hart an der sehr alten Kirche auf den noch sichtbaren Spuren einstiger Umwallung ein großes alterthümliches Bauernhaus. Es ist von mehreren Familien bewohnt, vielfach umgebaut und armselig ausgeflickt; gleichwohl weisen seine einzelnen Mauerstücke von gewaltiger Dicke, die mächtigen rauchschwarzen Tragbäume der Diele und einzelne massive Steinpfeiler an Thüren und Fenstern auf eine frühere Stattlichkeit hin. Dies war das Schloß des Ritters Walther von Dottikon. Er war bei König Albrecht zu Besuch gewesen, als dieser vor seiner Ermordung durch seinen Neffen Johann die Bäder zu Baden besucht hatte. Noch auf dem Heimwege in sein Schloß vernahm Walther die Nachricht von dem schauderhaften Ende seines königlichen Lehensherrn und sank vom Schrecken gerührt todt auf seinem Rosse zusammen; als dieses mit der Leiche heimgelaufen kam, riefen die Bauern: Todt ist er cho! Aus diesem Ausrufe entstand seitdem der Ortsname Dottikon, und ins

Digitized by Google

Dorfwappen ist das schwarze Roß genommen worden. (Vgl. ahd. Tuoto, Diminution Tuotilo und Dodiko. Grimm, Gramm. 3, 689.)

## 444. Eicken.

Den Namen des Dorfes Eicken, unfern des Rheines auf der Straße zwischen Basel und Zürich gelegen, leiten die Einwohner von den großen Eichenwaldungen dieser Gegend ab, worin die Bevölkerung so dünn vertheilt gewesen sei, daß man ein großes Stück Land um ein Stück Speck kaufen konnte. Indessen eine andere dortige Sage hilft den Ortsnamen anders erklären und stimmt mit dessen urkundlicher Form glücklich zusammen. Eine Hauptzelge dieses Gemeindebannes heißt Bleien. Hier am Wildbache sollen ursprünglich Hammerschmiede und Eisenschmelze gestanden haben, worin man das Erz schmolz, das die Frickthaler Gemeinde Zeihen hieher lieferte. Man sucht diese Angabe durch die vielen Eisenschlaken zu bekräftigen, die man im Boden findet, und der Name Bleien selbst soll dies unterstützen, den das Volk aufblasen und blähen (mundartlich blaijen) deutet. Der Aufseher, der über dieses Gewerk gesetzt war, verfuhr hart und schmähte beständig seine Arbeiter, bis sie ihn zuletzt in den Hochofen warfen. Damit war das Unternehmen zu Ende.

Der Name Eicken heißt also Eithofen, der Hof zum Eitofen oder zur Schmelze. In der Grenzbestimmung der Basler Diöcese heißt es daher von diesem Dorfe: Eitkon est membrum ecclesiæ Rhinfelden. Rheinwald: Episcopatus Basileensis, limitibus suis circumscriptus anno 1441. So erscheint der Name auch in den Urkunden des St. Johanniser-Stifts im Archiv der Stadt Laufenburg. Eine Pergamenthandschrift daselbst aus dem 14. Jahrh. Folio, Blatt 9 a verzeichnet: Margret Vogtin für sich und für Elsen Anne Margareten Adelheiten jren schwesteren und mit Hemman Rosenblat z'Els geben ein mütt Kernen jerlich gült von einem guet zue Eytkon, buwet ietz der Tœbili doselbs. — Die altdeutsche Glosse erklärt demgemäß den Scheiterhaufen und Leichenbrand mittelst des Wortes eit. rogum, eit, in strue lignorum. Graff Diut. 1, 272 a.

## 445. Schloß Halwil Seon und Seengen.

Das Becken des Halwiler-Sees soll in der Vorzeit vom Luzerner-Dorfe Mosen, in der Nähe der Commende Hitzkirch, bis Seon herab, und in der Breite von Egliswil bis nach Retterswil gereicht haben. Diesen ehemaligen Hochstand der Wasser beweist sich das Volk aus dem Sinne, den es den Namen der Nachbarorte unterlegt. Der alte

Digitized by Google

See mündete, nicht wie heute in dem Bächlein Aa, sondern den Laubsberg durchbrechend in der Tiefe des Heidengrabens und von da gerade in die Aare. Da stand der Stammsitz der Edlen von Seon droben; das darnach benannte Dorf, welches früher See-an hieß, liegt heute eine halbe Stunde von allem Gewässer entfernt und bedeutet See-ohn. Ebensoweit vom heutigen Ufer ab liegt Egliswil, aber auch sein Namen weist auf die Fische Egli hin, die jetzt noch die häufigsten des Sees sind. Das ganze weite Gewässer war nur durch die kleine Anhöhe unterbrochen, auf welcher der feste Thurm der Römerritter Ala stand. Dieß heißt Flügel. Daraus wurde der Adelsnamen der Grafen von Halwil, die noch einen stehenden Flügel im Schilde führen. Auch diese Namensableitung verbürgt sich der gemeine Mann durch die hübsche Bemerkung, daß jeder gelbe Seerosenstengel des Halwiler-Sees, quer durchschnitten, in seinem Stengelmarke das Bild eines ausgespreizten Flügels zeige.

Ueber das Wappen der Stadt Berend erzählt Tettau-Temme, preuß. Sag. No. 264: zwischen zwei Seen wachsen dorten in einer Wiese Binsen, welche durch ihren Abstand gegen die übrigen Gräser die Gestalt des Stadtwappens sammt den Sternen des Schildes genau wiedergeben. Die Glossæ Lindenbrogianæ, abgedruckt in Haupts Ztschr. 5, 575a übersetzen uligo, sordes limi vel aquæ: haliwa. Aus dieser bei Virgil und Varro gemeinten Erdfeuchte ist der Name Halwil und die Wappensage der Ritter von Ala entstanden.

## 445 a. Seengen.

Das Dorf Seengen war ehedem eine Stadt gewesen, die in einem Halbmond gebaut war; man findet bei Feldarbeiten in jenen Fluren noch manchmal Mauertrümmer, und während die Leute draußen in den Aeckern schaffen, begegnen ihnen allerlei halb schwarz und halb weiß gekleidete, dann aber auch ganz schwarz oder ganz weiß aussehende Männer und Frauen. Der Mittelpunkt dieser alten Stadt soll das Schloß Hallwil gewesen sein. Beim Zurücktreten des Hallwiler-Sees ist jene Stadt versunken. Ein zweites Schloß, das zu diesem Orte gehört hat, lag eine halbe Stunde von Seengen entfernt gegen Sarmenstorf hin, in einer Gegend, die man Marchstein nennt.

## 446. Hermetschwil.

Man behauptet, das aarg. Kloster Hermetschwil habe seinen Namen von einem Götzentempel, der früher hier gestanden. Der Prie-

Digitized by Google

ſter habe das Tempelbild des Hermes mit zwei Büchern und einem ſilbernen Tiſch in einem Gewölbe hier vergraben. Weißenbach, Geſch. v. Bremgarten.

Vgl. No. 93, Pfaffenhöhle in Suhr. Kloſter Hermetſchwil heißt urk. Hermanswilare. H. Meyer, Zürch. Ortsnam. No. 1672. Seine weiteren Formen Hermontes, — Hermothes, — Hermentswile deuten auf den Eigennamen Herimuat zurück. So heißt auch das Bernerdorf Hermiswil urk. i. J. 1290 Hermanswiler. Jahn, Kant. Bern, 449; und das Solothurnerdorf Hermesbüel iſt urk. 1495 Hermansbül. Soloth. WochenBl. 1846, 66. Uebrigens verzeichnet K. Roth, Klein. Beitr. Hft. 10, pag. 249 v. J. 1093 „reliquiæ S. Hermetis martyris, aufbewahrt in der Kirche zu Margretenhun, Amt Fulda.

---

## 447. Hornuſſen im Frickthal.

Den Hornuſſer Bauern regnete es in einem Sommer einmal viel zu lange, ſie meinten, es dürfe nun einmal genug ſein. Was ſie aber den lieben Gott mit Kreuz und Fahne auch bitten mochten, ſie bekamen doch keinen beſſeren Beſcheid. Da fand ſich denn ein Schalk in der Umgegend, der ihnen den Rath gab, in die Apotheke zu ſchicken und da ſchön Wetter zu kaufen, in einer ſo reichen Stadt wie Baſel ſei alles um Geld feil. Die Gemeinde wählte einen Abgeordneten, gab ihm einen Batzen Geld und ſchickte ihn in die Stadt. Dort ſprach er: „herr Abbedöckter, i hätt do gärn für e batze schönwätter für euse gmein z' Hornusse dûsse!“ Der Apotheker verbiß das Lachen, bot ihm einen Stuhl und verließ die Stube, angeblich um ſogleich das Rezept fertig zu machen, eigentlich aber um ſich draußen erſt zu beſinnen, wie man einen laufenden Narrenſtreich ſchicklich zu Ende bringe. Endlich nahm er eine alte Pillenſchachtel und übergab ſie dem Manne mit dem Beſcheid, ſie ja nicht voreilig zu öffnen, weil ſonſt das ſchöne Wetter gewiß noch einen Batzen mehr koſten würde. Nun wird es ſchwer zu ſagen ſein, was hierauf größer wurde, des Bauern Vergnügen oder ſeine Neugierde. Als es am Heimwege anfieng in der Schachtel zu brummen und zu ſurren, hielt er aus Leibeskräften zu; denn, dachte er, wenn das Wetter heraus käme, dann hätte ja der Teufel aufs neue ſeine Schadenfreude an uns Hornuſſern. Aber erfahren hätte er doch nun auch mögen, wie denn das ſchöne Wetter ausſehen müße, das ſich in einem ſo kleinen Papierſchächtelein in den Sack ſtecken und heimtragen laſſe. Da ſtand er eben am letzten Hügel, überſah das Dorf und drinnen ſchon das Haus des Gemeinde-Ammann, dem er das Ding, das er ſelbſt noch

Digitized by Google

nicht angesehen, in den nächsten Augenblicken übergeben sollte. Einmal ist Keinmal, sagte er, setzte sich nieder, rückte am Deckelchen, und sum — sum! brummte eine Hornisse heraus und flog dem Dorfe zu. Mit der unbefangensten Miene von der Welt gieng er dem Vogel nach heim, und als ihm alles mit der Frage entgegen gelaufen kam, wo er denn das Schönwetter habe, antwortete er: ei, 's ist ja gerade ins Dorf hereingeflogen! Und von diesem Histörchen her wird es Hornussen genannt.

In ähnlicher Weise verschreiben sich die Schöppenstädter ein Gewitter, Kuhn, nordd. Sag. No. 175, b. Die Griesheimer brauchen Heuwetter und winken dazu der Sonne: Wolf, hess. Sag. No. 261. Jühnderstreiche heißt es bei Schambach-Müller, ndsächs. Sag. No. 258. Was den bayrischen Mistelgauern über ihren Kirchenbau nachgesagt wird, bei dem eine Hummel den Strohhalm der Länge nach tragend, ihnen zeigte, wie man den Balken unzersägt durch die neugebaute Kirchenpforte bringen könne, eben dasselbe wird den Ulmern nachgesagt, die den gleichen Vortheil beim Bau ihres Stadtthores von einem Spatzen erlernten. Meier, schwäb. Sag. No. 403. Panzer 2, 477. Ein Liebhaber möchte erfahren, was seine entfernte Geliebte jeder Zeit mache; zu diesem Zwecke verkauft ihm ein Fazmann (Spaßvogel) einen Muchaim (Grille) in einem Schächtelein, damit er es unter sein Bettküssen lege und sich die gewünschten Aufschlüsse geben lasse. Einem andern wird zu gleichem Zwecke eine grüne Roßmücke im Glas von der Frankfurter Messe mit heimgebracht. Philo, Magiolog. pag. 285 — 287, erzählt Beides zum Beweise, daß der Teufel nicht mit sich scherzen lasse. Zwerge in Gestalt von Fliegen und Raupen bespricht unsere No. 191, Anmerk. pag. 347; Geister in Gläschen und Flaschen gebannt: Anmerk. No. 368. Der Ortsname Hornussen, dessen wörtliche Deutung zu obigem Scherze Anlaß gab, lautet urk. Hornaskon, bedeutet also Sumpf- oder Ebersche. Vgl. Rheinwald, Episcopatus Basil., limitibus suis anno 1441 circumscriptus. Bern 1843.

---

## 448. Klingnau.

Schloß und Städtchen Klingnau sammt Thoren, Thürmen und Kirchenglocken war durch eine Feuersbrunst verzehrt worden. In der ersten Noth behalf man sich für den Gottesdienst mit einer hölzernen Glocke. Da fuhr eben die heilige Verena auf der Aare am Städtchen vorbei; die frommen Leute wünschten ihren Besuch, wenigstens die Aufmerksamkeit der berühmten Frau wollten sie erregen, sie rissen an der Glocke aus Leibeskräften, allein sie war kein tönendes Erz und keine klingende Schelle, sie blieb hölzern. Voll frommen Verdrusses riefen die Bürger hinauf: „Kling au!" So kling doch auch! Indessen war die Heilige schon im raschen Strome vorübergefahren,

Digitized by Google

und dem Marktflecken Zurzach ward nun die Ehre, sie im Dorfe Koblenz zu empfangen und nach Zurzach zu geleiten.

An diesem Witzchen vergnügte sich manche Nachbargemeinde, so lange man den Ober- und Unter-Vogt damit ärgern konnte, der seinen Herrensitz im beneideten Städtchen aufgeschlagen hatte. Klingnau selber wußte dagegen seinen Namen aus einem gleichen Ereignisse abzuleiten, nur viel würdiger. Es trug sich in dem nämlichen Jahre 1586 zu, in welchem Johannes Stumpf seine berühmte Schweizer-Chronik drucken ließ, und wurde von einem emsigen Klingnauer in das leere Beiblatt dieses neuen Werkes damals sogleich eingeschrieben. Eine Feuersbrunst brach im Hochsommer auf dem Schlosse aus und griff so schnell um sich, daß das ganze Städtchen sammt der Pfarrkirche bis auf vier Häuser in Asche sank. Das Silber der geschmolzenen Glocken floß durch die Gasse. Von diesem kostbaren Metalle konnte nur ein kleiner Theil wieder gesammelt und benützt werden, und daraus beschloß man die erste Glocke für die wieder errichtete Kirche gießen zu lassen. Das dreifache Feuer, durch welches dies Metall nun gewandert war, verlieh der neuen Glocke einen so schönen Klang, daß man von ihr der wieder aufgebauten Stadt den klingenden Namen gegeben hat. Man läutet sie noch am Morgen. Auch eines jener vier verschont gebliebenen Häuser steht noch und heißt in ähnlichredender Beziehung Hellemund.

Klingen nannte man in unsern Gebirgsflüssen die mancherlei aufgehäuften und rasch wieder verschwemmten Kiesbänke und Sandinseln. Scheuchzer, Nat.-Gesch. 1, 354. Im Gebirge nennt man also die beim Landregen entstehenden und wieder mit ihm versiegenden Wildwasser. Zwölfe dieses Namens münden in den würtemb. Kocher, 25 gleichnamige in den Jartfluß. Sie sind aufgezählt: Bibra, Journal v. u. f. Deutschl. 1790. 2, 473. 374. Der Klingel ist eine rheinische Kapelle bei Gernsbach, und über die dortigen Felswände floß sonst gleichfalls ein Gießbach; die Kapelle soll gleichwohl von ihrem Glöckchen den Namen haben. Schreiber, rhein. Sag. 2, No. 37. Aus der Teufelsklinge der schwäb. Alp fließt trübes Wasser: Grimm, DS. 1, 184; da holen sich die Leute Augenwasser. Schon eine Glosse des 8. Jahrh. macht aus solcherlei Flußnamen eine Wassergöttin: nimpha, Klincon. Diut. 1, 262 a. Die älteste mir bekannte Aufzeichnung des Wortes als eines Localnamen findet sich in der Markbeschreibung der bayr. Stadt Hammelburg, v. J. 777 (abgedruckt in K. Roths Klein. Beitr., Heft 2, 82): in thie teofun clingun, inde in hunzesbah unzi themo brunnen. Fernere Belege bei Grimm, Gramm. 3, 386.

Digitized by Google

## 449. Die Stadt Kronweißenburg,

auch Kroneisen genannt, soll der große Ort geheißen haben, der einst an der Stelle des heutigen Dorfes Tegerfelden sich ausgebreitet haben soll. Diese Stadt reichte von Koblenz, an der Ausmündung der Aare in den Rhein, bis zur Murzelen im angrenzenden Kant. Zürich. Der Marktplatz lag unterhalb des heutigen Dorfes gegen Döttingen hin. Als eine furchtbare Hungersnoth in diese Gegenden kam, beschlossen die Einwohner auszuwandern, vorher aber die Stadt den Flammen zu übergeben; so gieng sie wirklich zu Grunde. Die Schutz- und Trutzfeste allein blieb theilweise übrig, das alte Schloß Tegerfelden, das unterhalb dem Dorfe auf einem Felskegel an der Surbe in Ruinen liegt. Von ihm aus führte ein unterirdischer Gang hinab in die Stadt, um zu Zeiten der Gefahr sich gegenseitig Hilfe bringen zu können. Zwei in Nagelfluh gehauene Wallgräben am Fuße der Burg, nun gänzlich verschüttet, rechnet man dazu. Oben führte eine lederne Brücke über das Thal weg bis auf den jenseitigen Galgenbuck. Wer in der Stadt ein Verbrechen begangen hatte, wurde durch den unterirdischen Gang ins Schloß hinauf zu Gericht gebracht und dann über die lederne Brücke hinüber zum Galgen. Man hat dorten schon Skelette ausgegraben. Der Gang soll an einem jetzt noch bewohnten Bauernhause begonnen haben, das von jeher das Weierhaus heißt und demnach ursprünglich eine rings von Gewässer umflossene Burg gewesen sein muß. Noch ist im dortigen Keller eine alte Eisenthüre vorhanden. Die alte Hexe nennt man jenes gespenstische Wesen, das Nachts von dem Thurm der Ruine aus über die Lederbrücke fährt; sie trägt zwei Hörner, eines auf der Stirne, eines auf der Brust. Auf einer Dorfmatte, Brunnenwies geheißen, stand der Stadtbrunnen mit so viel Röhren als Tage im Jahre sind. Ein anderes Grundstück in der Nähe heißt die Pfisterei, da wohnte die alte Bäckerzunft. Die Ackerlänge im Unterfelde, welche Benkel heißt, soll eine Ahornallee mit Ruhebänken für die städtische Gesellschaft gewesen sein. Auf dem Guggenbühl oberhalb dem Rebberge hatte man Lustschlößchen und Sommerhäuser und genoß die schöne Aussicht in den Schwarzwald. In der Strite, einem Holzland gegen Zurzach, hielt man die Turniere ab; am Stampfisbach waren die Mahl- und Stampfmühlen. Zwei weitab vom Dorfe gelegene Matten zeigen, wie groß der Umfang des Ortes gewesen sei; sie heißen die große und die kleine Gaß. Fast überall trifft man in der Tiefe des Bodens auf Mauerüberreste: vor einigen Jahren erst hat man einen ganzen, sonderbar gebauten Feuerherd ausgegraben.



Digitized by Google

Unter den vielen Zauberbrunnen, welche Simplicissimus aufzählt, ed. Keller 2, 908 ist auch einer genannt ohnfern von Cronweissenburg, daraus mir Karchsalb und Wagenschmier quillt.

Wie hier so ist schon in den Zwergensagen (No. 183. 2) häufig davon die Rede, daß man in Geister-Höhlen, oder tief unter dem heutigen Ackerboden alte Feuerherdstellen ausgrabe. Der unter dem Namen „Alterthumsgräber und Bodenschmecker" wohlbekannte Aargauer-Bauer Laupper zu Windisch, der seit Jahren den Boden der alten Vindonissa im Umfange vieler Morgen, bis zu einer Tiefe von 6 Fuß aufgedeckt hat, war dabei mehrfach auf einen aus Letten verfertigten unterirdischen Estrich gekommen, der einen kreisrunden mit Kohle und Asche bedeckten innern Raum umschloß. Außerhalb dieser unterirdischen Lettenwände lagen gewöhnlich Knochen von Schweinen und Pferden, Stücke keltischer Thongeschirre, eherne Haftnadeln. Am Ebersberge am Schweizerrhein, sowie zu Oberwinterthur, führten wissenschaftlich geleitete Ausgrabungen zur Erkenntniß ähnlichbeschaffener keltischer Baustätten. Sie liegen meist in ziemlicher Tiefe unter der jetzigen Ackerkrume, sind kreisrund aus Pfählen und Flechtwerk aufgeführt und haben einen Boden aus festgestampftem Lehm, dessen obere Seite glatt, dessen untere aber mit kleinen Steinen, Reisern und Kohlen besetzt erscheint, also mit Dingen, die auf dem Platze, den man in die Wohnung einzuschließen gedachte, vorher gelegen haben mußten. Asche, Kohlen, Knochen verschiedener Thiere kamen dabei zum Vorschein und durch Feuer stark veränderte Steine, welche unzweifelhaft einst zum Feuerherde gehört hatten. Dr. Ferd. Keller in den Mittheil. der Zürich. Antiquar. Gesellsch. 7, 190.

---

## 450. Das Ritterschwert an der Kirchenmauer zu Tegerfelden.

Vor zehn Jahren machte man auf der Stelle eines alten Grabes, das an der Kirchenmauer beim Glockenthurm zu Tegerfelden liegt, unbedachtsam ein neues Grab für irgend eine Leiche, und stieß dabei auf ein besonders großes Schwert. Die älteren Leute erinnerten sich nun, daß das Gleiche hier früher schon einmal ausgegraben worden sei, und man kam überein, es liegen zu lassen und frisch mit Sand zu decken. Nun ist diese Stelle eigens mit einer Steinplatte deutlich gemacht.

---

## 451. Kulmerau.

Die Einwohner dieses Luzerner-Dorfes, das zunächst dem Aargauer Orte Leerau liegt, gehörten früher in die vorder-österreicher Erblande und mußten deshalb, wie die übrige Mannschaft des Aargaues, unter Herzog Leopolds Fahnen mit gegen die Schweizer in die Sempacher-Schlacht ziehen. Mit Angst hatten die daheimgebliebenen Weiber

Digitized by Google

der Rückkehr ihrer Männer entgegen gesehen. Als nun das Gerücht von der österreichischen Niederlage und bald hinterdrein der Zug der Geschlagenen ins Dorf kam, sahen die Weiber bald, wie viele der Ihrigen gefallen waren und wie wenige Männer zurückkehrten, und riefen deshalb weinend, so oft unter den Vorbeimarschierenden wieder nicht ihr Gemahl war: Kum mer au! (Wenn doch auch du mir kämest!) Aus diesem Schmerzensworte der Wittwen ist der Ortsname Kulmerau geworden.

## 452. Leibstadt.

Dorf Leibstadt war vor Zeiten eine große Stadt; das hat ein verfahrener (fahrender) Schüler bewiesen, der im Bunde mit dem Teufel stand und so zu allen verborgenen Dingen zu dringen wußte. Als er im Wirthshause zu Leibstadt einkehrte und die Bauern am Zechtische von dem hier untergegangenen Orte reden hörte, erbot er sich, es solle ein jeder von ihnen seine Bücki (Bütte) voll Wein zurückbringen, wenn sie ihm dahin folgen wollten. Als sie nun mit ihm hinweggiengen und aufwärts durch den Rebberg kamen, bückte er sich und hob wie von ungefähr einen Schlüssel auf. Mit diesem öffnete er hier die Pforte zu einem herrlichen Schloß mit großen Gewölben und Kellern, alle voll Wein. Sogleich füllten die Bauern ihre Bütten und trugen sie hinaus. Da trafen sie im Vorbeigehen auch auf offenstehende Geldkästen, doch durfte sich keiner mehr als drei Batzen herausnehmen. Dies ist in der Gegend geschehen, wo die untere Mühle steht. (A. Birrcher in Laufenburg.)

## 453. Leidenberg.

Wo die Pfaffneren, ein kleines Nebenflüßchen der Aare, den Boowald verläßt und in den Gemeindsbann von Vordemwald tritt, erhebt sich ein ziemlich großer Hügel, welcher den Namen Leidenberg trägt. Er ist von drei Seiten vom Boowald umgeben; an seinem Fuße fließt die Pfaffneren hin, in deren Thälchen die Straße von Zofingen nach Langenthal führt. Auf der Höhe des Hügels genießt man eine sehr schöne Aussicht auf einen großen Theil des Juragebirges, die schönste in jener ganzen Gegend. Darum und seiner Fruchtbarkeit wegen hieß dieser Hügel früher der „Freudenberg"; sein jetziger Name Leidenberg ist ihm aber aus folgendem Grunde beigelegt worden.

Digitized by Google

Vor sehr langer Zeit, als noch diese ganze Gegend mit so ungeheuren Waldungen bewachsen war, daß sich der Boowald von Zofingen bis nach Langenthal und von der Aare bis über die Luzerner-Grenze erstreckte, wo nur hie und da auf einem Hügel ein Jägerhaus, oder im Thale an einem Weiher eine Fischerhütte stand, da brach im Lande eine große Theurung aus und drang auch in diese Wildniß. Ein armer Fischer mit seiner Familie litt große Noth. Er hatte drei kleine Kinder, die den ganzen Tag nach Brod schrieen; sein Gewerbe, das ihn schon in guten Zeiten nur kümmerlich nährte, trug ihm jetzt gar nichts ein, in der Stadt Zofingen wollte niemand seine Fische kaufen. Darum schickte er seine Kinder Tag für Tag in den Wald um Beeren zu sammeln. So waren sie auch einmal an einem Sonntage nahe vor der Aerntezeit ausgegangen, um Erdbeeren zu pflücken. Da sie aber nicht den gewohnten Weg giengen, verirrten sie sich und kamen an einen ihnen nicht bekannten Bach, und diesem folgend gelangten sie an den Fuß eines Hügels, an dessen Abhang sich ein großes, beinahe zur Aernte reifes Kornfeld ausbreitete. Es war der Freudenberg, das einzige bebaute und fruchtbare Stück Land im Umkreis von mehreren Stunden. Die Kinder waren sehr hungrig und fiengen an, Aehren auszuraufen und zu essen. Allmählich vertieften sie sich mehr und mehr in das Kornfeld, so daß sie endlich ganz verirrten und trotz aller Bemühungen keinen Ausgang mehr finden konnten. Sie waren sehr müde, legten sich zusammen auf den Boden und schliefen bald ein. Der Vater verwunderte sich über ihr langes Ausbleiben, ward besorgt und suchte sie mit noch ein paar Fischern im ganzen Boowalde herum, aber vergebens. Er glaubte endlich, sie seien von wilden Thieren gefressen worden. Als aber nach etlichen Wochen jenes Kornfeld geschnitten wurde, fand man die Leichen der drei Kinder beieinander liegend und schon der Verwesung nahe. Deswegen erhielt der Freudenberg den Namen „Leidenberg". Er soll später abermals mit Wald bepflanzt worden sein, der jedoch wieder ausgereutet wurde. Ein Leidenberg scheint er bis heute geblieben zu sein, seine Bewohner und Bebauer stecken noch jetzt in tiefer Armuth. —

Die gleiche Sage, ohne Deutung des Ortsnamens: Studemund, Mecklenburg. Sag. pag. 273. Vgl. Bd. 1, 344: Kornengel, Kornkind, le Pliorant.

---

Digitized by Google

## 454. Löhren

nennt man jene bewaldete Berghöhe, welche von der Höhe der Küttiger Felder zur Aare hinzieht und an ihrer Steilseite Pfarrhaus und Kirche von Kirchberg trägt. Es finden sich an jenem Punkte vielerlei Scherben und Ziegeltrümmer aus dem römischen Standquartier, das in dieser Gegend angelegt war. Ober- und Unter-Löhrach sollen die beiden Burgen geheißen haben, welche an den zwei entgegengesetzten Gipfeln des Bergzuges erbaut waren. Das eine von ihnen zerstörten die Aarauer, als ihnen hier eine Bürgerstochter entehrt worden war, an seine Stelle kam das noch vorhandene Bergkirchlein. Das am andern Bergende gelegene Schlößlein hieß Rosenburg, von ihm trägt noch der dortige Wald den Namen Rosengarten. Es führte als Wappen eine Rose im weißen Felde. Es war Eigenthum des Geschlechtes der Meyer zu Aarau. Samuel Meyer war Stadtschultheiß und schenkte seiner Vaterstadt i. J. 1565 die sogenannte Meyergülte. Sie besteht in sechzig Malter Frucht, welche Aarau noch in den dreißiger Jahren von den Küttigerbauern und in der Umgegend zu erheben hatte. Der Stifter hatte mit diesem Geschenke seinen Bruder und die Erben in seinem eignen Geschlechte umgangen, das Schlößchen ward den Aarauern überflüssig und es zerfiel. Deshalb schrieb Kupferschmied M. im Jahre 1828 in seine Chronik: „Auf den Trümmern ehemaliger Größe meiner Vorfahren muß ich Thränen weinen. Hätte jener Meyer die Bodenzinse nicht verschenkt, so wäre unsere Familie nie so tief gesunken. Die ihr dies leset, handelt besser für euer Geschlecht!“ (Eggens handschriftl. Sammlung zur Aarauer Chronik von Ulrich Fisch, im Besitze der Familie Eggen.)

---

## 455. Die Römerstadt Muheim.

Die beiden aargauischen Städte Zofingen und Brugg sind sieben starke Stunden weit von einander, und in Mitte dieser Wegstrecke liegt als dritte Stadt Aarau. Gleichwohl sollen sie ehedem zu einem einzigen Orte zusammengehört und nur zwei entgegengesetzte Vorstädte ausgemacht haben von der großen Römerstadt Muheim. Dieser Name ist noch in dem Ortsnamen Muhen übrig, einem Dorfe an der Suhre zwischen Entfelden und Schöftland. Daß das ganze große Thal, worin dieses und andere Dörfer liegen, ehedem ein einziger weiter See gewesen sei, dies behaupten alle; ungewiß ist man nur darüber, ob er erst nach der Römer Untergang hier hervorgebrochen ist und

sich dann später wieder verlor; oder ob die Römer selbst schon ihn ausgetrocknet haben. Diejenigen, die das Letztere behaupten, suchen es gerade mittelst des Namens jener Stadt zu erweisen. Frösche nämlich hätten hier Tag und Nacht mit ihrem Geschrei die Luft erfüllt; ärgerlich über solche Unken hätte der Römer das trockengelegte Thal nach ihnen benannt; Muheim und Mauch aber sei auch jetzt noch der Name des Frosches, und wolle man die Entfelder, Gränicher und andere Nachbargemeinden mit einem Schmutznamen ärgern, so nenne man sie heute noch Frösche und Dorfmauche. Und so fest steht hierüber der Glaube, daß man sogar noch den Richtplatz jener Römerstadt zeigt. Er ist auf einem kleinen, bis zur Stunde unangebaut gebliebenen Landstücke gelegen, hart an dem Nebenwege, der von Ober-Entfelden nach dem Engstel geht. Mit letzterem Namen aber bezeichnet man den Bergrücken und die einzelstehenden Häuser drauf zwischen dem Rüttihofe und dem Dorfe Muhen. Der Dorffs-Rodel von Endtfeld, abgeschrieben von mir Matthisen Erben, Predicant zu Entfelden 1531 (handschr. in der Dorflade) nennt Bl. 4b diesen Engstel „das Ensi-stall in der steinj mür," und deutet damit selber auf die Entstehung des Ortsnamens Entfelden. Ensi und nach üblichem Umlaut Eusi hieß bei H. Bullinger (vgl. No. 503) und heißt jetzt noch auch der Spielplatz der Stadt Brugg.

Höher oben, „im Tann" liegen Waldplätze, welche Wallenland, Kaibenstatt und Alte Gräber heißen. Dort herum hausen die Ritter der Buckhalde, die einst von den Bauern des Suhrenthales vor ihrem Schlosse aufgeknüpft worden sind. Man hat hier schon oftmals mancherlei Alterthümer gefunden und ausgegraben: Münzen, Marmor- und Ziegeltrümmer; der Schloßbauer von Muhen, sagt man, einst sogar eine goldene Brunnenröhre, und der Altvogt von Entfelden einen Kupferkessel voll Goldmünzen. Erst jüngsthin (1854) ist ein Mosaikboden dorten abgedeckt worden. Eben auf diesem Engstel war es, und zwar in der Gegend, welche Büntis heißt, wo ein Mann von Obermuhen, Namens Götz, ein kleines Feld besaß und drinn ein Roß verscharren wollte, das ihm an der Seuche gefallen war. Er hatte die Grube fertig und dann das Roß hineingeworfen, aber sonderbar schien es ihm doch, daß nun das Thier sogleich weit tiefer in den Boden hinuntersank, als vorher das Loch gegraben war. Deswegen stieg er selbst hinab und fand bei kurzem Schaufeln und nicht gar tief den Eingang zu einer Höhle. Schon bei den ersten Schritten sah er genug Geldstücke am Boden liegen, auch Schüsseln, Näpfe und Teller herumstehen, und so trachtete er gar nicht weit in die Höhle hinein zu kommen, sondern nahm nur mit, so viel und

Digitized by Google

was er gerade mochte. Er warf das Loch zu und trug seinen Fund mit dem Vorsatze heim, Niemandem drüber zu erzählen. So wurde er zusehends reich und seine Nachkommen sind es heute noch. Nur mit jenen Näpfen und Schüsselchen wußte er nichts anzufangen, denn zum Küchengeschirre wollten sie nicht passen, und als Wasserkessel und Milchbecken waren sie zu klein. Vielleicht ahndete er ihren Silbergehalt gar nicht, vielleicht war ihm die Waare für den Hausgebrauch zu unheimlich, kurz er that alles in den Hof hinaus und endlich fraßen die Hühner daraus. Da kam eines Tages der Hühnerträger aus dem Freienamte zum Götz, wollte Geflügel einhandeln und stieß im Vorübergehen mit dem Fuße an ein solches Geschirrchen. Gleich am Klange merkte dieser Allerhandtäuschler, daß hier die Sache an den falschen Ort gestellt sei. Er erstand alles für altes Zinn und ließ bald nachher das Hühnertragen ganz sein. Denn er war in Kurzem eben so reich, wie Götz, und die Leute begriffen es diesmal eben so wenig. Nur wenige Jahre später wollte sich der Samuel Häfliger ein neues Haus bauen und brach sich in der gleichen Gegend des Engstel die Grundsteine dazu. Er war gerade auch nicht Schuld, daß die Frösche Schwänze haben, und deswegen hieß er gewöhnlich blos Stöffelisameli. Als er nun da auf eine gewaltige Steinplatte traf, die von allen Seiten ganz glatt zugearbeitet war, dachte er sich gar nichts anderes dabei, als wie sie sich bequem über den breiten Graben zu seinem Neubau hinüber legen lasse, und so pickelte er weiter. Nun aber löste sich auch eine glänzende Steinpflasterung ab, und alte Karrengleise ließen sich deutlich dran erkennen. Da merkte er, daß man auf dieser unterirdischen Straße noch ein wenig weiter kommen könne und gelangte denn auch ohne Mühe von diesem Thorwege gleich zum Thore selbst. Anstatt gerade in die neue Stadt hineinzulaufen, gieng er nur in den ersten besten Saal, der da offen stand. Und weil ihm der ganze Kopf voll war vom Steinbrechen, so nahm auch da wieder nur der wunderbare Steinboden dieses Saales seine ganze Aufmerksamkeit gefangen. Denn da gieng rings an den Wänden ein köstlichblaues Pflaster im Gevierte und war mit weißschimmernden Steinblumen so frisch ausgelegt, als ob lauter große Kamillen in ein blühendes Leinfeld gesetzt wären. Ein zweites Viereck lief dann innerhalb von gelbem Marmor, und sein mittlerer viereckiger Stern sah so weiß, wie gestandene dicke Milch. Jetzt wußte der Stöffelisameli genug Material für seinen Küchenboden und wollte eilig heim, um den Arbeitern zu berichten, daß sie ihre Pickel an den üblen Kalksteinen nicht länger abzustumpfen hätten. Aber noch sieht er im Weggehen eine große Urne in der Nische stehen,

Digitized by Google

und da er beim Oeffnen das heilige Oel drin findet, mit dem die Heiden ihr ewiges Feuer zur Abtreibung des Teufels unterhielten, so besinnt er sich nicht weiter, sondern hält dies für den feinsten und kostbarsten „Schmutz" (Fett). Er läßt alles Andere liegen, geht zum Thore hinaus und weil sein Wagen schon lange ohne Karrensalbe (Wagenschmiere) gewesen ist und heute ganz unerträglich gegirrt und gegikset hatte, so schmiert er ihn droben so eifrig und lange damit, bis die ganze Urne leer ist. Was soll er mit ihr selber machen? Salbentöpfe hat er vom Viehdokter her noch genug am Stallfenster stehen; er schmeißt das Gefäß also in den Steinbruch hinunter, daß es in tausend Scherben zerfährt.

Nun soll heute noch vor dem Stöffelisamelis-Haus die größte Steinplatte liegen, die im Thale zu sehen ist, aber das Stadtthor, geschweige den Saal mit seinen Schätzen, hat seither keines mehr finden können.

Dafür fährt zwischen diesem Engstel und dem Dorfe Entfelden öfters noch eine Kutsche durch die Luft, hinter der ein Reiter auf einem weißen Esel drein zieht. Auch sie soll Nachts aus der unterirdischen Stadt Muheim abfahren, aber wohin, weiß man nicht mehr anzugeben.

Im Norden hält man die Unterirdischen für die Verfertiger der alten Urnen und Grabtöpfe. Einen solchen Topf zu zerschlagen, bringt kein Glück; aber Hühner aus demselben gefüttert, gedeihen, und Milch in ihn gefaßt, rahmt besser und ergiebt mehr Butter. Müllenhoff, Schlesw. Sag. No. 385. — Unsere Sage wiederholt die in andern Traditionen öfter auftretende Behauptung, die Frösche der Umgegend hätten so unausstehlich geschrieen, daß sie eigens durch Frohndienste der Bauernschaft vertilgt werden mußten. (Vgl. hierüber Kuhns märkische, — und Tettau-Temme's, preuß. Sagen. Dazu Grimms RA. 356.) Es giebt noch Kinderreime, welche besagen, daß die Hörigen das Wasser im Teiche mit Ruthen schlagen mußten, um die Frösche zu schweigen, so oft der Gutsherr im Orte übernachtete, oder sein Weib in den Wochen lag.

---

## 456. Der Hune zu Niederwil.

Zu Niederwil im Freienamte ist ein Bühl nahe am Dorfe, auf welchem heute ein steinernes Kreuz steht. Man sagt, drinnen liege ein Held mit umgeschnalltem Schwert, den man den Hunen nennt. Nachgrabungen, die man daselbst veranstalten wollte, sind bis jetzt durch den Landbesitzer nicht gestattet worden.

Trotzdem, daß alle ältern Landeschroniken vom Einbruche der Hunnen und später der Ungarn und Saracenen erzählen, die bis zum Jahre 978

Digitized by Google

fünfzig Jahre lang am Oberrhein gesessen haben sollen (Burckhardt, Kant. Basel 1, 4), so denkt sich die Sage, wo sie dieserlei Volksnamen nennt, gewöhnlich doch ganz anderes und wird dabei durch ältere und neuere Sprachbeschaffenheit unterstützt. Bei Hun und Hunna denkt sie an Wäscherinnen (Abthl. III, pag. 153), denn altn. hion und md. Heumann ist famulus, deditus, Unterthan (Grimm, RA. 305). Diese Wäscherinnen, Namens Hunen, vermengen sich mit dem Namen der landschaftlichen Hungerbrunnen und Hungerberge, von denen die Ortschroniken zwar wiederholt eine Anwendung auf den Namen der Hunnen und Hungarn machen, die sich dorten einstens gelagert gehabt hätten, während indessen die Sage bei der Behauptung verbleibt, daß ein solcher Brunn und Brunnenberg zu gewissen Zeiten, wenn ihn das Wilde Heer durchzieht, der Hungersnoth wehre. Also ist dann auch Hün Name des W. Jägers, und der Hühnliwald bei Thun (Kohlrusch, schweiz. Sagb. 1, pag. 40) ist Sitz des W. Heeres.

## 457. Kloster Olsberg.

Noch im dreizehnten Jahrhundert soll Olsberg Ochain geheißen haben, und ein Adelsgeschlecht dieses Namens steht allerdings von selbiger Zeit an in den Zofinger-Zunftbüchern. Das Kloster selbst nannte sich hortus dei, Gottesgarten, und Oelberg, weil seine Lage mit jener des Jerusalemischen Oelbergs Aehnlichkeit habe. Daraus sei der jetzige Name Olsberg entstanden. Gewiß ist, daß des Klosters Wappen der Heiland am Oelberg war. Gründlichere Forscher geben an, es sei von dem ältesten Gaugrafen dieser Bezirke, von Cadalolt erbaut und nach ihm benannt worden; aber die spätere Zeit habe vom ganzen Namen nur noch das Ende Cadal-Oltsberg aussprechen mögen.

## 458. Hunenschlacht und Gründung Olsbergs.

Beseits von Rheinfelden hinauß ist ein thälin, dadurch laufft ein wässerlin in Rhein, genannt die Feer, zwischen zweien hohen bergen vnd wälden. Do ist gelegen ein closter, wie etlich meinen dodannen also benamset, das es gleich dem thal zu Hierusalem, do der Oelberg, daran Christus angehnder seiner marter gebetet. Nun weiß man je kein gewüsses (von wegen zweier verderblicher brünsten, darinnen dieses Gottshauß vmb das jar zwölffhundert vnd hernach im jar vierzehenhundert an gut vnd brieflichen vrkunden schweren schaden erlitten, stifftungen vnd vergabungen darzu verloren); aber nach fleißigem meinem nachgrüblen vnd auf die verzeichnung, so mir auß befelch der Ehrw. Edl. Frauwen, Frauw Katharina von Hersperg, Aptissin doselbst, MGFrw., zugeschickt, will mein vermutung sein,

Digitized by Google

vnd gibts auch die außrechnung der zeit, vnd die landrüchtig alt benamsunge vmbgelegner orten, daß dieses closter fast vmb das jar tausent n. Chr. G. gestifftet vnd erbauwen worden.

Dann alß darvor etwas bey sibentzig jaren die Hewnen Teütschland überfallen, den Bodensee, auch den Rheinstrom gantz verwüstet hatten, SantGallen Closter geplündert, die Reychenaw angriffen vnd Seckingen belägert: doselbst theilten sie sich, schickten den einen hauffen über den Rhein, der meinung, gegen den Schwartzwald zu wäre leichter zu prucken vnd zu stürmen. Doch bleib jren der meistetheil auff diser seiten des wassers ligen. Nun saß domals in dem Aragaw, das ist jetz in dem Sißgöw (dardurch die Ergetz, Ergoltz) laufft, ein Graue mit namen Cadeloch. Der hatt auch von dem Röm. Keyser innen zu lehen vnd zu verwalten das Frickthal; darinnen hatt er ein statthalter, Hirminger genant. Den mahnet er auff, vnd dieweil er selb ein verrümpter kriegßmann, versammlet er bald ein volck im land, vnd schickt jm auch graue Cadeloch die besten, so er gehaben mocht, die Vngern anzugreiffen. Hirminger hat der schantz acht vnd verkundtschafft, wie das etliche der Vngern dem Rhein nach herab streifften, da auff beüt vnd fütterung zugen, schier bis gen Mely (Möhlin) vnd Rheinfelden ruckten, im willen die thalg'lend doselbst außzuplündern. Des erwartet er einer nacht, das sie sich abermals außgelassen vnd im läger emplößt. Dem Graven gab er etlich wenig volks zu, der solt ein halt stecken ob der höhe des bergs, so nöch zwischen dem Closter vnd Rheinfelden am höchsten vnd sich biß gen Eycken (Dorf) hinauf zeucht. Derselbig stellt sich rottenweiß nacheinander auf die höhe, mit dem befelch, daß auf angehende Kreyden (Chrie) jede ein groß feüwr mächte vnd „Christoleyß" schreiend. Dann die alte griechische wörter Kyrie eleyson, Christe eleyson seind so ausgesprochen und gemeinlich jr Kreyden gewesen. Wo das Getrösch wider die Vngläubigen angangen, vermeint man vnd sicht schier der warheit gleich, diser berg heiße noch doselbst här an etlichen orten Reuschlinsberg (die Rüschelen), von dem geräusche vnd getöß, so do fürgangen; an etlichen orten auch Hirmingersberg, oder Hirmlinsberg.

Nun Hirminger griff oben an, überfiel die Hewnen im läger. Was jenseits Rheins war und den lermen hört, mocht doch nit herüber kommen (dan Hirminger dasselb versehen hatt); sie schossen mit flitschen, warfen mit schlingen, heulten wie das vieh, aber sie mußten sehen vnd hören, das die jren litten. Was auf der füterung vnd peuth was, das war do auch geschlagen. Dann Grave Cadeloch, der ließ überal seine zugerüste wällenhaufen (Reisbündel) anzünden: das gab ein schein viler haufen volcks, also das do nichts was, dann

Digitized by Google

fliehen von den Hewnen, in den Rhein sprengen, überschwimmen; doch mochten jr wenig zusammen kommen, sie wurden an allen orthen getrennet, in summa erschlagen. Der raub, so do die Hewnen überal zusammen gesacket, erlangt do der Grave vnd Hirminger, die selbige peuth vergabten sie zum theil an das closter Seckingen. Vnd dieweil der Grave anfangs gelobet, er wolte der enden etwo ein gottshauß in der ehr Christi stiften (dieweil er mit der freyden Christoleyß den feiend angriffen vnd auß Christi gnaden überwunden), also ward auch das gut zu demselbigen ort eins theils neben sich gelegt. Dieweil aber nach abgang Arnolphi des Keysers vnd seines suns Ludovici in teütschen landen stäts große spaltung vnd krieg, die Capetischen stäts mit den Carolinern sich zancktend vnd sie verjagten auß Gallien, also das die Caroliner hin vnd wider in disen bürglanden sich behelffen, an Rhein herauß hausen mußten: kondt Graue Cadeloch sein gelübt vnrhuw halben nit volbringen, sunder es stund an, bis sein sun, auch Cadeloch genannt, nun veraltet vnd wol sahe, das er wenig erben zu erwarten: fieng an ein stillen platz zu suchen mit rath, auch hilff seiner schwäger, der grauen zu Homberg vnd Froburg, so domals gar mächtig vnd bei den abkommenden (Abkömmlingen der) Carolinern in hohem Ansehen. Vnder disen, die sich künig in Franckreich vnd hertzogen von Lothringen schreiben, was auch Carolus, änkel des Caroli, den Capet in gefencknuß getödt, hauset zur selbigen zeit herauß am Rhein umbher, vnd thet ein große steür zu solichem bauw; vnd wie Fraw Elßbeth Oettlin, die jetzige priorin meldet (welche ein Fraw auff 90 jar, über die 70 jar im Closter gewohnet), so ist ein Cron mitten im Chor gehangen, mit frankreichischen vnd lothringigen waapen geziert vnd mit der übergeschrifft eines frankreichischen Künigs, der sie dohin begabet hab, ist im Bawrenkrieg, Anno 1525 jar, wie anders mehr, hingerissen vnd verwüstet worden: eben diselbig sol diser Carolus dargeben vnd das Closter hoch begabet haben. Als nun Cadeloch der jünger mit tod abgangen, ist Agnes, ein geborne von Mörsperg (Mörsburg am Bodensee), sein nachgelassenes gemahel, von deswegen das sie on leibserben, in den geistlichen stand getretten, hat zu jr genommen des vmbgsessnen adels töchtern, zu ehr vnd lehr aufferzogen vnd also ein stiftung gethan, das zu volgenden zeiten allwegen vom Adel, vnd sunst keine, in disem Gottshauß als Closterfrauwen aufgenommen werden solten, ja das dieselbigen solten durch acht anen erweisen mögen jr adelich herkommen.

Also das nun, wiewol nicht gewisses, dannocht zu vermuten, dises Gottshaus habe den nammen Mons Christi, der doch jm abgangen, von der kriegßfreyden Christoleyß, oder aber von dem ersten fundator

vnd stiffter Cadeloch Cadolßberg sein nammen bekommen, der hernach durch auslassen der ersten sylben Olßperg verblyben. — Sebast. Münster, Cosmographey, Basel 1567, pag. 585.

---

## 459. Graf Irminger in Hermenstal.

Ein Frickthaler-Gaugraf wird Graf Irminger und Herminger genannt. Es soll jener von den Chroniken genannte Graf Erchanger sein, der i. J. 938 am Oberrhein den Hunen eine Niederlage beigebracht hat. In der Feldgegend von Hermenstal schlug er mit seinen gesammelten Landleuten ein Lager, und davon trägt diese Umgegend heute noch seinen Namen. Gegenüber der Dorfkirche von Schupfart erhebt sich ein freier Hügel mit den Trümmern einer Burg; er wird noch Herrenheim genannt, weil hier der Graf gewohnt hat. Das kleine Thälchen, das vom Dorfe weg gegen das Sisselner-Feld mündet, trägt ebenfalls von jener Burg den Namen Burstel, d. i. Burgstal. Hier heraus brach der Graf mit den Seinigen zum Angriffe vor. Es war Nacht und der Feind im Lager schlief. Beim Vorrücken ließ der Graf seine Leute Lichter in Töpfe und Krüge verstecken und diese dann vor den hunischen Zelten unter allgemeinem Feldgeschrei plötzlich zerschlagen. Das Geklirre und Gekessel der zersplitternden Gefäße, die plötzlich erleuchtete Nacht, das irre Fackellicht in aberhundert gehobenen Händen trieb den erschreckten Feind, der ein gewaltiges Heer sich gegenüber vermuthete, in eilige Flucht. Von diesem Geräusche her ist alsdann jene ganze Gegend die Rüschelen geheißen worden. Ein Theil der Fliehenden ward in den Rhein gesprengt, ein anderer stromab verfolgt. Noch in Rheinfelden versuchte sich ein Haufen festzusetzen, aber auch hier warf sie Graf Herminger hinaus, und das Thor, durch welches sie entrannen, hieß davon früherhin Hermännlisthor, nun aber Fuchsloch. Jenseits des Rheines bei Waldshut heißt ein Berg der Hungerberg; die Hungarn, die bis dorthin entkamen, sind auf ihm ausgehungert worden. Andere, die ihre Flucht ins Elsaß nahmen, gaben dorten den ersten Ortschaften hinter Basel ihren heutigen Namen: Groß- und Klein-Hüningen.

Auch die Kaiserchronik (ed. Diemer 1849, pag. 482, vers. 5) erinnert sich an diese Begebenheit:

Ja liezen di unger ir ait wol an scin,
si herten unz uber den rin.
ain burch haizet basila,
di zestorten si da.
elsazen si herten
daz liut si kolten mit den swerten.

Digitized by Google

Voranstehende Erzählungen stützen sich auf Eckehards Casus St. Galli, c. 3 (Pertz 2, 110), da erzählt wird, wie Hirminger im Gau Friccowe den Ungarn bis Seckingen am Rhein entgegen zieht und sie daselbst schlägt: nam et villani quidam praedocti ollas prunas in proximo monte paratas habentes, tumulto audito faces accensas levabant, et ut discretionem sociorum et hostium nossent, quasi perlustrium fecerant. Spectabant sociorum internecionem transfluminantes hostes otiosi, iraque armati accurrunt ad profluentis litus rapidi, missilia furori satisfacientes plurima iaciunt, caninoque ululatu voces horridas miscent. Dieser Stelle nach erzählen die Begebenheit Bullinger, Chron. Tigur. 1, c. 36, „vff dem Melyfäldt nit wyt von Augst" ist bei ihm die Schlacht; Stumpf, Chron. 4, c. 36. 12, c. 9. Rahn, Eydtgenöß. Gesch. Beschreib. 1690, pag. 48. Die Reichenauer-Chronik des Hermannus Contractus erwähnt der Zerstörung Basels durch die Ungarn ad ann. 917, dabei ist aber der mitgenannte Graf Erchanger ein Rebell gegen König Konrad und wird auf dessen Befehl enthauptet. Mone, bad. Quellensamml., setzt diesen dem Oberrhein so verderblich gewordenen Einfall der Ungarn (gemäß den Annal. Aug. Pertz Mon. 1, 68) auf das Jahr 926 an. Uns liegt für die Erklärung der betreffenden Sage der Nachweis ob, daß Eckehard von St. Gallen, sowie die ihm nachschreibenden Historiker in dieser Geschichte nur Gideons Kriegslist und Sieg gegen die Midianiter copiert haben: Richter, cap. 7, Vers 16. Diese Entlehnung wäre allerdings vermögend, den Werth der ganzen Erzählung aufzuheben, wenn letztere eben nur in der Gideonitischen Kriegslist und durch die Reihe der sich mit ihrer Wiedererzählung beschäftigenden Chronisten ihren Bestand hätte. Das Frickthaler-Volk aber war und ist der Originalerzähler gewesen, und die Chronisten haben nicht einmal alles das sorgfältig genug nachgeschrieben, was es hierüber bis ins Einzelne anzugeben wußte und noch weiß. Ein umgekehrter Schluß, als ob die Bevölkerung den Chronisten nacherzählt habe, ist bei der totalen Unbelesenheit des frühern Geschlechtes dieser Landstriche unerlaubt. Noch zu Anfang dieses Jahrhunderts war Schreiben und Lesen bei der Frickthaler-Bauernschaft eine seltene Kenntniß. Es muß also in dieser vom Volke herrührenden Erzählung ein Sagenkern verborgen sein, und wir versuchen, ihn hier aufzuweisen. Wir beginnen mit dem Satze, daß dieser Graf Irminger, Erchanger und Hermann ein Gott und die hier beschriebene, mit Fackelschein und Siegesgeschrei gelieferte Hunnenschlacht seine Festfeier gewesen sei. Die fränkische Völkertafel aus dem 6. Jahrh., bei Pertz 10, 314 nennt unter den drei Stammesbrüdern den Eponymen Ermin oder Irmin, und der nach ihm benannte dritte Stamm des Germanenvolkes werden die bei Tacitus und Plinius erwähnten Herminonen sein. Dieser Irmin ist längst zum Kirchenheiligen geworden, der seine Hirmonsberge, Hirmonswiesen und Hirmonsburgen (Panzer, bayr. Sag. 1, No. 33) hat, seine steinernen Hirmanskirchen und hölzernen Hirmanskapellen (Panzer, ibid. 2, No. 42), und ein Fürbitter ist für Getreide und Vieh. Sein Bildniß war aus einem Sägblock herausgesägt und dann auf einen Erlenstock gestellt worden. Dies Bild war also eine jener Eisenbüsten, die man mittelst eines angeschmiedeten Zapfens in das Bohrloch eines Baumes oder einer Säule zur Verehrung aufstellte, und so findet dieser Hirman seine vielberufene Irminsûl, Ermensäule. Brauch war's, diese Bildnisse theils bei anhaltend schlechtem

Digitized by Google

Wetter in Sümpfe und Moose zu versenken, in Bäche zu werfen (ins Hirmonsbächl bei Bischofsmais: Panzer 2, pag. 39), theils sie aus den Bächen bei guter Witterung wieder herauszuziehen, sie mit Bier zu begießen, mit Kuchen zu belegen. Wie dies in Bayern mit den eisernen Wirtingern, Leonhardsbüsten oder Bach-Lieneln geschah, zeigt Panzer 2, pag. 390. So hat auch nach Bechsteins DSagb. No. 507—509 am großen und kleinen Hermannsberg, in dessen Nähe der Berg Donnersbauk liegt, Graf Hermann sein Schloß, ist aber wegen der Tobsüchtigkeit seiner Ritter in die Erde verwünscht. Nun füllt er Bauernmädchen ihre leeren Flaschen mit Wein und schenkt Hirten, die ihm zum Kegeln aufsetzen, das ganze goldne Kegelspiel. Ein anderes angebliches Raubschloß Hermannstein an der Ilm wird vom Volke bezeichnend auch Hammerstein genannt. Bechstein, ibid. No. 512. Der Zusammenhang zwischen dem Gotte und dem Hammer ist gezeigt Abthl. IX, No. 418. Eine Irmenkirche mit einem Irmenbrunnen ist die hochgelegene Dorfkirche von Krock, eine Stunde von Eisfeld, und die vielen runden Kiesel, die dorten in der Nachbarschaft den Boden decken, sind die Erbsen, welche der Königstochter hier aus der durchlöcherten Tasche fielen. Bechstein, ibid. No. 715. Hermenhüy heißt in Angeln jener größte von vielen Grabhügeln, in denen König Frode seit einer großen Schlacht ruht. Müllenhoff, Schlesw. Sag. No. 603. Dieser Irmin hat auch die seiner Gottheit geweihten Pflanzen. Schmalfuß, die Deutschen in Böhmen, Prag 1851, pag. 102, nennt die matricaria, Kamillenblume, Hermännli, und fügt bei, man halte sie für verwunschene Soldaten. Der Pflanzenname entspricht den von Grimm, Myth. 1161, gezeigten Namen, abd. irmanloup, agf. eormenvyrt, geormenleáf: malva, bedeutend die „hochheilige" Blume. Hirmin, sagt Widukind in seiner Sachsengeschichte 1, c. 12, ist der Name des Kriegsgottes, dessen Heiligthum man durch die Säulenform vorstellt, ein Wort, welches wir in lobendem oder tadelndem Sinne, ohne seine Bedeutung zu kennen, heute noch anwenden. — Wir lassen darüber Beispiele folgen. Zuerst aus Adam von Bremen 1, 5 über die Sachsen: truncum ligni non parvae magnitudinis sub dio colebant, patria enim lingua Irminsûl appellantes, quod latine dicitur universalis columna, quasi sustinens omnia. Diese oft citirte Stelle soll den weiter hier kommenden Sätzen behilflich sein. Die Tecklenburger-Sage aus dem Münsterlande (Firmenich 1, 283) erzählt von einem Lindenbaume, auf dem drei eiserne Birnbäume wuchsen. Dorten stand ein so großer Wagen, daß er bis an die Scheunendiele reichte und nicht herausgezogen werden konnte, wenn man kam, ihn zu betrachten. Das Volk war rathlos und rief: O wöre hiër mæn de Schulten Hiærmen! Da kam der gerufene Schultheiß Hiärmen vom Kirchspiel Wechte und brannte des Wagens halber die ganze Scheune nieder. Dabei reitet er ein blindes Roß und jagt so viele Menschen in den von Schneewasser hochgehenden Bach, daß dieser sich noch höher stauet, die Gegend überschwemmt und die übrigen Menschen vom Ufer mit wegspült. Man sieht, daß hier die alte Sage in einen Krähwinklerstreich des Schultheißen verdreht werden soll; allein die Sprache redet heute noch darüber Deutlicheres. Heidnisch lautende Zumuthungen weist man westfälisch mit der Phrase ab: du mainsk ok, uese Hiärguol hedde Hiärmen! meinst du, Gott und Teufel heißen gleich? Die größte Blutwurst und den größten Kerl im Kirchspiel nennt man kiärspels-hiärmen; bummel-

Digitized by Google

hiärmen schilt der Bauer sein Roß. Wöste, Volksüberlief. aus der Mark 1848, 43. Ein Sprichwort des Lippeschen Landvolkes sagt über diesen unchristlich lautenden Namen: man draf sinen vaer nich Herm hêten, wenn he auk so hêt. Viehoff, Archiv 1851, 294 b. „Wolt ich darumb nit wöllen Hermann heißen, weil man dem Bock Hermann-stoß nicht! sagt, welches doch ein Antiquitet von den Hörkriegischen stoßenden Teutschen vnd Noachs- oder Bacchibock ist, oder weil man die Gäuch Hermann-gut Schaff nennt?" Fischart, Garg. c. 10. Der westfäl. Kinderspruch ist bekannt genug: Hiärmen, slâ diärmen, etc. Neuerlich noch hat denselben Horckel, Geschichtschreiber deutsch. Vorzeit 1, 357 auf Kaiser Karl, der die Irmensäule bricht, gedeutet. Dem aber widerspricht es, daß dieser Reim zur Frühlingsfeier gesungen worden ist und doch zugleich seine heidnische Gefährlichkeit, auch uns noch fühlbar, beibehalten hat. Dies beweist die Schaumburger- und Mindener-Sage: Ein gegen die Existenz des Teufels predigender Pfarrer singt auf dem Heimwege für sich dieses Liedchen Hermen, slâ dermen. und eben darüber erscheint ihm nun der abgeläugnete Teufel (Firmenich 1, 259) und vermacht ihm statt der verhofften Ducaten nur Bockspillen. Im Kriege zwischen dem Maimonat und Augstmonat (Liedb. der Hätzlerin, pag. 249 a) spricht der Mai zum prahlerischen August: sieh, welcher hermann! ei, potz tausend, schaut mir diesen Streitbold! Die Bedeutung dieses Ausdruckes war ursprünglich nicht Kriegsmann, sondern Edler und Freier, der in Kriegsnoth zur Vertheidigung des Vaterlandes aufgerufen wird. Grimm, RA. 291. Deswegen galt den Sachsen die Sitte, nach gewonnener Schlacht, wie z. B. nach ihrem Siege über die Thüringer an der Unstrut, den Gott Irmin „gleich einen Mars" zu feiern (Myth. 327). Das von Tacitus mitgenannte germanische Volk der Arimannen bezeichnet die arischen Männer, die Freien, und die Heldennamen Arioviſt und Armin entspringen dieser Wortwurzel.

Machen wir den Schluß. Der Festtag des Gottes Irmin wurde nach der Art begangen, wie man noch heute den Hirsmontag, den Mai- und Pfingsttag, den Sonntag Lätare und Stabtag feiert. Knaben mit Ruthen und Stangen, mit Schellen und Kuhhörnern, Kränze und Bretzel tragend bringen auf einem Schleifrade einen Strohmann durch die Gassen gezogen, oder in das Nachbardorf. Wo sie denselben in Bach oder Brunnen stürzen wollen, da wehrt es ihnen eine gleichfalls gerüstete andere Bubenschaar, und ein Scheingefecht der beiden Parteien beginnt unter gegenseitigem Schlachtruf. Der Sieger erobert den Strohmann und stürzt ihn nun selber in den anfangs verwehrten Brunnen, oder verbrennt ihn am Abend, wo dann das Lichterumtragen, Fackelschwingen, Pulvermännchen- und Sprühteufelmachen mit hinzutritt. Daher der ndd. Kinderreim, der bei solchen Gelegenheiten gilt: Hamer (d. i. Donner), slâ hamer, slâ Bussemann doet! Kuchen, Eier, Würste, Nüsse und Most werden je nach der Jahreszeit entweder aus den Häusern den Spielenden verabreicht, oder letztere haben durch Stiftungen einen schon festgesetzten gemeinsamen Abendschmaus. Wie daran die schweizerischen Feste des Harnischlaufens, des Bannertages, Fritschi-Umzuges, der Metzgerbraut, der Mordnacht u. s. w. getreten sind, dies ist in der Schrift Oberdeutsches Gebildbrod, No. 2, eigens dargethan. Irmin ist nach Grimms Erklärung ein kriegerisch dargestellter Wuotan. Der Irminger unserer Sage ist dies nicht minder, sogar sein Beiname Graf Er-

Digitized by Google

changer weist auf den Erkan und Erkal hin, agf. Eorklanſtan, lauter Namen, die ſich auf den kriegeriſchen Hercules der Germanenmythe beziehen. Er hat gleichfalls ſeine Kirchen, Burgen und Berge beſeſſen, welche Hermenſtal, Hermleſte, Herrenheim heißen (gleichwie im Quedlinburger-Gymnaſialgebäude der Vater Harm ſpukt. Pröhle, unterharz. Sag. No. 61); ſein Name iſt gleichfalls in den des Teufels verdreht worden, denn das Hermannsthor, aus welchem er zu Rheinfelden die fliehenden Hunnen hinauswarf, iſt dann Fuchsloch geheißen worden. Wenn er mit Heereslärm und Kriegsmuſik über das Gebirge zieht, ſo ſind die Hunnen und Hungarn nicht urſprünglich die ihm entgegen tretenden Feinde, ſondern die ihn begleitenden Schlachtjungfrauen, die, weil ſie Gewänder ſpinnen und Tiſchtücher, Wäſche bleichen, Gebirge als Eßtiſche decken, Weinkrüge ſchwenken, brennende Brautkerzen und Hochzeitsfackeln in den ledigen Oelkrügen verbergen: für alle dieſe Geſchäfte mancherlei Namen, beſonders aber den der ſchreienden (hünenden), der hungertuchwebenden Hungarn und Hunen führen. Von ihnen und ihrer weitern Anwendung auf bürgerliches und kirchliches Feſt, auf Landwirthſchaft, Witterung und Aernte handelt die Schrift Oberdeutſches Gebildbrod No. 48.

## 460. Heidenhügel in Sarmensdorf.

Wer am obern Heidenhügel ſteht Mittags zwiſchen 11 und 12 Uhr, der ſieht einen Schatz. Denn hier ſoll die Burg zu der großen Stadt geſtanden haben, welche ſich bis Mellingen hinab und bis Muri hinauf ausdehnte. Schon vor langem haben die Bauern auch ein hübſches großes Gewölbe unter dem Hügel aufgedeckt und den Schätzen noch weiter nachgegraben. Bis jetzt haben ſie aber nur alte Lampen finden können. Auch im Bettwyler-Walde ſollen ſich ganz gleiche Gewölbe finden. In der Kronenbrünnlimatte, ob Sarmenſtorf, ſieht der Fromme in der Tiefe des dortigen Brunnens ſchwarze Heiden herumgehen. Dorftheile heißen dort Spieltruhen- und Kaibenwinkel.

## 461. Reitnau und der Suhrenthaler-See.

Wo jetzt die Moosmatten und der Gründelwald von Triengen bis Staffelbach ſich erſtrecken, ſoll ſich in der Vorzeit ein gewaltiger See ausgedehnt haben. Der Hügelſaum, welcher das Dorf Kirchleerau zur Rechten und Attelwil zur Linken vom eigentlichen Suhrenthal abtrennt, habe dazumal ſich quer durch die Gegend hingezogen und den Gewäſſern als Damm entgegengeſtellt. Das Volk ſieht in den Wandungen ſeiner Berge noch immer die Spuren, wie hoch hier der See aufbrandete, und begründet ſeine Meinung ganz beſonders mit dem Namen des Dorfes Reitnau; denn da man nach ſchweizeri-

Digitized by Google

schem Sprachgebrauche zu Schiffe reitet, statt fährt (rhedarum, reitwagana übersetzen altd. Glossen in Graffs Diutisca 2, 43 a), so hält man den Kirchenplatz des Dorfes Reitnau für die alte Schiffländе und sieht den gegenüber liegenden Landungsplatz erst im Dorfe Moosleerau. Dort hatte der See seinen Ausfluß, und wo jetzt nur noch der kleine Dorfbach von Kirchleerau sich dem Thale zu schlängelt, da gieng die Suhre im alten Bette hindurch, herum um die Querreihe der Hügel, der sogenannten Höhle zu. Mit seinen untern Ufern soll dieser See bis zum Aarauer-Distelberge gereicht haben, eine Ausdehnung von fünf Stunden. Dorten auf der letzten Waldhöhe vor Aarau zeigt man am Distelberge ein Bauerngut, das man den Landenhof heißt, weil hier die Schiffe anlandeten und ihre Güter ausluden.

Diese sich bei uns oft wiederholenden localen Seesagen haben naturhistorische Giltigkeit. Wenn man heute unterhalb Solothurn einen Querdamm durchs Aarthal aufwürfe, der sich nur 32 Fuß über den mittlern Wasserstand erhöbe, so würde man nach angestellter Berechnung den ganzen Gau abermals in einen See verwandeln, dessen Oberfläche 100 Stunden betrüge. Vulliemin, Kant. Waat 1, 158.

---

## 462. Vilmergen.

Das jetzige Dorf soll früherhin der Theil einer großen Stadt, und der sogenannte Sarmenstorfer-Heidenhügel deren Mittelpunkt gewesen sein. Während dorten die Citadelle stand, war hier die jetzige Vilmergener-Kirche der heidnische Stadttempel.

---

## 462 a. Stadt Brünis bei Wohlen.

Im Felde oberhalb Wohlen, an der Straße von Aarau nach Muri, heißen einige Aecker Seewadel. Dort soll ein See und mitten in ihm ein Zwingherrenschloß gewesen sein. Jenseits dieser Straße trifft man Ueberreste von Mauern im Boden, die sich gegen die Brünishalde hinziehen. Hier lag Stadt und Schloß Brünis.

---

## 463. Die Waglithaler.

Waggenthal und Krummthal nannte man sonst die beiden Landestheile der obern Freienämter, weil, wie man sich's erklärte, das eine Thal sich an den Reußkrümmungen abgrenzte, während derselbe



Digitized by Google

Fluß das andere von Mittag gegen Mitternacht durchwogt. Beide Namen hat der benachbarte Reformirte in den Schimpfnamen der Krummen und Wackler verwandelt, d. h. der Hinterlistigen und Wankelmüthigen. Ueber die Berechtigung dieser Ableitung erzählt der Reformator H. Bullinger in seiner Tiguriner-Chronik (fol. II, *lib.* IX, c. 17) Folgendes:

Die zwey Bäpst Johannes XXIII. vndt Pius II. habent die Fürsten von Oestrych vmb das Ergöuw bracht, vndt hat dieser Ergöuwische Krieg im 1415 iar geendet: Die von Lucern warendt nit wol zufriden mit den Landlüthen in Freyenämbtern, welche in diesem Span Kundschafft gesagt. Dann Lucern verhofft, sie wurdint sagen, daß sie von Lucernern allein zu Handen Lucern, vndt nit der VI Orten, weerindt eingenommen; da sagtendt sie aber das widerspiel. Dannen ettliche Inen vnbillig vndt muthwillig sagtendt: die Buren im Wanckenthal hettindt gewancket. Hießendt aber die ynwoner dieser Freyenämbter von alter har Im Wagenthal. Darumb sie es für ein schmach vndt fast vngern habendt, wenn man sie nambt die im Wanckenthal.

Die vorausstehende Erklärung bedarf der Berichtigung. Das Wagenthal und Krummthal im Freienamte hatten ihre eigene Gerichtsbarkeit; zum Zeichen dessen stand das Symbol der Landeshoheit an der Grenze: die wâgende stûden, nämlich der Galgen. Man vgl. hiefür G. Meyer-Knonau, der Kant. Zürich 2, pag. 335. Das Zofinger-Münzrecht v. J. 1257 besagt, die Münze von Zürich soll gehen durch alles Aargau „unz an die waggenden stûden." Tschudi 1, 155. Des Freienamtes Rechtung besagt: vnser Herschaft offnung sol vmbgan deshin an die wagenden Stûden nôch by Zoffingen. Aargau. Beitr. pag. 99. Vgl. Bd. 1, Vorrede XXI.

Ueber einen Hauptort des Wagenthales, über das schöne Luzerner-Dorf Hitzkirch am Baldegger-See, gilt folgende Erzählung. Auch diese Gemeinde wankte in ihrem confessionellen Bekenntnisse lange und hatte sich in ihrer Mehrheit schon auf die Seite der reformirten Zürcher geschlagen. Da geschah es, daß ein Hitzkircher vom Pflügen heimkehrend einmal sein liebes Eheweib daheim in Thränen findet, und da er sie um ihren Kummer befragt, hören muß, eben habe ein Zwinglischer Prädikante die Kanzel bestiegen und schelte das Christuskind, das die Mutter Gottes in der Kirche auf dem Arme halte. Der Bauer läuft alsbald in die Kirche und haut den Prediger mit seiner Fuhrpeitsche von der Kanzel herunter. Das Christusbild dreht sogleich sein Haupt von der rechten auf die linke Seite hinüber zufrieden jenem handgreiflichen Bauern zu, und diesem und seinen Nachkommen ist von da an die erste Kirchenbank als Ehrensitz eingeräumt worden. Von jenem sich links Drehen des Christusbildes, einer Be-

Digitized by Google

wegung, welche mundartlich gwaggeln und gwanggeln heißt, hat sich die Gemeinde den Ehrennamen Gwagglithaler selber gegeben.

---

## 464. Die Würfelwiese bei der Stadt Baden.

Mit dem Anfang des 17. Jahrhunderts entstand unter den in den Bädern zu Baden aus allen Ländern versammelten Gästen eine große Bewegung. Am alten Schlosse, unfern dem Stadtthore, fand man damals in einer Matte, welche Stuhlwiese hieß und seitdem Würfelwiese genannt wurde, eine zahllose Masse Spielwürfel. Bei jedem neuen Spatenstiche kamen neue Haufen zum Vorschein; selbst die Maulwürfe stießen sie aus dem Boden hervor; es schien, als ob man von hier aus die Spielbrüder aller Welt mit den beliebten Knöcheln versorgen könnte. Es waren nun zuerst die Gelehrten bei der Hand, die auch schon damals nirgends fehlten, und erklärten, dies seien beinerne Spielwürfel (Knöchel, tessera), die hier in einer römischen Spielhölle bei einer von jenen drei Zerstörungen zerstreut worden wären, mit denen Baden von der Römerzeit an heimgesucht worden ist. Nun wanderten diese Würfel nach Deutschland und Frankreich und wurden für die Curiositäten-Sammlungen eifrig aufgekauft. Gelehrte Streitschriften wurden bis zum Jahre 1717, also ein volles Jahrhundert lang, genug darüber gewechselt. (Altes und Neues [Zürich 1717] II, 235.)

Aber auch die Kirche wollte bei diesem Funde nicht leer ausgehen; sie verbreitete daher bald: Gott habe diese Würfel aus denjenigen, hier verloren gegangenen wieder aufgehen und gleichwie aus einem Samen nachwachsen lassen, mit welchen die Kriegsknechte einst um Christi Rock gewürfelt. Nun fuhr dieselbe Neugier in die Gläubigen, und die Reliquienkrämer machten ihre Einkäufe. Als der Herzog von Rohan an seinen in der Schlacht von Beucken empfangenen Wunden in dem benachbarten Stifte Königsfelden 1638 gestorben war, fand man in seinem Nachlasse ein ganzes Kornmäß solcher aus dem Würfelsamen neu aufgewachsener Badener-Würfel. Lindinner Index memorabil. Helvet. Zürich 1684. Herrliberger-Topographie II, 285. Der damalige Stiftsschaffner von Königsfelden bekam davon ein gutes Theil und verschenkte wiederum reichlich an den Luzerner-Stadtschreiber Joh. Leop. Cysat, welcher dies Histörchen erzählt in seiner Beschreib. des Vierwaldstätter-Sees 1661, S. 250. Aber auch dieses Wunder sollte nicht länger Dauer haben, als der erste gelehrte Glaube an die römische Abkunft des Fundes. Man entdeckte bald an ganz andern und meh-

Digitized by Google

rern Orten ähnliche Würfel, und verglich sie; die anfänglich und die zuletzt gefundenen waren sich auch darin gleich, daß nun beide nicht beinern, sondern steinern waren, keine Würfelaugen, aber meistens Farben trugen. Und seitdem man weiß, daß es theils bloße vierkantige Stückchen römischer Mosaikböden sind, theils Schwefelkies-Bröckchen, theils sogar ein von Juden auf den Verkauf nachgemachtes neuestes Fabrikat, welches sie hier heute eingruben, um es morgen selbst wieder zu entdecken, hat auch die Nachfrage nach dem ganzen Wunder aufgehört. Selbst der Platz der Würfelwiese scheint vergessen. Noch im J. 1812 boten die Zeitungen aus dem Nachlasse des Sonderlings Beireis zwei solcher Würfel zum Verkaufe aus (Gräter, Iduna und Hermode, Jahrg. 12), aber die Käufer sind ausgeblieben.

---

## 464 a. Die Wehklage beim Zofinger-Brennhaus.

Zunächst bei Zofingen, draußen an der Mauer des Zwingelhofes, lagen im vorigen Jahrhundert zwei ziemlich große Weiher beisammen. Beide waren durch einen Damm von einander geschieden, mittelst dessen der höher gelegene in den andern abgelassen werden konnte. Sie waren Eigenthum der Stadt und wurden mit einigem Interesse der vortrefflichen Fische wegen betrachtet, die man alljährlich im Herbste drinnen fieng und unter die Würdenträger des Ortes vertheilte. Nicht bloß die beiden Consuln und die übrigen Senatoren, wie dieses damals noch unter eigner Verfassung lebende Landstädtchen seine Regierung betitelte, erhielten alsdann ihre gewichtigen Karpfen und Hechte ins Haus geliefert, sondern ebenso wurden auch sämmtliche Stadträthe bedacht, und ein jeder von ihnen besaß daher vorsorglich einen eignen „gefiesteten", verschließbaren Fischkasten im Stadtbache, in welchem man das Prachtstück bis auf weiteres aufbewahren konnte. So gesucht nun diese Fische waren, so gemieden war gleichwohl der Weiher, aus dem sie kamen. Dies zeigt sich aus folgendem Umstande. Draußen vor dem kleinen Stadtthürlein, das zur Schützenmatte hinführt, stand damals auf dem Platze, den jetzt eine Linde bezeichnet, das sogenannte Brennhäusli; es trug auf seiner Thüre ein Sprüchlein, das ein schalkhafter Lateinschüler hingeschrieben hatte: Figulus figulum odit. Hier außen mußte nämlich die Hafnerzunft ihre Waare brennen, vorsorglich entfernt vom Orte, und immer des Nachts, damit die schlafende Bürgerschaft ja nichts von den giftigen Dämpfen dieses Geschäftes zu riechen bekam. Hatten nun Meister und Geselle abgebrannt, war alles im Ofen glühend und die Glasur

Digitized by Google

in Fluß, so suchten sie natürlich alsbald den Heimweg ins Bette. Dabei aber würde es keiner gewagt haben, in der geraden Richtung den zwei Weihern nachzugehen und so auf der kürzesten Strecke das Haus zu erreichen, sondern selbst diejenigen unter ihnen, die in der Unterstadt wohnhaft waren und also durchs untere Thor hätten hereingehen sollen, welches des Nachts stets offen blieb, nahmen lieber den Umweg bis zum kleinen Mauerthürlein. Dieses aber wurde jede Nacht verschlossen und der Schlüssel dazu mußte, aus Anlaß früherer Ruhestörungen, durch den Thorwart tagtäglich eigens vom Rathhaus abgeholt und zur Nacht wiederum dorthin überbracht werden. So entstand denn hier für die heimkehrenden Hafner jedesmal eine unbequeme Verzögerung. Doch sie fügten sich in diese Umständlichkeit und bezahlten auch noch die zwei Kreuzer Einlaßgeld, die an dem Thürlein des Nachts von jedem Passanten erhoben wurden; so sehr scheuten sie sich, auf dem kürzern Wege an den Weihern einer Spukgestalt begegnen zu müßen, die dorten ausgemachter Weise ihren nächtlichen Gang machte. Man sagte, dies sei der Geist eines Zofinger-Mädchens. Seit sie sich einst aus unglücklicher Liebe hier ertränkt hatte, zog sie die Vorübergehenden zu sich in ihr nasses Grab hinunter. Jeglichen Unfall, der hier unvorsichtige oder betrunkene Leute betraf, war man gewohnt, diesem gefürchteten Geiste anzurechnen; und so war der Platz so wenig besucht, daß man gar nicht nöthig gefunden hatte, ihn durch irgend eine Schutzlehne gefahrloser zu machen. Hellerdenkende bestritten natürlich die Wahrheit dieser Erscheinung. Das Geschrei, das man in stillen Nächten unläugbar aus dem Weiher her vernahm, erklärten sie sich aus dem Waldlaub, das in den Weiher geweht, den Abzugsgang im Damme verstopfte und das Wasser aufstaute; hatte sich dann der steigende Druck wiederum einen Durchbruch gebahnt, so konnte das dumpfe Geräusche des unterirdischen Abflusses wohl einer fernen klagenden Menschenstimme ähnlich lauten. Allein solche Deutungen überzeugten nur wenig, und als man eines Morgens abermals einen Mann todt aus dem Weiher zog, kam man zu dem Entschluß, diesen gänzlich trocken zu legen. Es geschah. Der Geist jedoch ist damit keineswegs gewichen und sein Geschrei nicht verstummt, er haust vielmehr jetzt am Stadtbache mitten in der Oberstadt selbst. Hier wäscht ein weißgekleidetes junges Weib des Nachts ihre Kleider im Bache und erhebt dabei eine laute Wehklage. Sie geht die Bärengasse hinauf bis zum Platz, dorten trägt sie ihren Kopf in der Hand. So erzählt dies ein nun achtzigjähriger Mann aus Zofingen; er hat es alles aus dem Munde seines Vaters schon so gehört, der im J. 1722 als der Sohn eines Hafners geboren war

Digitized by Google

und eben in jenem Brennhäuschen an dem verrufenen Weiher seine Lehrzeit durchzumachen gehabt hatte.

Sätze aus dem aargau. Aberglauben deuten auf diese dem Geschäft der Wäsche vorstehende Hausgottheit, von welcher Bd. 1, Anmerk. No. 128 die Rede gewesen; dieselben behaupten, daß bei der Wäsche in der Quatemberwoche die Fronfastenfrau mitwaschen hilft. Wäscht St. Verena am Vormittag ihren Rock und trocknet ihn Nachmittags wieder, so giebt's guten Herbst. St. Verena sott z'Morndes 's Chrüegli lösen, z'Mittag 's Chitteli tröchne. Vgl. Bd. 1, pag. 14. Dem Mädchen, dem sich das Zeug beim Auswinden knüpft, die bekommt entweder einen krummen Mann oder sie muß nächstes Jahr wiegen. Macht sich das waschende Mädchen immer das Fürtuch mit naß, so bekommt es einen Säufer zum Mann.

## 465. Zurzach.

Die Stadt behauptet, sie habe römisch Certiacum geheißen, und will dies mit einer Inschrift beweisen, die neben der Thüre der Pfarrkirche zur Hälfte eingemauert ist, während das andere Bruchstück ehemals am Zurzacher-Probsteihause gelegen und besagt habe: daß dieser Stein zum Andenken an den von Wien gebürtigen Veteran-Soldaten der dreizehnten Legion, Marcus Junius Certus, von dessen Erben gesetzt worden sei. Derselbe Certus soll nun das verwüstet gewesene Certiacum gebaut oder verschönert haben, und daraus sei Zurzach geworden. (Tschudi, Gallia Comata, 136.) Weniger gelehrte Leute haben seit alter Zeit behauptet, die Deutschen hätten jeden unbedeutendern Stadtbach Ach genannt, und da Zurzach auch an einem solchen liege, der da in den Rhein fließt, so habe es Zur Ach geheißen. Der unmittelbar hinter der Stadt ansteigende Achenberg habe eben daher seinen Namen. Aber auch dies lassen die Curiositätenkrämer nicht gelten und wollen ihn lieber von den Seufzern und Flüchen der Fuhrleute so getauft sein lassen, die über diesen unwegsamen Berg zur Zurzacher-Messe fahren müßen.

Zurzach ist eine jüngere Namensbildung, es hieß ehemals Wreacha. Geograph. Ravenn. ed. Gronov. in seiner Ausgabe des P. Mela, pag. 782. Mone, Urgesch. des badisch. Landes 2, 125.

## 466. Die Uebernamen der Alt-Aargauer-Städte.

Die Bewohner der Stadt Brugg nennt man scherzend Chriesisüppler, weil in jener sonnigen Flußgegend die Kirschen besonders voll und süß ausreifen. Die Stadt Lenzburg führt von ihrem ab-

Digitized by Google

gestumpften Schloßfelsen her einen konisch gekürzten Keil im Wappen, dessen räthselhafte Bedeutung das Landvolk mit dem Aussehen eines Kräuterkäse vergleicht; darum nennt man diese Städter Schabzigerstöckli. Die Aarauer sind noch jetzt stark in der Kunst, aus allen erdenklichen Wildbeeren ein süßes Mus (Pappe) zu kochen und heißen darnach Pappehauer. Olten liegt an der Grenze dieser reformirten Landschaften, ist zur Zeit der Kirchenänderung strenge beim alten Glauben geblieben, hat seine Klöster und Fastenbräuche beibehalten, und hat für die letztern sogar die Schnecken in den dortigen Aarniederungen in eigenen Schneckenbasteien groß gemästet und genießbar gemacht. Deshalb nennt man die Oltener Schnecken. Das zunächst kommende Städtchen Aarburg liegt am Saume einer weiten von Sumpfgräben durchschnittenen Ebene, seine Einwohner heißen darnach Frösche. In Zofingen hielt das benachbarte Berner- und Luzerner-Volk starkbesuchte Viehmärkte; die daraus Profit ziehenden Städter, Metzger und Wirthe heißen von daher Ochsen.

Der Volkswitz duldet aber die natürliche Entstehung solcher Sobrikets nicht und hat sich seinen eignen Scherz in folgende historische Anekdote umgedichtet:

### Wie der Papst von den alt-aargauischen Städten bewirthet worden ist.

Die Kirchenversammlung zu Konstanz war beendiget, Huß und Hieronymus verbrannt, Papst Johannes entsetzt, Papst Martinus V. gewählt, der Oesterreicher-Herzog Friedrich mit der leeren Tasche durchgegangen. Also auch reiste Martinus ins Welschland heim. Am 16. Mai 1418 machte er sich in Konstanz auf mit einem Gefolge von 6000 Rossen und einigen zwanzig Kardinälen. Schon in Schaffhausen mußte er der engen und bösen Wege halber einen Theil seines Trosses zurücklassen, damit er rascher fortkommen und namentlich bis zum 20. Mai in Bern eintreffen könne, wo man ihn bereits des Bestimmtesten erwartete. Mit geringerer Begleitung erreichte er so das erste Aargauer-Städtchen Brugg und hielt hier sein Nachtlager. Die Bürgerschaft suchte ihm das Allerbeste zu bieten, was rings um die bescheidenen Mauern wächst, und kochte ihm eine rosenrothe Kirschensuppe. Martinus begnügte sich mit dieser illuminirten Fastenspeise und ritt des andern Tages ins zweite Städtchen Lenzburg. Auch dies bestrebte sich, die päpstliche Mittagstafel mit dem zu besetzen, was es selber für das Vorzüglichste hielt, und ließ jenen mit Sauerklee gemischten grünen Ziegerkäse von ätzendem Geruche auftragen, den man erst raspeln und schaben muß, um ihn beißen zu können;

Digitized by Google

wegen dieser zahlreichen Tugenden und seiner kuriosen Form halber heißt er Schabziegerstock. Auch wieder ein Fasttag! dachte sich der Papst, suchte baldmöglichst vom Tafelgeruche weg in die freie Luft zu kommen und reiste in das zwei Stunden entfernte Aarau weiter. Die Rivalität dieses Städtchens gegen seine übrigen Landesschwestern war damals nicht geringer als heute; um also deren Luxus weit zu überbieten, kochte es die heute noch geltende Lieblingsspeise, eine mächtige Schüssel weißen Breies von solcher stockenden Beschaffenheit, daß man ihn nach Zähigkeit und Consistenz Pappe nennt. Wie strenge doch diese Aargauer zusammen mein Fastenmandat halten, dachte sich der blöde Magen des hl. Vaters. Hier war's Abend geworden. Also schlief man aus Erschöpfung bald ein und reiste am andern Tage in das zwei weitere Stunden entfernte Städtchen Olten. Die zahlreichen Frösche der dortigen Wässerwiesen sind von Alters her von den Kapuzinern daselbst schmackhaft befunden worden; daher kochte man dem hohen Gaste eine breite Froschsuppe. Das sind ja Christen der strictesten Observanz! meinten die hungernden Kardinäle. Doch sie konnten sich heute trösten; Schloß und Stadt Aarburg liegt hier so nahe, daß es mit seinen Thurmspitzen fast in die Froschgräben Oltens hereinschaut. Dahin also brach man baldmöglichst auf. Dort aber sind in Hecken und Hägen die Schnecken so reichlich zu finden, daß das kleine Städtchen in der ersten Eile natürlich beschloß, seinen großen Besuch damit zu überraschen. Jedoch fünf Fastenmahlzeiten hinter einander, die schlechten Wege, die harten Betten — das war sogar einem Papste zu viel. Nur mit stolzem Zahne hatten seine Römer die Amphibiumskost berührt; für ihn war es ein bloßes Schaueſſen geblieben, er bestieg seufzend sein Maulthier und ritt der Stadt Zofingen zu. Warum er die paar Stunden dahin in einer machte, läßt sich denken. Kaum war er daselbst im Morizenstifte abgestiegen, so erschienen mit Kreuz und Fahne zwölf Schulbuben in Mänteln und Chorröcken und declamirten ihm — lateinische Verse. Ohe, jam satis! — schon saß dies Wörtchen des Ueberdrusses auf den Lippen des geplagten Kirchenfürsten, siehe, da senkten sich Fahnen und Prozessionshimmel, die Reihe öffnete sich und durch ihr Spalier heran schritt ein mit Hahn, Fasan und Rebhuhn überhangener, blumenbekränzter, goldhorniger Mastochse. Gerührt stiftete Martinus auf der Stelle ein Schülerstipendium, und erzählte nachher über Tische seine neuesten Tafelerlebnisse mit herablassender Heiterkeit. Und seit dieser Zeit heißen die Brugger Chriesisüppler, die Lenzburger Schabziegerstöckli, die Aarauer Pappehauer, Oltner und Aarburger Schnecken und Frösche; die Zofinger aber, die bis heute

Digitized by Google

ſtarke Lateiner geblieben ſind, und das angebliche päpſtliche Stipendium auch jetzt noch unter der Benennung Fronfaſtengeld jedes Quartal ihren beſten Lateinſchülern vertheilen, heißen Ochſen. Ein fliegendes Blatt aus der Neuzeit reimt darüber:

Der Scherz mahnt alter Zeiten dich,
Wo man noch ſcherzt, da liebt man ſich.

Die Erzählung iſt kein Scherz und nur die einzelne Beſtimmung der Reiſetage mag irren. Das gleichzeitig geſchriebene Jahrzeitbuch des Stiftes Schönenwerth bei Aarau, gedruckt Urkundio (Solothurn 1851), verzeichnet Seite 102 unter dem 19. Mai: Hac die anno videlizet Domini millesimo quadringen: decimo octavo Martinus papa quintus, in generali concilio Constant. electus ac confirmatus, venit in Arow, ubi pernoctabat. Et hec fuit tunc dies Jovis seu feria quinta infra octavam pentecostes. Et in crastino, cum pertransiret in loco isto (Monasterii Schönenwerth) ad supplicacionem dominorum prepositi et capituli hujus ecclesie dedit indulgencias. Die Zofinger-Nachrichten, welche den Papſt in ihr Städtlein kommen laſſen, ſtützen ſich nur auf einen erſt im 17. Jahrh. abgefaßten Bericht und dieſer ſcheint aus Juſtingers Bern. Chronik entlehnt, pag. 318. Die Stadt Bern beehrte ihn nämlich mit 125 Mütt Kernen, 40 Malter Haber, 8 Fuder Wein, 8 Maſtochſen, 400 Schafen, 80 Salmen und täglich quantum satis Weißbrod, Hühnern und Fiſchen. Nach zwölftägigem Aufenthalt ſchenkte Martinus dafür der Stadt eine — Chorkappe. J. Rahn, Eydtgenöß. Geſch. 267. Deliciae urb. Bernae, 268. Der Spottname der Ochſen, den die Zofinger tragen, iſt in ſeiner Entſtehung nicht aufgeklärt, findet ſich aber auch ſonſt. Als die Sabeller einen heiligen Lenz von Jünglingen in die Fremde ſandten, führte einen Theil ein Specht nach Picenum, einen andern ein Wolf an, nämlich die Hirpiner, an der Spitze des dritten Zuges gieng der Stier, und ihm nach wurden die Opiker die Ochſen genannt. Wackernagel in Haupts Ztſchr. 2, 559. Die wirkliche Reiſe des Papſtes gieng nicht genau in der von dieſem Schwank gegebenen Richtung, ſondern berührte von Konſtanz und Schaffhauſen weg folgende Aargauer-Ortſchaften: Laufenburg, Baden, Lenzburg, Aarau, Schönenwerth, Zofingen, St. Urban; von da aus gieng's über Solothurn nach Bern. Hierzu hatte Martinus V. neun Tage gebraucht. Bern. Neujahrsbl. 1832.

---

## 467. Die Eſel geſcholtenen Ortſchaften.

Die Bremgartner haben den Spitznamen Eſel auf folgende Weiſe bekommen:

Im Städtchen wurde ehemals am Palmſonntag ein hölzerner Eſel auf einem Rollengeſtelle in Prozeſſion herumgezogen. Er war behangen und bemalt mit den Standeswappen der Acht alten Orte (Kantone); die Stadtjugend in übergeſtülpten Hemden marſchierte ſingend ihm voran, hinter ihm folgte der geſammte Stadtrath mit Schultheiß und Weibel, alles in Degen und Hut, mit Mantel und Ge-

Digitized by Google

richtsstab. Bei einer solchen Feierlichkeit fand sich einmal das Straßenpflaster in übelm Zustande, der Esel auf seinem Rollkarren war auch nicht mehr jung und so stürzte er trotz des Grases, das man in die Straßenlöcher frisch gestreut hatte, mitten im Zuge um und sein schlecht geleimter Schwanz fiel ihm aus. Aber die Jungen stellten ihn schnell wieder zurecht, auch der hinter drein folgende Schultheiß verlor die Fassung nicht, hob den Schwanz auf, zog ihn am obern Ende durch den Mund und steckte ihn wohlbenetzt wieder in den dafür allein schicklichen Ort. Das heißt Eile mit Weile. Als aber das Städtchen der Reformation beitrat, warf es neben andern Heiligenbildern auch diesen Palmesel in die Reuß. Der Strom trug ihn dem benachbarten Städtchen Mellingen zu. Hier waren die Bürger bereits confessionell getheilt; die eine Partei fieng daher das Thier, als es gegen die Brücke heranschwamm, auf und stellte es in die Kirche; die andere aber wehrte sich mit aller Macht dagegen. Der Metzger Halter, der zu den Neugläubigen gehörte, bemächtigte sich desselben, schnitt ihm den Hals ab und stürzte ihn wieder ins Wasser. Diese Unthat rächte sich an dem Manne dadurch, daß er, nach der Behauptung seiner katholischen Mitbürger, von Stund an einen großen Kropf bekam; aber von der ganzen Geschichte her soll den Mellingern ein noch anderes sonderbares Erkennungszeichen geblieben sein. So oft sie nämlich ihre große Holzbrücke über die Reuß zu passieren hatten, an der bis auf die Neuzeit jeder Fremde einen beschwerlichen Brückenzoll entrichten mußte, deuteten sie dem lauernden Zollner ihre Zollfreiheit damit schon von weitem an, daß sie im Gehen einen Zipfel ihres Rockes spitz ans Ohr empor stülpten, und respektvoll zog sich alsdann der Zollner sogleich in sein Häuschen zurück. Diese Sitte hatte aber endlich sehr schlimme Folgen für sie. Es kam nämlich einst der französische Gesandte Caumartin von Baden her über diese Brücke gefahren und sah sich hier plötzlich angehalten. Er sollte das herkömmliche Brückengeld entrichten, aber er weigerte sich, da er eben mit ansah, wie die Mellinger gleichfalls zollfrei hin und her passierten. Die Leute konnten ihm sein Französisch nicht deutlich genug erwiedern, um aber dem Welschen es recht augenfällig zu machen, daß hier nur der Ortsbürger keinen Brückenzoll entrichte, hielten sie alle zusammen ihren Rockzipfel gespitzt an die Ohren hinauf und gesticulierten so in den Reisewagen des Gesandten hinein. Die französische Dienerschaft nahm dies für ein Zeichen frechen Hohnes, es gab eine Prügelei, der Ambassadeur fuhr endlich davon und wendete sich klagend und drohend an die Tagsatzung. Diese beeiferte sich, alle Schuld auf die ehrvergeßnen Mellinger zu werfen. Das Ende war, daß der Gesandte

Digitized by Google

alsbald darauf abermals das Städtchen passierte, an der Reußbrücke aber von dem gesammten Magistrat empfangen wurde, der knieend und den Strick um den Hals hier Abbitte leisten mußte.

Jedoch zurück zu jenem Esel, den die altgläubigen Mellinger aus der Reuß herausgefischt, die neugläubigen abermals mit abgeschlagenem Kopfe hineingeworfen hatten und der nun seinen Wasserweg weiter schwamm. Derselbe war ohne weitern Anstoß mit der Reuß in die Aare gekommen und trieb nun bis zum Städtchen Klingnau. Hier war es der Familie der Wengi beschieden, ihn zu entdecken und aus der Aare zu ziehen. In diesem vom Verkehr und Zeitgeist wenig behelligten Landstädtchen ist der Esel dann verblieben und bis auf unsere Jahrzehente alljährlich in Prozession herumgeführt worden. Das Geschlecht der Wengi hatte dabei das Vorrecht, ihn aus der Kirche auf „die Eselswiese" vor die Stadt hinaus zu fahren und wurde dann dafür des Abends von der Probstei bewirthet. Daß Letzteres geschichtlichen Grund hat, beweisen die Consuetudines Clingnovienses, hands. Extract aus einer v. J. 1597 stammenden Sammlung der Rechtsame, welche die Klingnauer-Zünfte in dortiger Probstei zu Sion haben. Die hands. Probstei-Documente, welche Probst Sebast. Ziegler im J. 1657 zusammengetragen, sagen tom. 1, pag. 253: „An dem Palmtag kombt der Statt- und Stubenknecht mit einer Schenckgelten (Bütte) in die Probstei und haischt sie voll wein, wegen angedenckhenß deß palm Eselß, so hat sollen in die Ahra gestürzt werden ab adversariis vnd die eyffrige Geschlechter alhie ihn errettet. Begehren aber ein zimblichen trunckh." Im Klingnauer hds. Stadtrechte heißt es ferner: „Am Palmentag soll die Statt die weggen oder daß brodt zum Trunkh, welchen die Esselführer zur Sionen und in der Probstey einziehen, geben. Alt herkommen."

Das Dorfwappen von Schinznacht ist ein Halbmond. Schin z'nacht, scheine uns Nachts, o Mond! wäre nämlich einst der Wahlspruch dieser Gemeinde gewesen. Allein die Nachbarn haben diese Worte in schind z'nacht verdreht und erzählen: das Dorf sei einmal in so tiefe Verarmung gerathen, daß man die allerletzte Milchkuh abschlachten habe müßen, und aus Schamgefühl habe man sie beim Dunkel der Nacht, nicht gemetzget, sondern handwerkswidrig geschunden. Verschiedenen Gemeinden wirft man nun vor, sie hätten nicht nur eine Kuh, sondern einen Esel auf solche Weise geschlachtet. Daher stammt der Reimspruch:

Zwüsche Frick und Winterthur
hend s' en esel g'schunde,
hend en alti frau drûss g'macht
und ehr 's mûl verbunde.

Digitized by Google

Man nennt auch die Freienämter Bschindesel, die Einwohner von Tägerig Eselsohren, ruft diesen Ua und Ya nach und von ihnen gilt, was schon in Don Quixote von den zwei Eselsdörfern erzählt ist, die wegen dieses Spottgeschreies endlich gegen einander zu Felde ziehen.

In den Erzählungen hört man zweierlei Gründe, warum die Bewohner einer Gemeinde sich den stehenden Spitznamen Esel zugezogen haben sollen. Der geläufigere ist der, daß man sie verspottet als standhafte Anhänger am alten Glauben ihrer Kirche, und so wird alsdann gewöhnlich eine Anekdote über den Palmesel beigebracht, dem sie dann noch eine christliche Ehrfurcht geschenkt hätten, als die vorangeschrittene Zeit und eine berichtigte Empfindung dies anderwärts nicht mehr gestattete. So läßt Cervantes seinen Don Quixote auf die Heerhaufen zweier gegen einander zu Felde liegender „Eselsdörfer" treffen (Bd. 2, cap. 27), die so eben das Eselsgeschrei, womit sie sich bisher gegenseitig geneckt hatten, mit den Waffen beendigen wollen. Nach dieser legendarischen Seite hin ist die Sage dann werthlos für eine weiter strebende mythologische Untersuchung, sie stellt sich mit ihrem oberflächlichen Witze ganz den Heiden in Palästina gleich, die zur Zeit der Kreuzzüge bei der neuen Pfingstfeier in Jerusalem ebenfalls äußerten, der Christen Gott sei ein Pfingstesel. Hier könnte man also nur geschichtliche Erinnerungen und Einzelheiten dazu nennen; wie z. B. die Veroneser einen ausgestopften Esel alljährlich in Prozession umtrugen, von dem sie sagten, er sei nach Christi Einzug in Jerusalem wieder ins freie Feld entlassen worden, sei dann über Cypern nach Malta und Sicilien gekommen und zuletzt in Verona gestorben. Männling, Curiositäten (1712), zählt sieben Dissertationen auf, die über denselben geschrieben worden sind. So verwahrte Venedig die Haut entweder des Palmesels Christi, oder desjenigen, der bei der Flucht nach Aegypten dienen mußte. Dies ist der asinus, sacra portans, bei Phädrus 3, 20, und seine Stelle vertrat beim Heere der Karolinger und Ottonen das „Roß Gottes", das Kapelsoum in den Nibelungen 1515, das ja nun auch zum bloßen Schimpfnamen entstellt ist. Ihm gehören jene mittelalterlichen Eselsfeste an und Narrenprozessionen, mit deren Beschreibung Hormayrs histor. Taschenbuch (1845, 322 und and. Jahrgänge) so freigebig ist. Ihm gehören auch theilweis solche Stiftungen an, wie die Eselsmatte in Klingnau, und die Eselswiese hinter Querfurt mit der Kapelle zur Eselsstatt, wo einst des hl. Bruno Eselein stätig geworden war. Daran knüpften sich später Wallfahrten und die Abhaltung von Jahrmärkten, die bis auf uns fortdauern. Bechstein, DSagb. No. 418. „Man konnte, schreibt der Klingnauer-Viceprobst 1711 in sein Tagebuch — 20. März Domin. Palmarum, wegen vielem schnee nit in die Esellmatten mit der gewohnlichen procession." Noch heute wird in Landsberg an der Warthe am Osterfest der Esel aufgeputzt, durch die Stadt und dann auf die Wiese hinaus geritten, wo Tanz und Ergötzlichkeit folgen. Kuhn, nordd. Sag. pag. 372. So wohnt auf dem Eselswerd bei Marburg der Riese Eßel. Myth. 1218.

Allein eine beträchtliche Reihe deutscher Sagen und ebenso verschiedene Sobriquets aus mancherlei Ländern handeln von dem Esel und beschelten auch einen einzelnen Ort oder Landstrich mit demselben, ohne sich je auf den kirchlichen Pfingstesel zu beziehen, und ohne auch nur mit dem übeln

Digitized by Google

Prädicate dieſes Namens überhaupt beſchimpfen zu wollen. Ja der Name konnte urſprünglich nicht einmal den pejorativen Sinn in unſerer Sprache haben, welchen er nun durchgehends hat, er wäre ſonſt nicht auf ehrbare Geſchlechter ſo oft übergegangen. „Ich Achatz Eſel, Schulthaiß zu Waltshut," urk. v. J. 1397. Documenten-Samml. der Klingnauer-Probſtei durch Sebaſt. Ziegler, 1657, hdſ. Privatbeſitz der Familie Stäuble in Frick. (Gleiche Geſchlechtsnamen in Franken: Benſen, Geſch. der Stadt Rothenburg, pag. 357.) Die Rittergeſellſchaft, die auf dem Turnier zu bayriſch Landshut 1439 erſcheint, theilt ſich in die Verbindung zum Obern Eſel und zum Niederen. Münſter Cosmogr., Baſel 1567, pag. 1091. Das Rittergeſchlecht von Riedeſel leitet von einem Eſelsritt ſeinen Namen ab: Wolf, heſſ. Sag. No. 250. Daß ein ſolcher Ritt freilich nicht zur Ehre galt, ſondern als Strafe, zeigt Grimm, RA. 722. Das alte Baslerthor unten beim Birſiggewäſſer hieß Eſelsthor; ſeinen Namen ſoll es, behauptete man, von dem einſt in der Stadt ſehr zahlreich geweſenen Bürgergeſchlechte der „Eſel" erhalten haben; nach der Meinung Anderer aber von jenen Müllereſeln, welche das Mehl von den vor der Stadt gelegenen Mühlen hier durch trugen. Basl. Neujahrsbl. 1852, 18. Am Regensburger-Dom ſteht der Eſelsthurm, ſo genannt, weil in ihm ein Weg, ſtatt der Treppen, hinaufführt, auf welchem beim Dombau die Werkſteine durch Eſel hinauf getragen worden. Schöppner, bayr. Sagb. No. 114.

Aus dem Roß Gottes, aus Wuotans Schimmel Sleipnir, aus dem ſchmauſenden Pfingſtreiter iſt der Pfingſteſel, der Eſelsreiter, endlich ſogar der Eſelsfreſſer geworden. Dies iſt das Verhältniß in unſern Sagen, das hier nun belegt werden ſoll. Volksrede und Volksbrauch verwechſelt beide Thiere, Roß und Eſel, gegenwärtig noch ſehr häufig. Eine Felſenſpitze des Pilatus bei Luzern heißt der Eſel, die Aelpler aber nennen ſie noezel, armentum. Beim Emmenthaler-Napfberge um die Gemeinde Trub liegt der Berg Klaushüttenhengſt; jetzt wird derſelbe dorten Klaushüttenеſel genannt. Schweiz. Merkur 1835, 2. 304. Dies erklärt ſich, wenn man ſich erinnert, daß das Chriſtkindchen im Bernerlande Neujahrseſel heißt, weil der beſcheerende St. Niklaus auf einem Eſel an die Häuſer geritten kommt. Dieſer Niklaus iſt aber bekanntlich jener Eckart, welcher dem Reiterhaufen der W. Jagd auf einem Eſelein vorauszieht, warnend und kinderbeſchenkend. Schon hier kann von dem Goldenen Eſelsfüllen und vom Goldeſel geredet werden, den zwei Thieren in Märchen und Sage, welche Odhinns unerſchöpfliche Reichthümer ſpenden, Gold legen und Gold ſpeien, deren Balg voll blanker Goldſtücke iſt und die zu Wuotan gehören, dem Herrn der W. Jagd (Wolf, Beitr. 1, 17). Er kommt in unſerer Sammlung vor als der Dukaten legende Eſel der Wachletä-Jungfrauen (Zwergenſagen No. 196); er begleitet die Kutſche der W. Jagd (Bd. 2, No. 455); der Koch des W. Heeres reitet ihn (Bd. 1, pag. 145). Bei der Polſterlijagd der Entlebucher, welche oft in ganzen Reitergeſchwadern von den Dorfburſchen abgehalten wird, zieht die Hauptfigur dieſer Geſpenſter-Maskerade als Eſel mit, kann aber auch erſetzt werden durch eine Here oder eine Geis im Schlitten. Stalder, Fragmente 1, 104. Das Bernervolk nennt die antiken Hufeiſen, die es aus dem Boden pflügt, „Romaner-, Heiden- oder Eſelseiſen". Jahn, Kant. Bern 64. Das Zürcheriſche nennt jede alte Römerſtraße Eſels- und Mauleſelsweg. Zürch. Antiquar. Mittheil. 7, 131.

Digitized by Google

Dem zahnenden Kinde bindet man Roßzähne, Füllizänd, um den Hals; und anderwärts glaubt man (Wolfs Beitr. 1, Abgl. No. 270) das Zahnweh zu vertreiben, wenn man einen Esel küßt. Wer ein Hufeisen findet, wird reich. Aargau. Abgl. — Der Karrweg von Kingoldingen nach Saffenwil und Zofingen (Aargau), die Wegstrecke von Huttwil über Möhrenweid nach Griswil (Bern-Emmenthal) heißt Eselweg. An dem erstern haftet die Sage vom Grundlosen Brunnen. Eselsohren ist der Schimpfname der appenzell. Gemeinde Wald. Tobler 71 b. — Zahlreich sind die Züge, da das Thier auftritt, Reichthum und Glücksfülle bescheerend: Das Eselein als Königsfreier, KM. No. 144. Das goldene Eselsfüllen, Kern, schles. Sag.-Chronik. Breslau 1840, pag. 9. Der Biereſel in Ruhla (Bechstein, thür. Sag. 2, 120) sitzt den Leuten auf, aber er schafft zugleich Bier ins Haus und wohnt im Keller. Kuhn, nordd. Sag. pag. 423. Halle's Wahrzeichen ist ein Esel auf Rosen. Sommer, thür. Sag. 176, 62. Dies erinnert schon an den Namen der sogen. Kellerassel, deren Heilkraft in der Volksmedicin hochgehalten ist. Ebenso reitet die hl. Hunna auf ihrem Esel zum Eselsbrunnen auf der Eselswiese, um den Armen den Lebensunterhalt geheimnißvoll in die Hütten zu bringen. Stöber, elsaß. Sag. No. 94. Jener Biereſel ist zugleich musikalisch, wie der, welcher im Wallis oberhalb Zermatt spukt, himmelblau ist und die Engel im Himmel singen hört. Schweiz. Blätt. 1833. Reithard, Sag. pag. 494. Da er zum singenden und blasenden Guenisheer gehört, so geht die musikalische Begabung auch auf ihn über. Daher rührt die Sage vom lautenschlagenden Esel und das Sprichwort: „Der nicht kann Pauken schlagen, muß die Säcke tragen.“ Brachten doch auch die Hyperboreer ihrem Apollo, und dem delphischen die Griechen Eselsopfer. Grimm, Myth. 43. Ein solcher Esel, der seinem Kaufmann in der Noth mit der Sackpfeife aufzuspielen pflegte, stand aufrecht in einer Kapelle der Hamburger-Domkirche, und so beschreibt ihn Joh. Rud. Grimm, im Poet. Lustwäldlein, Bern 1703, pag. 106. Weil er bescheerend und Aernteſegen bringend ist, wie der Götterumzug, welcher den Gefilden die Jahresfruchtbarkeit verleiht, und dem er voraus läuft *), so nennt man ihn geradezu den Müllereſel und läßt ihn am häufigsten in der Nähe der Mühlen spuken; „die Eselin für die Fraw Müllerin“, sagt Fischart, Gargant. cap. 12, in Beziehung auf diese Synonymik. Ein Müllerknecht wird in einen Esel verwandelt: Stöber, elsaß. Sag. No. 183, und Grimm, KM. No. 122: der Krauteſel. So wurde das Thier endlich ganzen Ländern theils zum Symbol, theils zum Sprichwort, theils zur übeln Nachrede, je nachdem man es von seiner mytholog. Seite, oder nur von seiner naturgeschichtlichen Seite betrachtete. Den Göttingern giebt man den Eselsnamen; denn dorten klebt noch jetzt die Sage von einem spukenden Zaunhasen, der so groß sei wie ein Esel. Harry, niedsächs. Sag. 1, No. 15. Ein schlesischer Esel für aller Hasen Großmutter! Fischart, Gargant. cap. 12. Die Vallorber-Einwohner nannten die Nachbarn zu Ballaigues Eselsfresser: Medjanaz, weil diese einen von ihrem Pastor Minsard geschossenen Esel für eine Hirschkuh hielten und gemeinsam verzehrten.

*) Da die Festspeise zur Feier des Götterumzuges auch in Bohnen und Erbsen bestand, so sagt ein Satz der Rockenphilosophie 3, 94: Wer an Weihnachten keine Bohnen ißt, wird zum Esel.

Digitized by Google

Bulliemin, Kant. Waat 2, 62. Das Gleiche thut man den Schlesiern. „Die Schlößinger haben Esel gfreßen, die Mährer ein Stuth für ein Faß Bier angezapfft." Sutor, Chaos latin. Kaufbeur. 1716, pag. 771. — Denn auch dorten gilt noch die Sage, daß bei Fischbach und bei Brieg goldene Esel in die Berge verwünscht liegen. Bechstein, DSagb. No. 646. Die Städter von Rottweil heißen Esel, und die von Neuffen die Eselsfresser; belagert und ausgehungert von den Schweden verzehrten sie ihren Esel, füllten seinen Wanst mit Dinkel und warfen diesen über die Mauern, daß die Belagerer eine Stadt mit so reichlichen Vorräthen für uneinnehmbar hielten und abzogen. Meier, schwäb. Sag. No. 393. 404. — Verliert das Thier den frühern Schimmer dieser religiösen Beziehungen, so liegt seine Umwandlung ins Teuflische zuerst nahe, ehe noch die burlesken oder nur verächtlich gemeinten Einzelheiten Platz gewinnen. Der wildesil bizeichinet den tiefel. Physiol. Diut. 3, 27. hiena, elintesel. Diut. 3, 292. Teuflisch nahm man das Thier deswegen, weil ihm vorher Verehrung und Opferung wirklich eingeräumt gewesen sein muß; sonst bestände kaum die Sage vom Biereſel zu Schwanditz, dem man auf der Katzenmühle alle Abend ein bestimmtes Maß Bier hinzustellen hatte. Kuhn, nordd. Sag. pag. 203. Schweizer. Volksglaube ist, das Thier werde häufig von bösen Geistern geplagt, und ein Kind leide gleichfalls Schaden, das man vor dem siebenten Jahre auf ihm reiten läßt. Erst nach Erblassung dieser unseligen Beziehung beginnt die bloß spaßhafte. Alsdann aber wandelt sich der Heiligenname des den Schimmel reitenden Martinus in franz. Martin um, ein Name, welcher Esel und Eselstreiberstecken bedeutet, wie Balduin, der Erkühnte, zu franz. Baudet wird, Esel und Dummkopf; oder wie Berthold, der an der Spitze des W. Heeres steht (Myth. 884), ein dummer Barthel (Lastthier) wird, der den Most holen muß, ohne selber davon zu bekommen, oder ein Schimpfname Schmutzbartel, Barthlimê (Bd. 1, pag. 337). So sinken alsdann auch die Gegenden und Ortschaften zur Anekdote herab und der Volkswitz treibt mit denen seinen Spott, welche an solchen Erinnerungen ungewöhnlich lange festhielten oder Satzungen und Bräuche nicht rechtzeitig abschafften, die auf die längstvergangene Zeit zurückwiesen. Aus der Art, ein Todtenfeld einzuweihen durch Eingrabung eines lebenden Thieres; aus dem festlichen Abschlachten einer Anzahl von Thieren an bestimmten Feiertagen; aus der Tradition, daß ein bestimmtes Thier als Wegweiser gedient habe, da in diese Gegend die Einwanderung begann, entspann die spätere Anekdote dann Schnurren und Schwänke in demselben Sinne, den schon Saro Gramm. solchen Bräuchen unterlegt, als zehre der Todte von dem Hund oder Roß, die man mit ihm ins Grab versenkte. So deutet Grimm, Myth. 43, das Sobriquet von den Schlesiern als Eselsfressern. In der Schweiz haben sich diese Spottnamen aus einem besondern Grunde sehr lange erhalten. Man bemerkt fast immer, daß solche Ortschaften, denen der Beiname Esel gegeben worden ist, auf oder doch bei alten Römerstraßen liegen. Dies gilt besonders von den Aargauer-Ortschaften, die in diesem Sagencomplexe genannt worden sind: Baden, Bremgarten, Klingnau, Mellingen waren alle zusammen einst Standquartiere für die Cohorten der römischen Legionen XI und XXI. Auch die mitgenannten kleinern Ortschaften haben denselben Ursprung. Schinznacht besitzt noch den Habsburger-Schloßthurm, das unleugbare Ueberbleibsel einer zur Stadt Vindonissa gehörenden Specula. Nieder-

Digitized by Google

Muheim hat römische Gräber und Wohnungen, an denen gegenwärtig neuerdings ausgegraben wird. Tägerig liegt an einer römischen Wegscheide und ist wohl selbst Ueberbleibsel eines Castells. Nicht anders steht es mit Frick und Winterthur, welche ein Spottvers zusammen Eselsschinder nennt. Diesen Straßenlinien nach geht gewöhnlich der Zug des W. Heeres, den der alte Mann auf seinem Eselein eröffnet, gerade so wie an der deutschen Teufelsmauer und an der Pfahlhecke die Wilde Jagd ihren Lauf hat, welcher ein Mann auf dem Schweine, der Pholreiter, vorausreitet. Wie hier die Anwohner an diesen Römerstraßen Esel heißen, so werden die an jener Pfalhecke zunächst liegenden Ortschaften wohl auch häufig den Beinamen Schweine führen.

---

## 468. Der Esel von Baden.

Wollte man sonst ein durchaus mißrathenes Geschäft mit einer stehenden Phrase bezeichnen, so nannte man nur den Esel von Baden. Warum sich der Name eines so unliebsamen Thieres mit demjenigen eines hübschen und vielbesuchten Städtchens verbunden hat und wie dies widernatürliche Bündniß wieder aufhörte, erzählt folgender Schwank.

Je weiter die Reformation in Zürich um sich griff, um so treuer und eifriger suchte das benachbarte Städtchen Baden im alten Glauben zu verharren. Aus den Zürcher- und Berner-Kirchen riß man die Altäre, Bilder und Orgeln weg; die katholischen Orte dagegen steigerten den kirchlichen Prunk wo möglich noch höher, um die Schaulust zu reizen und schwankende Gemüther neu anzuziehen. Aus solchen Gründen genügte manche bunte Bruderschaftsfahne nicht mehr, manche vergoldete Heiligenfigur nicht mehr, die sonst bei öffentlichen Umgängen gedient hatte; und so ergieng es auch jenem hölzernen Palmesel zu Baden, den man seit alten Zeiten am Palmsonntage prozessionsweise auf Rädern durch die Straßen gezogen hatte; die Badener wollten nun einen neuen noch schönern haben. Gerade dafür lag das kunstgeübte Zürich am nächsten, mancher Bildschnitzer mußte jetzt dorten unfreiwillig feiern; wendete man sich dorthin, so bekam man den gewünschten Esel gewiß am schnellsten und aufs beste. Daselbst also schloß man privatim mit einem erprobten Schnitzer einen Vertrag ab und bald gieng die Figur ihrer Vollendung entgegen. Allein allzufrüh vernahm der bilderstürmende Eifer dortiger Obrigkeit von dieser Unternehmung. Damit nun die von allem Wuste des Aberglaubens gesäuberten Mauern Zürichs nicht neuerdings verunreinigt würden und auf daß man dem abgeschwornen Bilderdienste auch auswärts nicht Vorschub leiste, verfügte sich der Rath noch rechtzeitig in die

Digitized by Google

Werkstätte seines unberufenen Phidias und ließ „das Götzenbild unnütz machen", d. h. man bezahlte dem Meister seine Kosten und verbrannte den halbfertigen Esel.

Badens Erwartungen waren dadurch freilich sehr unerwartet verzögert, allein nicht verändert. Frisch wendete man sich, um völlig gesichert zu gehen und diesmal den Zweck bestimmt zu erreichen, ins Ausland und berief im Jahre 1534 einen Augsburger-Bildschnitzer. Der Mann erschien und gieng unter dem besondern Schutze des in Baden residirenden katholischen Landvogtes an den zweiten Esel, auf den diesmal nach ausdrücklichem Verlangen noch eine reitende Figur geschnitzt werden sollte. Bei dieser Arbeit sprang dem Augsburger ein Splitter in die Kehle, und blieb so unbeweglich stecken, daß der Mann daran erstickte. Wer den Schaden hat, darf für den Spott nicht sorgen; Zürich lachte, und dichtete sogar Lieder auf das Mißgeschick der Nachbarn; solcherlei Spottverse hat H. Bullinger, damals oberster Würdenträger (Antistes) der Zürcher-Kirche, in seiner handschriftlichen Chronik aufgezeichnet, der Anfang über den Esel mit der reitenden Figur lautet:

Nun will ich eben heben an
Und fingen was ich gsehen han
Vom neuwen Esel z'Baden.
Es dunkt mich wahrlich Gott verachtt,
Vß Einem Holtz zwei Gschöpf gemacht,
Als mit dem Esel z'Baden.

Allein darüber erkaltete der katholische Eifer nicht, er antwortete sogar mit einem Gegenliede und gieng alsbald an den dritten Versuch, zu dem gewünschten Esel zu kommen. Dieser nun wurde fertig; aber wie es mit jeder Sache geht, die zu lange dauert, so blieb gerade dieser der unberühmteste von allen. Nichts weiß man von ihm Besonderes, als daß er eben bloß seinen lokalen Namen für sich und für das Städtchen fortfristete. Als daher die Gemeinde in ihrer allmählichen Entwicklung gleichfalls zu fühlen begann, daß sie ein paar Alterthümer zu viel besitze, so vermachte sie unter andern Raritäten den lästigen Esel ihren Chorherren. Diese gelehrten Herren durften nicht wagen, eine solche Gabe öffentlich auszuschlagen. Da sich aber im Stifte kein Stall und sonst kein Herz mehr für das Thier vorfand, so stellten sie den Dulder dahin, wo er weder ihnen noch Andern jemals wieder unter die Augen kam, — auf ihre Bibliothek. Erst die französische Revolution sprengte auch sein Gefängniß. Mit dem Moder und Staub des Alterthums bedeckt, von zahllosen Spinneweben ein-



Digitized by Google

geflort, wurde der Verstoßene hervorgezogen und unter offenem Himmel — versteigert. Daß er jedoch auch damit nicht sogleich ans Ziel seiner Laufbahn gekommen war, das wissen die noch Lebenden umständlich zu erzählen. Rath und erbgesessene Bürgerschaft sollen nämlich eine Rechts-Verwahrung erhoben haben, als ein Fremder, welcher eben als Schauspieldirektor im Städtchen wohnte, den Esel ersteigerte. Man wollte das Thier nicht noch auf die Theaterbühne bringen lassen und forderte es dem Käufer deshalb wieder ab. Wie dieser sich weigerte, und im Scherze mit Entschädigungsklagen drohte, und wie man dagegen sein Theater mit dem bürgerlichen Bann bedrohte, bis zuletzt der streitige Esel eben doch einem Salomonischen Urtheil zum Opfer fiel, dies könnte uns nun derjenige Schriftsteller recht anmuthig zu Ende erzählen, welcher die Irrfahrten eines Musikanten (herausgegeben v. L. Bechstein) verfaßt hat.

Digitized by Google

# XI. Legenden und Märchen.

## 469. Die Bekehrer auf der Heidenburg.

Am rechten Ufer des Aabaches, der aus dem Hallwiler-See fließt, beginnt auf dem Fußwege vom Dorfe Egliswil nach dem Städtchen Lenzburg eine Reihe hoher Felsen, die hier die eine Seite des waldigen Saffersberges abschließen. Auf ihren Zacken gewahrt man einige Mauertrümmer, und tiefer herab zu den Matten im Wylthale zeigt sich in einer Felshöhle ein in den Stein gehauenes Fenster. In der Nähe liegt der Heidengraben. Diese Felsen und Trümmer zusammen, die in noch größeren Ueberresten zu Ende des vorigen Jahrhunderts sichtbar gewesen sind, heißen die Heidenburg. Man erzählt, die ersten christlichen Sendboten, die in diese Gegend kamen, hätten sich vor der Uebermacht der Heidenpriester nicht behaupten können. Drei Bekehrer flüchteten sich deshalb auf diese damals schon verlassenen Felsstätten herauf und verschanzten sich. Allein auch hier witterten die Heidenpriester sie aus, stürmten den Berg und warfen die dreie in die Flammen des angezündeten Burgstalls. Auch sagt man, die dreie hätten sich lange verzweifelt gewehrt und sich endlich freiwillig in die Flammen gestürzt, als sie den Belagerern nicht mehr entrinnen konnten. Nach ihrem Tode sollen sie in ihrem Bekehrungsgeschäfte gleichwohl nicht geruht haben. Jetzt redet man nur noch von drei weißen Gestalten an jenem Orte. Vgl. Spinne auf der Heidenburg, Bd. 1, No. 168.

## 470. Die Staufberger Kirchenglocke.

Wie die Bauleute ehemals das Staufener-Kirchlein unten am Platze bei der Dorflinde hingesetzt hatten, gerade so trugen es dann die Engel in gleicher Art und Stein für Stein auf die Höhe des Berges hinauf, von dem aus es über Aarthal und Seeland, in den Schwarzwald und in die Alpen hinschaut. Aber zugleich hiengen sie auch eine wunderbare Glocke in den Thurm. Man hat sie früher bis auf die Brücke der Stadt Zürich hinein läuten hören. Gerne hätten die Zürcher ihre eigne Kirche damit geschmückt und boten dafür den Staufbergern so viel Böcke (Vierbatzenstücke), als man deren

Digitized by Google

eng aneinander von Zürich bis Staufen bei sechs Stunden Weges hat legen können. Allein das Dorf willigte nicht ein und ließ es den reichen Städtern mündlich durch eigne Abgesandte ausrichten. Nun sannen die Zürcher auf Schaden; sie gaben den heimkehrenden Bauern einen Seidenfaden mit, ihn um ihre Thurmglocke zu schlingen, worauf das Geläute dann noch mächtiger tönen würde. Die unerfahrenen Leute thaten's und die Glocke hat seitdem einen Riß.

Gerade so dämpfen die Straßburger die Glocke zu Hauen-Eberstein (Baden) durch einen hinein geschlagenen Nagel. Mone, Anzeig. 1835. Die Keitumer binden dem Klöppel ihrer Glocke ein Roßhaar um, damit sie wie zersprungen töne und die Bewohner von Hoya nicht ferner reize, sie zu stehlen. Bechstein, DSagb. No. 201. Ueber Bedeutsamkeit und Verwendung des rothen Fadens im Volksglauben, genügt es, auf Kuhn zu verweisen: nordd. Sag. 522, XXIV. und auf Grimms Rechtsaltth. 182. 810. Insofern man mit diesem Symbol der Besitzergreifung hegt, schützt und belehnt, dient es zugleich auch dazu, dienstbar und leibeigen zu machen. Im altdän. Heldl. S. 50 u. 503 bindet der Held den rothen Faden um den Helm zum Schutze; die brittische Flotte webt ihn durch all ihr Segelwerk. Als Kaiser Karl den von den Römern geblendeten Papst Leo wieder geheilt hat, blieb diesem noch eine Narbe gleich einem feinen Faden. Mönch v. St. Gallen, l. 1. c. 26. Das Gleiche erzählt unsere Legende von den Angelsachsen No. 474, dem Geschlechte der Rotter zu Boswil nach. Der Glückswunsch der Kinder, die das Neujahr anfingen, lautet: 's isch e güler Fade um das Hûs, der Herr spaziert dreimol dri und drûs. Stöber, elsäß. Volksb. S. 58. Die Bamberger Kirche verwahrt den Seidenfaden, mittelst dessen die Kaiserin Kunigunde die vier obersten Reichsämter zu Lehen des Domstiftes machte; die damit zugleich verbundenen vier Städte sind Prag, Amberg, Wittenberg, Brandenburg. Compendieuse Staatsbeschreib. (1719). 2, 109. Das Kind führt den Uriasbrief an einem Faden zum Todeskampfe No. 246, Grimm, DS. No. 142; und ein Volkslied aus dem schweiz. Bauernkriege, abgedruckt in Balthasars Helvetia 6, 628 singt ironisch von jener Kette, an welcher der Bauernanführer gefangen liegt:

Im Spittel auf dem Laden sitzt er Tag und Nacht
An einem Seidenfaden, wie ihn der Schlosser macht.

Zwirn und Faden sind Rechtssymbole, die gerichtlich hegen und haftbar machen, Lex Salica, ed. Merkel, pag. VII. Daher wird dem Großen Fisch im Egelsee ein rother Faden um den Hals gebunden (Abthl. Hl. Gewässer No. 8); ein um den Neptuntempel zu Mantinea gezogener Wollfaden schützt gegen Entheiligung (Pausanias 8, 10.); „ein sidenvaden mit wasse" wird nach dem Basler Dienstmannenrecht (ed. Wackernagel, § 12) dem Gefangenen vor den Rothen Thurm gespannt, und mit einem Faden aus dem eigenen Mantel gezogen, befreit Pipin den Fuldaer-Abt Sturm. Rettberg, Kirch.-Gesch. 1, 612. Aber der Glaube verkehrt sich in Aberglaube, das befreiende Rechtssymbol sich in ein schädigendes: deswegen glaubte man, die Glocke zu Keitum sei gesprungen, weil ein Zwirnsfaden oder ein Pferdehaar um sie gebunden worden war. Müllenhoff, Schlesw. Holst. Sag. pag. 117. In Indien ist der rothe Faden Hochzeitsschnur und Vermäh-

Digitized by Google

lungsring, bei den Ehsten wird er der Braut um den Leib gewunden, in Tirol dem W. Mann (Wolf, Ztschr. 3, 200), in Schottland schützt er gegen Hexen. Kuhn, nordd. Sag. pag. 522, XXIV.

---

## 471. Das wirksame Stroh.

Unser Herr war nach langen Jahren wieder einmal nach Bethlehem gekommen. Das traf sich gerade auf seinen Geburtstag und den wollte er diesmal zu Hause zubringen. Die Verwandten thaten nun gar stolz auf ihn und rüsteten ihm ein rechtes Gastmahl. Bei Tische war von allerlei die Rede, immer aber kam man wieder auf die Berühmtheit des lieben Sohnes zurück, der jetzt mit seinem Namen schon das ganze Ländchen erfüllte. Wer hätte sich das einfallen lassen, sagte da ein alter Mann, wenn ich zurückdenke, wie du heute vor dreißig Jahren in der Krippe meines Stalles auf Stroh lagst. Ich war damals selber noch arm, und nun in der kalten Nacht noch dazu ein hilfloses neugebornes Kind, wie sollten wir Hirtenleute da uns anders behelfen! „Was sagt Ihr, Freund, Stroh ist mein erstes Lager gewesen? Nun so soll es fort und fort gesegnet sein. Friede den Hütten! und wie etliche Hälmlein damals ein nacktes Leben gefristet haben, so sollen sie an manchem Tage auch der Pflanze und dem Thiere zu Schutz und Schirm, und nur dem eiteln Menschen zur Schande sein." So lautete hierauf des Heilands Antwort.

Gestützt auf diesen Segensspruch beginnt man zur Zeit des Ostertaufläutens Strohbande zu flechten. Die Thiere, die man damit abreibt, gedeihen; die man damit schlägt, sind jedem Unfall ausgesetzt. Mit diesem geflochtenen „Widstrau" umwickelt man am Abend vor Weihnachten die Obstbäume, damit sie im künftigen Jahre reichlich tragen; und dies Geschäft nennt man das Chüssen der Bäume, ihr Strohbettchen.

Kommt aber die Neujahrsnacht heran, so machen die Burschen heimlich einen Strohmann und stellen ihn der hochmüthigsten Dorfjungfer vors Haus. Zu ihrer Schmach schaut ihr dann Frühmorgens der lächerliche Bröggler (Prahlhans) zum Fenster der Schlafkammer herein.

Vgl. Myth., Abergl. No. 990. In Schlesien schüttet man die Fischgräten vom Weihnachtsmahl an die Gartenbäume: Weinhold, Weihnachtsspiele S. 28; in der Uckermark und um Görlitz umwickelt man die Bäume mit jenen Strohbändern, auf die man beim Neujahrsessen die Füße gesetzt hat. Kuhn, nordd. Sag. 407. In Bayern, Schwaben und Thüringen geschieht gleiches. (Panzer 1, S. 262. Meier, S. 461. Sommer, S. 156, 162): Alles dazu, daß die Bäume nächstes Jahr reichlich tragen.

Digitized by Google

Wie da die Menschen festlich vereint das Neujahr anwachen, so sollen auch die Bäume draußen in dieser Zeit, und im Stalle die Thiere nicht schlafen, um beim Nahen der Gottheit und bei der Austheilung ihres Segens nicht übergangen zu werden. Deshalb giebt man ihnen ein Küssen aus Stroh. So giebt man dem Baum sein Neujahr. Der Brauch gilt auch in der Bretagne: Wolf, Beitr. 1, Abergl. 359. Grimm, Abergl. L. 47 bringt aus einer mhd. Hs. denselben Brauch: die paum chust man, so werden se fruchtper des iars. Vgl. ebendas. No. 153 u. 1103. Der Kinderreim von den drei Mareien (Nornen) sagt von der letzten Norne: die dritt, die spinnt haberstrau. Und diese Norne kehrt wieder im Spruche von der Mutter Hausgesinde: haberstrau heisst mî frau. Im deutschen Volksliede wird vielfach eine Geliebte zur Frau begehrt, die aus Haberstroh klare Seide spänne. Dies ist der Glückshalm, der dem Walther v. d. Vglw. Erhörung bei der Geliebten ankündet: mich hat ein halm gemachet frô. Es ist zugleich das Hilfskraut und der Nothhalm: galium verum ist unser Lieben Frauen Bettstroh genannt, Hagen, Apothekerkunst 1781; und der Senne braucht es als Lab zum Käsen. Schlägt man ein Thier mit einem Strohbande, so bleibt jenes Unfällen ausgesetzt. Wanderer i. d. Schweiz 1842. 304. Brich das Stroh mit ihm, sagt noch der englische Celte demjenigen, welchem er räth, die Verbindung mit Jemand abzubrechen. Vgl. Grimm, RA. 604. Die Schwinger in den Alpen brechen vor dem Beginne des Wettringens jeder einen Halm; der Geworfene bricht abermals einen. So ergiebt sich mittelst des Halmes der besiegte Liudgast an Sifrit, und eine Nib. Hs. zeigt diese Rechtssitte gemalt zu Strophe 188, 1. Aus der lex salica 53, 3 ist diese Festucation in das schweizerische Landschaftsrecht allenthalben übergegangen. Aus St. Gallen vermeldets Jld. v. Arx; aus Appenzell Zellweger; aus Baselland Lenggenhager (Schlösser, Basell. S. 270.); und da in Ueberreichung eines vom eigenen Dache gebrochenen und dem Richter dargebotenen Strohhalmes das Klagerecht beurkundet war, so besagte die Redensart, über einen Strohhalm fallen, soviel als gerichtlich den Kürzeren ziehen und die Streitsache im Beginne verlieren. Es zörnet und grînt daz arme lût echt, so einiger halm an dem wege lît. Berchtold, ed. Kling, 194. Diese deutsche Nation stolpert durchaus über Strohhalmen, sagt ähnlich Göthe bei Riemer, Mittheil. 2, 529. Ein irisches Elfenmärchen über diese Phrase giebt Grimm, XC.

---

## 471 a. Das Stroh verbrennen.

Ein Kornspeicher, den man auf der ehemals zum Kirchenbau bestimmt gewesenen Baustelle um Gontenschwil aufzuführen begann, wollte in seinen Grundmauern durchaus nicht fest werden. Da brachte ein Mann vom Gaishof ein Füllen auf den Platz, zündete eine Welle Bohnenstroh ihm unter dem Leibe an und hielt das Thier so lange, bis das Stroh verbrannt war. Von da an fiel das frisch aufgeführte Mauerwerk den Arbeitern nicht mehr zusammen. Es hat sich dieser Brauch in jener Gegend bis in die Neuzeit fort vererbt; wollte das

Digitized by Google

Anken oder sonst eine landwirthschaftliche Verrichtung nicht gut von statten gehen, so nahm man ein Füllen aus dem Stalle und verbrannte ihm eine Welle Stroh, Heu u. A. unter dem Leibe.

Here und Toggeli verwandeln sich in einen Strohhalm. Bekannt ist die aller Orten sich wiederholende Erzählung, wie die Meisterfrau als Here Nachts ihre Gesellen reitet. Der Schustergeselle, der darüber erwacht, wirft den in seinem Bette gegriffenen Strohhalm zum Fenster hinaus, oder der Schmiedgeselle spannt ihn sogleich in den Schraubstock. Des Morgens hängt dann die Schmiedsfrau an ihren Zöpfen in den Schraubstock gespannt, und die Schustersfrau hat über Nacht den Hals gebrochen. Eine Hildesheimer-Sage erzählt, wie man einen Werwolf hängen wollte, statt seiner sah man zuletzt nur eine Gerstenbose am Galgen. Die Ansbacher, denen der Verfasser dieses Buches angehört, haben den Spitznamen Wolfshenker. Es starb nämlich der dortige Bürgermeister Leicht und sah von seinem Dachfenster aus seinem eignen Leichenbegängnisse zu. Als man ihn greifen wollte, verwandelte er sich in einen Wolf. So lief er ein Vierteljahr in der Umgegend umher, zerriß und fraß bei Windsbach vier Kinder und packte die Leute an, daß sich Niemand mehr über Feld getraute. Endlich stürzte er über der Verfolgung eines Hahnes in einen leeren Brunnen und wurde da von den Bauern mit Steinen und Prügeln getödtet. Am 10. Okt. 1685 wurde ihm in Ansbach die Schnauze abgehauen und dafür ein Schembart (Larve) angelegt, eine Perücke aufgesetzt und ein Rock von Wachsleinwand angethan, und so wurde er auf dem Nürnbergerberge bei Ansbach, der heute die Windmühle heißt, an einen Schnellgalgen gehenkt. Man behauptet, seine Perücke sei aus Stroh, Andere aber sagen, sie sei aus Menschenhaaren gemacht gewesen. Die Haut hatte man ihm abgezogen und ausgestopft in die städtische Kunstkammer gebracht. Oertel, kleine Chronik von Ansbach, 1837. pag. 40. Der Brauch, erjagte Wölfe zur Schau an Bäume auszuhängen, verräth sich bereits in Friedrich I. Schreiben 1165 an seinen Sohn: es wären an Einem Tage 22 Räuber an Einem Galgen wie Wölfe, more lupino, aufgehangen worden. Anton, Gesch. d. Landwirthsch. 3, 501. Im Fasnachtliede aus dem 16. Jahrh. (Mittler, deutsche VolksL. 1855, No. 1386) heißt es von einem bäurisch Maskirten: wenn er stro bindet umb die knye, kan jn niemand erkennen. Beim Pfingstwettlauf in der Altmark bindet man dem allerletzten, welcher der Molitz genannt wird, ein Strohband ums Knie und singt: Molitz hat sich ins Knie gehaut! Kuhn, nordd. Sag. pag. 380.

---

## 472. Vom Frickthaler Landespatron Fridolin.

Als der heilige Fridolin das Stift Seckingen am badischen Oberrhein gründete, hörte er unter allen seinen Mühen und Sorgen doch nicht auf, besonders ein Kinderfreund zu sein. Gar ostmals, wenn er in seinem Obstgarten spazieren gehen wollte, traf er die Seckinger Buben droben auf den Bäumen, welche über den Zaun gestiegen

Digitized by Google

waren, und ihm die Aepfel unzeitig wegaßen. „Büblein," sagte er dann, „schnell macht euch davon; denn dort kommen auch die Klosterbrüder, und wenn euch die erwischen, so geht's ans Hosenspannen!" Konnten dann die Knaben vor Angst nicht schnell genug herunter klettern, so half er ihnen selber und hielt Achsel und Rücken hin, damit sie darauf steigen und ja keinen Schaden nehmen sollten. Nun waren aber auch etliche Buben darunter aus dem Dorfe Stein, das jenseits des Stiftes am Aargauer-Rheinufer gelegen ist, und diese konnten dem guten Manne ihren Aerger nicht vergessen, daß er sie einmal mit leerer Tasche heimgeschickt hatte. So wie er nun das nächste Mal in ihr Dorf herüber kam, ließen sie alle Unart an ihm aus, sie bleckten ihm die Zunge, spuckten ihn an und hetzten ihm einen rothen Hund nach. Der Heilige strafte sie dafür nicht ab. Seitdem giebt man aber ringsum den Steinern den Spottnamen rothe Geiferer, und sagt, sie kämen alle rothhaarig zur Welt und müßten am allerlängsten mit dem Geiferfleck herumlaufen. (Murer, Helvet. Sanct. 1751 pag. 65.) Noch berechnet der Bauer die Zeit der Ackerbestellung und die Witterung nach diesem Heiligen. Regen giebt's, sagt man im Frickthal, wenn der Bergfriedli schreit. „St. Friedlis Tag schwimmt 's Liecht durhe Bach ab." (Kirchhofer, Schweiz. Sprichwörter 318.) „(St. Fridolinus) habuit secum quemdam magnæ ferocitatis discipulum. Sed tamen suus magister tantæ mansuetudinis erat, ut quando pueri, sicut mos est parvulorum, conscenderant arborem ramos causa colligendi poma, juxta stipitem stans observaret eorum descensum, quatinus suo blandius impositi dorso nullatenus ruinam timerent eisque tunc suum prædictum fugientibus discipulum ita dixit: „fugite, o miseri, fugite, ne ille veniat, qui vos absque misericordia damnet!" (Balther von St. Gallen, ums Jahr 1000.) Mone, badische Quellensammlung, pag. 14 b.

---

## 473. Fünf Finger im Klosterportale zu Olsberg.

Ein früherer Graf des oberrheinischen Rauracher-Gaues hieß Kadaloch; er hat im Frickthale in einer stillen Gegend das Gotteshaus Olsberg gegründet und dem Schwesterorden der Augustinerinnen geweiht. Der nach des Gründers Namen dem Stifte gegebene Namen Kadolsberg wurde zum Olsberg umgeändert, um damit an den Oelberg in Jerusalem zu erinnern; der Violenbach, der das kleine Thälchen durchfließt, sollte an den Bach Kidron im Thale Josaphat gemahnen, auch des Klosters Siegel bekam die Inschrift

Hortus Dei; ein Gottesgärtlein sollte ringsum das Ländchen sein. Allein dazu hatte es schon Kadaloch der Graf zu reichlich begabt, und seine frommen Nachkommen vergrößerten sogar noch diese Schenkungen. Man sagt, des Stiftes Besitzthümer hätten einst bis nach Straßburg hinabgereicht. Damit wuchs denn auch die Vergnügungssucht und der weltliche Sinn in seinem Innern. Im Kloster gab's bald lauter Spiel- und Vacanztage. In die großen schattigen Buchenwälder des Jura zog man hinaus und hielt da Maiensesse und Sommerfrische; nicht aber nach der einfachen Weise des Landvolkes, das dann auf etliche Tage von der Arbeit sich auf einem Sennhofe ausruht. Nein, auf den Matten und in der Bergluft der Rüschelen schlug man Hütten auf zu unerlaubten Lustbarkeiten, und vertanzte die Gebetstunden mit den jungen Rathsherren der benachbarten Stadt Rheinfelden. Der Basler Bischof beschloß endlich solchen Ausartungen Einhalt zu thun und schickte einen Abgesandten ins Stift, der es zu den Regeln der strieten Clausur zurückführen sollte. Allein man hatte das Gehorchen verlernt, man wollte nichts mehr vom Bischof mit allen seinen Gesandten wissen. Der ganze Convent stellte sich daher im Chor der Kirche auf und eröffnete dem unwillkommenen Boten, wie man einmüthig zum Beschluß gekommen sei, jeden ferneren Ueberbringer solch unliebsamer Aufträge an dieser Stelle todt beißen und todt kratzen zu wollen. Der fromme Mann bekreuzte sich und gieng. Aber beim Austritt aus dem entheiligten Gotteshause drückte er seine Hand tief in den linken Thorstein, als wär's weiches Wachs, und rief zu den Nonnen zurückgewendet mit prophetischem Schmerze:

Nie ist Olsberg ohne Brod,
Aber niemals ohne Noth!

Die Spur dieser mit ihren fünf Fingern ins Thor gedrückten Priesterhand war noch bis zu den Zeiten zu sehen, da die Schweden ins Land fielen, und da die Bauern im Bauernkriege die Schlösser und Klöster wegbrannten. Der Stein mit seinem Merkzeichen ist verschwunden, keine Klosterfrau ist mehr im ganzen Thale; doch heute noch erfüllt sich jene Prophezeiung fortwährend. Dieses sonst so reiche Stift adeliger Fräulein, dessen Abtissin die Gräfin von Thierstein gewesen war, für das die Kaiserin Maria Theresia noch fromme Fürsorge trug, ist in eine Anstalt für arme und verwahrloste Kinder umgewandelt, die nun auf dem Klosterboden den Ackerbau treiben und ihr Brod verdienen lernen, und heißt jetzt nach dem Namen des bekannten Menschenfreundes Pestalozzi-Stiftung.

Abthl. I, No. 16 hat Olsberg stets Wasser, hier stets auch Brod. — Anders als das Volk erzählt der fleißige S. Münster in seinem Weltbuche

S. 599 die Olsberger Legende. Die damalige Abtissin Bertha, Gräfin von Thierstein im Frickthal, hatte einen hartherzigen Kastvogt, der den Armen jedes Almosen mit der wiederholten Bemerkung abschlagen ließ, das Stift sei noch nicht lange abgebrannt und selber arm. Ein Bettler erwiedert darauf: date, et vobis dabitur, und drückt dabei seine offene Hand bleibend in den Stein der Klosterpforte. Die Zurücklassung von Hand- und Fußspur im Gestein deutet aber auf alte Riesensagen, und die Rechtssage behauptet, das gerichtliche Maaß sei nach solchen Spuren genommen worden. Die Mailänder maßen nach Liutprands Fußstapfen: signum pedis ejus in ipso lapide fuit sculptum potentia dei, quod usque in præsentem diem ibi apparet et dicitur pes liprandus, ad cujus mensuram usque in hodiernum diem vendunt et emunt. Pertz, Archiv. 7, 630. Die Schweiz, deren ältere Stadtrechte ebenfalls nach Daumen-Ellen und Zehen messen (Segesser, Luzern. Rechts-Gesch. 1, 81. Zellweger, Appenz.-Gesch. 1), hat solcher Sagen viele. In der Einsiedler-Wallfahrtskirche ist ein über das Gestein geheftetes Silberblech mit fünf Löchern, die Christus nach vollendeter Kirchweihe hier eingedrückt. Landsee Enchiridion helvet. 103. Im aargauischen Städtchen Mellingen zog sich erst vor ein paar Jahren ein Geistlicher einen kirchlichen Verweis zu für die Himmelfahrtspredigt, in welcher er behauptete: der Herr habe einen so starken Gump gen Himmel genommen, daß man im Felsen des Berges noch heute seine Fußstapfen erblicke. Aarg. Blätter 1852. Auf dem Kirchenhügel in Glarus zeigt man den Fels, in dessen Gestein Felix und Regula gegriffen hatten, als sie dorten wohnten. Am Schindelnberge bei Elms in Glarus ist das eine Martinsloch durch das Gebirge gestoßen; das andere gleichnamige ist am Berner Eigerberge, und man zeigt dorten den Martinsdruck, d. h. diejenige Stelle, in welche der zum Stoß ausholende Heilige den Rücken eingestemmt hatte. Jahn, Kant. Bern, 328. Eine ähnliche Gebirgslücke im Kant. Freiburg heißt der Mönchstritt. Alpenrosen. 1823, 129. Der Pfaffenköchin-tapp (tritt) heißt eine Felsplatte ob der Melsermatte im St. Gallerland, von der aus eine Pfaffenkellnerin dem Teufel durch die Luft auf die Tamonser-Wand hinüber entsprang. Reithard, Sag. a. d. Schweiz, 370. Brode, in Steine verwandelt, wiederholen sich in jeder landschaftlichen Sage; hier folgen nur ein paar Parallelpunkte, welche zu der vorstehenden Nummer direkt gehören. Am Eingang in den Freisinger Dom ist der bischöfliche Thorwart Seemoser abgebildet mit einem Laib Brod. Letzterer verwandelte sich in Stein, als Seemoser, der eben auf dem Wege war, heimlich damit die Armen zu speisen, ihn dem geizigen Bischof Gerold vorzeigen sollte. In der Hauptkirche zu Landshut hängt mit silberner Einfassung ein runder Stein in Gestalt eines Brodes, in dem die eingedrückten Finger des Mädchens zu sehen sind, die zu geizig war, es ungebrochen den Armen reichen zu wollen. Schöppner, bayr. Sagb. No. 54. 55.

---

## 474. Die drei Angelsachsen in Sarmensdorf.

Drei fromme Männer von dem Volke der Angelsachsen waren von einer Wallfahrt aus Einsiedeln her nach Muri ins Freienamt

Digitized by Google

gekommen. Als sie hier am Grabe des hl. Leontius ihr Gebet verrichtet hatten, wollten sie sich im Dorfe Lebensmittel kaufen und damit selbigen Abend noch nach Sarmensdorf weiter wandern. So wie sie sich aber dem Wirthshause zum Ochsen näherten, war in der Gaststube Musik, und ein fröhliches Brautpaar lud die Fremdlinge ein, am Hochzeitstische sich zu sättigen und auszuruhen; nach der Hand, hieß es, wolle man sie selbst zum Hofe Bühlisacker, dem Heimathsorte des Brautpaares, begleiten und von dort aus sei es nicht mehr weit bis nach Sarmensdorf. So geschah's. Es war schon spät geworden, da Pilger und Hochzeitsleute zusammen Bühlisacker erreichten; um so weniger wollten nun die Angelsachsen das abermalige Anerbieten annehmen, heute hier auch zu übernachten. Sie sagten dem gastfreundlichen Paare ein dankbares Lebewohl, schenkten der jungen Frau einen goldenen Pfenning zum Andenken und setzten unverweilt ihren Marsch fort. Dies hatten aber drei junge verwegene Gesellen mit angesehen, die schon in Muri beim heutigen Tanze sich aufgeregt hatten, und raublustig schlichen sie sich nun den Pilgern nach. Die Straße führt von hier weg bis Sarmensdorf lange bergan und hat zu beiden Seiten Tannenwald. Um so eher waren hier die Landesfremden einzuholen und ungesehen zu überfallen. Die Bösewichte drangen auf sie ein, hieben ihnen die Häupter ab und schleuderten diese weit weg; als sie aber an den Leichen nichts von der verhofften Beute fanden, entrannen sie. Doch die Ermordeten erhoben sich wieder, wandelten ihren abgeschlagenen Häuptern zu, nahmen sie aus dem Staube auf und wuschen sie an einem Weidbrünnlein sauber, das an dem Berge bei Bühlisacker ist. Es fließt seitdem mit röthlichem Wasser; sonst war es eine bloße Viehtränke, nun wallfahrtet man hieher und wäscht alle offenen Wunden, damit sie um so eher zuheilen. Auch der Boden auf dem Mordplatze, obschon er mannstief abgegraben worden ist und weggetragen, läßt sich noch immer in blutrother Färbung auswühlen. Dann giengen die Angelsachsen die Anhöhe hinunter und als es eben zu regnen begann, setzten sie sich zusammen in den Schutz eines großen Steines, der bald als Schirmdach über sie hergewachsen sein soll. Ein Bettelmann aus Sarmensdorf fand sie hier todt, den Kopf in die Hand geschmiegt. Ihre Leichen begrub man in der nahen Wendelinskapelle und erweiterte dieselbe dann; aus ihrer linken Mauerseite ragt ein Fels weit in den Bau herein; das ist der Stein, unter welchem die Märtyrer verschieden sind. Ein alter Bittgesang, der am Feiertage der Heiligen jetzt noch gesungen wird, sagt darüber:

Digitized by Google

Gleichwie ein Dach
Hat Schatten gmacht
Der Stein und hat Schirm geben.

Neben dem Altar steht ein alter Steinsarg, in den man ihre Körper zusammengelegt hatte; derselbe trägt eine Inschrift, welche man auf jenen siegreichen Hallwil deutet, der den Burgunder-Herzog Karl in der Schlacht bei Murten überwunden hat; sie lautet:

In diesem Stein ist ihre Ruh,
Man wollt's gar wohl bewahren.
Alt-Halwil gab den Stein dazu
Vor mehr denn hundert Jahren. 1471.

Als man später ihre Gebeine hier erhob und in den Hauptaltar der Sarmensdorfer Pfarrkirche versetzte, verlor dieser Steinsarg gleichwohl nichts von der ihm gewidmeten Verehrung und von dem Glauben an seine vielfache Heilkraft. Man besteckt ihn noch immer mit brennenden Wachskerzen, man läßt den Deckel abheben und steigt in den Sarg, um drinnen zu beten und, wie man glaubt, alter Kopfleiden los zu werden. Auch als Wetterheilige gelten die dreie, und die Bauernregel sagt von ihrem Jahresfeste, dem 8. Januar: „wenn d' Ängelsächser an ihrem Nammestag ihres Grab nid sunne chönnid, se chan me au i der Ärn d' Garbe nid sunne."

Auch ihr Gastfreund soll ihnen ein Kirchlein haben errichten lassen in der Nähe seines Wohnhauses zu Bühlisacker, wo sie sich von ihm trennten. Es ist dasjenige, welches an der Straße gegen Muri steht, schon dem Einsturze nah. Ein Gemälde zeigt drei Männer, die eben angefallen und niedergemacht werden, und trägt folgende verblichene Inschrift:

Drey Bilger sind alhier zu todt erschlagen,
Zu Sarmistorff ligen sie begraben,
Auß Saren sind sie harkomen,
Darum thued man sie Engel-Saren nännen.

Ueber ihre drei Mörder hat sich im Stillen ein eigner Glaube fortgeerbt; man hält sie für Leute aus Boswil vom Geschlechte der Notter, das in diesem Orte ein zahlreiches und geachtetes ist. Jeder Erstling, der in den Ehen dieser Verwandtschaft geboren wird, soll, behauptet man, mit einem rothen Striemen um den Hals auf die Welt kommen.

Die Erinnerung an die aus Schottland und Irland in die Schweiz gekommenen ältesten Bekehrer war in mehreren Kantonen Grundlage der Landesgeschichte geworden, diese irischen Missionäre wurden frühzeitig schweizerische Lokalheilige und Landespatrone; Fridolin, Gallus, Felix und

Digitized by Google

Regula werden noch heute auf Banner oder Siegel in Glarus, St. Gallen und Zürich geführt. Ein Pergamentbrief mit der Legendenerzählung „von den seligen Engelsaren anno 1309" liegt in der Pfarrkirche und in der Gemeindelade zu Sarmenstorf; er ist jedoch nach Schrift- und Sprachfassung durchaus nicht älter als das Datum seiner Vidimierung, gefertigt 26. Nov. 1712 durch Mich. Leont. Eberlin, notar. apostolic. et pastor loci. Der Hof und die Gegend zu Bühlisacker und zu Boswil war von Gotteshausleuten bewohnt, die dem Kloster Muri mit Leib und Gut verbunden und zinspflichtig blieben. Das Einsteigen der Leute in den Steinsarg eines Heiligen ist ein alterthümlicher Heilversuch, der auch anderwärts noch andauert, z. B. in Bayern; vgl. Panzer, bayr. Sag. 2, 432. 436. In der Pfarrkirche des Solothurner-Dorfes Wangen ist das Gallengrab. Alle Freitage im Maimonat bringen viele Mütter ihre Kinder dahin und stellen sie in dieses Grab, was sich die Kleinen nicht immer gerne gefallen lassen wollen. Strohmeier, Kant. Solothurn. 266. Ueber den Brauch Heilfelsen im Frühjahr zu erklimmen, redet die Anmerk. No. 477, Gislikirche. In der Dorfkirche von Schwyzerisch Wollerau nennt man ein Grabgewölbe Unser Lieben Frauen End; man öffnets alle Jahre einmal, dann treten die Mütter mit kranken Kindern neunmal hinan und suchen damit Genesung. — Der in dieser Erzählung beargwöhnte Familiennamen Notter hat sein Schicksal in der früheren deutschen Dichtung zu suchen. In Schernbecks Spiel Von Fraw Jutten, v. J. 1480 tritt neben Satanas, Spiegelglanz und Federwisch, ein Teufel Nottis mit auf. Flögel, Kom. Lit. 3, 95. 96. Notir heißt er im Alsberger- und im Friedeberger Passionsspiele, das vor dem 16. Jahrh. datirt. Haupt, Ztschr. 7, 548. Statt Nottis entsteht später Nottir: Fasnachtspiele des 15. Jh. 2, pag. 900. Adalb. v. Kellers Erzählung. aus altd. Handschrift. pag. 23, 34:

her, so heyss ich Nottir,
ich bin hubsch vnd zir.

Nottir ist ein Tanzteufel, und diese Notter kommen ebenfalls gerade vom Hochzeitstanze her. notteln, hnutten ist sich hin und her bewegen (Schmell. Wb. 2, 720), Nötter ist der Rüttelbauch, Stalder 2, 244. — Das Wandeln der Heiligen mit ihren abgeschlagenen Häuptern in den Händen ist dem Martyrologium des 9. oder 10. Jahrhunderts über die Zürcher-Heiligen Felix und Regula entlehnt, die ihre abgeschlagenen Häupter aufnehmen und vom Limmatufer vierzig Ellen weit hinweg zu Berg tragen. Canonicus J. J. Breitinger, Kirchweih-Oration 1755 citirt zum Verständnisse dieses Mirakels eine Stelle aus einer Homilie des Chrysostomus: „Wie dem Krieger seine in der Schlacht erhaltenen Wunden den Muth geben, von seinem Fürsten jegliche Belohnung zu erwarten, eben so ist nichts, was die Martyrer nicht von der Gnade Gottes erlangen könnten, so oft sie ihm ihre abgeschlagenen Häupter in ihren Händen entgegen bringen." Breitinger macht keine nähere Angabe über diese von ihm angeführte Homilienstelle. Zürch. Antiq. Mittheil. 1840, 8. Diese Erklärungsweise mag für einen Theil der Legenden zureichen, derselbe Zug aber in der Sage (vgl. No. 387, Haupt des Schwiegervaters) hat einen andern Grund. Der Schimmelreiter, wie man ihn in Schlesien zur Weihnachtszeit darstellt (nach Weinholds Angabe, Weihnachtsspiele), trägt in der Rechten einen Stab mit einem Siebe (Zeichen der Götterherrschaft und des zu gewäh-

Digitized by Google

renden Ackersegens), unter dem linken Arm aber trägt er seinen Kopf, einen Kürbiß mit eingeschnittener Augen- und Mundhöhle, durch die hinter rothem gewölbten Papier ein Licht hervorschimmert. Dieses ledige Haupt mit offnem feurigen Munde symbolisiert die Winde, die Zwerge Vindâlfr und Gustr (flatus), die in Gestalt blasender Häupter noch an den Giebeln unserer Holzbauten, und in den Holzschnitten unserer alten Kalender vorkommen. Kuhn, Ztschr. f. Sprachforsch. 4, 116 weiset in derselben Erscheinungs- und Wirkungsart zugleich die indischen Maruts nach. Unser Schimmelreiter ist ein Witterungsgeist, unsere feuerigen Männer sind dasselbe, und beide tragen deshalb das Haupt unterm Arme. Während der Wassergeist im Trottenbach (No. 43) also erscheint, hält er seine eignen Augen dazu auf einem Teller; nachdem sich der hauptlose Mann beim Hoden-Schüerli gezeigt hat (No. 108), entwurzelt alsbald ein Sturmwind die dicksten Bäume. „Dieses Sturmgeheul ist der Ablеich, der Lebendes und Lebloses mit unwiderstehlicher Gewalt zum Tanz treibt; das des Orpheus Lied, dem Felsen und Bäume folgen; das auch die Musik, die an der Spitze des W. Heeres erklingt.“ Kuhn, ibid.

---

## 475. Wandernde Kirchenbauten.

Der Eckstein der Rohrdorfer Pfarrkirche war sonst zu Remetschwil im Dorfe gelegen, wo man ursprünglich jene Kirche hatte erbauen wollen; kam aber Nachts zweimal eine Viertelstunde weit nach Rohrdorf auf die halbe Höhe des Heiterberges heraufgeflogen, bis man ihn endlich da beließ.

Ebenso wanderte auch die Kirche zu Vilmergen von ihrer alten Baustelle im Thale über Nacht auf den Hügel hinauf, auf welchem sie nun eine so malerische Lage hat.

Das Kirchlein zu Kilchberg bei Aarau ziert freundlich den Gipfel einer Jurahöhe, welche rings über das Aarthal hinblicken läßt; dennoch sollte es ursprünglich am hintern Ende desselben Bergrückens, auf dem sogenannten Waidgüpfli aufgeführt und gegen Wälder und Jurawände gerichtet werden. Denn damit wäre es um vieles näher bei seinem Dorfe gelegen gewesen. Aber das auf der Hinterseite dieses Bergrückens Gebaute war alltäglich wieder auf die sonnige Thalseite vorgeschafft. Die Wahrheit dieser Meinung will man aus den noch sichtbaren Bauspuren hinten am Waidgüpfli nachweisen. Doch versichern alte Leute, es seien dies die Ueberreste einer längst eingegangenen Burg Hooren oder Hochrain, welche zuletzt den Chorherren von Münster eigen gewesen sei; und in unerreichbarer Tiefe stecke hier ein großer Schatz. Vgl. No. 379, Horenbauer von Asp. Allerdings haben jetzt noch die Chorherren von Münster im Luzernerlande das Collaturrecht dieser Pfarrei von Kilchberg.

Digitized by Google

Eine ähnliche Wanderung des Bauwerkes von der ihm zugedachten Stelle auf den Platz eines verlassenen heidnischen Götterhaines zurück, erzählt man in der Schweiz von der Kapelle zum hl. Kreuz am Rigi, oberhalb Wäggis; von der Stephanskapelle zu Matten, bei Interlacken; von der Dorfkirche zu Mühleberg, zwischen Saane und Aare, an der Bernergrenze; hier wandert selbst das Störchepaar zugleich mit dem Thurme auf den alten Platz zurück, um da fort zu brüten. Reithard, Sag. a. d. Schweiz, 535; und den Kirchenbau des Klosters Pfäfers versetzt eine Taube an seine heutige Stelle: R. Wyß, schweiz. Idyllen 1, 217. Die Einiger Chronik erzählt dasselbe von der Kirche zu Einigen am Thuner-See, diese und die ebendaselbst zu Blumenstein haben ihre Baustelle eigenmächtig aufgesucht. Wyß, Reise ins Bern. Oberl. — es vergleicht sich dies dem Zuge in der Legende von Amicus und Amelius, da die beiden Steinsärge der bestatteten Freunde zusammen rücken. Grimm, Arm. Heinrich pag. 194. Sogar auf den Höhen undSchneewüsten des Montblanc ist dieselbe Legende wirksam. Das Dorf Notre-Dame de la Gorge verehrt ein Marienbild, das von seiner Gletscherhöhe in die tieferliegende Thalkirche herab getragen, stets wieder in die alte Kapelle zurückgekehrt ist. Der Zugang zu letzterer ist gefährlich, gleichwohl strömen die Bewohner der Nachbarthäler alljährl. am 15. August hier andächtig zusammen. Der in der Kapelle sprudelnde Quell ist heilkräftig. Die nächstgelegenen Höhen und öden Halden heißen Col du Bon Homme, Plan des Dames, Plan du Mont Jovet (Jovis). Meyer-Knonau, schweiz. Erdkunde 2, 419. Aehnliche Baulegenden aus Deutschland verzeichnet und bringt Hocker, deutsch. Volksglaube, S. 43 von der Neefer-Kapelle und der Michaelskirche auf dem Engelberge. Dazu steht Müllenhoff, Schlesw.-Holst. Sag. 142 — 154. Schöppner, bayr. Sagb. No. 469. 616. Stahl, westphäl. Sag. 101. Panzer, bayr. Sag. 2, 414 sq.

---

## 476. Die Heidenhütte von Uerkheim.

Als die Bewohner des Uerkheimer Thales durch fromme Männer aus dem Welschland zum Christenthum bekehrt wurden, widerstanden unter ihnen nur drei Brüder und verharrten auf ihrem alten Glauben. Sie wohnten beisammen in einem alten Häuschen, das man die Heidenhütte hieß, und schmiedeten in einer unterirdischen Werkstatt lauter Gold und Silber. Darüber brach einmal Streit zwischen ihnen aus, und zwei verloren dabei das Leben; der letzte noch Uebrige bekehrte sich zur neuen Lehre, verbrannte seine einsame Hütte und vergrub auf dem verlassenen Wohnplatze vier Eisenstangen ins Geviert gesteckt in den Boden. Hier wurde er auch begraben, als er nachher starb. Nun war keiner mehr übrig, der widersprach, wenn die Uerkheimer Gemeinde hielten und sich über den Bau einer Dorfkirche beriethen. Bald darauf beschloß man daher ein Gotteshaus zu erbauen und

Digitized by Google

zwar auf derjenigen Anhöhe, welche jetzt noch der Kirchhübel genannt ist, obschon sie gänzlich leer steht. Was man aber den Tag über dorten gearbeitet hatte, das war am andern Morgen wieder zerstört, die Baustücke und sogar die Zimmerleute fand man immer auf die Stätte der vormaligen Heidenhütte zurück versetzt. Hier stieß man beim Graben auf ein altes Mauernfundament mit jenen vier einst vom Heidenschmied eingesetzten Eisenstangen; darum baute man denn nun die Kirche hier auf und meinte damit zugleich den Mord zu sühnen, den hier die drei Brüder aneinander verübt hatten. Ihre Schatten sollten sich beruhigen, wenn ein christlicher Tempel über ihrem Grabe stehen würde. Als nun das Werk bald vollendet war, entsann man sich erst, daß man Alles vorräthige Geld in den Bau gesteckt und keines übrig behalten habe, aus welchem man den Gottesdienst und den Priester künftighin bestreiten sollte. Da hörte man aus dem Chore her eine Stimme reden, die folgenden Rath ertheilte: „Ein Jeder, der eine stockschwarze Katze Nachts an die Kirchenthür bringe, solle dafür Schätze genug bekommen, sobald er alsdann so eilig wieder entliefe, daß er das Geschrei der Katze nicht mehr zu hören bekäme, wenn ihr auf der Stelle der Hals umgedreht werde. Der Erste, der sich nun daran wagte, entsetzte sich bei dem Geschrei der erwürgten Katze so sehr, daß er am neunten Tage darauf starb. Einem Zweiten hielt der Muth fest und er entkam zur rechten Zeit; allein Alles, was er dafür an der Thüre eingehändigt bekommen hatte, war ein einziger Thaler. Weil man damals noch nicht wußte, was ein Wechselthaler sei, so legte man ihn bei der ersten Kirchweihe in den nagelneuen Opferstock. Als das Jahr herum war und man den Opferstock öffnete, um nachzurechnen, wie viel indessen durch die allgemeine Freigebigkeit gesteuert worden sei und wie hoch sich nun das Kirchenvermögen belaufe, fand er sich gänzlich leer. Der Wechselthaler nicht allein war verschwunden, er hatte auch noch das übrige Almosen mit sich fortgenommen. So kommt's, daß die Uerkheimer heute noch nur ein geringes Kirchengut haben.

Wie man sich den Wechselthaler zu verschaffen habe, erzählt No. 388 und Kuhn, Nordd. Sag. No. 24. Es ist Odhinns Ring Draupnir gemeint, der die Eigenschaft hat, daß jede neunte Nacht acht gleichschöne Goldringe von ihm tropfen. Hier wird das Glück mittelst einer Katze erworben, dem Lieblingsthiere Freyjas, Odhinns Gemahlin. Daher meint der Volksglaube mittelst einer Katze den Schätze hütenden Teufel kraftlos machen zu können. Die Gefahr, die dabei für den Teufelsbeschwörer entsteht, ist von unserer Legendennummer ausdrücklich hervorgehoben, aber auch noch die Redensart „Katz aushalten" weist darauf zurück. In Lessings Minna von Barnhelm Act 3, Scene 10: „Im Wagen muß der Herr Major Katz aushalten."

Digitized by Google

Zu Saint-Jean versammelte sich die Bevölkerung alljährlich am Katzentage vor der Kathedrale, ließ vom Bischof ein Freudenfeuer anzünden und warf die Katzen lebendig hinein. Auf diesen Brauch bezogen sich die Mönche der Liga in ihren Streitigkeiten gegen Heinrich IV., indem sie erklärten, man solle den König in den Katzenkorb zu St. Jean werfen. Nach Stöbers elsäß. Sag. ist der Brauch noch im Elsaß beim Osterfeuer üblich. Vom Wilden Mann, der die Saligerfräulein, Berchten und Holden unermüdlich jagt, gilt die Redensart: Wer den W. Mann betrügen will, muß schlauer als neun Katzen sein. Meyer, Tirol. Sag.-Kränzlein 1856, pag. 217. Kaiser Friedrich II. verdammt unter den anderthalbhundert Sekten seiner Zeit auch diejenige, der vorgeworfen wurde, daß sie Katzen küsse und lecke. Der Schimpfname Katzenküsser ist sprichwörtlich geworden (Kirchhofer, Sprichw. 86) und den Bernern verblieben, die darüber sogar in einen Grenzkrieg mit den Unterwaldnern verwickelt wurden; in H. Bullingers Reformationsgeschichte umständlich erzählt. Im Zürcherlande hatte das Thier bis zum Jahre 1780 noch sein eigenes Wergeld behalten, dasselbe das in England dem Schwane, in Schweden dem Hund zukommt. Laßberg in Mones Anzeig. 1836, 42. und darnach Bluntschli, Zürch. Rechtsgesch. Die Bewohner des aargau. Dorfes Au haben den Uebernamen Katzen, weil sie bei ihrem Kirchenbau ein solches Thier vom Thurme geworfen haben sollen; und den Leuten von Aergenzach, Kant. Freiburg, rufen die Nachbarn spottweise ebenfalls miau! Nach Küenlin Alpenblum. 1834, 92. In Ypern wurde die Katze am Kattewoensdag, Katzenwuotanstag, feierlich vom Thurme gestürzt. Wolf, niederl. Sagen. Die Stadt Aix verehrte noch zu Fenelons und Bossuets Zeit eine solche Katze, die man jährlich bekränzt und processionsweise einmal durch die Straße trug. Hormayr, histor. Taschb. 1845, 232. Dieses Katzenstürzen von den Thürmen ist in der Cölner Chronik (ed. Ettmüller, Zürich 1842) S. 43 eine schon geläufige Redensart, die mit dem Katzensprung eine kürzeste Wegstrecke bezeichnet. — Merkwürdig erscheinen hier auch die vier von den Heiden ins Gevierte vergrabenen Eisenstangen, auf deren Grundlage die Christenkirche allein errichtet werden kann. Man ist damit an die zwei in den Boden gegrabenen Speere erinnert, über welche die Mecklenburger Priester ihre Tempelrosse zur Weissagung führten: Thietmar v. Merseb. 6, 17. Diese Schicksalserforschung weist Grimm, Mythol. 627 noch weiter bei Pommern und slavischen Rügiern nach.

---

## 477. Die Gislikirche.

Das auffallendste Bergjoch, das der Aarauer-Jura bildet, heißt die Gislifluh. Ein langgestreckter, buchenbewaldeter Berg steigt vom Aarthale zu breiten Wänden hinan und erhebt sich droben in ein spitziges Felsenhorn. Auf dem Gipfel ist seit Langem ein kleines Rundplätzchen ausgeebnet und die Spitze des Berges zu breiten ringförmigen Stufen oder Steinbänken ausgehauen. Hier wird alljährlich noch am Auffahrtstage ein Festfeuer angezündet, gekocht und ge-



Digitized by Google

tanzt; denn man hat hier nicht nur die Alpen und den Schwarzwald zugleich vor Augen, man betrachtet an diesem Tage besonders die aufgehende Sonne, welche zu der Zeit ihre drei Freudensprünge machen soll. Einige Schritte abwärts von diesem Höhenpunkte nach Süden zeigen sich auf einem Vorsprunge Spuren eines ehemaligen Bauwerkes, das bis auf den Boden weggetilgt ist. Dies ist die alte Gislikirche. Dann geht das scharfe Grat auf der Rückseite des Berges mit jähen Felsenzinnen in ein engeres Thal nieder, worin die beiden Dörfer Thalheim und Veltheim liegen. Jede dieser beiden Ortschaften ist gleichfalls um ihre ehemalige Kirche gekommen, und jede schiebt den Grund hievon auf diese Gislifluh.

Thalheim erzählt dies so. Zwischen dem Unter- und Oberdorfe daselbst liegt ein Weinberg, den man das Häuptli nennt. Seine Anhöhe hat eine Ebene, welche die Armen der Gemeinde mit Korn bebauen, weil es da am frühesten auszeitigt. Hier hat ehemals ein heidnischer Tempel gestanden; die Knochen der Schafe und Ziegen, die man drinnen den Göttern opferte, hackt man bei der Feldarbeit noch häufig aus dem Boden. Dann kam ein fürchterliches Volk ins Land, zerstörte den Tempel und zog wieder ab. Bald darauf wollte man an seiner Stelle einen christlichen errichten, denn diese Gegend bekehrte sich frühe zum Glauben, und der schöngelegene Häuptliplatz gefiel den Leuten besonders wohl; man überschaut von da das ganze Dorf und sieht Abends in mancher Küche das Feuer brennen. Aber alles Bauholz, das man auf dem Häuptli gezimmert hatte, flog zwei Nächte hintereinander zweimal zur Steig hinüber an den Fuß der Gislifluh. Dort baute man alsdann die alte Gislikirche. Aber noch einmal änderte darauf diese Gegend den Glauben, und nun ist die alte Kirche verschwunden und von ihrem Namen nichts mehr übrig als die schöne Bergweide Gislimatt.

Das Dorf Veltheim weiß noch, daß droben auf den Flühen hinter seinem Gemeindewalde die heilige Gisla ihre Einsiedelei hatte und ihr Leben in frommer Beschauung zubrachte. Weil man damals noch fleißig in ihre Kapelle kam, so gab sie der Ortschaft eine eigene Kirche und bestellte dieselbe mit Pfarrern und Chorherren. Zuletzt wuchs Veltheim immer mehr, es wurde sogar ein mit Mauern umschlossenes Städtchen. Als aber auch hier die Zeit der Glaubensänderung kam und Niemand mehr in die Kirche auf der Fluh hinauf gieng, hörte drunten die Pracht bald auf. Jetzt ist Veltheim wieder ein Dorf; von dem ehemaligen Chorherrenstifte Gißhübel ist nichts mehr übrig, als einige Bauernhäuser, die man noch die Pfaffenhäuser nennt; und seit man die Veltheimer Dorfkirche vor Jahren einmal

Digitized by Google

gänzlich renovierte, hat auch ihr Name Gislikirche aufgehört. (Vgl. Leu Helvet. Lexikon Bd. 18, 474. — Bronner, Kant. Aarg. I, 69.)

Das regelmäßig am Auffahrtstage noch vorkommende Ersteigen der hohen Gislifluh geschieht unter Sang und Klang, von Jung und Alt, aus Stadt und Dorf. Derselbe Brauch hatte auch in der Stadt Zürich noch im vorigen Jahrhundert Geltung; man erstieg dorten von der Stadt aus jährlich am Himmelfahrtstage den Felsrücken des Uetliberges, und da es jedes Alter that, so glich der lange Zug emporklimmender Städter „einer heiligen Wallfahrt und Huldigung, die man karavanenweise dem Frühling darbrachte." Zürch. NeujahrsBl. Ab dem Musiksaal 1785, Vorrede. Damals mußte man noch Trank und Speise mit hinauf tragen, und man kochte droben im Freien, heute steht dafür ein Hotel droben errichtet. Eine ähnliche Wallfahrt geschah an demselben Tage auch auf den Irchelberg, und stundenweit im Umkreise sammelte sich da die Zürcher-Bevölkerung. Eine höhlenförmige Spalte auf der Kuppe dieses Berges wird jetzt noch das Kücheli genannt. Meyer-Knonau, Kant. Zürich 1, 120. Im Glarnerlande ist hiefür der Gäßlistein genannt. Er liegt, ein ungeheurer Felsblock, am Fuße der Rothrise bei der Alten Landstraße von Ennenda, und die Frauen dieses Dorfes haben am ersten Tage, da ihnen die Abendsonne wieder ins Thal scheint, auf diesem Felsen gesponnen, um so damit jenes freundliche Zeichen des wiederkehrenden Frühlings zu begrüßen und zu feiern. Blumer-Heer, Kant. Glarus, 610. Fr. Mihm, Koburg. Sag. 1845 meldet pag. 58 den Koburger-Brauch, an Pfingsten um Sonnenaufgang den dortigen Festungsberg zu besteigen und Jelängerjelieber zu pflücken. Dabei hüten sich die Mädchen nach der westlichen Bergseite zu gehen, wo ein dreijähriges Kind liegen soll, blutig in seinem Hemdchen, und ebenfalls eine solche Blume in der Hand haltend; wer es erblickt, soll dies Jahr keinen Mann bekommen. Daß man dabei durch Klüfte und Löcher des Felsens kroch als durch Heilsteine, geht noch aus den Lokalnamen solcher Berge hervor. Die Gislifluh hat eine enge Schlucht, die bekrochen wird, das Chrügelnägeli geheißen. Man erzählt, ein Schneider, der buckig gewesen, sei hier über die ganze viele hundert Fuß hohe Felswand hinuntergestürzt und habe gleichwohl keinen Schaden genommen. Es liegt zu Einsiedeln am Berge St. Jost ein großer Feldstein, durch dessen Mitte eine Rinne geht. Zieht der Wallfahrter dorten seinen Schuh hindurch, so ermüdet er nicht, wenn er dann alle Stationen des St. Jostberges zusammen besteigt. Lindinner, Index Memorab. helvet. 1684. (Gleiches vom Fels Nadelöhr beim Kloster Ihlefeld im Harz: Harry, ndsächs. Sag. 2, No. 37.) Bei Allawinden, Kt. Zug, steht neben der Kapelle ein Nagelfluhstück in der Größe eines gewöhnlichen Gemarkungssteines. In seiner obern schiefen Fläche trägt er eine glatte knieförmige Aushöhlung, man sagt, sie sei durch fortwährendes Anreiben erkrankter Gliedmaßen entstanden. Im Fjölsvinns-Liede, Str. 35 wird vom Hyfjaberge, dem Heilfelsen, erzählt; neun heilkundige Jungfrauen haben ihn inne, und die heilungsuchenden Weiber ersteigen ihn, Opfer darzubringen: Heil wird jede, die den Heilfels, der Siechen und Wunden Freude, erklimmt. Vgl. Myth. 1102.

Der Lokalname Häuptli kommt im Aargauer und Zürcher Lande häufig vor und deutet, wie die Ortsnamen Thierhaupten, Roßhaupten in Bayern

Digitized by Google

(ad locum, qui nuncupatur caput caballinum. Pertz 2. 278), auf ehemalige Thieropfer und Menschenopfer an diesen Plätzen. Von Alters her nennt man in der Schweiz die ehemaligen Richtplätze noch Haupt- und Häuptlisgruben; sie haben meist ihre eignen Sagen und sind nicht selten Fundorte römisch-celtischer Alterthümer. „Der Zürcher Bodmer von Stäfa wird 1795 als ein Aufrührer vom Scharfrichter auf die Hauptgrube geführt und das Schwert über den Knieenden geschwungen", Briefe an Joh. v. Müller (Schaffhaus. 1840) 5, 157. Ueber den Namen des Aarauer Juraberges Gislifluh schwankt man schon lange und verdreht ihn gelehrt in Gisula; allein Scheuchzer, der seine Naturgeschichte um 1700 schrieb und die Lokalnamen darin streng nach dem Volksmund anführt, weiß nur vom Berge Gyßlifluh beim Schlosse Biberstein (1, 412). Auch unter den gegenüber gelegenen Bergzügen trägt ein Wald bei Otmarsingen den Namen Gislisberg. Von einer Gyßlasflue, Gisflue oder Sanct Gislen, als dem Namen eines längst verschwundenen Burgstalls am Buchberg ob Eglisau, redet der Zürcher-Bluntschli, Memorab. Tigurin. S. 200 (1 Ausg.) und gewiß ist's, daß mit diesem Heiligennamen jene Gysala gemeint ist, welche am Zürcher Münsterstifte auf die zweite Aebtissin Bertha, König Ludwigs Tochter, im J. 896 folgte, deren das Jahrzeitenbuch mit dem Verse erwähnte: Gysala abbatissa, deo et hominibus digna. H. Bullinger, chronic. tigurin. Fol. I, lib. IV, cap. 13.

Der Name einer heiligen Gisela, der hier den ältesten christlichen Gottesdienst im Aargauer Jura bezeichnen muß, wird zu gleichem Zwecke auch in Altbayern erwähnt. Noch ehe im oberbayrischen Kloster Kochelsee die den Franken so sehr verhaßte Gemahlin Tassilo's 788 nach ihres Mannes Entthronung den Schleier genommen, war bereits daselbst eine fränkische Königin Gisela zu beschaulichem Leben eingekehrt; man erblickt in ihr gewöhnlich die Gemahlin des letzten von Pipin enttrohnten Merovingers. Rettberg, Kirchengesch. 2, 167. Das hohe Alter dieser Lokalheiligen erhellt aus der auf dieser gleichen Stelle noch fortspielenden Sage vom Schimmel und vom Schimmelreiter (No. 254). Wie ehemals der Gott selbst bei der Wahl der ihm heiligen Stätten eingriff, wie namentlich Wuotans hellglänzender Schimmel die Kirchenstelle zeigt, erläutert Wolf, Beiträge 1, 30. Als die Ditmarschen Kirche und Dorf bauen wollten, ließen sie einen Schimmel ledig laufen. Auf dem schönen grünen Platze der Giselau wo er grasend still stand, erbaute man die Alversdorfer Kirche. Müllenhoff, Schlesw. Holst. Sag. pag. 112, wo zugleich fernere Sagenlokale von gleicher Bedeutung reichlich aufgezählt sind. Es ist Wuotans Roß und zugleich seine speerschwingende Walküre, Gisila darunter zu verstehen. Wolf, Ztschr. 3, 77. Die hl. Gisela hat den Kaiserdom zu Goslar gegründet, ihr dortiger Grabstein zeigt sie stehend auf einem Hunde, der das Hündchen Quedl genannt wird. Spiecker, der Harz 1852. 225.

---

## 478. Kirchenbau in Ober- und Mittel-Schneisingen.

Als die Heiden die großen Waldungen westwärts am Lägerenberge verlassen hatten, kamen aus dem Thurgau her drei Bauern einge-

Digitized by Google

wandert und nahmen davon Besitz. Sie mußten dafür den Städten Baden und Zürich alles an Holzbedarf liefern. Die drei Höfe, die sie errichteten, waren Ober-, Mittel- und Unter-Schneisingen, letzteres auch Hünikon genannt; zusammen wurden sie in Regensberg pfarrgenössisch. Weil sie aber bis dahin bei drei Stunden weit hatten, so dachten sie nachmals darauf, sich eine eigene Kirche zu bauen, und begannen damit in Mittelschneisingen, als im Mittelpunkt der drei Hofstätten gelegen; was aber hier über Tag aufgebaut worden war, das wurde des Nachts von unsichtbarer Hand nach Oberschneisingen an diejenige Stelle entführt, wo jetzt noch die dortige Kirche steht. Man warf Verdacht auf die Oberschneisinger, stellte Nachtwachen um den Bauplatz und ließ ihn hüten. Allein um Mitternacht sprang diesen Wächtern eine Katze mit sprühenden Augen und in der Größe eines Haushundes ins Gesicht und zerkratzte sie; dann machte sie einen Satz über das begonnene Gemäuer, und verschwunden war wiederum Mauer und Katze. Also merkte man, daß die Kirche nicht an diesen verwünschten Platz gehöre und führte sie nun wirklich in Oberschneisingen auf. Allein auch jetzt gab es neuerdings unverhoffte Anstände. Es war damals ein Mann aus diesem Hofe im Kloster zu Wettingen Mönch geworden und diesem fiel es nun ein, als der neue Kirchthurm fertig dastand, eine Glocke dafür zu stiften, deren heimatlicher Klang zwei Stunden weit durch die sieben Mauern seiner Clausur vernehmbar sein sollte. Begreiflicher Weise war nun diese Glocke, als sie ankam, viel zu groß für das kleine Thürmlein. Aber aus Liebe zum Klosterbruder und seiner Glocke riß man jetzt dieses nieder und fieng einen zweiten Thurmbau an. Weil man diesen recht groß und hoch machen wollte, so begann erst die rechte babylonische Verwirrung; die Maurer fielen vom schwindlichten Gerüste herab, die Bauern wollten über lauter Frohnfuhren ihre Felder nicht länger mehr versäumen, und die unbeaufsichtigten Zimmerleute machten den schlechtesten Dachstuhl. Als zuletzt der Thurm gedeckt und die große Glocke drei Wochen droben war, so sprang sie plötzlich mit mächtigem Getöse aus ihrem Stuhle, brach durch die Stockwerke hinunter und schlug sich vierzig Klafter tief in den Boden. Da liegt sie heute noch unhebbar. Sie klingelt leise herauf, wenn dem Orte Feuersgefahr drohen will; eine Brunst jedoch vermag sie nicht abzuwenden. Zwei Jahrhunderte nach einander, anno 1687 und wiederum 1756 ist Oberschneisingen abgebrannt. Zwanzig Häuser geriethen einmal zugleich in Flammen, und man meinte damals, es sei Feuer vom Himmel gefallen. Die Ziegel des Kirchendaches krachten, selbst die Bänke drinnen schwärzten sich, so groß wurde Hitze und Dampf.

Digitized by Google

Hier herein hatten die Leute ihre Fahrhabe geflüchtet; da sprang mitten im Tumulte ein unbekannter Knecht durchs Schiff der Kirche und schleuderte einen feurigen Balken in das aufgeschichtete Gut. Alles oder nüd! — schrie er — kei's oder au de Herrgott mueß verbrönne!"

Ganz anders ergieng es inzwischen in Mittelschneisingen an dem Orte, wohin anfangs die Kirche hatte kommen sollen. Als man später auch hier eine Kapelle und dann ein Schulhaus dazu errichtete, hörte man des Nachts ein klopfen und pickeln, ein zimmern und spalten ringsum am Bauplatze, wie wenn da bis fünfzig Arbeiter zusammen am Geschäfte wären. Die Abends von den Burschen herbei geschafften Tannen lagen am Morgen schon zurecht gezimmert, die Keller waren fertig gegraben, die Grundquadern schon gereiht; und so war Kapelle und Schulhaus bereits nach den ersten drei Wochen hergestellt. Den freundlichen Geist, der sich dabei so dienstfertig benahm, nennt man das Chäpeli-Thierli. Man hält ihn für ein geheiligtes Wesen, das zum Schutze der Gemeinde vom Himmel gekommen sei. Jetzt noch hat er allnächtlich seinen Lauf um das Schulhaus.

Die Legende übertreibt hier an dem histor. Alter des Dorfes nicht, es erscheint urkundlich anno 840 Sneisanwanc. Verzeichnet in den Neujbl. der Stadt Brugg, und in den aarg. Beiträg. S. 255. — Wo man buwt, hört man Geister. Es beschicht vil wo man nüwe hüser buwt, daß die nachpuren in der nacht hörend zimberen, mit der raanschnuor klepffen, muren, pflaster rüren, nit anderst dann wenn die zimberlüt, steinmetzen, murrer, ruchknecht vnd andere werklüt an jrer arbeit wärind. Lavater, Von Gespänsten. Zürich, 1578. Bl. 51.

---

## 479. Entstehung der Kirche zu Niederwil.

Die Pfarrei Niederwil, ein Stündchen von der Stadt Bremgarten entfernt, besteht aus den drei Gemeinden Tägerig, Nesselnbach und Niederwil. Diese drei vereinigten sich zum Bau einer Pfarrkirche und meinten dieselbe am schicklichsten in der Mitte der drei Ortschaften zu errichten; dies wäre zu Nesselnbach gewesen. Dorten auf dem sogenannten Löhli, einem abgeholzten Hügel, begann die Arbeit; aber alles an Zimmer- und Mauerwerk hier fertig gemachte verschwand mehrere Male und fand sich auf einen Platz nach dem Dorfe Niederwil versetzt, wo heute die Kirche steht. Die Gemeinde fand dies Alles ganz unbegreiflich; allein es sollte gleich noch wunderbarer werden.

Niederwil, das so gegen den Beschluß seiner Bürger eine Kirche

Digitized by Google

in den Ort hinein gebaut bekam, hatte damals bereits schon eine. Oberhalb auf dem Bergabhange, wo man jetzt noch häufig alte Münzen findet, stand in jener Zeit das große Frauenkloster Schännis. Da bemerkten die dortigen Nonnen, daß ein Sumpf am Fuße des Berges entstehe und ihr Gebäude plötzlich unterfresse. Die jetzigen Schännismatten sind der Ueberrest dieses drohenden Gewässers. Sie beschlossen daher hinabzuziehen in das Haus ihres Untervogtes. Kaum hatten sie den Berg verlassen, so versank droben das Kloster zusammt der Klosterkirche. Damit nun nicht aller Gottesdienst in der Umgegend mit einem Male stille stehe, begabten sie jene Bergkapelle nur um so reichlicher, die so eben wie durch göttlichen Willen aus dem Nesselbacher-Löhli hieher auf den Niederwiler Kirchplatz gebracht worden war. Sie machten sogar zur dereinstigen Erweiterung derselben noch ansehnliche Stiftungen, sodann wanderte der ganze Convent aus und ließ sich im Gasterlande (im Toggenburgischen) nieder. Noch besitzt in Niederwil eine Bauernfamilie, zum Geschlechte der Mäder gehörend und mit dem Uebernamen Böschel geheißen, eine Urkunde von hohem Alter, worin der Frauen-Convent von Schännis den Grund seiner mildthätigen Vergabungen berichtet. Aber jene Familie giebt weder den Brief heraus, noch läßt sie ihn einsehen, in dem Glauben, ihr eigenes Hausrecht damit verlieren zu können. Und also erfahren auch die Niederwiler nicht, warum sie eigentlich zu ihrer Kirche gekommen sind.

Das Kloster Schännis, im Flecken Schännis im Gasterlande gelegen, später eine gefürstete Frauenabtei Augustinerordens, giebt Graf Ulrich von Lenzburg anno 1045 König Heinrich III. in Schutz und Schirm. Ein Filial dieses Convents erscheint ein Jahrhundert später in Aarau, als Frauenkloster an der Aare. Anno 1270 schenkt Schultheiß und Rath den Schwestern eine Hofstatt zwischen den Mauern und dem Flusse. Aargau. Beiträg. S. 547. Ueber diesen Vertrag lebt noch eine eigene Aarauer Stadtsage und ein bürgerlicher alljährlich begangener Festbrauch, No. 13.

---

## 480. Lengnauer Kirchenbau.

Der Bauer Knebel von Lengnau war vor manchem Jahrhundert einer der reichsten Leute ringsum. Seinen Namen trägt noch ein Waldplatz oben am Berge, wo die Spuren einer abgegangenen Hofstatt sichtbar sind. Hier hatte er seinen Sitz, und wie er's hier oben sich wünschte, so sollten die Leute drunten thun. Als nun die vielerlei zerstreut liegenden Höfe, welche vormals mit einander die Gemeinde Lengnau ausmachten, übereingekommen waren, eine katholische

Digitized by Google

Kirche zu bauen, war's wieder der Bauer Knebel, der seinen Kopf aufsetzte und das Gebäude gerade auf dem Feldstück errichtet haben wollte, das seinem Hofe am nächsten lag. Dies ist dasjenige große Landstück zwischen Vogelsang und Lengnau, welches heutzutage Gemeindegut ist, aber noch immer Kirchstätt heißt und einen Abhang hat, den man sogar die Kanzel nennt. Denn von da aus übersieht man die ganze Gegend bis in den Kirchhof von Lengnau hinein. Diesmal aber gieng's anders. Denn was man auf diesem Felde den Tag über aufgerichtet hatte, das wurde über Nacht, Niemand wußte wie es wegkam, mitten ins Dorf auf jene Anhöhe gebracht, wo jetzt noch die Ortskirche steht. Sie soll schon über sechshundert Jahre alt sein.

---

## 481. Wie die Reinacher Kirche vors Dorf hinaus kam.

Zur Reformationszeit kamen die Ortschaften Reinach und Beinwil überein, sich zusammen ein Kirche zu bauen. Reinach war damals schon bei Geld und bestritt sämmtliche Taglöhne für den Bau; das kleinere Beinwil sollte Holz und Stein dazu liefern aus jener Waldnutznießung, welche bis dahin ihm freiwillig am Gemeindebann zugestanden worden war. So weit gieng alles recht und das Material war bald gerüstet; nur über die Wahl des Bauplatzes konnten beide Dörfer sich nicht einigen. Die Reinacher wollten die Kirche mitten in ihrem Orte haben neben der alten Linde am Schlößchen, das man den Schneckenthurm heißt; Beinwil dagegen blieb darauf, daß man sie auf den Berg stelle, der zwischen beiden Ortschaften liegt, damit man nicht zu jeder Kindstaufe und Hochzeit vom Hallwiler-Seeufer herüber und bis in die Mitte des Nachbardorfes hinein laufen müsse. Diesem Streite suchten die Reinacher dadurch ein Ende zu machen, daß Jung und Alt sich zusammenthat und alle Quadern und Balken mit einander ins Dorf hinauftrug bis gegen den Schneckenthurm auf die Stelle, wo nun das Pfarrhaus steht. Umsonst; die Steine und Tannen waren in der nächsten Nacht wieder genau auf jenen Platz zurückgekommen, den die Beinwiler ursprünglich dem Bau gewünscht hatten. So sah man in dieser Steinwanderung einen Wink des Himmels und führte also die Kirche mitten zwischen den zwei Gemeinden auf, damit keine im Vortheil oder Nachtheil sei. Allein auch damit war der Sache kein Ende gemacht. Den Reinachern ist's noch immer zu weit in ihre Kirche, und die Beinwiler, die sich nicht das gleiche nachsagen lassen mögen, haben sich eine eigene Ka-

Digitized by Google

pelle bauen müssen. (Vgl. Müllenhoff, Schlesw. Holst. Sagen pag. 114.)

---

## 482. Kirchengründung im Jonenthal.

Hat man das Dorf Ober-Lunkhofen hinter sich, so führt ein Fußweg durch Aecker und Wiesen hinab in ein Thal, das sich mehr und mehr verengert und zuletzt als tiefes Tobel schließt. Auf der einen Seite ist es von einer waldigen Bergwand, auf der andern vom Jonenbache eng umgrenzt. Hier trifft man nun auf halber Höhe des Berges ein freundliches weißes Kirchlein, das der Mutter Gottes geweiht ist und folgendermaßen entstand.

Vor Jahrhunderten hütete hier ein Knabe die Ziegen. Beim Heimtreiben fehlte ihm eine; nach langem Suchen sah er sie endlich drunten im unwegsamen Tobel am Bache weiden. Er war schnell durchs Dickicht hinabgeklettert und meinte, jener Stelle nahe zu sein, da fesselte ihn auf einmal eine wunderliebliche Musik. Die herrlichsten Lieder klangen ihm entgegen, bald schwollen sie zu vielen klaren Stimmen an, bald kamen sie leise wie aus dem höchsten Himmel her. Der Knabe vergaß seiner Ziegen ganz, horchte wie gebannt nur auf jene Musik, setzte sich auf einen Stein nieder und entschlief darüber. Im Traume fand er sich in einem wohlgeschmückten Kirchlein, worin der Priester am Altare stand und den Gläubigen die Messe las; strahlend aber war in der Mitte das anmuthigste Bildniß der Jungfrau erhöht, umgeben von Heiligen. Es bedünkte den Hirtenknaben, als wende sie sich zu ihm und wolle mit ihm sprechen. Da zerrann das Gebild und er erwachte. Um ihn sangen die Vögel, er rieb sich die Augen, er schaut sich nach seiner Heerde um, und Wunder, hier vor ihm im Grase liegt ein Mariabild, so schön, wie er es eben im Traume erblickt hat. Während dem hatten seine Thiere ihren Weg schon heimgefunden, er gieng ihnen nach, keines fehlte ihm, und erzählte den übrigen Hirten von seinem wundersamen Fund.

Das fromme Völklein erkannte darin einen Wink Gottes und begann darauf droben auf der Berghöhe den Bau eines Kirchleins. Eines Morgens aber war das dorten aufgeführte Gemäuer wie weggeschwunden und tief hinunter in das Tobel gebracht. Unverdrossen legt man abermals Hand ans Werk, und wiederum war über Nacht das Gemäuer von der Anhöhe in die Schlucht hinunter gerückt, ohne daß die dazu gestellten Werkleute den Hergang hatten sehen können. Man befragte nun darüber einen benachbarten Waldbruder, der im Rufe der Gottseligkeit stand, ob er ihnen gegen solche Tücke des bösen

Digitized by Google

Feindes Rath wisse. Dieser hieß sie das Kirchlein gerade auf dem Flecke errichten, wo sich das Marienbild hatte finden lassen. So thaten sie und blieben fortan ungestört in ihrer Arbeit.

Erst spät nachher erfuhren sie, wie das Bild zu ihnen gekommen war; es war während der Zeiten der Bilderstürmerei von den Bauern zu Affoltern aus der dortigen Kirche gerissen und in den Bach geworfen worden. So schwamm es in den Jonentobel und wurde vom Hirtenknaben da gefunden. Nachmals wurde dann die Kapelle noch erweitert, um die vielen Wallfahrer fassen zu können, die zum Gnadenbilde herbeikamen. Am Portal, „dem Vorzeichen", ist daher die Jahrszahl 1735 als die Zeit seiner Erneuerung zu lesen.

Wilh. v. Humboldt erzählt in seiner Reise auf den Montserrat bei Barcelona (gesamm. Werke 3, 187) die Veranlassung zum Kirchen- und Klosterbau in jenen Felseneinöden. Schafhirten sahen dorten bei Nacht Lichtschein im Gebirge und hörten melodische Stimmen wie von Engeln. Hinzugehend fanden sie ein hölzernes Bild der Mutter Gottes, das jetzt am Berge verwahrt und durch Alter geschwärzt ist. Sie wollten es dem Bischof von Manresa überbringen, aber es widerstand allen Versuchen, es von der Stelle wegzunehmen. Man setzt diese so berühmt gewordene Legende Spaniens in das Ende des 9. Jahrhunderts. Die Sage gehört zu denjenigen, welche Bd. 1, pag. 380, von tönenden und singenden Bäumen handeln; ein solcher ist auch erwähnt Abthl. V, No. 220, Lindengeiger auf dem Ruckfelde. Legenden ähnlicher Art sind nachfolgende. Die Wallfahrt zur Linde bei Basel entsteht, weil in dem jetzt noch dorten stehenden Lindenbaum ein Marienbild dem Hirtenmädchen zusingt. Schnezler, bad. Sagb. 1, 444. 2, 239. Dazu Temme-Tettau, preuß. Sag. No. 15. Der Pfarrer von Michelstetten in Krain hört eine Stimme aus der Fichte, und man findet darinnen das ellengroße Marienbildniß. Kaltenbäck, Marien-Sag. No. 29. Maria ruft im Haselstrauche, und das böhmische Mariakulm entsteht. Ibid, No. 36. So tönen auch die Früchte des hl. Sambhu-Baumes, wenn sie in den Strom fallen: Sambhu, d. h. pflanze! Sanskritsage. Vgl. Pott, Etymolog. Forsch. 1, 217. Das Alterthum (Pausanias 3. 16, 7) nannte die Artemis die Weidengefesselte, weil sie in einem Weidenbusche aufgefunden worden ist, der ihr Bild mit seinen Zweigen ganz umhüllend in aufrechter Stellung erhalten hatte. Artemis gleicht so ganz der Liebenfrau zu Orth in Bayern, die auf einer großen Kranewitstaude zwischen den Zweigen aufrecht stehend gefunden worden ist. Panzer, bayr. Sag. 2, 378. Der Volksglaube weist den Göttern darum so oft Bäume zu Wohnstätten an, weil Naturgötter sich gegen gemauerte Kirchen sträuben (nec cohibere parietibus deos . . . Germ. 9). Die Sagen von dem Wandern ihres Bildes, vom Fluge, den Nachts ihre Tempel an die alten Wohnstätten zurücknehmen, drücken diesen Widerwillen vollkommen deutlich aus.

Digitized by Google

## 483. Kirchenbau zu Wölfliswil und Oberhof, im Frickthaler-Jura.

Diä lüt ûf denä höfä z'Wil und z'Oberhof häi vor uraltä zîtä go Frick abä oder go Oltigä hintärä hi z'chillä müässä. Das ist wit gsi, mä giäng jetz nümmä sä wît. Aber wiä dänn z'Wil ä chillä gwordä sîg? wo diä chillä jetz stoht, sîg ä schlosschilchli gsi, diä lüt ûs denä höfä sîgä aber ammä au drî z'chillä. Öpa vor 420 johrä häig mä derno wöllä ä-n'andäre bauä zwüschä bedä dörfärä ûf 'm Chilchmatthübel. Aber was si am tag dörthi gfüährt häigä, stäi und holz, sîg morndärigs allemol äwäg und dört, wo jetz d'chillä stoht, gsi. Derno häigä si sie dört bauä, wo sie jetz no stoht. (Oberhofer-Mundart. Mittheilung von Hrn. Lehrer Lenzin.)

---

## 484. Tempel auf dem Isenberge.

Als man vor Zeiten die Kirche zu Ottenbach, einem Zürcher-Grenzdorfe am Aargauer-Reußthale, erweitern wollte, mangelte es an zureichenden Bausteinen. Da berichteten die einsamen Bewohner des benachbarten Islisberg, eines kleinen Dörfleins, das im vorigen Jahrhundert nicht Islisberg, sondern Ispisberg genannt wurde (Füßli, im Schweiz. Museum 1784, 624), es liege auf ihrer Höhe im Walde noch eine alte Heidenkirche mit vier mächtigen Pforten und den schönsten Werkstücken. Die Gemeinde beschloß, diese Quader herabzuschaffen. Sowie man aber an die Arbeit gieng, verschwanden unvermuthet alle dabei verwendeten Taglöhner, und selbst ihre Familien kamen allmählich aus dem Lande. Nach vielen Jahren erfuhr man, daß sie sich alle zusammen in der Rheinpfalz niedergelassen hätten und daselbst in recht glücklichem Zustande lebten. Hieraus schloß das Volk, jene Steinhauer hätten im Heidentempel einen großen Schatz erhoben und sich damit aus dem Lande geschlichen, um ihn ohne Anfechtung verzehren zu können. Wie lange dies alles schon her sein mag, geht aus der Chronik des Zürcher-Reformators Heinrich Bullinger hervor, der sich dieser Erzählung als einer zu seiner Zeit schon alten erinnert. Er war in Bremgarten gebürtig, nur wenige Stunden entfernt vom Isenberge. Auch jetzt noch nehmen die Leute, die oberhalb Arni wohnen, dem Filial von Ober-Lunkhofen, den Bestand dieses Tempels mit Bestimmtheit an und folgern dies aus dem Namen einiger Wiesgründe und Zelgen daselbst, welche Kanzelried, Himmelsbühl, Sonnenbrunnen und Heiligenmatten heißen. Von einem, der gerne den Gottes-

Digitized by Google

dienst versäumt oder „hinter die Kirche geht", soll dorten der Volksausdruck gelten: „er sei in Iselisklich gewesen". Zürcher Antiquar. Mittheil. Bd. 3. Bronner, Kant. Aargau 1, 227.

Weil auf dem Isenberge bei Lunnern wiederholt eine Fülle celtisch-römischen Grabschmuckes in verschütteten Grundmauern und Gemächern entdeckt worden ist, abgebildet in den Zürch. Antiquar. Mittheil., so meint man, aus dem Namen Isenberg auf eine Verehrung der Isis und auf einen hier ihr erbauten Tempel schließen zu dürfen. Dieser gelehrte Glaube ist schon seit Jahrhunderten unter das Volk verbreitet worden und wiederholt sich noch an andern ähnlich lautenden Orten. Isebuck heißt ein Hügel des Zürcher Pfarrdorfes Benken, er trägt Spuren eines alten Gebäudes, das man für einen Isistempel hielt. Meyer-Knonau, schweiz. Erdkunde 1, 147. Iserkirchlein heißt eine Stelle bei Goldbach zunächst Zürich, daraus schließt man, es habe hier einst ein Isistempel gestanden. Meyer-Knonau, Kant. Zürich 1, 63. Isenthal, Urner-Pfarrdorf im Thale gleichen Namens, leitete Siegwarts Luzern. Volksblatt von der Göttin Isis ab. Lusser, Kant. Uri, pag. 97. Schloß Isenburg, beim elsaß. Städtchen Ruffach, leitet Sebast. Münster, Kosmographey (Basel 1567, 648) ebenso ab. Isern-Schnibbe, ein Schloß an der Milde bei Gardelegen, soll Drusus zu Isis Ehren gegründet haben: Bechstein, DSagb. No. 329. Die Bedeutung dieser und noch vieler ähnlich beschaffenen Ortsnamen, deren urkundlicher Nachweis hier nicht Raum finden kann, ist Wasserströmung, Flußgefälle. Isenlauf heißt die wilde Strömung, welche die Reuß bei der Stadt Bremgarten hat. Die Ißleten, aus dem Urner-Isithale kommend, gefährdet mit ihren Anschwellungen Land und See. Lusser, Kant. Uri, pag. 97. Ein Burgstall in ihrer Nähe ist der Isenring. Das Bernerdorf Iseltwald liegt an den Wasserfällen des Mütschbaches, auf einer Halbinsel des Brienzersees. Meyer-Knonau, Erdkunde 1, 359. Der bayr. Iselgau trägt seinen Namen von dem in den Inn mündenden Iselbach, urkund. Anno 964 ad Isanana. Koch-Sternfeld, Beitr. 2, 16—21. Selbst der Eschenfisch, Thymallus minor, der zu anderthalbtausenden oft auf einmal mit dem Hamen aufgefischt wird, heißt im Luzernerlande Isler. Cappeller, hist. mont. Pilati 1767, 135. Diese Namensreihe soll hier beweisen, daß der in No. 5 angeführte Name des sagenhaften Sees Hom-Isen, der einst das ganze Aargau bedeckt gehalten habe, ein aus der wirklichen Natur der Sprache genommener ist. Aus gleichem Grunde heißt es vom Inselberge Thüringens, er habe sich zuerst über die Fluth erhoben. Bechstein, DSagb. No. 474. Derjenige Fischer, der den schiffbrüchigen König Orendel aus dem Wasser zieht und in seinen Dienst nimmt, ist meister Ise, ein vischer hêr und wise. Den Eigennamen Isila (bei Weinhold, Deutsch. Frauen, pag. 9) übersetze ich mit mit Fischerin; Isandeo (Graff 1, 489) erkläre ich mit Flußdiener. Meister Else hütet so in den Nibelungen 1485 den Uebergang über die Donau. Auch der Schimmelreiter und W. Jäger heißt Eisen. Der Jäger Eisenbein auf dem Schweißfuchs und im weißen Florrock trägt sein Haupt unterm Arm. Pröhle, unterharz. Sag. No. 246. Im Eisloch von Ichstedt, einer Ortschaft am Kyffhäuser, wohnt die Eisfrau mit dem silbernen Hasen. Nahe beim Eisloch ist das Gründlingsloch (grundloses Loch), ein Erdfall, welcher die Gewitterregen durch seine unterirdischen Klüfte reißend schnell abführt

und so Ischstedt vor Ueberschwemmungen schützt. Hier schöpft sich die Eisfrau Wasser. Wolf, Ztschr. 3, 84. Die älteste Freisinger-Urkunde ed. K. Roth, München 1853, pag. 8: in heremo, juxta flumini ripam, q. d. Isna. ao. 772. Es wird mit diesem Localnamen die Algäuer-Gebirgsschlucht Isenbrechen gemeint sein; dieselbe ist nach jetzigem Volksglauben Wohnsitz für alle ungerechten Landammänner. In rothsammtnen Wamsen, großen Perüken gehen sie an den Sonntagen dorten auf der Alpe herum. Schöppner, bayr. Sagb. No. 41. Der Flußname in der Sn. Edda 217 ist Ysa und Ysja, er entspricht dem mehrfachen englischen Flußnamen Ouse, neuenglisch ousy, feucht, nord. ausinn, begossen, nord. Ysa = deutsch Visura. Vgl. Dietrich in Haupts Ztschr. 5, 228.

## 485. Die hl. Mathilde zu Hochsol.

In der Nähe von Laufenburg liegt am badischen Rheinufer weithin sichtbar mit roth angestrichenem Kirchthurm das Pfarrdorf Hochsol. Dorten überm Altar liegt das geschmückte Gerippe der hl. Mathilde, Mächtilge nennt man sie. Ihre Gebeine sind wunderkräftig, wer in jener Gegend an Kopfweh oder auch äußerlichen Uebeln leidet, umgeht ihren Altar in sicherer Hoffnung der Genesung. Alle hundert Jahre klopft die Heilige einmal, und zu zweien malen bereits hat es der Sigrist gehört, während er Betzeit läutete. Wird sie das drittemal klopfen, so ist dies ein Zeichen, daß sie aus dem Altare heraus verlangt, und man muß sie dann mit goldener Schaufel und Haue beerdigen. (A. Birrcher in Laufenburg.)

## 486. Die fromme Zofingerin.

In dem Gemäldebuche der vormaligen schweizerischen Künstlergesellschaft, das auf der Zofinger-Stadtbibliothek verwahrt wird, findet sich zu mehrern Zeichnungen von Martin Usteri's Hand, des Dichters von „Freut euch des Lebens", gest. Zürich 1827, auch folgende Erzählung eingeschrieben:

Anno domini 1519 was die pest zu Zofingen, do was ein alt wittib, die hieß Anna Dulliker, die hat zwei kind, die ouch den presten hattent, und gieng die gut fraw all tag zu dem bildhüslin, das vor der statt was — gen Brittnowe — und bettet do zu der mutter gottes, das si ir kindlin erhalten wollt, und versprach ir, wenn si das thet, das si ir das hüslin wider wolt büwen lassen, dann es domalen vast zerfallen was. do genasend die kind, und spart die frowe ir geldlin zesamen, damit si ir gelübden erfüllen möcht. aber do kam die zwinglisch lêr uf, und thet man ouch ze Zofingen die

bilder aller orten weg. die fraw aber wolt den nüwen glauben nit annemmen und zog, do man ihr zusatzt, heimlich von Zofingen fort, und do si zu dem bildhüslin kam, do warend werklütt da, die das schlissend. do bat die frow, das si ihr das bild liessend und kouft's inen ab und wolt's mit ir enweg getragen haben. das konnt si aber nit, dann es ir ze schwer was, do si ouch ir klein kind und ir bündelin tragen mußt. do dingt si einn mann, der irs tragen sollt. der was aber der nüwen lêr ein ifriger anhenger und spottet der guten frawen, und wenn er ein wil gangen was, se sagt er, „din götz wird mir ze schwer, ich will jn in graben werffen!" des erschrak dan die fraw und bat jn weinend, daß er witers gieng. do fordert er wieder gelt von ir und das trieb er so lang, bis die arm kein gelt me het, do warf er das bild in die stüden und luf darvon. aber die fraw satzt sich zu dem hinzu und wußt nit, wie es witer bringen, und verhofft, daß jemand koem, der irs tragen helf. do hat das eint kind blumen gsucht und fand da zu den füßen des bilds ein silbern pfenning, den zeigt es der mutter, und do si ouch sucht und an dem ort nachgrabt, do fand si einn hafen, der was voll solcher heidnisch pfenning, wie man dann solcher in dieser gegni mer funden hat; und erkant do die gnad der heiligen Jungfraw erst recht, die si von ihr trüwe willen rîcher macht, als sie vor nie was; und gab do ir bild eime bürsmann, der mit sinem roß nach Sursee fuor, und satzt ir kind ouch darûf und erzalt do in der statt, was ir begegnet. des sich menklich verwunderet und die gnadenrîche mutter gottes hoch verehrt.

Die Bildsäule des hl. Vitus, von einem armen Weibe gerettet, wird auf ähnliche Weise goldbringend. Seifart, Hildesheim. Sag. No. 15. — Das von unserer Sage erwähnte Marienbild gehörte ursprünglich in die Dorfkirche von Brittnau. Bei der 1527 hier eingeführten Glaubensänderung nahm man es aus der Kirche und warf es, damit man's nicht wieder finde, in ein Grab. Das Bild kam aber über Nacht wieder hervor und stellte sich auf seinen vorigen Altar; darauf nahmen es die Brittnauer abermals und pflanzten es zum Hohne im Dorf auf den Brunnenstock. Da kam ein frommes Weib herzu, sah wie das ihr wohlbekannte Bild Thränen weinte, und trug es hinweg aus dem Orte bis auf den Birchberg, der gegenüber dem Schloßberge von Wikkon gelegen ist. Hier von der Nacht überfallen, konnte die Frau nicht mehr weiter und schlief bei ihrem Bilde ein. Ueber Nacht aber verließ dieses seinen Ruheplatz und wanderte zu der Kapelle hinüber, die am jenseitigen Berge beim Wikkenschlößlein steht. Dieses gehört zu der Luzerner-Gemeinde Reiden. Der Landvogt daselbst, Hans Pfiffer von Luzern, ließ sodann die Kapelle erneuen und das gerettete Marienbild darinnen zur Verehrung ausstellen. Hier ist es noch zu sehen in seiner ursprünglichen Gestalt und abgebleichten Farbe. Die Leute versichern, man könne es weder frisch bemalen, noch sonst verschönern, es lasse nichts mit sich machen und wolle bei seinem alten schlechten Aussehen ver-

Digitized by Google

bleiben. An der Kapellenwand hat ein ſpäterer Vogt Pfiffer im J. 1711 eine hölzerne Tafel anbringen laſſen, auf der dieſe Geſchichte in Reimen erzählt iſt.

---

## 487. Der Höllhafen.

Es Maideli het sî Vatter und Mueter verloræ, und het wegæ dem ræcht brieget. Aber es isch nit numme wegæ dem esô trûrig gsî, wîl's iez keni Aelteræ meh g'ha het, nei; am allermestæ het's dessetwegæ nit hœre chœnne z'briegæ, wîl sî Vatter, wu sust mêr from und frei gsî ist, esô gæch ist æwegg gstorbæ und sî Sach nit mê het chœnne machæ; und do het's ebbe gmeint, de Vatter sîg iez wegæ dem i d'Hell cho. Sî Mueter higegæ-n-aber, wu eisdi bös gsî isch und nae schlechtæ Læbeswandel g'füehrt g'ha het, dere het do vorm Sterbæ zue der lieb Gott ihri Sach no ræcht schœn lâ machæ, und sie is emole do esô g'ruheig g'storbæ, ass me het müessæ meinæ, sie sîg iez gwüssgwüss i Himmel cho. Wegæ dem het's Katherinelî ebæ æsô brieget und ist gar nie mêh froh gsî.

Do einist erschînt êm æmel au der sant Peter und frogt's, worum ass es denn gæng briege? Und es seit êm, was êm am Herzæ liegi vo wegæ Vatter und Muetere. Do füehrt's der sant Peter vor d'Himmelsthüri und heisst's det wartæ, goht i Himmel înæ und chunnt enandernâh mit sîm Vattern z'rugg. De git em Tœchterlî d'Hand und seit: „Ae, willchumm, Katherindlî, bist au do!“ Der sant Peter het êm aber halt scho gseit g'ha, worum ass es do sîg. Und der Vatter het êm no allerlei gueti Lehræ gæ, und wenn's so fromm sîg, sæ chœmm es au einist hi, wun-er ieze seig, und denn fehl's ei'm nie nit, wemmæ dæ scho uevorg'seh sterbi. Und dernô het er sîm Maideli nô nemol d'Hand gæ, und ist mit em sant Peter ewegg und furt.

Jezze glî ist do en anderæ cho und het's Maideli abegfüehret vor es feister Thor, het do e chlî ûfitho und's Maidli îe luegæ loh, und do isch ebæ d'Hell gsî. Do het's do sî Muetter imæ Chessel voll heissæ Wasser g'seh sitzæ, und wo die ihres Chind gwahret, het sie gseit: „Ae, willchumm, Katherindlî, bist du au do!“ und het êm do au Ermahnigæ gæ, ass es nit einist i d'Hell chœm; und wo 's Maidli wieder het furt wölle, het sie êm d'Hand gæ und gseit: „Adïe, Katherinelî, læb wol!“ Aber dôdemit het sie im Katherinelî sî Hand ganz verbrœnnt, ebæ wîl sie i der Hell gsî isch und brunne het. Und wu 's Katherinelî wieder ûf d'Welt

Digitized by Google

**ûflæ cho ist, het's gar es guets ordeligs Maidschi abgæ. (Freiem ämter-Mundart.)**

Das Gebot, Todten nicht nachzuweinen, damit man nicht ihre Ruhe störe, geht durch alle Völker (vgl. Grimm, Kindermärchen 3, No. 709 und A. Kuhn in Wolfs Ztschr. f. Myth. 1, 62). Einige muthmaßlich noch weniger beachtete fernere Belege hierüber mögen hier folgen. „Weil der Verstorbene wider Willen den Speichel und die Thränen genießt, welche die Verwandten vergießen, so muß man nicht nachweinen." Yajnavalkya l. ed. Stenzler. Berlin, 1849. 3, 11. — Quodsi quis etiam inferis sensus est; qui illius in te amor fuit pietasque in omnes tuos, hoc certe illa (sc. Tulliola) te facere non vult. So schreibt Servius dem Cicero (Epist. IV, 5. a. u. 709), damit er seine Thränen um die verstorbene Tochter stille. — Wenn man zu viel auf dem Grabe theurer Angehörigen weint, so träufelt, sagt der Ire, jede Thräne durch Sarg und Leintuch ein Loch in den Todten. Erin VI, 2 Thl. S. 449. — Vom Tode des Bischofs Vicelin, Anno 1154, erzählt Helmold, Slavenchronik, cap. 78: Da Eppo um den Hingeschiedenen viele Tage weinte, erschien Vicelin einer Jungfrau im Traume und sprach: sage unserm Bruder Eppo, er möge aufhören zu weinen; denn siehe, ich trage seine Thränen an meinen Kleidern. Mit diesen Worten zeigte er der Jungfrau sein Gewand, das ganz von Thränen benetzt war. — Geiler von Keisersberg, der Trostspiegel, das Siebendglaß (Straßb. Magister Matthias Schürer), erzählt, wie eine Wittwe ihren verstorbenen Sohn hinter einer frohen Jünglings-Gesellschaft müde und beschwerlich drein folgen sieht: „Vnd mit trauren zeigt er ir das hinterteil an seinem rock gantz naß, von welchem Wasser er also beladen vnd beschwärt waz, das er seinen gesellen nit gefolgen mocht, vnd sprach: liebe muoter, ich bit dich, hör auff zuo weinen, als du bishar geweinet hast. das thät sie vnd also ward der suon erlöst." — Mit keinem Vieh, wenn es geschlachtet wird, soll man Mitleid haben, sonst kann es nicht absterben. Panzer, bayr. Sag. 1, 263. — Die Mutter vergrößert das Kindsweh, die ihren Säugling dabei mitleidig anblickt. Aargau. Volksgl.

Höllhafen, Rumpel- und Rollhafen bezeichnet in der Mundart den tiefsten Höllengrund; wegen seiner Lichtlosigkeit nennt ihn No. 488 scherzhaft den Ledersack vor der Himmelsthüre. Er ist hier als ein Kessel voll heißen Wassers gedacht. Im Alemann. Kinderspiel erscheint der Teufel Rollo; er ist nach dem Rollhafen und Rollkessel benannt, von dem bereits Abthl. IX, pag. 204 gehandelt ist. — So steht unter den Wurzeln der Weltesche Yggdrasil der „rauschende Kessel" Hvergelmir; so hat die Todesgöttin Hellia, in innerster Erde wohnend, eine Schüssel, welche Hüngr heißt. Darauf stützte sich die Rechtssitte des Kesselfangs, wornach der Beschuldigte einen Stein oder Ring mit bloßem Arme aus dem siedenden Kessel herauslangen mußte. Grimm, R. A. 919.

Digitized by Google

## 488. Es Mærli vom æ Schniderlî, wu en spanische Chasseur gspielt het.

Uf der Welt muess es gstorbæ sî, sust haettæ jo die Jungæ nümmæ Platz. Keis Wunder, wenn denn emôl au es Schnîderlî verzablet und stirbt.

Nu, dæ Schnîder stirbt also und sî lichti Seel fahrt gradewegs, wie-n-ae Nodlæ-n-am Zwirnsfadæ, derdurh ûf em Himmel zue. Er findet d'Thür und böpperlet hübscheli a, und wie-n-er e chlî het böpperlet, sæ goht es Lædeli ûf und der sant Peter fragt zum Himmel ûs, wer dûssæ sei. Der Nodlehæld loht si drûf füræ und seit: „Hæ, es Schnîderlî, mit Vergaust, möcht au gern in Himmel, Herr Peter.“ N'es Schnîderlî, seit der, en Blætzlifink? dere chœnnæ mer im Himmel nit brûchæ! so schnurret eusæ Peter und thuet sîs Lædeli wiedrum zue.

Wie iez der Schnîder vor em Himmel so trûret und druckset, so gseht er au næs alt-alts Fraueli, wu me-n-im Himmelrîch au nit het chönnæ brûchæ.

Die Zwæi hend do enand tröstet, so guet's gangæ-n-ist, und hend enand ihræ Lîdæ g'klagt, wie sie iez vor em Himmel ûssæ im Ledersack müessæ sî. Derwîl sæ chunnt æ mæchtigæ Hussar gsprengt und rüeft, er möcht înæ in Himmel! Sant Peter loht de Süverlig do nit lang wartæ, wîl er apartig zue-n-em gseit het, er seig en spanischæ Chasseur. Das do het si der Schnîderlî hinter d'Ohræ g'schribæ, springt gschwind zum Muetterli ane und g'vischberlet und flattiert met ere und seit: „Wie wär's, Frau Bæsi, wenn mir zwæi ûs au ne so thätit in Himmel înæ schmugglæ? es wär, schätz'i, nüt g'fehltis. Lôs iez, Muetterli, i will der en vernünftigæ Vorschlag machæ: i bi der spanisch Chasseur, und du treist mi vor d'Himmelsthür; fürs ander lass denn nummæ der Vogt geiferæ oder mi sorgæ. Was giltet's, mer chömmæ allbeedi in Himmel înæ!“

G'seit und tho. Mî Nodlærüter sprengt ûf em Muetterli vor's sant Peters Pfortæ. Wer do? rüeft dæ dinnæ mit dem Schlüssel. „Ein spanischæ Chasseur“, brület 's Schnîderlî ûs alli Chräfte. 's Thor goht ûf und mîn spanischæ Rüter rîtet gravitätisch înæ zu dæ-n-anderæ Lütæ-n-im Himmel.

Ä so het's der Schnîder gmacht,
und d'innæ hend's ab em glacht;
und han i's öppe rächt vernoh,
sæ hend sie's nümmæ-n-ûssæ g'loh.

(Freienämter-Mundart.)



Digitized by Google

Vgl. Simrock, Kindb. No. 450:

Jetzt kommst du nicht in den Himmel hinein, sprach Petrus;
So reit ich auf einem Schimmel hinein! sprach Pilatus.

Aehnlich in Stöbers elsäß. Kinderb. das oberrhein. Reiterliedchen, No. 56:

Der alte Kastalter von siebenzig Jahren,
Der will mit sechs Rappen ins Himmelreich fahren,
Allein es kann leider für diesmal nicht sein,
Der alte Kastalter darf noch nicht hinein.

Bekannter süddeutscher Kinderreim:

Der alte Posthalter von siebenzig Jahren,
Der will mit sei'm Schimmel gen Himmel nauf fahren,
Die Schimmel, die Lümmel, die springen hinweg
Und werfen den alten Posthalter in Dreck.
(Mündl. aus Stuttgart.)

Wie unter solcherlei Zügen das Märchen vom „Himmelsstürmer" verborgen liegt, zeigt W. Grimm in Wolfs Ztschr. 2, 2.

---

## 489. Die Schuhe des Ewigen Juden.

Vom Pilatusberge her am Vierwaldstätter-See kommt alljährlich ums Neujahr ein nicht unfreundlich aussehender Mann durch das Aargau an den Rhein gereist. In den Freienämtern wird er Pilatus genannt nach dem Berge, auf welchem er seit vielen Jahrhunderten wohnen soll; an einzelnen Orten heißt er auch der Pilger von Rom, weil er ganz in einer Pilgertracht erscheint mit großem Rundhut, hohem Stab, langer Kutte mit Mantelkragen, und mit stark beschlagenen Schuhen. Als solcher übernachtet er im Freienamte in einigen leer stehenden Häuschen der Weinberge, No. 217. In der Pilgertasche hat er Mondmilch, oder sogenannten Bergzieger aus einer Mondmilchhöhle auf dem Pilatusberge, welche das Ziegerloch heißt; und dieses Gestein nebst Walsteinen, einer Art Guhr, womit man Gliederquetschungen heilt, läßt er beim Weggehen als Schlafgeld zum Lohne der Trottenbesitzer liegen. In Lengnau und Endingen, wo Judengemeinden sind, sowie im katholischen Frickthale ist er unter dem Namen des Ewigen Juden bekannt. Wenn er diesen Landstrich und die angrenzende Baselandschaft bereist, so übernachtet er stets in seinem gleichen Wirthshause, obschon er dann die Nacht außer Bette zubringt und immerwährend in seiner Stube umläuft bis zum Weitergehen am Morgen. Dorten erzählt er, er habe, als er das erstemal an diesen Rheinwinkel gekommen sei, wo nun Basel steht, nur einen schwarzen Tannenwald, das zweitemal nur ein breites Dornengestrüppe, das drittemal aber eine vom Erdbeben zerrissene große Stadt vorgefunden. Wenn er zum letztenmale dieses Weges komme, werde man stundenweit hier gehen müßen, um Reiser zu einem Besen zusammenzu-

Digitized by Google

finden. Ein andermal, da er über die Gebirge des Matterhorns und der Grimsel in die Stadt Bern kam, gab er an, er habe bei seinem ersten Herübersteigen auf diesen Gebirgspässen nichts als Weinberge gesehen, statt der Gletscher und Schneefelder, von denen sie jetzt starren. Bei seinem Weggang aus Bern ließ er Wanderstab und Reiseschuhe dorten zurück. Der Zürcher-Pfarrer Ulrich hat sich beides daselbst zeigen lassen und berichtet darüber, Gesch. der Juden in der Schweiz, Basel 1768, 154: „Auf der obrigkeitlichen Bibliothek zu Bern wird ein kostbares Stück aufbewahrt, ein Stecken und ein Paar Schuhe von dem Ewigen Juden. Man muß aus der Bibliothek etliche Tritte herunter in ein Souterain steigen, allwo ein türkischer Habit zu sehen, den ein Herr Heerport dahin verehret. In gleichem Cabinet finden sich auch des unsterblichen Juden Stecken und Schuhe; der Stecken ziemlich grob und stark, die Schuhe ungemein groß und von hundert Bletzen zusammen gesetzet, ein Meisterstück von einem Schuhmacher, weil sie mit vieler Mühe, Fleiß und Geschicklichkeit aus gar vielen lädernen Theilen zusammengeflickt worden. Der berühmte Gotthard Heidegger macht in seiner Acerra, pag. 855, über den Ewigen Juden folgende gründliche Anmerkung: „Der große Christophel und der Ewige Jud gehören zusammen."

Dieser unter seinen Menschenkindern umwandernde Gott ist Wuotan, der bei Saxo Gramm. viator indefessus, in der Edda vegtamr, Gângrâdr, Gângleri heißt, der wegesmüde Wandler. Er gilt schon der Ragnar-Lodbrogsaga, cap. 14, als ein ergrauter Waller mit Langbart, Breithut und Nagelschuh, und weist die Wege nach Rom. Wolf, Beitr. 1, 10—21 zeigt, wie Wuotans Mantel im Märchen wieder erscheint, aber als ein aus Tausenden von bunten Lappen zusammengesetztes Tuch, wie Wuotans Speer und Siebenmeilenstiefel zum unedeln Knüppel und zum hundertbletzigen Fleckschuh herabsinkt. Selbst der Name Wuotan hat ein ähnliches Geschick gehabt, er ist in den des Ewigen Juden verkehrt worden. Die Lateinlegende über Letztern nennt des Ahasverus unterschiedliche Namen und fügt bei: alius ipsum appellat *Buttadeum*, alius aliter. Wolf, Ztschr. 1, 436. Diesen Namen Buttadeus giebt ihm auch Boullenger, hist. sui temporis; und er verräth sich noch immer in Bertha's Götternamen, welche Pudelmutter heißt (Weinhold, Weihnachtsp. pag. 11), im Namen der rothschimmernden Preißelbeere, welche Budlergräusle heißt (Stalder 1, 239), im altbayr. wudeln und pudelwohl (Schmell. Wb.) und im Namen unserer zahllosen Dorfgespenster, welche die Dorfpudel sind. Nach dem Gotte Buddha nennt das Sanskrit den dies Mercurii Budhuvaras, wie wir unsern Wodanstag nach Gott Wuotan benannten. Auf Silt heißt der Mittwoch noch heute Winjsday. Bei Müllenhoff, Schlesw.-Holst. Sag. pag. 167, sind Wede- und Winjsfeuer die dem Gotte Wodan angezündeten Frühlingsfeuer. Die indische Mythe gewährt aber einen noch redenderen Aehnlichkeitspunkt; in ihr stößt Putakra auf zwei Männer, welche sich um Wünscheldinge

ſtreiten, um Schale, Stab und Schuhe; indem er ſie zu einem Wettlauf darum verleitet, ſteigt er ſelbſt inzwiſchen in die Schuhe und fliegt mit Stab und Schale zu den Wolken empor. Myth., Vorrede XXX. Dieſe Symbole Wuotans finden ſich wieder als die des mit ihm identiſchen Ewigjägers. In Bayern ſagt man, die Teufelsmauer ſei eine Straße, welche um die ganze Welt reiche, und der Ewige Jude müße ſelbige laufen. Bechſtein, DSagb. No. 868. Ich weiſe deshalb jene von Gräße in Wolfs Ztſchr. 3, 122 mitgetheilte Deutung des Namens Buttadäus zurück, als ſtamme er von Thaddäus ab und von But, das, gleich Ben, Sohn bedeuten würde; viel näher liegt dagegen ſanskrit dhûti commotor, concussor; es liegt dem goth. guth zunächſt und dient zur Bezeichnung des windſchnell herſtürmenden und wegbrauſenden Erſchütterers. Kuhn, Ztſchr. f. vergleich. Sprachforſch. 1, 158. Der Forſtgehülfe, der am einen Fuß ſtets nur einen Pantoffel trug, ſchien den Leuten mit einem Fußübel behaftet, konnte aber doch nie von einem Läufer eingeholt werden. Leoprechting, Lechrain=Sag. pag. 60. Im Hildesheimiſchen muß der Ewigjäger alle ſieben Jahre die Welt umreiſen. Journal v. u. f. Deutſchl. 1786, 339. Das Gleiche gilt von der Weltreiſe Hackelbergs, bei Müller=Schambach, ndſächſ. Sag. pag. 347. Wenn Hackelberg jagt, ſo kann man ihn wohl Stunden weit hören, ſo gewaltig klappert er mit den Schuhen, und wer ſein Grab im Walde wieder finden will, muß Stab und Hut darauf gepflanzt haben. Ibid. No. 98. 99. Der Gott Buddha=Wuotan, der zum wüthenden Jäger geworden iſt, verwandelt ſich ſo zum Ewigjäger und Ewigjuden, behält aber die göttlichen Attribute noch bei, namentlich den Schuh. Die Geiſter der W. Jagd in Glarus heißen Schuhmacher. Vgl. Abthl. V, Anmerk. No. 32. Der Badenix bei Strehla an der Elbe pflegt ſeine Schuhe zu flicken. Gräſſe, ſächſ. Sagenſch. No. 81. Schuhe wirft den Leuten das buttawinzige Hojemännel im Schlegelwalde nach. Leoprechting, Lechrain=Sag. pag. 128. In Wolfratshauſen heißt das Ortsgeſpenſt das Marktgeſchlärf. Es iſt eine Hebamme, die mit hohen eiſenbeſchlagenen Pantoffeln durch die Straße ſchlärft und den Leuten im obern Stock zum Fenſter hineinſchaut. Schöppner, bayr. Sagb. No. 1253. Nach des Duduläus Relation gab ſich Ahasver zu Hamburg, wo er 1547 erſchien, für einen geweſenen Schuhmacher von Jeruſalem aus (Welte, kathol. Kirchen=Lexikon s. v. Ahasver). „Der aus hundert Bletzen zuſammengeflickte Schuh" iſt derjenige Vidars in der Edda, welcher gleichfalls aus ſolcherlei Lederſtückchen gemacht war. Die Heiden ſammelten gebotener Maßen die Stücke ihrer zerreißenden Schuhe auf, um damit denjenigen Schuh flicken und vergrößern zu helfen, mit welchem Gott einſt dem Wolfe Fenrir undurchbeißlich in den Rachen treten ſollte. Vgl. aargau. KinderL. IV, g: Was man mit ins Grab giebt. Verwandelt ſich der Große Gott in den großen Chriſtoffel, ſo verwandelt ſich des einen Wunſchmantel in das hundertfach geflickte Hemde des andern. Daher ſang die Antiphona: sanctus Christophorus habet indusium usque ad nates (Ammann, Liturgie, 197), und aus dieſem Grunde äußert der vorhin von Ulrich citirte Theologe Heidegger, der E. Jude und der Chriſtoffel ſeien einerlei Perſonen. Die dem Gotte Wuotan eigne Wanderluſt geht dann auf mehrere andere Geſtalten der Sage über; zuerſt auf den von unſerer Erzählung mitgenannten Pilatus. Die Chronik von Petersbauſen, welche vom Jahre 976 bis 1249 reicht, berichtet unter dem J. 1077, wie die

Digitized by Google

Schwaben aufſtanden und ihren Herzog Rudolf zum König ſetzten: es habe damals das Volk Lieder von ihm geſungen, als ob der andere Pilatus wieder gekommen wäre. Mone, bad. Quellen-Samml. pag. 137 a. Die Sage von dem noch immer wandernden Pilatus erſcheint auch anderwärts, pag. 23 in unſerer Sammlung; nicht minder lebt ſie in Panzers bayr. Sag. Wie unſer Pilatus ſeine eignen Gebirge und Seen zum Wohnſitz hat, die ihm zugleich als Grab dienen, eben ſo hat Hackelberg einen Eichenwald und einen Berg, die beide nach ihm benannt ſind und ſein Grab enthalten. Schambach-Müller, ndſächſ. Sag. pag. 348. In Weſtfalen heißt dann derſelbe Weltläufer mit ſelbſtredendem Namensübergang Rodes und Herodes. Wolf, Ztſchr. 1, 100. Von ſeiner Wanderſchaft wiſſen noch allerlei Volksſprüche: Komm, wir wollen wandern, ſprach Petrus; von einer Stadt zur andern, ſprach Pilatus. — Hier kommen die Herren aus Nonnefei, heißa-ſi, Pilatus! Simrock, KB. No. 450. 451. — (Vgl. Abthl. V, pag. 377.) Gleich der Bertha und den Dorfthieren pflegt der E. Jude immer um Weihnachten zu kommen; nur dann darf er ausruhen; er trägt einen Korb, aus dem Moos herauswächst. Müllenhoff, No. 449. Ebenda pag. 292 klagen die Zwerge über den Tod ihres Königs: As Pilatje duad, Hatje Pilatje duad! Den Luzerner-Pilatusberg nannte man bei uns im Knonauer- und Freienamte im vorigen Jahrhundert noch Fracmünt. Helvet. Kalend. 1798, 41. Nur unter letzterm Namen kennt ihn die Oberrheiniſche Chronik, pag. 16 (ed. Grieshaber 1850), die älteſte bis jetzt bekannte in oberdeutſcher Proſa, geſchrieben 1334. Der berüchtigte See auf dieſem Pilatusberge liegt benachbart jenen Höhlen der Erdmännchen, von denen Abthl. V, No. 231 (50) erzählt iſt; und wenn man Steine in dies Gewäſſer warf, um zu ſehen, ob darauf wirklich das vielbeſprochene Unwetter erfolgen werde, rief man dazu: Pilat, wirf aus dein Kath! caenum tuum disperge, Pilate! Cappeller, hist. mont. Pilati 1767, 10. Hundert Tagwerke der Flur von Hauſen bei Forchheim tragen den Namen Pilotes. Einſt wird ein Hahn die Thurmſpitze der hier verſunkenen Stadt Pilatus wieder ausgraben. In Forchheim zeigte man ſonſt des Pilatus rothe Hoſen her. Panzer, bayr. Sag. 2, No. 33. Auf einem purpurnen Seſſel ſitzend, zeigt ſich alle Mittag der Geiſt auf dem Pilatusſee in der Schweiz. Zwiſchen Rambert und Valliere (Dauphiné) ſteht ein kleines Schloß, vormals von Pilatus bewohnt. Schlözer, Briefwechſ. (Göttingen 1780) 4, 49.

---

## 490. Sanct Petrus mit der Geige.

Es war Nachmittags am Aerntesonntag, das Volk ruhte von den Mühen der Schnitterwoche, man ſaß in den Wirthshäuſern beim Weine, allenthalben war Muſik und Tanz. Da kam St. Petrus von der Kirche her, wo er gerade Kinderlehre gehalten und ſich recht müd und trocken geredet hatte. Wie er jetzt auf die brennend heiße Straße heraus trat, fiel es ihm gar ſchwer, den weiten Weg ſo ganz allein und unerquickt wieder heim zu ſollen, und er hätte auch ſein beſcheiden Theil an der allgemeinen Luſtbarkeit haben mögen. Da kam es ihm

Digitized by Google

zu Sinn, da er nah am Hause des Herrn Jesus vorbei mußte, ob er mit diesem nicht einen Spaziergang machen könnte, wo sich dann der Anlaß schon von selber finden würde, ebenfalls in einem Wirthshause einzukehren. Er blieb also stehen und klopfte ans Fenster. Der Herr saß hinter dem Tische, hatte das sonntägliche Evangelium mitsammt der Epistel durchgelesen, und weil er eben fertig war, so stellte er das Buch auf den Laden und fragte gar freundlich zum Fenster hinaus, wie die Kinderlehre abgelaufen sei? Gar gut und recht, sagte draußen der Jünger; aber sieh doch, wie schön heute das Wetter ist, wollen wir zusammen nicht ein wenig spazieren gehen? „Wie du willst," antwortete der Herr und stand bald darauf wegefertig bei ihm.

Da giengen sie denn mit einander die Landstraße fort, und der Herr nach seiner Weise lehrte dabei aus der Schrift, wo geschrieben steht, du sollst den Sonntag heiligen. Und als über solchen Gesprächen die Zeit verstrich und es bald Abend wurde, rieth er bei der Wegscheide, an der sie jetzt standen, die Kehr wieder heimwärts zu nehmen. St. Petrus aber wußte, daß es hier links ab zu einer Schenke im Walde führe, und er war im Staub der ebenen Straße noch um vieles durstiger und müder geworden; nun verstellte er sich und sagte: Herr, laß uns da links gehen, denn dieser Pfad ist schattig und kühl, und im Walde singen die Vögel gar schön. „Wie du willst, erwiederte der Herr; so wollen wir gehen."

Und da sie so dem Rande des duftigen Laubwaldes nachgiengen und sich am Gesange der Vögel ergötzten, gedachte der Herr abermals des Bibelwortes und sprach: Kauft man nicht drei Sperlinge um einen Heller? Doch mitten in seine Rede mischte sich mehr und mehr ein dumpfes Lärmen und wuchs an, je weiter sie kamen. Zuletzt hatten sie ein Wirthshaus vor sich, das wimmelte von Bauern, die zechten und spielten mit lautem Getöse. Herr, begann St. Petrus, wie ist's heute so heiß! laß uns hier ein wenig ausruhen bei diesen fröhlichen Leuten; ist doch auch in der Schrift gesagt: es ist meine Freude, bei den Menschenkindern zu sein. „Ei, Petre, versetzte der Herr und erhob einen warnenden Finger, freilich ist so gesagt für die Kinder Gottes; aber für die Kinder dieser Welt sagt auch ein Sprichwort, einem Fuder Heu und einem trunknen Bauern muß man ausweichen. Doch, wie Du willst."

St. Peter hörte diese Warnung nur halb, denn er hatte die Genehmhaltung seines Wunsches mehr als ganz genommen; er ließ den Meister, der noch nicht ausgeredet, stehen und eilte mit hastigen Schritten voraus und der Schenke zu. Dies mißfiel dem Herrn sehr und er bedachte, wie dem ungewitzigten Jünger für heute ein neuer

Digitized by Google

Denkzettel gehöre; eben als jener auf die Schwelle des Hauses trat, geschah daher ein Wunder an ihm, und eine Geige hieng ihm so plötzlich am Rücken, daß er sie, ohne es selbst zu merken, mit in die Zechstube hinein trug. Da erhob das Volk wie aus einem Halse ein Jubelgeschrei, man schob die Bänke schnell zurück, zog die Mädchen zum Tanze hervor, stampfte mit den Absätzen und rief dem fremden Spielmann zu, alsbald eins aufzuspielen. Dieses Empfanges verwunderte sich St. Peter gar sehr und versicherte mit vieler Ernsthaftigkeit, wie daß er gar kein Geiger sei und all seiner Lebtage noch nie eine Fidel in die Hand gebracht habe. Aber man riß ihm die Geige vom Rücken herab und hielt sie ihm spöttisch unter die Augen, dann pferchte man ihn in einen Wandwinkel und befahl ihm, bald gutwillig anzufangen. Da verwunderte sich denn St. Petrus noch mehr über sein neues Instrument und meinte, es sei ihm wohl von den Spaßvögeln heimlich angehängt worden. Aber die Bursche thaten gröber und drohender, und so war kein Rath; er begann also mit dem Geigenbogen herumzustümpern und drauf los zu streichen, daß ihm die Herzensangst und die schwüle Bauernstube Schweißtropfen von der Stirne trieb, so groß wie Haselnüsse. Als aber gar nichts dabei herauskam, was einem Tanze glich, hießen sie den Kratzer schweigen und jagten ihn schimpflich hinunter an den kleinen Tisch hinten beim Ofen. Da gab's nun allerlei ärgerliche Stichelreden und noch gefährlichere Bedrohungen. Die Einen sagten, er geige geflissentlich schlecht, und drum müße man ihm heute noch seinen Heimweg tüchtig versalzen; die Andern aber meinten, ein solcher Pfuscher und Bettelsack müße auf der Stelle gleich mit grober Münze ausbezahlt werden. Sie tranken ihm höhnisch Gesundheit zu und verboten dem Wirth ausdrücklich, ihm ein einziges Glas Wein zu geben. Sanct Peter saß da in großer Angst, in großem Durst und in großer Schwüle, er fürchtete sich vor dem Dableiben und vor dem Weggehen und wünschte aufs sehnlichste nur den Herrn herbei, der sich bis jetzt noch gar nicht hatte in der Stube blicken lassen. Endlich trat er ein und fand den Schlimmberathenen hinten am Backofen im Schwitzbade. O Herr, begann er leise, hier müßen wir leider heute über Nacht bleiben, ob wir wollen oder nicht. Denn draußen ist's schon finster, und vor diesen Bauern da kommen wir nicht heim, sie wollen uns im Walde mit Knütteln auflauern und im Felde mit Steinen werfen. Bitte daher den Wirth um ein Schöpplein zur Nachtzehrung, damit er uns mindestens im Hause behält und ein Bette hergiebt. Auch diesmal antwortete der Herr: „Wie du willst; so wollen wir also hier bleiben und um so eher zu Bette gehen."

Digitized by Google

Und als sie nun über die Stiege hinauf kamen und in ihre Kammer traten, fand sich da ein einziges Bette hinten längs der Wand, worinnen sie zusammen schlafen sollten. Darüber begann Petrus: Herr, das Gliederreißen, das ich mir ehemals beim Fischen auf dem See aufgelesen habe, macht mir einen stets unruhigen Schlaf; darum wirst du wohl thun, dich hinter an die Wand zu legen, und mir erlauben, daß ich auf der Vorderseite bleibe. Und der Herr entgegnete: „Wie du willst; schlafe du vorne, so will ich mich hinter an die Wand legen."

Als sie nun eine Weile gelegen hatten und gut schliefen, zechten drunten in der Stube die Bauern fort und je mehr sie tranken, um so öfter stieg ihnen der Geiger wieder zu Kopf. Der ausgemachte Lügner, sagten sie, der, die Geige am Rücken, hereingekommen ist und doch noch nie eine Geige angerührt haben will! Für derlei Possen muß dem Foppgeigerlein jetzt noch ein hagenbuchener Schlaftrunk eingeschenkt werden! Also stürmten sie hinter einander in die Kammer hinauf und machten im Finstern nicht lange Federlesens. Den Ersten, den sie vorne im Bette griffen, rissen sie auf den Boden heraus und bearbeiteten ihn nach Vermögen. Als sie müde waren, ließen sie ihn liegen und schoben sich kolternd und polternd wieder davon. St. Petrus beseufzte indessen innerlichst seine gestrigen Wünsche und deren fühlbare Folgen, dann raffte er sich zusammen, um sein Bett wieder zu finden, in welchem der Herr noch immer wie vorher fortschlief. Aber während er ängstlich und irr nach oben und unten finsterlings herumtappte, weckte er damit nun auch noch den Meister. Er fühlte sich zu elend, um etwas Gescheites zu seiner Entschuldigung vorzubringen, und sprach: Ach Herr, mein leidiger Durst von gestern hat mich noch im Schlafe geplagt, und da ich trinken wollte, bin ich drüber aus dem Bette gefallen. Ich will dich nicht wieder stören mit meinen bösen Träumen, sei drum so gut und laß mich lieber an der Wand hinten liegen. „Wie du willst, sprach der Herr; so lege dich hieher an die Wand und ich will vorne liegen."

Beide waren nach einer Weile wiederum entschlafen. Doch drunten saßen die trunknen Bauern noch immer auf und kamen neuerdings auf den mißrathenen Geiger zu sprechen. Diesmal aber, sagten sie dann, diesmal muß sein Begleiter dran, das ist der Meister, der hat ihn vorher dazu aufgestiftet, der soll nun auch seinen Lohn bekommen! Und zum zweitenmale stürmten sie in die finstere Kammer hinauf. Es ist Einer wie der Andere, schrieen sie, nehmt nur den an der Wand hinten auch hervor! Und so rissen sie abermals St. Petrus hervor und tractierten ihn nicht anders als vor einer halben Stunde.

Digitized by Google

Als sie endlich fertig geworden und wieder über der Treppe drunten waren, wußte St. Peter nicht mehr zu errathen, auf welcher Seite dieses Bettes man sicher wäre, um nicht noch zum drittenmal für den Unrechten heraus genommen zu werden. Er weckte daher in seinem Kummer sachte den Herrn und sprach: Es will Morgen werden, schon zweimal hat der Hahn gekrähet, laß uns aufstehen und von hinnen gehen! „Wie du willst, entgegnete der Herr; damit wir aber unsere Schuldigkeit im Hause bezahlen, ohne den Wirth und seine Gäste so frühe wecken zu müßen, so nimm hier diese drei Pfenninge und lege sie der Magd als Küchengeld drunten auf den Herd."

Herzlich froh über diesen erwünschten Rath, that St. Peter wie ihm geheißen worden, schlich wie auf Sammet zur Küche und unbemerkt dann zur hintern Thüre hinaus. Als er den Herrn auf der Straße wieder eingeholt hatte, hatte er das Weinen noch immer zuoberst auf dem Herzen. Die ausgestandene Nacht und die Entstehungsgeschichte seiner Beulen wollte ihm bei jedem Wörtchen auf die Zunge kommen. Aber der Herr, der ihn genugsam beschämt wußte, unterbrach ihn und sagte mit liebreichem Ernst: Zwei Dinge, o Petre, laß dir von heut' an zur Lehre sein. Bei der Küchenmagd, der du die drei Pfenninge Trinkgeld gebracht, sollst du dir merken, „so hoch du schon auf Jahren bist, so nimm dich allzeit vor Weibsbildern zusammen, sobald du den Hahn krähen hörst." Und zweitens sollst du vom Wirthshausgehen dir merken, was ein Jeder sagt, der mein Jünger noch nicht ist und die Sonntagsheiligung noch nicht versteht:

Wer sich nicht unter die Kleien mischt,
Den fressen dann die Säue nicht.

(Aus dem Frickthal.) Noch übliche Segenssprüche beginnen mit den geläufigen Formeln: „Jesus und Petrus giengen wandern .... Christus gieng über Land .... Gott Vater fährt zu Acker"; es sind Nachklänge der Wanderungen, welche die Götter Odhinn und Hoenir zusammen bei dem Menschengeschlechte gemacht, übertragen auf den Heiland und seine Jünger. Grimm, Myth. XXXIV, 137. 312. 1195. Die abenteuerliche Lage, in die dabei St. Petrus oft geräth, mag aus dem Vergehen dieses Jüngers gegen den Heiland ihre Rechtfertigung für die Empfindungsweise unserer deutschen Vorzeit geschöpft haben. Eine westfälische Version dieser Legende (brieflich von J. L. Fried. Woeste in Iserlohn) führt Christum und Petrum in einen Bauernhof zum Uebernachten, wo man eben am Ausdreschen ist. Der Westfälinger weckt daher seine Gäste in jener Nacht zweimal, daß sie aufstehen und ihm dreschen helfen, und der verschlafene Petrus, der zweimal seinen Platz auf dem Lager gewechselt hat, erhält darüber zweimal Schläge vom handgreiflichen Bauern. Zuletzt erwacht der Herr, steht auf, nimmt einen Feuerbrand vom Herde und zündet damit durch die aufgehäuften

Garben hindurch. Sie brennen zwar lichterloh, aber alsbald liegt Korn und Stroh nicht bloß unversehrt, sondern gesichtet auf der Tenne. Als der Bauer dieses Kunststück im nächsten Jahre selber machen will, brennt er damit sein Haus ab. So straft sich das verletzte Gastrecht. Vom zauberhaften Durchbrennen eines Strohbundes, ohne daß dasselbe Feuer fängt, handeln in dieser Sammlung die No. 111. (Anmerk.) 223. 372. 426. — Ein wenig logisch beschaffenes Bruchstück dieser Erzählung bringt Stöber, Alsatia 1851 und elsäß. Sag. No. 169; und einen zu bäurischen Umriß: E. Meier, schwäb. Märchen No. 11. Als walachisches Märchen aus der Bukowina erzählt's Staüfe, als Bonner-Märchen dasselbe Simrock in Wolfs Ztschr. 1, 471; 2, 13. Wolf, Beiträge 1, 96 bespricht den ursprünglich darin liegenden Wandermythus von Donar, wie er dem Eingang der eddischen Hymisquidha, und ferner den Märchen-Spielarten eigen ist; ein solches findet sich neuerlich bei Panzer, bayr. Sag. 2, No. 28.

---

## 491. Brod und Wein der hl. Verena.

So lange die hl. Verena zu Zurzach lebte, besorgte sie als Magd eines Priesters kleines Hauswesen. Nahe der Priesterwohnung war eine Hütte, in der Kranke und Elende ein armseliges Obdach suchten. Täglich pflegte sie dorten die Kranken, täglich sah man sie mit einem Brode unter dem Arme, in der Hand ein Weinkrüglein, hingehen, um die Leidenden mit dem zu erquicken, was sie sich selbst an ihrer Nahrung abbrach. Gleichwohl ward ihre Menschenliebe bald von Neid und Eifersucht verfolgt. Es war der Knecht des Geistlichen selbst, der ihre Wohlthätigkeit bei seinem Herrn verdächtigte. Der Priester lieh dem Verleumder sein Ohr und verabredete sich mit ihm, der Haushälterin aufzulauern, um sie auf frischer That zu ertappen. Als nun Verena wieder eines Tages mit ihren Liebesgaben arglos aus dem Hause hervortritt, da kommt der argwöhnische Herr unversehens hinter der Ecke hervor und stellt sie zürnend zu Rede, wie sie ihm sein Eigenthum treulos entwende und verschleppe. Erschrocken erklärt sich Verena, während der Hausknecht hinter ihr herschleicht und mit boshafter Schadenfreude den Deckel ihres Krügleins aufhebt. Siehe, da erscheint dem Priester in dem Gefäße nichts als Lauge zur Wasche, und statt des Brodkipfes nur ein Kamm zur Reinigung der verwahrlosten Kinder.

Als Verena lange nachher, gerühmt als eine treue Dienerin und beweint als eine Mutter der Armen, in Zurzach ihr Leben beschloß, wurde über ihrer Grabesstätte anfänglich eine kleine Kapelle errichtet, dann aber eine ansehnliche Kirche erbaut. In der Gruftkapelle dieser jetzigen Stiftskirche, gleich am Eingange unter dem hohen Chor, ist ihr steinernes Grabmal. Es ist von allen Seiten frei stehend und

Digitized by Google

hoch, rings umgeben von einem hohen Eisengitter. Oben auf liegt, in Stein gehauen, ihr Bild in Matronen-Kleidung, in der Linken den Kamm, in der Rechten das Krüglein haltend, ein rohes, von hohem Alter zeugendes und mit diesem ältesten Theile der Stiftskirche wohl gleichaltes Kunstwerk. An ihrem Festtage, den 1. Herbstmonat, stecken die Andächtigen zahlreiche brennende Kerzen in jene Eisengitter, während die Mädchen aus dem Kirchspiele ihre Schäppelein, ein schmucker, zum Theil werthvoller Haarkranz aus künstlichen Blumen, gleichsam als Weihgeschenke, auf das Grabmal dieser reinen und barmherzigen Jungfrau niederlegen. (Zürch. NeujahrsBl. der Hülfs-Gesellsch. 1834, 3. Vgl. Abthl. I.: Verena in Zurzach, Verenabad in Baden.)

## 492. Das Abhandeln.

Eine Frau war nach Einsiedeln gewallfahrtet und brachte ihren Kindern einen Kram mit. Heimgekehrt traf sie oben auf der Stiege ihre jüngst verstorbene Mutter, welche sprach: Wo bist du gewesen! Weh dir, man geht nicht auf den Markt, wenn man mit Gott reden will. — Die Frau wandert nun noch einmal nach Einsiedeln, kauft gar nichts, aber an ihr Haus heimgekommen, findet sie ein Scheit Holz vor der Thüre und nimmt's mit hinauf. Gleich steht auch die Mutter drohend wieder oben an der Stiege. Der Pfarrer räth endlich der Bestürzten zum drittenmale ihre Fahrt zu machen. — Sie thut's, rührt gar nichts mehr an, und die Mutter erscheint nicht mehr.

## 493. Der Heiland weiß nicht was Leiden ist.

Ein Bauer aus dem Solothurnerdorfe Erlinsbach war von seiner Frau wiederholt aufs äußerste mißhandelt worden. An einem Markttage, da der Mann eben bereit stand in das benachbarte Städtchen Olten zu gehen, war das eheliche Aergerniß zu einem neuen Ausbruch gekommen und die Spuren davon standen ihm handgreiflich jetzt im Gesichte. Er gieng, aber mit der festen Absicht nimmer wieder zu kehren, sondern von der Oltner-Brücke in die Aare zu springen. So war er in seinem Herzeleid ohne Aufhalt gegen das Städtchen gekommen und näherte sich jetzt der verhängnißvollen Stelle. Wohin, Joggi, des Weges, wie steht's daheim? redete ihn hier plötzlich ein Oltner-Kapuziner an, ein guter heiterer Mann, der öfters als Hilfspriester in Erlinsbach zu predigen und Beichte zu

Digitized by Google

hören hatte und so mit dem Bauern näher bekannt geworden war. Der Mann gestand ihm Alles; die Zwietracht daheim sei unerträglich, der Spott der Nachbarn nicht minder, in der Wirthschaft gehe es schon längst rückwärts, alle Geduld und rastlose Arbeitsamkeit, alles sei gleichvergeblich gewesen, hier wolle er denn seinem beschwerlichen Leben ein Ende machen. Menschenfreundlich nahm ihn der Kapuziner bei der Hand, beschwichtigte seine erste Aufregung und während er ihm das Beispiel unseres Herren und Heilandes vorhielt, der so viel zu dulden und zu leiden gehabt, hatte er ihn unvermerkt vom Wasser weg in das Städtchen zurück gebracht. Hier standen sie auf der Straße, die nach Trimbach hinaus und von dorten nach Erlinsbach zurückführt. Der Bauer äußerte sich nun um vieles ruhiger, dankte dem Pater herzlich für den gespendeten Trost, und Abschied nehmend schien er ohne Verzug den Heimweg zu seinem Weibe einschlagen zu wollen. Allein noch traute sein geistlicher Freund der Sache nicht ganz, also gieng er noch eine weitere Strecke mit fort und zeigte wiederholt aus dem Leben des Heilandes, wie Geduld und Langmuth dem Menschen geboten sei und wie ohne diese Tugenden der Weg zur ewigen Seligkeit einem Jeden versperrt bleibe. Denn wessen Herz nicht durch Leiden hier auf Erden geläutert worden, der könne dereinst auch den Frieden Gottes nicht verstehen und fassen, der uns doch allzumal aufbehalten sei. Dies habe der Heiland nicht blos gelehrt, tagtäglich habe er es in seinem Wandel uns gezeigt und gewiesen, bis er zuletzt sogar sein eignes Kreuz ohne Murren getragen. Jetzt hielt der Bauer plötzlich stille; ei, fragte er, hat denn der Heiland auch eine Frau gehabt? Der Kapuziner verneinte es, verdeutete aber, wie ungeschickt solches gefragt sei und was denn unser Herr je auf aller Welt hätte mit einer Ehefrau anfangen sollen. Ja dann, erwiederte der Bauer, wenn er niemals ein Weib gehabt hat, dann hat er auch nicht wissen können, was Leiden ist. Lieber einmal ans Kreuz, als lebenslang ans Hauskreuz! Wer ein böses Weib hat, braucht keinen Teufel! Natürlich unterließ der Pater es nicht, weitere Lehren gegen die Schlüsse des Bauern siegreich anzuwenden und die vierschrötigen Sprichwörter desselben damit aus dem Felde zu schlagen. So trennten sie sich endlich und der gute Pater gieng mit sich zufrieden und in dem Glauben heim, heute eine arme Seele getröstet zu haben. Allein wer zu viel beweist, beweist nichts. Er war nicht lange in sein Oltner-Kloster zurück gekommen, als sich die Nachricht verbreitete, man habe die Leiche des Bauern drunten aus der Aare gezogen. Ein zur Unzeit gewähltes und zu weit getriebenes Gleichniß des Seelsorgers hatte den kaum beruhigten Menschen aufs neue in seinen eigensinnigen Vor-

Digitized by Google

ſtellungen beſtärkt und in den Tod geſtürzt. Mit Leidweſen ſprach der Pater oft noch von dieſer ſchweren Erfahrung aus ſeiner Paſtoraltheologie.

---

## 494. Der Faulpelz unter Räubern.

Daß ein Faulpelz den Nachbar in der Noth ſtecken läßt, ſo lange es ihm nicht ſelbſt um den Rock geht, hat der baumſtarke Hans bewieſen, als er in Frick Hausknecht geweſen iſt. Er hatte einem Reiſenden, der ſpät Abends nach Brugg weiter zu fahren verlangte, eilig vorgeſpannt, und es war Nacht geworden, als er mit ihm durch den nahen Stiegliwald kutſchierte. Dort an einer einſamen Stelle, wo auch am heitern Tage das Dunkel nicht ganz weicht, verſpürten die Pferde eine beſondere Unruhe und rannten durchaus, als wenn die Räder von der Achſe ſpringen ſollten. Da aber fallen ihnen drei Räuber in die Zügel und fordern den Reiſenden auf, ihnen gutwillig Geld und Gepäcke zu übergeben. Dieſer denkt an Gegenwehr und ruft den Knecht zum Beiſtand auf; aber der bleibt ruhig auf dem Bocke ſitzen und raucht ſeine Pfeife ſo ſtumm und dumm fort, als ſollte er daheim eine Schüſſel weißer Rüben miteſſen helfen. Was kann nun der Reiſende anfangen? Er ſteigt aus und überläßt mit der Reſignation des Hilfloſen den Straßenräubern Hab und Gut. Da ſie nun alles ausgeleert zu haben glauben und ſich fort machen wollen, ſpricht der Fremde: Erfüllt mir jetzt eine Bitte, ihr ſollt ſie mir nicht umſonſt thun. Hier in der Kutſche iſt euch ein Käſtchen mit etlichen Duzend Thalern entgangen; nehmt ſie auch noch. Aber nehmt mir dafür jetzt den Knecht da droben vom Bocke herunter und prügelt ihn nach aller Möglichkeit durch! Die Räuber ſind bei Laune, ſie reißen den Kerl herab und ſchlagen erbärmlich auf ihn los. Endlich verwandelt ſich auch ſeine Geduld in einen langſam wachſenden Zorn; er brummt ein Potztauſend, erhebt die breiten Schultern und eben da ſie ihn zu werfen meinen, macht er ſeine erſte Wendung, in Folge deren der Vorderſte bereits den Boden küßt. Nun ergreift er den Zweiten beim Schopf, den Dritten beim Kragen, und ſchmettert ihnen in angemeſſenen Zwiſchenpauſen die Köpfe mehrmals mit ſo gedeihlichem Erfolg zuſammen, daß ihnen die Eingeweide im Bauche klingen und ſie umſinken wie Fliegen im Spätherbſt. Jetzt erſt kniet er, da ſie alle dreie liegen, von einem auf den andern hinüber und giebt ihnen der Reihe nach alles Empfangene doppelt zurück. Der Fremde, der bis jetzt verwundert zugeſehen, bekommt

Digitized by Google

wieder Muth, packt Stück für Stück seiner verzettelten Habe behend in die Kutsche und hat zuletzt nur noch die Mühe, den Hans von den drei Schlachtopfern loszumachen, in die er wie ein Stier mit den Hörnern festgebohrt ist. So machen Beide sich fort und lassen die Zerschlagenen liegen.

Aber sag nur einmal, sprach der Fremde hernach zum Knechte, als sie wieder in der Kutsche saßen, was für ein sonderbarer Heiliger bist du! Warum hast du mich und dich so lange von den Schurken mißhandeln lassen, die du dann wie auf einen Schlag bezwungen hast? Ihr fraget eben auch, antwortete Hans brummend, wie einer, der nichts versteht. In diesem Walde sind schon viele umgebracht worden, eben weil sie sich gewehrt haben; und Ihr wißt wohl nicht, daß ein solcher dann als Gespenst umgehen muß. Nun wünsche ich mir erstens nach meinem Tode eine bessere Anstellung, als eine solche, und zweitens muß ich selber erst recht warm geklopft werden, wenn mein Dreinschlagen so weit nutzen soll, daß mein Angreifer allein zu geistern hat.

Der Starke, der sich nicht anders wehrt, als zuvor warm geprügelt, ist ein echter Zug deutschen Charakters, den unsere Heldensage bereits schildert. Der Nibelunge Hagen ist verwundet worden; da ruft er der feindseligen Kriemhilt zu (Str. 1494): ich bin erste erzürnet, wan ich lüzel schaden hân. Siehe auch altdän. Held.Lieder S. 313 und 533: Dietrich von Bern muß erst von seinem eignen Waffenmeister geschlagen werden, bis er sich zum Kampf im Rosengarten entschließt, doch dann fahren ihm vor Kampfwuth Flammen aus dem Munde. Die entsprechenden Züge, die in der deutschen Sage hiefür erscheinen, zählt auf Menzel, Odin, pag. 267. H. Timm in Parchim (das Nibelungenlied, Halle 1852) erzählt ein Beispiel, wie die urältesten Züge in den späten Enkeln wiederkehren. Ein Bauernbursche aus der Umgegend von Parchim (Namen und Ort sind dorten noch bekannt) wurde auf dem Schützenhause der Stadt mit seinen Freunden in einen Streit verwickelt. Regungslos sah er es an, wie seine Freunde geprügelt wurden. Einer ruft ihm zu: Na, Krischan, wis en doch ok mal, wat ne Hark is. Er erwidert, seine Pfeife noch immer rauchend: Ik kan man blot noch nich inne Wut kamen. Dau mi den Gefallen un giw mi eins dat Mul!" Das geschah. Christian legt seine Pfeife auf den Tisch. „Noch eins" (noch einmal!) ruft er. Da fiengen seine Augen an zu rollen und seine Glieder zu zittern; und nun stürzt er in den Haufen; wo er hinschlug, wuchs kein Gras. Er ruhte nicht eher, als bis sie alle zu Thüren und Fenstern hinaus gejagt waren.

---

## 495. Das Geschichtchen vom Brodessen.

Hans hatte eine Frau und die hieß Beth, und Beth hatte einen Mann, der hieß Hans. Hans und Beth waren Beide gar ordentliche

Digitized by Google

Leute und aßen Beide gar ordentlich Brod. Hans aß aber nichts unlieber als den Ranft (Brodrinde) und Beth nichts ungerner als die Mutsche (Weiche) des Brodes. Dagegen aß Hans das Weiche des Brodes sehr gerne, und Beth aß den Ranft sehr gerne, und so kamen Beide zusammen gar gut aus. Denn Hans war froh, wenn Beth viel Ranft aß, damit er viel Weiches zu essen bekomme, und Beth war eben so froh, wenn sie recht viel Ranft bekam, weil ihr Hans recht viel Weißes aß. Und das gieng so fort, bis an Hansens seliges Ende. Jetzt aber hatte Frau Beth auf einmal Niemand mehr, der ihr das Weiche wegaß, damit sie Ranft zu essen hatte. Also suchte sich Beth wieder einen ordentlichen Mann, und der hieß jetzt Jörg. Beth und Jörg waren Beide wieder zwei gar ordentliche Leute und aßen Beide gar ordentlich Brod. Aber weil diesmal Jörg nur den Ranft, und Beth gar kein Weiches essen wollte, so hatte nun Keines keinen Ranft mehr und zuletzt konnten Beide gar kein Brod mehr essen. Da sind sie Beide zusammen gar ordentlich gestorben.

In Uhlands VolksL. No. 280 streitet sich der Schuster mit seinem Eheweibe um ein Ränftlein Brod, das sie ihm weggeschnappt hat, und will wissen, wem sie es gegeben habe; sie nennt ihm der Reihe nach Kind, Magd und Knecht her, allein er glaubt's nicht;

Do sprach die fraw mit ziere:
So gab ich's deiner liebe!
„Haustus meiner lieben geben,
So laß dich gott mit freuden leben."
Lieber mann, nun mir plas,
Das rindelein ich selber g'aß!

---

## 496. Geschichten vom Rheinfall in Laufenburg.

Der Name Laufen bezeichnet in oberdeutschen Mundarten gewöhnlich die größeren Strudel, Fälle und Stromschnellen, die unsern Gebirgswassern eigen sind. Selbst der berühmte Rheinfall zu Schaffhausen wird an Ort und Stelle nicht anders genannt; will der Herr gehen den Laufen besehen? ist die alltägliche Frage, womit man dorten den Reisenden empfängt. So hat auch das Aargauer Rhein-Städtchen Laufenburg von seinem Rheinfalle und seiner Grafenburg den alten, wiewohl noch sehr wenig berühmten Ortsnamen erhalten. Das starke Gefälle des Rheines macht hier eine halbe Viertelstunde weit drei Stromschnellen hintereinander durch, und wo zwischen denselben der Lauf des Flusses ruhiger und ebener werden könnte, verlegt ihm eine Unzahl mächtiger Felsklötze den Weg. So zerschellt er

Digitized by Google

ſich in langgezogener dreimaliger Windung mit aller ſeiner Waſſerlaſt an dieſen Klötzen und Klippen; in Bergesgröße ſtemmen ſie ſich ihm entgegen, tiefſchwarz von Farbe, während er in milchigen Wirbeln und ſchneeweißen Waſſerſchütten unaufhaltſam darüber wegſtieben muß. Es kämpft Kraft gegen Kraft, es ringt Farbe gegen Farbe, Licht und Nacht ſind in erfolgloſer, ſtets erneuter Arbeit; es iſt, als wollte der weiße Stromgiſcht um dieſe dunkeln Felskegel das Mohrenbleichen und Mohrenwaſchen, dies Sprichwort von verlorener Lebensmühe, in einem großartigen Bildwerke verdeutlichen.

Je näher man dem Ufer tritt, um ſo dunkler und verkohlter erſcheinen die nackten Wände auf beiden Stromſeiten. Blickt man aber an den Felſen empor nach ihrer Höhe, ſo ſind ſie alle gar freundlich geſäumt vom friſcheſten Grün, und zierlich bekränzt von Gärten, Matten, Fruchtfeldern. In warmem Sonnenſchein, in milder, wohliger Luft tragen dieſe beiderſeitigen Höhen eben da, wo der Strom am tobendſten durch ſie hindurchbricht, auf ihrer Scheitel die zwei gleichnamigen Städtchen Groß- und Klein-Laufenburg. Auf Stromesbreite ſchaut ein Städtchen dem andern in die Fenſter, zählt die Blumengeſchirre und den Kanarienvogel im Käfig jenſeits am Fenſter-Geſimſe. Alles, was man nur einmal die Woche über in der Stadt braucht, das haben dieſe beiden Nachbarſtädtchen zum Ueberfluſſe zweimal vorräthig und doppelt eingerichtet; da hat man alſo rechts und links am Strome ein Rathhaus ſtehen, man hat zweierlei Taufkirche und Kirchhof, zweierlei Richterſchaft und Polizei, zweierlei Amthaus, Schulhaus und Gefängniß; ja manche einzelne Straße ſchaut, um die Stunde zu wiſſen, bequemer auf die Thurmuhr der Nachbarſtadt, als auf die eigene. Und wie wunderlich umgeben und hüten die vielfachen Thurmzacken und Feſtungsmauern dieſen Doppel-Ort voll ländlichen Still-Lebens. Dieſe zweimaligen Reihen von Stadt-Thürmen, von Wacht- und Thor-Thürmen auf den beiden Flußſeiten, die ſo trotzig von ihrer Höhe hereinblicken, wie wenig Leute haben ſie in den paar Gaſſen der zwei Städtchen zu zählen, und wie wenig denken dieſe ſelber noch an Krieg und Kriegsruhm. Mit der Hacke auf der Schulter kommt der Bürger aus dem Hauſe, durchs maſſive Thor voll großer Steinwappen treibt er ſeine Kühe. Aber gleich beim erſten Schritte außerhalb begegnet der friedfertige und unſtreitbare Mann wieder den veralteten Stürmen und Schlachten. Da liegt der verſchüttete Wall, die halbgeſprengte Baſtei, eine geborſtene Mauer verengt ihm den Pfad zu ſeinem eigenen Gartenhäuschen, und dieſes ſogar lehnt ſich auf die Tragſteine einer alten Schießſcharte voll Spuren von Geſchützkugeln. Unaufgeräumt liegt

Digitized by Google

noch aller Schutt der Vergangenheit um die zwei Ortschaften her, von den Fehden der Habsburger Grafen an und des übrigen raufluſtigen Mittelalters, bis zu den Städtebelagerungen und Plünderungen der Schwedenkriege, ein verwirrendes Allerlei großer und unnützer Trümmer. Faſt würde es ein unbefriedigender Anblick ſein, ſo vielerlei Spuren grober Uebergewalt hier beiſammen zu finden, die der Kleinbürger erlitt und noch nicht wieder zu tilgen vermochte; allein der ſchön einherziehende Strom, der die beiden Städte trennt, und die Brücke, welche Beide vereint, giebt dem Bilde die große, ordnende Hauptlinie wieder. Die Kleinſtadt iſt badiſch, die Großſtadt ſchweizeriſch, es ſind zwei ſchon von jeher geſonderte Körperſchaften, welche ihr kleines Gemeindeweſen politiſch und kirchlich nach ganz verſchiedenen Zielen lenken.

Zweierlei Ortsrechte galten und gelten auf beiden Plätzen, zweierlei Bisthümer herrſchten zugleich auf dieſem doppelten Fleckchen Landes. Die Großſtadt gehörte in das Basler-, die Kleinſtadt in das Konſtanzer-Bisthum, heute iſt dieſe dem Freiburger-Biſchofe, jene dem Solothurner zugetheilt. Und doch gleichen ſich Beide in allen ihren kleinen und großen Dingen, in den überflüſſig gewordenen, wie in den noch mangelnden. Am Ufer der badiſchen Kleinſtadt ſteigt ein mächtiger Felskegel empor, auf dem die letzten Ueberbleibſel der Ritterburg Oſtringen liegen; nun hat ſich ein Müller darauf angebaut und läßt die Räder klappern, ſtatt daß ſonſt das Schwert da klirrte; eine alte Hollunderſtaude umgrünt den nackten Felſen und nährt ſich aus dem milchig herabflatternden Mühlenbach. Nicht anders iſt es auch herüben in der ſchweizeriſchen Großſtadt. Da ſteigt die Ruine der rheiniſchen Habsburg keck von ihrem Felſen auf, die dritte dieſes Namens unter den ſchweizeriſchen Ritterſchlöſſern. Auf ihrer höchſten Thurmzacke wächst eine Tanne ſchlank und ſtützelos aus dem leeren Thurmtrichter. Ein Tannenbaum iſt ſo der höchſte Punkt mitten in der Großſtadt, ſeltſam ragt er über die alten Hausgiebel und Feſtungsreſte in die blanke Luft hinaus. Auf dieſer Stromſeite ſchließen die Buchenwälder und Firſten des immergrünen Jura den Geſichtskreis, jenſeits thun es die breiten bräunlichen Züge des Schwarzwaldes. Die Rheinbrücke iſt brüderlich unter die zwei Städtchen vertheilt, mitten auf ihr läuft die Reichsgrenze. Auf der deutſchen Seite fragt Gendarm und Zollgardiſt nach Paß und Contrebande; auf ſchweizeriſcher verlangt der Landjäger den polizeilichen Ausweis, und der Zollner ſeinen Brückenkreuzer. So hat man Republik und Monarchie auf einen Schritt Entfernung in voller Amtsthätigkeit vor ſich. Während die beiderſeitigen Gewalten uns muſtern, iſt Zeit genug, die wunderlich



Digitized by Google

gestalteten Felsbänke unter unsern Füßen zu betrachten, auf deren Höhlungen und Aufsätzen die rothen Steinjoche der Brücke ruhen.

Drunten am Wasser stampfen und klappern die Mühlen, die man nicht hört; da schreien die Flößer, da klettern die Salmenfänger, die man nur sieht; alles übertäubt die brausende Fluth. Blickt man dann von der Brücke weg stromaufwärts, so schwankt und nickt die Wasserfläche des Rheins daher, wie ein Aehrenfeld im Winde. Eben wird es vor uns in eine kolossale Garbe zusammengebunden, die aus eigner Fruchtschwere zu wanken beginnt. Stromab überstürzt sie sich mit ihrem übervollen Aehrenhaupte, in Wirbelwinden ist die schöngeordnete Gestalt augenblicklich zerstreut und entführt. An ihrer Stelle aber zerplatzt plötzlich ein Wolkenbruch, ein ganzer Wasserberg; er senkt die eine Wolke nieder, er läßt die andere in Puder aufflattern, und zwischen seinen gewitterhaften Entladungen starren und zucken träge Felsenlasten hervor, gleich lauernden, falschen Ungeheuern. Dazwischen brennt die Sonne, wie in einen Hohlspiegel weiter unten in ein Becken des Strandes herab, und ein schwerlastender, unbestimmbarer Duft, eine Halbnacht zieht sich von dorten her in unsere Tageshelle herauf. Von drüben bricht eine Felscoulisse steil in den Fluß herein, herüben aber wölbt sie sich zu einer gigantischen Scharte aus, an welcher alle hundert Zungen des Stromes auf einmal lecken. Dann zerschneiden von beiden Ufern scharfkantige Ecken wie Scheermesser die neugediegene Woge und vermehren ihr Gebrülle, bis sie sich mit Schuppen und Kämmen hinter dem nächsten Bergjoche verkrümmt. In der letzten Fernsicht erscheint das Gewässer dann noch einmal, aber schon ist es der wiederberuhigte, gesammelte Rhein. Als wäre nichts geschehen, als wäre ein schauerliches Märchen zum friedfertigen Ende erzählt, so fröhlich blitzt er dorten herüber.

Und ein Märchen ist es auch, an welches man hier erinnert wird, man gedenkt an das alte großartige von Curtius auf dem römischen Marktplatze. Wenn sich diese friedliche Strombucht plötzlich in ein schäumendes Gewieher verwandelt, die eben noch so sonniggrün und pflanzenfrisch daherschwamm; oder wenn der anmuthige Waldgürtel, welchen der Schwarzwald und Jura um diese helle Landschaft ziehen, plötzlich von einer unvermuthet losbrechenden Gewalt zerrissen wird, so ist es nicht anders, als ob ein leidenschaftlicher Riese hinter diesen Hügeln heran geritten käme, um hier die Stelle zum eignen Opfertode sich auszusuchen. Sein schneeweißes Roß schäumt und schnaubt, die Spitze dieses Höhenzuges zu erreichen. Ein Blick ins Thal reizt zum augenblicklichen Hinabsetzen. Jetzt beginnt ein muthwilliges Bäumen und Steigen. Jeder Huftritt bergunter reißt den Boden

Digitized by Google

auf, die Sammtdecke des Rasen schlitzt, schwarzes Gestein klafft in Höhlen und Schrunden auseinander, bis in das Gerippe des Erdleibes bricht das unvorsichtige Thier ein. Um so gewaltiger nimmt es seinen Absprung über die Schlünde hinweg. Auf dieser Platte hat der Fuß noch Platz, auf jener scharfen Kante mißlingt's. Der Abgrund thut sich auf, die Erde verschlingt den Stürzenden. So oft er sich in ihrem Bauche überschlägt, kracht Grund und Grat und reißt in zwei verkohlte Bergwände auseinander. Aber noch jagt er mitten drinnen weiter. Dorten ist er sichtbar im Glanze der verschwebenden Gestalt, hier ist er nur noch am Locken- oder am Mähnenhaar zu erkennen, wenn es im Sausen des Sturmes bis an den Rand heraufflattert. Und jetzt ist er hindurch, das Wagniß ist überstanden. Schon zeltet da draußen das Roß durchs Thal, der Kecke wiegt sich anmuthig im Sattel, er trägt einen eben geschliffenen Schild, aus welchem Sonnenschein, Wiesengrün, Wald- und Felsennacht klar und erquicklich zurückstrahlen. Aber hinter ihm liegen die ewigen Spuren seiner Verwegenheit. So weit der Sprung gegangen ist, sind zwei lange Berge bis auf ihre Wurzel geborsten, zwei abgebrannte Felsenbänke starren in den Himmel, bloße Nacht schaut aus ihrer Kluft, und ringsum hängt noch der Schaum des hindurch gehetzten Rosses.

Hier handelt es sich keineswegs um eines jener wohlfeilen Gleichnisse, mit denen die Vergrößerungssucht manchmal ein Landschaftsbild kindisch auszuschmücken strebt. Der Laufenburger Rheinfall reicht an Höhe und Gewalt des Sturzes weder an denjenigen zu Schaffhausen, noch an den Aarfall an der Handeck im Hasle. Aber die polternde Heftigkeit allein ist noch nichts Schönes; auch ein begebenheitsloser, einsamer Sturz aus der Himmelshöhe herunter in eine abermalige andere Einöde ist gleichfalls noch keineswegs bedeutsam. Auch Staubwolke, Donnergetöse, hallendes Ufer, schüttende Brandung, sind Vorgänge, welche jedem Strom unerreichbar bleiben, und die der Meer-Anwohner in ganz anderen Verhältnissen kennt. Hier aber springt, wie nirgend, der ganze Rheinstrom mit dreimaligem Schwung durch das friedfertige Kleinstädterleben zweier Schwesterstädtchen mitten hindurch. Recht im Schooße des Ortes, hart an der Schlafkammer der Familie vorbei, treibt er Tag und Nacht sein gigantisches Spiel, und während er den Leuten nichts mitnimmt, als die paar Aepfel, die ihm der Wind von ihren Bäumen zuschüttelt, giebt er ihnen Allen fortwährend ihr täglich Brod. Er bleibt die alleinige Nahrungsquelle und der ganze Wochenmarkt für beide Ortschaften. Dies ist jener Römerheld, der zu den Tempeln der Götter emporblickend, sich selber

Digitized by Google

todesfreudig zum Opfer weiht; in voller Rüstung und auf geschmücktem Rosse stürzt er sich in jenen Abgrund, der mitten auf dem Marktplatze entstanden war, und den Niemand sonst auszufüllen wußte. Aber die Frauen und Männer schütteten Geschenke und Früchte über den Stürzenden zusammen, bis die ganze Kluft zum See des Curtius wurde und voll Blumen schwamm. Eine gleiche Zahmheit mitten im Bilde der Zerstörung, ein ähnlicher Hausfrieden hart am Krater eines ausbrechenden Verderbens, wo fände es sich wieder? Da geht aus dem Hause der Mutter in der Kleinstadt am badischen Ufer das Mädchen Morgens hinüber in das Schulhaus der Großstadt am Schweizerufer. Mitten auf der alternden Brücke steht es stille. Horcht es vielleicht, wie ihm unter den Füßen die Wasserkräfte sich abkämpfen und zermalmen? Fürchtet es wohl, die Windwirbel des Falles möchten ihm das Schreibheft unter dem Arme aufblättern und entführen? Nein, es langt nur in den Schulsack, ob auch für heute die üblichen Weckbröckchen richtig hineingesteckt sind von der Mutter, dann geht es harmlos weiter. Da betrachtet es den Raben, der hier binnen zwei Minuten auf einer Tanne des Schwarzwaldes und auf einer Buche des jenseitigen Jura ausruhen kann, je nachdem er den Laufen überfliegt; da sieht es dieselbe Welle, die in dieser Sekunde am Schweizergebirge zerschellt, in der nächsten schon an den jenseitigen Fuß des Hauensteiner Bergzuges geworfen. Es betrachtet die kleine Gestalt des Menschen, wie sie drunten tief in dem unermeßlichen Vorgange steht, und nicht an die Gefahr etwa denkt es dabei, sondern an das heutige gute Mittagsessen. Von mancher Felsklippe aus legt da der Fischer ein geringes Brett über den Strudel herein, und bindet es mit Ketten ans Gestein. Kaum sähe er größer aus, als die Forelle, auf die er lauert, wenn er da hineinfiele. Nun zählt er die anschwimmenden Wogen ab bis zur neunten, diese erkennt er schon von ferne am höheren Kamm und an den acht anderen unter ihr begrabenen Vorwogen. Da rollt sie sich auf, rauschend, wie ein prächtiger Seidenstoff, und ihr Puls schlägt an die Felsenbarre, daß nicht diese wankt, sondern das Brett darauf mit dem Manne. Aber sogleich senkt er den Hamen, oder er sticht hinab mit dem Zweizack, mit dem sogenannten Geeren, denn dies ist die Welle, in welcher seine Nahrung liegt, in welcher der mächtige Lachs mit angeschwommen kommt.

Um Pfingsten, wenn die Schneefelder im Gebirge schmelzen, dann kommt hier nicht bloß der Bodensee, wie bei Schaffhausen geschieht, über diese Felstreppen herabgestürzt; auch der ganze Thuner- und Vierwaldstätter-See, auch die Reuß, die Limmat und die Aare mit-

Digitized by Google

einander schieben ihre maßlosen Gewässer zusammen durch dieses enge und widerstrebende Rinnsal. Unbändig wird dann die Gewalt des Stromes. Schon vom Jahre 1343 weiß man es, daß er die Brücke sammt zwölf Häusern davon getragen hat, und in der benachbarten Festung Rheinfelden nahm er damals gar die Stadtmauern mit. So meldet aus Basel Sebastian Munsterus in seiner Cosmographey. Auch im Jahre 1480 gieng hier der Rheinfall über seine eigene Brücke hinweg; und auf ihr vor der noch höher gelegenen Zollstube fieng man damals zwei Fische. Ein Jahrhundert später wuchs der Strom wiederum so hoch, daß „Einer die Händ vff der Brugg vß dem Rhin hat können wäschen"; also ist es im städtischen Rathsbuche zu lesen, in welchem die alte Zeit ihre Denkwürdigkeiten emsiglich eingetragen hat. Und wem diese Meldung der Chroniken etwa unglaublich erscheint, der lasse sich die Höhe des neueren Wasserstandes an jenen Häusern des rechten Ufers weisen, die dem Falle zunächst sind. Trotz ihrer Lage auf den hohen Felsen ist jede Mauer der ersten Stockwerke noch mit einem mächtigen Schlammstreifen gefärbt, denn der Strom stieg hier in die Fenster herein. Bei besonders niederem Stande im Jahre 1811 maß man seine Tiefe. Bei der Linde in der „Schnelle", wo des Wassers Unruhe beginnt, zeigte das Senkblei 89 Schuh; bei der „Enge", wo Felsklötze den Fluß unterirdisch durchkreuzen, fand man 116 Schuh; und weiter unten in der „Netze" zwischen den schwarzen Wänden soll er gar 200 Schuh haben. Hier liegen nicht nur abgelöste Felsblöcke massenhaft im Strome, sondern andere, aus dem Wassergrund heraufgewachsen, stoßen ihre gefährlichen Hörner hervor, und eine Felsbank, „der Laufenstein" genannt, zieht quer hinüber. Zweimal sah man dieses, in den Jahren 1692 und 1823. Da erstiegen zehn Männer zusammen diese verborgene Felsbank, lagerten auf ihr und zechten. Der ganze Strom floß damals durch eine Felsenrinne ab, die keine 17 Fuß breit war, und ein Waghals soll dieselbe mit einer Stange glücklich übersprungen haben. Das anderemal ließ der Magistrat die Jahreszahl in den Laufenstein einhauen, zugleich erbaute der Schiffsmann Xaver Falger ein Gerüste darauf und schenkte mitten im Strome Wein aus; aber noch in demselben Jahre verunglückte Falger, als er mit seinen Gesellen ein Schiff durch den Fall hinabzulassen hatte.

Dieses mühselige Geschäft gehört einer eignen Schifferzunft zu, welche vom Aargauer-Dorfe Koblenz, an der Aare, bis zur Stadt Rheinfelden ausschließlich das Recht hat, jedes Schiff durch sämmtliche Rheinstrudel zu führen. Sie heißt die Stüdlerzunft, von der

Digitized by Google

Bildsäule oder Stüd so genannt, welche ihrem Schutzpatron, dem hl. Nikolaus an gefährlichen Stellen errichtet zu werden pflegte. *)

Alle Floßbäume, welche der Schwarzwald und Jura, das Bündner- und Berner-Hochland für den Schiffsbau Frankreichs und Hollands liefert, haben diese Stüdler zu überwachen, und jeden Stamm, den der Strom festgerannt hat, wieder flott zu machen. Eben so nehmen sie alle größeren und kleineren Schiffe, die hier passieren wollen, oberhalb der Stadtbrücke in Empfang und führen sie an den Felsen her ins ruhigere Fahrwasser hinab. Wenn oberhalb die Fracht ausgeladen ist, binden sie das Fahrzeug an Stricke und Ketten; mit diesen erklettern sie die umrauschten zerfressenen Felsen und halten es so aus der Höhe im schmalsten Wassersaume, den der Fall am Ufer übrig läßt. Andere stehen aber während dem unten im Kahne. Diese packen den Felsen mit langen Eisenstangen, sobald die anbrandende Fluth sie zu überstürzen droht; oder sie müßen sich derselben Felswand schon von ferne entgegenstemmen, wenn Gefahr ist, hinangeworfen und an ihr erdrückt zu werden. Eine wie die andere Abtheilung leidet dabei viel. Erliegen die drunten der plötzlichen Uebermacht, weil sie in der einzig übrigen Minute die Stange nicht am richtigen Fleck eingesetzt haben: so reißt Seil und Kette die droben mit vom Fels herab, um welchen sie das angebundene Schiff herum heben sollen. Wer nicht dabei ertrinkt, bricht doch die Glieder. Gelingt es aber denen drunten, und es glitschen die Andern droben auf dem triefend glatten Gesteine aus, so entgeht dem Schiffe die Hilfe, und können sie sich selber vielleicht retten, so ist doch das Schiff dahin, dessen ganzen Werth sie ersetzen müßen.

„So kärglich ringt die sauern Loose
Der Mensch dem harten Himmel ab!"

Zwar sind Tritte und Nothtreppen auf und nieder ins Gestein gehauen; was aber hilft's, wenn im harten Winter bis zu dieser Höhe aller Gischt gefriert und ein starrender Eispanzer den Fels überzieht. Dann hängt oft ein gefrorner Wasserfall in die Schollen des vorbeizischenden Eisgangs hinein. Denn so rauh läßt hier der Winter sich an; daß der Rhein in einem Jahre (1681) fünfmal bis an den Fall überfror und daß das Eis 21 Schuh Dicke bekam (1788).

*) Kettner, Quedlinburg. Reform.-Gesch. v. J. 1710, sagt von diesem Heiligen: Er ist ein Wasser- und Fischergott bei den Papisten und Moscowitern, der denen, so aus Lycien in Aegypten schiffen, ein Nothhelfer gewesen ist; sie behaupten auch, daß er von Italien nach Archangel auf einem Mühlstein geschwommen sei. Pröhle, Unterharz. Sag. pag. 21.

Digitized by Google

Dieſes Hinabſeilen war auch die einzige Art, in welcher einſt das berühmte Glückhafte Schiff von Zürich hier vorüber an ſein Ziel gelangen konnte. Sechzig Scheibenſchützen hatten in Zürich ein eigens gerüſtetes Schiff beſtiegen und fuhren damit durch Limmat und Aare in den Rhein bis nach Straßburg, dreißig Meilen an einem Tage. Dies geſchah am 20. Juli 1576, da die Straßburger ein großes Hauptſchießen für alle ihre Freunde und Bundesgenoſſen ausgeſchrieben hatten. In einem ehernen Topfe von Zentnerſchwere überbrachten an jenem Tage die Zürcher ihren Verbündeten einen noch kochenden Hirſebrei, der Topf war in eine mit heißem Sand gefüllte Tonne geſteckt, um das Erkalten des Breies zu verhindern. Sie fuhren durch den Kanal mitten in die Stadt Straßburg und warfen auf beide Seiten des Ufers dreihundert warmgehaltene Semmelringe unter die Stadtknaben als Reiſekram oder Krambrod aus. Zwei Rathsglieder mit Trommlern und Pfeifern ſtanden hier zum Empfang der Ankommenden bereit. Zu dieſen gewendet ſprach der Zürcher Statthalter, Caſpar Thommann, indem er auf die Tonne deutete: „Sie kommend der Stadt zu zeigen, wenn ſie, was Gott vergaum (behüt) von Feinden plötzlich überfallen wurd, daß dann die Nachbarin Zürich Hülf ſchicken könn, eh ein Brei kalt werd.“ Voran der Muſik beider Städte gieng der Zug durch die Maſſe des Volkes auf die Maurerſtube, ebendahin ward die Tonne mitgetragen, und in kleinen Schalen wurden alle Gäſte mit dem Zürcher Hirſebrei bewirthet:

Deſſen ſich Mancher gwundert hat,
Wenn er an Mund ihn brennen that.

Auch die Gemahlinen der Standeshäupter giengen nicht leer aus, man ſchickte jeder ihr Schälchen voll eigens ins Haus (H. R. Maurer, S. 76). Aber was nun die Stadt ihren Gäſten zum Mahle aufſetzte, war Brod von 110jähriger Frucht, Braten mit 197jährigem Salze gewürzt und 104jähriger Elſäßerwein in den Pokalen.

Dies Alles beſang der Dichter Ulrich Fiſchart mit einer liebevollen Umſtändlichkeit; unſern Rheinfall jedoch ließ er dabei wohlweislich aus dem Spiele, denn eben hier lag ja die alleinige Verzögerungsſtelle für den Eilgang des Glückhaften Schiffes, und ſeine Mannſchaft mußte ſich gedulden und zuwarten, bis man es ausgeladen und an Seilen über die Fälle hinabgelaſſen hatte. Hier endigt nach alten Rechten ohnedies das Schifffahrtsrecht der Züricher und beginnt das der Laufenburger Steuermänner. Der Dichter, der ſich in ſeinem angenehmen Fluge nicht unterbrechen laſſen mag, meldet daher hierüber nur Folgendes:

Digitized by Google

Lauffenberg hat den Namen
Von des Reins hohem Lauff und fall,
Da etlich Berg mit großem schall
dem Rein auß neid sich widersetzen,
die sich dadurch doch selbs verletzen;
Dann je der Rein on alle schew
Etzt durch sie eine strassen frey.

Noch einmal hat die Zürcher Sängergesellschaft Harmonie im Juni dieses Jahres die Fahrt zum Sängerfest in Straßburg auf dem Rheine hier vorbei gemacht.

In die Schifferzunft dieser Stüdler, die ausschließlich die Fahrzeuge durch den Laufen hinabzuleiten haben, gehörte nun auch der vorhin genannte Falger. Er hatte mit seinem Gesellen eben ein Schiff bereits zur „Rüsche" herabgebracht; dies ist einer jener großen Balkenkästen, welche wie ein Blockhaus auf dem Felsen stehen, um weit über die wildesten Strudel hineinzuhangen, weil man eben da die meisten Salmen fängt. Hier zerschellte das Schiff und riß beide Männer in die Fluth. Unten bei der „Netze" kamen sie wieder zum Vorschein, und man mußte glauben, der herüberdrückende Fall, welcher hier der Stoß heißt, werde sie packen und mit sich ans jenseitige Ufer schleudern. Allein hier trafen auch die Theile ihres zertrümmerten Fahrzeuges auf sie, und Alles zusammen ward in die Wirbel versenkt. Dies war am 7. Oktober jenes Jahres geschehen, da Falger im Laufen gewirthet hatte; erst zwei Monate später landete seine Leiche unten beim Dorfe Efliken. Zwei Tage später und noch weiter entfernt fand man die seines Gefährten; dieser hieß Anton Gütimann, und sein eigner Bruder hat ihm auf dem Kirchhofe zu Mumpf das Grab gemacht.

So wandelbar und veränderlich hier alle Gestalten dem Auge erscheinen, die des Stromes Laune baut und wieder vernichtet, so hat doch Gewerbe und Gewohnheit der Einwohner jede Einzelheit in diesem Schaumgebäude längst als einen festen Punkt gefaßt und mit besonderen Namen belegt. So viele Wellen, so viele Geschichten. Ja die Wassertheile selbst und die verschiedenen Vischenzen des Strudels sind strenge gesondert, je nachdem sie einst dem Constanzer Bisthum oder dem Basler Bisthum nach altem Rheinrechte zugehört haben. (Sie verzeichnet ein Revers v. 6. Mai 1601: der Stadt Laufenburg Vischentzen. Stadtarchiv, Copiebuch Georg Beckerts, fol. pag. 167.) Nach der entfernteren Schnelle oberhalb der Brücke folgt der Gießen; zunächst der Brücke liegt der unter den Wellen querüber streichende Felsendamm des Laufensteines. Ueber ihm hebt sich die gesammte Wassermasse des Flusses in einer großartigen Linie

Digitized by Google

zumal ab; dieselbe hieß sonst das Schapf und erinnert an die Wortbedeutung der Stadtnamen Schaffhausen und Aschaffenburg. Dann erscheinen in den Wirbeln die obere und untere Rüsche, zwei Blockhäuser mit Klebgarnen und eisernen Fangkörben; das eine heißt nach dem großen Felsen, über dem es schwebt, der Hügen (ahd. daz houc, der Hügel). Bis hieher soll alle Weihnachten die Gestalt eines schwarzbemantelten Fischers aufrechtstehend in seinem Kahne durch den Rhein herabkommen. Wo das Ufergestein nicht lothrecht einschießt und die Wogen es also unterfressen und ausspülen, da beginnt die Breite Wag; sie theilt sich wiederum mehrfach in die Fronwag, Bärenwag, Sulzwag und in das Hauenzenwägli. Salmen und Lachse lauern darinnen, und springen mit der ersten günstigen Welle über jeden Sturz hinweg, der ihre Wanderung hemmen will. Die aus der Tiefe emporschimmernden Steinmassen geben der darüber hinziehenden Fluth ein reiches Farbenspiel vom dunkelsten Schwarzgrün bis zum glänzendsten Goldgrün. Schwindende und frischentstehende Regenbogentrümmer irren darüber weg. Daher der Name des Ortes Goldschelle. Da gewahrt man in Quarz und Glimmer jene zirkelrund ausgespülten Steinbecken, welche die Gumpen und Kessel heißen. Hier geht die große Hauptwelle. An ihr fängt man Fische von 50 Pfund, und der Ertrag wirft dem Städtchen jährlich mehrere tausend Gulden ab. Haben die Salmen hier die Röthifluh umschwommen, einen roth geäderten Felsklotz, der wie der Rest eines runden Schloßthurmes breit im Wasser liegt, so heben sie sich aufwärts gegen die Brücke, an deren Jochen jedes Fahrzeug zerschmettert wäre. Da biegen sie den Schwanz mit dem ganzen Körper in einen Ring und schnellen sich mit lautklatschender Stärke plötzlich wieder zurück. So gelingt ihnen der Sprung über jede einzelne Sturzwelle empor, sie überspringen ellenweise den Fall, und machen ihren wunderbaren Weg weiter bis zum Wasserfall von Schaffhausen, und aus der Aare bis in den Brienzersee des Berner-Oberlandes. Gegenüber steigt der Felskegel Ostringen empor, so benannt nach dem Schlosse, das ehemals seinen Scheitel gekrönt hat. Zierlich rinnt jetzt das weiße Geäder des Mühlenbaches über die massiven Narben des Gesteins herunter. Von dieser Zwingburg entsprang vor vier Jahrhunderten Bürgi Küfer. Er ließ sich auf die alte Hollunderstaude herab, deren Nachwuchs noch heute in den Felsritzen steckt, und warf sich von da mit dem Muthe der Verzweiflung in den Strom. Er überschwamm ihn oder wurde von ihm ausgespieen ans sehnlich begehrte Schweizerufer; kurz, das Unglaubliche geschah: er kam heim in seine Vaterstadt Brugg an der Aare und meldete, wie ihn und viele seiner Mit-

bürger der grausame Thomas von Falkenstein in jenem Bergneste seit langem gefangen gehalten habe. (Vgl. Abthl. XII, No. 503.)

Weiter stromab folgen dann die Mittlere Spilen, der Grußen, der Fraß, der Brodel, das Gewild. Hier hat der Sturz seine andere Sage. Der Volksglaube hört an dieser Stelle den Geist eines Mädchens singen und pfeifen, sie soll einst ihr Kind hier in die Fluth geschleudert haben. Sie erscheint in der Tracht der Schwarzwälderinnen, daher heißt sie das Wäldermaidli und jener Strudel das Frauenloch. Wenn sie ihre weiße Schürze schwang, sahen die Schiffer hierin eine zuverlässige Warnung über nahebevorstehende Gefahr. Der Fall, der seinen Halbkreis durch die Wände beendigt hat, prallt hier mit solcher Gewalt ans Schweizerufer, daß es in ebenmäßigen architektonischen Formen ausgewaschen scheint, und nach Höhe und Farbe den Eindruck einer alten Arena macht. Da werden die Floßbäume ausgeworfen und man hat sie einzeln wieder in die Fluth hineinzuseilen, um sie ihren Handelsweg weiter zu schicken. Dieses Wasserbecken heißt die Todtenwag, im Volksmunde Tobenwag, urkundlich Tauwenwac, weil dasselbe für Alles im Strom zu Grund gegangene die Auswurfsstelle ist. So hatte auch der Schaffhauser-Fall im eilften Jahrhundert den gleichbedeutenden Beinamen Urwerf. Alle jene Hündchen und Kätzchen, die man wegen zu hohen Alters hier ersäufen will, sind an dieser Todtenwag stets wieder zum Vorschein gekommen, und haben manchmal noch früher als derjenige heimgefunden, der sie zum Tod bestimmt hatte. Denn hier ist die einzige Rettungsstelle aus diesem allgemeinen Grabe. Es mögen wohl jetzt noch der Knecht aus der benachbarten Antlespacher Mühle und jener Maurergeselle am Leben sein, welche im Jahre 1815 einen Weidling oberhalb der Brücke muthwilligerweise abgebunden hatten und auf ihm durch den Laufen herabgerissen wurden. Hier kamen sie beide lebendig heraus. Aber der Stadtrath ließ diese Gottesversucher nach Verdienst beglückwünschen; der Büttel mußte sie greifen, ihre Strafe war der Thurm und zwölf Hiebe. Der Strom wirft sich von jenseits zum Scharfen- oder Pfaffeneck hinüber, einer Felsenreihe, die bei hohem Wasserstand zur Insel wird. Der schmale Uferplatz mit allen Arten bunter Kiesel besät, heißt Badstube und sein Hintergrund Oelberg, ein angenehmer Schattenplatz im Hochsommer. Benachbart ist das Helloch. Der Strom wirft sich von jenseits zum Scharfen- oder Pfaffeneck hinüber, einer Felsenreihe, die bei hohem Wasserstande zur Insel wird. Prismatisch wie kantige Kriegsbauten springen die Wände vor und stoßen das Gewässer in einem Schock übereinander, so daß kein schnelles Abströmen möglich

Digitized by Google

ist. Deswegen wirbeln die Wellen schuppenartig zusammen, und gerinnen zum Gewebe eines Zwanghemdes, das jeden Gegenstand in seine magische Klemme nimmt. Noch ein Fels, die Linthi tritt hervor; noch ein Schlund, das Kaibenloch. Dann deuten schon die Namen Zurlachen, Holz- und Weißwag an, daß das Geklüfte wieder lichter und das Wasser ebener wird. Zwei Engländer haben diesen Punkt berüchtigt gemacht, der junge Lord Montague und sein Erzieher, die im vorigen Jahrhundert hieher kamen und alle Erzählung vornehm belächelten, welche sie über die Gefahren des Orts vernahmen. Sie, als Abkömmlinge unbezweifelter Seehelden, setzten ihre Kunst in Schwimmen und Rudern höher an, und giengen mit einem Unbekannten Wetten ein, den Lauffen befahren zu wollen. Am 9. Oktober 1793 unternahmen sie das Wagestück. Wirklich gelangten sie über alle Fälle bis zur Scharfen Ecke. So wie sie aber der Enge nahten, wurden sie vom Wirbel kopfüber gehoben; man sah von der Brücke aus, wie sie schwimmend noch zu entkommen suchten. Aber jener stockende Wellenkreis hielt sie fest, trieb sie um, und zog sie hinab. Am gleichen Tage, da hier der junge Lord ertrank, brannte seltsamer Weise zugleich sein Stammschloß Cowdraycastle in England ab. Als die Familie darauf Boten schickte, die Leichen der Unglücklichen heimzubringen, waren diese noch nicht aufgefunden. Jetzt liegen Beide auf dem Stadtkirchhofe.

Ein ähnliches Abenteuer mag hier in derselben einsylbigen Trockenheit nachfolgen, in welchem es das älteste Rathsbuch im Stadtarchive vom Jahre 1559 erzählt:

Wunder vnd ongleublich ding so sich im Louffen zudragen. Zu wissend, das Jerg sigenmüller, sonst genampt Küng, am mitwoch des achten tag Maiens vff dem Rhein in ein weydling schlaffend herab bitz fürnieder der deckten Bruggen gerunnen. alß er fürab kommen, ist er vom getöß des Louffen erwachet, hat sich vff das angesicht für sich nider gelegt vnd ein seil oder ären, so ongefar am weidling gewesen, vmb den lingken arm geschlagen, den weidling mit beiden armen vmbfasset vnd also durch den Louffen geflossen, einmal vntergangen, darnach fürnider gerunnen, im gewild in der Netzi zweimal vndergangen vnd beidemal lang vnder wasser gewesen, also das man sich seines todes verwegen. Ist aber wider herfür khomen vnd demnach zu Schäffingen gsund one alle verletzung gelendet worden vnd kein stund darüber nie kranck gewesen.

Die folgende Begebenheit stammt aus unserer eignen Gegenwart; sie soll hier mitgetheilt sein um zu zeigen, wie verschiedenartig sich die Menschen zu ihrer gemeinsamen und unabänderlichen Todesfahrt anzuschicken pflegen.

Digitized by Google

Am 18. Dezember 1850 kamen vier Männer aus dem badiſchen Orte Hauenſtein mit ihrem Floß den Rhein herab. Die Landung, die ſie oberhalb Klein-Laufenburg beabſichtigten, verwehrte ihnen ein heftig wehender Weſtwind, und jeder wiederholte Verſuch ſchlug fehl. Darüber treiben ſie immer weiter der allbekannten Gefahr entgegen. Sogleich wirft ihrer einer ein Floßbrett querhin ins Waſſer, ſtürzt ſich darauf und ſtoßend und ſchiebend erreicht er ſo noch das rechte Ufer. Indeſſen die drei Andern ihm nachblicken, wird der Floß wiederholt ins Fahrwaſſer getrieben, ſie rudern zwar aus Leibeskräften entgegen, aber unaufhaltſam kommen ſie bereits der Brücke zu. Von allen Seiten ſpringt eine Menge Menſchen rufend heran; aber aller Verſuch zu helfen, bleibt unnütz; ſie ſind zu weit im Strome drinnen, als daß die zugeworfenen Seile noch hinreichen könnten. Nun tritt lautloſe Stille ein. Zwei von den Flößern ſcheinen ſich ein Herz zu faſſen, ſie gehen prüfend auf den Balken hin und her und ſuchen Vorkehrungen gegen das Unvermeidliche. Der Dritte allein ſteht theilnahmslos in der Mitte, nur mit ſeinem Entſetzen beſchäftigt; zuletzt ſinkt er in die Kniee und faltet die Hände. Inzwiſchen haben ſeine beiden Kameraden ihre Bündel Seile eilig aufgerollt und binden und ſchnüren ſich an die ſtärkſten Floßbäume feſt. Jetzt kommen ſie zum Sturz; er begräbt den Floß, zerbricht ihn und wirft ihn ſtückweiſe wieder empor. Mit einem Theile des Holzes werden die Zwei an ihren Stricken feſtgehalten und in die Todtenwag 'geſchleudert. Hier zieht man ſie gerettet aus dem Waſſer, der Dritte bleibt unter den Wellen verſchwunden.

Wenn daher irgend einmal ein hoher fürſtlicher Beſuch dem Städtchen Laufenburg zu Theil wurde, ſo erkannte der Stadtmagiſtrat ganz richtig, wie man eine ſo ſeltene Beehrung den hohen Herrſchaften durchaus nicht beſſer verdanken könne, als indem man ihnen die Uebermacht und die Gefahren des Laufen recht eindringlich erſcheinen ließe; und hiebei erwies man ſich hier häufig noch um ein Gutes erfinderiſcher, als es den fürſtlichen Reiſe-Intendanten wohl ſelber beigekommen wäre. Als der Kaiſer Franz von Oeſterreich und einige Jahre darauf auch ſeine Tochter Marie Luiſe hier durchreiste, bot man wirklich alle Künſte und Erfindungen auf, die der wilde Laufen auf einen Augenblick duldet, um ihn recht prächtig und mächtig zu zeigen; zugleich gab ſich damit auch die Anhänglichkeit der Bürger an das alte Kaiſerhaus kund, zu deſſen Vor- und Erblanden der Ort ſo lange gehört hatte. Schon auf der Rheinbrücke mußten vielerlei Springbrunnen durch Triumphbogen emporſteigen und zierlich über das Geländer in den Strom hinabflattern. Alsdann ließ man

Digitized by Google

mehrere bewimpelte Kähne ledig den Strudel hinunter. Gesellig zogen sie zusammen heran, sprangen wie elastische Bälle lustig von Kamm zu Kamm, tauchten unter, wurden vom nächsten Sturz wieder emporgestellt, schlugen um, verschwanden und zerschellten endlich am unvermeidlichen Ziel. Mächtiger aber erschien darauf desselben Weges ein zweistößiger Floß. Ein solcher ist aus doppelt aneinander gestoßenen Längenbäumen gezimmert, er hat also die Länge zweier Flöße und gewinnt in seiner mittleren Zusammenfügung eine Art großgliedrigen Gelenkes. Durch dieses macht er dann seine scheinbaren Selbstbewegungen, wenn er über abschüssigen Wasserfluthungen mit dem Sturze zur Tiefe geht. Wo beide Felsufer so nahe zusammenrücken, daß der ganze Sturz seiner Breite nach einen gediegenen Scheitel bildet, aus dem keine Welle einzeln abzufließen vermag, da kam der Floß mit seinem wehenden Tannenschmuck, mit seinen sich schwingenden Buchenkränzen ebenmäßig einher geschwommen. Jetzt fiengen die vier langen Ruder an seinen vier Enden an, einen ungeordnetern Takt zu schlagen, je nachdem die Strömungen verschiedenartig wurden, in die ein jedes Ruderblatt absichtslos eingriff. Noch confuser aber erschienen die Bewegungen von vier lebensgroßen Männerpuppen in Schwarzwäldertracht. Sie waren auf den vier Floßseiten aufgestellt, jede mit ihren beweglichen Armen an einen Ruderbaum festgebunden. Je entgegengesetztere Wogen ins einzelne Ruder spielten, um so eigensinniger, um so lebendiger wurde der Eifer der daran gefesselten Figur, um so rastloser schien sie sich abzuarbeiten. Bald vorgebeugt am Ruder stoßend, bald weit sich zurücklegend, um neu zum Zuge auszuholen, schien sich jeder aus allen Kräften nach den Handgriffen seiner Zunft zu bemühen und auszeichnen zu wollen. Das Gelächter der Zuschauer wuchs, wenn der Zugwind dem einen die lange rothe Weste lüftete, dem andern den Strohhut zu frühzeitig vom Kopfe riß, oder sein eignes Ruder den Dritten so überwarf, daß er die rothstrümpfigen Füße gen Himmel streckte. Nun aber hoben sich die starkgefügten Balken wie Hände und Füße eines Ertrinkenden; nun drückte der ganze Strom nach, hob und unterlief den Floß, einen Augenblick schien er ihn geradeauf stellen zu wollen, dann warf er ihn unbarmherzig aufs Gesicht. Nichts hörte man von seinem Krachen und Knirschen, begraben war er mit all seinem Bänder-, Guirlanden- und Fahnenschmuck. Gleich darauf bedeckte ein Hundert einzelner Bäume, gleich hundert gehörnten Narwalfischen, wieder die Fläche, sie zerstießen sich die Köpfe, rannten blind an die Klippen und warfen sich von allen Seiten zersplittert ans Land.

Spielen ist keine Kunst, aber Aufhören. Mit diesem Sprichwort

hat man seit alter Zeit die launenhaften Musikanten gezeichnet, welche ungefällig und stockend sich geberden, wenn sie ein Stücklein beginnen sollen, einmal aber in den Zug gerathend zur Ermüdung der Zuhörer kein Ende mehr finden. Einen Laufenburger Spielmann pflegte man gleichfalls damit an seine komische Wasserfahrt zu erinnern und brachte ihn dabei oft nicht wenig in Harnisch. Es ist dies eine neue Arionsgeschichte aus dem Aargau, welche sich folgendermaßen verhält.

Johannes Feldmann stammte aus dem Schwarzwalde, kam als Geiger nach Laufenburg, und als da seine Töne das Herz der Magdalena Straubhaar bewegt hatten, gewann er ihre Hand und damit den Rechtstitel eines Stadt-Hintersaßen. Jetzt sollte er auch des neuen Amtes warten, das ihm damit offen geworden war; nämlich beim Hochamte in der Kirche den Tusch zu blasen und mit allen Orgelregistern auf einmal zu celebriren. Allein man sagt, ehe der Spielmann die neue Geige stimmt, macht er noch einen Tanz auf der alten, und so zog auch Feldmann immer noch lieber den Kirchweihen als den Kirchen nach. Schon einmal war ihm dies auf seinen Kreuz- und Querzügen sehr übel bekommen, als er nämlich des Nachts einmal im Walde auf eine Gesellschaft vornehmer Herren und Damen getroffen war, die schmausend und zechend an einer Tafel saßen. Sie nöthigten ihn, ihnen auf der Stelle aufzugeigen. Dieses Begehren von so hochadeligen Leuten, noch dazu an einem so unziemlichen Waldplatze war ihm sehr befremdlich. Weil sie aber mit Befehl und Versprechen nicht nachließen, so machte er aus der Noth eine Tugend, und geigte stundenlang drauf los. Endlich wollte er heim zu Bette, jedoch die Gesellschaft hatte sich noch nicht satt getanzt und verlangte einen neuen Walzer. Er mußte abermals gehorchen, aber pfiffig wie ein Musikante allezeit ist, stimmte er ihnen jetzt den Englischen Gruß an. Im gleichen Augenblicke schnurrten alle Tänzer in die Luft, und statt an einer wohlbesetzten Tafel fand sich Feldmann unter dem Galgen auf dem Kaistenfelde.*) Als er daheim den Grund seines langen Ausbleibens angeben sollte und von dieser Geschichte zu plaudern begann, entlief ihm sein Weib und war um kein Gut der Welt wieder zu ihm zu bringen. Jetzt sind's gegen achtzig Jahre, daß er in Etzgen aufspielte, einem Dorfe auf der Aargauer-Rheinseite. Eben

*) Knaben, welche die Brockenfahrt der Hexen mitmachen, werden daselbst gezwungen, zum Tanze aufzublasen, und erbitten sich's zuletzt zum Lohne, die erhaltene Schalmei mitnehmen zu dürfen. Aber sowie sie vom Berge wieder herunter sind, ist die Schalmei nur eine alte Katze, und statt des Mundstückes hatten sie derweilen einen Katzenschwanz kurz und klein gekaut. Pröhle, Unterharz. Sag. No. 311.

Digitized by Google

war's Pfingsten, und Wein gab's für die durstige Seele genug. Nachts beim Heimgehen schien ihm der Einfall besonders klug, den nächsten Weidling am Ufer abzulösen und darauf die paar Wegstunden nach Laufenburg heimzufahren. Er gab dem Schiffchen einen Stoß, sprang hinein und überließ sich dem gemüthlichen Zuge der Wellen; bald auch that der gute Markgräflerwein seine Wirkung, Feldmann nickte ein und entschlief. Als er bei Stadenhausen wieder erwachte, fand er es sehr gerathen, alsbald zu landen. Aber jetzt erst bemerkte er, daß er in einem ruderlosen Kahne sitze und nichts anderes bei sich habe als seine Geige. Zugleich entsann er sich mit Schrecken, daß es gerade Pfingsten sei und also eben diejenige Zeit, da der Strom seine größte Wassermasse bekommt und der Laufen am tobendsten ist. Was aber half jetzt alles Nachdenken? Pfeilgerade und mitten im Zuge schwamm der Nachen gegen die Stadt heran. Da war es überall finster, keine Seele am Ufer, kein einziges Licht in allen den Fenstern, die gegen den Fluß herabgehen. Erbärmlich rief er um Hilfe, wer aber hätte ihn hören können? Nur der Pfarrer Gretler war zufällig aufgestanden, er meinte drunten am Hause des Hans Haasen vorbei eine händeringende Gestalt am Wasser vorbeikommen zu sehen und ahnete Unglück; und da hier keine Hilfe mehr möglich ist, so betete er für den Unbekannten, empfahl ihn der Gewalt Gottes und ertheilte ihm von Herzen seine priesterliche Absolution. Jetzt stieß drunten der Weidling ans steinerne Brückenjoch und war in zwei Hälften zerschellt; auf der einen hielt sich Feldmann und fort gieng's hinunter den Laufen. Gerade neben der großen Hauptwelle kam er vorbei, vorbei am Scharfen Eck, fuhr bei der Todtenwag an und wurde hier so unversehrt ausgeworfen, daß sein halber Weidling und die Geige neben ihm zusammen auf dem Gesteine lagen. Die Betäubung wich; an den aufgehäuften Floßbäumen erkannte er die Oertlichkeit schnell; jetzt war er daheim und nüchtern dazu. Also nahm er seine Geige, stieg über die Balken durch die Felsen hinauf bis zu des Sulzers Wag, und weil hier das erste Wirthshaus stand, so gieng er nicht weiter. Er klopfte die Leute heraus, erzählte ihnen seine Geschichte und trank eine halbe Maß Wein dazu. So hat er den Namen des Laufengeigers bekommen. Jedesmal, so oft er wieder zu tief ins Glas guckte, sagten dann die Leute neckend: nicht wahr, Laufengeigerlein, aufspielen ist keine Kunst, aber Aufhören!

Dies Sprichwort paßt aber auch auf den Erzähler dieser Geschichte, und vom Werthe jeder guten Hausregel hinlänglich überzeugt, eilt auch er dem Ende zu. Es wird dies wohl die allererste Erzählung

Digitized by Google

sein, die aus dem kleinen Laufenburg unter die Lesewelt kommt; wie wenn es auch die allerletzte aus diesem Städtchen wäre? Denn wie lange wohl wird es von seinen paar Alterthümern noch zu reden haben, da jetzt eben Eisenbahn, Telegraph und Gaslicht zusammen daran gehen, alle Schatten der Vorzeit aus dem stillen Orte wegzuzünden. Ein Hundert Arbeiter sprengt dort bereits die Stromfelsen, ein anderes Hundert ebnet die Klüfte aus und durchbohrt der Länge nach den ganzen Berg unter dem Städtchen weg. Wenn dann dem ausgeebneten Rhein seine Löwenstimme verfällt, wenn statt seiner nur noch die Bubenstimme der Lokomotive gellt, wenn sodann der Menschenverstand hier nur noch auf Papierspekulationen vorbeireist und selber wasserklarer geworden ist als der ganze Strom — da wird man achselzuckend diese Gegend messen, abschätzig den vollen Beutel dagegen halten und fragen, wie theuer? Gut denn, Wie theuer? so soll diese jetzige Schlußerzählung heißen, in welcher der erste Vorposten der Neuzeit am Laufenburger-Rheinfall erschienen ist.

Ein belgischer Spekulant hatte in den Thälern von Ob- und Unterwalden Hunderte jener durch ihre Größe genugsam bekannten Nußbäume aufgekauft, die dorten das Staunen der Reisenden erregen, wenn man sie mitten in den massenhaften Verhältnissen der Gebirgsgegend von weitem schon wie einen eignen landschaftlichen Punkt hervorragen sieht. Das gediegene Holz dieser Stämme ließ er durch die gewandten Holzschnitzer des Oberlandes frachtenweise zu lauter Gewehrschäften verarbeiten; es sind nachher jene Ordonanzbüchsen daraus geworden, mit welchen man in der neuesten Zeit die Schützenabtheilungen des englischen Heeres bewaffnet hat. Die rascheste Fertigung und Ablieferung der Waare versprach dem Unternehmer einen bedeutenden Vortheil abzuwerfen, und so handelte es sich beim Transport vor Allem darum, die öftere Umladung zu vermeiden, um die saubere Arbeit keiner Beschädigung auszusetzen, vielmehr in kürzester Frist die Meeresküste damit zu erreichen und vor allen Mitbewerbern zuerst auf dem Markte einzutreffen. Dieser voraussichtliche Handelsgewinnst verlockte den Kaufmann, diesmal ausschließlich den Wassertransport zu wählen, ein Weg, der im Hochlande freilich der raschere, aber auch weitaus der gefährlichere ist. Von dem Gebirgsstocke des Brünig und Pilatus hinweg bis in den Hafen von Roterdam sollte die Waare durchaus nicht auf die Achse kommen; dagegen war der Plan, dieselbe auf starkgebohlten weiten Schiffen durch die vielerlei Flüsse, Seen und Kanäle der innern Schweiz, über Aare und Reuß heraus in den Rhein zu bringen und über die oberen Stromschnellen dieses Stromes den Niederungen zuzuführen. Vom Brienzer-See aus

Digitized by Google

im Berner-Oberlande würde die eine Abtheilung dieser eigens gezimmerten Boote auf der Aare herangekommen sein; die andere sollte vom Stanzergestade aus über den Vierwaldstätter-See und durch die Reuß in den Rhein fahren. Beide Abtheilungen mußten in Laufenburg zusammentreffen und von dieser ersten Station ihrer Rheinfahrt an, vereint stromab gehen. So hoffte der Kaufmann seinen neuen Handelsartikel schnell, wohlerhalten und noch dazu billig an die See zu schaffen, und durfte sich dann auf dem englischen Markte ein hohes Angebot versprechen. Im Juli 1853 erschien das erste dieser neuen Fahrzeuge wirklich oberhalb Laufenburg, hier jedoch machte der hohe Wasserstand, den um diese Sommerzeit der Rhein durch die schmelzenden Schneeberge gewöhnlich bekommt, alle sorgfältigen Vorberechnungen unseres Kaufmannes unerwartet zu Schanden. Es war unmöglich jetzt mit beladenem Schiffe den Laufen zu durchfahren, aber nicht minder unmöglich war's diesmal, das ausgeladene Schiff, wie man es zu anderer Zeit hier thut, an Tauen über den Strudel hinabzulassen. Gleichwohl versuchte der fremde Steuermann des Schiffes, ein Belgier, wechselweise das eine und das andere durchzusetzen, und wendete sich mit seinen Anerbietungen an alle Schichten der Bevölkerung, an Kaufleute, Fuhrleute, Flößer und Spediteure. Nun ist der Schwarzwälder, der jene Uferstrecken bewohnt, als Handarbeiter stark und rauh, als Schiffsmann waghalsig, als Speculant unternehmungslustig; Niemand aber fand sich jetzt, der bei solchem Hochwasser für die Leitung des Schiffes oder die Sicherheit der Ladung hätte einstehen mögen. Die hohen Löhne und Procente, von denen des Belgiers Mund überfloß, brachten bei den erfahrenen Leuten ein bloßes Lächeln hervor. Also entschloß sich der Mann zur Umladung seiner Fracht. Auf der Fuhre umgiengen dann die Gewehrschäfte diese kurze Rheinstrecke mit ihrer Stromschnelle, um in den unterhalb der Stadt gelegenen Dörfern das Schiff wieder zu treffen und hier abermals eingenommen zu werden. Allein wie nun dieses selber nachbringen, dem durchaus keine andere Bahn übrig blieb, als das tobende Gewässer? Sogleich versuchte auch der Eigenthümer alle Mittel und Wege bei den einheimischen Schiffsleuten, das Fahrzeug schleunig nachschaffen zu lassen. Alle waren höchst bereitwillig, es in den nächsten Tagen hinabzuseilen, wenn das Wasser wieder gefallen sein würde. Jetzt aber, erklärten sie zugleich, da der Fluß so bedrohlich noch an alle diejenigen Klippen hinanreiche oder gar über sie wegbrause, auf denen man bei solcher Arbeit Stand fassen müsse, jetzt sei der Stoß der Woge ganz unberechenbar; Tau, Kette oder Schalte bleibe dagegen nutzlos in der entschlossensten Hand, alle



Digitized by Google

Erfahrung lasse da im Stiche und nichts sei gewiß, als daß der Versuch mit dem Verlust dieses großen und theuern Schiffes bezahlt würde. Allein wo überzeugen Vernunftgründe und Erfahrungen jemals einen Menschen, wenn sie mit seinem augenblicklichen Vortheil im Widerspruch stehen; eher sinnt er darauf, die Vernunft selber aus dem Wege zu räumen. Nicht anders dachte auch der leidenschaftliche Belgier, und die Gegengründe, die er sich selbst vorhielt, lauteten allerdings wichtig genug. An diesem Tage noch und an keinem späteren sollte diese Rheinstrecke zurückgelegt sein, so war seine Dienstvorschrift; schon am nächstfolgenden Tage war hier das Eintreffen des zweiten Frachtschiffes gleicher Art zu erwarten, und der nämliche Zeitverlust von heute würde sich dann wiederholen und immer höher steigern. Auch nur auf diesen Schiffen, von ihm selber gelenkt und beaufsichtigt, nicht aber auf mehreren Nachen, die man fremden und unbotmäßigen Fährleuten hätte anvertrauen müßen, sollte die Ladung fortgebracht werden, damit alles zusammen seebereit den Handelshafen erreiche. Es läßt sich errathen, an welchen Schlag Leute der eifrige Mann sich nun wendete, und welcherlei neue Hebel er bei ihnen in Bewegung setzte. Etliche Thaler Handgeld und manche Flasche Wein, dieselben geringfügigen Dinge, um welche der Arme überall bereit ist, die eigne Haut dran zu geben, wiederholten auch hier die alte Wunderthätigkeit. In einer entlegenen Schenke außerhalb des Städtchens ward den beliebigsten Floßknechten offene Tafel gehalten und das Unternehmen verabredet. Alle Verantwortlichkeit, die noch im Wege lag, übernahm der Fremde; er erlegte die Bußgelder gleich im Voraus, in die ein jeder Schiffmann wegen unbefugten Befahrens des Laufen verfällt wird. Obrigkeitliche Strafe aber war nicht zu befürchten, denn dieser Ort der Versammlung gehörte nicht in die schweizerische Gerichtsbarkeit, und die jenseitige Justiz hatte sich bisher der Strompolizei noch kaum in anderen als in bloßen Zollfällen angenommen. Den Gästen schwand eine Bedenklichkeit um die andere. Je öfter dagegen die Weinflasche neugefüllt auf dem Tische stand, und je häufiger der gastfreundschaftliche Fremde auf den klirrenden Geldgurt schlug, um so großartiger malte sich in den Köpfen der künftige Ruhm ab, der sich neben dem hübschen Taglohn zugleich verdienen ließ. Endlich war der Plan fertig, die Zeit drängte zum sofortigen Vollzug und die Gesellschaft brach auf. Von den vielen Durstigen, die bis jetzt beigestimmt hatten, verblieben dem Belgier zuletzt freilich nur Fünfe, die beherzt mit ihm sein in der Nähe liegendes Schiff bestiegen. Diese waren ihm genug. Die Uebrigen schlichen sich weg oder liefen zu allerhand angeblichen Hilfleistungen,

Digitized by Google

die noch vorbereitet werden sollten, ins Städtchen zurück. Hier hatten sie nichts eiligeres zu thun, als in allen Gassen und Schenken ihren Weinschwindel zu zeigen und das nahende Abenteuer zu verkünden. In einem so kleinen Orte bedarf es nicht mehr, um Alles auf einmal aus den Häusern zu locken. Der Belgier war hier seit den paar Stunden seines Aufenthaltes ohnedies schon etwas Augenfälliges geworden, nun maß er sich gar noch mit dem Strome, mit dieser Lebensader des Städtchens, mit dieser zweiten Allmende für jeden dortigen Bürger. Also bedeckten im nächsten Augenblicke schon, da die Kunde von dem Unternehmen sich verbreitete, Hunderte von Neugierigen die Brücke und beide Ufer. Alsbald kam auch das Schiff gegen den Ort herangeschwommen. Blos auf ihre Ruder und ihren Stern vertrauend standen die fünf Männer arbeitend drinnen, der Belgier lenkte das Steuer. Man rief ihnen von weitem warnend entgegen, winkte ihnen ab, deutete die jetzt noch mögliche Richtung an — umsonst. Hier ließ sich das Ufer schon nicht mehr gewinnen; nur der eine Weg der Gewalt war noch offen, welchen Wind und Wasser, wie zwei Riesengeschwister vereint, zusammen in die Tiefe wandeln. Das Rufen oben von dem Ufer her verfieng nichts und war nicht mehr zu hören, wo der Tod, alles überschallend, zu toben begann. Auch des Steuermanns Befehl im Schiffe drunten war vergeblich, die Fünfe hatten keine Zeit mehr auf ihn zu achten, sie sahen bereits hin in den Schlund des grundlosen Grabes, das der donnernde Fluß für sie aufgrub. Jeder ihrer richtiggeführten Ruderschläge war ein Schritt rascher zu diesem Tode, und zugleich ein Schritt, rascher ihm zu entrinnen; denn auch jedes Verzagen und Rasten brachte augenblicklichen Untergang. Nichts anderes war zu thun, als allein das voraus Verabredete zu thun und unaufhörlich wieder zu thun, sonst war an kein Entkommen zu denken. Aber bis jetzt arbeiteten die Männer so wacker zusammen, daß man ihren vorberathenen Plan wohl gewahren konnte. Das Schiff suchte der Uebergewalt der Mittelströmung ferne zu bleiben und fuhr deshalb scharf gegen die linke Seite hin. Hier war es bedroht, von dem stahlharten Zug des Wassers an ein breites Steinjoch geworfen und zerschmettert zu werden; doch die Fünfe griffen rechtzeitig mit gleichem Ruderschlage aus, und mit einem einzigen Ruck hoben sie sich pfeilgeschwind gegen das weniger gefährliche linke Ufer hinüber. Hier fließt ein schmaler Streifen befahrbaren Wassers, freilich von Schaum- und Staubregen ganz verhüllt und nur dem Auge des eingebornen Fährmannes erkennbar; dieser Streifen muß gewonnen und behauptet werden, um nicht seitwärts unter die Felsblöcke hinein zu gerathen, die alles zer-

Digitized by Google

malmen, und um nicht nach der Mitte hin auf den Wasserkrater loszustürzen, der alles versenkt. Bis hieher hatten sie sich gegen die Willkür des Elementes behauptet, aber von dieser Stelle aus vermochte das Schiff den Weg nicht mehr eigenmächtig zu halten; es schoß dem grausigen Strudel zu und das Unvermeidliche begann. Schon bevor die Sprühwellen es ganz überschütteten, sah man noch, wie die Fünfe drinnen unter den furchtbaren Stößen wie Puppen zu Boden geworfen lagen. Wüthend wurde es nach vornen und nach hinten aufgestellt, aufgeschleudert, umgewirbelt. Es war, als ob es ins Lager eines brüllenden Stieres hinabgerathen wäre, der es auf seine Hörner nahm, in die Lüfte schmiß und ehe es noch in die Grube zurückstürzen konnte, es schon wieder aufgefangen hatte zu neuen Todesstößen. Nur einer gab sich nicht auf in diesem Tumulte, das war der seegewohnte Belgier, er hielt Stand. Sein starkgezimmertes Steuer ließ ihn nicht umsinken, wenn die Windstöße hereinbrachen und die Schlagwelle über ihn weggieng. Er hatte die Kräfte abzuschätzen gelernt, über die er in diesem Kampfe zu verfügen, und denen er zugleich zu trotzen hatte. An dem Wasserrande des Kraters noch, an dem man jetzt schwebte, suchte er mit entschlossener Berechnung sein Fahrwasser zusammen; statt hier überworfen und versenkt zu werden, mußte dieser Rand des Verderbens selber dienen, um auf ihm aus dem Verderben hinauszustürzen. Rechtzeitig drängte er sich zwischen den ringenden Gewalten hindurch, er ersah den Moment, den unter sich selber entzweiten Kämpfern zu entschlüpfen. Geistesgegenwart und Glück verließen ihn nicht, so landete er seine Leute unten im Schäffligen. Kaum war das Schiff hinter den letzten Felsenvorsprüngen den Zuschauern aus dem Auge, so lief die Volksmenge am Ufer hinab nach Schäffligen, um dorten das weitere Schicksal der Waghälse mit anzusehen. Mit Freudengeschrei, mit Bravorufen kam Alles heran; man wollte den Kühnen die Hand schütteln, sie fragen und wieder befragen; herzliche Theilnahme und brennende Neugier stritt sich ums Wort. Sie Alle erhielten keine Antwort, keine Erwiederung. Da lag die Mannschaft zusammen im Grase herum und schien nichts anderes zu begehren, als Ruhe, als Stille, als Alleinsein. Keiner mochte nach den Begrüßenden hinhören und aufblicken; er konnte des wiedergewonnenen Lebens noch nicht froh sein, das Rollen des Todes brauste ihm mitten auf der Wiese noch im Ohre fort, und er zehrte nur an dem noch übermächtigen Schrecken. Hier lernte sich's recht begreifen, wie ganz anders alle wirkliche Erfahrung in unserer Seele sich empfindet, als die im voraus darüber gemachten Vorstellungen es meinen. Das Ausgestandene war noch

Digitized by Google

unendliche Male größer gewesen, als alle leichtsinnigen Vermessenheiten dieser Leute zusammen. Jubelnd und Hüte schwingend waren sie vor einer Viertelstunde ins Schiff getreten, Jünglinge an Vorsatz und Trotz; nun lagen sie stumm mit müder und gealterter Seele da und begehrten nicht vom Platze. Die herbeigekommenen Städter fanden diese Stimmung der Mannschaft unerklärlich und begannen alsbald ihre grobsinnigen, argwöhnischen Deutungen. Dieser sei noch trunken, hieß es, vom starken Markgräflerwein, der sei vor Angst wie todt, der andere lasse von jeher alles eindruckslos an seinem kalten Herzen vorbei. So lautete das Urtheil ahnungsleerer Weltkinder überall und stets, ob sie nun in der Oede einer winkeligen Kleinstadt aufwachsen, oder alle Ausstellungs-Orgeln der Welt zusammen in Sydenham schlagen hören; sie deuten die Spuren des Allgewaltigen, die sich im Herzen eines Andern gewahren lassen, nach den paar Stirnrunzeln ihres eignen langweiligen Gesichtes. Diese Schiffer hatten mit dem Tode gespielt, und er, er hatte sie zuletzt mit einander zur gefährlichen Bühne hinaus geworfen. Noch saß er ihnen am Nacken und lag ihnen in den zerschlagenen Gliedern; noch blickte er ihnen aus den Augen — da wollten die herbeigelaufenen Zuschauer schon eine lamentable Comödie gesticulirt sehen, schon ein Mienen- und Geberdenspiel daraus gemacht sehen.

Jetzt kamen neue Schaaren herbei, und ihre mitgebrachten Nachrichten veränderten sogleich die Scene. Sie meldeten, so eben sei das zweite Frachtschiff des Kaufmanns oberhalb der Stadt eingetroffen, es sei von derselben Stärke wie das hier liegende und wolle gleichfalls alsbald den Strom herab. Diese Kunde brachte die Mannschaft wieder in ihre ursprüngliche Stimmung; denn Art läßt nicht von Art, eine rauhe Schiffernatur verweilt nicht lange in Contemplationen. Sie machten sich zusammen auf und giengen dem Städtchen zu. Sogleich wurde das neue Schiff entfrachtet. Durch öffentliche Kundmachung ließ gleichzeitig der Magistrat Allen das Mitfahren strenge verbieten; ohnedies aber begehrte Niemand mehr das Abenteuer zu wiederholen. So ließ man denn am andern Tage das große starke Fahrzeug leer und ledig durch den Laufen hinabschwimmen. Es kam bis zum Strudel, da brach's mitten entzwei.

Digitized by Google

# XII. Geſchichtliche Sagen.

## (Kaiſerzeit, Mordnächte, Schwedenzeit, Peſtzeit.)

### 497. Erbauung der Habsburg.

Die ſelben graufen (von Habspurg) waurend von Rom in diz land komen und wârent von guotem und altem geſchlecht zuo Rom, und warent dennocht nit als rich und als mächtig, als ſi aber adenlich mit ir taten wauren. Ez fuogt ſich, daz ir ainer von diſem geſchlecht gaistlich was, und kam von Rom in diz land und ward biſchof zuo Strazburg, wan daz ſelbe bistuom in den ziten in grozen eren was, und bracht alſo ſinen bruoder mit im heruz. Derſelbe herre was ain hübſch adenlich, weltlich man, daz in manniglich in dem lande lieb hate, edel und gepuren. Alſo fuogt ſich ouch ains mauls, daz der ſelbe jungherre rait jagen und baizen in dem lande überal und rait mit andern edlen biz in daz Ergöu. Alſo warf der jungherre ſin federſpil nauch ainem fogel und wolt alſo ſin federſpil hetzen; das federſpil gieng uf in die lüft, daz ir kainer wiste, war es komen was. Alſo ſuochten ſi den ganzen tag und kunden im nit nauchkomen. Der herre liez nit ab, er wolt ſin federſpil ſuochen. alſo morgens fundent ſie den habich uf ainem hübſchen büchel. der herre was fro und geviel im der büchel vaſt wol und het in wol geluſt da ain veſte zu machen, und ſprach zu den edlen und ſinen dienern: „Iſt ez hie nit ain ganzer luſt? möcht ich ez an minem pruoder und herren han, ich wölt ain hus hie machen.“ Alſo morndes braucht er ez an den biſchof von Strauzburg und ſait im von der hübſchen gelegenhait und bat in, daz er im hulfe, ſo wölt er ain hübſch ſchloz machen. der biſchof was berait ſinem bruoder zu helfen, und was im lieb, daz ſin bruoder luſt zuo dem lande hate, wan er in dar in bracht hate. Alſo huob der jung herre an ain hus ze machen und namt daz Habspurg, Habichesburc, und gewan er den namen darnach, wan er hate vor ainen welſchen namen, und ward dar umb gehaizen von Habspurg, wan er den habich uf dem ſelben burgſtal funden hate. Alſo half der biſchof ſinem bruoder vaſt und gab im groz guot, wan er was mächtig, und alſo tailt der von Habspurg daz guot under

Digitized by Google

alle herren, ritter und knechte, die im land da umb geſezzen warent, daz ſi alle ſin diener und friunde waerint und gehorſam zu ſinen ſachen, und lait alſo den minſten tail an ſin veſte, die er buwet, und an ſin ſelbes nuz. Eins mauls fuogt ſich, daz der biſchof von Strauzburg wolt ſechen, waz ſin bruoder gebuwen het, und kam alſo mit vil herſchaft zuo ſinem bruoder gen Habspurg. Do der biſchof die veſti ſach, da ſprach er: Bruoder, mich dunkt, du habeſt noch gar wenig gebuwen der hilf und ich dir getaun han. Der von Habspurg antwort im: Herre und bruoder, morn ſüllent ir erſt recht ſechen den buw, den ich getaun han, — wan er hate haimlich nach allen ſinen dienern und friunden geſchicket. Morndes, do die herren uf ſtuonden, do lag daz feld foll folkes und haten ir gezelt uf geſchlagen, herren, ritter und knechte. Der biſchof wônde, er wär belegen. „Nain, herre, ſprach der von Habspurg, daz ſind min muren, die ich gebuwen hab; ſwie guot min hus wär, daz hulf mich niut, het ich kain friund in dem lande: die ſind mir beholfen zuo allen minen noeten. Ich bin frömd im lande, nu hab ich mir ſelbe niwan friund gemacht."

Das älteſte deutſche Jahrbuch der Stadt Zürich, bis zum Jahre 1336. Zürch. Antiquar. Mittheil. II, S. 56.

Ueber die Entſtehung dieſer Sage vgl. Bd. 1, 174: Geiſtermauer. Solche eiſerne Mauern zeigte Landgraf Ludwig in Naumburg dem Kaiſer Rothbart. Grimm, DS. 2, 552. Sparta ſollte keine anderen Mauern als die Bruſt ſeiner Männer haben, und Stuttgarts Bürger widerſtehen ebenſo, Bruſt an Bruſt zuſammengerückt, fechtend dem Feinde 1286.

Der Berg hatte — meint die Sage — vorher „einen welſchen Namen", gleichwie die Grafen von Habsburg ſelbſt aus Rom ſtammen und Welſche geweſen ſein ſollen. Ihre römiſche Abkunft entſprang aber aus ihrem Stammſitze; denn ſicher iſt's, daß dieſer aus Trümmern einer römiſchen Specula entſtand, die zu den Fortifikationen von Vindoniſſa gehört hatte. Der Berg dagegen führte früher wie heute den Namen Wülpelsberg und lehnt ſich damit an unſre deutſche Heldenſage. Das Lied von Alexander (Diemer, deutſche Gedichte 1849. S. 220, 20) läßt die Schlacht, da Hiltens Vater fällt, auf dem Wolfenwerde geſchehen. Auf dieſen „Wulpenwerd und Wulpenſand" verſetzt ſich auch das Epos Gudrun, und während Beowulfs- und Hygelags Halskette in ſolchem Handgemenge verloren geht, wird eine ſolche hier auf dem Wulpenberge (Goldkette zu Habsburg) wiedergefunden. Aber zum Unheile des Habsburger-Geſchlechts; denn dieſes verfällt durch eine Kette dem Tode, wie durch den Gürtel und den Ring Andvaranaut auch der Stamm der Nibelungen. Die Sage vom Halskettchen und Schwanenringe iſt behandelt im altfranzöſ. chevalier au cigne, mhd. erzählt in Haupts und Hoffmanns altd. Bl. 1, 128 (Grimms deutſch. Sag. 2, 291 und Hausmärchen 3, 87), und dieſelbe kehrt wieder in der Falkenſteiniſchen Geſchlechtsſage: Bechſtein, DSagb. No. 406. Sie erinnert an die Stelle des Volksliedes (bei Uhland VlksL. pag. 300) vom Schloß in Oeſterreich:

Digitized by Google

Der Knabe, der muß ſterben,
Er trägt von Silber eine Kette am Hals,
Die bringt ihn um ſein Leben.

In der alten Kapelle von Seelisberg am Vierwaldſtätter-See hängt ein Ring an einer Kette; er ſtammt von einem Herrenſöhnlein, das mit ihm auf die Welt gekommen war, der Ring wuchs mit dem Knaben. Hier auf der Wallfahrt zur Maria Im Walde beteten Eltern und Kind, und mit metallenem Klang fiel er unzerbrochen dem Knaben vom Halſe. Henne, Schweiz.Bl. 1832, 2te Hälfte.

## 498. Die Goldkette zu Habsburg.

Ein armer Hirte weidete auf den Abhängen der Habsburg und bohrte mit ſeinem Stabe zufällig einen Goldklumpen aus dem Boden heraus. Als der Graf des Schloſſes davon erfuhr, hatte der Hirte den Klumpen ſchon einem Berner-Goldſchmied verhandelt, dieſer aber ſchon eine Halskette daraus gemacht. Der arme Hirte wurde darüber, bis man dies alles erfahren konnte, zu Tode gefoltert. Seitdem kam Unglück über die Familie dieſer Grafenburg nnd immer iſt nachher der Schloß-Erbe unmündig weggeſtorben.

## 499. Rudolf v. Habsburg auf der Jagd.

Ez fuogt ſich ains mauls, daz ain junger grauf von Habspurg mit ſinem diener rait baizen und jagen ie ainer ouwe. Do hort er ain ſchellen, glich als man dem ſacrament vor treit. Alſo rait er ernſtlich dem getoen nach, und wolt ie luogen, waz daz wäre, daz er alſo daz glöggelin in der wite hort: do fand er ainen prieſter mit dem ſacrament an ainem wazzer, und hate der prieſter daz ſacrament vor im geſtelt und hate ſich alſo nider geſetzet und wolte ſin ſchuoh uz ziechen und alſo mit dem ſacrament durch den bach waten. Do der herre den prieſter ſach, do fragt er in, waz ſin geverte wäre, oder waz er da in der wildi täte? Der prieſter antwort im und ſprach: Ich trag daz hailig ſacrament und wolt zuo ainem ſiechen menſchen, daz in grozer krancheit lit, und alſo den nächſten weg gaun, dar umb daz der kranc menſch nit verſumt wurd; ſo bin ich an diſen bach komen, ſo vind ich kain ſteg und muoz alſo mit dem ſacrament waten." Alſo fiel der von Habspurg von ſinem pfärd nider uf ſiniu knie und bat got ſiner gnauden und hiez den prieſter mit dem ſacrament uf ſin pfärd ſitzen und ſin ſachen nach ſiner notturft werben. Do nu der prieſter wider haim kam, do wolt er dem jungen herren ſin pfärd wider bringen, und hate daz für ein groze gnaud und tugent von dem von Habspurg; alſo ſprach der von Habspurg: „Daz

Digitized by Google

welle got nit, daz ich oder miner diener ainer mit wizzen daz pfärd iemer mer überſchrite, daz minen herren und ſchöpfer getragen haut; bedunket iuch, daz ir ez mit got und recht nit haben mügent, ſo ordnot ez zuo gotes dienſte, wan ich han ez dem geben, von dem ich lib, ſele êr und guot zuo lechen hab." Der prieſter ſprach „Nu müez got êr und wirdigkait hie in zît und dört in ewigkait an iuch legen!" Diſer prieſter was wis und wol gelert und ward darnach des biſchofs von Meinze kanzler und gar gewaltig. Diſer prieſter ſeite etwa dicke dem biſchof von Meinze und andern herren des graufen von Habspurg fromkait und redlikait und von ſinen adenlichen tauten, und braucht alſo in die fürſten, daz die fürſten dem von Habspurg nach fragten und in zuo ainem Römiſchen künge erwalten.

Das älteſte deutſche Jahrbuch der Stadt Zürich, bis zum Jahre 1336. — Zürch. Antiquar. Mittheil. II, S. 57.

Unabhängig von dieſer unſerer Quelle erzählt über die gleiche Begebenheit die Königsfelder Kloſterchronik, welche kurz nach der Königin Agnes Tod geſchrieben, jedoch aus dem mhd. Gedicht, Leben der hl. Eliſabeth, compilirt iſt. Dieſe Chronik, abgedruckt bei Gerbert Tapographia, 2. beruft ſich bezüglich unſrer Sage auf noch frühere Handſchriften, die von dieſer Sage handeln: „man liſt, daz er einsmals mit ſinem volk dur ein waſſer riten wolt." pag. 163. Sie weiß aber dabei nichts vom Weidwerke, auf dem ſich Rudolf eben damals befunden haben ſoll. Tſchudi, der dieſelbe für ſeine Chronik benützt und weiter ausmalt, iſt verlegen, wie er dem jagenden Rudolf, wenn derſelbe nun ſein Roß an den Prieſter verſchenkt hat, ohne Roß hernach weiter helfen ſoll, und ſetzt daher hinzu: „bald kam der Dienern einer zum Grafen, uff deß pfert ſaß er und reit der Weidny nach." Das Zürcher Jahrzeitenbuch läßt Rudolfs Wahl durch dieſen Prieſter beim Mainzer-Biſchof veranlaßt ſein; Tſchudi, der dies Jahrzeiten-Buch ſonſt wörtlich ausſchreibt, hält ſich dagegen hierin wieder an die Königsfelder-Chronik, nur weiß er auch darüber neuerdings viel Genaueres als dieſe ſeine Quelle, welche blos folgendes beſagt: Bald darnach kam Ruodolf der Graeff zuo einem heiligen andächtigen menſchen. das menſch ſeit ihm, daz er kurtzlich ſolt geehret werden vm das minnewerk, das er gen dem heiligen Sacrament getaen hatt.

Warum Tſchudi aus dieſem heiligen Menſch eine Kloſterfrau zu Fahr an der Limmat gemacht hat, dies verräth uns wiederum die Königsf. Chronik, welche von der Königin Agnes berichtet: Sy hatt eyn ſtieftochter, die Küng Andres von Vngern was, by einer andren frowen. die vuort ſy mit ir von Vngern har in diſe land vnd macht ſy ein Kloſterfrowen ze Töß, vnd beſorget ſi erlichen ir leben vnd fuor offt zuo ir gen Töß. (Gerbert, Tapograph. 2, 176.) Dies war allerdings Eliſabetha von Ungarn, die vom 13. bis zu ihrem 41. Jahre bei den Dominicanerinnen zu Töß (Kant. Zürich) lebte und dorten im Geruch der Heiligkeit ſtarb. An dieſes Kloſter hatte Albrechts Tochter, Agnes, die zunächſt gelegenen Güter der Kaiſermörder vergabt. Aus dieſer Stieftochter der Agnes macht Tſchudi die weiſſagende Nonne, aus dem Kloſter von Töß (Zürich) macht er das-

Digitized by Google

jenige zu Fahr (Aargau); dadurch hat Tſchudi den Anlaß gegeben, daß die Vorausſetzung entſtand und geläufig wurde, der Schauplatz unſerer Jagdgeſchichte müße im Aargau ſein. Ein größerer Aufſatz hierüber in den Aargau. Beiträgen 1846, S. 78 localiſirt nun noch genauer, verſetzt den jagenden Grafen auf den Homberg bei der Stadt Bremgarten *), zunächſt dem Dörfchen Rudelſtetten, den Prieſter nach dem nahe gelegenen Dorfe Dietikon und läßt dieſen hier durch die Waldwaſſer der Reppiſch waten. Daher komme es, folgert man, daß die beiden Bauernhöfe jenes Homberges, Höckler und Hohlenſtraß, zur Pfarre des Zürcherdorfes Dietikon gehören, obſchon ſie aargauiſch ſind; daher ſtamme auch jenes Pferd, welches nebſt einer von Bodenzins befreiten Futterwieſe bis vor wenigen Jahren noch zur Dietikoner Pfarrpfründe gehört habe. Allein derlei Pfarr- und Kirchenroſſe finden ſich von früheſten Zeiten an bis zur Neuzeit bei zahlloſen Kirchen herkömmlich. Dasjenige für Dietikon beſtimmte iſt erſt ums Jahr 1310 wirklich nachweisbar (vgl. Tſchudi 1, 252). Die vita Ottonis episcopi Babenberg. (Myth. 628) vermag daher bereits vom Jahre 1124 ebendieſelbe Phraſe der Demuth zu ſagen über das hl. Tempelroß: „tantæque fuit sanctitatis ut nullum dignaretur sessorem," welche Schiller dem Habsburger-Grafen in den Mund legt nach Tſchudi's Text:

Nicht wolle das Gott, rief mit Demuthsſinn
Der Graf, daß zum Streiten und Jagen
Das Roß ich beſchritte fürderhin,
Das meinen Schöpfer getragen.

Aimoinus 1, 22 berichtet, wie der Frankenkönig Chlodowig dem hl. Martinus ſein Pferd weiht und es ſpäter ihm wieder um hohen Preis abkauft. Wolf, Beiträge 1, 40. Dem Geiſte Stiefeli und Bläſeli (Abthl. V.) muß im Kloſterſtalle zu Muri ein eigner Schimmel gehalten werden. Dem verzauberten Mönch gehört ebenſo im Kloſterſtall ein Schimmel, damit er darauf den Petersberg bei Halle umreiten kann. Kuhn, nordd. Sag. No. 228, 4. In Kerns ſchleſ. Sagenchronik, Breslau, 1840, 138 iſt der Verfluchte Schimmelreiter ein mit dem Ciborium auf dem Schimmel zum Kranken reitender Prieſter; er war zur Schwedenzeit ein Trunkenbold. Sagen von Kirchen, in denen der Schimmel durch Zufall eingeſchloſſen wird und dann verhungern muß: Panzer, bayr. Sag. 2, No. 295 und pag. 567. Vgl. unſere Anmerk. zu No. 209: Herdmändli von Mellikon, und 210: Rueder Schloßniggel. Ueber dieſes heilige, dann von der clerikalen Habſucht mißbrauchte Thier entſtand das Spottwort: Du heiliger Martin! ſie opfern dir einen Pfenning und ſtehlen dir ein Roß. Kirchhofer, Schweiz. Sprichw. 134. Auch Cervantes im Don Quixote 1, cap. 29 ſpottet über dieſen Reiterbrauch; ſein Don Quixote will es nicht ſchicklich finden, zu Pferde zu ſitzen, als ſein Ortspfarrer ihm eben zu Fuße begegnet. Der Pfarrer lehnt jedoch die Rozinante ab, weil es einem armen Diener der Kirche genug iſt, wenn ihn einer der Begleiter hinten auf den Eſel nimmt.

Nach einer ſo allgemein geweſenen Giltigkeit dieſes Verhältniſſes mußte

*) Vitoduranus weiß, daß Graf Rudolf vor ſeiner Thronbeſteigung bleibend im Aargau und zwar in Bremgarten wohnte: nam illo tempore domicilium seu mansionem in oppido suo dicto Bremgarten tenens, sito in Ergow etc.

Digitized by Google

sich die Sage von Rudolfs Demuth und Vergabungseifer an mehr als einem Orte localisiren. In dem Luzerner-Dorfe Meggen, bei Alt-Habsburg am Waldstätter-See gelegen, hängt ein altes Gemälde am Beinhause, den jagenden Rudolf sammt dem ihm begegnenden Priester darstellend; die Aufschrift lautet:

Sein Pferd gibt er dem Pfarrer
Und macht ihn z'reiten,
Empfangt zum Lohn
Die Kaiserkron'
In kurzerlebten Zeiten.

(Schweiz. Ritterburg. 1, 428.) Darauf sich stützend behauptet Businger (Luzern und Umgebung, S. 110) hier sei der Lieblingsaufenthalt Rudolfs gewesen und hier die Stelle des Ereignisses. Ihm nach bedichtet's, ausführlich und trotz Schillers Romanze noch einmal, Reithard, Sag. a. d. Schweiz S. 71. Auch damit ist dem historischen Schimmelreiter nicht aufzuhelfen; denn eben in diesen Zuger-Gegenden spukt heute noch der andere Schimmelreiter, welchen man den Bannhölzler nennt. Er wohnt in einer Felsgrotte am untern Roßberg, welche das Bannhölzlerthor heißt, holt da seinen Schimmel heraus und reitet Nachts über die Walchwiler-Almend, die er durch Meineid von dieser Gemeinde weg in den Besitz der Stadt Zug gebracht hat; gerade so, wie der meineidige Stiefeli von Muri (Abthl. V.) und die mehrfachen Schimmelreiter in Abthl. VIII alle zu thun pflegen. Den Hufschlag seines Schimmels sieht man dorten noch im Felsen. Schweiz. Merkur 1835, 189. Nach Reithard (Sag. d. Schweiz, 303) ist es die Spur seiner in den Fels des Kaiserberges geschleuderten Kegelkugel. — Geschrieben über diese Jagdscene haben außer den schon Erwähnten und denen der neueren Geschichtsliteratur, folgende: Joh. Vitoduran. — Anonymus Leobiensis (Pez, script. Rer. Germ.) Trithemius Chron. Hirsaug. — Wern. Schodeler, Chron. — Guillimann, Habsburgiaca. — Dominic. Tschudi, Origo comit. de Habsburg. — Gerbert, Codex. Epist. Rudulf. — Wirz, Helvet. Kirchengesch. — Auf welche Art Rudolf von Habsburg in eine frühere, zweite Schimmelreiters-Sage historisch hinein versetzt worden, zeigt die in Abthl. III, No. 161 enthaltene Anmerkung „Schimmelreiter". Wie wenig er auch dorten ursprünglich zu schaffen hat, besagt Tacitus Germ. cap. 10: „Von Gemeinde wegen werden Rosse, schneeweiß und nie berührt von irdischer Arbeit, in heiligen Wäldern und Hainen gehalten. Wenn sie den heiligen Wagen ziehen, begleitet sie der Priester mit dem Könige oder dem Fürsten der Gemeinde, um ihr Wiehern und Schnauben zu beobachten. Und keine Art der Weissagung findet größern Glauben."

---

## 500. Begebenheiten vor und nach König Albrechts Ermordung.

Als König Albrecht zu Baden im Aargau lag, kam am Sonntag, 28. April, ein Ritter, der dem König wohl bekannt war, zu Fuß an. Der König fragte ihn, was er für neue Märe bringe, und jener sprach: Herr, nichts anderes; aber als ich habe hieher reiten wollen, begegnete mir ein Schwarm Hornissen, die so heftig

Digitized by Google

in mich ſtachen, daß ich vom Pferde ſteigen und zu meinem Schutze den Sattel über den Kopf nehmen mußte; kaum und mit Noth bin ich ihnen entwichen. Sogleich ſetzte ſich dann der ganze Schwarm auf mein Roß, ſtach und peinigte es, und ſo iſt's im Felde todt geblieben. — Darüber verwunderte ſich der König und ſprach: das iſt eine unerhörte Sache, das bedeutet nichts Gutes!

Da nun der Fürſt ſeine Kur zu Baden beendigt hatte, wollte er nach Rheinfelden hinab, um dorten ſeine Gemahlin Eliſabeth zu beſuchen. Sein Neffe Herzog Hans begleitete ihn, es war am 1. Mai 1308. Auf dem Wege dahin ſetzten ſie zuſammen in einem Kahne über die Reuß. Bei dieſer Gelegenheit gelang es dem Herzog Hans, den König von dem übrigen Gefolge abzuſchneiden.

Als ſie drüben landeten, war Niemand mit ihnen, als die Ritter Balm, Tegerfelden, Eſchenbach und Wart. So ritten ſie den Hohlweg hinauf, der von der Reuß zum Aargauer-Dorfe Windiſch und von da gegen das Städtchen Brugg führt. Hier, wo ſie eine Weile allein und ungeſehen waren, erſchlugen die Ritter und der Herzog den König, und entflohen ſogleich nach der Unthat. Den Halbtodten ſchleppte ſein Roß bis in das nächſtgelegene Wäldchen. Da ſaß am Raine eine fahrende Dirne, die von der Reiſe des Hofes vernommen und in Brugg ſich aufgemacht hatte, um dem Troſſe nachzuziehen; ſie erbarmte ſich des vom Pferde ſinkenden Fürſten. Er verſchied unter ihrer Hand, ehe das Gefolge wieder erſchienen war. Und ſo diente der Schoos einer Metze dem Könige der Deutſchen zum Todbette. Zum ewigen Angedenken deſſen iſt das Kloſter Königsfelden gegründet worden; daſſelbe übernahm aber zugleich auch die Verpflichtung, allen fahrenden Dirnen, die an ſeine Pforte klopfen, einen Zehrpfenning zu verabreichen. Und zu Zurzach und Brugg wurde ein Goldgulden geſtiftet und jeder „Landſtürzerin" alljährlich ausbezahlt, welche dorten an den beiden Jahrmärkten den erſten Vortanz that. Die Königsfelder-Chronik, bald nach Agneſens Tod geſchrieben, beſagt von der Königin Agnes, die das Kloſter ſtiftete und in daſſelbe als Nonne trat: Si gab öch almuoſen Riſſionbuoben vnd varenden frouwen darvmb, diewil ſy des almuoſens genießen, möchtens öch dazwiſchent deſter münder ſünderen. (Gerbert, Tapograph. II, 177. 30). In den Faſnachtſpielen aus dem 15. Jahrhundert 2, 873 (Bibliothek des Lit. Vereins, Bd. 29) heißt es über dieſe hier im Schluß der Sage erwähnte Tanzſtiftung:

**Es iſt iez by siben jaren bschehen**
**zuo Zurzach an dem huorendanz:**
**darumb so treist du wol ein Kranz.**

Digitized by Google

dann da warend mee dann hundert huoren,
die do all am danz da umbher fuoren,
do hast du den gulden gwunnen,
den man der hupschisten solt gunnen,
den der vogt von Baden gibt denn zmal
der hupschisten in der huoren zal,
die denn zuomal uff der Wissmatten sind.

Tſchudi 1, 241, 242. — Rahn, Eidgenöß. Geſch.-Beſchreib. Zürich 1690, S. 130. Bullinger, Chron. Tigur. I, lib. 7, c. 6: Dannen muß man noch den metzen zu Königsfelden zu äßen gäben, vnd ein gulden zu vertantzen am Zurzach-märckt.

---

## 501. Die Bruderhöhle bei Brugg an der Aare und Herzog Hanſens Ende.

Hertzog Hanß nach begangenem Todtſchlag iſt, alß ettliche Bücher zeügendt, gen Einſidlen geflochen, iſt ein Zeitlang heimlich da vndt im Cloſter verborgen gelägen, hat aber geworben vmb hülff. Da er aber nienen kein Beyſtandt fandt, wolte er dem Teutſchen lande nit vertrauwen, verkleidet ſich vndt zog hinein in Italiam, kam vnbekandt gen Piſa vndt gieng da in ein Auguſtiner Cloſter. Die ſag iſt, er habe dem Bapſt ſelbs ſeine begangene that gebychtet, der habe ihn für Pyn vndt ſchuldt abſolvirt. — Herr Felix Hämmerlin, Decretorum Doctor Bonon. Probſt zu Solothurn vndt Cantor der kirchen Zürich zum Groß-Münſter, erzelt in ſeinem buch de nobilitate c. 26 wie ſechtzig iar nach König Allbrächten Todt kommen ſige auß frömbden landen ein anſichtiger, ſchöner, gar betagter mann, der habe ſich nidergelaßen in ein Bruderhauß, vff zwo meyl bei Königsfälden, dahin er viel von den Cloſterfrauwen, von ſeines ernſthafften anſähens vndt heiligen wandels wägen, berüfft vndt geladen worden ſige. Denen er gründtlich erzehlt, wie es ergangen mit König Allbrächten, vndt wie er vff dem fäldt zu Königsfelden erſchlagen worden ſige: da er (denn) alle gelägenheit des Landts, wie es zu den Zeiten Alberti gſyn, auch alle vndt jede namen, die derſelben Zeit am hoff gewäßen warendt, item der rächten Hertzog Hanßen nämen, vndt ihr thun vndt laßen erzelen kondte. Vndt dieweil dieſe Perſon ſo aigentlich vndt grundtlich von der ſachen reden konte, auch großes alter vff ihm hat, vndt gar Adenlicher ſitten vndt herrliches anſähens was: wardt er gar viel von Cloſterfrauwen anzogen vndt endtlich verdacht, er were ſelbs Hertzog Hans, der ſich jetzund nach ſo viel iaren, wiederumb auß frömbden Landen vndt auß ſeinem elendt herzugelaßen hätte; doch heyge er der nit ſeyn wöllen vndt verlëugnet,

Digitized by Google

wer er were. Nach langem ward er sehr schwach, daß ihn die frauwen in dem Closter versähendt vndt erhieltendt biß er starb. Vndt alß er in seinem todtbetth von seinem Beichtvatter aigentlich gefragt wardt, ob er doch Hertzog Hans were, bekand er ihm in bychtsweyß, das ers were. Auch wie er zu seinem letsten endt kam, da er hinziehen wöllen, vndt wiederumb gefragt wardt: deutet er vndt gab zeichen, daß er's were. Bulling. I, lib. VII, cap. VI.

So weit erzählt H. Bullinger seinem gelehrten Landsmanne, dem Felix Hämmerlein zu Liebe die Sage, daß Herzog Hans in der Gegend, wo er seinen kaiserlichen Oheim erschlagen hatte, als Klausner gestorben sei.*) Auf diesem Wege mag sich hierüber ein Glaube unter das Volk verbreitet haben, der heute noch dunkel fortlebt. In dem Berge, der sich unterhalb Brugg auf der linken Aarseite gegen Lauffohr hinzieht, ist eine geräumige Höhle, in ihrem Beginne ziemlich hoch, nach innen immer weiter und gewölbter; ihre mehrfachen Seitengänge und Verzweigungen sollen noch nicht alle erforscht sein. Sie heißt die Bruderhöhle, von jenem Waldbruder her, der sie zur Zeit Agnesens bewohnt hat. Noch zeigt man in einer Ecke den Felsvorsprung, auf dem er am liebsten zu sitzen pflegte. Wer er gewesen sei, darüber war man von jeher getheilter Meinung; dennoch ist sein Andenken mit einer bestimmten Ehrfurcht umgeben geblieben. Aus Bullingers Tiguriner Chronik 1, Buch 7, cap. 9 vererbte sich dann der gelehrte Glaube fort, jener Bruder Berthold sei es gewesen (Abthl. II, No. 54, die Strebelstaude), der sich mit der Königin Agnes über den Klosterbau von Königsfelden überwarf und sie dann verließ; alsdann habe er dieses „Bruder-Heußlin an dem Berg gelägen an Bruck vor Windisch über bewohnt, da man noch zeichen siehet vndt das Bruderheußlin heißet."

---

## 502. Die Reinacher Barone und die Eichenberger Bauern.

Auf dem Wege von Reinach nach dem Luzerner-Städtchen Münster sieht man auf den vorspringenden Hügeln des Pfäffikoner-Berges altes nacktes Gemäuer stehen, Ueberreste der Burg des alten Freiherrenstammes von Reinach. Sieben Söhne hatte der alte Baron

*) Die deutsche Sage nennt einen schwäbischen Grafen Hubert von Calw, der in der Schweiz zu Delslingen Hirte werden muß: Grimm, DS. No. 524; die Aargauer Sage läßt den Kaisermörder Konrad v. Tegerfelden nach Schwaben fliehen und dorten in Neresheim die Schafe hüten. (Abthl. IV. pag 222. Jungfrau v. Tegerfelden.)

Digitized by Google

und jeder war ritterlich; um ſeine Tochter Emma warb der benachbarte Junker von Halwil, aus einem Geſchlechte, das in allen Turnieren und Schlachten den Schild mit Ehren trug, ſeinen Adel bis zu den Römern hinaufführte und als ein Wunder des Reichthumes und der Pracht galt. Aber während der Vater und der adelige Bewerber drängten, fühlte ſich Emmas Herz bereits von einem ganz andern Gedanken erfüllt. Nicht weit vom Schloſſe ſtand die Hütte Heinrichs, eines eben ſo hübſchen als blutarmen Burſchen. So oft er am Schloßhofe die Pferde einſchirrte, freute es Emma ein Wörtchen an ihn zu richten, ihm einen Auftrag geben zu können; jetzt machte ſie ihre Neigung erfinderiſch. Auf der Morgenſeite des Schloſſes führte eine Treppe durch die Keller in den Burggraben hinaus. Hier erwartete ſie ihren Heinrich, hier entwarfen ſie ihre Plane. Als endlich der Halwiler den Vater auf das ſtrafbare Verhältniß ſeines Kindes aufmerkſam machte, ſollen die Liebenden entſprungen, oder, wie es noch heißt, ins Elend verſtoßen worden ſein. Nach mancherlei Kummer und Mangel ließen ſich beide nicht weit vom Thale auf einem Stückchen waldigen Pachtlandes nieder, und Heinrich begann es umzureuten.

Da brach der Sempacher-Krieg aus im Jahre 1386. Das ganze Herrengeſchlecht auf allen umliegenden Burgen folgt dem Aufgebote des Landesherrn, des Oeſterreicher Herzogs Leopold. So ziehen auch die ſieben Reinacher-Brüder mit dem Heere gegen Luzern ins Feld. Vor Sempach, dem erſten Städtchen, das ſich ihnen furchtſam verſchließt, entbrennt der Stolz der Adeligen. Rutſchmann von Reinach iſt es, der gegen die Mauer ſprengt und drohend Galgenſtricke in die Höhe hält, an denen er den Bürgermeiſter hängen will. Aber nun naht der Feind, die Luzerner rücken an. Sogleich ſitzt der Adel ab und tritt in einen Gewalthaufen zuſammen, um zu Fuße gegen dieſe Bauern zu fechten. Doch da man mit den langen Schuhſchnäbeln, die man damals nach üppiger Mode trägt, keinen ſichern Tritt faſſen kann, ſo muß man ſie jetzt ſchnell abſchneiden.*) Bei dieſer Vorbereitung trifft Hemmann, der Jüngſte der Brüder, in der Eile oder Hitze zu tief, ſchneidet ſich in die Zehe und muß als kampfunfähig zum Troß zurückgebracht werden. Die Schlacht geht verloren,

*) Eine Stelle auf der Rückſeite des Sempacher Schlachtfeldes hat daher den Namen Schnabelweide bis heute behalten. Zürcher NeujahrsBl. der Feuerwerker 1829, 13. Bullinger, Chronik fol. 1, lib. 8. c. 18 erzählt im Appendix gleichfalls von dieſem Abhauen der Schuhſchnäbel, kennt aber dabei nur „jren vier brüder von Reynach bürtig. Der jüngſt, der ſich in eine zäe hüew, grien."

Digitized

der Troß reißt aus, der Herzog selber mit allem Adel fällt, sechs Reinacher Brüder mit, sie haben Rutschmanns höhnischen Uebermuth theuer bezahlt. Nur Hemmann sieht sich unfreiwillig gerettet und erreicht sein Schloß wieder. Doch auch hier suchen ihn bald die siegreich nachrückenden Eidgenossen, er flieht und hinter ihm geht Hohen-Reinach in Feuer auf. Noch eine Zuflucht steht ihm offen; mit seinem Weibe und seinen Schätzen wirft er sich in seine Wasserburg an der Aare, ins feste Gauenstein. Hier trotzt er dem aufrührerischen Bauernvolke und lauert auf Wiedervergeltung. Aber statt dieser erschien eine ganz neue Zeit.

Eine Kriegerschaar brach wenige Jahre darauf (1389) von Bern auf, vereinigte sich in Solothurn mit andern Kriegern und fuhr über Wangen und Olten in zahlreichen Schiffen die Aare herab. Jetzt rückte sie an den Fuß der Gislifluh heran. Hier lag Gauenstein, die Feste, in die sich bereits Gering und Vornehm im ersten Schrecken vor dem Feind geworfen hatte, eine nur um so stärkere Besatzung, wie Hemmann meinte. Aber gerade dieses zusammengewürfelte Volk verlangte zuerst, man möge um Fristung von Leib und Gut mit dem Belagerer unterhandeln. Die trotzigen Berner jedoch bestanden auf unbedingter Uebergabe. In dieser Noth von außen und innen unternahm Hemmanns Gemahlin, Ursula von Homberg, den Feind gnädiger zu stimmen. Sie erbat sich, daß man sie frei abziehen und nur so viel mit sich fortnehmen lasse, als sie Tragbares unter ihrem Weibergut habe. Es wurde ihr gewährt. Das Thor öffnete sich, und der Feind erstaunte nicht wenig, da Frau Ursula ihren Ehegemahl, den Bauernfresser, auf den Schultern über die Zugbrücke ans Ufer herübertrug mit dem Bescheid: das sei ihr Weibergut. Man ehrte den hohen Sinn der Frau und ließ Beide ziehen. Die Burg wurde verbrannt, zwanzig Mann von der Besatzung wurden niedergemacht, die übrigen gefangen. So stehts heute noch eingeschrieben in der Foliobibel der Dorfkirche von Gauenstein, und folgender Zeitspruch dazu:

Zu Auwenstein ein Vesti war
auf einem Felsen in der Aar,
Daraus vor Zeiten Bärn ward g'tratzt,
Drumb auch der Bär das Schloß zerg'kratzt.

Nun war Ritter Hemmann zum zweiten Male durch ein Wunder dem unvermeidlichen Tode entrissen, nicht würdiger hier durch ein Weib, als zuerst durch einen Schuhschnabel. Von da entweicht er auf sein letztes Haus, das Schlößchen Bernau, das benachbart dem Städtchen Hauenstein, am äußersten Ufer des aargauischen Rheines

Digitized by Google

liegt. Dorten iſt er verſchollen. Bernau iſt heute nur noch eine zerfallene Bauernwohnung, auf dem Burgwalle trocknet man Windeln und ſonnt Strohſäcke. Das Schloß ſelbſt gieng in Feuer auf. Dieſes letzte Unheil erzählt der Berner-Pfarrer Rebmann in ſeinem Poet. Geſpräch zwiſchen Rieſen und Stockhorn. Bern, 1620. S. 435:

Bernow am ſtättlein Howenſtein,
ein Schloß auff einem hohen rain
auff hohen Velſen glegen was,
da von den Velſen Schlangen groß
Herfür an d'Sonnen krochen warn,
Auff Hanffſtenglein ſie g'legen warm.
Als ſolchs ein ſchmidtknecht einsmals ſach,
war jhm die würm z'verderben gach.
Ein glüyend Eyſen ſtieß er drein,
die funken in das Schloß hinein
vnd ſchlugen vnderm Tach in Kammer.
Da ward in Schloß ein groſſer jammer,
das hauß verbrann bis auff den grund,
das fewr man nicht erlöſchen kundt.

Der letzte ritterliche Beſitzer der Ruine und des dazugehörenden Bauernhöfleins war ein Herr von Roll, ein wunderlicher Kauz, der ſich in den Kopf geſetzt hatte, den XIV. Ludwig von Frankreich nachzuahmen und im Sommer eine Schlittenfahrt in Salz veranſtaltete. Ein Theil ſeines Schlößchens gehörte mit der Kapelle damals zur Grafſchaft Baden und war alſo ſchweizeriſch; der andere Theil lag zugleich auf dem Gebiete der Herrſchaft Laufenburg und war ſomit öſterreichiſch. Dieſe Lage benutzte der verſchuldete Edelmann ſo, daß er ſich in den öſterreichiſchen Theil ſeines Hauſes zurückzog, wenn eine Exekution aus der Schweiz gegen ihn erlaſſen wurde, und daß er ebenſo ſeinen Aufenthalt in der Schweizer-Abtheilung nahm, wenn gleiches von den öſterreichiſchen Behörden drohte. (Meyer-Knonau, Erdkunde 2, 191.) Er friſtete ſich noch eine Weile am Koſttiſche der Probſtei zu Klingnau, und bei der Freigebigkeit der Aebte von St. Blaſien im Schwarzwalde; dann haben ihn ſeine Bauern vollends ausgekauft.

Die Ueberbleibſel aber des andern Schloſſes, Gauenſtein an der Aare, hat ein Landmann friſch eingedeckt, zu einer Sommerſtube hergerichtet und auf dem Wall mit einem freundlichen Gärtchen umgeben. Dorten kann man ihn finden, wie er in alten Landeschroniken lieſt. Schloß Reinach iſt bis auf eine mürbe Thurmſcharte abgebrochen, rings auf ſeiner Halde iſt das Dörfchen Burg entſtanden;



Digitized by Google

man sagt, gerade aus jener einst eichenbewachsenen Rüti, welche Heinrich und Emma angebaut haben, da sie sich vor dem Unwillen des Ritters verbergen mußten. Aus ihrem Ehebunde soll das zahlreiche Geschlecht der Eichenberger hervorgegangen sein, das heute im Reinacher- und im Hallwiler-Thale besteht. Auf den Höhen zwischen Egliswil und Seeingen liegt ein noch gutbewirthschafteter großer Bauernhof, der Eichenberg, von dem man sagt, wie das Hallwiler-Adelsgeschlecht vergebens getrachtet habe, ihn anzukaufen und zum Schloß umzubauen. — So hat der Bauer die Herrenschlösser geräumt, so hat die Herrentochter das Thal mit Bauern bevölkert.

Obschon sich diese Erzählung mit fast reingeschichtlichen Thatsachen umgiebt, so ist sie doch nur aus einem sehr neuzeitlichen Mißverständnisse desjenigen Inhaltes hervorgegangen, den diesmal hier die echte Sage zu erzählen beabsichtigte. Das Denken des demokratischen Landvolkes ist nämlich schon seit Jahrhunderten durch demokratisch wohldienerische Chronisten über sich selbst irre geführt. Es gilt der Glaube, der freie Bauer sei irgend einmal weniger von freier Geburt gewesen als der höchstgeborene Fürst; Ehen zwischen Bauern und Adeligen seien, wie heute, so auch von jeher für Mißheiraten angesehen worden, Bauernblut und Ritterblut habe sich niemals mischen dürfen; und mit einer gewissen Schadenfreude trägt man dann Erzählungen wie vorstehende, gleichsam im Namen der allberechtigten Liebe vor, und sucht daran zu zeigen, wie hier ein Standesvorurtheil in der Landesgeschichte selbst zu Schanden gemacht worden sei. Wie hergebracht und alt dieses unhistorische Denken hierüber bereits ist, dies beweise ein älteres Beispiel. Ein Flieg. Blatt v. J. 1621 besingt (ganz nach dem Wortlaute älterer Landeschroniken) die Schlacht, in welcher die Luzerner- und Unterwaldner-Bauern die ins Land gedrungenen Ritter- und Reitergeschwader des Grafen Enguerrand von Coucy aus der Picardie vertilgten. Man nannte den Feind die Engländer und Gugler; seine erste Niederlage betraf ihn in Büttisholz, bei Willisau 1375. Das Lied hebt folgende Scene zwischen dem dortigen Schloßherrn von Thorberg (Dorrenberg, zwei Stunden von Luzern) und einem Entlebucher Bauern hervor:

Als man die Todten hat ersucht,
War ein Landmann von Entlibuch
Einen Edeln ausziegen;
Seinen Helm und Küriß legt er on,
Sein Schild und Speer zu Handen gnon,
Hiemit ein Hengst bestiegen.

Das hat ersehn der Edelmann
Zu Thorberg ab den Mauern,
Der redt den Todten also an
Mit großer Klag und Trauern:
Ach edles Blut, wie steht's um dich,
Daß jetzt ein Baur von Entlibuch
Dein Helm tuht prächtig führen.

Als nun der Landmann dies erhört,
Von Stund an redt er diese Wort:
Hütiges Tags ist b'schehen,
Daß Edlesblut und Roßblut ist
Vermengt und durcheinander gmischt,
Wie man hat klarlich gseben!

Digitized by Google

Niemand verkennt hier den meistersängerischen Wohldiener, welcher die Bauern lobt und dabei ihre Gestrengen Herren der regierenden Städte meint. Vielfach kommen Ehen zwischen Rittern und Bauerstöchtern, oder Ritterstöchtern und Bauern in Oesterreich und Bayern während des 13. Jahrh. vor. Auch der Sachsenspiegel schließt Kinder solcher Ehen nicht aus der Erbfähigkeit aus. Und in Norwegen, dem Lande der freiesten Entwicklung germanischer Volksthümlichkeit, galt es für keine Mißheirat, wenn eine Königstochter einen freien Landbauer heiratete. Dies und die geschichtlichen Belege dazu findet sich weiter entwickelt in Weinholds Deutsche Frauen, pag. 234, wo es heißt: „Noth und Bedrängniß haben das Bewußtsein der Freiheit in einem großen Theile der Gemeinfreien geschwächt, ebenso wie die Monarchie und die Feudalherrschaft zu einer bedeutenden Unterordnung der Edeln unter die Fürsten hinarbeitete."

Der Rettung des Ritters von Reinach durch sein Weib, das ihn auf dem Rücken aus der belagerten Veste herausträgt, liegt die bekannte Sage von der Weibertreue zu Grunde. Dieselbe ist nicht nur schon im alten Achaea erzählt, und von Otto v. Freisingen 7. cap. 5 bereits auf die Weinsberger-Weiber hin, sondern sie wiederholt sich auch in Preußen, Nordbrabant, Böhmen, Schleswig-Holstein, Kletgau (bei Schaffhausen) Schwarzwald, Tirol, Elsaß und Lombardie; in der Schweiz im Appenzeller-, Luzerner- und Bündnerlande. Neuerlichst noch erscheint sie in Herrleins Speßhart. Sag. pag. 76 in Pröhles Unterharz. Sag. No. 457. in Gräßes sächs. Sagensch. No. 353. in Schöppners bayr. Sagb. No. 659. in Wolfs hess. Sag. No. 236. 237. Daß sich unsere Erzählung gerade in dieser Hinsicht auf historische Zeugnisse stützt, vermag nicht ihre Glaubhaftigkeit zu erhöhen. Grimm, R.A. 102 weist nach, wie alle diese gleichartigen Geschichten aus dem Kriegsrechte entstehen, das in der Lex Salica dem abziehenden Besiegten so viel mitzunehmen erlaubt: tantum, quantum in dorso portare potuerit. Die militärische Ueberlistung, die nothwendig damit verbunden war, erzeugte also diese lebhafte Wiederkehr gleichartiger Erzählungen in verschiedensten Gegenden.

---

## 503. Thomas v. Falkenstein verbrennt Brugg.

Während im J. 1444 sämmtliche Kantone der Schweiz Zürich belagerten, um es zu züchtigen für sein eifriges Festhalten an Kaiser und Reich, benutzte dies der ältere Adel des Landes, um während dem seinen Haß gegen Bern auszulassen. Als nämlich in Folge des Zwiespaltes, der auf dem Konstanzer-Concilium zwischen Herzog Friedrich und Kaiser Sigismund ausgebrochen war, Friedrich geächtet und sein Erbland preisgegeben worden war, geschah es namentlich auf das Drängen der eroberungssüchtigen Berner, daß die übrigen Kantone in die vordern Erblande einfielen und sie sammt einer ganzen Reihe von Städtchen wegnahmen. Unter diese gehörten Zofingen, Aarburg,

Digitized by Google

Aarau, Lenzburg, Mellingen, Baden, Brugg. Dieſe letztere Stadt hatte wie die übrigen den Bernern Treue geſchworen, deswegen faßte der ihr benachbarte Adel den Vorſatz, ſie zu ſchädigen, um damit Bern ſelbſt ſo weit als möglich zu verletzen. Wie nun der Ritter Thomas von Falkenſtein von ſeiner Burg Gösgen aus, oberhalb Aarau gelegen, im Bunde mit Markward von Baldeck, dem die Berner ſein Schloß Schenkenberg, im Aarauer-Jura gelegen, genommen hatten, das Städtchen Brugg überfielen, einäſcherten, die Bürger gefangen wegführten nach Laufenburg, bis dorten einer aus dem Burgthurm hinab in den Rheinſtrudel ſprang, den alles verſchlingenden Strom überſchwamm und zum heimatlichen Ufer Kunde brachte von ſeinem und ſeiner Mitbürger Schickſal, — dies alles erzählt im Nachfolgenden der Zürcher-Chroniſt und Antiſtes Heinrich Bullinger (Chron. Tigur. fol. II, lib. XI, cap. 16, geſchrieben im J. 1574), wie er es alles ſelbſt in Brugger- und Königsfelder-, nun verlorenen Zeitbüchern geleſen und aus dem Munde ſeiner eignen Großmutter es gehört hat, die als Kind aus dem brennenden Städtchen entrann, während ihr Vater gefangen nach Laufenburg in den Rheinthurm abgeführt wurde. Hier folgt ein getreuer Auszug:

Es waarendt zween Freyherrn, Herr Thoman, vndt Herr Hanß von Falckenſtein, gebrüdere, welche alß ſie Jre Hüßer hattendt im Solothurner- vnd Bernbieth vndt in der herrſchafft Oeſtrych — alß Gößken, Falckenſtein, Bächburg, Thorburg, Kiemburg vndt Faarßburg, dieſen krieg (während des Alten Zürichkrieges Anno 1444) ſtill ſaaßindt, vndt rittendt aber viel gen Waldtshut, da des Hertzogen von Oeſtrychs Adel lag; da vermochtendt ſie ſo viel an ihnen, daß ſie den Eydtgnoßen auch abſagtendt vndt ihre abſag dem Schuldtheißen von Bern zuſandtindt. Der Schuldtheiß zeigt die abſag nit in der Fußſtapfen an, daz man ſich hätte mögen hüten. Vndt fur aber Thoman von Falckenſtein morndes, alß er geſtern den abſag gethan hatte, am morgen frühe zu für das Stättli Bruckh im Ergöuw. Domalen lagindt alle Eydtgnoßen Bern, Lucern, Vri, Schwytz, Vnderwalden, Zug, Glarus, Solothurn, St. Gallen vndt Appenzell vor der Statt Zürich, in dem Zürichkrieg.

Vß dem Cloſter Künigsfelden iſt mir ein alte Chronick zukommen, vß welcher ich von dieſer ſach nachfolgende meinung geſchrieben hab. Es hat (auch) die Statt Bruckh Jres vndergangs vollkommne hiſtori; darumb Ich an ſie geworben, vndt alß ſie mir da dannen worden, hab ich ein kurtzen vßzug hierauß gethan vndt hernach verzeichnet.

Vndt wie im Jar Chriſti 1444 gemein Eydtgnoßen vor Zürich lagindt, kam an einem Montag d. 27. July gedachter Thoman von

Digitized by Google

Falckenstein gen Bruckh geritten, in dem schein, alß ob Er auß dem Läger herab von Zürich kommen, vndt gab für, wie Er die sach dahin gebracht hette, daß hoffnung weere, daß Ein guter frid gemacht wurde; doch müßte er in yl mer lüten darzu vermögen. Vndt da er jetzunder vff der Straaß weere zu werben, was nun männiglich fro, dan der krieg lang gewäret, vndt fast thüwre was.

Vndt diewyl er dann auch Burger zu Bern was, aße man mit ihm vndt schanckte ihm den wyn vndt thäte ihm viel Ehre an, dan man viel guts von ihm hoffete. Er aber ritte dahin vndt macht seinen Mörderischen anschlag in einem Schlößlin zwüschent Seckingen vndt Lauffenburg, das dieser Zyt zerstört ist. Vndt vff den Tag 30. Heuwmonat kam er widerumb für Bruck an das vnder Thor vast frühe vor tag, vndt warend bey ihm Hans von Rechberg, Balthasar von Blumeneck, Friderich vom Huß, Veit von Ast, Jörg von Sultz, Hug von Heggi, Merck von Ems, Thüring von Hallwyl, Panthely von Heimenhoffen, Georg von Knöringen vndt andere viel vom Adel, die ich nit kenn, mit ihrem Züg vndt Knächten; derer warendt mehr dan 400 zu Roß vndt Fuß. Sie kamindt von Lauffenburg har, durch Meyenthal herein, welches auch im abzug verbränt was, für Rämigen vndt Rhynickhen, an welchen orthen sie ihren muthwillen allenthalben vollbrachtendt vndt die manschafft veriagtendt.

Da was ein guter frommer LandtMann, genandt Hanß Grießberg, der luff vff Bruckh zu, warnung zu thun; den ereyletendt sie vndt schlugendt ihn iämmerlich zu todt an der kurtzensteig. Hiemit kam Thoman v. Falckenstein vngewarnter sach für das thor zu Brugg vnden an der Aaren, klopfet an, vndt begärt, daß man ihm flur vffthäte. Der Thorhüter fraget, wer er den weere? Antwortet er, ob er ihn dan nit känte vndt wie es zugange, daß man ihn so lang warten ließe? Daruff ihm geantwurtet: Herr, wir habendt nit gewußt, daß ihrs sindt! So wüßindt ihr wol, daß man in diesen kriegsleüffen by nacht die statt nit gärn öffnet; vndt wie komt es, daß ihr so frü kommindt vndt wer ist mehr by üch? Antwortet Falckenstein: der Bischoff von Baßel ist by mir vndt ryttindt (wir) in das läger für Zürich, da friden zu beschlüßen, vndt ist für hütt oder morn das gesetzte tag, da ich durch geschäfft versaumt nit ehe kommen mögen; habe deßwegen auch die nacht g'ritten, daß wir morgen by guter Zytt da syngindt, vndt liegt gar vil an der sach, darumb ihr die thor schnell vffthun müßindt. Hindterendt vns nit länger, Ir sindt lybs vndt guts sicher.

Vff somliche gute wort vndt wol vertrauwen, daz er Burger zu Bern was vndt vorgestern auch zu Brugg, alß obgemäldt, durchge-

ritten, wardt ihm gutwillig das thor vffgethan. So baldt sie eingelassen, gabent sie ihrer nachbut zeichen, vndt fur Falckenstein zu, hüw seinem guten Schimpffman vndt Gevattern, dem Thorwarter, den kopff ab vndt wurff ihn vber die Bruck ab in die Aaren. Bald wurdindt in die 13. burger erstochen vnd wurde also die Statt vngewarnter sach vndt vnabgesagt yngenommen.

Alß der Schuldtheiß von Bern im Rhat die (Absage) Brieff öffnen mußt, wardt die waarnung zu kurtz. (Das kostet Bern ein Schloß! rief der Schultheiß Erlach erschrocken; denn die Absage kam erst am Abend vor dem Ueberfall in seine Hand.) Vndt alß der Bott, so von Bern gen Bruck geschickt, sie zu vermanen gut sorg zu haben, vß dem waldt vnder Habßpurg kam, die Rüttinen genandt, sahe er die Statt in allmacht brünnen.

Es hat aber Falckenstein einen guten Kundtmann, genändt Schnyderhanß, welcher die Statt Bruck verwürcket vndt mit dem Eydt daruß verwißen was; derselb hat kundtschafft aller vndt yeder Burgeren vndt auch wo die schlüßel zu den thoren weerindt, welche dann dem Falckenstein wurdint. Der beschloß die Statt, daß niemandt daruß noch daryn kommen mochte. Die Burger warendt alle gefangen; wurdint in deß hertzogen von Oestrych hoff näbent der Kilchen vndt Kilchhoff gelegt vndt verwaaret.

Demnach fürt der schnyderhanß ihn vndt seine mitthafften hin vndt har in der Burger Heüßer, da sie dann allen mutwillen trybendt vndt Plündertendt. Sie fertigetendt das gut hinwäg zu wasser vndt zu landt, dann der von Falckenstein schiff gerüst hat, als er Aarouw überfallen wöllen, vndt dieselben brucht er Jetzundt. Domalen findt die Burger vmb das Jre kommen, vmb der statt Freyheit (Bestätigung ihres Freibriefes), vmb Brieff vndt Sigel, Vrbar, Rödel, Grächtigkeiten, daß alles ewigen schaden bringt, Abbruch vndt verlurst an Zinßen, gülten, Holtz vndt fäldt, wunn vndt waydt. Der (Raths-) Stuben silbergeschirr, deßen an der zahl 170. stuck gewäßen waarindt, habent sie samt allem haußrhat hinwäg gefürt; so der statt Panner vndt Ehrenzeichen, vnder dem das Eygen (-land) vndt Schenckenberg auch reißet (in die Schlacht zieht), das in einem besonderen Trog verwaaret lag, von reiner Zwilch gemacht, habents hinwäg gefürt vndt in die Kilchen zu Lauffenburg vffgehenckt, sam sie die ehrlich gewonnen hettindt; auch die ysenen Kettinen genommen von den Thoren vndt an ihre thor zu Lauffenburg gehenckt, da sie noch heutiges tags hengendt.

Morndes frü am andern tag wollte er die gfangne Burger in des Hertzogen hoff enthaupten lassen; Hanß von Rechberg aber sagt,

Digitized by Google

was er die frommen lüth, die aller dingen vnschuldig, zychen wolte? Aber am Donstag frühe ließ Thoman die burger, die nit vast vermöglich warendt, ledig. Die fürnämmen aber, so vermögens warendt, fürt er mit ihm gen Lauffenburg. Deren namen sindt diese: Ludtwig Effinger, der zit Schuldtheiß zu Brugg. Balthasar, sein Sohn. Vlrich Grülich. Conrad Würdt. Conrad Mayer. Vlrich vnd Heini die Schmiden, Heini Erhardt, Hanß Dahinden, Vli Stapfer, Burgi Küffer, vndt andere meer.

Man zündet aber die statt an allen orthen an, daß man zu verbrännen sich besorgete. Falckenstein aber warff die Thorschlüßel Conrad Mayers Frauwen in ihre schoß vndt sprach: Nimb du hur hin, vndt schlüß das oberthor vff, daß Ihr nit alle verbrünnindt! Vndt mit dem macht er sich darvon. Vndt alß er komen was in das Eichholtz, die Kräpffen genandt, kam er wiederumb in den bösen willen, seine gefangene zu enthaupten vndt sagt: Rechenberg, were hie nit alß gut richten alß vor Gryffensee? *) Rächenberg hat ihnen abermals Ir läben errettet. Alle kinder aber, so in der statt waarindt, die wurdindt hin auß gefürt vndt draußen vor der statt gesetzt vff den platz vnder die Linden, Ayßy genandt (der jetzige Spielplatz der Brugger-Kinderwelt: Eusi vor dem Oberthor). Dann wurdent sie genommen von Iren müttern, so entrunnen, diewyl die statt brann, wohin ein jedes mocht. Das letzt aber von den kinden, so vff das Ayßy vnder die Linden gesetzt, hab Ich, der dis geschrieben, dick gehört von meiner Großmutter seeligen, Gerthrudt Küfferi oder Bullingerin, welche auch der Kinden eines gsyn vndt ettwan 4 Jar alt gewäßen, deren Vatter Bürgi Küffer auch gen Lauffenburg gefürth vnd da mit andren yngelegt wardt. Dannach kam er widerumb gen Bruck, bauwet widerumb vndt wonet da biß an sein Endt mit seinen kindern, deren die Gerthrudt meinem Großvatter Hänßeli Bullinger zu Brämgarten vermählet vnd ettwan 83järig wardt, vndt starb im 1522 Jar, die mir offt viel von diesem allem gleichförmig gesagt hat.

Die Gefangene wurdint zu Lauffenburg in den Thurn gelait vndt lagindt da ein gute Zeit, daß zu Brugg niemandt erfaaren kundt, wo sie hinkomen. Alß ihnen niemandt nachfraget, hattend sie sich sterbens vndt verderbens verwägen, vernamend auch, daß Sie Falckenstein den Armen Jäckhen (französischen Raubschaaren unter dem

*) Die 69 Mann starke Besatzung des Zürcher-Schlosses Greifensee hatte sich an die eidgenössischen Belagerer ergeben und war vom grausamen Sieger „mit Butz und Betz" enthauptet worden. Auf diesen in einer Wiese vollzogenen Mord soll sich Falkenstein bezogen und gesagt haben: Wär hier nicht so gut mähen, wie auf der Matte zu Greifensee?

Digitized by Google

Grafen Armagnac, vom Volke Arme Gecken genannt), die in das land kommen waarindt, zu kauffen ze gäben willens hat; darumb ſie rhatſchlagtind, wie ſie Iren ſachen thun wöttindt. Da was vnder Jhnen Bürgi Küffer, der ſagt, er wolte ſein läben wagen. Darumb zerriſſendt ſie in dem thurn ein Lynlachen, knüpfftendts aneinand vndt ließendt ihn nachts hinauß vff den Lauffenfelßen, da nit müglich was, mit dem läben von demſelben ort zu kommen. Er kam aber vff ein Holderſtuden, daruff enthielt er ſich, biß der tag anbrach, da ließ er ſich mit verwägen ſins läbens vff die gnad Gottes hinab in das waſſer vndt ſchwamm durch den Lauffen nider, vndt halff ihm Gott auß (vgl. No. 496, pag. 329). Er kam zu einem Meyer gantz nackendt vndt bloß vndt erbathe ihn, daß er ihm ſeine kleider anlait; vndt damit ylet er vff Bruck, zeiget allen handel an, wie er vß vndt darvon kommen, wie es vmb die gefangene ſtunde, vndt daß man ylends zu den ſachen thäte, gab viel zeichen vndt anlaitung, was eines Jeden haußfrauw ſolte verkauffen vndt verſetzen, damit die gefangenen gelößt wurdint. Was nun Falckenſtein vnd ſein anhang an ligenden gütern nit konte darvon bringen, das mußt Jetzt mit der löſung dahin vndt hinwäg, daß alſo die Brugger des vnfals kamendt vmb ligends vndt faarendts.

Vndt alß die ſtatt noch in aller macht brann, hubent an die in der ſtatt blieben, ſtürmen, darumb es von Nachburen ein großen Zulauff gab; die hieltendt ſich aber an Brugg übel, ja ſchuldtendt die armen Burger häfftig (die ſie ſoltindt getröſtet haben) vnd ſagtendt: ſie hettindt die ſtatt mutwillig vndt gern vffgäben vndt weerindt noch beßer Oeſtrychiſch, dan Berneriſch oder Eydtgnößiſch, der Pfauwenſchwantz ſtecke ihnen noch im hindern. Vndt ließendt ſie die heüßer, die ſie wol löſchen mögen, verbrünnen, namendt ihnen noch darzu, was überbliben was. Damit wardt die ſtatt vnſchuldig von frömbden vndt heimſchen an Ehren, lyb vndt gut häfftig geſchädiget. Vndt waarendt domalß in Brugg 171. Burger wohnhafft, 10 wittfrauwen, vndt Eynliff läre heüßer, darin niemandts wohnet.

Vndt da die von Solothurn vernamindt, wie es der ſtatt durch des Falckenſtein vntrüw ergangen was, waarendt ſie ylendts vff vndt fielendt für Gößkchen (Falkenſteins Schloß oberhalb Aarau), da ſie vermeintendt, den von Falckenſtein darinnen zu beträtten. Sein haußfrauw ward gewarnet vndt entrann. Alß ſie aber vff die Schaffmatthen kam (Jurapaß von Aarau in die Baſellandſchaft), vndt hinder ſich ſahe, da brann die veſte Gößkchen in alle macht.

Nach den Original-Bürgerrodeln, die dem Herausgeber vorgelegen haben aus dem Brugger-Stadtarchiv, beträgt die Zahl der von Thomas

Digitized by Google

v. Falkenstein gefangen genommenen Bürger von Brugg 171. Zu Wittwen wurden indeß nur 11 Frauen. Unter den nach Laufenburg in die Burg Ostringen abgeführten Gefangenen erscheint dabei außer einem Bürgi Küeffer auch noch ein Burkhard Küeffer mit dem Beisatze: „ward auß dem Thurn an alten Lumpen in Ryn hinabgelassen." Hierüber vergleiche man No. 496, pag. 329.

Den Thomas von Falkenstein erreichte die Nemesis nicht; ja er entgieng ihr wunderbarer Weise mehr als einmal. Die Solothurner zerstörten zwar sogleich nach seiner an Brugg verübten Unthat sein Schloß Gösgen; aber er selbst sammt Hans von Rechberg war bereits auf sein noch festeres Schloß Farnsburg in der ihm gehörenden Landschaft Sißgau (Baselland-schaft) entwichen. Hier rückten die Berner mit schwerem Geschütze an, vereint mit den Luzernern, Solothurnern und Baslern schlossen sie, 4000 Mann stark, die Burg von allen Seiten aufs engste ein und beschossen sie. Da aber erschien der Dauphin an der Spitze von 32,000 Mann, unter denen die furchtbaren Armagnaken das Hauptkorps ausmachten, plötzlich im Leimenthal und Birsthal. Die Belagerer waren sichtbar bedroht, abgeschnitten zu werden; um dies zu vermeiden, theilten sie sich; die eine Hälfte zog den Armagnaken an die Birs entgegen, überschritten diese und erlagen drüben bei St. Jakob, 1600 M. stark, einer 8000 M. starken Kavallerie. Zehn bis sechzehn Männer von allen kamen davon. Nun sandten die Berner den Ihrigen nach Zürich und nach Farnsburg sogleich den Befehl zur Heimkehr, und so eilig folgte man, daß sogar die Geschütze vor dem belagerten Farnsburg stehen gelassen wurden. Hans von Falkenstein führte dieselben alsbald in den Stein von Rheinfelden, eine feste Felsenburg mitten im Rhein, und beschoß daraus die schweizerische Besatzung, welche damals in Rheinfelden lag; er stützte sich dabei auf Herzog Albrecht, der mit 7000 M. am rechten Rheinufer zu Seckingen stand. Doch der Herzog rührte sich nicht, die Mauern des Stein waren zerschossen, die Vorräthe aufgezehrt, man mußte den Ort verlassen. Auf eine zweideutige Versicherung hin, daß sich keine Adeligen unter ihrer Besatzung befänden, ward ihnen bewilligt, mit den Waffen abzuziehen. Beim Abenddunkel in schlechter Rüstung und staubigen Kleidern stieg Falkenstein mit den Seinigen zu Schiffe und fuhr den Rhein hinunter, zum zweitenmale aus der Hand seiner Todfeinde gerettet. Nur noch verwegener gemacht durch solches Spiel des Glückes, überrumpelte später sein Gehilfe Hans von Rechberg Rheinfelden selbst. Auf zwei mit Holz beladenen Schiffen kam er von Laufenburg herabgefahren, seine Soldaten waren unter dem Holz versteckt, er und die übrigen Herren trugen Pilgermäntel über den Harnischen. Sie bezahlten den Zoll und stiegen als Pilger, die von Einsiedeln kamen, aus, um ihr Mittagsmahl zu halten. Im Nu waren Zollner und Wächter erschlagen, zugleich sprangen aus den Schiffen die unter dem Holz Versteckten hervor, 120 an der Zahl, und aus der Nähe eilte mit 600 Reitern Ritter Wilhelm von Grünenberg herbei, dem die Stadt von Oesterreich verpfändet, von den Schweizern aber bisher vorenthalten worden war. Die Bürger, die sich eben in der Kirche beim Gottesdienst befanden, wurden erst eingeschlossen, dann aber sammt Weib und Kind zu den Thoren hinaus gestoßen, ohne etwas von ihrer Habe mitnehmen zu dürfen. 12 Bürger, die sich auf der Gasse wehrten, wurden erstochen, die Mitglieder des Rathes gefangen, die Häuser geplündert. Als

Digitized by Google

man die Beute vertheilte, kamen auf jeden Krieger 300 Gulden, eine in jener Zeit große Summe. So war durch die Rache eines Mannes daſſelbe Schickſal, welches er der Stadt Brugg bereitet hatte, auch über die Stadt Rheinfelden gekommen, und mehrere tauſend Tapfere, die ihn in ſeiner eignen Burg dafür hatten züchtigen wollen, hatten mittlerweile die Felder bei St. Jakob mit ihrem Blute düngen müßen. Solcherlei unendliche und ſcheinbar vergebliche Opfer verlangt die Zeit, wenn ſie mit einem Fuße aus verlebten Zuſtänden wegſchreitet und noch die neue Stelle ſuchen muß, wo ſie den andern hinſetzen ſoll.

---

## 504. Burgermeister Gast vo Rhifelde.

Vor mäng hundert Johre sin ûf dene Berge und Hüble im Frickthal, im Solothurner- und Baselbiet zentume*) gar viel so hochi Schlösser und Burge gstande. Me gseht jetz nur no verrissene Mûre dervo, d'Flädermüs und Nachtheuel halten ihri nächtlichi Musterig drinn. Dört hen rîchi vornehmi Herre gwohnet, wisset er, e so mit îserne Chappe und mit Stachel (Stahl) z'rings um de Lîp. Und die hen denn au d'Rhîfelder nit am beste möge, wîl's *die* scho doz'môle alliwîl mit de Schwîzere gha hen. Und wie denn selbmôl no kei Ornig im Land gsî isch und numme der Stärcher mit der Fûst Meister gsî isch, so hen denn sälli Ritter allerhand für Plän gmacht, wie se das Städtli in ihre Gwalt überchömte.

Sellemôls het e rîche Müller z'Rhîfelde gwohnet, i glaub ûf der Herremühli, und isch no selber im Stadtrôth gsî und, wie me sait, Burgermeister derzue .. und ébe dä het's mit däne Rittere verabredet, wie n-er ihne d'Stadt well verrôthe. Und er het ene bîm e heiligen Eid gschwore, se z'Nacht am zwölfi bîm sanct Johannsethörli îne z'loh, wenn s'ehm e paar tausig Gulde gäbte.

S'isch scho spôt im Herbst ûsse gsî, vor Allerheilige zue, wo in ere finstere Mitternacht der Sturm hätt solle losbreche. Kei Seel het dra denkt, dass in der Stadt, oder selber im Stadtrôth e so ne falsche Kerli sî chönnti, um es paar tausig Gulde s'Glück und Lebe sîner Früend z'verrôthe. Alles het rueihig gschlôfe. Sogar d'Wächter bîm Rhîthor und am Oberthor hän au nit wîters denkt, und wo sie ihre Bränzgütterli**) leer gha hen, hent se in ihre Wachtstüeblene guetherrlich g'schnarchlet. Do isch denn niemer meh wach gsî as ellei en einzige falschi Chatz, nit eine

*) Im Cent, in der Centgrafschaft.

**) Branntweinfläschlein.

Digitized by Google

vo dene, die mûse; o nei, b'hüetis! die hen si scho alli lang vom Dach abe gmacht, händ 's Schwänzli z'säme g'ringlet und sin au îeduslet. Lîslig isch do ebe der bös Müllermeister Gast ume g'schlarpet, het ei Sack um de ander dûsse vor sîm Hûs ûfbunde und het d'Sprü'r ûf d'Strosse-stei sürble *) lô, so tief, ass me drinn het chönne wate. Goht echter d'Welt z'Grund, chunt do bald der jüngst Tag, ass dä Gîzchrage sî thüri Waar eso verzettlet? Jo frîli meint er's, wedder halt dä jüngst Tag, wo mer ehm morndrigs alli die Sprü'r do in Dublone verwandle sött. Und er cha sech schicke-n und tummle! Denn wie Mitternacht ummen isch und's am Thurn zwölfi schlagt: so rîte sie zuem Rhîthor îe, und so mängs Rossîse über die Sprü'r do ung'hört bis zum Stadtbrunne füre cho cha, so mängs tausig Gulde isch ehm vom Fîend zuegseit.

Aber die liebi Muetergottes selber hets nit wölle, dass e so ne schwarz Verrôth sött g'linge. Und do isch sie ûf dene Stadtmûre z'rings ume gloffe und het alli Uhre hübschli vorgrichtet, eb **) der Gast no fertig und der Fîend vor em Thor parat gsî isch. Do chunt's denn dem Schmiedlehrbueb im sanct Johannsergässli grad so vor, as wenn scho wött der Morgen a-breche, es het æmel, schînt's, justamänt vieri gschlage. Wo-n-er das ghört, stoht er weidli ûf und will am Storchennest-Brunne Wasser go reiche für d'Schmied-ess. Do gseht er bî-n-ere unbegrîfliche Helli z'erst d'Gasse dick mit Sprü'r bstrait und hoch ûf em Oberthorthurn d'Muetergottes bî der Uhr, mit ere prächtige Chrone ûf em Hôr und vo-me goldige Chranz umgä; und es isch ehm, as gsehn-er, wie sie mit ihre eige wîsse Fingere der Uhrezeiger vo zwölfi ûf de Morge am vieri anedrei't. De Bueb, das gseh und gschwind zruck is Hûs, und weckt sî Meister. Dä springt ûf, macht Lärmen und die ganz Nôchberschaft verwacht.

Ghöret ihr ietz d'Sturmglocke lüte und gsehnt ehr, wie d'Burger mit Spiess, Axt, Hellebarte und Sägesse z'säme springe, d'Ringmûre go b'setze? Und der Fîend? wo-n-er das gseht, ass alles übere-n-isch, se isch ehm 's Herz i d'Hose g'heit und er het si dervo trausst. †) Was meinet ihr aber, was me mit em Verräther selber het agfange? In e gross Chessi voll siedigs Oel hend's-en gsetzt dört, wo ietz im Rôthhûs d'Füerspritze stöhn,

*) Fliessen, rinnen, sorbere.

**) ehe.

†) tränteln, tränzen, träge gehen (Stalder 1, 297) wird aargauisch zu traussen, wie constare zu französisch coûter wird.

Digitized by Google

und hen en läbendig versotte, ass Hût und Hôr von em gfahren isch. Und s'isch ehm gar recht gscheh.

Chûm aber hend's-en grichtet gha, jo, do het d'Angst und 's Elend i der Stadt erst recht g'regiert. Denn ebe der bös Gast, wo läbig scho alles an Füer und Schwert het welle ûsliefere, het au noh sîm Tod nonigg ûfg'hört. In der Gstalt von eme fotzlige *) Pudel, oder von ere schwarze Chatz isch er mit füerige Auge ietze durh alle Gasse gloffe. Wer en vo wîtem gseh het, het's Chrüz gmacht. Wer em zuefälliger Wîs um en Ecken ume-n-entgege g'loffen isch, oder wer erst noh der Betzît heim cho isch, dä het di ganzi Nacht nümme chönne bete oder schlôfe; s'isch ehm gsî, der ganz Sunneberg lieg ehm ûffem Herz. Doch das alles isch no lang nit gnueg gsî. Wenn i dene Winterôbede, bsunders in der Adventzît, wo jeder si vorbereitet uf d'Giburt des Herrn, d'Burgerlüt mit ihre Chindere um de Tisch gsesse sin und hen Legände gläse oder e Rosechranz z'säme betet: so het do der Gast vo der Gass unten-ûf sîs grüslig G'spängstergsicht z'eimmôlen durh d'Fenster durhe gstosse und îe gstreckt. Und i hätt's niem grôthe, öbbe d'Fenster ûfz'thue und ehm nôh z'schaue, wo-n-er hiegiengi; er hätti sî Wunderfitz gwüss thüer müesse büesse. Denn der Chopf wär ehm ûfg'schwulle wie ne Cherneviertel, und er hät en nümme zuem Fenster îne brôcht.

Mängs liebs langs Johr isch es so gange. Do endlich het e fromme Kapuziner **) dä wüest Gast îne benedeit und îne bannet in e Burgunderschlegel †) und het en selber ûssetrait in de Grüttgraben ††) und dört am Rhîn wît dûsse verlochet tief in d'Erde, wo-n-er Sunne und Mond gwüss nit gseht. Aber es het der Gast halt dört au ietz no kei Rueh und lasst ander Lüten au ekeini. Wer ietz no über sälle Grügrabe gumpe will, chunt gwüss nit übere — i ha's selber probiert! Und alli Johr i der Wiehnacht, wenn's z'Nachts zwölfi mit alle Glocke lütet, wo denn die zwölf Burger mit ihre Mäntle und Kirchelaterne bîm Haupt-

*) Mhd. vahs, Haar.

**) Dem widersprechen die Frickthaler-Bauern zu Wölfliswil, sie sagen: Eusä Pfarer seeliger, der Schalläme, häig än ûsä tho, aber das ist ä Herr gsî, ä Jesiwiter. I ha scho mängist ghört, mär chömä käänä meh so üobär, gwüss nit, i bi där guät därfür!

†) Hier Weinflasche. Es scheint aber Verwechslung mit Schlegel, das schwarzsammtene Tonsurkäppchen der Geistlichkeit. Vgl. Schmeller, Wb. 3, 446.

††) Das Gereute, Gewicke: Schindanger.

Digitized by Google

wachbrunne afange z'singe, „In der heilige Wiehnächt z'nacht“ — so chunt er allimol richtig em Städtli um so viel nächer, as e Hahn ûf eim Fuess erschrîte mag, und do brüelet er derzue, ass z'ringsum der Erdbodde chracht. Chunt er emol bis zum Oberthor îne, so hem-mer der jüngst Tag. Mî Grossvatter seeliger het mer mängsmol g'seit, dä Gast sei ietze bereits scho bis zuem Rosegässli füre cho, ûssevor an de Dreikünige,*) grad hinterm Dreifaltigkeits-Cappälleli; und do isch es numme no öppe zwaihundert Schritt in d'Stadt îne. Und wenn do d'Walbacher- oder d'Schwörstetter-Schifflüt so ame chalte Winterôbed still ûf em Rhî durab fahre, so höre sie grüslig brüele; denn mache sie 's Chrüz und bete. Denn es isch der bös, unruehig Gast, der in der Oedi dûss sis Fägfüer no nit rächt gfunde het. (Mundart der Stadt Rheinfelden.)

Der Name des Stadtmüllers Gast ist appellativ, wie er mhd. gilt. Als Siegfrieds Leiche vor die Thüre Kriemhildens gelegt wird und das Weib den ihr bevorstehenden Schrecken ahndet, wird sie dabei von ihrem Gefolge mit der Vorstellung getröstet, es sei vielleicht nur die Leiche eines Fremden, waz ob ez ist ein Gast! Nib. 951. So ist dieser Name auch im Luzernischen noch weniger als Bey- oder Hintersäße, nur der Fremdling, dem auf Ruf und Widerruf der Aufenthalt im Orte erlaubt ist. Stalder. Der Fricktaler hat die Formel, mit der er Unarten verweist: du wüster Gast. Der Appenzeller (Tobler 213 b) bezeichnet damit ein Ungethüm und Gespenst.

Die Rheinfelder-Gastsage beruht nicht ursprünglich auf einem histori-Vorgang, allein sie ist mit einem solchen zusammengewachsen aus dem Jahre 1464, und dieser hat sich wiederum gepaart mit einer spätern Ueberrumpelungsgeschichte der Stadt durch die Schweden im J. 1633. Es ist meinem geschichtforschenden Freunde Pfarrer C. Schröter zu Rheinfelden geglückt, das Original-Protokoll einer zu Basel veranstalteten Tagfahrt aufzufinden, in welchem zwischen Bern, dem angreifenden Theile, und zwischen Oesterreich, in dessen Erbland das von Bernern angegriffene Rheinfelden gelegen, die Sühnpunkte wegen des hier begangenen Landfriedensbruches verhandelt werden. In diesem Protokoll vom 18. Febr. 1465 ist zwar nicht vom Rheinfelder-Gast, wohl aber die Rede von der vergicht des berichten mullers von Rynfelden, der mit Hilfe einiger aus dem Bernerlande gekommener Reisläufer und Kriegsknechte die österreichische Stadt in der Berner Hand zu liefern gedachte. Berns Mitschuld schien dadurch unabläugbar, daß Ludwig Krummenacher, zweiter Berner-Stadtschreiber, die Freischaaren unter Vorweisung obrigkeitlicher Autorisation im Berner-, Freiburger- und Solothurnerlande angeworben und gegen Rheinfelden geführt hatte. Die

*) Dies hängt zusammen mit dem Sprichworte: Nach *Dreikönigtag* wächst der Tag je um einen *Hahnenschritt;* ein bildlicher Massstab der unmerklich langsam wachsenden Zeit. Grimm. — Vgl. mit dieser Erzählung auch Abthl. III, No. 164: der Lälle von Rheinfelden.

Digitized by Google

Berner-Gesandten stellten heftig in Abrede, dieses Müllers Mitverschworene gewesen zu sein, und die Tagfahrt zerschlug sich. Das geschichtliche Resultat, das übrig bleibt, ist, daß die eingedrungenen Freischaaren wieder aus der Stadt geworfen wurden, der Müller gefoltert und hingerichtet und endlich ein kirchliches Dankfest für die Rettung der Stadt eingesetzt wurde, das man bis 1802 jährlich am 15. December begieng. Als die Stadt an die Schweiz kam, unterblieb's. Die aus der Sage stammenden Einzelheiten dieser Erzählung erläutern sich zusammen aus jenen Ueblichkeiten und Geschichten, die man in den Namen Mordnächte zusammenfaßt, und welche ursprünglich religiöse Dankfeste und Opfermahle waren, die man dem Aerntegott zu Ehren feierte. Hier fällt der dazu anberaumte Tag auf Allerheiligen und man bestreut die Stadtgasse mit Spreuern, wie die Chorschüler zu Evreux auf ihrem Maigang jedem Begegnenden Kleie ins Gesicht streuen mußten. (Flögel, Grotesskomisches pag. 171.) Man siedet Kuchen in Oel (1, 205), und einer der dabei gebrauchten großen Kessel, behaupten die Rheinfeldner, sei noch vorhanden und werde im dortigen Spritzenhause verwahrt. Die kirchlichen Wunder, welche sich mit eingemengt haben, finden sich bei ähnlichen Begebenheiten wieder. Der Rheinfeldner-Bürgermeister Gast hat als Ortsgespenst den Namen Lälle erhalten. Diesen Namen hat bekanntlich auch das Wahrzeichen der Nachbarstadt Basel geführt, ein Mannshaupt auf dem Thurme des ehemaligen Rheinthores, welches mit dem Pendel der Thurmuhr in Verbindung war und nach dessen Bewegungen die Zunge herausstreckte. Vgl. die Anmerkung Abthl. III, pag. 207: „der Lälle von Rheinfelden". Es ist eine zur Verscheuchung des Feindes aufgestellte Maske gewesen. Hanflöhle ist noch die Vogelscheuche am Felde, Ofenlöhle der verzierte Schieber an alten Kachelöfen geheißen. Wie man zum Schutz der Rosse in den Ställen einen Schafbock hält, den Roßbock, der gegen alle bösen Geister die Thiere behüten muß, so hält man fast auf allen Glarneralpen eine Stutte, die sogenannte Alpenlohle. Sie dient zugleich als Saumroß, das die Käse und Käsekessel zu vertragen hat. Steinmüller, Alpenwirthsch. 1, 106. Ein Steinkopf am Kissinger-Rathhaus heißt Jud Schwed; bald soll er die Stadt an die Schweden verrathen, bald letztere mit Trefflugeln von der versuchten Belagerung vertrieben haben. Er wird auch Peter Heil genannt, und ihm zu Ehren hat man Kirchenprocessionen abgehalten. Schöppner, bayr. Sagb. No. 272. 273. Man trug am Fasnachtmontag eine Riesenfigur um, deren Kopf beständig wackelte; dies war das Bild des Riesen, der den belagernden Feind dadurch von Emmerich verscheuchte, daß er den Kopf zähnefletschend über die Mauer gesteckt hatte. Wolf, Ztschr. 3, 173. Vgl. die Nachträge dieses Bandes.

Die Jungfrau Maria richtet die Thurmuhren Rheinfeldens zur Täuschung der Feinde um mehrere Stunden vor; aus gleichem Grunde, sagt man, ist auch die Basler-Uhr noch bis zum Jahre 1798 allen übrigen Uhren Europa's stets um eine Stunde vorgerichtet gewesen. Eine ähnliche wunderbare Errettung aus Feindeshand durch die Mutter Gottes eignet sich die Stadt Köln zu in ihrer Fehde mit Bischof Engelbert 1266. Weyden, Kölns Vorzeit, pag. 75. Speth, Konstanzer-Chronik 1733, erzählt dieselbe Art der Marienhilfe, welche den Konstanzern zu statten kam gegen den schwedischen Belagerer Gust. Horn i. J. 1633. Schnezler, bad. Sagb. 1, 40; und die Gebweiler Dominikaner-Chronik weiß es für ihren

Digitized by Google

Ort seit der durch die Armagnaken 1445 erlittenen Belagerung. Stöber, elsaß. Sag. No. 40. Auch Helmstädt wird 1279 durch die hl. Jungfrau entsetzt, die von einem Kirchthurm zum andern Seidenfäden spannt und in ihren Glorien drüber wandelnd den stürmenden Markgrafen Albrecht verjagt. Steinau, Sag. (Zeitz 1838) pag. 190. Damit sind immer wieder diejenigen Fackelsignale betont, welche in der Geschichte der ältern Mordnächte von Seite der Verschworenen dem außenher lauernden Feinde gegeben werden sollen, welche indeß in Wahrheit ursprünglich nichts anderes bezeichnen, als diejenigen geschichtlich nachweisbaren Fackelzüge, Scheibenfeuer, Neujahrsfeuer und Stadtbeleuchtungen, bei deren Freudenschimmer bereits das früheste Mittelalter festliche Nächte gemeindeweis durchschmauste.

Das von den Feinden belagerte Rheinfelden steckt einer mit Weizen überfütterten Kuh einen Zettel an das Horn mit den Spottreimen (1, 205):

So ring as deisi Chueh lehrt spinne
wird der Schwed Rhîfelde g'wünne.

Dasselbe wiederholt sich mit diesem oder einem ähnlichen Thiere, und in Begleit ähnlicher Reimsprüche in vielerlei Sagen.

Neustadt an der Aisch hat die Figur einer Geis als Wahrzeichen am Stadtthurme; denn in Gestalt eines Ziegenbocks, der fett und munter von den Mauern hinunter meckerte, hatte einst ein kluger Bürger die Stadt von der feindlichen Belagerung erlöst. Schöppner, bayr. Sag. 2, No. 655. Die Stadt Kaufbeuern hat ein Gaisthor und das daran stoßende Wirthshaus heißt zum Gaiswirth. Als nämlich der Ort belagert und durch Aushungerung der Uebergabe schon nahe gebracht war, schaute ein langbärtiger Webermeister durch eine Schießscharte neugierig in das Lager hinunter. Sogleich zogen die Feinde ab; sie hatten ihn für einen stattlichen Geisbock angesehen, der noch keinerlei Hungersnoth andeutete. Schöppner, bayr. Sagb. No. 1185. Mit einem Laib Brod auf der Stadtmauer spazierend wußte der Augsburger-Bäckermeister Konrad Hackher die belagernden Schweden abzutreiben. Nun ist am Untern Graben in Augsburg der steinerne Mann mit einem Laib Brod aufgestellt zu sehen. Ibid. 1227. Am Marktplatz zu Hof war einst eine Bekanntmachung angeschlagen des Inhaltes, jeder Hausbesitzer solle in jedes Fenster des obern Stockwerkes eine Kandel starken Bieres stellen, für einen langbeinigen Trinker, der sich auf den bestimmten Tag der Stadt zum Gastbesuch anerboten habe. Um Mittag kam ein langer riesiger Geselle die Straße her, schaute zu den Fenstern der obern Stockwerke hinein, trank alle zu beiden Seiten der Straße herausgestellten Kannen leer, zog dann zum Danke seinen Hut und spazierte über zwei Fuhrwagen wieder zum Thor hinaus. Ibid. 181. In gleicher Weise hat der Bürgermeister Gast sis G'spängsterg'sicht vo der Gass unten ûf durh d'Fenster z'eimmole ie g'streckt. Die von den Mainzern belagerte Burg Rieneck steckt einen Schinken auf eine Stange, läßt eine Kuh auf der Mauer spazieren und giebt dabei den Reim zu lesen:

So wenig die Kuh den Schinken frißt,
So wenig Burg Rieneck euer ist.

Ibid. No. 974. Gegen die belagernden Franzosen hatte die Bevölkerung von Arras auf eines der Festungsthore den Spruch einhauen lassen:

Quand les Français prendront Arras,
Les souris prendront les chats.

Digitized by Google

Die Franzoſen erſtürmten die Feſtung und behielten nun denſelben Thorſpruch bei, mit bloßer Weglaſſung eines Buchſtabens; ſie ſchrieben ſtatt des erſten prendront „rendront“.

---

## 505. Der Dohar-goht-er in Zofingen.

Zur Zeit als Friedrich II. von Hohenſtaufen in den päpſtlichen Bann fiel, ſuchte der um Zofingen geſeſſene Adel im Bunde mit dem Mönchskloſter in Zofingen ſich der Stadt durch einen Handſtreich zu bemächtigen. Hiefür beſtimmten ſie den Otmarsabend. Ueber das Jahr iſt man ungewiß und giebt wechſelnd 1238, 41 und 42 dafür an. Die Söldner des Adels wurden in Salzfäſſern verſteckt in die Stadt geführt und im Hofe des dortigen Dominikanerkloſters untergebracht; Nachts ſieben Uhr ſollten ſie ihre Fäſſer verlaſſen und dem vor den Thoren wartenden Zuzug dieſe öffnen. Ihr Loſungswort ſoll ſonderbarer Weiſe gelautet haben: Dohar goht er! daher kommt er. So weit bleibt ſich in Chronik und noch lebender Tradition die Erzählung getreu, ſchwankt aber ſchon ſeit alter Zeit vielfach darüber, wie die Verſchwörung entdeckt worden ſei. Einer der Soldaten, ſagt man, hätte während des lang dauernden Zuwartens in ſeinem Faſſe ſich ſo bezecht, daß er das Stichwort zu frühe gerufen habe; oder vorübergehende Bürger hätten Lärm in den Fäſſern gehört und Argwohn geſchöpft; darüber ſeien die verſteckt geweſenen Kriegsknechte entdeckt und niedergemacht worden. Am meiſten Geltung hat folgende Angabe. Knaben und Schüler hätten auf jenem Kloſterplatze, den man nun Schul- und Stiftplatz nennt, zur Zeit des Kalten Jahrmarktes, am 16. November, des Abends Ball geſchlagen, und dabei ſei einem Rathsherren-Söhnlein der Ball hinter jene Fäſſer gefallen, worinnen die Feinde verſteckt lagen. Als er ihn dorten holen gieng und ſeinen Kameraden von der Stelle aus wieder zuſchlagen wollte, bedeutete er ihnen die Richtung, in welcher jetzt der Ball ihnen zufliegen ſolle, und rief nach Landesmundart „Dohar goht er!“ Augenblicklich wiederholte aber eine Stimme aus dem Faſſe neben ihm dieſes Wort. Er winkte die Knaben herbei, begann noch einmal ſeinen Spielruf und auch jetzt wiederholte eine rauhe Stimme im Faſſe neben ihnen abermals das Wort „Dohar goht er“. Sie erſchraken und meldeten es ſogleich daheim. Nun erbrach man die Fäſſer und fand darinnen nicht bloß die Soldaten, ſondern auch diejenigen Briefe, in denen die Mitwiſſer dieſes Ueberfalles ſämmtlich verzeichnet waren. Unter dieſen ſtanden nun die Namen der Zofinger-Predigermönche oben an. Neun dieſer Verräther wurden außen an der Stadtmauer

Digitized by Google

aufgehängt. Die Grafen von Froburg im Jura, welche der Stadt und des Stiftes Schirmherren waren, jagten die übrigen Mönche aus, gründeten statt des Klosters eine Probstei und setzten sich selbst zum Probst. Der erste dieser Art ist im J. 1241 wirklich Rudolf Graf von Froburg gewesen.

Um das Andenken an diese glücklich vereitelte Mordnacht bei der Bürgerschaft wach zu erhalten, beschloß man in einer historisch unermittelten, jedenfalls sehr frühen Zeit, diesen Tag festlich zu begehen. Zur Zeit des Kalten Jahrmarktes wurden den Zofinger-Kindern alljährlich Nüsse und Wecken vom Kirchthurme herab ausgeworfen, wobei zugleich ein vermummter Umzug abgehalten wurde; und es ward festgesetzt, daß die Stadtwächter durchs ganze Jahr des Abends um sieben Uhr an allen Hauptplätzen und Straßenecken der Stadt das Losungswort der Verschworenen ausrufen mußten. Weil aber die lustige Stadtjugend in der mildern Jahreszeit dem Nachtwächter zu gerne nachlief und seinen Ruf nachrief, so ward dies Umrufen vom Jahre 1496 an nur auf die Zeit zwischen Otmarstag und Lichtmeß, also zwischen 16. Novbr. und 2. Febr., verlegt und der erste Tag mit einem öffentlichen Umzug der Rathsherren durch die Stadt eröffnet, wobei dann die Kinder Weizenbrode, „Mutschene" beim Stiftsschaffner ausgetheilt erhielten und der Magistrat einen Abendtrunk einnahm. Dieser Brauch ward erst im J. 1798 beim Einbruche der Franzosen unterlassen. Lange Jahre nachher, als die französische Uebergewalt in der Schweiz wieder vorbei war, erinnerten sich ältere Leute jenes frohen Umzuges wieder, den sie sonst in ihren Kinderjahren abgehalten hatten, und beschlossen, ihn aufs neue zu veranstalten. Am nächsten Otmarsabend versammelten sie sich auf dem Hauptplatze, jeder mit einer ausgehöhlten weißen Rübe, in der ein brennendes Licht steckte, und begannen mit dem Glockenschlage Sieben den Zug, der nun an den üblichen Straßenecken den gewohnten Schrei wieder hören ließ. Allein ebenso, wie ehemals nach der Mordnacht die Dominikaner aufgehoben worden waren, so war nun durch die französische Revolution jener Stiftsschaffner aufgehoben, welcher an die Stelle der Mönche getreten war, und somit erhielten jetzt die Knaben keine Festbrode mehr ausgetheilt. Wie man sich nunmehr behalf, dies mag hier die Zofinger-Stadtchronik vom Jahre 1825 erzählen, in welcher es wörtlich heißt:

„Dieser patriotische Eifer gefiel indessen Eltern und Burgeren so wohl, daß einige male durch Souscription denen Knaben die Mütschen (Brode) konnten ausgetheilt werden, und so beschlossen nun der Stadtrath, einen solchen Umzug jährlich zu veranstalten. Auf dieß-



Digitized by Google

jährigen Othmarusabend 1825 wurden daher sämtliche Schulerknaben aufgefordert, des Abends um halb 7 Uhr jeder mit einem kleinen Laternli vor dem Rathhaus sich einzufinden. Es trafen bei 250 Knaben ein. Der Herr Oberbauherr, der Stadtschreiber, der Groß- und Klein-Weibel, sämtliche in Mantel und Degen, nebst zweien Nachtwächteren, welche die Rondölen (Windlichter, ital. rondello) trugen, versammelten sich, und um 7 Uhr begabe sich der Zug vom Rathhaus die obere Gaß hinauf in den Hauptgassen herum bis zur Stift; auf allen gewohnlichen Plätzen rufte einer der Weibel:

Dohar goht er!
Holz aus dem Ofen,
Wasser ins Haus!
Und das bei der Einung!
Bewahret Fü'r und Liecht,
Dass üch Gott bihüt!

Worauf der ganze Schwarm von Knaben, der dem Zug nachfolgte, pflichtgemäß jedesmal einfiel:

Salôt, Salôt!

So weit der Bericht der Chronik.

Wer auf der Endsylbe dieses Wortes am längsten aushalten konnte, der hielt sich dieses Jahr über für den stärksten Schreihals in der ganzen Stadt. Hinter diesem Zuge lief Alt und Jung her und suchte die maskierten Buben herauszurathen; kam aber eines der g'wundrigen Mädchen ihnen zu nahe, so wurde es ergriffen und von einer Menge geschäftiger Hände mit Kohlen oder angebranntem Korkholz unbarmherzig gebrämt. Beim Rathhaus angelangt, wurden die Kinder in den Hof eingelassen und erhielten jegliches ein paar Semmelmütschi. (Histor. Zofinger-Notizen, S. 9. — Chronik der Stadt Zofingen 1811. 1, 37. — Mündliche Mittheilungen.)

Von der zweiten Zeile an des obigen Spruches beginnt ein späterer Zusatz, der größerer Feuersbrünste gedenkt, durch welche die Stadt mehrmals beschädigt worden; deshalb wird dem ordnungslosen Hausbesitzer mit jener Geldbuße gedroht, welche, um das gebrochene Gesetz zu einen, an die Mitglieder der Gerichtsbehörde, an die städtischen Einungen bezahlt werden mußte. Ahd. einunc ist Gesetz, Zunftordnung, die sich eine Gemeinde selbst giebt, zugleich Verbannungsstrafe gegen den Uebertreter. Vgl. bei W. Wackernagel, Basler-Dienstmannenrecht 1852, pag. 34.

Das Schlußwort Salôt wird als aus Soldat corrumpiert angesehen; mit Unrecht. Auch das Posthorn bläst „Salat, Salat und grüne Petersilie!" Grimm, Altd. Wäld. 1, 107.

Digitized by Google

Beinahe jede schweizerische Stadt will ihre besondere Mordnacht bestanden haben und hat die Erzählung hievon herkömmlich der Landesgeschichte einverleibt. Des Materials hierüber ist so viel, daß es seinen eignen Sagenkreis bildet; mit der wachsenden Forschung ist auch einige Klarheit in dieses Kapitel gekommen. Segesser, Rechtsgesch. Luzerns 1, 248 zeigt die historische Unmöglichkeit der für die Luzerner-Mordnacht gewöhnlich angenommenen Thatsachen. Im Urkundio 1854, pag. 239, zerbricht sich ein Geschichtsforscher den Kopf, wie man die sich widersprechenden Angaben über die Solothurner-Mordnacht 1382 in Einklang bringen könnte. Aehnliches wird sich noch ferner wiederholen, wo man überdrüssig werden wird, das seit Jahrhunderten darüber mechanisch Fortgeschriebene fernerhin noch abzuschreiben. Auch wo historische Thatsachen wirklich vorliegen, da enthalten diese Mordnächte nicht jene vorausgesetzten Kriege und Belagerungen, die ein übermächtiger Feind gegen eine noch kleine Stadt unternimmt, sondern Händel der Bürgerschaft in ihren einzelnen Gilden und Zünften meistens über das Wahlrecht und die Aemterbesetzung. Die mit den ältesten Mordnächten der Schweiz gleichzeitige älteste Oberrhein. Chronik (ed. Grieshaber. Rastatt 1851) erblickt daher in diesen Vorgängen nichts anderes als, wie sie unbefangen erklärt, einen Streit der „gemeinde wider die retten".

Die Zofinger-Mordnacht nun ist, trotzdem daß bereits Stumpfs Chronik 1586, pag. 510, von ihr erzählt, aus jenen Erzählungen entlehnt und zusammengesetzt, die über die ähnlichen Vorgänge benachbarter Orte im Schwange waren. Dies macht ihren Werth nicht geringer, wenn sie nur den Sagengrund, auf den sie sich stützt, noch deutlich und als etwas eigenthümliches erkennen läßt. Hier in Kürze die Hauptpunkte; eigens besprochen finden sie sich in Oberdeutsches Gebildbrod, No. 2: der Backofen als Erretter und als geschichtlicher Befreier. Der kritische Tag fällt auf den Jahrmarktstag des St. Otmars-Abend. Auf diese Zeit des Wintermonats verlegen auch die übrigen Städte den glücklich bestandenen Angriff. Die Rheinfelder-Mordnacht fällt auf 15. Decbr. 1446. Auf 16. Wintermonat 1315 setzt Tschudi zusammen an: den warnenden Pfeilschuß des von Hünenberg, die Schlacht am Morgarten, das Treffen bei Bürgenstad und Alpnach.

Das geschach wol auff Sanct Othmarstag,
wie bey vns ist der Chronik sag.

Schön newes Lied vom Streit am Morgarten. Getruckt 1621. — Die Solothurner-Mordnacht fällt auf Martinsabend 1382; und wo uns der bestimmte Tag nicht mit angegeben wird, da erfährt man doch eben dieselbe Winterszeit, weil es alsdann der geheizte Ofen ist, hinter dem theils die Verschworenen sitzen, oder dem theils die Entdeckung ihres Anschlages verrathen und gebeichtet wird. Hinter dem Ofen erfährt der Pfisterknabe Eckenwiser die Verschwörung gegen Zürich 1350 (Bullinger, Chronik 1, lib. 8, c. 1—3). Dem Ofen verräth ein Bettelbube die Luzerner-Mordnacht 1333. Eidgenöß. Liederchronik, 287. Die Greyerzer-Mordnacht verräth Mösching dem Ofen. Alp.-Ros. 1829, 281. Dasselbe geschieht bei der Breisgauer-Mordnacht: Schnezler, bad. Sagb. 1, 378. Dieses Ofens wird in der Zofinger-Mordnacht nicht Erwähnung gethan, um so mehr aber der frischen Weckbrode und Mütschen, die in ihm für den altstädtischen Festtag fertig gebacken und an alle unentgeltlich vertheilt wurden. Bei dem allgemeinen Festessen der Bürger darf auch der Wein nicht fehlen, bei der

Digitized by Google

allgemeinen Fleischvertheilung nicht das Salz. Daher spielen die Wein- und Salzfässer in diesen Mordnächten eine sich überall gleich bleibende Rolle. Der vertriebene Stadtschultheiß Johannes läßt sich in einem Fasse Nachts nach Kolmar hinein fahren, in eines Domherren Hof abladen und öffnet dem draußen lauernden Rudolf von Habsburg die Thore. Königsbofens Chronik zum J. 1261. Als die Zürcher Rapperswil auf dieselbe Weise überrumpeln wollen, werden sie gerade so durch Kinder entdeckt, wie es den Soldaten in Zofingen geschah: dan so vill als die kind hatten gesehen zuo den spundlöchlin ein die harnasch vnd mordaxen, etc. Rickenbachs Chronik, in den Zürch. Antiquar. Mittheil. 6, 235. Unter einer Stande (Schaff) betrifft man in der Zürcher-Mordnacht jenen Bauern, den der verschworene Adel darunter auf die Lauer gelegt hatte. Bullinger, loc. cit. Auch zur Mordnacht von Wesen führt man Geharnischte in Fässern ins Städtchen, ao. 1387. Schuler, Gesch. v. Glarus, 60. Die Verräther werden zur Strafe selber ins Faß geschlagen und ersäuft; so die drei Buben, welche der Stadt Altstätten im Rheinthale eine Mordnacht bereiten wollten. Auch die Knaben zu Neuchâtel entdecken während ihres Knabenspieles die in Salzfässern eingeschmuggelten Burgunder-Soldaten. Für ihre Achtsamkeit erhalten sie alljährlich am 2. November einen öffentlichen Schmaus und tragen dabei den geharnischt aufziehenden Mitbürgern, welche dann Armürins heißen, Fackeln voraus. Alp.-Ros. 1820, 252. Dieser Fackelzug erinnert sogleich an die von den Zofingerkindern in Prozession umgetragenen Rondellen und Rübenlichtlein. Ausgehöhlte Kürbisse und Rüben mit Lichtern besteckt tragen die Kinder um Koblenz, Düsseldorf, Elberfelde am Martinsabend auf Stangen umher; ihre Reimrufe giebt Firmenich an; so rufen auch die Zofingerkinder dabei fortwährend Salat, Salat! Man deutet dies Wort in Soldat um, weil diese, in ihren Fässern versteckt, von den Kindern entdeckt wurden; allein es werden heute noch im Baireuthischen sogenannte Salatkirchweihen abgehalten. Die vom Dorfe Ober-Säs beschreibt Jean Paul Richter, Reimer'sche erste Ausgabe XVII, 168. Dagegen ist die Lichterweihe, das Martinsfest und die mit ihm in der gleichen Jahreszeit verzweigten ein dem Aerntegott Wuotan gefeiertes Dankfest, und der Freudenruf, mit dem es ausgeschrieen werden mußte, war der sogenannte Mordioruf. Dohar goht er! ruft man in Zofingen, d. h. hier zieht der Fruchtwagen mit dem Gotte ein. Petermann (d. h. ebensowohl Bratapfel, als Pulver- und Sprühteufelchen) hieß die Chrye in der Zürcher-Mordnacht, Geltenhals rief man beim Berner-Aufruhr 1370. Justinger, Chronik. Auch hiebei soll der Stadtthürmer hingerichtet worden sein, weil er mit dem Bischof Johann von Vienne in Verbindung gestanden haben sollte, der es auf Ueberrumpelung der Stadt abgesehen hatte. Es geht ums Leben! übersetzt man diesen Ruf; allein es heißt Geltenhalts, Gastmahl im Freien (Stalder 2, 15: Halt), eine Gelte macht 8 Pokale Wein aus. Anton, Gesch. der Landwirthsch. 2, 282. In der Breisgauer-Mordnacht 1366 hatte der treulose Stadtthürmer dem Feinde ein Fackelsignal gegeben; daher darf nun auf jenem Thurme daselbst weder Feuer noch Licht mehr unterhalten werden. Schnezler, bad. Sagb. 1, 378. Aus gleichem Grunde, da die Zofinger-Chorherren Verräther der Stadt sind, ruft man am Otmarsabend auf den Straßen aus: Bewahret Feuer und Licht, und das bei der Einung! Die städtische Geistlichkeit steht in derlei Sagen gewöhnlich

Digitized by Google

mit dem stürmenden Feinde heimlich in Verbindung. So wird der treulose Solothurner-Chorherr geviertheilt, weil man nach der Mordnacht Haussuchung hält und einen Vorrath von Kerzen bei ihm findet. Schuler, Sitt. und That. der Eidgenoss. 1, 260. Seinem Chorherrenstifte wird dann zur Strafe der Zehnten des Dorfes Selsach abgenommen und der Ertrag davon jährlich unter die Bürger vertheilt, bis derselbe 1567 dem Spital geschenkt wurde. Bern. Neujahrsbl. 1827, 16. Die Zofinger-Predigermönche werden aus ähnlichem Grunde an der Stadtmauer aufgehängt. Zwei Kölner-Domherren werden, da sie 1262 gegen die Stadt und den Bürgermeister revoltieren, unter das Thor des Domklosters gehangen und dies heißt seitdem das Pfaffenthor. Weyden, Kölns Vorzeit pag. 173. Bischof Engelbert selbst wird mitgefangen und in ein eisernes Vogelhaus auf die Stadtmauer gesetzt. Ettmüller, Pfaffentrug. Zürich 1842. Dies sind Züge aus dem heidnischen Religionsbrauche der Lichtweihe; ehe dieser sich in christliche Feste, wie Mariä Lichtmeß und Osterfeuer, verkehren konnte, mußte er den Umweg durch die politische Geschichte unseres Gemeindelebens ablaufen und ist dabei als ein angeblich geschichtliches Ereigniß verhärtet stecken geblieben. Daher erzählt unsere No. 252, die Bevölkerung des Surbthales sei durch brennende Kerzen bei ihrem Alten Glauben erhalten worden. Vom Bachplätschi, No. 252, wird behauptet, dieser Geisterhund sei einst ein General der Zwinglianer gewesen; er habe die Katholiken des Surbthales alle in einer Nacht erwürgen lassen wollen und hätte deshalb in den Wohnungen der dortigen Reformirten gleichzeitig brennende Kerzen aufstecken lassen. So weit damals die Vertilgung der Altgläubigen ergehen sollte, von der Mündung der Surbe in den Aarfluß bis hinauf an die Zürchergrenze, muß nun der General als Pudel im Bache plätschern. Ueber die Bedeutung von Kerze und Licht vgl. Bd. 1, pag. 350.

---

## 506. Mordnacht in Aarau.

Auch Aarau will seine Mordnacht gehabt haben. Oesterreichisch gesinnte Edelleute habe der Wohlstand des aufblühenden Städtchens, das sich mit den Nachbarstädten Brugg, Lenzburg und Zofingen zu besonderer Freundschaft und Hilfeleistung verbündet hatte, mit Neid erfüllt. Während nun Hans von Falkenstein vom nahen Schlosse Gösgen aus die Gegend unsicher machte, hätten sich die übrigen Schloßherren Nachts vom Gyßhübel oder Hungerberg her in die Stadt geschlichen und wären bis in die Gegend des alten Löwenwirthshauses vorgedrungen. Hier aber sei die Zunft noch versammelt gewesen, und durch den Schein der Lichter wurden jene wieder verjagt. Einige Jahre später stieg hinter der Staffelegg Feuerschein empor, die Bürgerschaft dachte an Bruggs Schicksal, das Falkenstein eben damals überfallen und eingeäschert hatte, und schickte jetzt zwanzig Bürger über den Jura sogleich zu Hilfe. Da sie aber gegen Wölfliswil kamen, geriethen sie in einen Hinterhalt und wurden alle bis

Digitized

auf einen durch Falkensteins Söldner niedergemacht. Die handschriftl. Aarauer-Stadtchronik von Ulrich Fisch führt die Gefallenen alle mit Namen auf.

## 507. Buboo auf Muniwolf, bei Eicken.

Zur Zeit des Schwedenkrieges hatte der Feind sein Zeltlager auf dem Sisseler-Felde am Frickthaler-Rheinufer nahe bei Eicken geschlagen. Südlich davon ist das Thal Buestell (Burgstall) und an dessen hinterm Ende eine Anhöhe, welche die beiden Namen Brom und Muniwolf trägt. Ein Schloß stand ehemals auf dem Gipfel, aber alle Ruinen davon sind längst verschwunden. Doch hütet dorten das Bruchmatt-Maidli die vergrabenen Schloßschätze und geht, schneeweiß gekleidet und ihre Haare strählend, herab zum Thalbrunnen. Das Merkwort, das sie dabei zu rufen pflegt, heißt Buboo! Unter diesem gleichen Rufe sammelten sich einstens die Bewohner von Eicken beim Herrn jenes Schlosses auf Muniwolf, sahen entrüstet, wie ihre Felder ringsum noch immer von Feindeszelten bedeckt waren, und brachen dann unter seiner Anführung mit furchtbarem Schlachtgeschrei von der Waldhöhe ins Schwedenlager herab. Der Feind konnte ihre geringe Zahl, wie sie aus dem engen Buestallthale einzeln hervorsprangen, nicht bemessen, sondern hielt sie für den Vortrab einer ganzen Armee, und flüchtete sich in aller Eile über den Rhein in den Schwarzwald. So waren nun die Eickener nicht blos wieder Herren ihres Gemeindebannes geworden, sondern erbeuteten auch das ganze Lager. Noch findet man in jenen Feldern allerlei große Kugeln, und erst in den letzten Jahren hat man bei Eicken ein Gerippe im Acker ausgegraben, bei dem ein langes Messer lag, fast ganz von Rost zerfressen.

Ein Buo-Wible führt auf dem Heuberge irre: Meier, schwäb. Sag. 1, S. 92. Bubo ist Interjection, daher im Entlebuch buebüf, munter, wohlauf. Stalder 1, 236.

## 508. Der Schwertlimann in Laufenburg.

Vier Jahre nach des Schwedenkönigs Ankunft in Deutschland nahte der Krieg auch den vorderrheinischen Waldstätten. Seckingen, Waldshut, Rheinfelden waren die Beute eines jeden Siegers und wechselten häufig in einem Jahre verschiedene Herren und Heere. Endlich fiel auch das stark befestigte Laufenburg. Es wurde ausgehungert. Volle vierzehn Jahre blieb es in der Schweden Hand und

Digitized by Google

hatte jede Woche hundert Thaler Contribution zu zahlen. Als Herzog Bernhard von Sachsen-Weimar den Befehl übernahm, setzte er die wöchentliche Abgabe der erschöpften Stadt auf 100 Gulden herab. In der Schlacht bei Rheinfelden hatte er vier kaiserliche Generale gefangen genommen und hieher bringen lassen. Unter ihnen war der römische Duca Savelli. (Ein römischer Fürst dieses Namens ist gegenwärtig 1855 Cardinal unter Pio IX. und zugleich päpstlicher Finanzminister.) Man sperrte ihn aufs Rathhaus in ein anständiges Gemach, stellte ihm aber Tag und Nacht einen schwedischen Feldweibel ins Zimmer und eine Schildwache vor die Thüre. Gleichwohl wußte der schlaue Welsche zu entwischen. Es gelang ihm nämlich, sich mit einer Wäscherin, die aus dem Geschlecht der laufenburgischen Nüßlin war, ins Einverständniß zu setzen, und wenn diese seinen Bündel Weißzeug mit einem Stricke zusammengeschnürt auf dem Kopfe zum Rathhaus herauf und herunter trug, war immer ein Zettelchen mit drinnen an den Gefangenen oder an dessen verborgene Helfershelfer. In der Fasnacht gab er nun in seinem Gemache den Offizieren der Besatzung ein reichliches Tractament. Man zechte bis tief in die Nacht. Als die Gäste sich zurückzogen, wußte er seinen Feldweibel zu bereden, das Zimmer ebenfalls auf einen Augenblick zu verlassen und den aus dem Hause Gehenden die üblichen Honneurs zu machen. Kaum war der Schwede draußen, so verriegelte der Fürst innen die Thüre. Es war die zur Entspringung verabredete Nacht. Savelli öffnete das Fenster, und ließ sich an jenem Waschstrick über das Vordach des Rathhauses und von da auf die Straße hinab. Die Nüßlin, welche hier seiner wartete, zog ihn sogleich ins nächste Bürgerhaus, und führte ihn aus diesem über eine hier wieder bereit stehende Leiter zum Rheine hinab. Damit hatten Beide die unzugänglichen Felsen, die hier das Rheinufer bilden, in kürzester Zeit überschritten und zugleich alle Verfolger abgeschnitten. So schlichen sie in höchster Stille dem Gutleuten- oder Siechenhaus zu vor der Stadt, da aber hielten schon die Pferde, auf denen Savelli sammt seiner Wäscherin über die gebirgige Waldgegend von Hettenschwil bis nach Leuggern ritt. Dies ist eine Deutschherren-Commende gewesen, welche an der Aare, gegenüber dem Städtchen Klingnau liegt, und jenseits begann die damalige Grenze der Schweiz. Hier fanden sie ein Schiff zur Ueberfahrt, und kaum waren sie im Strome, so erschienen auch schon die schwedischen Reiter hinter ihnen am Ufer und schossen ihre Pistolen ab, ohne Schaden; Savelli im Dunkel der Nacht entkam glücklich. Seinem als Gefangener gegebenen Ehrenworte gemäß resignirte er die kaiserlichen Dienste, gieng wieder nach Rom

Digitized by Google

und erhielt und verpflegte ſeine Erlöſerin daſelbſt bis an ihr Ende. So iſt die erſte Laufenburger-Wäſcherin nach Rom gekommen. Aber dieſes ganze Abenteuer wäre nicht nöthig geweſen, wenn der römiſche Fürſt ſeinen Geiz überwunden und für ſeine Freigebung jenes Löſegeld wirklich ausbezahlt haben würde, welches mit den Schweden ſchon lange ſtipulirt geweſen war. Nun kam dieſer italieniſche Geiz dem Städtchen Laufenburg erſt theuer zu ſtehen. Kaum war der Lärmen von Savelli's Flucht los, ſo wurden alle Häuſer durchſucht, und jeder Einwohner, vom Bürgermeiſter an bis zum kleinſten Kinde herab, wer nicht gerade tödtlich erkrankt lag, wurde ſchon früh Morgens in die größere Pfarrkirche genöthigt. Hier hielt man ſie unter der Bedrohung eingeſperrt, daß man ihnen die Kirche über dem Kopfe anzünde, wenn nicht bald ein offenherziges Geſtändniß abgelegt würde. Kurze Zeit darauf drang auch ein Commando Soldaten herein, band den Stadtpfarrer Andreas Wunderlin und ſeinen Kaplan Ulrich Zeller und führte beide ins nächſtgelegene Schulhaus zum Verhör. Denn man wollte beobachtet haben, daß die Wäſcherin Nüßlin kurz vor Savelli's Flucht noch zur Beichte und Communion gegangen war, und gerade über dieſen Punkt ſollten nun die Geiſtlichen Auskunft geben. Da die Folterwerkzeuge nicht ſchnell genug aufgefunden werden konnten, ſo brachte man die beiden Männer in das ſogenannte Beinhäuschen, ſetzte ſie auf eine gewöhnliche Hechel und inquirirte ſie ſo ſcharf, daß man ihr Geſchrei bis in die Kirche herüber hörte. Sie geſtanden nichts, entweder weil ſie nicht konnten, oder weil ſie das Beichtgeheimniß nicht zu brechen wagten. Herzog Bernhard von Weimar verurtheilte ſie zum Tode und mit ihnen den ſchwediſchen Feldweibel, der als Gefangenwächter von ſeinem Poſten gewichen war. Der Graf Johann von Naſſau und der Berner-Patrizier Erlach, der als General damals bei den Schweden diente, vollzogen nun den Spruch des Standgerichtes. Der dritte März der Char- oder Marterwoche 1638 war der Tag der Execution. Früh Morgens wurden auf dem Marktplatz drei Bennen Sand abgeladen: für jeden der drei Unglücklichen eine. Der Schweden-Feldweibel, als der ſcheinbar am wenigſten Schuldige, kam zuerſt ans Schwert. Als man dann die beiden Prieſter durch die Reihen der ausgerückten Garniſon herbeibrachte, ſchien der ſchon hochbetagte Wunderlin kraftlos werden zu wollen, und ſchwankte, ſeinen Sandhaufen zu beſteigen. Es iſt nur um eine Handvoll Blut zu thun, dann haben wir den Himmel erſtritten! rief ihm ſein junger Kaplan zu. Dies Wort richtete den Stadtpfarrer wieder auf. Standhaft erlitt Einer nach dem Andern den Tod. Der von den Schweden vorſorglich aufgefahrene Sand

Digitized by Go

konnte nicht hindern, daß nicht das Blut auf den Marktplatz spritzte; da soll die Spur davon viele Jahre hindurch sichtbar geblieben sein, bis alles endlich unter der neuen Umpflasterung verschwunden ist. Ebenso vergeblich suchte man die beiden Priesterleichen der Ehrerbietung ihrer Glaubensgenossen zu entziehen, da man sie bei eitler Nacht in höchster Stille an einem unbekannten Orte vergrub. Seit langer Zeit schon verkündet ein mannshohes Gemälde in der Pfarrkirche beim Altar der heiligen Secunda die Amtstreue und Standhaftigkeit dieser Hirten. Und was über diese Begebenheit nicht in den Protokollen der Stadt enthalten ist, erzählt das unermüdliche Gedächtniß alter Leute bis auf diesen Tag.

Ob nun aber auch jener eiserne Schwertlimann, der mit gezücktem Schwerte auf der Spitze eines Laufenburger-Festungsthurmes steht, sich auf diesen Vorfall beziehe, bleibt freilich unausgemacht. Die Einwohner selbst deuten ihn ganz anders und höher. Sie sagen, es sei der Schwedenkönig selbst, der die Stadt vergebens belagert habe und dem, noch bevor man den entscheidenden Sturm wagen konnte, man weiß nicht bei welchem Lagertumulte, von seinen eignen Leuten das Haupt abgeschlagen wurde. Zum Denkzeichen daran ließen hernach die Laufenburger einen großen eisernen Mann machen, der hauptlos war und ein Schwert ausstreckte. Er stand oben auf dem Schwedenthurme und hieß der Schwertlimann. Bestimmt gilt, daß die Figur früher hauptlos gewesen ist. Als aber der Spott der Nachbarorte Lust zeigte, daraus ein anzügliches Stadtwahrzeichen und einen Schluß auf die Kopflosigkeit der Einwohner machen zu wollen, ließ der Magistrat die Figur abnehmen, mit Kopf und Helm zugleich versehen, und seitdem dreht sie sich droben als ein Ritter nach dem Winde. (Aus Handschriften des Laufenburger-Archives.)

In dem Tagebuche des Solothurner-Rathsherren vom Stall, „Verzeichnuß vom Denkwürdigsten, so sich zugetragen v. J. 1635 an, gezogen aus meinen schreibkalendern" (Solothurner-Wochenbl. Beiträge 1846, Seite 38) heißt es: Den 15. Martii ist obvermeldter Duca di Savelli, so zu Lauffenburg gefangen gehalten worden, mit sonderem list und behändigkeit auß der weimarischen verhaftung entrunnen; welcher schympf Sy hoch verdrossen, inmassen Sy 2 priester, 2 burger und 2 weiber, so hierumb wissenschaft gehabt, mit dem schwert hinrichten lassen.

Die Strafe, Jemanden auf die Hechel setzen, war sprichwörtlich geworden: Christus hat den Juden nit den fuchsschwanz durch das maul gezogen, sunder ihnen gestrelet mit der hechel. Geiler. — Einen solchen urteil ich in die schul: ein hechel sol sein sein sitzstul, ain igelshaut sol sein sein rock, sein pruch die sei ein nesselstock. Fasnachtspiele des 15. Jh. 710, 25. Zarncke in Brants Narrenschiff 411. Mit Kardetschen oder Wollhecheln wird der Schloßherr von Königsstein zu todt gestriegelt. Abthl. III,

Digitized by Google

No. 120. — Der eiſerne Schwertlimann auf der Spitze des Stadtthurmes iſt bereits in Abthl. III, No. 130 als der hauptloſe Reiter mit der Sichel erwähnt; er hat ſein Gleichniß im Geſpenſte Schwertmann, der im Donnerloche des wilden Moors verſenkt worden iſt. Müllenhoff, Schlesw.-Holſt. Sag. pag. 601, Anmerk. No. 350.

## 509. Die Große Glocke zu Frick.

Die Große Glocke in der Kirche von Frick iſt von beſonderer Größe und ſchönem mächtigem Tone; ſie ſoll alle Wetter vertreiben, daher unterlegt man ihrem Geläute den Reim:

Susanne, Susanne,
Alle Wetter durh anne!

Als die Schweden Rheinfelden belagerten, nahmen ſie alle Glocken von den Thürmen und goſſen ſie zu Geſchütz um. Daſſelbe ſollte nun in Frick geſchehen. Schon hatten ſie die kleinere Glocke an Seilen vom Dachſtuhle herabgelaſſen. Dem ſah ein Fricker-Bauer von ferne zu. Sein Grimm über ſolchen Frevel gab ihm eine Liſt ein. In vollem Laufe kam er gegen den Kirchenhübel herangerannt und ſchrie hier zurückwinkend wiederholt: „Nöh, nöh!“ Die Plünderer fürchteten einen plötzlichen Ueberfall und entliefen. Die große Glocke war gerettet. Zu Ehren dieſer für das Kirchengut bewieſenen Herzhaftigkeit wird bis heute allen Fricker-Mannsperſonen mit der großen Glocke übers Grab geläutet.

## 510. Entſtehung des Dorfes Ober-Mumpf.

Als die Schweden ins Frickthal eindrangen, hieben ſie im Dorfe Mumpf alles nieder, was ihnen begegnete, und bis auf das letzte Kind in der Wiege. Ein einziger Mann hatte ſich über den Berg ins Baſelland gerettet und fand da bei einem Bauern Obdach und Nahrung. Als der Friede wieder kam, ſprach der Bauer zum Flüchtling: Siehe, ich gebe dir einen Pflug, ein Joch Ochſen, einen Wagen und ſo viel Korn, als du für die erſte Ausſaat brauchſt; gehe nun heim und bebaue dein Land aufs neue. — Der Mann that, wie ihm ſein Gaſtfreund geſagt hatte, und wurde ſo der Gründer des neuen Dorfes Ober-Mumpf

Digitized by Google

## 511. Wiä n äs gangä isch, wo der Schwedi isch cho.

Jä, das goht lang, bis i's verzellt ha! wo d'Schwedä cho si, sä sigä si vor Rhîfäldä glägä, bis die i der stadt nummä no äis viertäl chärnä (weizen) und ä' n alta chuä gha häigä. derno häigä si diä chuä ûf d'stadtmû'r uä gstellt und ära wärch um d' hörnär ummä gmacht und a d'stirrnä gschribä:

Sä wenig as s' chüäli lehrt spinnä,
sa wenig wärdät är Rhifäldä gwünnä.

derno häigä si si wiedär abä g'no und häig'ärä de chärnä z'frässa geh und si derno enanderno gmetzgät und der sack (wanst) von ärä für-ûsä gleert. Wo der Schwedi das gseh häig, häig är gseit: mär wäi nummä goh, wenn si do no 's veh mit äm chärnä fuähra (füttern) chönne! derno sigä si überä Rhî übärä und do durh's Frickthal ûf cho, und häigä alls umbrocht und verbränt. I dem hof ûf 'm Bühl sîg äs chind i där wiägä zruckblibä, denn alls isch furt is holz und i d' bärg' ûssä gflohä. derno sîg ä Schwed cho i das hûs îä, häig das chind gseh und äs häig g'lachet gegä n'äm. derno häig er wöllä furt und ihm nüt wöllä z'läid thuä; aber er häig gseh än andärä Schwed cho und häig gwüsst, wenn er s'chind löss läbä, dass är hig'macht wärd, derno sîg er widär z'ruck und häig si vo dem chlînä chind g'kehrt und häig äm der dägä ûf's herz g'ha und häig's erstochä, o je! Mä het das chind dernô lang hindä-nôhe no ghört briäggä, ämol öppa vor 40 oder 50 johrä no. s'hûs aber häi si azündt und verbränt. mä thet gwüss jetz no gwölber und gält dört findä.

Und wo 's Deischnîders hûs stoht, (Deischneiders und Toniseppis Haus steht noch in Oberhofen, neben letzterem auch die erwähnte Kapelle) sîg dört scho n'es hûs gsî, und sîgä diä biamtätä Schwedä drî gangä. si häigä no nä altä-altä mâ verwitscht, dä häig mit enä müässä i n-allä hüserä, und was si no gfunda häigä, zämä trägä. wo n' er gsait häig, jätz isch nienä nüt meh, sä häigä s' em z'erst s'hoor mit öl ag'salbet und häigä n'em se wöllä azündä und en halt rächt traktiärä, bis er todt gsî wär. derno häig de soldat, wo mit dem altmâ häig müässa alls go z'sämä suächä, gsait; äi, was wäimär au schmökkä, was der hund schîsst! und häignä hintä n-ûsä gführt und durh's Dundischnîders rai ûf und furt gschickt. der rai sîg aber ganz mit erlenä überwachsä gsî, wiä s' Moos au. Diä hüser wo z'Oberhof gsî si, häigä si alle verbränt, numma 's Donisepps hûs häigä si nit chönnä, und si häigäs doch an alle vier eggä azündt gha. aber

Digitized by Google

diä lüt, wo's ihrä gsî sîg, häigä versprochä, es chäppäli lô z'bauä und z'unterhaltä, wenn's nit verbränn, und dä, wo derno is hûs cho sîg, häig müässä das chäppäli unterhaltä, und mä häig em dägegä es stücke land im Grabmättli (ein landstück, eine viertelstunde von Oberhofen) geh; 's Donis häi jo iäz no es stücke dervo.

Mundart von Oberhofen im Frickthal. Mittheilung von Hrn. Lehrer Lenzin.

---

## 512. Das grüne Schwedenroß.

Wenn Regenwetter über Wölfliswil herzieht, ſo kommt ein grüner Jäger auf grünem Roſſe aus der Staatswaldung der Pfaffenhalde bei Oberhof herab ins Frickthal. Seine Hunde bellen und die des Rohrer auf dem nahen Bauernhofe im Gottlisacker antworten ihnen. Vielerlei Thiere und Menſchen hat er bei ſich, dreierlei Schafe, einen ganzen Rudel von Katzen. Anfänglich ſcheinen ſie nur von gewöhnlicher Art, doch plötzlich blähen ſie ſich zur Größe eines Stieres auf; auch die Mannsgeſtalten in ſeinem Gefolge, ſchießen mit einemmale hinter ihm empor wie rauſchende hohe Bäume. Sie füllen das Thal, als müßte drinnen alles von ihrer Ueberlaſt erdrückt werden, dann ſauſt und dröhnt es, daß Berg und Wald herabzubrechen ſcheint. Dies währt jedoch nur einen Augenblick; kaum ſind dieſe Ungeheuerlichen nahe, ſo ſind ſie auch ſchon wieder hinweg, wie ein Wetterlaich. Bei Tage jagt er durch die Lüfte, bei Nacht kommt er mit drei Rappen auf der Erde daher gefahren. Sein Weg geht im Beginne über das Wald- und Ackerland hin, welches der Kapf, das Juch und das Grabmättlein heißt; dann fährt er zu unterſt oder zu oberſt, entweder durch das Pfeifergäßlein, oder durch das Küferhanſen-Gäßlein nach Oberhofen herein, zieht auf der Landſtraße fort nach Wölfliswil, dorten hinter die Dorfkirche hinauf auf den Bühl, wo ehedem ein Ritterſchloß geſtanden hat; von da weg fährt er noch manche Stunde weiter; vor allem ins Dorf Wittnau hinüber und in die Ruine Homburg hinauf, die daſelbſt auf der Spitze des Homberges gelegen iſt. Von allem, was der grüne Jäger hat, iſt ſein grünes Roß das namhafteſte. Die Geſchichte davon iſt im obern Frickthal überall wohlbekannt, und auch im benachbarten Solothurner-Lande wird ſie erzählt. Sie führt weit zurück auf den Schwedenkrieg.

Zur Zeit des dreißigjährigen Krieges war das ganze Frickthal

Digitized by Google

noch österreichisch; es erstreckte sich vom Rheine bei Rheinfelden und Laufenburg bis zur Wasserscheide und Schneeschmelze des Jura hinauf, und erst jenseits desselben begann damals das Schweizergebiet. Allein nach dem Falle dieser eben genannten beiden Städte stand die übrige Landschaft dem Feinde offen, und er hauste beinahe unangefochten lange Zeit darinnen. Allenthalben hin legte er seine Mannschaft ins Quartier, in jedem Orte erhob er seine Contributionen. Selbst die höher gelegenen Bergdörfer und Sennhöfe im Jura mußten die Schwere des Krieges mitempfinden; sie hatten zwar keine Truppen zu beherbergen, allein die verwilderten Soldaten stiegen auf eigne Faust in diese Gemeinden hinauf, plündernd und mordend. Solcherlei Drangsale machten endlich den Bauern erfinderisch, mit verschiedenen Mitteln wußte dieses und jenes Dörflein trotz seiner Schutzlosigkeit sich dennoch zu sichern oder zu fristen. Darunter gehört das Dorf Wölfliswil, das in einer engen stundenlangen Thalschlucht gelegen ist, die erst gegen Wittnau und Frick hinab sich öffnet, und auf beiden Seiten von beträchtlichen Bergen und Hochwäldern gedeckt wird. Diesen Bergen entlang stellte man Wachen aus, um von jedem feindlichen Ueberfall, der hier nur aus der Gegend von Frick herauf möglich war, rechtzeitig in Kenntniß gesetzt zu sein. Die Wachen mußten sich mit den Hüten zuwinken, wenn nur wenige Soldaten sich zeigten, und Fahnen schwenken, sobald ihrer viele anrückten. Ueber die wenigen fiel man alsdann her und machte sie nieder; so geschah es gar Manchem, der seitdem zunächst dem Dorfe in der Kreuzmatte verscharrt liegt. Kam aber eine zahlreichere Truppe, so hatten die Leute immer noch Zeit in die Hochwälder zu flüchten. Auf der Buohalde und Schlinghalde hatten sie hinter Felsen im Walddickicht ein dem Fremden unzugängliches Versteck. Als nun der Feind sich endlich doch im Dorfe einquartierte und gar nicht mehr aus dem Thale wich, fieng man an, hier oben den Waldboden aufzuhacken und anzubauen, um nicht ausgehungert zu werden. So hat damals die Noth den Ackerbau aufs Gebirge hinaufgebracht, und wo nun auf Rumismatt und Räbli wiederum Weide ist, wuchs damals Korn. Das ganze Dörflein, Jung und Alt, war so zu Berg gezogen und hatte sich da neu eingerichtet. Was unentbehrlich war nicht blos zum Leben, sondern auch zur Fortsetzung der bürgerlichen Ordnung, das hatte man mit hinauf genommen, selbst das Taufbuch. Dieses, wie es schon vor dem Kriegsereigniß gehalten und während desselben im Walde fortgeführt worden ist, findet sich heute noch zu Wölfliswil vor. Auf die Einzeichnungen darinnen vor dem Kriege, die noch des Pfarrers Hand angehören, folgen solche von einer zitternden

Digitized by Google

und ungeläufigen Hand während des Krieges geschrieben, denn der Pfarrer war geflohen und hatte seine Gemeinde im Stiche gelassen. So war also der Wald, wie einst in der Urzeit, wieder zur Kirche geworden, und man hielt sieben ganze Jahre die Taufen und die Hochzeiten in ihm ab. „O! wie manches Kind ist zu der Zeit in den Hölzern von fremden Predigern getauft worden.“ H. Lenz, Stendaler Chronik. Scheibles Kloster 6, 240. Nur eines konnten und wollten die armen Leute nicht entbehren, den gewohnten heimatlichen Klang ihrer Kirchenglocken. Eine einzige hatten sie bei der Flucht vom Stuhle nehmen und mit hinauf in den Berg schleppen können. Jedoch ihr Klang hätte den Feind zuerst herbeigelockt, und man mußte sie also vergraben. Dieses ist aber so gut geschehen, daß sie auch heute noch nicht wieder in ihrem Verstecke aufgefunden werden konnte. Da sprach der Dorf-Sigrist zu den Seinigen: Sollen wir den Leuten, die sich heimlich auf ihre Aecker und Felder hinunter wagen müßen, nicht die Tageszeit wieder ankünden? sollen wir unsern armen Kindern, die in dieser Wald-Einsamkeit Beeren suchen müßen, um ihren Hunger zu stillen, nicht das Glockenzeichen zur Heimkehr geben, daß sie nicht verirren, vom Schweden gestohlen oder vom Wolf gefressen werden? Der Pfarrer, den der Schwede doch gewiß geschont haben würde, ist aus dem Dorfe vor der Zeit weggelaufen und hat uns im Stiche gelassen. Nun bin ich seither euer Hilfspfarrer gewesen; aber es ist besser, ihr lasset mich wieder Sigrist sein. Ich will's wagen und hinab gehen unter die Feinde und dorten thun, was meines Dienstes ist. Ich will euch die Glocken wie sonst wieder läuten: Morgens, Mittags und Abends, und der Schwede wird glauben, es geschehe um seinetwillen, und wird meines Lebens schonen. Der gute Sigrist gieng; er hatte aber die Kirche noch nicht erreicht, so war er schon kriegsgefangen. In dem harten Verhöre, das er auf der Stelle zu bestehen hatte, konnte er nicht verheimlichen, daß er von seinen Leuten oben im Walde herkomme, und so wurde sein beherzter Schritt für diese die Ursache neuer Betrübniß. Sie wurden ausgespürt, und die Erfahrung sagte ihnen, daß es auf die Dauer nichts mehr nützen könne, abermals ein neues Versteck aufzusuchen. In dieser Noth erfanden sie ein politisches Kunststück. Sie gaben sich für Schweizer aus, und dabei gelang es ihnen am besten. Sie versetzten nemlich die Marksteine ihres oberen Gemeindebannes in solcher Art, daß derselbe in den Gemeindebann des Nachbardorfes Kienberg mit eingeschlossen lag. Kienberg aber war damals Solothurnisch, also Schweizerisch. Die Wölfliswiler wohnten mithin nun innerhalb der Schweizergrenze und blieben, da diese Grenze von den

Digitized by Google

Schweden aus Grundsatz streng respectirt wurde, hier ziemlich unbeläſtigt. Um so weniger eidgenössisch wurden sie aber nachher behandelt, als der Schwede wieder aus dem Lande war. Alles dasjenige Land nämlich, das die Wölfliswiler in den nachbarlichen Schweizerschutz gestellt hatten, gaben später die Kienberger nicht mehr heraus, sondern verleibten es ihrem eignen Gemeindebann ein. Vergebens beklagten sich die Uebervortheilten, man wies sie auf die von ihnen selbst zu Gunsten Kienbergs versetzten Marksteine; und so ist diesem Dorfe der angemaßte Besitz wirklich bis heute verblieben.

Der gefangen genommene Sigrist war inzwischen einem Roß an den Schwanz gebunden und über Frick in das Hauptquartier nach Hornußen abgeführt worden. Dieses Dorf wußte sich mit den Schweden gut zu vertragen, und hat daher auch jetzt noch manche Stichelei der Nachbarorte auszustehen, die damals sich widersetzt hatten und darüber eingeäschert worden waren. Wenn man salbt, heißt es, so geht der Wagen gut; die Hornußer lieferten daher ihre Kirchenglocken in die Kanonengießerei, ihre fetten Kälber dem General in die Küche, zuletzt ihre silbernen Rosenkränze dem Stabs-Profoßen zu Uniformknöpfen. Als der Sigrist in dies Dorf herein transportirt wurde, gieng's eben lustig her. Die Mannschaft saß jubelnd über eine neue Siegesnachricht unter dem Dorfbaume, man hätte gerne getanzt, nur fanden sich gerade keine Spielleute. Der Sigrist, der wohl errieth, daß er hier kurzweg aufgeknüpft werden sollte, war schlau genug, jede geringste Gelegenheit noch für sich zu benützen. Er ließ also schnell verlauten, er selber sei ein Spielmann, aber leider liege seine Geige unnütz daheim im Dorfe. Er soll sie holen, schrieen die Soldaten unter dem Baum. Alsbald war er noch einmal mit zusammengeschnürten Händen an einen Pferdeschwanz gebunden und so von seinem Reiter heimwärts geführt. Wo ist der kürzeste Weg, Schelm! hieß es, und der Gebundene gab den über das Dorf Herznacht an. So kamen sie, anstatt auf der offenen Fricker-Landstraße, durch das Wölfliswiler Jungholz, eine einsame Bergwaldung. Hier kam das Roß nur langsam den Hohlweg hinauf, viele Bäume lagen da faulend über den Weg hergestürzt, viele Klafter Scheitholz standen ungebraucht zu beiden Seiten; niemand mehr hatte seit Jahren eine Holzfuhre hier abzuholen gewagt. Indessen hatte der hinten Nachgeschleppte seine Hände vom Stricke losmachen können, er riß ein Scheit aus der nächsten Holzbeige heraus, schlug den Führer vom Roß und schwang sich darauf. Erst ritt er übers Gebirge zu seinen Leuten im Kienbergerwalde und dann sogleich, da er diese hungernd und im Elende traf, weiter nach Gösgen an der Aare zum Solo-

Digitized by Google

thurner Junker. Dem bot er sein Schwedenroß feil. Der Junker, der auf dem Schlosse von Gösgen als Landvogt wohnte, war ein ausbündiger Pferdekenner, jedoch ein solches Thier wie dieses, hatte er noch niemals gesehen. Es war von Farbe vollkommen grün. Baare achtzig Doublonen zahlte er dafür dem Sigrist auf der Stelle aus. Der begab sich mit dem Gelde wieder zu seiner Gemeinde auf dem Kienbergerwalde zurück, und es reichte eben hin, um sich vor dem drohenden Hungertode zu fristen, denn alle ihre Vorräthe waren bereits aufgezehrt, ohne Geld war kaum ein Stücklein Brod mehr zu bekommen. Dankbar gaben die Wölfliswiler ihm und seinen Nachkommen den Sigristendienst auf ewige Zeiten. Einer seiner Urenkel soll sich aber so vollgetrunken haben, daß er die Zeichen nicht mehr richtig läuten konnte und abgesetzt werden mußte. So ist das Amt wieder aus der Familie gekommen.

Ziemlich lange schon waren indeß die Wölfliswiler wieder zur Ruhe gekommen, da gieng der Kriegslärm bei ihren Nachbarn, den Solothurnern, erst recht an; daran aber war das grüne Schwedenroß schuld. Warum es der Junker von Gösgen alsbald wieder verkaufte, hat er zu erzählen nicht für gut befunden; kurz darauf aber brachte es ein Jude ins Leimenthal hinüber und verkaufte es da dem Ammann von Leimen. Da lief denn auch das ganze Dorf zusammen, staunte das niegesehene grüne Thier an und pries den neuen Käufer glücklich. Gerne hörte sich der Ammann rühmen, Alle sollten es betrachten und abschätzen, man that es also nicht gleich in den Stall, sondern ließ es draußen im Baumgarten vor den Leuten grasen. Mit einemmale faßte es des Ammanns Büblein am Kleide und trug es in den Zähnen im Galopp davon zum Dorf hinaus. Was war anderes zu thun, als ihm nachzulaufen, als des reichen Ammanns Söhnlein zu retten. Alle Zuschauer, Mann und Weib, alt und jung, Neugier und Erbarmen, alles rannte athemlos hinterdrein. Allein so groß der Schwarm war, so wenig war das Thier zu erreichen, schon war es allen aus dem Gesichte. Doch als es weit genug vom Orte entfernt war, hielt es an, setzte das Knäblein behutsam nieder und wartete auf das herbeikeuchende Volk; dann ließ es sich ruhig fangen und geduldig ins Dorf heim führen. Hier war inzwischen keine Seele zurückgeblieben gewesen, als wiederum ein Sigrist, ein altersschwacher Mann, und dieser ist nun der erste, der dem rückkehrenden Zuge begegnet. Wunder! rufen sie ihm entgegen und erzählen den Roßfang; Wunder! ruft auch er ingleichen und erzählt ihnen seine eigene Gefangenschaft. Denkt nur, sagt er, daß eben die Schweden hier gewesen sind und das grüne Roß gesucht haben; es

Digitized by Google

gehört ihrem König selbst und ist ihm gestohlen worden. Mit einer ganzen Armee läßt er es aufsuchen. Aber als der Anführer unser Dorf wie ausgestorben und, außer mir, keine einzige Seele fand, hat er einen Hinterhalt gefürchtet. Er ließ mich wieder frei und ist schnell abgezogen. Das Roß, das grüne Roß, schrieen alle, hat uns befreit! läutet die Glocken, haltet eine Prozession! Bei Leibe nicht, unterbrach sie der alte Sigrist; vielmehr ist es jetzt hohe Zeit, des Rosses aufs schleunigste los zu werden, wenn wir anders den Schwedenbesuch nicht zum zweitenmale im Dorfe haben wollen. Die Gemeinde stimmte ihm bei und laut Beschluß sollte der Ammann sogleich den Gaul verkaufen. Der meinte nun dies auf eine Weise thun zu können, bei der gleichgut für das Wohl des Dorfes, wie für dasjenige seines Geldbeutels gesorgt bliebe; wenn er es, sagte er, nach Basel auf den Roßmarkt ritte, müßten die Millionäre dorten mindestens theilen mit ihm. Er that's; aber auf dem Wege dahin warf es ihn ganz erklecklich in den Sumpf von Benken und war verschwunden.

Seither ist es wieder in Wölfliswil, aber fangen will es da keiner mehr.

---

## 513. Die zwölf Rheinfeldner Rathsherren um Weihnachten.

Die Pest, welche man den Schwarzen Tod hieß, drang im vierzehnten Jahrhundert auch in die Schweiz. Sie kam den Rhein herauf über Basel her. In dieser Stadt zählte man i. J. 1348 vierzehntausend Leichen; seitdem ist der Tod von Basel sprichwörtlich geblieben. Die Seuche wüthete bald in dem benachbarten Rheinfelden. Da fand sich kein Todtengräber mehr, die Leichen lagen unbeerdigt vor den Häusern auf der Straße und verpesteten die Luft noch mehr. Alles starb hin bis auf zwölf alte Männer. Diesen sang ein Vögelein aus dem Himmel herab von Heilkräutern; solche pflückten sie und erhielten sich damit am Leben. Dann einten sie sich zu einer Todtenbruderschaft, pflegten die verlassenen Kranken und bestatteten die Todten. Diese Verbrüderung besteht noch heute. An dem Tage, wo jenes Vögelein erschien, müßen nun alljährlich zwölf Rathsherren oder auch sonst hiefür bestimmte Männer den Morgen in der Stadt-Kirche zubringen. Nachmittags ziehen sie zu einem gemeinsamen Mahle in ein Haus, das man für das älteste der Stadt hält; es soll aus Heidenzeiten stammen und ein Schatz darinnen vergraben liegen. Zu Weihnachten um Mitternacht halten sie dann in langen



Digitized by Google

Mänteln und Laternen tragend einen Umzug, und ſingen an dem Hauptbrunnen erſt das vorlutheriſche Lied ab „der Tag, der iſt ſo freudenreich aller Kreatur", ſodann aber nachfolgendes Lied, das aus den Zeiten der Geißler-Sekten herzuſtammen ſcheint und den heil. Sebaſtian *) als Nothhelfer anruft. Laufenburger Stadtbücher gedenken eben dieſes Heiligen als Nothhelfers, ſeit dorten im Jahre 1541 die Peſt 350 Menſchen weggerafft hatte.

In der heiligen Weihnachts-Nacht
Iſt uns ein Kindlein geboren,
Von Gott dem Vater wohl bedacht,
Denn er hat's auserkoren;
Es wurde geboren und das iſt wahr,
Gott geb Euch Allen ein gutes neues Jahr.
Maria hat Kummer erfahren;
Maria, Du ſollſt ohne Sorgen ſein,
Der Joſeph läßt Dich nicht allein,
Gott wird das Kindelein bewahren.

Da es war am achten Tag,
Das Kindelein wurde beſchnitten,
Vergoß ſein heilig Blut darnach
Nach alten jüdiſchen Sitten.
Es wurde beſchnitten und das iſt wahr,
Gott geb Euch Allen ein gutes neues Jahr.
Maria hat Kummer erfahren;
Maria, Du ſollſt ohne Sorgen ſein,
Der Joſeph läßt Dich nicht allein,
Gott wird das Kindelein bewahren.

Als es war am zwölften Tag,
Drei Könige kamen geritten,
Sie brachten dem Kindelein das Opfer dar,
Nach alten jüdiſchen Sitten,
Gold, Weihrauch, Myrhen brachten ſie dar,
Gott geb Euch Allen ein gutes neues Jahr.

*) Eine von Paul Diaconus 6, 5 berührte Peſt hört nach Langobardiſcher Sage nicht eher auf, als bis man dem hl. Sebaſtian einen Altar errichtet hat. Myth. 1134. Dieſem Heiligen zu Ehren bildeten ſich am Rhein mancherlei Brudergeſellſchaften, unter denen die in der Pforzheimer-Peſt 1501 geſtiftete „Singergeſellſchaft" noch beſteht. Schnezler, bad. Sagb. 2, 399.

Digitized by Google

Maria hat Kummer erfahren,
Maria, Du sollst ohne Sorgen sein,
Der Joseph läßt Dich nicht allein,
Gott wird das Kindelein bewahren.

Gott Vater auf dem höchsten Thron
Sollen wir billig loben,
Es hat uns der heilige Sebastian
Seine Gnade nicht entzogen;
Er ist uns gnädig und das ist wahr,
Gott geb Euch Allen ein gutes neues Jahr
Und schütz' Euch in Gefahren,
Er geb Euch Frieden und Einigkeit,
Gesundheit und Genügsamkeit,
Und woll' Euch vor Uebel bewahren.

Nach Quellen der Simlerischen Handschriften auf der Zürcher Stadt-Bibliothek hat die Zürch. Hilfsgesellschaft in ihrem Neujahrs-Blatte 1839 statistische Angaben gemacht über die Opfer, welche vom 16. Jahrh. an die Pest in der Schweiz forderte. Rheinfelden war um Mitte Oktobers 1536 mehr als zur Hälfte ausgestorben, in dem noch kleineren Nachbar-Städtchen Laufenburg zählte man binnen 5 Wochen 400 Sterbefälle. Im J. 1668 starben im Städtchen Baden 1100 Menschen. Rahn, Eidgenöß. Gesch. Beschreib. 1690. pag. 895; während i. J. 1629 zu Aarau bei 700 Personen gestorben waren. Lutz, Aargau. Denkwürd. 1, 23—28. Bis zum Jahre 1791 wurde im Untern Aargau in jedem Frühjahr die Peststeuer erhoben und Ende Aprils die Pestprozession abgehalten. (Handschriftl. Tageb. des Klingnauer-Probstes, in Besitz des Hrn. Stäuble in Frick.) Ein Denkmal dieser Schreckenszeiten ist in Basel das sogenannte Graue Tuch, in welches sich sonst die Todtenbruderschaften kleideten, und das nun als Schülerprämien ausgetheilt wird. Burckhardt, Kant. Basel 1, 6. 190. Den Abdeckern, die während der Seuche Todtengräberdienste thaten, ist heute noch jede Leiche in Basel steuerpflichtig. ibid. 240. Ein anderes Denkmal sieht man an beinahe allen Kirchthürmen und Beinhäusern der Schaffhauser-Landschaft und unserer katholischen Landstriche; es sind die mit eisernen Banden und Riegeln versehenen Gemeindesärge, in denen die Todten partieenweise zum Kirchhof gebracht und dorten in die Grube ausgeschüttet wurden. Schalch, Schaffhaus. Gesch. 2, 166.

---

## 514. Das ausgestorbene Dorf Abbizüs, unter Wallbach.

Gegenüber der Einmündung der Wehre in den Rhein liegt rings von Tannenwald umgeben ein schöner Strich Laubholz; hier stand das Dorf Abbizüs, das mit in die Frickthaler Landschaft gehörte, in der

Digitized by Go

Pestzeit aber ausstarb und nun ganz vom Erdboden verschwunden ist. Nur zwei ledige Weibsbilder unter sämmtlichen Einwohnern des Dorfes hatten die Seuche überlebt; diese wendeten sich an das Nachbardorf Wallbach, um hier ins Bürgerrecht aufgenommen zu werden, und boten als Einkaufssumme den ganzen Gemeindebann dagegen an, der ihnen als den Ueberlebenden allein anheimgefallen war. Aber die Wallbacher fürchteten sich nicht nur vor der Pest, welche mit den Fremden zu ihnen kommen möchte, sie wollten auch die Zahl ihrer eignen unverheirateten Mädchen nicht noch um zwei herrenlose Jungfern vermehren, und wiesen also die Beiden ab. Diese begaben sich nun ins nächste Dorf Möhlin und drangen hier mit ihrem Begehren durch. Kaum waren sie da eingebürgert, so brach auch in Wallbach die Seuche aus und raffte die ganze Bevölkerung bis auf eine einzige Haushaltung hinweg. Auch in diese kam das Sterben, doch sie gelobte, eine Kapelle bauen zu lassen, und fristete sich. Seitdem ist der Waldbesitz des Dorfes Möhlin so ausgedehnt geworden, daß er bis auf eine Viertelstunde ans Wallbacher-Dorf hinreicht.

Mitten durch ihn zieht sich ein Fußweg, der sich nie bemoost und übergrast. Er heißt das Todtengäßli. Auf ihm sind die zwei Jungfern von Abbizüs nach Wallbach und von dorten nach Möhlin ausgewandert.

Gleicher Weise fällt der Braunschweiger-Wald an die Stadt Einbeck: Schambach-Müller, ndsächs. Sag. No. 48. Aehnliches erzählt Herrlein, Spessharts Sag. 268. In der Bündner Landschaft Davos hat der Erbesberg mit seinen hübschen Alpwiesen seinen Namen bei einer herrschenden Pest bekommen, bei welcher er in einer einzigen Nacht durch Erbschaft in die siebente Hand übergieng. Röder-Tscharner, Kant. Graubünden 1, 326.

## 515. Der Achenberg bei Zurzach.

Südwestlich vom Marktflecken Zurzach liegt der Achenberg mit einer Wallfahrt zu Ehren Mariä und Josephs, die von den Bewohnern des Schwarzwaldes immer noch fleißig besucht wird, da man glaubt, durch einige hier gestiftete Messen könne manches langwierige Siechthum gehoben werden. Dieser schöngelegene Waldberg hieß früher Stoffelsberg und hat seinen jetzigen Namen auf folgende Art bekommen. Die Bauern auf dem Stoffelsberge waren Zins- und Frohnpflichtig dem Klösterlein Sion zu Klingnau, das schon seit längerer Zeit eingegangen ist. Schon einmal war ihnen ihre Steuerlast zu groß geworden, und auf Vorstellungen hin hatte sie der Prior zu Sion ermäßiget; nun kamen dieselben Hofbewohner wieder und be-

Digitized by Google

gehrten unter Drohungen abermalige Herabsetzung des Zinses. Als man ihnen diesmal nicht entsprach, erhub einer die Art gegen den Prior und schrie: Ich schlag dir ein Loch in den Nüschel (Schnautze), daß der Mond durchscheint! Während die Klosterknechte abzuwehren suchten, wurde der Priester erschlagen. Darauf entflohen die übrigen Mönche, und die Bauern durchsuchten nun das ganze Kloster nach Schätzen und Kostbarkeiten. Nachdem sie alles zerschlagen und verwüstet hatten, geriethen sie im Keller an eine eiserne Thüre und stießen auch diese ein. Sie trafen dahinter ein kleines Gewölbe mit einem Altar und einer Reihe modernder Leichen. Der Dunst, der hier herausbrach, jagte die Plünderer rasch davon. Hier waren nämlich die an der Pest verstorbenen Mönche beigesetzt worden, und die Bauern, welche diese Thüre erbrochen hatten, wurden nun zusammen gleichfalls von der Pest befallen. Sie kamen auf ihrem Heimwege nicht weiter als bis zu der Waldstelle, die man Rothkreuz nennt, dort erlagen sie der Seuche unter namenlosem Ach und Weh. Von ihrem Geschrei hat seitdem der Berg seinen Namen. Eine andere Namenserklärung trifft mit dieser gleichfalls zusammen. Man sagt nämlich, der Berg habe vor jener Unthat der Ackerberg geheißen; hierauf aber schwemmten Regengüsse und Bergwasser all sein fruchtbares Erdreich in den Rhein hinab zum Ach und Wehe der Bauern. Eben deshalb heißen auch die dortigen Grenzmatten das Elend.

Die Erzählung schließt mit einer volksthümlichen Etymologie über Achenberg und Elendsmatten, als ob die Bedeutung beider Namen Ach und Wehe wäre. Das Kreuzzeichen diente dem Alterthum als Zeichen der Grenze (Grimm, RA. 172), die darüber hinausliegende Fremde hieß mhd. elliu lent, Elend, Ausland. Das Elendkreuz machte die Grenze zwischen Luzernerland und Aargau bei Reinach. Bronner, Kant. Aargau; die Elendmatten grenzten Frickthal und Grafschaft Baden ab. Graubünden, als letzte deutsche Sprachmarke gegen das Welschland, wird in L. Suntheims Chronik v. 1499 benannt „Kurwalchen haist Römer ellend". Zum Elenden Gebein hieß das Beinhaus, für die vom kaiserlichen Heere in der Schlacht bei Dornach Gefallenen. Val. Anshelm, ad a. 1499. Die Elenden Herbergen zu Basel, Bern, Zürich, Einsiedeln, nicht zu verwechseln mit den gleichzeitigen Siechenhäusern, waren Wirthshäuser, in denen die Pilger Tags Trank und Speise, bei Nacht ein Lager und einen Zehrkreuzer erhielten; nach denselben sind die verschiedenen Elendgassen benannt, z. B. die zu Winterthur: J. Troll, Gesch. v. Winterth. 7, 6. Der Zürcher Richtebrief v. J. 1304 bestimmt über die Getränke: „so ein burger ellenden win gen Zürich füeret, sol der win besser sin, danne der beste lantwin sin müge. Schweiz. Archiv 5, 241.

## 516. Der schwarze Tod in Wettingen.

Fragt man im Dorfe Wettingen nach, wie es komme, daß das Kloster Wettingen so viel Landbesitz gehabt habe und die ganze Gemeinde im Verhältnisse dagegen so wenig, so erhält man, außer den gewöhnlichen Geschichten von den Schlichen und Gewaltstreichen der Mönche, auch noch folgenden Aufschluß:

Zur Zeit des Schwarzen Todes wüthete in Baden und Zürich die Seuche dermaßen, daß man Stunden weit zwischen beiden Städten auf keinen Menschen mehr traf. So starben auch die Bewohner des Dorfes Wettingen bis auf zwei Bursche alle weg. Diese letzten nahm man im nahen Kloster auf; es bleibt aber unausgemacht, ob sie ihren Gemeindebann gezwungen, oder freiwillig und aus Dankbarkeit dem Stifte damals vermacht haben. Genug, seit dieser Zeit hörten die Aebte nicht mehr auf, durch Kauf und Schlauheit an sich zu bringen, was ihren Ländereien noch an Rundung fehlte. Der Volksglaube sieht daher heute noch zwei gespenstige Markenumgeher, die für die Räubereien des Conventes büßen. Von dem Mattlande der Nesselnburg (oberhalb den Rebbergen des Dorfes) wandelt aus der Klosterscheune ein Gespenst in den Lehegrund; wen es anbläst, der wird kraftlos. Mitten im Laufe trifft es mit einer blauen Flamme zusammen, die bei der Klosterkirche sich erhebt und ihm über den Weinberg bis zum Lehegrund entgegenflackert. In dieser Linie sollen die alten Marken des Gemeindelandes laufen, welche das Stift nach und nach sich einverleibt hat.

---

## 517. Das Geschlecht Oelhafen in Aarau.

604 Aarauer hatte die Pest i. J. 1565 in dem kleinen Städtchen hinweggerafft. Man fand gar keine Todtengräber mehr. Als man 15 Leichen auf einmal im Rosengarten begraben mußte — da wo jetzt unter den schönen Tulpenbäumen*) der Spielplatz ist, und gar kein Trost für die vielen Leidträger mehr übrig schien, rief ihnen eine Stimme vom Himmel auf den Gottesacker herunter:

Grabt Dornendip und Bibernell,
So sterben die Leute nicht so schnell!

Die Einwohner, welche in jener Zeit diese Pflanzen noch nicht kannten und denen noch dazu alle Scheerer vom bösen Schaden mit

*) Diese sind seither gefällt worden, auch der Name dieses Platzes Kreuzacker ist schon nicht mehr üblich.

Digitized by Go

weggerafft waren, beschickten einen berühmten Arzt und Kräutersammler aus Deutschland, daß er ihnen die Heilwurzeln suche. Dies war der Patrizier Doktor Kraft von Oelhafen aus Nürnberg. Er hatte die vom Himmel bestimmten Kräuter Tormentilla und Pimpinella bald an den Rainen der Hafnergruben und auf sonnigen Wiesen um die Stadt aufgefunden, und wie man sie da heute noch wegen ihrer magenstärkenden Wurzel sucht, so wurde damals vorzugsweise dem jähen Tode mit gewehrt. Zum Danke schenkte man ihm Ländereien und lud ihn ein im Lande zu bleiben, und da er sich bald nachher mit einer Aarauerin verheiratete, gab man ihm das Bürgerrecht. So blieb er, und von ihm stammen die Oelhafen, deren einer heut zu Tage der städtische Großweibel, und deren ein anderer der Verfasser der neuesten Aarauer-Stadtchronik ist. Das Wappen, das sie führen, ist unverändert dasselbe, welches Kraft aus Nürnberg brachte: in einem Querfelde der aufrechtstehende Löwe, den Oeltopf haltend, im andern der Stadtadler und drunter der Staufring, drüber in der Adelskrone der Löwe als Helmzier.

Ulrich Fisch, handschrift. Chronik, verzeichnet v. J. 1629: wie auch im volgent jahr Regiert die pest allhie und andern nächst glägnen örtern also daß in vnser gemein arauw by siben hundert alt vnd jung durch den zeitlichen todt hingezuckt worden. gott wölle sy alle sampt begnaden. Eggen, handschriftl. Sammlung, pag. 47. Im Jahre 1665 begrub man wiederum 604 Personen. ibid. pag. 44. Wie in Basel, so mußte auch hier Abdecker und Schweinehirt den Todtengräberdienst versehen: „Wie vor etlichen Jahren allhier in Aarau Brauch war, daß der salv. v. Schweinehirt die Todten begrub, so haben meine Gn. HHerren einen eignen Todtengräber dazu verordnet. ibid. pag. 128. Ein Vogel verkündet hier die der Pest wehrenden Heilkräuter und räth das Bibernell-graben an. Dieser Zug wiederholt sich: Bechstein, thüring. Sag. 2, 126. Herrlein, Spessh. Sag. 217. Meier, schwäb. Sag. No. 274. Panzer, bayr. Sag. 1, No. 280. 281 bezieht des Vogels Reimsprüchlein noch bis auf das Seuchenjahr 1813. Am Himmelfahrtstage gräbt wirklich noch die Schuljugend in der preuß. Altmark Pimpinellen, und viele Berge tragen dorten den Namen davon. Kuhn, märk. Sag. 328. Der Name der Pflanze ist ndd. bevernelle, ableitend von bevern, beben, fiebern. Kuhn-Aufrecht, Ztschr. f. Sprachforsch. 1, 9. Die Rapunzel nannte ein weißer Rabe dem Voigtlande gegen die Pest (Gräße, sächs. Sagensch. No. 559):

Freßt nur recht Rapundica,
Sinsten kimmt kä Mensch derva.

In Leoprechtings Lechrain-Sag. pag. 101 meldet der Vogel die Viehseuche als den kommenden Schelm an:

Ihr Leut, ihr Leut, brockts Bibernell:
Der Schelm, das Kunter, fährt gar schnell.

Aber es gab auch einen weißen Vogel, der die Pest verbreitete. Gräße, ibid. No. 590. So ist in Woeste's westfäl. Volksüberlieferungen pag. 44,

No. 13 der Fisalter oder Schmetterling ein Pestvogel; bei Gregor v. Tours, fränk. Gesch. 4, 31 ist es die Haubenlerche (corydalus), welche die Pest nach Arvern und ins übrige Frankreich bringt. Namentlich aber giebt man es dem Schmetterling schuld, nennt ihn Giftvogel und hält seinen Flügelstaub für Gift. Woeste in vdHagens Germania 9, 292 No. 73, und Panzer, bayr. Sag. 1, pag. 248. Hierin treffen nun Aberglaube und Wissenschaft in neuester Zeit possierlich zusammen. Dr. Vogel, Chemische Analyse der Münchner-Choleraluft 1854 zeigt, daß nicht allein die Luft das Miasma weiter verpflanze, sondern der Ansteckungsstoff ebenso durch Thiere „wie Vögel und Schmetterlinge" weiter verschleppt werden könne. Hiedurch entschuldigt sich der Volksaberglaube über Verbreitung der Pest und über die Giftigkeit manches harmlosen Sommervogels um vieles. Dr. Vogels chemische Theorie ist indessen eine schon sehr alt-abergläubische. Die Juden ließen gegen den Aussatz einen Vogel in die eine Hand nehmen und drinnen sterben, und aus der andern einen zweiten mit des Getödteten Blut besprengt, entfliegen. Mos. 3. 13, 14. So entsendeten sie mit dem Lebenden die Ansteckung. Der ahd. Physiologus (Wackernagel Lesb. 1, 166) sagt, daß sich die Haubenlerche (caradrius) von dem Kranken wegwende, der sterben soll, daß sie aber die Unkraft des zur Genesung Bestimmten an sich ziehe. Der mit jeder Pestseuche gleichzeitig verbreitete Glaube über eine Vergiftung der Brunnen wird bei Durand. ration. divin. officin 7, 14 wiederholt, und diese Brunnenvergiftung wird den in der Luft umfliegenden Drachen schuld gegeben, die ihr Sperma in die Quellen fallen lassen. Also abermals ein Pestverbreitender Vogel.

# Nachträge.

Pag. 29. Die schon besprochene Deutung, wornach das Wort Hund bald in dem Werthe eines allgemeinen Zahlwortes (No. 347), und bald wieder in der Beziehung zur Hundemeute des W. Jägers steht, erhellt auch aus einem Aelplerbrauche, welchen Steinmüller, Alpenwirthschaft 2, 388 meldet. Zu Wartau und sonst im Rheinthale, deutsch-schweizerischer Bevölkerung, ist bei den Sennen der Tag des Milchmessens ein besonderes Fest. Die Alpeigenthümer kommen dazu auf die Weidstaffeln herauf, um da allen Käse- und Ziegergewinn an die Mitgenossen je nach der Ergiebigkeit von deren Weidkühen abzumessen und zu vertheilen. Jeder Senne wetteifert mit dem Nachbar-Sennen, den größten Butter- und Käsegewinn aufweisen zu können. Von einem solchen sagt man, er habe zu höchst. Wer aber um ein Beträchtliches weniger aufweist, der hat den Hund. Ein Hund sei gekommen, heißt es, und habe ihm Alles aus Milch- und Käsekammer weggefressen; die Kinder sammeln sich vor einer solchen Hütte und heulen und bellen zum Hohne wie Hunde. Auch auf der Heimfahrt empfängt man den Sennen im Thale überall mit diesem Greuelgeschrei.

Digitized by Google

Pag. 31. Gegen den Trottengeist in Frick muß man in jedem Viehstalle zum Schutz der Thiere einen Schafbock halten. Der Bock, das Thier des Aerntegottes Donar, behütet daher auch jeden Schatz, den man im Stalle vergräbt: pag. 64. Roßböcke nennt man diejenigen, welche in den Roßställen gehalten werden und da von dem Futter sich nähren, das die Pferde aus der Raufe fallen lassen. Man hielt und hält den Bock im Stalle, um die Rosse vor allem bösem Einfluß zu behüten. So meldet Pfarrer Steinmüller in seiner Schrift über die Glarner- und Appenzeller-Alpenwirthschaft 1, 103 und fügt 2, 150 hinzu, daß folgerichtig auch der Geiß eine ähnliche zauberhafte Wirkung beigelegt werde. Das Geißenschmalz hält der Aelpler für ein vorzügliches Heil- und Schutzmittel; etwas von der Butter der Ziegenmilch hat er immer in Vorrath bei sich (unten am Melkstuhl in einer eigenen Kerbe), er streicht sie seinen Milchkühen ans Euter, und je älter, um so wirksamer ist sie ihm.

Pag. 41. Die Störche halten Gericht bei Creutzburg. Heusinger, Sachsenländ. Sag. pag. 285.

Pag. 44. Ueber den Glauben, nach welchem die Seele bei ihrem Abscheiden vom Körper Vogelgestalt annehmen soll, bringt Liebrecht in des Gervasius von Tilbury Otia Imperialia pag. 115 mehrere bisher noch nicht benützt gewesene Belege, aus denen nur folgendes ausgehoben sein soll. Albericus Trium Fontium, Chronicon ad. a. 1130 erzählt, daß isländische Hirten die Seelen einiger Verdammten in Gestalt schwarzer Raben in den Hekla stürzen sahen. Der Koran cap. 17, V. 14 besagt streitend gegen den altarabischen Aberglauben, wornach die Seele der Verscheidenden als eine klagende Nachteule wegflattere: Wir haben an den Hals eines jeden Menschen seinen Vogel befestigt. Vogel mit Menschenkopf ist bei den Aegyptern Hieroglyphe für Seele gewesen.

Pag. 46. Ein Steinkreuz bezeichnet zu bayerisch Horabach bei der Stadt Rothenburg des Knaben Grab, der beim Erhängenspielen erwürgte, während eine gehetzte Bache hervorbrach und die Gefährten verscheuchte. Schöppner, bayr. Sagb. No. 837.

Pag. 51, No. 280 muß statt des Waldes Ramholz gelesen werden Muniholz.

Pag. 95. Geister, die durch Klopfen, durch Peitschenknall und Schellenklang die kommende gedeihliche Aernte anmelden, finden sich in unserer Samml. mehrere, ohne daß dabei ihr näherer Zusammenhang nachgewiesen worden wäre. Bd. 1, pag. 270 ist das Schellenbrünnlein angemerkt; 296, 318, 371 handelt vom Schellengeläute. 38. 297 handelt vom Schellenpeter. Bd. 2, pag. 37 trägt der Bornhund des W. Jägers ein Schellenhalsband und klingelt damit, wenn das Wetter wechseln will. Zu Haßloch, eine Stunde von Wertheim am Main, wächst ein berühmter Rothwein. Will er ein Jahr besonders gerathen, so läßt sich das Gespenst hören, das Weinbergsmann heißt. Er knallt mit der Fuhrmannspeitsche und die Glöcklein der Pferde klingeln aus der Erde hell herauf. Schöppner, bayr. Sagb. No. 1335.

Pag. 102. Der doppelte Fuchs mit feurigen Augen, der die Grenzsteine des Bannwaldes untersucht, erinnert an den goldenen Fuchs, der in dem Weiler Rothenbühl da begraben lag, wo ehemals der Altar einer eingegangenen Kapelle gestanden hatte (Schöppner, bayr. Sagb. No. 147),

Digitized by Google

dieser letztere aber gemahnt an das Bd. 1, No. 93 in der Pfaffenhöhle zu Suhr begrabene Goldene Kalb.

Pag. 119. Der Müserngeist von Gebistorf setzt sich einem hausierenden Glashändler in seine Glasflaschen hinein. Er thut also eben dasselbe, was die vielerlei Kruggeister versuchen oder begehren, von denen in No. 368 die Rede ist. Es sind damit die vielerlei Grabesurnen unserer Heidenhügel gemeint. Gläser als Aschengefäße germanischer Gräber sind freilich selten, denn sie konnten nur durch Tausch und Erbe aus Italien nach Germanien gelangen; allein an ihrer Stelle finden sich zugleich allerlei Kochgeschirre, Holzgefäße und Thonschüsseln. Wenn das Landvolk beim Torfstich auf dem Erdinger Moose solcherlei Flaschen und Töpfe findet, hält es sie für Gefäße, in die man unreine Geister hinein benediciert und dann in diese Sümpfe versenkt hat. Schöppner, bayr. Sagb. No. 1212. Natürlich hütet man sich, solche Urnen zu zerschlagen und damit den darin liegenden Unhold ledig zu lassen.

Pag. 133. Der gläserne Grabesverschluß ist aus einem thatsächlichen Brauche der Vorzeit in die Sage gekommen, hat sich aber alsdann namentlich im Märchen zu einer Art poetischen Vorstellung umgewandelt, an welcher wir selber weiter dichten. So schreibt L. Schefer im Laienbrevier von der Sehnsucht der Todten, den wiederkehrenden Frühling noch einmal erblicken zu können:

Die Todten Priamus und Helena
Und Karl der Große und Napoleon,
Sie möchten im Gefängniß ihrer Gruft
Ein kleines, kleines Fensterchen nur haben,
Nur groß genug, das Ohr daran zu legen,
Ein Viertelstündchen lang das Bienensurren
Und das Geruf der Vögel anzuhören; ꝛc.

Die Ynglinga-Saga dagegen berichtet cap. 12. 13, daß Gott Frey's Grabhügel, von welchem nach Snorri Sturluson der nordische Grabhügelbau überhaupt ausgegangen sein soll, durch seine Freunde mit einer Thüre und drei Fenstern versehen worden ist. Hier herein brachten ihm die Schweden nach wie vor den Zins; in das eine Fenster legten sie das Gold, ins andere das Silber, ins dritte das Kupfer. Schwedische Heidengräber, aus großen Tragsteinen aufgeführt, zeigen zuweilen in einem oberen Seitenstein eine kleine, rundbogige Oeffnung. Weinhold, altnord. Leben 492.

Pag. 132 ist erzählt, daß in des Wolfgrabengeistes Grab bei Tage eine Kerze brenne. W. Menzel hat in den Alemannengräbern am Lupfen bei Oberflacht 1847, außer allerlei Mitgaben an Holzschuhen, Wanderstäben, Trinkgefäßen und Speisen auch Lichtstöcke gefunden.

Pag. 135. Der längst begrabene Günnä sieht täglich in seinem Wohnhause zu Brugg zum Fenster heraus; der eben beerdigte Fritze Böhni, pag. 137, schaut den Leuten aus seinem Fenster entgegen, die von seinem Leichenbegängnisse heimkehren. Als des Kinzhalden-Joggeli Leiche zum Kirchhof kam, öffnete man noch einmal den Sarg, aber er war nun leer; und da seine betagte Mutter vom Kirchhofe heimkommt, ruft ihr der verstorbene Sohn übers Hausdach herab zu: Ich bin noch vor Euch daheim! Bd. 1, pag. 185. Diese sich vielfältig wiederholenden Züge reden, so platt ihr jetziger Ausdruck lautet, doch von der Unsterblichkeit des Gottes, der im Kampfe mit der Uebergewalt sein irdisches Leben dran gegeben hat. Der Held der

Digitized by Google

Sage ſtirbt nicht, auch von ihm gilt das Merkwort der Einherrſchaft: der König iſt todt, es lebe der König! In Heuſingers Sachſenländ. Sag. pag. 35 wird dies auf eine anmuthig neue Weiſe erzählt. Als der Sachſenherzog Wittekind ein Chriſt geworden und zu hohen Jahren gekommen war, beſchloß er, noch einmal die Treue der Seinen zu erproben. Zwei ſeiner Freunde mußten bekannt machen, er ſei geſtorben und werde auf die beſtimmte Stunde begraben. Da kam alles eilends und voll Trauer herbei. Der Bauer aus Bünde kam dem Zuge etwas verſpätet nachgelaufen, daher heißt noch heute ſein Hof der Nalôp, Nachlauf. Ein Schürmann aus Weſterenger hatte nichts als nur die Schuhe noch anziehen können und trat ſo an den Sarg hin, der verſchloſſen vor der Burg ſtand. Da kam plötzlich Wittekind ſelbſt unter die Schaar der Leidtragenden, und alle die, welche da zum Leichenbegängniſſe umberſtanden, machte er auf ewige Zeiten zehentfrei, den Nalôp mit ſeinem Hof, den Weſterenger mit ſeinen Aeckern.

Pag. 141. In Skandinavien begann man jene Grabesurnen, welche in den Heidenhügeln beigeſetzt worden waren, mit dem ſich verbreitenden Chriſtenthum gleichfalls in die Kirchenmauern einzuſetzen. Weinhold, altnord. Leben 484. 503.

Pag. 151. Zu dieſem aus dem Sennenleben ſtammenden Glauben tritt ein Bürge aus der Neuzeit, der ſchweizeriſche Pfarrer Steinmüller, in ſeinem Werke über die Alpenwirthſchaft 1, 86: „Ich will noch bemerken, daß es im Winter ſchon oft geſchehen iſt, daß eine Kuh im Stalle mit dem Kopfe zu der andern in ihre Kette oder Stoß geſchloffen iſt, das nicht anders als mit dem äußerſten Zwange geſchehen konnte, indem die Kette gewöhnlich aufgefeilt werden mußte. Man hat auch Beiſpiele, daß man die Kühe auf dieſe Weiſe wirklich ſich ſelbſt erwürgt und todt im Stalle gefunden hat. Der leichtgläubige Bauer ſchreibt dies dem Einfluß der Hexerei zu."

Pag. 155. Der Leichnam des vom Teufel geholten Horenbauers hielt, da man ihn auf der Waldinſel der Aare wieder fand, Laub und Reiſig noch in den feſtgeſchloſſenen Händen. Wenn der Lochluegenjäger den Leuten begegnet, Bd. 1, pag. 104, ſo raſchelt es ſo heftig, daß dieſe meinen, mit jedem Schritte in tiefſtes Waldlaub einſinken zu müſſen. Andere Unholde werfen ſich dem Fußgänger als ein Laubſack entgegen, der bei der ärmſten Volksſchichte und beim Sennen noch immer die Stelle des Strohſacks vertritt. Auf einem Laubſack ſchläft der Hauskobold, 1, pag. 295. Das Laub des Waldes wird ſchwarz, da man die Hexe von Ariſtau in ihm begraben will: Bd. 2, 171. In dieſen Sätzen redet die Erfahrung des Landmanns. Auf dem Boden jener heidniſchen Hügelgräber in der Schweiz, welche Dr. Ferd. Keller dem Alemannenvolke zuſchreibt (Heidengräber, pag. 63. 70) findet ſich um die Leiche her faſt immer Eichenlaub, zuweilen auch Buchenlaub geſtreut.

Pag. 163. Das übergroße Mannshaupt, das aus der Tiefe eines Brunnen oder Thurmes herauf ſeine Sprüche ertheilt, ſcheint in Beziehung ſtehen zu ſollen mit dem Denkzeichen jenes eiſernen Mannes, der hauptlos auf den Laufenburger Feſtungsthürmen ſtand und Schwedenkönig und Schwertmann hieß (pag. 377). Letzterem muß einſt eine beſondere Geltung beigelegt geweſen ſein, ſonſt wären die Laufenburger nicht nach ihm

Digitized by Google

zubenannt gewesen. Wie nun aber des Orpheus Haupt nach Lesbos schwimmt und dorten Orakel aus einer Felsenspalte ertheilt; wie des indischen Dadhyanc abgeschlagenes Haupt, in einer Bergschlucht ruhend, weissagt, so hat auch schon die ahd. Weltchronik Kunde von einem solchen Prophetenhaupte und knüpft den Wohnsitz des Frankenstammes an dasselbe. Sie berichtet, wie das Volk der Franken, aus Troja abstammend und schon vor dessen Zerstörung ins Abendland auswandernd, sich niedergelassen habe zwischen Aquileja und Triest beim Wasser Timavus. An der Stelle dieser fons Timavi liegt nun Duino, Stammschloß der Grafen von Dewen, deren einer, Burggraf Hermann von Dewen, bereits in der Wiener Meerfahrt mitgenannt wird. Haupt, Ztschr. 5, 243. Heute ist es San Giovanno di Duino genannt, eine berühmte Wallfahrt zum Haupte des heil. Johannes, das hier aus einem der sieben tiefen Felslöcher ausgespült wurde, aus denen der Timavofluß hervorkommt. Schlözer, Briefwechsel 2, 340. Also in der altdeutschen Legende gleichfalls ein solches aus dem Brunnen herauf weissagendes Gotteshaupt.

Pag. 195. Die Reihe der Beweismittel für die weite Ausdehnung, in welcher die Feier des leuchtenden Hirschen bei deutschen Volksstämmen gegolten hat, vermehrt sich und reicht nun schon bis Island. Weinhold, altnord. Leben 467, erzählt unter Berufung auf Olassen und Povelsen (1, 187), daß zu eben derjenigen Jahreszeit, in welcher die Mummerei unseres Schimmelreiters, Klapperbocks, Weihnachtsbären ꝛc. gilt, es beim heutigen Isländer eine besondere Lustbarkeit sei, „einen Hirschen mit brennenden Lichtern vorzustellen."

Pag. 213. Bekam die Heidenmarei nicht das gewünschte Milchquantum bei den Bauern geschenkt, so achtete sie darauf, welcherlei Namen die Bauern den Milchkühen gaben; alsdann strich sie melkend ihren Kleiderriemen, wiederholte dabei jenen Kuhnamen und erhielt so alle Milch der einzeln genannten Thiere. So oft nun der Senne eine Abnahme seines Thieres bemerkt, ändert er ihm den Namen. Wie alt hier Glaube und Brauch ist, beweist der dagegen schreibende Zürcher-Pfarrer Rudolf Gwerb, Von Leuth- vnd Vychbesägnen, Zürich 1646, pag. 66: Wenn ein kuh, rind oder ander vych räudig ist oder sonst ein geprästen hat, so soll der Hirt, nicht ohn murmlung gwüsser abergläubiger worten, vnd dann fürhin ein Jeder demselben Hauptvych seinen nammen enderen und jhns anderst, als vorhin, benennen; so werde es seine vorige gesundheit wider erlangen.

Pag. 214. Als großes rothes Schwein geht die Heidenmarei in dem Bergwalde der Hargeten um. In eben derselben Gegend läuft jene Schweinheerde der Rothen, deren Fleisch sonst die Basler wannenweise und saumweise mit Thalern und Wein bezahlt haben: Bd. 1, pag. 211. Die rothe Farbe ist beim Viehzüchter noch in Geltung. Bei der Schweinszucht im Werdenbergischen und Wartauischen liebt man allein die Thiere von rothbrauner Farbe. Ein kleines Ferkel solcher Farbe wird schon um 40 Kreuzer höher bezahlt, ein halbjähriges aber um mehrere Gulden höher, als ein anderfarbiges. Steinmüller, Alpenwirthschaft 2, 402. F. Liebrecht, des Gervasius von Tilbury Otia Imperialia, führt pag. 65 aus Giraldus Cambrensis Topograph. Hiberniæ über die zauberischen Schweine an, diese seien alle roth, entwandeln sich aber stets nach drei Tagen wieder: Nostris quoque temporibus quosdam vidimus, qui magicis artibus imbuti pingues,

Digitized by Google

ut videbantur, porcos, *sed tantum rubros*, ex quacunque præjacente materia producentes, in nundinis vendebant. Sed hi statim ut aquam aliquam transibant evanescentes, in propriam et veram revertebantur naturam. Quantalibet autem industria servatis assumpta species ultra triduum non durabat. Die reinigende und nichts Böses duldende Kraft des fließenden Waſſers entwandelt dieſe rothen Zauberferkel wieder.

Pag. 231. Hügelgräber mit einer großen Steinplatte bedeckt, unter der die Leiche auf nackter Erde oder bloßem Gerölle lag, ſind verbreitet und altherkömmlich. So hatte das Grab Harald-Hårfagers am Kramtſund in Rogaland einen Deckſtein von 13½ Ellen Länge und 2 Ellen Breite. Weinhold, altnord. Leben. In der Schweiz ſchreibt man die gleichen Gräber mit größter Wahrſcheinlichkeit den Alemannen zu. Dr. Ferd. Keller, Heidengräber i. d. Schweiz, pag. 63.

Pag. 250 wird das Schlachtfeld, wo Irminger geſiegt und „wo das Getröſch wider die Vngläubigen angangen, von dem geräuſch vnd getöß der Rüſchlins- oder Hermingersberg geheißen." Ebenſo leitet die ſächſiſche Adelsfamilie von Buttlar ihren Namen Treuſch aus einer Schlacht, welche ſie Heinrich dem Erlauchten 1261 bei Wicken gegen das Brabantiſche Heer gewann. „Dort treuſcht das Blut der Feinde wie ein Bach in den Elſterſtrom hinab," rief ein Buttlar aus auf jener Walſtatt, und ſeit dieſer Zeit nannte ſich ihr Familienhaupt Iring Treuſch von Buttlar. Heuſinger, ſachſenländ. Sag. pag. 186.

Pag. 304. Vgl. Dietrichs Abhandlung über die deutſche Waſſerhölle, in Haupts Ztſchr. 9, 175.

Pag. 366. Zuſehends vermehrt ſich die Zahl jener heidniſchen Figuren, die man heute Lälle nennt und die früherhin als ſchützende Ortsgötter von der Bevölkerung feſtlich umhergetragen, aufgepflanzt und ſchließlich an Stadt- oder Kirchenmauer in Stein ausgehauen worden ſind. Hunenkopf iſt der Name eines altersſchwarzen Steinhauptes, das im Städtchen Brugg von der Thurmwand des Brückenthores (deſſen Grundbau römiſch iſt) hütend herunter ſchaut auf die Aarbrücke. Holzerkopf und Elbel iſt bei Mihla der Name des W. Jägers. Heuſinger, Sachſenſagen pag. 346. Ein ſchwarzes Steinhaupt an der Oſtſeite der Kirche in Angerthal giebt man für das Haupt jenes mohriſchen Baumeiſters aus, durch den der neubekehrte Sachſenherzog Weking oder Wittekind die erſte Chriſtenkirche in jenen Gegenden erbauen ließ. Heuſinger, ibid. pag. 27. Karl von Münchhauſen meldet die von ihm i. J. 1798 im Schmalkaldiſchen beobachtete Sitte, den Kirmeßtanz um einen friſch aufgerichteten Baum abzuhalten, in deſſen Wipfel eine große Puppe ſteckte, welche aus Lappen zuſammen geſtückt war und der Lalli hieß. Gräter, Bragur 6, 35.

Digitized by Google

# Sachregister

## zum zweiten Theil der Aargauer-Sagen.

Die nebenstehende Nummer giebt die Seitenzahl an. reicher ausgestattete Züge und Begriffe der Sage sind hier: Auge, Baum, drei, Hund, hundert, Hut, Heide, Opfer, Ross, roth, Stab, Stein, schwarz und weiss, unterirdisch, Wasser, Wind. diese Wörter sind in dem Register als Leitwörter herausgestellt und die ihnen nächst verwandten Begriffe sind beigeordnet. Man hat also Brunnen unter Wasser, Zipfelkappe unter Hut, Mondmilch unter Stein zu suchen.


Abbizüs, zwei jungfern von, 387. 388.
abhandeln, eine sünde 315.
ægerst 187.
Agathensegen, feuerbannend 148.
Alahirzi 189 — 198.
alpsegen durch den milchtrichter 111.
alpstein 205.
alrûne 189.
„ gekleidet 42.
Alte, der und die, 84. 215. 226. 241.
Ampeli- u. Wihnächt-stock 174. 187.
Ankenballen 224.
ankenmachen 153. 171.
anken und leberthran 35.
ankenverfälschung, folge der 144.
Armagnaken, Arme Jäcken 359.
aschenkuchen 85.
aschensack 36. 37. 84.
auferstehung 135. 394.
**AUGE.**
wie ein backofen 84.
blutroth unterlaufen 36.
wie chaisenlaternen 2. 9.
„ das einmaleins 112.
„ fleischteller 2. 10. 36. 38. 50. 84.
„ kartoffelkorb 84.
„ kirchenfenster 2. 84.
„ marktzwiebeln 2.
„ pflugräder 10. 33. 84. 158. 159.
„ rollen 42.
„ scheffel, feurige 84.
vorquellend 37.
wie zwiebelbollen 2.

Backmulde, fahren in der, 58. 59. 159.
backofen 84.
backofen-augen 84.
bahrgericht 124. 125.
bannen in flaschen 364.
bannraub 382. 383.
bappehauer, sobriquet 263.
Basler erdbeben 87. 306.
**BAUM.**
baummänner 380.
besen, geweiht 140.
birnbaum 68. 121.
baumchüssen 277.
dachstuhl ins thal versetzt 146.
„ ins gebirg versetzt 157.
dachtraufe 151.
in die dachrafe gebannt 139.
bîm Dolder! 202.
donnerbesen 202.
eiche, thaler herabschütteln 148.
Eichenberg und Eichenberger 354.
eichenlaub in gräbern 155. 171. 395.
haseneiche 64.
hirscheneiche 198.
tanzeiche 175. 176.
götterbilder im baum 253. 254. 298.
hagenbuchener schlaftrunk 312.
haselgerte 140. 170.
hollunderstaude, 400jährig 329. 360.
gerichtslinde 115.
nussbaum des flaschengeistes 140.
nussbaum des dorfpudels 36. 84.
obstbäume des dorfthieres 31. 68. 70. 84.
in einen pfahl verwandelt 147.
Reckholderdonner 202.
reiswelle 183.
reiswellen reitend 125.
baumsteiger 175.
stûd des S. Nikolaus 326.
täfelitanne des dorfhundes 36.
tanne, ein meteorname 183.
Tannligrotzle 183. 202.
Tannliwatter 183.
tanne des Wissmaidli 5.
baum-umstossen 154.
Belgenbock 203.
berg-ersteigen an Himmelfahrt 289. 291.
Bergfridli 280.
beten durch milchtrichter 111.
beten, zu kräftig 148.
blasbälge des schmiedgeistes 229. 230.
blutfleck unvertilglich 137. 151. 377.
blutschwitzendes bild 128.
blutschwitzer-prozedur 153.
lo Bocan 203.
bock 31. 64. 393.
Bocksfuss, meister Geissfuss 203.
Bodenwald 175.


Digitized by Google

Bodere 167.
Böggel 181. 199. 200. 201.
Bölimâ 182. 198.
bohrloch 168.
bombenpille 35.
brandspur des fingergriffs 85.
brod, in acker vergraben 169.
„ als Chriddibenz 211.
„ als hirzehörndli 197.
„ aus hobelspänen 182.
„ hundertzehn-jähriges 327.
„ kipf, zum kamm verwandelt 314.
ölkuchen sieden 366.
mutschenwecklein 369. 371.
brodkorb, fahren im 58.
„ rinde und brodmolle 319.
„ und milch als schweinemast 136.
„ versteinertes 282.
„ würfel 213.
brücke, von der Alten bewacht 241.
„ eiserne und silberne 216. 217.
„ lange 217.
„ lederne 216. 217. 241.
„ mit zenne und glocke 217. 218.
Brünis-stadt 257.
Brünnliger 83. 85.
burgunderschlegel 364.
Buboo, bubûf! 374.
buttern 153. 171.
butterhexe 169. 188.
Butz und Benz 211.
Butzimâ 199.
Bürgi Küfer 329. 359. 360.
Bysigbrugg 216.

Cadalolt, Chadaloh 249. 250. 251. 252.
lo Cassaron 206.
Chäpeli-thierli 294.
chaisenlaternen-augen 2. 9.
chalützelstein 205.
Choli, hausgeist 145.
chrai 188.
chriddibenz 211.
chriesi-süppler, sobriquet 262.
Christi handspur 282.
Christoleys-chrie 250.
chûchen, durch anhauch behexen 151.
chüssen des baumes 277.

Dachrafe 139.
„ stuhl 146. 157.
„ traufe 151.
daumen 162.
„ ellen 282.
dorfthiers augen 84.
„ badend 69.
„ am feuerherd 145.
„ feinde schlagend 28.
„ kochend 145.
„ obst-lesend 31. 68. 70.
„ weinflaschen blasend 69.
dorfthier, weinsaufend, 69.
„ wetterkündend 68.
**DONNER.**
donner-besen und reckholder-donner 202.
Donner- u. Dornbühl 202. 203.
donnergueg 202.
donnerkeil, schmetterling 202.
donnersketzer 201.
donnerstagsfeier 202.
„ „ speisen 227.
donner-schiess! 201.
„ stein 202. 203. 205.
potz Donnstig! 201.
donnerwurz 202.
Dornrain 203.
drache als güllenfass 84.
„ „ heuseil 84.
„ „ schlange 13.
„ „ strom 12. 13.
„ „ walnussbaum 84.
„ „ wiesbaum 84.
drachenstein 1. 7.
drak 203.
**DREI.**
drei batzen 243.
„ beiniger esel 65.
„ „ hase 99.
„ bündenstein 89.
„ faches feuer 240.
„ faltigkeits-salz 167.
„ fingerstein 89.
„ länderstein 89.
„ röhrenhut 30. 107.
„ sesselstein 88. 89.
„ spitzhut 31. 33.
„ stein 88.
„ heidenpriester 275.
„ heidenschmiede 287.
„ hundert semmelringe 327.
„ kornkinder 244.
„ mal klopfende Mechtild 301.
„ rappen 380.
„ pfenning küchengeld 313.
„ schafe 380.
„ schlösser 29. 230.
„ schwestern 220.
„ sonnensprünge 290.
„ weidfrauen 172.
„ weisse männer 275.
Dremel 208.
druckfackel 83.
Dusselihund 30.

Eiche 64. 148. 175. 176. 198.
eichhorn 217.
eidechse 179.
eisenstangen, viere der heiden 288. 289.
eisenthüre 241. 389.
Elbstier 14. 15.
Elend 389.

Ellermutter des teufels 226.
Else 200.
elsterngeschrei 45. 62.
Englischer gruss 334.
Ensi, Eusi und Ayssy 359.
Ensi-stall 246.
ente und gans 104. 105. 188. 208.
Enziloch 111.
erbsen 227. 228.
erbsen- und bohnenstroh 228.
erbsenessen 270.
erbsen, donnerstagsgericht 227. 228.
erbsenmus des teufels 224.
erbsensuppe, ein todtenmahl 228.
erbsen, ins wochenbett streuen 131. 228.
Erchanger 252. 253. 256.
esel 65. 69.
esel, sobriquet, 265. 268. 270.
eselseisen 269.
eselreiter 346.
eselreiter der W. jagd 248. 269. 272.
Esels-schinder 267. 272.
eselsweg 269. 270.
eselswiese 267. 268.
eule, angenagelt gegen hagelschlag 166.
eule des W. heeres 165.
Eusi 246. 359.

Faden und seil 217. 276.
federfuss, hexenname 188.
fenster gottes 133. 305.
zum obern Fenster 'rausschauen 135. 137. 394.
zum obern fenster 'reinschauen 22. 68. 308. 364. 367.
feuer an himmelfahrt 289.
feuer aus fingernägeln schlagen 149.
feurige männer, fechtend, 74.
feuersbrunst umlaufen 148.
feuriger scheffel 84.
fingergriff feurig 85.
fingernägel eisenbeschlagen 223.
flaschengeist 139. 140. 394.
fleischteller-augen 2. 10. 36. 38. 50. 84.
fluchen erlöset 79. 85.
s. Fridolin 279. 280.
Froburgergrafen 251.
frösche geschweigen 246. 248.
frösche, sobriquet 246. 263.
fuchs, doppelter 102. 393.
fuchs und Fayer 102.
fuchs feuerschnaubend 102.
fuchsloch, stadtthor 252. 256.
fünf finger im stein 281. 282.
fuss-stapfenmass 282.

Gang, unterirdischer 241. 423.
gans und ente 104. 105. 188. 208.
Gast 363. 365.
gauner, als träger der sagen 160.
geige des s. Peter 311.
geiger, Trudengeiger 175. 334.
geist, anblasend 390.
„ bettkamerad 145.
„ brüllender 365.
„ im garbenloch wohnend 142.
„ gebannt in den burgunderschlegel 364.
„ gebannt in die essigflasche 139.
„ „ „ „ massflasche 137.
„ „ „ „ strohflasche 140.
„ „ „ s'schoppenglas 132.
„ in den krug verkorkt 141.
„ „ „ kirchlich eingemauerten krug 141. 142.
„ „ kratte und korb 152.
„ „ flasche und gutter 119. 140. 142. 394.
„ kriegskündend 138.
„ die pflugochsen streichelnd 132.
„ processierend um peitsche und rübe 142.
„ das scheunenthor öffnend 145.
„ am schweinkoben wohnend 136.
„ zollgardisten würgend 138.
geisterbette 134. 139. 145.
„ -mauer 69.
„ des hausbaues 294.
„ -schlafgeld 135.
„ -schutz durch strohflaschen 144.
„ siedende und kochende 85. 148.
„ tabakrauchend 85.
„ zwölf glas wein trinkend 144.
geiss, ein rathsherr 99.
geissbock, getauft 14.
Geissfuess 203.
geissenschmalz 393.
geisswiese 99.
geldschisser 34.
Geltenhals! 372.
gerichtslinde 115.
gipsmüller 84.
mehl vergipsender müller 131.
Giritzenmoos 44. 47.
Gisila und Gisli 292.
Gislikirche 26. 290.
gizzi 28.
goldne brunnenröhre 246.
„ haue und schaufel 301.
„ hufspur 233.
„ kugel 212.
„ schelle 329.
glocke, die Alte 215.
„ „ vergrabene 382.
„ der heiden 215.
„ hölzerne 239.
„ redende 378.
„ durch 7 mauern tönende 293.
„ mit seidenfaden 276.
„ versunken 293.

Digitized by Google

Glunggerin 179.
gott verbrennen 294.
götterbild im baum 253. 254. 298.
Gottlisacker 380.
grabkessel 222. 394.
Grabmättlein 380.
grabesverschluss, gläserner 132. 133. 394.
grasringe 122. 174. 176.
das Greiss 15.
grundeln gegen behexung 179.
grüngekleideter 61. 92. 111. 122. 203. 380.
grünes männchen 218.
der Grünrock 203.
grünes ross 380.
gugger 203. 211.
Gundesvolk 68.
Guntram und Baltram 8.
Günnæ 135. 394.
gütterlein voll hagelwetter 177.

Habspurg, Habichesburc 342.
Habsburger, ein Römergeschlecht 342. 343.
„ halskette 343. 344.
„ mauern 343.
hag, vier ellen dick 111.
hagamsle, hexe 188. 209.
hagebuchener schlaftrunk 312.
Haggemann, hoggemâ 207. 208.
häggele 207. 209.
Hägglerfluss 209.
haghexe 188.
hahnenschritt 132. 137. 152. 365.
hammer! 255.
hammer des teufels 187. 228. 230.
Hämmerli, meister 204.
lo Cassaron 206.
handspur des irrlichtes 81. 82. 107.
handschlag der hölle, verbrühend 303.
Hans, herzog 349.
Hans, der starke 317.
harsthörner Lucerns 16.
harsthörner Uris 14. 16. 17.
haselgerte 140. 170.
haseneiche 64.
hase als blechhaufen 64.
hase, dreibeiniger 99.
hasen am hexengrab 171.
hasenfrau 57 — 64. 188.
hasengreifer 204.
hasenpelz 54.
hasenpfoten 61.
hase, dem teufel verkauft 163.
hauptloser eisenmann 377. 378. 395.
haupt, unterm arme 184.
haupt in der hand 261. 283. 285. 286.
haupt steinern 366. 397.
haupt weissagend 163. 285. 286. 395.
Häuptli 290. 291. 292.
hausgeist, mit den miethsleuten ausziehend 156. 157.
haus der Pagani 215.
hechel, auf sie setzen 55. 377.
hegel 116.
heidenbestattung 214.
„ -brüder 287.
„ -burg 275.
„ -glocke 215.
„ -graben 237. 275.
„ -haus 19. 137. 215. 287. 385.
„ -hafen 302.
„ -hügel 256. 257.
„ -hütte 287.
„ -kirche 299.
„ -Marei 213. 396.
„ -öl 248.
„ -pfenning 302.
„ -priester 275.
„ -Seppli, -Toni 213.
„ -staffeln 215.
heilfelsen 291.
heinemauch, sobriquet 108.
Heithier 54.
heizenstube 204.
Hellemund 240.
Hellhaken 208.
Helloch 330.
herdfeuer der hebamme 31.
herdschätze 145.
Hermann 253. 254. 255.
Hermann und Hermes 238. 254. 255.
Hermanns-thor 256.
Hermännlis-thor 252. 254.
Hermen-stal 252.
Herminger 252.
Herodes, Rodes 309.
Herodias 185.
Herrenheim 252.
heu- und Heithier 54.
Hexenbesen 183.
hexenfackel 83.
hexe als huhn 188.
hexe gehörnt 241.
hexentanz 176.
enthexen der ställe 168. 393.
Hieno 107. 108.
himmelsbühl 299.
„ chasseur 305.
„ hussar 305.
„ fahrtsbräuche 289. 261.
„ fenster 133. 305.
„ musik 176. 184. 286. 297.
„ thüre 303. 305.
Hirman und Hirmon 253.
Hirminger 250. 253.
Hirmingersberg 250. 397.
Hirmlinsberg 250.
hirsch, als geiss und geissbock 197.
Blinghirsch, sobriquet 195.
hirschengespann 189. 190.



Digitized by Google

hirschen mit leuchtendem geweih 194. 197. 397.
„ kloster stiftend 192. 193. 195.
„ als liebes-symbol 192. 194.
„ maske 196.
„ ritt 190—195.
„ zum tod abholend 190. 191.
„ verwünschter 51.
hirsebrei der Züricher 327.
Hirsmontag 195. 196. 197.
Hirsnarr 196. 197.
Hirzensprüngler, sobriquet 196.
hirzehörndli-brod 197.
hirzenthurm 231.
Alahirzi 190. 198.
Holzhirzi 190.
Springhirz Cervola 196.
Holderstock 181. 185.
Holle, Hollops, Heuel 180. 181.
Holle hoh in alle lüfte! 181. 185.
hollunderstaude 329.
hol über! 71. 85.
höhle, frischgekehrt 111.
Hölenthier 33.
höllenbad 226. 303.
höllhafen 204. 226. 303.
Homîsen 300.
honigwaben als stadtthore 224.
Hoppelirüter 83. 117.
hornissen-angang 342.
Hornussen 238.
hufeisen 150.
Huna hl. 270.
Hune, begrabener 248.
Hunen, hungertuch webend 256.
Hunenkopf 397.
Hunnenschlacht 250—256.
Hün 249.
Hüningen, Gross- u. Klein- 252.
Hünliwald des W. jägers 249.
Hünemauch 108.
hühnerfutter aus grabtöpfen 248.
**HUND**
„ als Alrûne 42.
„ bach anschwellend 67. 133.
„ bachplätschi 22. 37.
Bornhund 37.
hund, brücke hütend 38. 152.
„ ein cleriker 33.
„ dorfhund 36.
„ dorfpudel 36.
„ dusselihund 30.
„ der grenzsteine 118.
„ geister-sichtig 28.
„ gottes 33.
„ ihn haben 392.
„ küchenthüre u. suppe hütend 152.
„ pudel 364.
„ rebhund 203. 211.
„ s-loch 121.
„ rossäpfel legend 29.
hund, rother 31. 38. 280.
„ rothäugig 36.
„ rothstrümpfig 36.
Rufelihund 38.
hund der schatzkiste 161.
„ der Schwedenstallung 68.
„ s-trog dreier schlösser 29.
„ trübelhund 203.
„ trunkenbolde verfolgend 152.
„ weisser 117.
„ als zahlwort 120. 392.
hundertflicken-hemde 308.
„ flicken-kleid 180. 182.
„ jährig gebannt 43.
„ pletzige lederjüppe 181. 182.
„ pletziger schuh 307. 308.
hungerberg der Hungarn 252.
hungertuch 256.
**HUT.**
breithut 68. 131.
dreiröhrenhut 30. 107.
dreispitz 31. 33.
federhut 116.
generalshut 149.
grauhutig 135.
hund behutet 36. 37.
hut und mantel 139. 306.
hut, mantel, nagelschuh u. stab 306.
hutpilz u. Wäldermann 28.
Langböri 36.
rothmütziger Baschishund 37.
weiberhaube 55. 180.
weisse zipfelkappe 68. 96. 150. 151.
wollhut 33.

Jetzer, -feld, -kreuz 229.
jetzern 230.
Irmen u. Irmin 253. 254. 255.
Irminger 250. 252. 397.
irrwisch, hane fordernd 77. 78. 82.
„ handspuren lassend 81. 82. 107.
„ heimleuchtender 81. 82.
„ mit mehlsack 83.
„ mit messtisch 83. 84.
„ als müller 77. 83. 84.
„ -namen 83—86.
„ schneider lähmend 161.
„ mit glühen rippen 75. 76. 77. 83.
„ als brennendes viertel 77.
„ 24 weinfuhren begleitend 80.
Isen, Eisen, Kroneisen 241. 300.
Isenhubel 216.
Isen und Isis 300. 301.
in Iselis chilch gehen 300.
Islisberg und Ispisberg 299.
Itte, frau 180.
Jude, Ewiger 306—309.

Kaibenrain 24.

Digitized by Google

Kaibenstatt 246.
„ winkel 256.
kalb, spukend 18. 138.
kanzel 219. 220.
kanzelberg 296.
kanzelried 299.
karrengleise unterirdisch 247.
kartoffelkorb-augen 84.
katz-aushalten 288.
„ -bange 157.
„ als bäuerin 52. 55.
„ -enfell 54.
„ -enhageln 55.
„ -enhübel 156.
„ feurige 364.
„ kirchengründend 288. 289. 293.
„ kopf auf der stange 55.
„ -enküsser, sobriquet 289.
„ Miau! 289.
„ als müllerin 52.
„ als nachtschaden 178.
„ reimsprechend 52.
„ -rudel des W. jägers 380.
„ im sack kaufen 163. 164. 288.
„ schwanz-schalmei 334.
„ -seelmesse 53.
„ als sobriquet 289.
„ -striegel 106.
„ -stürzen 289.
„ -wergeld 72. 289.
„ wind und wetter kündend 185.
käsekessel 38. 65.
kegelbahn 233.
kerze, im grab brennend 132.
kessel der hölle 226. 303.
„ kupferner 31. 246.
„ „ des gerichtes 363.
Kessihubel 222.
kette, magische 96.
kieselstein, hagelmachend 177.
Kindlifresser 209.
kind, rufendes 379.
kirschkern 222.
kleekuh, kleewagen: hexennamen 188.
kleinkinderstein 10.
knochen, blutender 122. 123. 126.
„ sieden 159.
„ singender 127.
kochender geist 145.
kochendes dorfthier 145.
koch-herd unterirdisch 241. 242.
kornkinder 244.
kornweg 233.
kratte und korb, dreinbannen 152.
Kreidenglade u. Else 200.
Kreydenchrie 250.
kreuzstellung, beschwörend 152.
„ -weg 149.
Elendkreuz 389.
kristall-schauen 150.
Kronenbrünnlimatt 256.
Kroneisen 241.
Kronweissenburg 241.
kröte, als arme Seele 132.
„ „ bratenstück 172.
„ „ erdäpfelkorb 50.
„ „ fruchtworfel 50.
„ „ hexe 188.
„ und thaler 47. 48.
krottenhand 61.
krug, kirchlich eingemauert 141. 142. 395.
kuchen, aschenkuchen 85.
Kueni, Kuenzli und Küry 203.
kugeln parieren 149.
kuhhaut, drein gesteckt 182.
kuhglocken an personen 197.
kuhnamen, deren grund 213. 396.
kuhschwänze, mit behangen 196.
kuh im Schwedenkrieg 367. 379.
kutsche der geister 119. 121.
kutsche durch die luft 248.

Lælle 366. 397.
alpenlohle, hanflöhle, ofenlöhle 366. 397.
landmesser 83. 96.
Langböri 36.
laub, laubsack 155. 171. 395.
Laufen 319.
Leder 181. 182. 188.
lederne brücke 27. 87. 216. 217. 241.
„ frau 181.
„ kanone 217.
„ sack 182.
„ sack des himmels 305.
legegeld 35.
licht, einem ausblasen 75.
„ einen dahinter führen 75.
„ -scheere der hexen 174.
„ -stöcke im grabe 132. 394.
„ -weihe 372. 373.
linde 115.
links 153. 161. 162.
links und rechts 161.
Linthi 331.
l'Oze, teufel 183.
Löhlithier 216. 294.
Luceria und Lucerna 16.
Lutz, frau 182. 183.

Mauch, sobriquet 246.
marchfrevler 83.
markenumgeher kämpfende 80.
Maria, stadtuhren richtend 363. 366.
Maria am seidenfaden 367.
Marienbild, begrabenes 302.
„ am brunn 302.
„ landend 298.
„ singend 297. 298.
„ wandernd 302.
Markstaller 112.
Martinsdruck, Martinsloch 282.

Digitized by Google

Martinus, als schimmelreiter 118.
Mechthild, klopfend 301.
massdaumen 95.
maus, rothe 152.
mäuse machen 172.
maus des Toggeli und Schrätteli 152.
Mehlgraben 130.
in mehl begraben 130. 172.
melken aus lumpen 167. 168. 172.
melken aus kleiderriemen 213. 396.
menschenfressende hexen 159.
Metzgerbraut 200.
Miau, sobriquet 289.
milchgeschirr 108.
milch- und sennenlöffel 108. 110.
milchweier 224.
Misthogge, hexenname 188.
mist-stätte, zauberkräftig 170.
Mond, stadtbau in halbmondsform 237.
mondmilch 306.
Mohr- und Morenthal 217. 218.
Mordnacht im Surbthal 23. 373.
Muheim, froschstadt 246.
mühlfuhre hemmender geist 67.
müller, gipsmüller 83. 84.
Müserengeist 119. 394.
musik, wunderbare 176. 184. 286. 297.
Muothiseel, Wodesheer und Wuodeswôr 13.

Nachkommenschaft der gespenster 112.
nachthasen 204.
Nachtschaden 178. 179.
nagel in die thüre schlagen 150.
namengebung der hausthiere 213. 396.
namen des geistes nicht nennen 98. 129.
nase, eisennase 182.
langnase 201.
stupfnase 179.
neunte welle 324.
niesende geister 218. 219.
Ninovê! Ninivê! 84.
Nobis-chratten 204.
nonne mit schlüsselbund 218.
nünhemmlere 207.
nuss 31. 84. 222. 223.
nussbaum 36. 140.
nuss des büchsenschmiedes 31. 222. 223.

Ochsen, sobriquet 263 — 265.
œlberg 249. 330.
œl der heiden 248.
in œl sieden 363.
ofen der geister 70. 137. 145. 152.
ofen der mordnächte 371.
Olsberg-Cadaloltesberg 249. 252.
OPFER.
aschenkuchen 85.
brodopfer 169. 211.
Chriddibenz 211.
fleischopfer 29.
freiküchlein 198.
freisemmeln 197.
fruchtopfer 68. 70. 112.
hirzehörndli 197.
küchlein 29. 85.
mehlopfer 185.
obstopfer Hoggebire 188.
pasteten 207.
rinderopfer 166.
rossopfer 24. 25. 26.
rosshäupter 18. 19.
rossfleisch-essen 25. 189.
rübenopfer 85.
seelbrode 218.
schäppeleinopfer 315.
schinkenbein 31.
stieropfer 18. 19. 189.
wein und essig dem winde 185.
weihnachtsnuss 31.
zwiebelwähen 167. 189.

Palmesel 265 — 268. 272.
s. Petrus, ein tanzgeiger 311.
Petermann! 372.
peitschenknallen am Homberg 155.
peitsche stehlen 142.
pestleichen, ihre zahl 387.
pestsärge 387.
pestvogel 391. 392.
pfauenschwanz im hintern 360.
pfaffenköchintapp 282.
pfahl 147.
pflugräder-auge 10. 33. 84. 158. 159.
pflugrad, als hund gehetzt 157.
pflug und pflugrad 84. 158.
pflug-satzung 158.
Phulûss, eule 166.
Pilatus in Basel 306.
„ -berg und see 306. 309.
„ und Christoffelshemde 307. 308.
„ als Ew. jude 23. 306.
„ als müllerschimmel 23. 306.
„ kothwerfend 309.
„ Schimmelritt 306.
„ schloss 309.
„ schuhmacher 307. 308.
„ sessel 309.
„ zigerloch 306.
pimpinella und tormentilla 390. 391.
Prögeler 211.

Radspeiche ausschlagen 59.
räderrollen am Homberg 155.
rathsherren 99. 104. 107.
Rebhansel, -hund, -messerli 203. 211.
reckholderdonner 202.
reiten zu grabe 21.
reiten in den himmel 305. 306.
„ auf der leiche 171.
„ auf reiswellen 125. 183.

Digitized by Google

Reuschlinsberg, Rüschelen 250. 252.
ring, arm u. ærmel: hindurchblicken 162. 163.
ringprobe, grabring 114. 115.
halsring, wachsend 344.
roggenacker, zaubermächtig 156.
Rolandshorn 16. 17.
Rollenloch 10.
rollenthier 38.
rollhafen 38.
rollkessel 204. 226. 304.
Rollo 304.
Rore u. Burgdorf, die grafen von 231.
Rosengarten 154.
Rossberg u. kaibenrain 24. 26. 246.
rossblut u. adelsblut 355.
rossbock 31. 393.
ross dreibeinig 26.
„ 8 schwarze der hexe 171.
„ fuss des teufels 225.
„ gräber 26.
„ häupter getrocknet 18. 19.
„ Rudolfs v. Habsb., zweimaliges priesterross 346. 347.
„ der kirche u. pfarre 346. 347.
„ Stiefelis u. des klosters 112.
„ s. Martini 346.
rössligrube 24.
rossmist 189.
rosse-verscharren 246.
ROTH.
blutrothe vogelfüsse 44.
blutunterlaufene haut 37.
feurige peitsche 111.
„ zahnsplitter 92.
kalb mit glühaugen 138.
purpursessel Pilati 309.
Rosengarten versegnet 154.
Rosengarten 245.
rother Alrûnenkamm 43.
rothäugig 36. 188.
rothes brunnenwasser 283.
rothe erde 283.
rother faden 276.
Rothe Geiferer, sobriquet 280.
roth- und gelbfüssiger specht 165.
rothhaarige Chlungge 180.
rothe halsstriemen 284. 285.
„ hosen Pilati 309.
„ hund 31. 38. 280.
„ hundshalsband 37.
Röthifluh 329.
Rothkreuz 389.
rother mantel 65. 225. 226.
„ maus 152.
„ melk-lumpen 172.
„ mützig 37. 137.
Rothe in Schaffhausen 194.
„ in Stein 280.
„ schweine 214. 396.
roth- und weisser strumpf 107. 165.
rübe, gelbe 85.
rüben stehlen 142.
rückwärts lesen 146. 147.
Rüschelen 250. 252. 397.

Salat! 370. 372.
salz gegen hexen 167. 174.
„ drinnen schlittenfahren 353.
„ u. weinfässer der verschworenen 368. 372.
Schabziger-stöckli, sobriquet 263.
schächtelein voll schönwetter 238. 239.
Schaden u. Schetterhex 179.
schafe des W. jägers 380.
scheffelaugen 84.
schellenhalsband des Bornhundes 37. 393.
schiff Glückhaftes 327.
„ der Rheingeister 208. 329.
Schimmelreiter 26. 31. 52. 107. 111. 112. 113. 117. 118. 119. 306. 347.
schlange 3 — 7.
schlangenkrönlein 5. 6.
„ stein 7.
Schlüssel 218. 243.
Schmied, ehebruch rächend 230.
„ Giesischmied 98.
„ heidnischer 287.
„ Jetzer 229.
„ den teufel beschlagend 225. 228.
„ zaubernder 150.
Schnabelweide 351.
Schnecken, sobriquet 263.
schneider, buckliger am heilfelsen 291.
„ gelähmt vom irrwisch 161.
„ Jetzer 230.
Schnellert 220. 221.
schornstein, durch ihn werfen 92.
„ und schüttstein 155.
Schrätteli und Toggeli, eine maus 152.
schraubstock 225. 228.
schuhebringender storch 40.
schuhmacher Ahasver 308.
„ -machende berggeister 308.
„ des Ew. juden 306.
„ -schnäbel 351.
„ -werfen, schatzhebend 161.
schwarzes buch 169.
„ hausgeist Choli 145.
„ -bemantelt 329.
„ erbsen 226.
„ heiden 256.
„ mann 199.
„ frackig und weisshosig 94.
„ und weiss-scheckig 237.
„ rockig, weisskappig 169.
„ ross 236.
Schwarzer tod 385. 390.
Schweden 379. 380.
Schwedentrunk 67.
schweinefett für hexen 60.

„ -händler u. schneider bei der W. jagd 96.
„ -heerde in der luft 187.
„ des sturmwindes 187.
„ rothe 214. 396.
„ -rüssel der prinzessin 187.
„ -blase 153. 168.
schweine der W. jagd 187.
schwellenvogel 168.
Schwertlimann 374. 377. 395.
schwert des Vaud 212.
„ zweimal begrabenes 242.
Sebastian hl. 386.
seele als kibitz 44. 47.
„ in den mund verschlossen 144.
„ als bache u. hase 56. 393.
„ als nachtigall 44.
„ „ rabe 44. 393.
„ „ taube 44. 47.
„ n-wanderung 71. 73.
seerosenmark geflügelt 237.
seidenfaden 14. 15. 111.
Sesseln, dreisessel-stein 88. 89.
sieben-hämmerlen 207.
„ tes buch Mose 155.
„ Reinacher brüder vor Sempach 351.
sieden u. kochen der geister 85. 148.
silbernäpfe und schüsselchen 246. 247. 248.
Sobriquets 108. 116. 121. 195. 196. 246. 262. 263. 265. 267. 268. 270. 272. 280. 289. 377.
sonne, dagegen schiessen 51.
sonnenbrunnen 299.
specht, hagel bringend 165.
speckstück, ein ackerpreiss 236.
das spinnen auf felsgipfeln 291.
in spreuer begraben 130.
„ „ u. mehl begraben 172.
spreuer säen 363. 366.
„ „ u. soldaten ärnten 149.
STAB der geister.
Stabi u. Stäbli 210. 211.
stab des Ew. juden 307.
ellenstab 33.
baumstamm 223.
besen, Dorfbesen 188.
besen, verkehrt gestellt 167.
besenstielsalbe 173.
fischerhaken und schalte 207.
gefälltes gewehr 122.
glücksstäblein 210.
glühende stange 61. 229. 230. 353.
hakenstab, thurmhoch 208.
knüppel 307.
pilgerstab 207.
prügel 98.
rockenstiel 223.
spinnrocken 181.
spiess u. weidsack 30.
stecken der scheiterbeuge 150.
herr mit stock und hut 169.
stallschwelle, drunter vergraben 166.
STEIN.
alpstein 205.
ankenballen 224.
bausteine unverrückbar 157.
brod versteinert 282.
chalützelstein 205.
Christi handspur in stein 282.
donnerstein 205.
drachenstein 1. 7.
Dreistein, vgl. drei.
drutenstein 205.
fels am seidenfaden 111.
Gässlistein der spinnerinen 291.
grabstein gewachsen 283. 284.
grenzsteine 118.
handspur im klosterportal 281.
heilfelsen besteigen 291.
Hellhaken 208.
Laufenstein 325.
Martinsdruck, Martinsloch 282.
mühlstein 326.
pfaffenköchintapp 282.
schlangenstein 7.
spielsteine 224.
steingrab 108. 397.
steinsärge, einsteigen in 284. 285.
steinerner tisch 134.
steinewanderung 296. vgl. wanderbauten.
strahlstein 205.
teufelsfinger 205.
kanzel 219. 220.
teufels-stein 219. 222.
wirtel 223.
zeitstein in Wittnau 121.
stellung, erschwerte 147. 152. 160. 162. 167.
Stiefeli 120.
Stiefelireiter, als W. jäger 119.
Stiefelischreiber 110.
stier weisser 1.
Stierenbach 15.
elbstiere 14. 15.
stier Langböri 36.
stierhäupter getrocknet 18. 19. 216.
Reuss-stier, Uristier 14.
wucherstier beim begräbniss 171.
Stäuble 83. 84.
Stempe, hexennamen 188.
Stollenwurm 4.
stosskette der hexen 151. 395.
storch, betend 39.
„ brandwehrend u. brandstiftend 41. 42.
„ kinderbringend 41.
„ schuhe bringend 40.
„ des bürgers, begräbniss 41.
„ en-ehe 41.

Digitized by Google

storch landtag 41. 393.
„ musterung 41.
„ -polizei 40.
„ -stipendium 41.
strahldieb, -hagel 202.
strahlstein 205.
strauwelle 83.
Streggele, des Dürst frau 187.
strohband 277. 278. 279.
strohflasche, gegen geister 144.
strohgarbe, zauberkräftig 278. 279.
strohhalm 46. 56. 278. 279.
strohmann 76.
„ aufstecken 277.
„ verbrennen 255.
„ -perüke des wolfs 279.
strohwelle, ein loch durchbrennen 148. 213. 314.
stûd des s. Nikolaus 326.
Stüdlerzunft 325.
sumpfgrab der hexe 171.
sumpf, kirchen verschlingend 295.
suppe des wetters anrichten 148.
suppenschüssel des geistes 152.

Tabaksmesser u. pfeifenraumer 147.
tabakrauchende geister 85.
„ gegen geister 67. 70.
täfelitanne 36.
tanne 5. 183.
tannligrotzle 183. 202.
tanz auf bergfelsen 289.
„ im bergwalde 281.
„ -eiche 175. 176.
„ unter dem galgen 334.
„ -ender geist 161.
„ -gulden der königin Agnes 348.
„ saal der geister 107.
„ teufel 285.
„ wiesen ohne gras 169.
das Tau 205. 206.
taube 145.
taubenlockender geist 160.
taufbuch im walde 381.
taufe u. hochzeit im walde 382.
Tau-schmied 207.
„ -schreiber 206.
„ wenwâc, todtenwag 330.
teufels-bord 219.
„ -brücke 219. 220.
„ -burdi 221. 222.
„ ellermutter 226.
„ kanzel 219. 220.
„ keller 219. 220.
„ küche 219. 220.
„ loch 219.
„ matte 219.
„ namen: Dieter, Daniel 209. Teller, Tilder 210. Teufacher, Tüfelsparhutte, Tüfelsparnam, Tüggeler, Tüner, Tütschel 209.
„ ross-stall 219.
„ strasse 219.
„ stein 219 — 222.
„ tanzplatz 219.
„ eingeschraubt und beschlagen 225. 228.
Thalherr 84.
thaler vom baum schütteln 148.
thiergarten mit geistermusik 184.
thürschwelle 214.
tisch, silbern 238.
„ steinern 134.
tod von Basel 385.
todtenbruderschaft 385. 386. 387.
„ „ mahlzeit 385.
Toggeli 152.
Toggelistösse 151. 152. 395.
todesgott mit hirschengespann 190.
todtengässli 388.
todtenschädel, als taubenköder 160.
todten nachweinen 304.
treiben einander 157. 158.
treuschen und tröschen 397.
triefäugig 188.
Tschub und Tschud 188.
tuch Graues 387.

Ueberfahrende geister 85.
unterirdische gänge 241. 242. 256.
„ glocke 293.
„ karrengleise 247.
„ kessel 222.
„ kochherd 241. 242.
„ licht 132.
„ schloss 423.
„ schmiedewerkstatt 287.
„ stadt 247.
„ strom 209.
„ stube 204.
„ thüre 241.
„ tisch 238.
„ wein 243. 235.
„ spielwürfel 259
Urwerf 330.

Vaud, Vut, Einvauda, Vaudaire 212.
Vellentloch 220.
verbannungs-strafe, gleich der todesstrafe 171.
Verena hl. 239. 262.
Verenas brod u. wein 314.
„ kamm u. krug 315.
viertel, geschwollen wie ein kornviertel 364.
vogel der Erhängten 46.
vogel, grünscheckig 146. 147.
„ von heilkräutern singend 385. 391.
vogt, der Alte 84.
„ den Alten geifern lassen 305.

Digitized by Google

**W**agen, fahrend über gebirgswände 154. 155. 156.
„ durch die luft 173.
„ über das stadtthor 149.
„ deichsel u. lande, als hexennamen 188.
„ laternen des dorfthieres 2. 9.
wandernde bauten 154. 275. 286. 287. 288. 290. 293. 294. 297. 299.
wandernde götter 313. 314.
wandernde heiligenbilder 298.
„ Pilatus u. Ew. jude 306—309.
warmgeprügelt: unüberwindlich 317. 318.
**WASSER.**
bachpfaddli 38.
„ plätschihund 22. 37.
brunnenmeister 120.
„ mit 365 röhren springend 241.
„ -röhre, golden 246.
„ wagenschmiere quellend 242.
„ -wiesler 54.
„ des Wîssmaidli 5.
„ Brünis-stadt 257.
brünnlein, sensen schärfend 155.
„ des dorfhundes 36.
drache als bach u. quell 12. 13.
Hägler-strom, unterirdisch 209.
Hauptwachbrunnen 365.
heisses höllenbad 303.
Herrenbrunnen 104. 234.
Hexengumpen 180.
Isen, Isler u. Isis 300.
kronenbrünnli 256.
Laufengeigerlein 334. 335.
mühlbach-ableitender geist 132.
Rufelihund 38.
Sonnenbrunnen 299.
Surbach, gegen zauber schützend 157. 396.
sumpf, kloster verschlingend 295.
waschende geister 260. 262.
wässermann 83.
wasserweib 261. 330.
wechselthaler 163 — 165. 288.
Wehklage 260.
Weibertreue v. Gauenstein 352. 355.
weinjahr anklopfen 95. 393.
wein 104jähriger 327.
wein vermauert 235.
**WEISS.**
erbsen 227.
esel 65. 248.
hosen 94.
hund 117.
kapot 84.
regenschirm 119.
rock 84.
schürze 261. 330.
taube 145.
weitschüsse 75.
wetterheilige 280. 284.
„ kaufen 238.
„ kochen, sieden 148.
„ schirm des schimmelreiters 118. 119.
„ schlechtes, beim sterben 43.
wetterlaich 380.
wîdstroh 277.
wiggle, eule 166.
wildente, wildgans 44. 104. 188. 208.
**WIND**namen:
Geisstödter 184.
das Greiss 15.
Hammer 187.
der Harein! 184.
Hörrwagen 186.
Muetisê, Muothisêl 13.
Oberländer 184.
Oesterreicher, geisternde 184.
Riesen, jagende 184.
Saukegel 187.
Simmenthaler, ältester 184.
Schwarzer mann 199.
Thalherr 84.
Vaudaire 212.
Windsbraut 185.
wind der Erhängten 185.
Windgelle 185. 188.
windshand, windsfinger 186.
Windspiel 184.
Winter- u. tod-austreiben 190. 196. 198.
Wirtel 223. 224.
Wîssmaidli 5.
Wodesheer, Wuodeswôr 13.
Wuotan u. Buttadeus, Butta u. Ew. jude, Pilatus u. Christophorus mit den gleichen symbolen 307 — 309.
Wuokisen 175.
Wouwou 211. 212.
Wulpelsberg u. Wulpenwerd 343.
wunschkistlein 226.
würfel-samen 259.

**Z**auberkugeln 149.
zeitstein, dran erhängen 121.
Ziebele-Grethe, hexe 188.
ziege 64. 142.
ziegenbutter 393.
zigerloch Pilati 306.
zipfelkappe 68. 96. 150. 151.
Zipperinne frau 184.
Zurzach 262.
Zurzacher-metzentanz 348. 349.
Züsler 83.
zwiebeln-auge 2.
zwiebelwähen backen 58. 167. 173.
zwölf rathsherren 385.
zwölf weinverfälscher 144.

Druck von H. R. Sauerländer in Aarau.

Digitized by Google

Digitized by Google

Digitized by Google